आयुर्वेद का बृहत् इतिहास

लेखक

अत्रिदेव विद्यालंकार

उत्तर प्रदेश शासन

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन हिन्दी भवन

महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ-२२६००१

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—३३

आयुर्वेद का बृहत् इतिहास

लेखक
अत्रिदेव विद्यालंकार

उत्तर प्रदेश शासन
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ-२२६००१

आयुर्वेद का बृहत् इतिहास

प्रथम संस्करण : १९६०
द्वितीय संस्करण : १९७९

मुद्रक :
इण्डियन युनिवर्सिटीज प्रेस, इलाहाबाद

प्रकाशक की ओर से

सभ्यता के आदि काल से ही रोगों से बचने के उपायों की खोज करने और इस प्रकार स्वस्थ-सुखी जीवन बिताने की ओर मनुष्य सचेष्ट रहा है। मनुष्य की इस प्रवृत्ति की पराकाष्ठा चिकित्सा-विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। इसकी अनेकानेक पद्धतियाँ संसार में पायी जाती हैं। इन सब में भारत की आयुर्वेद पद्धति निरीक्षण, परीक्षण, क्रियात्मक अनुभव और दिव्य दर्शन की भावना से संप्रेरित होने के कारण अन्य पद्धतियों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। आयुर्वेद पद्धति पंचभूतात्मक शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इन सबकी मीमांसा कर व्याधि का निवारण करती है। इसका वात, पित्त, कफ, त्रिदोष-विज्ञान स्वास्थ्य-प्राप्ति का सिद्ध और अनोखा उपकरण है। सहस्रों वर्ष पूर्व स्थिर किये गये इसके सिद्धान्त आज भी मनुष्य को रोगों से मुक्त रखने में सक्षम और उपादेय पाये जाते हैं।

ब्रिटिश शासन-काल में आयुर्वेद की विधिवत् शिक्षा और उसकी उन्नति की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया था, किन्तु देश के स्वतंत्र होने के बाद इसके लिए विशेष प्रयत्न किया जा रहा है। परिणामस्वरूप आयुर्वेद के शिक्षार्थियों की संख्या जहाँ बढ़ रही है, वहीं आयुर्वेद में रुचि लेने वालों की भी संख्या बढ़ती जा रही है। ऐसी स्थिति में इस बात का परिज्ञान होना आवश्यक है कि प्राचीन तथा मध्यकाल में आयुर्वेद-विज्ञान ने कितनी उन्नति कर ली थी। कौन-कौन से ग्रन्थ उस समय रचे गये और उनमें किन-किन विषयों का वर्णन हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने वेदों, स्मृतियों, पुराणों, रामायण, महाभारत, संस्कृत काव्यों और बौद्ध एवं जैन साहित्य के ग्रन्थों के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन और विवेचन प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त सुविज्ञ लेखक ने इस बृहत् ग्रन्थ में आधुनिक साहित्य और आयुर्वेद विद्यालयों आदि की चर्चा करते हुए आज की स्थिति क्या है, किस तरह पाठ्यक्रम अपनाना चाहिये, प्रगति के लिए किस प्रकार के उपायों का सहारा लेना चाहिये, आदि इन प्रश्नों पर भी विचार किया है।

हमारे पाठकों ने इस ग्रन्थ की सराहना की और इसे अपनाया और उनकी माँग को देखते हुए अब इसका यह दूसरा संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। पुस्तक के लेखक दिवंगत हो चुके हैं। आज यदि वह हमारे बीच होते तो संभवत: इसमें वह कुछ संशोधन-परिवर्धन करते। हमें खेद है कि हम उनकी इस कृति में सम्प्रति किसी प्रकार का परिवर्तन-परिवर्धन कर नहीं सके। तथापि पाठकों के सम्मुख इस उपयोगी ग्रन्थ को यथावत् प्रस्तुत करने में सुख और सन्तोष का अनुभव होना स्वाभाविक है। आशा है, आयुर्वेद के शिक्षार्थियों, शोधार्थियों और जिज्ञासु पाठकों की आवश्यकता की पूर्ति इससे पूर्ववत् होगी। हम अगले संस्करण में अधिकारी विद्वानों और सामान्य पाठकों की सम्मति और सुझाव के अनुसार इस ग्रन्थ को और अधिक व्यापक एवं अद्यतन उपयोगी बनाने का उपक्रम करेंगे।

महाशिवरात्रि १९७६
लखनऊ

काशीनाथ उपाध्याय "भ्रमर"
सचिव, हिन्दी समिति
उत्तर प्रदेश शासन

विषय-सूची

भाग १
(प्राचीन तथा मध्यकाल)

भाग २
(रसशास्त्र-निघण्टु)

भाग ३

(आधुनिक काल)

चित्र-सूची

शुद्धि-पत्र

पृ०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	अशुद्ध	शुद्ध
११४	सकुष्टका:	समकुष्टका:	१६४	कोठे	काँठे
११४	जंगाल	जंगल	२४६	समुद्रगुप्त	स्कंदगुप्त
१२१	नारदीय मनु०	नारदीयस्मृति	२७०	चक्रदत्त	चक्रपाणिदत्त
१६०	उल्लेख नहीं है	उल्लेख है	२७३	चिकित्सासार संग्रह	चिकित्सा संग्रह
१६१	अंधक और वृष्णिक	...और द्रविड़	२७८	गणसेन	गणनाथसेन
			३०२	यह	बृहद्योग तरंगिणी

आयुर्वेद का बृहत् इतिहास

• • •
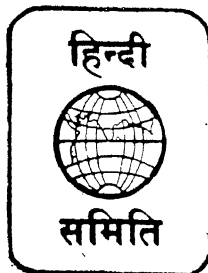
विषय-प्रवेश

किसी भी वस्तु का इतिहास उसके भूतकाल का वर्णन करता है (इति+ह+आस=ऐसा निश्चय से था); वर्त्तमान अथवा भविष्य का नहीं। इतिहास में बीती हुई सच्ची घटनाओं का उल्लेख रहता है। इन घटनाओं का उल्लेख भी कम महत्त्व का नहीं है, क्योंकि भविष्य या वर्त्तमान इन्हीं स्वीकृत तथ्यों के आधार पर टिके होते हैं। इन घटनाओं को सही और सच्चे रूप में टीपना ही सच्चे इतिहासज्ञ का काम है। इसके लिए प्रमाण-सामग्री को घटाना-बढ़ाना अथवा मनमाना सुधार करना इतिहासज्ञ के लिए सम्भव नहीं। घटनाओं या सामग्री से जो निष्कर्ष सीधे और सरल रूप में प्रतिबिम्बित होता हो उसे ठीक उसी रूप में स्वीकार करके उपस्थित करना ही सच्चे इतिहासज्ञ का कर्त्तव्य है। इतिहासज्ञ घटनाओं और सामग्री के साथ सत्य-परायणता बरतता है। उसके लिए प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ का वाक्य "नामूलं लिख्यते किञ्चिन् नानपेक्षितमुच्यते", एक सम्बल या प्रकाशस्तम्भ रहना चाहिए। इतिहास की सामग्री लोहे के दृढ़ साँचे में ऐसी कसी होती है कि इसमें जरा भी रद्दोबदल नहीं किया जा सकता।

कई बार एक ही सामग्री से भिन्न-भिन्न इतिहासज्ञ अपने-अपने व्यक्तिगत दृष्टि-कोण से पृथक्-पृथक् निष्कर्ष निकालते हैं। ऐसी अवस्था में इतिहासज्ञ का कर्त्तव्य होता है कि वह वैज्ञानिक तत्त्वालोचक बुद्धि का सहारा लेकर निष्पक्ष रूप में विज्ञ न्यायाधीश की भाँति परस्पर विरोधी साक्षी और लेखन में सचाई की थाह पाने का प्रयत्न करे। अपने निष्कर्ष पर पूर्व-कल्पित मतों का तथा व्यक्तिगत पक्षपात का प्रभाव नहीं आने देना चाहिए। प्रमाणों की साक्षी से जो परिणाम निकले उसी को अपरिहार्य जानकर स्वीकार करना चाहिए और घटनाओं के आधार से भूतकाल का जो रूप खड़ा हो उसे सिर-माथे पर रखना चाहिए। यह चित्र उसकी रुचि के अनुकूल हो या न हो, उसे अच्छा लगे या बुरा, उसके जातीय गर्व को उससे सन्तोष मिले या ठेस लगे, हर अवस्था में वह जैसा है, वैसा ही उसे लिखना चाहिए।

सच्चे इतिहासज्ञ के पास अपना दृष्टिकोण होना चाहिए, उसके अन्दर घटनाओं को परखने की वैज्ञानिक योग्यता होनी चाहिए, अतीत को प्रतिबिम्बित करने की निर्मल बुद्धि होनी चाहिए, उपलब्ध सामग्री को छानने की वकील-जैसी प्रतिभा

होनी चाहिए। सच्चे न्यायाधीश की भाँति परस्पर विरोधी सामग्री में से सत्य को ढूंढ़ने का न्यायपूर्ण मन होना चाहिए। अन्त में उसके पास सूझ, पैनी आँख, विशाल दृष्टि, चतुर्मुखी प्रतिभा का होना भी आवश्यक है[१]। इसके लिए इतिहासज्ञ को चाहिए कि वह अपने विषय की सामग्री अधिक से अधिक प्राप्त करने का यत्न करे। इस सामग्री की सचाई की परीक्षा करे, फिर इसके आधार पर तथ्यों का संकलन करने का यत्न करे।

उपलब्ध सामग्री का उपयोग निष्कर्ष निकालने में किस प्रकार किया जाय यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। उपलब्ध सामग्री के लिए तिथिक्रम की दृष्टि से भारतीय इतिहास का प्रारम्भ बुद्धकाल से होता है। इससे पूर्व की सामग्री उपलब्ध है, परन्तु उसमें तिथिक्रम नहीं है। तिथिक्रम का इतिहास राजनीतिक दृष्टि से महत्त्व का है, परन्तु साहित्य की दृष्टि से अतीत की सामग्री बहुत महत्त्वपूर्ण है। सांस्कृतिक इतिहास में, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के विचारों, आदर्शों, संस्थाओं, उपचार, व्यवहार और विश्वासों से है, केवल तारीखवार घटनाओं से काम नहीं चल सकता। भारतीय इतिहास में पहली तिथि ६०० ई० पू० है; यह समय भगवान् बुद्ध के विचारों का था। इसी समय से हमको भारत का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। इसे इतिहास की पक्की सामग्री समझा जाता है। परन्तु बौद्ध धर्म का उदय सहसा नहीं हो गया, यह भी तो अतीत कालीन इतिहास तथा विकास का एक लम्बा युग है, जिसके परिणामस्वरूप बुद्धयुग प्रारम्भ हुआ। बुद्धयुग से पूर्व का युग ब्राह्मण काल है, ब्राह्मण काल का अन्तिम साहित्य उपनिषदें हैं। उपनिषदों से पता चलता है कि ब्राह्मण भी ज्ञान-प्राप्ति के लिए क्षत्रिय आदि अन्य वर्णों के पास जाते थे।[२] इसी परम्परा में धर्म के उपदेशक बुद्ध तथा महावीर क्षत्रिय हुए।

प्राग्-बुद्धकालीन भारतीय इतिहास में सन्-संवत् की सामग्री नहीं है, किन्तु उसमें दूसरे प्रकार की सामग्री बहुत है, जिसके आधार पर सभ्यता का इतिहास लिखा जा

---

१. अत्रिपुत्र का वचन सच्चे इतिहासज्ञ के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है—

'विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया।

यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्त्तते॥' (चरक. सू. अ. ९।२१)

सच्चा इतिहासज्ञ सामग्री के द्वारा सही निष्कर्ष प्रस्तुत करने योग्य होता है।

२. राजा जनक, राजा अश्वपति आदि के पास ज्ञान प्राप्ति के लिए ब्राह्मणों के जाने का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है। (हिन्दू सभ्यता—पृष्ठ २१३)

वैदिक साहित्य

ऋक्, यजु, साम और अथर्व ये चार वेद हैं। इनके चार उपांग हैं; यथा धनुर्वेद, गान्धर्व वेद, स्थापत्य वेद और आयुर्वेद। वेदों का विभाग होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा के रूप में किया गया है। ब्रह्मा का काम यज्ञ कार्य का निरीक्षण है, जिससे यज्ञानुष्ठान में कोई त्रुटि न हो, उसे शेष तीनों के कार्य का ज्ञान होना आवश्यक है। विघ्न होने पर वह मंगलकारी मंत्रों से उसे दूर करता है; इसके लिए उपयोगी मंत्र अथर्ववेद में हैं। इसी से अथर्व का सम्बन्ध आयुर्वेद से है। मन्त्रों को संहिता-भाग कहा जाता है। वेदों की व्याख्यावाले भाग को ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मण के तीन भाग हैं—ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। प्रत्येक वेद की अपनी-अपनी शाखाएँ हैं—अपने-अपने ब्राह्मण, अपने-अपने आरण्यक और अपनी-अपनी उपनिषदें। आरण्यक अरण्य में रहकर (वानप्रस्थाश्रम में पढ़े जाते थे), उपनिषद्—गुरु के समीप बैठकर पढ़ी जाती थीं ('समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमेवाभिगच्छेत्')।

ऋग्वेद संहिता—इसका विभाग अष्टक, अध्याय, सूक्त; एवं मंडल, अनुवाक, सूक्त—इन दो रूपों में है। इसमें १० मंडल और १०२८ सूक्त तथा कुल मन्त्र ११००० हैं। शाखाएँ पाँच हैं—शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, सांखायन और माण्डूकायन ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—ऐतरेय तथा कौषीतकी इन्हीं नामों के दो-दो हैं।

यजुर्वेद संहिता—इसके दो भाग हैं; कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद। इस विभाग का कारण वैशम्पायन और याज्ञवल्क्य ऋषि का झगड़ा है। वैशम्पायन का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है, याज्ञवल्क्य का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है। वैशम्पायन के अन्तेवासियों को **चरक** कहा जाता है। शुक्ल यजुर्वेद में केवल मंत्र संगृहीत हैं, कृष्ण यजुर्वेद में मंत्र तथा गद्यात्मक **विनियोग** हैं। यजुर्वेद में ४० अध्याय हैं। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं—**काण्व** और माध्यन्दिन, ब्राह्मण शतपथ है, आरण्यक भी शतपथ

न चैतदेवम् आयुर्वेदमेवाश्रयन्ते वेदाः। तद्यथा—दक्षिणे पाणौ चतसृणामङ्गुलीनामङ्गुष्ठ आधिपत्यं कुरुते न च नाम ताभिः सह समतां गच्छति, एकस्मिंश्च पाणौ भवति। एवमेवायमृग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमो भवत्यायुर्वेदः। यथा हि वेदेषु सततं ब्रह्मज्ञैस्त्रिवर्गसंयुक्तं पुरुषनिश्रेयसं चिन्त्यते, एवमेवास्मिन्नपि वेदे निदानोत्पत्तिलिङ्गारिष्टचिकित्सितैः सततमेव हितसुखकरं त्रिवर्गसारभूतं पुरुषनिश्रेयसं चिन्त्यते।'—(काश्यप) विमान।

अकेला है। उपनिषद् ईशोपनिषद और बृहदारण्यक हैं। कृष्ण यजुर्वेद की चार संहिताएँ हैं—तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कपिष्ठल। इन्हीं चार संहिताओं के नाम से चार शाखाएँ भी हैं। आरण्यक तैत्तिरीय नाम का अकेला है। उपनिषद्—तैत्तिरीय, मैत्रायणी और कठोपनिषद् हैं।

सामवेद संहिता—सामवेद की ऋचाएँ छन्द, छन्दसी या छंदसिका कहलाती हैं। केवल ७५ ऋचाएँ स्वतन्त्र हैं, शेष सब ऋग्वेद से ली गयी हैं। शाखाएँ तीन हैं—कौथुमी, जैमिनीय और राणायनीय। ब्राह्मण चार हैं—ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधान और जैमिनीय। आरण्यक—छान्दोग्य और जैमिनीय तथा उपनिषद्—छान्दोग्य, केन और जैमिनीय हैं।

अथर्ववेद संहिता—इसमें बीस काण्ड हैं जो प्रपाठक, अनुवाक और सूक्तों में बँटे हुए हैं। शाखाएँ—शौनक और पिप्पलाद हैं। ब्राह्मण गोपथ है, उपनिषद् मुण्डक और माण्डूक्य हैं।

प्रत्येक वेद के साथ उसके सूत्र ग्रन्थ भी होते हैं। सूत्र ग्रन्थों का विशेष सम्बन्ध ब्राह्मणों से है। ब्राह्मण भाग बहुत विस्तृत होने से कण्ठ रखना सम्भव नहीं था, इसलिए इसे सूत्र रूप में संगृहीत किया गया—जिससे स्मरण रह सके। सूत्रों के आगे स्मृति हैं, इसी से कालिदास ने कहा 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छन्'। वेदों से चला ज्ञान का प्रवाह भिन्न-भिन्न रूपों में बहता हुआ स्मृति के रूप में आकर समाप्त हुआ है। इस प्रवाह में जो भिन्न-भिन्न ज्ञान भिन्न-भिन्न धारारूपों में अलग निकले उनमें एक आयुर्वेद ज्ञान भी है। इस प्रकार से यह वैदिक साहित्य बहुत विस्तृत है, इस विस्तृत साहित्य में आयुर्वेद के वचन सब स्थानों में थोड़े या बहुत रूप में मिलते हैं। वेदों में जितने विस्तार से मिलते हैं उतने अन्य साहित्य में नहीं, क्योंकि यह धारा पीछे स्वतन्त्र रूप में बहने लगी थी[1]।

---

१. अश्विनौ के सोमपान के विषय में एक उपाख्यान है; पहले अश्विनौ को अन्य देवताओं की भाँति सोमपान का अधिकार नहीं था। पीछे से च्यवन ऋषि को युवत्व प्रदान करने पर च्यवन ने अपने श्वसुर से यज्ञ करवाकर इनको उस यज्ञ में सोमपान का अधिकार दिलाया था। इसी प्रसंग में इन्द्र के विरोध करने पर च्यवन ऋषि के शाप से इन्द्र को भुजस्तम्भ हो गया था, इसको अश्विनौ ने ही ठीक किया था—

अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ। वज्रिणश्च भुजस्तम्भस्ताभ्या मेव चिकित्सतः॥

वेदों में आयुर्वेद—वेदों के मंत्रों में देवतावाद है। प्रत्येक सूक्त का कोई देवता होता है। जिस सूक्त में जिस देवता की प्रार्थना हो वह उसका देवता होता है। इस प्रकार से अग्नि, अप् आदि देवताओं के समान रुद्र, इन्द्र आदि देवता हैं, उनके ही साथ अश्विनौ भी देवता हैं। अश्विनौ का मुख्य सम्बन्ध चिकित्सा के साथ है। अश्विनौ ने वैदिक देवताओं की चिकित्सा की थी। (चरक. चि. १।४।४४)

अश्विनौ—वेदों में इन्द्र, अग्नि और सोम देवता के बाद अश्विनौ की गणना है। देवताओं में ये ही युगल हैं, सदा द्विवचन में प्रयुक्त होते हैं। देवताओं के लिए प्रकाश, आनन्द तथा अन्य सुख की सामग्री देते हैं। ये जुड़वाँ भाई हैं, सदा युवा रहते हैं और प्राचीन हैं। सुनहरी चमक, सौन्दर्य और कमल की मालाओं से भूषित रहते हैं।

ये स्वर्ग के वैद्य हैं। नवीन आँखें, नवीन अंग प्रदान करते हैं। बीमारियों को दूर करते हैं और देवताओं को युवत्व प्रदान करते हैं[१]। भुज्यु नामक राजा को इन्होंने समुद्र में डूबने से बचाया था। यास्क ने 'अश्विनौ' शब्द के कई अर्थ दिये हैं। जब कुछ अन्धेरा और थोड़ा प्रकाश होता है (छिटपुट प्रकाश), उसे भी अश्विनौ कहते हैं। प्रातःकाल और सायंकाल उदित होनेवाले तारों को अश्विनौ कहते हैं। यास्क ने अश्विनीकुमारों को न सुलझनेवाली पहेली लिखा है। ज्योतिषशास्त्र में अश्विनीकुमार तारों का समुदाय है, जो मनुष्यों के शुभ-अशुभ को देखता है। हठयोग के अनुसार वाम और दक्षिण नासास्वरों को अश्विनीकुमार कहते हैं। इनका ही दूसरा नाम इड़ा और पिंगला है। इनके रथ में कभी-कभी रासभ—गधे भी जुड़ते हैं; इस कल्पना से वायु के जोर से चलने पर जो साँ-साँ आवाज होती है, उसके कारण वायु को भी अश्विन् कहते हैं। अश्विनौ यास्क के कहे अनुसार न सुलझनेवाली समस्या हैं, परन्तु इनको देवताओं के चिकित्सक रूप में स्वीकार किया गया है।

अश्विनौ के काय-चिकित्सा और शल्य-चिकित्सा सम्बन्धी दोनों प्रकार के कार्य मिलते हैं। आयुर्वेद के आठ अंगों में ये दोनों अंग ही प्रधान हैं, शेष अंग सामयिक हैं और इन्हीं दोनों अंगों पर आश्रित हैं। इन प्रधान दो अंगों के मिश्रित होने से 'अश्विनौ' एक उपाधि थी, जो कि काय-चिकित्सा और शल्य-चिकित्सा दोनों में दक्ष व्यक्तियों को प्रदान की जाती थी, अथवा यह एक संज्ञा थी, जो दोनों अंगों में निपुण वैद्य के लिए व्यवहृत होती थी। जिस प्रकार कि घोड़ों की चिकित्सा करनेवाले व्यक्ति का 'शालि-होत्र' उपनाम है, इसी प्रकार शल्य-चिकित्सक के लिए धन्वन्तरि भी एक संज्ञा थी (चरक. चि. अ. ४५।४) और कायचिकित्सक के लिए 'चरक' या 'अत्रि' संज्ञा थी।

अश्विनौ मुख्यतः देवताओं के चिकित्सक थे। आयुर्वेद परम्परा में अश्विनौ ने प्रजापति से आयुर्वेद सीखा और अश्विनौ से इन्द्र ने सीखा। इन्द्र से भरद्वाज, धन्वन्तरि और काश्यप ने भिन्न-भिन्न अंग सीखे। देवताओं में ब्रह्मा, प्रजापति अथवा इन्द्र किसी ने भी चिकित्सा कर्म नहीं किया, इसका सम्बन्ध एक मात्र अश्विनौ से है। यद्यपि चरक में ब्रह्मा से एवं इन्द्र से सम्बन्धित योगों का उल्लेख है, परन्तु चिकित्सा कर्म का सम्बन्ध केवल अश्विनौ से ही है, ये ही देवताओं के चिकित्सक हैं, इसलिए वेदों में चिकित्सा सम्बन्धी सूक्तों के देवता अश्विनौ ही माने गये हैं।

रुद्र—ओषधियों तथा स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा देवता रुद्र वेदों में वर्णित है। इसके पास हजारों ओषधियाँ हैं; इस अर्थ को व्यक्त करने के लिए 'जलाष' (Cooling) और 'जलाष-भेषज' ये दो विशेषण भिन्न-भिन्न अर्थोंवाले वेदमंत्रों में आते हैं ('क्व स्य ते रुद्र मृलयाकुरहस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः'—ऋग्वेद २।३३।७)। रुद्र को चिकित्सकों में श्रेष्ठतम चिकित्सक कहा गया है ('भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि'—ऋ. २।३३।४)। रुद्र से ओषधियों की याचना की गयी है ('स्तुतस्त्वं भेषजा रास्यस्मे'—ऋ. २।३३।१२)।

चिकित्सा से या भेषज से अश्विनौ और रुद्र का सम्बन्ध होने से इन दोनों को अन्य देवताओं से कुछ कम महत्त्व दिया गया है। वेद में अश्विनौ को देवताओं का चिकित्सक कहीं नहीं कहा है। देवताओं के चिकित्सक रूप में अश्विनौ की कल्पना पुराणों में सबसे प्रथम आती है। पुराणों में ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन देवताओं को सृष्टि के कर्त्ता, पालक और संहारक रूप में निरूपण किया गया है। सम्भवतः सत्त्व, रज और तम इन शक्तियों को स्पष्ट करने के लिए यह कल्पना है।[1] वेदों में ब्रह्मा, विष्णु, शिव का नाम इस रूप में नहीं आता, उनका सृष्टि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं मिलता। ऋग्वेद में अश्विनौ को दीर्घ हाथवाले और नित्य युवा कहा गया है ('इमा ब्रह्माणि युवयून्यग्मन्'—ऋ. ७।७१।६)। द्विवचनान्त देखकर निरुक्त में इनको

---

१. कादम्बरी का मंगलाचरण बाण ने इसी रूप में किया है—

'रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः॥'

भगवद्गीता में इन्हीं त्रिगुणों का विवेचन है—'सत्त्वं, रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।' (१४।५)

द्यावा-पृथ्वी, सूर्य-चन्द्र, रात्रि-दिवस माना है।[1] वेदों में भिषक् या भिषक्तम शब्द रुद्र के लिए ही आया है। इस प्रकार रुद्र की स्थिति वेदों में अश्विनौ के साथ मिलती है। दोनों को यज्ञ भाग के लिए अयोग्य माना गया है। दक्ष प्रजापति ने यज्ञ में रुद्र को नहीं बुलाया था, इसलिए रुद्र ने दक्ष का यज्ञ नष्ट कर दिया। इसी यज्ञ विध्वंस से ज्वर अर्थात् रोगों की उत्पत्ति हुई है (अतिसार रोग की उत्पत्ति भी चरकसंहिता में यज्ञ में पशुवध से कही गयी है)।

वेदों में अश्विनौ और रुद्र देवता के सिवा अग्नि, वरुण, इन्द्र, अप् तथा मरुत् को भी भिषक् शब्द से कहा गया है।[2] परन्तु मुख्य रूप से इस शब्द का सम्बन्ध रुद्र और अश्विनौ के साथ है। पुराणों में रुद्र को शंकर (शं-कर—कल्याणकारक) नाम देकर उसके साथ सृष्टिसंहार का काम जोड़ दिया गया और अश्विनौ को देवताओं का चिकित्सक वर्णित करके चिकित्सा का संबंध उनके साथ जोड़ा गया।[3] पुराणों के देवता, उनका रूप तथा कार्य वेदों में वर्णित देवताओं से पृथक् है। वेदों में अश्विनौ को चिकित्सा विषयक क्षेत्रों का देवता कहा गया है, इसी के आधार पर पुराणों ने आयुर्वेद का सम्बन्ध इनसे जोड़ा है। पुराणों में काशीपति, दिवोदास, धन्वन्तरि भिन्न-भिन्न व्यक्ति माने गये हैं; परन्तु उपलब्ध सुश्रुतसंहिता में ये नाम एक ही व्यक्ति को सूचित करते हैं।[4] इसलिए आयुर्वेद के विषय में पुराणों की परम्परा वेदों से भिन्न है। वेदों के देवता भी पुराणों से पृथक् हैं।

---

१. 'तत्र कौ अश्विनौ; द्यावापृथिवी इत्येके, अहोरात्रौ इत्येके, सूर्यचन्द्रमसौ इत्येके, राजानौ पुण्यकृतौ इत्यैतिहासिकाः।' (निरुक्त. १२।१)

२. रुद्र के लिए 'प्रथमो दैव्यो भिषक्' शब्द यजुर्वेद में आता है। अथर्व ५।२९।१, यजुर्वेद २१।४, २१।१५, २८।९, ऋग्वेद २।३३।१३ में भी मिलता है।

३. 'धियात्मनस्तावदसाधु नाचरेज् जनस्तु यद् वेद स तद् वदिष्यति।
जनावनायोद्यमिनं जनार्दनं जगत्क्षये जोव्यशिवं शिवं वदन्॥'

मनुष्यों की रक्षा करनेवाले विष्णु को जनार्दन, मनुष्यों को पीड़ित करनेवाले और मनुष्यों का नाश करनेवाले महादेव को शिव—कल्याणकारी कहा जाता है!

४. 'अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृतमाश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरिमौपधेनव-वैतरणौरभ्र-पौष्कलावतकरवीर्य-गोपुररक्षित-सुश्रुतप्रभृतय ऊचुः॥'
—(सुश्रुत. १।३)

ऋग्वेद में आयुर्वेद—चिकित्सा का सम्बन्ध यद्यपि अथर्ववेद से अधिक है तथापि अन्य वेदों में भी इस विषय के मंत्र हैं। ऋग्वेद सबसे प्रथम माना जाता है, इसलिए इसमें आयु से सम्बन्धित मंत्रों का होना स्वाभाविक है। इन मंत्रों में सामान्यतः प्राकृतिक वस्तुओं से स्वास्थ्य की प्राप्ति का निर्देश है, जैसे आप-जल, ओषधियों आदि। ओषधियों में वनस्पति का ही उल्लेख है, और वह भी पृथक्-पृथक् रूप में। दो या अधिक वनस्पतियों का मिश्रण नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि यह ज्ञान प्रारम्भिक था, क्योंकि उपलब्ध आयुर्वेद संहिताओं में ओषधियों का उपयोग एक ही द्रव्य के उपयोग की अपेक्षा मिश्रण रूप में अधिक मिलता है।

ऋग्वेद में आयुर्वेद के आचार्यों का उल्लेख है। ये नाम वैयक्तिक रूप में है अथवा इनका अन्य अर्थ है; यह निश्चय करना सरल नहीं। वेदों में कुछ विद्वान् इतिहास मानते हैं और अन्य विद्वान् इन शब्दों का आध्यात्मिक अर्थ करते हैं।[1] आयुर्वेद के ऐसे आचार्य मुख्यतः दिवोदास और भरद्वाज हैं। इनसे शल्य और काय-चिकित्सा का प्रचार पृथ्वी पर हुआ है। इन्होंने उसे इन्द्र से सीखा, इन्द्र ने अश्विनौ से सीखा था। इसलिए दिवोदास, भरद्वाज और अश्विनौ—इन तीन का नाम ही मंत्रों में आता है। (१।८।११)। ऋग्वेद में जिस प्रकार विश्वामित्र, च्यवन, इन्द्र आदि का नाम आता है और जिस प्रकार से सुदास नामक राजा के विरुद्ध भद्र, द्रुह्यु, तुर्वसु आदि दस राजा लड़ते हैं, उसी प्रकार के ये नाम भी हैं। बाद में इनका सम्बन्ध आयुर्वेद के आचार्यों से जुड़ गया है। लोहे की टाँग का उल्लेख ऋग्वेद में है, युद्ध में पुरोहित सदा साथ में रहता था, इसका कार्य अपने स्वामी की मंगल कामना करना होता था। कोई भी विघ्न आने पर वह प्रार्थना से अपने यजमान की रक्षा करता था। एक मन्त्र में पुरोहित अपने स्वामी की पत्नी की टाँग कट जाने पर लोहे की टाँग के लिए अश्विनौ से प्रार्थना करता है। वह पक्षी के समान हलकी टाँग चलने के लिए मांगता है—

> **'चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।**
> **सद्यो जंघामायसीं विश्पलायै धनेहि ते सर्तवे प्रत्यधत्तम्॥'** (ऋ. १।११६।१५)

---

१. पाश्चात्य विद्वान् वेदों को पौरुषेय मानकर इन नामों से इनमें इतिहास-भूगोल मानते हैं; परन्तु स्वामी दयानन्दजी तथा अन्य भारतीय विद्वान् वेदों को अपौरुषेय मानते हैं और इनका आध्यात्मिक अर्थ करते हैं।

पुरोहित अगस्त्य खेल नामक राजा की पत्नी विस्पला के लिए धातु—लोह की टाँग के लिए अश्विनौ से प्रार्थना करता है कि 'वस्पला की टाँग युद्ध में कट गयी है, इसलिए तुम जल्दी आकर रात्रि में ही पक्षी के पर के समान हलकी टाँग चलने के लिए लगा दो।'

आँखों का दान—ऋजाश्व को उसके पिता वृषगिर ने शाप से अन्धा बना दिया था, क्योंकि उसने वृक के लिए एक सौ भेड़ों को दिया था। इस ऋजाश्व को अश्विनौ ने पुनः आँखें प्रदान की थीं; क्योंकि अश्विनौ ही वृक रूप में थे। (ऋ. १।११६।१६)

च्यवन ऋषि को पुनः युवा करना—इसका उल्लेख ऋग्वेद में है। च्यवन ऋषि के सम्बन्ध में पुराणों में उपाख्यान मिलता है, परन्तु वेद में इस उपाख्यान का कोई उल्लेख नहीं। (ऋ. ७।७१।५)

दिव्य वैद्य—वेद में वैद्य का लक्षण बताते हुए कहा गया है—(१) सम्पूर्ण ओषधियों को अपने पास ठीक रखनेवाला, (२) विशेष प्रबुद्ध—अपने शास्त्र का पूर्ण, सांगोपांग ज्ञाता, (३) युक्ति और योजना को जाननेवाला (भिसज्यति), (४) राक्षसों का नाश करने में समर्थ; और (५) रोगों को जड़ से उखाड़ सके (चातनः); ये पाँच लक्षण निम्न मंत्र में कहे गये हैं।

'यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः॥'

जिस प्रकार से राजा लोग अथवा क्षत्रिय सभा में एकत्र होते हैं, उस प्रकार से जहाँ ओषधियाँ इकट्ठी होती हैं, उस विशेष मनुष्य को वैद्य कहते हैं, वही राक्षसों का हनन करनेवाला और रोग दूर करनेवाला कहा जाता है।[1]

राक्षसों के लिए वेद में रक्षः, असुर, यातुधान आदि शब्द आते हैं। सुश्रुत

---

१. तुलना कीजिए, निम्न श्लोकों से—
'श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता।
दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम्॥' (चरक. सू. अ. ९।६)
'तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंकृतिः।
लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः।
सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक्पाद उच्यते॥' (सुश्रुत. सू. अ. ३४।१०-२०)

में इनके लिए निशाचर, रक्ष आदि शब्द आते हैं ('निशाचरेभ्यो रक्षस्तु नित्यमेव क्षतातुरः।' रक्षाकर्म—'वेदनारक्षोघ्नैर्धूपैर्धूपयेत्।' महावीर्याणि रक्षांसि पशुपति-कुबेरकुमारानुचराणि **मांसशोणितप्रियत्वात् क्षतजनिमित्तं** व्रणिनमुपसर्पन्ति।'—सुश्रुत. सू. ११।२३)। कृमि और राक्षस दोनों की प्रकृति में बहुत साम्य है—(१) दोनों ही अन्धकार या रात्रि में आक्रमण करते हैं और प्रकाश को पसन्द नहीं करते, (२) सूर्य के प्रकाश से भागते हैं, (३) धूम-यज्ञ विधान से डरते हैं, (४) दोनों को मांस और रक्त प्रिय हैं, उन्हीं के लिए आक्रमण करते हैं, (५) दोनों मायावी हैं—नाना रूप बदलते हैं, (६) दोनों ही आँखों से अदृश्य हैं। इस प्रकृति-साम्य से कृमियों को 'राक्षस' शब्द से कहा गया है। इनसे बचने के लिए भी आदेश है—

शिष्य को चाहिए कि सदा नख और बाल कटवाकर रहे, पवित्र साफ-सुथरा रहे, श्वेत वस्त्र धारण करे, मन से शान्त तथा कल्याण के विचार करे, देवता, ब्राह्मण, गुरुओं का सत्संग करे—उनसे उपदेश लेता रहे, (सुश्रुत) व्रणरोगी को राक्षसों से बचाने के लिए श्वेत सरसों, नीम के पत्ते, घी और सैंधव के साथ नित्य प्रति प्रातः और सायंकाल अग्नि में हवन—धूपदान करना चाहिए। इस विधि को प्रारम्भ से ही करने पर राक्षस-कृमि वहाँ नहीं आने पाते; जिस प्रकार कि सिंह से आक्रांत वन में छोटे पशु नहीं आते (सुश्रुत सू. अ. २०।२८)। 'सर्वेऽपि च प्रायेणाहारकामा निशार्धविचारिणो भयानका मांसासृग्वसाशिनः।' (संग्रह, उत्तर. अ. ७) यह वचन भूतों के लिए कहा है; ये भूत कृमि ही हैं।

'ऋग्यजुःसामाथर्ववेदाभिहितैः परैश्चाशीर्विधानैरुपाध्याया भिषजश्च सन्ध्यो रक्षां कुर्युः।' (सुश्रुत सू. २०।२७) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में कहे तथा अन्य आशीर्वादों—कल्याणकारी वचनों—उपायों से उपाध्याय पुरोहित और वैद्य सन्ध्याकाल में रक्षा करें। इस रीति वेद में राक्षस या इस प्रकार के अन्य शब्द आयुर्वेद से सम्बन्धित कृमियों के लिए ही हैं।

कृमि या राक्षस सजीव प्राणधारी सूक्ष्म जीव हैं जो आँख से नहीं दिखायी देते, इनके लिए शतपथ में कहा है—

'वह चर्म को झटक देता है और कहता है कि राक्षसों का नाश हो गया; असुरों का शत्रुओं का नाश हुआ। इस प्रकार विनाशक राक्षसों का संहार होता है।' (शत. ब्रा. १।१।४)।[1]

---

१. **'अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च**

ओषधि चिकित्सा—वनस्पति या ओषधियों के उपयोग से रोग दूर होते हैं—ओषधि का अर्थ ही वेदना को दूर करनेवाली वस्तु है ('ओषं रुजं धयति इति ओषधि'); ओष नाम रस का भी है, वह रस जिसमें रहता है वह ओषधि है ('ओषो नाम रसः सोऽस्यां धीयते इति ओषधिः')। वेद में ओषधि के लिए माता शब्द आता है (ओषधी रीति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे।' ऋग्वेद १०।९७।४) ओषधियों के लिए एक सम्पूर्ण सूक्त हैं; जिसमें से कुछ अंश यहाँ दिया जाता है।

'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रुणामहं शतं धामानि सप्त च ॥ (ऋ. १०।९७।१)'

जो ओषधि या वनस्पति और देवों से तीन युग पहले उत्पन्न हुई थीं; उन भरण-पोषण करनेवाली ओषधियों के सौ और सात स्थान या जातियाँ हैं; ऐसा मैं जानता हूँ।

भू-मण्डल पर प्रथम वनस्पतियाँ उत्पन्न हुई थीं। इसके पीछे तीन युग व्यतीत होने पर (जल-जन्तुयुग, सर्पयुग, पशुयुग) मनुष्ययुग उत्पन्न हुआ। इन ओषधियों के एक सौ अथवा सात सौ या सौ और सात वर्ग हैं। (चरक में पाँच सौ ओषधियों का उल्लेख है।)

'ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे।
सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष ॥' (ऋ. १०।९०।४)

ओषधियाँ सच्ची माताएँ हैं; देवियाँ—हित करनेवाली माताएँ हैं; देव की शक्ति धारण करनेवाली देवियाँ हैं (इसी से चरक में दिव्य ओषधियाँ पृथक् वर्णित हैं—"अयं च शिवः कालो रसायनानां दिव्याश्चौषधयो हिमवत्प्रभवाः प्राप्तवीर्याः, तद्यथा—ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या.........पयसा प्रयुक्ता षण्मासात् परमायुर्वयश्च तरुणमनामयत्वं स्वरवर्णसंपदमुपचयं मेधां स्मृतिमुत्तमबलमिष्टाँश्चापरान् भावाना-वहन्ति सिद्धाः"—सू० अ० १।४।६)।

'ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥' (ऋ. १०।९७।२२)

यातुधान्यो धराचीः परासुव ॥' (वा. य. १६।५) **इसमें वैद्य का लक्षण कहा गया है—रोग बीजों का नाश करनेवाला, राक्षसों का संहार करनेवाला, योग्य मार्ग का उपदेश करनेवाला, बचानेवाला वैद्य होता है। यह मंत्र रुद्रसूक्त में है; इस लिए रुद्र को 'दिव्यवैद्य' कहा है। यातुधान शब्द राक्षसों के लिए है।**

ओषधियाँ सोम राजा से कहती हैं कि हे राजन् ! जिस रोगी के लिए ब्रह्म का ज्ञान धारण करनेवाला वैद्य हमारी योजना करता है, उस रोगी को रोग से हम पार कर देती हैं।

इस मंत्र में वैद्य का मुख्य लक्षण लोभी—अर्थलोभी न होना बताया गया है; उसे सच्चा ब्राह्मण होना चाहिए (ब्राह्मण का अर्थ आत्मज्ञानी है)।

ओषधियों से रोग नाश—वीर्यवती ओषधियों के सेवन से रोग के बीजों का नाश होता है। यथा—

'यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीव गृभो यथा॥' (ऋ. १०।९७।११०)

वाजयन् शब्द वाजीकरण नामक आयुर्वेद के एक अंग को सूचित करता है, वाज का अर्थ बल है, घोड़ा बलवान् होता है, उसे वाजी कहते हैं; शक्ति के माप की इकाई को भी "हौर्स पावर" कहते हैं। "अवाजिनं वाजिनं कुर्वन्ति अनेन इति वाजीकरणम्। वाजो वेगः, वाजः शुक्रम्।" ओषधि को बलवती करके सेवन करने से रोग का बीज नष्ट होता है।

हे मरुत् ! जो तुम्हारी रोगनाशक ओषधियाँ निर्मल हैं, तुम्हारी जो ओषधियाँ अतिशय सुखकारी हैं और जिन ओषधियों को हमारे पिता मनु ने पहचाना है; उन ओषधियों को—जिनका रुद्र से सम्बन्ध है, जो रोग को शान्त करती हैं, उनको मैं चाहता हूँ। (ऋ. २।३३।१३)

हे अश्विनौ ! दूर देश में और समीप में तुम से सम्बन्धित रोग का शमन करने-वाली जो ओषधियाँ हैं; उनके साथ हमारे घर में आकर प्रकृष्ट ज्ञानवाले तुम विमद-वत्स के लिए उन्हें अवश्य दो। (ऋ. ८।९।१५)

रोगों का नाश—भिन्न भिन्न अंगों से रोग का निकालना—

'अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां चुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया विवृहामि ते॥' (ऋ. १०।१६४।१)

यक्ष्म-रोग से पीड़ित व्यक्ति ! तेरी आँखों से, कानों से, चिबुक से, सिर से, मस्तिष्क से और जिह्वा से रोग को पृथक् करता हूँ। यह मंत्र अथर्ववेद में भी है।

'ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषाण्य मंसाभ्यां बाहुभ्यां विवृहामि ते॥' (ऋ. १०।१६४।२)

रोग से पीड़ित मनुष्य ! तेरी ग्रीवा से, उष्णिहा—धमनियों या नाड़ियों से,

अस्थियों से, अस्थि-सन्धियों से दोष्णों से (?), अंसों से, बाहुओं से रोग को जड़ से निकालता हूँ ।

'अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं तव यं कश्यपस्य विवर्हेण विष्वञ्चं विवृहामसि ।'
'ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो विवृहामि ते ।।' (अथर्व. २।३३।५)

अथर्ववेद का यह मंत्र ऋग्वेद में भी (१०।१६४।४-६ में) थोड़े परिवर्त्तन के साथ है । इनमें अंगों के नाम लिखे हैं । इन अंगों से, लोमों में से, पर्व-पर्व में से, त्वचा में से रोग को निकालने का उल्लेख है ।

जलचिकित्सा—वैदिक मंत्रों में मरुत्, अग्नि, सूर्य, अप् इनको भी देवता माना गया है । इनके द्वारा मनुष्य तथा दूसरे प्राणियों का जीवन चलता है । यास्क ने देवता अन्तरिक्ष स्थान (मध्यस्थान) या पृथ्वी स्थान और द्यु स्थान पर रहनेवाले बताये हैं । अप् भी इनमें एक देवता है, उससे भी आरोग्य की कामना की गयी है—

'सोम ने मुझसे कहा कि जल के अन्दर सम्पूर्ण औषधियाँ हैं । जल ही सब ओषधि हैं; अग्नि सब को आरोग्य रूप देनेवाला है (ऋ. १।२३।२०) । पानी में अमृत है, पानी में औषध है (ऋ. १०।१३७।६) ।

'जल निःसन्देह औपध है, जल निःसंशय रोगों को दूर करनेवाला है, जल सब रोगों की एक ही दवा है; यह जल तुम्हारे लिए औषध है ।'

इस मंत्र में स्पष्ट कहा है कि सम्पूर्ण रोग एक जल के ही प्रयोग से दूर हो सकते हैं; आर्यों की सन्ध्या में (जो कि दिन में तीन बार, दो बार या एक बार की जाती है) प्रथम मंत्र में जल की स्तुति है—"शंनो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शं योरभिस्रवन्तु नः ।"—जल शरीर की शुद्धि करनेवाला है, ओषधियों में भी यही जल सोमरूप में स्थित है (सोमो भूत्वा रसात्मकः—गीता) । जलचिकित्सा का विकास इसका उदाहरण है ।

प्रसूति सम्बन्धी ज्ञान—गर्भाशय तथा योनि के रोगों को दूर करने के लिए ऋग्वेद में अग्नि तथा अन्य साधनों का उपयोग बतलाया गया है—

'ब्रह्म-मंत्र के साथ एक-मत हुई, राक्षसों का नाश करनेवाली अग्नि इस स्थान से राक्षसों को दूर करे । जो राक्षस रोगरूप होकर तेरे गर्भाशय में रहते हैं, उनको मारे, दुर्नाम रोग जो तेरी योनि में—गर्भाशय में है उसे नष्ट करे, जो दुर्नाम तेरी योनि

में है उस मांसाशी राक्षस को अग्नि सम्पूर्ण रूप से नष्ट करे।'[1] हे योषित्! तेरे गर्भाशय में रेत रूप में जाकर रहनेवाले गर्भ को जो राक्षस आदि नष्ट करते हैं; तीन मास के गतिशील गर्भ को जो राक्षस नष्ट करते हैं, दशम मास में उत्पन्न तेरे शिशु को जो राक्षस नष्ट करते हैं, उनको इस स्थान से अग्नि नाश कर दे।[2] हे योषित्! तेरे पादमूलों में जो राक्षस आदि गर्भनाश के लिए चिपके हैं, पति-पत्नी के बीच में जो सोते हैं, जो योनि में घुसकर प्रविष्ट रेत को चाटते हैं, उन सबको मैं नाश करता हूँ।' (ऋ. १०।१६२।१–४)।

इन मंत्रों में कृमि या संक्रमण के गर्भाशय में पहुँचने के मार्गों का तथा उनसे गर्भाशय को होनेवाली हानियों का उल्लेख है। इसमें अग्नि का उपयोग कहा गया है। आयुर्वेद में अग्निकर्म का महत्त्व है, क्योंकि १—इससे जलाये रोग पुनः उत्पन्न नहीं होते, २—औषध, शस्त्र और क्षार द्वारा असाध्य रोग इससे साध्य होते हैं, इसलिए अग्निकर्म महत्त्वपूर्ण है (सुश्रुत. सू. अ. १२।३)। राक्षस-कृमियों को मारने तथा उनके विष संक्रमण को नाश करने का सबसे उत्तम उपाय अग्नि ही है। यही इन मंत्रों में बताया गया है।

सौर-चिकित्सा—सूर्य की किरणों द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, उसे सौर चिकित्सा कहते हैं। कृमि—जिनके लिए वेद और आयुर्वेद में रक्ष या राक्षस,

---

१. अर्श—'केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां शिश्नमपत्यपथं गलतालुमुख-नासिकाकर्णाक्षि वर्त्मानि त्वक् चेति।' 'सर्वेषां चार्शसामधिष्ठानं मेदो मांसं त्वक् च।' (चरक. चि. अ. १४।६)

चिकित्सा—'तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्त्तनं हितमर्शसाम्।
दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाग्निना।
अस्त्येतद् भूरितंत्रेण धीमता दृष्टकर्मणा।
क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तत्र सुदारुणः॥

२. 'चतुर्थे (मासे) सर्वांगप्रत्यंगविभागः प्रव्यक्तो भवति। गर्भहृदयप्रव्यक्ति-भावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति। कस्मात् तत्स्थानत्वात्। तस्माद् गर्भश्चतुर्थे मासि अभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते।' (सुश्रुत शा. अ. ३।१८)

'तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवममासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुरादशमान् मासात्।' (चरक. शा. अ. ४)

निशाचर या यातुधान शब्द आये हैं; वे सूर्य से नष्ट होते हैं। इसी से वेद में कहा गया है—'उद्यन्नादित्यः क्रमीन् हन्ति'—उदित होता हुआ सूर्य कृमियों को मारता है। सूर्य के प्रति वेदमंत्रों में प्रार्थना है—

'नः सूर्यस्य संदृशे मा युयोथाः ॥' (ऋक्. २।३३।१)

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥' (ऋक्. १।११५।१)

सूर्य के प्रकाश से हमारा कभी वियोग न हो। सूर्य स्थावर-जंगम की आत्मा है। उपनिषद् में सूर्य को प्राण कहा गया है ('आदित्यो ह वै प्राणः'—प्रश्न उप० १।५)। भारत में घरों का द्वार बनाने में पूर्व या उत्तर दिशा को ही पसन्द किया जाता है, जिससे सूर्य का प्रकाश पूर्णरूप से पहुँच जाय ('प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वाऽभिमुखतीर्थं कूटागारं कारयेत्'—चरकः सू० अ० १४।४६'; 'प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा सूतिकागारं कारयेत्'—चरकः शा० अ० ८।३३)।

वायु चिकित्सा—वायु, मातरिश्वा भी देवता है। उपनिषद् में कहा गया है कि वायु ही प्राण बनकर शरीर में आकर रहता है ('वायुर्ह वै प्राणो भूत्वा शरीरमाविशत्')। वायु में अमृत का खजाना है, ऐसा ऋग्वेद में कहा गया है (१०।१८६)।

'आ वात वाहि भेषजं विवात वाहि यद्रपः।

त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥' (ऋक्. १३७।३.)

हे वायु! अपनी दवाई ले आओ और यहाँ से सब दोष दूर करो; क्योंकि तुम ही सब ओषधियों से युक्त हो।

प्राण और अपान इन दोनों वायुओं के लिए वेद में निर्देश हैं। प्राण से शरीर में बल भेजने और अपान से शरीर के पाप-रोगों को बाहर निकालने के लिए कहा गया है—

'द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।

दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः ॥' (ऋ. १०।१३७।२)

ये दो वायु—पुरोवात (प्राण) और पश्चाद्वात (अपान) समुद्र से लेकर अथवा समुद्र से भी अधिक दूर से (सिर से लेकर पैर के नख तक सम्पूर्ण शरीर में) चलती हैं। इनमें एक वायु (प्राण) तुझ स्तोता के अन्दर बल का संचार करे और दूसरा (अपान) वायु शरीर का पाप बाहर करे। गीता में इन्हीं दोनों प्राण, अपान को नियंत्रित करने को कहा है ('प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ। यतेन्द्रियमनोबुद्धिः मुनिर्मोक्षपरायणः ॥' 'कोई योगी अपान में प्राण का यज्ञ करता है; दूसरा प्राण में प्राण का यज्ञ करता है—प्राणायाम द्वारा वायु का अवरोध करके प्राण—अपान

को रोकता है' (गीता ४।२९)। मनुस्मृति में कहा गया है कि प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों के मल उसी प्रकार से नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातुओं के मल नष्ट होते हैं।

मानस-चिकित्सा--रोग के दो ही अधिष्ठान हैं--मन और शरीर। मन के दो दोष हैं--रज और तम। शरीर में रोग होने से पूर्व मन रुग्ण होता है। कई बार शरीर स्वस्थ दीखता है, परन्तु मन ही अस्वस्थ रहता है, (यथा ज्वर के पूर्वरूप में--'वैचित्र्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम्')। उन्माद, अपस्मार रोगों का सम्बन्ध मन और बुद्धि से ही है (चरक. नि. अ. ७।५)। इसलिए मन को ही मुक्ति तथा बन्धन का कारण माना गया है। इस मन की चिकित्सा का भी उल्लेख वेदों में है--

'दस शाखाएँ जिनकी हैं ऐसे अपने दोनों हाथों से तुमको स्पर्श करता हूँ। ये मेरे हाथ निरोग करनेवाले हैं। साथ में अपनी वाणी को भी प्रेरित करता हूँ।' (ऋ. १०।१३७।७)

आत्मबल और मन के बल से चिकित्सा होती है। (इसी से सुश्रुत में रोगी के मन को स्वस्थ रखने के लिए कहा है (सु. सू. अ. १९।७-८)। चरक में भी इसी से कथा, आख्यायिका, इतिहास, स्तोत्रपाठ करनेवालों को रोगी के पास रखने के लिए कहा गया है--"तथा गीतवादित्रोल्लापकश्लोकगाथाख्यायिकेतिहासपुराणकुशलानभिप्रायज्ञाननुमतांश्च देशकालविदः पारिषद्यांश्च।" (चरक. सू. अ. १५।७)

मन की महत्ता यजुर्वेद में निम्न प्रकार से बतायी गयी है (यजुः ३४)--

मन प्राणियों के अन्दर अमृतरूप है। मन के बिना कोई भी कर्म किया नहीं जा सकता। मन के द्वारा सप्त-होता यज्ञ फैलाया जाता है। (दो कान, दो नाक, दो आँख और एक मुख ये ही सात होता हैं। इनसे पुरुषरूपी यज्ञ मन के द्वारा चलाया जाता है।) उत्तम सारथि जिस प्रकार से घोड़ों को चलाता है, उसी प्रकार यह मन मनुष्यों को चलाता है।' उपनिषद् में आत्मा को रथी, रथवाला कहा गया है, मन को इसका सारथि बताया है; इन्द्रियाँ घोड़े हैं। मन ही इन्द्रियों को वश में रखता है; जिस प्रकार कि सारथि घोड़ों को काबू में रखता है। भयंकर तूफान आने पर समुद्र में जहाज को जैसे लंगर स्थिर रखता है, उसी प्रकार विचारों के ऊहापोह में गोता खानेवाले मन को प्राणायाम ही नियंत्रित करता है। मन को वश में करने का साधन प्राणायाम है और इन्द्रियों को वश में रखनेवाला मन है। मन के बल से बहुत से रोग नष्ट होते हैं।

हवन-चिकित्सा--अत्रिपुत्र ने राजयक्ष्मा की चिकित्सा में यज्ञविधान बताया है--

'जिस यज्ञ के द्वारा राजयक्ष्मा पूर्व काल में नाश किया गया है; उसी वेदविहित यज्ञ को आरोग्य को चाहनेवाला रोगी करे।' (चरक. चि. अ. ८।१८९)

यज्ञ-हवन से रोग नाश होते हैं। इसका उल्लेख अथर्ववेद में है —

'हवन के द्वारा अज्ञात रोग से तथा क्षयरोग से भी तुमको दीर्घ जीवन के लिए छुड़ाता हूँ (अथर्व० ३।११।१)।' यज्ञ से वायु की शुद्धि होती है, जहाँ सामान्य वस्तु नहीं जा सकती वहाँ सूक्ष्म वायु-धूम पहुँच जाता है। इसी लिए नगरों में पानी के नल बैठाते समय नलों की सन्धि परीक्षा धूम से की जाती है। अत्रिपुत्र ने छाती के स्रोतों में छिपे हुए कफ को निकालने के लिए धूम का विधान किया है। यही एक ऐसी वस्तु है, जो कि सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतों में पहुँचती है ('लीनश्चेद् दोषशेषः स्याद् धूमैस्तं निर्हरेद् बुधः,—चरक. चि. अ. १७।७७)। इसलिए रोगी के कमरे में उसके पास बराबर यज्ञ की धूमाग्नि रहनी चाहिए। इससे वायुमण्डल की शुद्धि तो होगी ही, साथ ही रोगी के शरीर में यह सुवासित धूम रोग के कीटाणुओं को नष्ट कर देगा। क्षय रोग में धूम का विशेष महत्त्व है। इसी से अत्रिपुत्र ने वेदविहित यज्ञ का विधान किया है।

यजुर्वेद में आयुर्वेद

यजुर्वेद के दो भाग हैं—एक तैत्तरीय शाखा और दूसरी वाजसनेयी शाखा। इनका सम्बन्ध मुख्यतः कर्मकाण्ड से है, इसलिए शरीर के अंगों के नामों का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। यजुर्वेद के वर्ण्य विषय का ज्ञान एक मात्र वाजसनेयी संहिता के अध्ययन से हो सकता है। इस संहिता में ४० अध्याय हैं।

ओषधिसूक्त—यजुर्वेद में ओषधियों के लिए बहुतेरे मंत्र आये हैं, इनसे स्पष्ट है कि ओषधियों का उपयोग यज्ञकर्म तथा स्वास्थ्य के लिए विशेष होता था। ओषधियों से नाना प्रकार की प्रार्थना की गयी है। ऋग्वेद के मंत्र भी इस संहिता में बहुत आये हैं। यथा—

'ओषधियाँ जो कि तीन युगों से पहले उत्पन्न हुई, उन भरण-पोषण करनेवाली ओषधियों के सौ और सात स्थान हैं; ऐसा मैं जानता हूँ। हे माता ओषधियो (माता के समान स्नेह और रक्षा देनेवाली)! तुम्हारे अपरिमित जन्मस्थान हैं, तुम्हारे प्रोद्गम असंख्य हैं, तुम्हारे कर्म असंख्य हैं। इसलिए तुम मुझको रोगरहित करो।'[1]

---

१. ओषधियाँ अनन्त हैं; इसका स्पष्टीकरण विनयपिटक-वर्ती जीवक की कथा से स्पष्ट होता है। जब उसके आचार्य ने उसे कुदार देकर तक्षशिला के चारों ओर सात कोस

हे ओषधि ! तुम माता के समान हो, इसलिए हे देवि ! तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुमको मैं घोड़ों, गाओं तथा अपने लिए ओषधि रूप में—रोगनाश करने के लिए देता हूँ। जो फलवाली, जो फलरहित, जो पुष्परहित और जो पुष्पवाली हैं; जिनको बृहस्पति (परमात्मा) ने उत्पन्न किया है, वे मुझे पाप-रोग से छुड़ायें।[१] हे ओषधियो ! तुमको खोदनेवाला नष्ट न हो, और जिसके लिए मैं खोद रहा हूँ वह व्यक्ति भी नष्ट न हो। दो पैरवाले मानव एवं चार पैरोंवाले पशु सब रोगरहित हों। हे ओषधि ! तू श्रेष्ठ है, तेरे सब वृक्ष अधःशायी हैं; जो हमारा नाश करना चाहता है या करता है, वह तेरे नीचे आये।' (वा० सं० १२।७५-७९,८९,९५)

ओषधियों को केवल नाम और रूप से जानने का महत्त्व नहीं। नाम और रूप से तो ओषधियों को जंगल में गाय-भेड़ चरानेवाले चरवाहे तथा अन्य पर्वत-अरण्यवासी भी जानते हैं। इनके उपयोग को देश-काल के अनुसार एवं प्रत्येक पुरुष की विवेचना करके जो जानता है, वही सच्चा भिषक् है। (चरक सू० अ० १।१२०-१२३)

ओषधियों की महत्ता और उनके प्रति पूज्यभाव पण्डितराज जगन्नाथ के श्लोक में स्पष्ट है —

तक जाकर ऐसी ओषधि लाने को कहा जिसमें कोई गुण न हो; तब वह घूमकर निराश लौटा और कहा कि ऐसी कोई औषधि नहीं जिसमें गुण न हो.। इसी से अत्रिपुत्र ने है कहा—"नानौषधिभूतं जगति किंचिद् द्रव्यमुपलभ्यते तां तां युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य॥" (चरक.) सू. अ. २६।१२।

१. औद्भिदं तु चतुर्विधम्—

'वनस्पतिस्तथा वीरुद् वानस्पत्यस्तथौषधिः।
फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि॥
ओषध्यः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः॥' (चरक. सू. अ. १।७०।७२)

फलवाली ओषधियाँ वनस्पति हैं, इनमें फूल दृश्य नहीं होता, यथा गूलर; 'तेषामपुष्पाः फलिनो वनस्पतय इति स्मृताः,—हारीत)। पुष्प आने के पीछे जिनमें फल आता है, वे वानस्पत्य हैं, आम्र, नारंगी आदि। फल आने पर जिनका नाश हो जाता है, वे ओषधियाँ हैं, यथा—मूंग, तिल आदि। प्रतानवाली लता आदि वीरुध हैं, यथा—चमेली-मालती आदि।

'धत्ते भरं कुसुमपत्रफलावलीनां धर्मव्यथां वहति शीतभवा रुजश्च।
यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतोस्तस्मै वदान्यगुरवे तरवे नमोऽस्तु ॥'
(भामिनीविलासः)

जो वृक्ष फूल-पत्ते और फलों के बोझ को उठाये हुए धूप की तपन और शीत की पीड़ा सहन करता है, तथा दूसरे के सुख के लिए अपना शरीर अर्पित कर देता है, उस वन्दनीय श्रेष्ठ तरु के लिए नमस्कार है। यही उदात्त भावना वेद मंत्रों में है। इस महान भावना का आदिम स्रोत वेद की ऋचाएँ ही हैं। वेद में ओषधियों को राज्ञी कहा गया है ('या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।' यजु. १२।९२)। ओषधियाँ माता की तरह रक्षा करती हैं। जिस मनुष्य को ओषधियों का सम्यक् ज्ञान होता है, उसे ही भिषक् कहा जाता है। राजा लोग जिस प्रकार समिति (आस्थानमण्डप) में एकत्रित होते हैं, उसी प्रकार जिसमें ओषधियाँ एकत्र रहती हैं वही विप्र सच्चा भिषक् है, और वही राक्षस और रोगों को दूर कर सकता है[1]। (यजु. १२।८)

वेद में ओषधियों की माता को इष्कृति (सर्वेषां रुग्णानां निष्कर्त्री) सब रोगों को निकालनेवाली कहकर प्रार्थना की गयी है। 'हे ओषधियो ! तुम भी मेरे रोगों को निकालो' (यजुः १२।८३)।

'अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्यति पूरुषः ॥' (यजु. १२।९१.)

ओषधियाँ कहती हैं कि आकाश-द्युलोक से आती हुई हम जिस व्यक्ति के पास पहुँच जाती हैं, वह किसी तरह भी नष्ट नहीं होता।

दिव्य वैद्य—जो रोगों को जड़ से नष्ट करता है, राक्षसों को मारता है, वह वेद में दिव्य भिषक् कहा गया है —

'कम न होनेवाले, सदा बढ़नेवाले रोगबीजों को नष्ट भ्रष्ट करनेवाला और सब राक्षसों को नीचे की ओर से निकालनेवाला है, वह उपदेशक पहला दिव्य वैद्य है।' (यजु. १६।५)

अथर्ववेद में आयुर्वेद

अथर्ववेद में आयुर्वेद का विषय विशेष विस्तार से आया है। अथर्ववेद का सम्बन्ध ही आयुर्वेद उपांग से है —

---

१. इसी अर्थ को अत्रिपुत्र ने भी कहा है (चरक. सू. अ. १।१२०-१२३)

'तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। वेदो ह्याथर्वणो दानस्वस्त्ययनबलिमंगलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासमंत्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह। चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते ॥"

(चरक. सू. अ. ३०।२१)

काश्यप संहिता में औषध और भेषज का भेद बताते हुए कहा है कि दीपन आदि गुणवाली वस्तुओं के लिए औषध शब्द आता है; हवन, व्रत, तप, दान रूपी शान्तिकर्म के लिए भेषज शब्द आता है (काश्यपसंहिता, औषध-भेषजेन्द्रियाध्याय)। अथर्ववेद में शान्ति कर्म विशेष रूप से है। इसी से कुछ सज्जन इसका सम्बन्ध जादू-टोने से लगाते हैं। शान्ति कर्म---स्वस्ति-पाठ आदि भी चिकित्साकर्म हैं। सूतिकागार में प्रवेश करने से पूर्व अथवा शस्त्रकर्म करने से पूर्व स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ करने का विधान है, चरक. शा. अ. ८।३५; सुश्रुत. चि. अ. ७।३०.)।

अथर्ववेद में वनस्पतियों का स्पष्ट नामोल्लेख, कृमि सम्बन्धी जानकारी, शल्यचिकित्सा और प्रसूतिविज्ञान आदि विषय मिलते हैं। अथर्ववेद का सम्बन्ध मनुष्यजीवन के साथ क्रियात्मक रूप में होने से आयुर्वेद का सम्बन्ध इसी से विशेष है।

कृमिविज्ञान---कृमियों से अभिप्राय रोगोत्पादक सूक्ष्म जीवाणुओं से है, जो कि सामान्यतः आँख से दृश्यमान नहीं हैं। ये मनुष्य को हानि पहुँचाते हैं। इनमें से बहुतेरे सर्प--सर्पणशील, रेंगनेवाले हैं, इनको नष्ट करने के लिए कहा गया है। ये कृमि पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में रहते हैं। (यथा---यजुर्वेद में कहा गया है---"नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु। ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥' १३।६) इन कृमियों को नाश करने का उल्लेख अथर्ववेद में विशेष रूप से है---

'रक्त और मांस को दूषित करनेवाले जन्तुओं को बहुत बड़े मारने के साधनों से मारता हूँ। जो जन्तु मेरे द्वारा बनायी औषधी आदि से पीड़ित हैं या जो नहीं पीड़ित हैं, वे सब सूख गये हैं। जो बच गये, पहले नहीं मरे, उनको मंत्र के बल से मारता हूँ जिससे इनके बीच में कोई भी न बचे।' (अथर्व. २।३१।३)

अनुक्रम से आन्त्रों में उत्पन्न, सिर में उत्पन्न और पीठ में उत्पन्न कृमियों को नष्ट करता हूँ। जो कृमि नीचे जाने के स्वभाववाले, या नाना मार्गों में पहुँचते हैं; इस प्रकार के नाना प्रकार के कृमियों को मंत्र से मारता हूँ। पर्वत आदि में जो कृमि हैं वे हमारे शरीर में व्रण-मुख से या अन्न-पानादि द्वारा प्रविष्ट हो गये हैं; उन सबको मंत्र से मारता हूँ।' (अथर्व. २।३१।४-५)

'उदय होता हुआ सूर्य अपनी किरणों से कृमियों को मारे। अस्त होता हुआ

सूर्य अपनी किरणों से कृमियों का नाश करे।[1] जो कृमि गौओं के शरीर में रहते हैं, उनको नष्ट करे। हे कृमियो! तुमको अत्रि के समान, कण्व के समान, जमदग्नि के समान मंत्र सामर्थ्य से मैं भी मारता हूँ तथा अगस्त्य के मंत्र से मैं कृमियों को इस प्रकार से नाश करता हूँ जिससे वे फिर उत्पन्न न हों। हमसे प्रयुक्त ओषधियों और मंत्र द्वारा कृमियों का राजा नष्ट हो गया है; इन कृमियो का मंत्री भी मारा गया, माता भी नष्ट हो गयी, बहिन भी जाती रही, भाई भी मारा गया। (अथर्व. २।३२।१-४)

इस कृमिकुल के निवेशस्थान मुख्य घर को नष्ट करता हूँ, इस कुल के चारों ओर के अन्य घरों को भी नष्ट करता हूँ। बीजावस्था में—सूक्ष्म रूप में ही इन सब कृमियों को नष्ट करता हूँ। हे कृमि! तेरे सींगों (प्रवर्धन) को नष्ट करता हूँ, जिन दो सींगों से तू विशेष रूप में पीड़ा करता है।[2] तेरे कुसुम्भ—अवयवविशेष को नष्ट करता हूँ। जिस अवयव में विष रहता है, उस अवयव को नष्ट करता हूँ।' (अथर्व. २।३२।५।६)

(जिस प्रकार साँप के मुख की थैली में और बिच्छू के पीछे की थैली में विष रहता है, ऐसे अवयव को 'कुसुम्भ' कहते हैं।)

कृमियों से द्युलोक और पृथ्वीलोक मेरी रक्षा करें, सरस्वती देवी मेरी रक्षा करे, इन्द्र और अग्नि मेरी रक्षा करें, इन कृमियों को पीस डालें। जो कृमि आँख में, नासिका में तथा मध्य भाग में पहुँचते हैं, उनको नष्ट करता हूँ। जिन कृमियों का पेट श्वेत है, जिनका पेट काला है, जिनकी भुजाएँ श्वेत हैं, और जो कृमि नाना रूप बदलते हैं (मलेरिया के जीवाणु का जीवनचक्र इसका अच्छा उदाहरण है—यह कितने रूप बदलता है), उन कृमियों को नष्ट करता हूँ। सब पुरुष कृमियों

---

१. जो गायें धूप में बाहर चरने जाती हैं, अधिक समय धूप में बिताती हैं, उनको क्षयरोग नहीं होता। भारतवर्ष में आधुनिक दुग्धशाला की प्रथा नहीं, गायें चरागाह में देहातों में बाहर रहती हैं, इसलिए भारत में गाय के दूध से होनेवाले क्षयरोग का रोगी अभी नहीं मिला। इस दृष्टि से गायों को बाहर खुले मैदान में भेजना जरूरी है।

२. कृमि के मुख के पास दो लम्बे नोकीले प्रवर्धन होते हैं (जैसे कि झींगुर के होते हैं), इनसे तथा अपने डंक से यह मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं, उसके साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं।

का, सब स्त्री-जाति कृमियों का सिर पत्थर से पीसता हूँ; इनके मुख को अग्नि से जलाता हूँ।' (अथर्व. ५।२३।१,३,५)

'येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णिपुरोमुखाः
ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्त्रिभाः।
तानोषधे! त्वं गन्धेन विषूचीनान् विनाशय॥' (अथर्व. ८।६।१५, १०)

'जिन कृमियों के पैर पीछे को और एड़ी आगे को तथा मुख सामने है, ऐसे कृमियों को नष्ट करता हूँ। जो कृमि कुछ स्थूल, जो कृमि बढ़े हुए पेटवाले, जो कृमि सुख के दुश्मन—सुखनाश करनेवाले हैं; स्त्रिभा-रोग को उत्पन्न करते हैं, जो सायंकाल में गधे के समान शब्द करते हैं (यथा—मच्छर, मलेरिया का मच्छर सायंकाल में ही आक्रमण करता है), जो कृमि सायंकाल के समय गोशाला, भोजनशाला, पाकशाला आदि स्थानों में नाचते हैं, उन सबको तथा उड़कर रोगों को लानेवाले सब दुष्ट जन्तुओं को, हे ओषधि! तू अपनी गन्ध से नष्ट कर दे।'

इसलिए वस्तुओं को कृमिरहित करने के लिए सुगन्धित द्रव्य का प्रयोग किया जाता है, गरम कपड़ों को कीड़ों से बचाने के लिए प्राचीन काल में चन्दन, कूठ, कपूर, देवदारु का उपयोग होता था, और आज फिनायल की गोली बरती जाती है। अत्रिपुत्र ने बच्चों के वस्त्रों को इसी लिए सुगन्धित द्रव्यों से धूप देने का विधान किया है (चरक. वि. अ. ८।६१)। सूतिकागार में भी होम का विधान है (चरक. शा. अ. ८।४१)।

अथर्ववेद में वनस्पतियाँ—अथर्ववेद में कुछ वनस्पतियों का उल्लेख नाम से है; इनमें कुछ ओषधियाँ स्पष्ट हैं और बहुत-सी अनिर्णीत हैं। वनस्पतियों का उपयोग अलग-अलग स्वतंत्र रूप में ही मिलता है; इनको मिश्रित रूप में नहीं बरता जाता था।

पिप्पली—पिप्पली ओषधि जीवन के लिए उपयोगी है। पिप्पली कहती है कि जो मनुष्य हमारा उपयोग करता है, वह कभी नष्ट नहीं होता। पिप्पली वातरोग, और उन्माद अपस्मार (जिनमें चित्त उत्क्षिप्त हो जाता है) की उत्तम ओषधि है। (अथर्व. ६।१०९।१–३)

इसी अर्थ को अत्रिपुत्र ने स्पष्ट किया है; पिप्पली 'आपातभद्रा' है, सब प्रकार से मंगलकारी है, इसे सब ऋषियों ने बरता है, किसी भी रूप में यह हानि नहीं कर सकती। फिर भी इसका अति उपयोग निषिद्ध है।

पिप्पली कटु रसवाली होने से विपाक में मधुर है, गुरु है, मध्य दर्जे में स्निग्ध और उष्ण है, शरीर में क्लेद उत्पन्न करती है, वैद्यों को मान्य है, यह जल्दी ही

शुभ-अशुभ परिणाम करती है, ठीक प्रकार से प्रयोग करने पर नितान्त कल्याण-कारी है। अधिक उपयोग से यह दोष संचय को उत्पन्न करती है—निरन्तर इसका उपयोग भारी और प्रक्लेदी होने से कफ को कुपित करता है। गरम होने से यह पित्त को दूषित करती है, वात का भी शमन नहीं करती है क्योंकि इसमें स्नेह कम होता है; गरमी भी कम होती है। पिप्पली योगवाही है (जिस वस्तु के साथ दी जाती है, उसके गुण को बढ़ाती है)। इसलिए पिप्पली का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए (पिप्पली का अति प्रयोग मसाले आदि के रूप में खान-पान में निषिद्ध है)। (चरक-वि० अ० १।१६)

अपामार्ग—इसको देहात में 'चिरचिटा' या 'ओंगा' कहते हैं। अथर्ववेद की यह औषधि अवश्य महत्त्वशाली है, इसी से अत्रिपुत्र ने अपने दूसरे अध्याय का प्रारम्भ 'अपामार्ग-तण्डुलीय' अध्याय से किया है।

'क्षुधामारं तृष्णामारं तथा अनपत्यताम्।
अपामार्ग! त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे॥
अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी।
तेन ते मृज्म आस्थिमथ त्वमगदश्चर॥' (अथर्व. ४।१७।६-८)

अपामार्ग क्षुधा, तृष्णा, अनपत्यता में प्रयुक्त होता है (अपामार्ग के चावलों की खीर खाने से भूख और प्यास नहीं लगती)। सम्पूर्ण ओषधियों की अपेक्षा अपामार्ग के ही ये काम होते हैं।

अत्रिपुत्र ने शिरोविरेचन-द्रव्यों में अपामार्ग को सर्वश्रेष्ठ कहा है ('प्रत्यक् पुष्पी शिरोविरेचनानाम्'—सू० अ० २५)। पुत्रोत्पत्ति के लिए अपामार्ग का उपयोग आयुर्वेद ग्रन्थों में है—'शिफां वर्हिशिखायास्तु क्षीरेण परिपेषिताम्। पिबेद् ऋतुमती नारी गर्भधारणहेतवे।' शोढल, पृष्ठ ६१३। अपामार्ग के बाल को दूध के साथ पीसकर ऋतुमती स्त्री गर्भ धारण के लिए पिये। भूख को नष्ट करने के लिए भी इसका उपयोग है। दूध और गोह के मांस-रस में अपामार्ग के चावलों से बनाया गया पायस भूख को नष्ट करता है। (चरक० सू० अ० २।३३)

पृश्निपर्णी—(पिठवन)—'हे पृश्निपर्णी! तू न दीखनेवाले, खून को पीनेवाले, उन्नति को रोकनेवाले, गर्भ को खाने या ग्रहण करनेवाले रोग को दूर कर, सहन कर।' (अथर्व २।२५।३)

इस मंत्र से उन रोगों के उल्लेख का पता लगता है, जिनका सम्बन्ध रक्त से है;

रक्त स्राव या जिनमें रक्त नहीं बढ़ता उन रोगों में पृश्निपर्णी का उपयोग किया जाता है। आयुर्वेद में पृश्निपर्णी दशमूल, लघुपंचमूल की एक ओषधि है। रक्तस्तम्भन के लिए तथा निर्बलता को दूर करने के लिए इसका उपयोग है। (चरक० सू० अ० २।२१)

रोहिणी—(मांसरोहिणी)—रोहिणी नामक जो वनस्पति है, उससे मांसादि की शीघ्र वृद्धि होती है। मज्जा से मज्जा, मांस से मांस, चर्म से चर्म, अस्थि से अस्थि इस वनस्पति द्वारा बढ़ते हैं। यदि शत्रु का शस्त्र लगने से अथवा पत्थर लगने से व्रण हुआ हो तो इस वनस्पति से शीघ्र ठीक होता है, जिस प्रकार कि उत्तम तक्षक (बढ़ई) रथ के अंगों को ठीक करता है, उसी प्रकार से रोहिणी वनस्पति शरीररूपी रथ को शीघ्र ठीक करती है। (अथर्व ४।१२)

"तस्मान्मांसमाप्यायते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यस्तथा लोहितं लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्जया, शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेण।'

वेद के इस मंत्र को अत्रिपुत्र ने बहुत ही सुन्दरता से स्पष्ट किया है—

'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'—समान-समान को बढ़ाता है, इसी नियम से मांस मांस से अधिक बढ़ता है; रक्त रक्त से; मेद मेद से; वसा वसा से; अस्थि अस्थि से; मज्जा मज्जा से; शुक्र शुक्र से बढ़ता है, गर्भ आम गर्भ से बढ़ता है। इस अर्थ में रोहिणी नामक ओषधि प्रत्येक वस्तु का रोहण करती है।[1]

अनेक ओषधियाँ—

'यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षा शिखण्डिनः।
तत् परेता अप्सरसः प्रति बुद्धा अभूतन ॥
यत्र वः प्रेंखा हरिता अर्जुना उत।
यत्राघाटाः कर्कयः संवन्ति ॥
तत्परेता अप्सरसः प्रति बुद्धा अभूतन ॥
एयमगन्नोषधीनां वीरुधां वीर्यावती।
अजभृंग्यराटकी तीक्ष्णश्रृंगी व्यृषतु ॥' (अथर्व. ४।३७।४-६)

जहाँ पर अश्वत्थ (पीपल), न्यग्रोध (बरगद) ये महावृक्ष अपने पत्रों के साथ

---

१. **'रोहिण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्यो रोहणी। रोहयेदमरुन्धति।'** (अथर्व. ४।१२।१) **इस मंत्र में रोहिणी मांसरोहिणी के लिए कहा गया है।**

प्रसन्नता से रहते हैं; अर्जुन, पिलखन, अघाट, कर्करी, अजशृंगी, अराटकी, तीक्ष्णशृंगी ये वृक्ष एवं वनस्पतियाँ रहती हैं; वहाँ पर पानी में चरनेवाले विषजन्तु नहीं रहते।

सुश्रुत में पानी की दुर्गन्ध को दूर करनेवाली कुछ वनस्पतियों का उल्लेख है ('प्रसादनं च कर्त्तव्यं नागचम्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभृतिभिश्चाधिवासनमिति'—सु० अ० ४५।१२)। ये सब पुष्प बागों के हैं; वेद के वृक्ष जंगल के हैं, जंगल में इन वृक्षों के पत्तों से पानी स्वच्छ होता है। इन वनस्पतियों से पानी में फैलनेवाले जन्तु नष्ट होते हैं।

किलास कुष्ठ रोग का ही एक रूप है—कुष्ठ का अर्थ कुत्सित रूप-वर्ण है। पलित बालों का श्वेत होना, किलास—श्वेत कुष्ठ (श्वित्र) इन रोगों को श्यामा ओषधि नष्ट करती है। 'त्वचा के समान रंग करनेवाली श्यामा ओषधि पृथ्वी में उत्पन्न हो गयी है। यह इस रोग के रूप को ठीक करके फिर से पूर्व की भाँति कर दे।' (अथर्व० १।२।४)

श्यामा के सिवाय रामा, कृष्णा, असिक्नी ये तीन ओषधियाँ किलास-पलित (श्वेत वर्ण या श्वेत बिन्दु, सफेद छोटे-छोटे दाग जो त्वचा में होते हैं) को नष्ट करती है।[१]

'हे रोहिणी! तुम फैलनेवाली हो; स्तम्भ रूप हो; एक शुंग—एक शाखा-वाली हो; प्रतानोंवाली हो; अंशुवाली हो; कण्ठोंवाली—शाखावाली हो; शाखा-रहित हो; वीरुध रूप हो; समस्त दिव्य गुणों से युक्त हो; पुरुष को जीवन देनेवाली हो।' (अथर्व० ८।७।४)

'तेरे हृदय की जलन और पीलापन सूर्य के पीछे चला जाय। गौ के अथवा सूर्य के उस लाल रंग से तुझे सब प्रकार से हृष्ट-पुष्ट करते हैं। लाल रंगों से तुझको दीर्घ आयु के लिए घेरते हैं, जिससे यह निरोग हो जाय और पीलक रोग से मुक्त हो जाय। जो दिव्य लाल रंग की गाय है और जो लाल रंग की किरणें हैं उनसे सुन्दरता

---

१. 'नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्॥
किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत्।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय॥'
'पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत।
समातर इव दुहामस्मा अरिष्टतातये।' (अथर्व. ८।७।२७)

और बल के अनुसार तुझे घेरते हैं। तेरे पीलक रोग को तोते और पौधों के रंग धारण कराते हैं और तेरा फीकापन हम हरी वनस्पतियों में रख देते हैं।' (अथर्व० १।२२।१–४)

लाल रंग आरोग्य देता है। लाल रंग की गाय अच्छी होती है ('रोहिणीमथवा कृष्णामूर्ध्वशृङ्गीमदारुणम्'—चरक० चि० अ० २।३।४)। लाल रंग स्वास्थ्य के लिए उत्तम है। हरा और पीला रंग जो कि पित्त विकार को बताता है; रक्त की कमी का सूचक है, वह सूर्य की किरणों से दूर होता है। आज जो महत्त्व सूर्य चिकित्सा--अल्ट्रावायलेट किरणों तथा इन्फ्रारेड किरणों का है, वह अथर्ववेद में वर्णित है। इसी से प्राचीन आर्यसभ्यता में स्नान करके आर्द्र शरीर, नग्न शरीर से सूर्य को अर्घ देने की प्रथा है, इसी लिए कहा गया है—'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' सूर्य से स्वास्थ्य की कामना करनी चाहिए।

किलास वा कुष्ठ रोग की चिकित्सा—इसके लिए श्यामा ओषधि का उल्लेख पहले आ चुका है। परन्तु अन्य ओषधियों का भी उपयोग इसमें होता था—

'अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि।
दूष्याकृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम्॥
आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।
अनीनशत् किलासं सरूपामकरत्वचम्॥
सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि॥
श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या ऊध्यद्भृता।
इदं सु प्रसाधय पुनारूपाणि कल्पय॥' (अथर्व. १।२३।२४)

किलास के तीन नाम हैं—दारुण, अरुण और श्वित्र। दोष के रक्त में आश्रित होने से रंग लाल होता है, मेद में आश्रित होने से श्वेत वर्ण होता है, मांस में आश्रित होने से ताम्र वर्ण होता है—

'दारुणं चारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः।
विज्ञेयं त्रिविधं तच्च त्रिदोषं प्रायशश्च तत्॥
दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं मांससमाश्रिते
श्वेतं मेदःश्रिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तरम्॥' (माधव)।

केशवर्धन—अथर्ववेद में बालों को बढ़ाने और मजबूत करने के लिए ओषधियों से प्रार्थना की गयी है। ओषधियों को खोदकर इस काम के लिए लाया जाता था—

हे ओषधि ! जिसे जमदग्नि ने खोदा था उसी बालों को बढ़ानेवाली ओषधि को मैं खोदता हूँ। बाल नड़ (नड़सर) की तरह बढ़ें। नड़सर काटने पर बहुत जल्दी बढ़ता है और बहुत लम्बा-सीधा जाता है। बाल भी बहुत लम्बे बनें।' (अथर्व० ६।१३७–१–३)

क्लीबत्व नाश—वेद में ओषधि से प्रार्थना की गयी है कि हे ओषधि! इस पुरुष की क्लीबता को नष्ट कर दो—

'त्वं वीरुधं श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे !
इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि ॥
क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि ।
क्लीबं क्लीबं त्वाकारं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसम् ।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधि निदध्मसि ।' (अथर्व. ७।१३८-१-२-३)

हे ओषधे ! तुम सबसे श्रेष्ठ वीरुध हो—इस पुरुष की क्लीबता को नष्ट कर दो। क्लीबता को नष्ट करके पुरुष को कुरीर करो।[1] कुरीर से 'कुरीरशृंगी' (कर्कटशृंगी) लेनी चाहिए। वैसे कुरीर पक्षी चटक जाति का है। चटक में वृष्यता रहती है। कुरीरशृंगी भी क्लीबतानाशक है; यथा—'कुरीरशृंग्याः कल्कमालोड्य पयसा पिबेत्। सिताघृतपयोऽन्नाशी स नारीषु वृषायते ॥' (संग्रह ५०) तृप्ति चटकमांसानां गत्वा योऽनुपिबेत्पयः।' (चरक. चि अ. २।१।४६)

चटक-मांस खाकर पीछे दूध पीने से वृष्यता आती है। यह कुरीर क्लीबता को नष्ट करता है।

सौभाग्य वर्धन—ओषधियों के विषय में कहा गया है कि हे ओषधि ! तुम सुभग करो, तुम्हारे सैकड़ों प्रतान हैं, तेंतीस नितान हैं और हजारों पत्ते हैं।

हे ओषधि ! तुम फलवाली, भूरे रंग की कल्याणकारी हो। इस पति और मुझ पत्नी को समान हृदयवाले करो। जिस प्रकार नकुल साँप को काटकर टुकड़े

---

१. कुरीर पक्षी से चटक ही लिया जाता है; वैसे इसका स्पष्टीकरण टिटिहरी डाक्टर अग्रवाल ने किया है, यथा—

'बायें कुरारी दाहिन कूचा, पहुँचै भुगुति जैसा मनरूचा। (पद्मावत)

बायीं ओर कुररी और दाहिनी ओर क्रौञ्च पक्षी बोलने लगे। इससे ज्ञात होता था कि मन में जो अभिलाषा थी वैसा भोग प्राप्त होगा।

करके फिर से जोड़ देता है; इस प्रकार से हमारे विरोध को हटाकर हमें फिर जोड़ दो। (अथर्व. ६।१३९)

हृदयरोग तथा कामला रोग की चिकित्सा—हृदय रोग तथा कामला रोग की चिकित्सा का वेद में स्पष्ट उल्लेख है। यह चिकित्सा सूर्य की किरणों से होती है; इसका देवता सूर्य है।

मूढ़ गर्भ चिकित्सा—गर्भाशय को चीरकर गर्भ को बाहर करने तथा रुके हुए मूत्र को मूत्राशय से बाहर निकालने का उल्लेख अथर्ववेद में स्पष्ट है, यथा—

'वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम् ॥'
(अथर्व. १।११।५.)

हे गर्भिणी! तेरे मूत्र प्रवाहण द्वार का विदारण करता हूँ; तेरी योनि को भी विदीर्ण करता हूँ जिससे गर्भ बाहर आ जाय तथा योनि के पार्श्ववर्त्ती गवीनिकों का भी (बाहर आने में रुकावट देनेवाली नाड़ियों का भी) विदारण करता हूँ। माता और पुत्र दोनों का विदारण करता हूँ। (कुछ अवस्थाएँ ऐसी होती हैं, जब कभी माता को जीवित रखने के लिए पुत्र को नष्ट करना होता है, और कभी पुत्र को जीवित रखने के लिए माता की उपेक्षा करनी होती है।) जरायु से पुत्र को पृथक् करता हूँ; गर्भाशय से जरायु पृथक् हो।

अश्मरी तथा मूढ़गर्भ रोग में मूत्राशय और गर्भाशय का विदारण करना अनिवार्य हो जाता है। (सुश्रुत० चि० अ० ७।३०-३८; सुश्रुत० चि० अ० १५।१२-१३)

अश्मरी या मूत्राघात चिकित्सा—मूत्राशय में मूत्राशय की पार्श्ववर्त्ती गवीनी (यूरेटरस) में या वृक्कों में यदि मूत्र रुका हो तो उसे वहाँ से शस्त्रकर्म या अन्य प्रकार से बाहर किया जाता है, यथा—

'यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद् वस्तावधि संस्रुतम्।
एव ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥
प्रते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्।
विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधिरिव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥
यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥' (अथर्व. १।३।६-९.)

आंत्रों में (उदावर्त्त के कारण वायु रुक जाने से) जो मूत्र रुका है, बाहर नहीं आता, अथवा गवीनीयों में या वस्ति, मूत्राशय में जो मूत्र रुका है; वह मूत्र इन स्थानों से निकलकर बाहर आये। जिस प्रकार पल्लव में रुके हुए जल को पल्लव को विदीर्ण करके बाहर कर देते हैं; उसी प्रकार मेहन में रुके मूत्र को मैं बाहर कर देता हूँ। (प्रोस्टेट ग्रन्थि की वृद्धि के कारण जब मूत्र रुक जाता है, तब प्रोस्टेट ग्रन्थि को काटकर मूत्र निकलने का मार्ग किया जाता है, मेहन शब्द से प्रोस्टेट वाला भाग अभिप्रेत है।) रोग के कारण मूत्राशय में जब मूत्र रुक जाता है, तब मूत्राशय को विदीर्ण करके मूत्र बाहर करना होता है (यथा, मूत्राशय में अश्मरी होने पर)। जिस प्रकार से धनुष से निकले बाण बिना किसी रोक-टोक के सीधे अपने लक्ष्य पर जाते हैं; उसी प्रकार से तुम्हारा मूत्र बहे, उसमें कुछ भी रुकावट न हो।

रक्त संचार—शरीर में दो प्रकार की रक्तवाहिनियाँ हैं; एक तो शुद्ध लाल रक्त को बहाती हैं और दूसरी दूषित नीले रक्त का वाहन करती हैं। इन दोनों प्रकार की वाहिनियों के स्वस्थ रहने के लिए प्राथना की गयी है।

'अमूर्या यान्ति योषितो हिरा लोहितवाससः।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः॥' (अथर्व. १।१७।१.)

स्त्री सम्बन्धी ये दृश्यमान लाल रक्त की निवासभूत नाड़ियाँ–सिराएँ रोग के कारण विकृत हो गयी हैं; ये शिराएँ इस चिकित्सा कर्म से नष्ट होकर स्वस्थ रूप में रहें। जिस प्रकार कि भाई-रहित बहिन पितृकुल में रहती है। (मनुस्मृति में कहा है कि जिस कन्या का भाई न हो उससे विवाह न करे, क्योंकि इस विवाह से आगे कन्या ही होने की सम्भावना है।)

अब धमनी की प्रार्थना की जाती है—'शरीर के अधोभाग में रहनेवाली शिरा, तुम शस्त्र आदि से निकले हुए रक्त को रोककर वहीं रहो—रक्त बन्द हो जाये। शरीर के ऊर्ध्व भाग की शिरा का भी रक्त बन्द हो जाय; शरीर के मध्य भाग की भी धमनी का रक्त बन्द हो जाय। कनिष्ठिका, सूक्ष्मतर (कैपीलरी, केशिका) धमनियों में तथा बड़ी धमनियों में—शिराओं में रक्त बन्द हो जाय।'

'शत संख्यावाली धमनियों तथा हजार संख्यावाली शिराओं (अनन्त शिरा-धमनियों) में, तथा इनकी मध्यवर्त्ती धमनी-शिराओं में (इन दोनों को मिलानेवाले भाग के) रक्तस्राव बन्द हो जायँ; तथा जो बची हैं, वे सब पूर्व की भाँति स्वस्थ रहें।' (अथर्व० १।१७।२–३)

शरीर में धमनी-नाड़ी-सिरा शब्द जिस प्रकार आधुनिक चिकित्साशास्त्र में पृथक्

हैं; इस प्रकार ये प्राचीन साहित्य में पृथक् स्पष्ट नहीं हैं। प्रकरण के अनुसार इनका अर्थ करना होता है। (यथा आर्तव शब्द एवं ऋतु शब्द का प्रकरण के अनुसार अर्थ करना होता है, आर्तव शब्द ऋतुस्राव और स्त्रीबीज दोनों के लिए आता है।) उपनिषदों में नाड़ियों की संख्या बहुत बतायी गयी है ('हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखं नाडी-सहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति॥'--प्रश्न० ३।६)।

अंगों के नाम---अथर्ववेद में शरीर के निर्माण के सम्बन्ध में पूछा गया है, तथा इनका उत्तर भी दिया गया है। इस प्रकार से प्रायः सब अंगों के नाम आ गये हैं। यथा, 'इस पुरुष शरीर में किसने एड़ियों को भरा? किसने मांस और गुल्फ बनाये? किसने अँगुली और किसने पेशनी (पाददल) बनाये? किसने इन्द्रियाँ बनायीं? किसने पुरुष के गुल्फों को नीचा बनाया और जानुसन्धि को ऊपर किया? किसने जंघाएँ बनायीं और जानुसंधि किसने बनायीं? इस कवन्ध---छाती और पेट को चार ओर से किसने जोड़ा (दो हाथ और दो टाँग)? श्रोणी और ऊरू को किसने बनाया, जिससे यह सन्धियाँ मजबूत बनी हैं? वे देव कौन और कितने थे, जिन्होंने पुरुष की छाती और ग्रीवा को बनाया? स्तनों को, कोहनियों, स्कन्धों पीठ को किसने बनाया? इस पुरुष के मस्तिष्क को, माथे को, ग्रीवा को, कपाल को कौन बनाकर आकाश में चला गया? किसने इसमें रूप बनाया? किसने इसको महत्ता या नाम दिया? किसने इसे बोलने की शक्ति दी? किसने पुरुष के चरित्र को बनाया? किसने इसमें प्राणों का संचार किया? किसने इसमें अपान और व्यान को बनाया? समान वायु को किसने इसमें प्रतिष्ठित किया? किसने इस पुरुष के वीर्य का आधान किया---जिससे वह आगे संतान परम्परा का विस्तार करता रहे। मेधा, सत्य को किसने इसमें बनाया?' (अथर्व--१०।२)

रोगों के नाम---अथर्ववेद में भिन्न-भिन्न अंगों में होनेवाले रोगों के नाम भी मिलते हैं, यथा---

सिर की पीड़ा, सिर के रोग, कर्णशूल, रक्त की कमी को, सिर के सब रोगों को बाहर निकालता हूँ। कानों से, कानों के अन्दर के भाग में से कर्णशूल को निकालता हूँ। मुख में जो यक्ष्मा रोग दड़ रहा है, उसे निकालकर बाहर करता हूँ। अंगभेद, अंगों के ज्वर--सम्पूर्ण अंगों के पीड़ाकारक रोग, सिर के सब रोगों को बाहर निकाल देता हूँ। जो रोग ऊरू में, गवीनियों में फैलता है; उस रोग को तेरे अन्दर के अंगों से बाहर करता हूँ। तेरे अंगों में से हरे रंग को, उदर के अन्दर से यक्ष्मा रोग को बाहर

करता हूँ। उदर से, क्लोम से, नाभि से, हृदय से रोगों के सब विषों को निकालता हूँ। जो बढ़नेवाले रोग तेरे अंगों को पीड़ित करते हैं उन सबके विष को तेरे शरीर से बाहर करता हूँ। सिर, कपाल, हृदय को जो रोग पीड़ित करते हैं; उन शिरोरोगों को उदय होता हुआ सूर्य अपनी किरणों से दूर करे।"[1] (अथर्व–९।१३।२२)

अथर्ववेद में कुछ अंगों का उल्लेख स्पष्ट है, और कुछ का अभी निश्चित अर्थ नहीं मिला, यथा—'इन्द्राणी भसद् वायुः पुच्छं पवमानो बालाः।' (अथर्व. ९।१२।८) 'धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जंघा गन्धा अप्सरसः कुष्टिका अदितिः शफाः।' (९।१२।१०) 'क्षुत् कुक्षिशिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः।' (९।१०।१२) इनका शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टीकरण करने का यत्न किया गया है, परन्तु फिर भी निश्चित रूप से निर्णय नहीं हुआ। कर्मकाण्ड में सामान्यतः अंगों का उल्लेख है, परन्तु बहुत विस्तार और बारीकी से नहीं है।

इसके सिवा अथर्ववेद में निम्न काण्ड तथा मंत्र आयुर्वेद के सम्बन्ध में देखे जा सकते हैं—

रोग के विषय में—तक्म (ज्वर) रोग का वर्णन (६।२१।१-३); इसके भेद सतत, शारद, ग्रीष्म, शीत, वार्षिक, तृतीयक आदि का निर्देश (१।२५।४; ५।२२।१-२४); मन्या, गण्डमाला का भेद, ग्रैव्य गण्डमाला, स्कन्ध गण्डमाला और इसके भेद (६।२५-१-३); अपची के भेद (६।८३।१-३); शीर्षामय, कर्णशूल, विलोहित, अंगभेद, अंगज्वर; बलास, हरिभ; यक्ष्मा, हृदयगत यक्ष्मा; अलजी आदि रोग (९।१३।१-२२) उसमें मिलते हैं।

रोगप्रतीकार के विषय में—मूत्राघात में शर-शलाका द्वारा मूत्र निकालना ('यथेषुका परापतदवसृष्टाधिधन्वनः। एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालितिसर्वकम्॥' तुलना कीजिए—'मूत्रे विवृद्धे कर्पूरचूर्ण लिङ्गे प्रवेशयेत्।' यह चूर्ण दूर्वा या सरकण्डे से प्रविष्ट किया जाता है—आयुर्वेदसंग्रह); जल से धोने पर व्रण का उपचार (५।५७।१–३); अपचित व्रण में लवण का उपयोग; अपचित पिडिकाओं का शलाका वेधन (७।१०।१-२; ७।७८।१–२); नाना कृमियों का वर्णन (२।३२।१–६); हृदय रोग में हिमालय की नदियों के जल का व्यवहार (६।२४।१–३); आरोग्य वर्णन (२।१०।१-८) अथर्ववेद में है।

---

१. विस्तार के लिए—'रसयोगसागर' का उपोद्घात देखा जा सकता है।

ओषधियों के विषय में—वल्मीक में मिलनेवाली ओषधि विशेष से अतिसार, अतिमूत्र आदि रोग शान्ति (२।३।१–६); हरिणशृंग और उसके चर्म से क्षय, कुष्ठ, अपस्मारादि नाशन (३।७।१–३); शतवीर्या, दूर्वा से दीर्घायुष्य, नाना रोग शान्ति (३।११।१–८); वृषा शुष्मादि ओषधियों से वृष्यत्व (४।४।१–८); कुष्ठ ओषधि का वर्णन (६।९५।१–३); गुग्गुल धूप की गन्ध से यक्ष्मनाशन (१९।३५।१–३; तुलना कीजिए—सुश्रुत सूत्र० अ० ५।१८ में दिये धूपन द्रव्यों में गुग्गुल के नाम से); विष से ही विष का प्रतीकार (७।८८।१; तुलना कीजिए—'तस्माद् दंष्ट्राविषं मौलं हन्ति मौलं च दंष्ट्रिजम्।' चरक० चि० अ० २३।१७); विष दोहन विद्या से विष का प्रतीकार (८।५।१–१६); मृत्युभय की निवृत्ति लिए दर्भ-मणि बन्धन (१९।३२।१–२) आदि विषय अर्थवेद में आये हैं।[1]

अथर्व का सिर तथा अयोध्या नगरी—वेद में सिर की विशेष महत्ता है; अत्रि-पुत्र ने सिर को सब अंगों से श्रेष्ठ कहा है ('यदुत्तमांगमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते'—चरक)। इसी सिर को 'देवकोश' कहा गया है।

[अ–थर्व–] स्थिरचित्त योगी अपने मस्तिष्क के साथ हृदय को सीता है। सिर में मस्तिष्क के ऊपर अपने प्राण को भेज देता है। यह ही अथर्व का सिर है, जिसको देवों का कोश कहा जाता है, इसकी रक्षा प्राण, मन और अन्न करता है। अमृत से परिपूर्ण इस नगरी को जो जानता है, उसको ब्रह्मा और इतर देव चक्षु, प्राण और पूजा द्रव्य देते हैं। आठ चक्र और नौ द्वारों से युक्त यह देवों की अयोध्या नगरी है, इसमें तेजस्वी कोश है वही देदीप्यमान स्वर्ग है। तीन आरों से युक्त और तीन स्थानों पर रहे हुए उस तेजस्वी कोश में जो पूज्य आत्मा है, उसको ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं।

इस पुरुषशरीर को अयोध्या रूप में वर्णित किया गया है, जिससे कोई भी लड़ नहीं सकता (न योद्धुं शक्या अयोध्या); इस अयोध्या नगरी में आठ चक्र और नौ द्वार हैं, यह देवताओं की नगरी है, इसमें हिरण्य का कोश है। मूलाधार, स्वाधिष्टान, आज्ञा आदि आठ चक्र हैं; दो आँखें, दो कान, दो नाक, मुख, उपस्थ और गुदा ये नौ द्वार हैं। इसमें आँख-कान, मन, चन्द्रमा, प्रजापति आदि देवता रहते हैं, हिरण्य ज्ञान है। शरीर इस तरह ही अयोध्या है; कोई भी रोगरूपी शत्रु इस नगरी से नहीं लड़ सकता। (अथर्व० १०।२।३२)।

---

१. विस्तार के लिए—'अथर्ववेद संहिता' श्रीपाद दामोदर सातवलेकर प्रकाशित तथा काश्यप संहिता को देख सकते हैं।

अथर्व-चिकित्सा---अथर्वा ऋषि ने इस चिकित्सा को कहा है, यह चिकित्सा चार प्रकार की है; आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मानुषी। इनमें मानुषी चिकित्सा ओषधियों से सम्बन्धित है।" दैवी चिकित्सा--वायु-जल-पृथ्वी आदि से सम्बन्ध रखती है। आंगिरसी चिकित्सा मानसिक शक्ति से सम्बन्ध रखती है। आथर्वणी चिकित्सा जप-होम-दान-स्वस्तिवाचन आदि से सम्बन्ध रखती है।

'आथर्वणीरांगिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥'

हे प्राण! जब तक तू प्रेरणा करता है, तब तक ही आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मानुषी ओषधियाँ फल देती हैं। प्राण रहने पर ही ओषधियों से लाभ होता है।

'या ते प्राण प्रिया तनूर्या ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे॥'

हे प्राण! जो तेरा प्रिय शरीर है और जो तेरे प्रिय भाग हैं तथा जो तेरी औषध है, उसे दीर्घजीवन के लिए हमको दे।

प्राण या जीवन का नाम ही आयु है। इसी आयु का सम्बन्ध इन चारों चिकित्साओं से है।

इस चिकित्सा को अथर्वा ऋषि ने कहा है---

"वेदोह्याथर्वणो दानस्वस्त्ययनबलिमंगलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवास-मंत्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह; चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते।'

---चरक. सू. अ. ३०।२१.

आयु का ज्ञान ही आयुर्वेद है। यह आयु प्राण से सम्बन्धित है। इसी से कहा गया है---

'आथर्वणी---अथर्वा महर्षि से बनायी शान्ति-पुष्टि आदि क्रियाएँ; आङ्गिरसी---कृत्या, उत्थापन आदि क्रियाएँ जो आंगिरस ऋषि ने बनायीं ('श्रुतीरथर्वाऽङ्गिरसीः कुर्यादित्यभिचारयन्। वाक्छस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन्द्विजः॥'---मनु ११।३३)---मनुष्यजा---स्वस्ति, बलि, उपनयन, नमस्कार आदि क्रियाएँ; दैवी---वायु, जल आदि की क्रियाएँ औषधियाँ हैं।' (रसयोगसागर, उपोद्‌घात पृष्ठ ५९)

अथर्ववेद के अनुसार चरकसंहिता में एक पुरानी कथा का उल्लेख है। राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति बताते हुए चरक में कहा गया है कि प्रजापति की अट्ठाईस कन्याएँ थीं। इनका विवाह प्रजापति ने राजा चन्द्रमा के साथ कर दिया था। चन्द्रमा ने इन सबके साथ समानता का व्यवहार नहीं किया; इसलिए प्रजापति ने शाप देकर उसे

रोगी (यक्ष्मा से पीड़ित) कर दिया। रुग्ण होने पर उसका सब तेज चला गया, और अन्त में अश्विनौ ने उसे स्वस्थ किया (चि० अ० ८।१-१०)। इसका उल्लेख काठक संहिता (११।३) में है—

'वह चन्द्रमा तृण के समान सूखने लगा। वह प्रजापति के पास पहुँचा और शेष पुत्रियों को माँगने लगा। उसने कहा, सब नक्षत्रों में समान रूप से वास करो तो, यक्ष्मा रोग से तुमको मुक्त कर दूंगा। इससे चन्द्रमा सब नक्षत्रों में समान रूप से वास करता है।'

प्रजापति की अट्ठाईस कन्याओं के नाम—

कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, फाल्गुनी (पूर्वा), फाल्गुनी (उत्तरा), हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूला, आषाढ़ा, राधा, श्रवण, श्रविष्ठा, शतभिषज, प्रोष्ठपदा, प्रोष्ठपदा उत्तरा, रेवती, अश्वयुज, भरणी, अभिजित् ये अट्ठाईस नक्षत्र प्रजापति की दुहिताएँ हैं (अथर्व० १९।७)।

चन्द्रमा प्रति नक्षत्र में निवास करता हुआ अपना मार्ग पूरा करता है; यही चन्द्रमा का प्रजापति की पुत्रियों में अभिगमन है। दूसरे और नक्षत्रों की अपेक्षा रोहिणी नक्षत्र में कुछ काल अधिक निवास करता है। यही चन्द्र की रोहिणी में आसक्ति है। चन्द्र की कलाओं का क्रमशः अपक्षय ही चन्द्रमा का क्षय रोग है। (स्त्रियों में अधिक अभिगमन से शुक्रक्षय होता है; जिससे यक्ष्मा होता है, इसको स्पष्ट करने के लिए यह कथानक है)।

अथर्ववेद में राजयक्ष्मा नाम पृथक् आया है ('यक्ष्माद् उत राजयक्ष्मात्'—अथर्व० ३।११।१), इससे स्पष्ट है, यक्ष्मा और राजयक्ष्मा दोनों शब्द अलग अर्थ में प्रयुक्त होते थे। यक्ष्मा रोग को कहते हैं; रोगों का राजा राजयक्ष्मा है। यह यक्ष्मा शरीर के सब अंगों में हो सकता है; इसलिए ऋ. १०।१६३ में शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में से रोग नाश की प्रार्थना की गयी है। साथ ही इस सूक्त में अंगों के नाम भी आये हैं—
'आँतों से, गुदा से, वनिष्ठु (उण्डूक), उदर, दो कुक्षियों में से, प्लाशी (प्लीहा) और नाभि से यक्ष्मा को दूर करता हूँ। दोनों ऊरुओं, जानुओं, दोनों पार्ष्णियों, प्रपदों, भसद्य (शिश्न) से, श्रोणियों से, भासद (शिश्नमणि) और भंससः (योनि) से यक्ष्मा-रोग को दूर करता हूँ।' (ऋ. १०।१६३।४-५)

इसी प्रकार अथर्ववेद (९।८) में सिर के तथा कान के रोगों का नाम लेकर दूर करने का उल्लेख है। शरीर के अन्दर के अवयवों से भी रोग निवारण की बात कही

गयी है। नवें मंत्र में कामला रोग, आवा (अतिसार या प्रवाहिका) रोग को उदर एवं अंगों में से दूर करने का वर्णन है।

वात, पित्त और कफ का उल्लेख—वेद में रोग के तीन कारण बताये गये हैं; १—शरीरान्तर्गत विष, जिसके लिए 'दक्ष्म' शब्द आता है ('यक्ष्मणां सर्वेषां विषं निरवोचमहम्', सब रोगों के विष को दूर करता हूँ। अथर्व. ९।८।१०); २—रोगों के कारण कृमि—यातुधान; (अथर्ववेद ५।२९।६-७ के अनुसार अन्न, जल, दूध आदि पदार्थों में प्रवेश करके कृमि-जीवाणु शरीर में जब पहुंचते हैं, तब पुरुष को रोगी कर देते हैं। यजुर्वेद १६।६ में लिखा है कि जल आदि के जूठ पात्रों में कृमि लगे रहते हैं। इन पात्रों में भोजन करनेवाले के शरीर में ये कृमि पहुँचते हैं); ३—वात-पित्त-कफ तीसरा कारण रोगों का है। अथर्ववेद में पिप्पली को वातरोग नाशक कहा है ('वातीकृतस्य भेषजी'—६।१०९।३)।

वेद में वायु को प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान भेदों में वर्णित किया गया है। पित्त को पित्त शब्द से और कफ को कफ या बलास शब्द से कहा गया है। यथा—

को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानम्।
समानमस्मिन् को देवोऽधिशिश्राय पुरुषे॥' (अथर्व. १०।२।१३)
देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा॥' (यजु. १।२०)

किस देव ने इस पुरुष में प्राण, अपान, व्यान को बुना। किस देव ने समान वायु को आश्रय दिया। देवों को तुम्हें प्राण, व्यान, उदान के लिए देता हूँ।

'अग्ने पित्तमपामसि' (यजु. १७।६; अथर्व. १८।३।५)
'यकृत् क्लोमानं वरुणो भिषज्यन् मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम्।'
(यजु. १९।८५)

'चाषेन पित्तेन' (यजु. २५।७)
'सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ।
तदासुरी युधे जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन्॥' (अथर्व. १।२४।१)

अग्ने! तू जलों का पित्त (तेज) है (सुश्रुत में अग्नि और पित्त एक ही माने गये हैं; 'न खलु पित्तव्यतिरिक्तोऽग्निरुपलभ्यते')। वरुण वायव्य पदार्थों से यकृत्, क्लोम, मतस्न (गवीनिका) की चिकित्सा करता हुआ अपित्त को नष्ट नहीं करता। प्रथम सुपर्ण—उत्तम पत्तोंवाली वनस्पति उत्पन्न हुई। उससे तूने पित्त (उष्णिमा) प्राप्त की।

'विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते।' (अथर्व. ६।१२।७।१)

'यो बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्चितौ।' (अथर्व. ६।१२७।२)

'आसो बलासो भवतु।' (अथर्व. ९।८।१०)

'नाशयित्री बलासस्यार्शस उपचितामसि।

अथोशतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी॥' (यजु. १२।९७)

आस्मैतान् सखीन्कुरुथा बलासं कासमुद्युगम्।' (अथर्व. ५।२२।११)

हे वनस्पते! विद्रधि, बलास और रक्त के रोग का नाश कर। जो बलास दोनों कक्षों में और जो कफ दोनों मुष्कों में ठहरा है (उसे दूर करता हूँ)। हे ओषधे! बलाश, अर्श और अन्य उपचित रोगों की तू नाशिका है। सैकड़ों रोगों का नाश करनेवाली है। हे ज्वर! बलास, कास, हिचकी रोग को अपना साथी न बना। (ये वात, पित्त, कफ आयुर्वेद शास्त्रसम्मत त्रिधातु ही हैं—यह नहीं कहा जा सकता।)

कृमियों के नाम—कृमि वर्णन वेदमंत्रों में बहुत प्रकार से आया है। ऐसे शब्द इसके रूप और कार्य को बताते हैं। यथा राक्षस—'रक्षो रक्षितव्यमस्माद् रहसि क्षिणोति इति वा रात्रौ नक्षत इति वा।' (निरुक्त ४।१८) कहा गया है कि इससे बचना चाहिए, एकान्त में मारता है, रात्रि में चलता है। पिशाच—'पिशितमश्नाति' कच्चा मांस खाता है ('मांसशोणितप्रियत्वाद् नित्यं व्रणमुपसर्पन्ति'—सुश्रुत)। यातुधान—'यातुं (गन्तुं) धीयते (अभिधीयते इति)' यह चलनेवाला कहा जाता है। अथवा 'यातना दुःखं तदादधति ते यातुधानाः' जो पीड़ा पहुँचाते हैं, वे यातुधान हैं। असुर—'असून् प्राणान् राति आददाति इति' प्राणों को जो हरता है वह असुर है। किमीदी—'किमिदानीमिति चरते' (निरुक्त ६।११) छिद्रान्वेषण बुद्धि से विचरने-वाला; अथवा अब क्या खाऊँ—यही जिसे इच्छा रहती है। गांधर्व—'गां वाणीं धारयति' सदा गूँजता रहता है—मच्छर। अप्सरा—'अप्सारिणी भवति' (निरुक्त ५।१३) पानी पर फैलनेवाला कृमि।

अत्रिण:—(अ. ६।३२।३) भक्षण करनेवाला; अराति—(अथर्व. ५।२३।२) शत्रु; अर्जुन—(२।३२।२) श्वेत वर्णवाला; अलिंश—(८।६।१) चिपटनेवाला; क्रव्यादः (५।२९।८), कच्चा मांस खानेवाला। इस प्रकार के लगभग एक सौ से अधिक नाम श्री रामगोपाल शास्त्री ने कृमियों के लिए वेदों में से एकत्र किये हैं।[1]

---

१. श्री रामगोपाल शास्त्री ने 'वेद में आयुर्वेद' पुस्तक बहुत विवेचना से लिखी है—उसे विस्तार के लिए देखें।

रोगों के नाम—वेद में ज्वर के लिए 'तक्म' शब्द आता है (तकि कृच्छजीवने)। जिस प्रकार ज्वर, यक्ष्म, रोग सामान्य रोग अर्थ में चलने के साथ-साथ विशेष अर्थ में भी बरते जाते हैं, उसी प्रकार 'तक्म' शब्द है, जिसका अर्थ सामान्य रोग भी है, और विशेष अर्थ ज्वर भी है ('अधरां चं प्रहिणोमि नमः कृत्वा तक्मने'—अथर्व० ५।२२।४) तक्म के लिए नमस्कार करके मैं उसे नीचे भेजता हूँ।

'ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः।
यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि वल्हिकेषु न्योचरः॥' (अथर्व. ५।२२।५)

इस तक्म का स्थान मूजवान् है; इसका स्थान महाबल है। हे तक्मन्! जबसे तू उत्पन्न हुआ है; वल्हिकों में ही रहता है। मूजवान् इस पर्वत का वाजसनेयी संहिता (३।६१); तैत्तिरीय (१।८।६।२); काठक (९।७); मैत्रायणी (१।४।१०।२०); शतपथ (२।६।२।१७) और सुश्रुत (२९।५,३० चिकित्सा) में उल्लेख है।

महाबल—जहाँ पर वर्षा अधिक होती है; सम्भवतः कश्मीर; इस देश का राजा हृत्स्वांशय था; जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण (३।४०।२) में इसका उल्लेख है। वाह्लीक वदख्शां प्रदेश है।

अर्चि : (अथर्व० १।२५।२)—ज्वाला; तपु (६।२०।१) तपानेवाला शोकः (१।२५।३) चिन्ता करानेवाला; पाप्मा (६।२६।१) पापरूप; रुद्र (६।२०।२) रुलानेवाला; अंगज्वर अंगभेद (९।८।५) अंगों में रहनेवाला; अंगों में पीड़ा करनेवाला; अन्येद्यु (१।२५।४) अन्येद्युःक; उभयद्यु; (१।२५।४) दो दिन होनेवाला (चातुर्थिक विपर्यय); तृतीयक (५।२२।१३) तीसरे दिन होनेवाला आदि लगभग रोगों के चालीस नाम श्री शास्त्रीजी ने संगृहीत किये हैं।

ओषधियों के नाम—रोग शान्ति के लिए वेद में प्राकृतिक, खनिज, समुद्रज, प्राणिज तथा उद्भिज्ज द्रव्यों का ओषधि रूप में प्रयोग मिलता है। प्राकृतिक ओषधियों में सूर्य, चन्द्र (अथर्व. ६।८३।१), अग्नि (१०।४।२), मरुत (ऋ. २।३३।१३), जल (ऋ. १।२३।९); खनिज द्रव्यों में अंजन (अथर्व. ४।९।९), सीसा (१।१६।४); सामुद्रज में शंख (अ. ४।१०।४); प्राणिजों में मृगशृंग (अ. ३।७।१); उद्भिज्जों में अनेक वीरुधों का वर्णन आता है।

ओषधि के पर्य्याय में वीरुध (अ. ८।७।२), भेषजी (८।७।८), वनस्पति (८।७।१६) आते हैं। ये ओषधियाँ जीवन प्रदान करनेवाली हैं। पुरुषजीवनी (अ. ८।७।४) अंग-अंग से रोग निकालती हैं—('यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गंपरुष्परुः। ततो यक्ष्मं विबाधध्वम्'—ऋ० १०।९७।१२); ('यक्ष्ममेनमङ्गादङ्गादनीनशन्।'

(८।७।३); सुचारु रूप से प्रयुक्त ओषधि निष्फल नहीं जाती—'यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन्पारयामसि' (ऋ० १०।९७।२२); 'यं जीवमश्नवामहै न स रिष्यति पूरुषः। (ऋ० २१०।९७।१७); वे सब प्रकार के रोग और सब प्रकार के कृमियों का प्रभाव दूर करती हैं 'अमीवाः सर्वा रक्षांस्यपहन्तु। (अ. ८।७।१४); इनके सेवन से दीर्घायु प्राप्त होती है 'यथा सञ्छतहायनः (अ. ८।७।२२)।

चिकित्सक का बल ओषधियाँ ही हैं। जिसके घर में इनका संग्रह रहता है और जो इनका ठीक प्रयोग जानता है, वही बुद्धिमान् भिषक् है (ऋ० १०।९७।६)। जिस समय वैद्य हाथ में ओषधी को पकड़ता है; रोग उसी समय दूर भागना प्रारम्भ कर देता है (ऋ० १०।९७।११)।

ओषधियाँ आय का साधन हैं। वैद्य को अपनी जीवनयात्रा के लिए ओषधियों से धन, गाय, अश्व, वस्त्र आदि प्राप्त होते हैं (ऋ० १०।९७।८)।

औषधियों का विक्रय होता था। सामान्यतः अत्रिपुत्र ने दुकानदारी के रूप में इस विद्या का उपयोग निषिद्ध किया है; विशेषतः केवल धन बटोरने के लिए। परन्तु इसके साथ ही उचित रूप में इसका व्यवसाय करने का विधान किया है—(चरक. सू. अ. ३०।२९); 'चिकित्सितस्तु संश्रुत्य यो वाऽसंश्रुत्य मानवः। नोपाकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः॥ कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्। ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुराशिमुपासते॥' (चि. अ. १।४।५५-५९)

इसीलिए ओषधियों का एक विशेषण 'अपक्रीताः' (अ. ८।७।११) आता है; ये अमूल्य हैं, क्रय नहीं की जा सकतीं। ओषधियों को मूल्य से या परस्पर विनिमय से प्राप्त किया जाता था। कुष्ठौषधि धन से खरीदी जाती थी ('धनैरभि श्रुत्वा यन्ति—अ. ५।४।२); वरणावती ओषधि पवसा (सम्मार्जनी तृण) तथा मृगचर्मों के विनिमय से प्राप्त की जाती थी 'पवैस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन्दूर्शेभिरजिनैरुत'—अ. ४।७।६)। एक स्थान पर इसको बिकाऊ भी लिखा गया है ('प्रकीरसि' अ. ४।७।६)।

ओषधियों का ज्ञान—किन-किन रोगों में अमुक ओषधी लाभ करती है, इसका ज्ञान परम्परा से होता था—'ये त्वा वेद पूर्व ईक्ष्वाको ये वा त्वा कुष्ठकाम्यः। यें वा वसो यमात्स्यस तेनासि विश्वभेषजः।' (अथर्व. १९।३९।९)। अंगिरा द्वारा जानी गयी ओषधियों को 'आङ्गिरसी' कहा जाता है। ब्राह्मण, ऋषि और देव ओषधियों को पहले से जानते चले आये हैं—'यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद्देवैः विदितं पुरा' (६।१२।२); जंगलवासी भी ओषधियों को जानते हैं—'-कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम्।' (अ. १०।४।१४; तुलना कीजिए- "गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः।

मूलाहाराश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते ॥' सुश्रुत. सू. अ. ३६।१०)। ओषधियों के गुणों का ज्ञान पुरुषों को पशु, पक्षी आदि प्राणियों से होता है। इन प्राणियों में गौ, अजा, अवि (अ. ८।७।२५), वराह, नकुल, सर्प, गन्धर्व (८।७।२३); गरुड़, रघट, हंस (८।७।२४) का नाम लिखा है। इनके अतिरिक्त सब पक्षी (सर्वे पतत्रिणः) तथा सब पशुओं (मृगाः) से ज्ञान करने का उल्लेख है। पशु-पक्षियों के स्वभाव से वनस्पतियों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

ये ओषधियाँ प्राणि-सृष्टि से पहले उत्पन्न हुईं—'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।'

ऋग्वेद (१०।९७) तथा अथर्ववेद के (८।७) सूक्त में ओषधियों के गुणबोधक बहुत नाम आये हैं। यथा—अंशुमती '(८।७।४), दीप्तिवाली; अग्रं आपः, जिनका मुख्य जीवन जल है; अपांगर्भः, जलों को गर्भ में धारण करनेवाली; अपुष्पा (ऋ० १०।९७।१५) पुष्परहित; अफला (फलरहित); एकशुंगा (८।१७।४), एक सींगवाली; कृत्यादूषणी (८।७।१०), कृत्यानाशक; गो-भाजः (ऋ. १०।९७।५), भूमि से जीवन लेनेवाली; दिव्य, दिव्य गुणोंवाली; पर्णेवसति (१०।९७।५), पत्तों पर जिनका निवास है (वृक्षों की श्वास-प्रश्वास क्रिया पत्तों से ही होती है; इसलिए पत्तों पर मिट्टी जमने नहीं देनी चाहिए। पानी पत्तों पर से देना चाहिए।) प्रचेतस्, अन्तः चेतनावाली; प्रतन्वती—विस्तृत; प्रसूमती—बढ़नेवाली; प्रसूवरी—उत्पादक प्रस्तृणवती—फैलनेवाली; मधुमती—मधुरतायुक्त; मातरः—माता के समान; विशाखाः—नाना शाखाओंवाली; सहस्रपर्ण्यः—अनेक पत्तोंवाली आदि अनेक नाम आते हैं।

कृत्या वर्णन—सुश्रुत में कृत्या का उल्लेख आता है (सूत्र. अ. ५।२०), यथा—कृत्या का अर्थ अभिचार-जनित राक्षसकर्म या मारक प्रयोग है, उसकी शान्ति के लिए रक्षा कर्म करने की विधि है। कृत्या के लिए अथर्ववेद में आता है—

'शं नोभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः शं नो निखाता बलगः।'

(अथर्व. १९।९।९)

कृञ्-हिंसायाम् धातु से 'कृत्या' शब्द बना है, जिसका अर्थ हिंसक क्रिया है। कृत्या के अर्थ में अभिचार और वलग शब्द भी आते हैं ('वलगं वा निचख्नुः'—अथर्व. १०।१।१८)। वलग यह एक घातक प्रयोग है जो शत्रुओं के वध के लिए बाहु प्रदेश मात्र भूमि खोदकर नीचे गाड़ दिया जाता है। अभि-पूर्वक 'चर' धातु से अभिचार शब्द बना है; मारने के लिए जो कर्म किया जाता है वह अभिचार है।

कृत्या दो प्रकार की है—आंगिरसी और आसुरी ('याः कृत्या आंगिरसीर्या कृत्या आसुरी'—अथर्व. ८।५।९) । कृत्या के प्रयोक्ता विद्वान्, साधारण पुरुष, ब्राह्मण, राजा, शूद्र, स्त्री आदि होते हैं (अ. १०।१।३) । कृत्या की आकृति बनाकर प्रयुक्त की जाती है, इसे सिर, नाक, कान और पादोंवाली लिखा है (अ. ११।१०।६) ।

कृत्या प्रभाव नाशक द्रव्य—आंजन ('नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्याः'—अ. ४।९।५); अपामार्ग ('अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदषम्'—अ. ४।१८।५; 'अपाधमपकिल्विषमपकृत्यामपोरपः। अपामार्गः त्वमस्मदपः दुस्वप्न्यं सुव ।।' यजु. ३५।११); जंगिड़मणि ('कृत्यादूषिरियं मणिः'—अ. २।४।६); प्रतिसरमणि ('प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः'—अ. ८।५।२) । कृत्या के प्रभाव को नाश करने के लिए यह मणि प्रयुक्त होती थी (अ. ८।५।५) । वेद में कृत्या, अभिचार तथा वलग प्रयोगों की निन्दा की गयी है (अ. १०।१।३१) ।[1]

आंजन—वेद में अंजन के लिए आंजन नाम आता है। त्रिककुद् पर्वत पर उत्पन्न होने से इसे त्रैककुद और यमुना में उत्पन्न होने से यामुन कहते थे। त्रिककुद् को आजकल तिकोट कहते हैं (डा० अग्रवाल का पाणिनिकालीन भारत) ।

यह आंजन पुरुष, अश्व तथा गौओं के लिए लाभकारी है ('परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि । अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ।'—अ. ४।९।२); इसके सेवन से आयु बढ़ती है ('आयुषो-सि प्रतरणम्'—१९।४४।१) । कष्ट निवारण के लिए इसे आँखों में आँजते थे, शरीर पर बाँधते थे, शरीर पर लेप करते थे और खाते थे ('आश्चैकं मणिमेकं कृणुस्व स्नाह्येकेनापिबैकमेषाम् ।'—अ. १४।४५।५) । यजु. ३०।१४ में आंजनकारी; ऋग्वेद १०।१४६।६ में आंजनगन्धी; काठक संहिता में आंजनगिरि; शाखायन ब्रा. (३।४) में आंजनहस्ता; ऐतरेय ब्रा. (१।३) में 'तेजो वा एतदक्ष्योर्यदञ्जनम्' में इसका उल्लेख है।

अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड और ९ वें प्रपाठक में ऋषि भृगु देवता त्रैककुदांजन से कहते हैं—

"हे आंजन ! प्राणीमात्र की रक्षा करता हुआ तू मेरे पास आ; तू पर्वत की आँख है; पर्वत पर उत्पन्न होता है, सब देवों ने तुझे दिया है, तू जीवों के जीवन की परिधि

---

१. कौटिल्य अर्थ शास्त्र के सांग्रामिक प्रकरण १५०-१५२, अ. ३ सूत्र ५० में इसका उल्लेख है—"पुरोहितपुरुषाः कृत्याभिचारं ब्रूयुः"—पुरोहित पुरुष कृत्या देवता के द्वारा अभिचार करायें।

है। हे आंजन! जो तुझे धारण करता है उसे शाप, कृत्या और अभिशोक प्राप्त नहीं होते, न उसे विष्कन्ध-रोग होता है। हे आंजन! तेरे ये सब गुण मैं जानता हूँ, सत्य कहूँगा, झूठ नहीं। हे रोगी पुरुष! तेरी आत्मा को बचाता हुआ घोड़े और गौ को प्राप्त करूँ। हे पुरुष! चतुर्वीर अंजन तेरे लिए बाँधा जाता है, तेरे लिए सब दिशाएँ अभय हों। हे आर्य्य! सूर्य की भाँति दृढ़ खड़ा रह, ये प्रजाएँ तेरे लिए बलि लायें।" (अथर्व. १९।४५।४)

सीसा—वैदिक काल में स्वर्ण, चाँदी, लोह, सीसक आदि धातुओं का प्रयोग होता था—('हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।' यजु. १८।१३); इनमें सीसक का प्रयोग ही खाने में मिलता है। सीसा इन्द्रियों के लिए बलदायक है ('सीसेवदुह इन्द्रियम्'—यजु. २१।३६; तुलना करें—'नागो हि नागसममेव बलं दधाति।' धन्व. नि.)। सीसा राक्षसों को नष्ट करता है ('इदं बाधत अत्रिण या जातानि पिशाच्याः।'—अ. १।१६।३)।

'हे कृमि! यदि तू हमारी गाय, घोड़े और पुरुष की हिंसा करता हो, तो तुझे हम सीसे से बींधते हैं, जिससे तू हमारे वीरों को मारनेवाला न रहे। सीसे पर मल रखकर, सिर की पीड़ा को सिरहाने रखकर, काली भेड़ को साफ करके यज्ञ के योग्य पवित्र बनो।' (अथर्व. १।१६।४)

सद्वृत्त—अत्रिपुत्र ने चरक में सद्वृत्त का लाभ बताते हुए कहा है—'सद्वृत्त का पालन करने से एक साथ आरोग्य और इन्द्रियजय दोनों मिलते हैं; इसलिए उसका पालन करना चाहिए। उसके पालन करने से इहलोक और परलोक दोनों में कीर्त्ति होती है' (सू. अ. ८)। यही सद्वृत्त वेद में भी है। यथा—

'स्वस्ति पन्थामनुचरेम' (ऋ. ५।११।७) कल्याण पथ पर चलें। 'सत्यं वदन् सत्ये कर्मन्' (ऋ. ९।११३।४) सत्य बोलें, सच्चे कर्म करें। 'सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः' (ऋ. १०।३७।२) सत्य वचन सब ओर से रक्षा करे। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' (यजु. ४०।१७) सुनहले पात्र से सत्य का मुख ढँका है। 'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः' (ऋ. १०।७३।६) दुष्ट सत्य के पथ पर नहीं चलते। 'मधुमतीं वाचमुदेयम्' (अथर्व. १६।२।२) मीठे वचन बोलें। 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' (यजु. ९।२१) आयु परोपकार में लगायें। 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' (यजु. ३।१) मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो। 'दिवमारुह तपसा तपस्वी' (अ. १३।२।२५) तपस्वी तप से ऊँचा उठता है। 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' (अथर्व. ११।७।१९) ब्रह्मचर्य और तप से देव मृत्यु को जीत लेते हैं। 'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्' (यजु. ४०।१) किसी के

धन पर आँख न लगा। 'न स सखा यो न ददाति सख्ये' (ऋ. १०।११७।४) वह मित्र नहीं, जो मित्र की सहायता नहीं करता। 'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः' (अ. ७।५२।८) पुरुषार्थ मेरे दायें हाथ में है और विजय बायें हाथ में है। 'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्' (अ. ८।१।३) हे पुरुष, तू उन्नति की ओर कदम बढ़ा, अवनति की ओर नहीं। 'अक्षैर्मा दीव्यः' (ऋ. १०।३४।३) जुआ मत खेल। 'ईर्ष्योः मृतं मनः' (अथर्व. ५।१८।२) ईर्षा से मन मरता है, इत्यादि।

रोग विज्ञान—वेदों में कुछ रोगों के नाम तथा कुछ रोगों के लक्षण स्पष्ट आते हैं। उदाहरण के लिए ज्वर के लिए 'तक्मन' शब्द आता है। श्री दुर्गाशंकर भाई ने 'तक्मन' का शीत ज्वर (मलेरिया) अर्थ किया है। इस ज्वर के अन्येद्युष्क और तृतीयक भेद बताये हैं। ज्वर एक भयंकर रोग है ('भीमास्ते तक्मन हेतयः'—अ. वे. ५।२२।१०)। चरक में ज्वर सब रोगों में प्रबल कहा गया है। यह सब प्राणियों में होता है, उत्पत्ति और मृत्यु के समय भी होता है। (चरक. नि. अ. १।३५)

ज्वर का ज्ञान अथर्वा ऋषि को अच्छी प्रकार था। शरद् ऋतु में इसका विशेष प्रकोप होता था ('तृतीयकं वितृतीयं सदिन्दुमथ शारदम्'—अ. वे. ५।२२।१३)। ज्वर के उपद्रव कास, जुकाम, सिर दर्द आदि का भी उल्लेख है। ज्वर के कारण होनेवाले कामला रोग का भी उल्लेख है। तक्म नाशन (ज्वरहरण) के लिए कुष्ठ (कूठ) का विशेष वर्णन है।[1]

जलोदर—यह रोग इस देश में पुराना है। वरुण के अपराध के कारण यह होता है। अथर्ववेद के तीन सूक्तों में (१-१०; ७-८३; ६-२४) इस रोग का उल्लेख है। अथर्ववेद के छठे सूक्त में (६।२४।१) हृदय रोग का उल्लेख है। इसमें बताया गया है कि जलोदर रोग हृद्रोग का परिणाम है। अथर्ववेद में 'आस्राव' नामक रोग आया है (अ. वे. १।२; २।३; ६।१४)। टीकाकारों ने इसका अर्थ अतिसार किया है, परन्तु इससे मूत्रातिसार, रक्तस्राव आदि का भी निर्देश माना जा सकता है। 'विषूची' का उल्लेख अथर्ववेद में (६।९०) है। वहाँ पर इसका अर्थ पेट का विकार ही है, न कि हैजा; जैसा कि अत्रिपुत्र ने विसूचिका को आमदोष बताया है ('तं द्विविधमामप्रदोषमाचक्षते भिषजः विसूचिकाम्, अलसकं च'—चरक. वि. अ. २।१०)। अवरुद्ध मूत्र को निकालने के लिए एक सम्पूर्ण सूक्त है (१।३)। क्षेत्रिय रोग को भी दूर

---

१. **ज्वर के लिए देखिए**—अ. वे. १।२५; ५।२२; ६।२०; १९।३९; ५।५; ९।८।६; ७।११६.

करने की प्रार्थना अथर्ववेद में है (२।८; २।१०; ३।७)। किसी ओषधि को भी क्षेत्रिय नाशनी कहा गया है।

यक्ष्मा शब्द सामान्यतः रोगवाचक है (ऋग्वेद. १०।१६३; 'तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग इत्यनर्थान्तिरम्'—चरक. नि. अ. १।५)। अथर्ववेद में भिन्न-भिन्न अंगों में यक्ष्मा को नाश करने के लिए प्रार्थना की गयी है[१]। वाजसनेयी संहिता में एक सौ प्रकार के यक्ष्मा का उल्लेख है (१२।९७); वहाँ पर बहुत-से रोग विवक्षित हैं।

राजयक्ष्मा—(क्षय) शब्द ऋग्वेद (१०।१६३) तथा अथर्ववेद (३।११।१) में आया है। सायण ने राजयक्ष्मा से वर्त्तमान कालीन क्षयरोग ही लिया है, इसके लिए तैत्तिरीय संहिता का वचन है—'राजा अर्थात् चन्द्रमा को क्षयरोग पहले हुआ। इसलिए इसे राजयक्ष्मा कहते हैं, (तै. स. २।५-६; तुलना कीजिए—'राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः। तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुः पुनर्जनाः॥' सुश्रुत. उ. अ. ४१।५)।[१]

यजुर्वेद की संहिताओं में यक्ष्मा रोग की उत्पत्ति बताते हुए उसको तीन प्रकार का कहा गया है; राजयक्ष्मा, पापयक्ष्मा और जायान्य (तै. सं. २।३।५२; का.सं.१३।३; मै. स. २।२।७; श. ब्रा. ४।१।३९) अथर्ववेद में राजयक्ष्मा के साथ अज्ञात यक्ष्मा शब्द भी है; जिसका अर्थ न पहचाना हुआ रोग है। 'जायान्य' शब्द अस्पष्ट है, इसके भिन्न-भिन्न अर्थ विद्वानों ने किए हैं; जैसे, सिफलिस, गठिया आदि।

अर्श—वाजसनेयी-संहिता के एक ही मंत्र में बलास, अर्श, उपचित् और पाकारु इन चार रोगों का उल्लेख है। इनमें अर्श शब्द स्पष्ट है (अरिवत् शाति-हिनस्ति इति अर्शः—शत्रु के समान पीड़ा देता है)। उपचित् से अपची अर्थ ले सकते हैं, क्योंकि अपची का अन्यत्र (अ. वे. ६।८३) उल्लेख है। बलास शब्द अथर्ववेद में रोग अर्थ में आता है (४।९।८; ५।२२।११; ६।१४।१ आदि में)। सायण ने एक स्थान में

---

१. चरक में राजयक्ष्मा की उत्पत्ति एक अलंकारिक रूप में बतायी गयी है (चि. अ. ८।३-१०); राजा चन्द्रमा का विवाह प्रजापति की अट्ठाईस कन्याओं से होता है। इस कथानक में प्रजापति की अट्ठाईस कन्याएँ अट्ठाईस नक्षत्र हैं। इनमें रोहिणी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का विशेष सम्बन्ध कुछ अधिक देर रहता है। इसी को आसक्ति कहा है। अधिक स्त्री प्रसंग से राजयक्ष्मा रोग होता है, यह स्पष्ट करने के लिए ही यह कथानक है। अग्निवर्ण को भी राजयक्ष्मा इसी कारण से हुआ था—"आमयस्तु रतिरागसंभवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत्॥" (रघुवंश १९।४८।)

बलास का अर्थ सन्निपात किया है और अन्य स्थान पर (अ. वे. १९।३४।१०) क्षय अर्थ किया गया है। ज्वर के साथ कास और बलास का उल्लेख अथर्ववेद में (५।२२।११) है। पाकारु का अर्थ मैकडानल और कीथ ने व्रण किया है।[1]

जम्भ—अथर्ववेद में (२।४।२; ८।१।१६) जम्भ शब्द का उल्लेख है। इस रोग में दोनों जबड़े जुड़ जाते हैं। इसके तथा कौशिक सूत्र के विनियोग के आधार पर बेवर, ब्लूमफील्ड आदि विद्वानों के मत से बालकों में होनेवाले आक्षेप या अपतंत्रक, अपतानक (मृगी-हिस्टीरिया-कन्वलशन) की स्थिति स्पष्ट होती है। कौशिक सूत्र के आधार पर यह बालकों की ग्रहपीड़ा प्रतीत होती है; जैसा कि सुश्रुत में कहा गया है—('एवं ग्रहाः समुत्पन्ना बालान् गृह्णन्ति चाप्यतः। ग्रहोपसृष्टा बालास्तु दुश्चिकित्स्यतमा मताः ॥' उत्तर. अ. ३७।२०)

अप्वा (अथर्व ९।८।९) का अर्थ मरोड़ा या अतीसार है। **ग्राह** का उल्लेख शतपथ (३।५।३।२५) तथा अथर्ववेद (११।९।१२) में है। अथर्ववेद में इसका अर्थ ऊरुस्तम्भ है। **ग्रैव्य** (अ. वे. ६।२५।२) का अर्थ गण्डमाला किया जा सकता है। **पामा** (अ. वे. ५।२२।१२) का पाठान्तर पामन् भी है। आयुर्वेद में यह शब्द कुष्ठ के एक भेद के लिए प्रसिद्ध है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी यह शब्द आता है ('सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कर्षमाणमुपोपविवेश'—४।१।८)। यहाँ पर यह शब्द कुष्ठ रोग के लिए ही आया है। अथर्ववेद के **विक्लिन्दु** (१२।४।५) का अर्थ ब्लूमफील्ड जुकाम करते हैं। **विलोहित** (अथर्व. ९।८।१; १२।४।४) रोगवाचक शब्द है; ब्लूमफील्ड इसका अर्थ नाक से बहनेवाला रक्तस्राव करते हैं; ह्विट इसका अर्थ पाण्डुरोग करते हैं। **विशर** अथर्ववेद में (२।४।२) आता है; जीमर ने इसका अर्थ ज्वर से होनेवाला अंगों की पीड़ा (अंगमर्द) किया है। **वातीकर** (९।८।२०) का अर्थ वायु से होनेवाली पीड़ा है। ब्लूमफील्ड भी यही अर्थ मानते हैं। अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर '**विष्कन्ध**' शब्द आता है (३।९।६)। इसका अर्थ स्पष्ट नहीं; सन्धिवात, राक्षस, तथा सामान्य रोगवाचक कई अर्थ विद्वानों ने किये हैं।

सिर के रोगों के लिए अथर्ववेद में 'शीर्षाक्ति' और 'शीर्षामय' शब्द आते हैं

---

१. **'नाशयित्री बलासस्यासि उपचितामपि।**
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशिनी ॥' (वा. सं. १२।९)

महाभारत में भी त्रिधातु शब्द आता है—'आयुर्वेदविदस्तस्मात् त्रिधातुं मां प्रचक्षते।'—उद्योग पर्व

(१।१२।३; ९।८।१; ५।४।१०)। **श्लोण्य** शब्द तैत्तिरीय संहिता में (३।९।१७।२) आता है। मैकडोनल और कीथ इसका अर्थ लँगड़ापन करते हैं। **श्वित्र**—पंचविंश ब्राह्मण में (१२।११।११) श्वित्र शब्द आता है, जिसका अर्थ श्वेत रोग (श्वेतकुष्ठ) है। अथर्ववेद (१।२३।४) और वाजसनेयी संहिता (३०।२१) एवं पंचविंश ब्राह्मण (१४।३।७) में आया 'किलास' शब्द आयुर्वेद का किलास रोग ही है।

सिध्मल—वाजसनेयी संहिता (३०।१७) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।१०) में रोग वाचक अर्थ में आता है। आयुर्वेद में सिध्म को कुष्ठ का एक भेद कहा गया है। सम्भवतः सिध्म ही सिध्मल है, सिध्म रोगवाले को भी सिध्मल कहते हैं। ऋग्वेद के **'सुराम'** (१०।१३१।५) शब्द का अर्थ मैकडानल और कीथ ने मदात्यय किया है। हरिमत् शब्द ऋग्वेद (१।५०।११) तथा अथर्ववेद (१।२२।१; ९।८।९) में पीलेपन कामला रोग के लिए आया है। हृदामय, हृद्‌रोग और हृद्योत शब्द वेद में हृदय के रोगों लिए आते हैं (ऋग्वेद में १।५०।११ और अथर्ववेद में १।२२।१, ५।३०।९)। हृद्‌रोग पीछे से चला है।

रोग निदान—वेद में त्रिधातुवाद की मान्यता है। तीन धातुओं की विषमता से रोग होते हैं (ऋ० १।३४।६)। अथर्ववेद में एक स्थान पर अभ्रुज, वातज और शुष्म तीन प्रकार के रोग कहे गये हैं।[1] इनमें वातज रोग स्पष्ट हैं, अभ्रुज का अर्थ कफज और शुष्म का अर्थ पित्तज रोग सायण ने किया है।

वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में शारीरिक और आगन्तुक ये दो कारण रोगों के माने गये हैं। आगन्तुक कारणों को राक्षस, यातुधान, सर्प नाम दिया गया है। कायिक रोगों के लिए रोग, अमीवत् शब्द आता है; वैद्य हरिप्रपन्नजी की ऐसी मान्यता है।

शल्यतन्त्र—क्षत (अ. वे. ७।७६।४); विद्रधि (६।१२७।१); छिन्न-भिन्न (४।१२); व्रण (२।३) आदि रोगों का वेद में उल्लेख है। टूटी या कटी अस्थियों को जोड़ने; जुड़े हुए या कटे हुए अंग को ठीक करने तथा पृथक् हुए मांस और मज्जा को स्वस्थ करने की ओषधि से प्रार्थना अथर्ववेद में है (४।१२)। रक्तस्राव के लिए पट्टी बाँधने (१।१७) तथा रेत से भरी थैलियों से दबाव देने का उल्लेख है। एक मंत्र में व्रण पकाकर उससे पूय-स्राव करने का उल्लेख है (अथर्व. २।३।५)। अपची

---

१. चरक में भी तीन प्रकार के रोगों का उल्लेख है—"अतस्त्रिविधा व्याधयः प्रादुर्भवन्ति–आग्नेयाः सौम्या वायव्याश्च॥' (चरक. नि. अ. १।४)

रोग के लिए वेधन और छेदन उपचार कहा गया है (७।७४।२)। परन्तु मुख्यतः वनस्पति, पानी और मंत्र से चिकित्सा का काम लिया गया है।[1]

अगद तंत्र—ब्राह्मणों, सूत्रों और उपनिषदों में सर्पविद्या का उल्लेख है (श. ब्रा. १०।१५।२।२०; सां. श्रौ. सू. १६।२।२५; आ. श्रौ. सू. १०।७।५; छा. उ. 'सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि'—७।१)। यह विद्या विशेषतः आथर्वण विद्या है। अथर्ववेद में सर्पविष सम्बन्धी कई सूक्त हैं (५।१३; ५।१६; ६।१२; ७।५६)। विषयुक्त आहार का भी अथर्ववेद में उल्लेख है (४।६)।

रसायन—अथर्ववेद तथा अन्य वेदों में आयुष्य-सूक्त पर्याप्त आते हैं, श्रौत और गृह्य-सूत्रों में आयुष्य सम्बन्धी मंत्र पुष्कल मिलते हैं। 'जीवेम शरदः शतम्' की भावना अनेक मंत्रों में मिलती है। अथर्ववेद में आयुष्यवर्धक अनेक मंत्र हैं।

रसायन विद्या से वयःस्थापन, आयु तथा बल मिलता है और रोगों को दूर करने की सामर्थ्य आती है। इसके लिए 'ब्रह्मचर्य' एक मूल्य आचरण है, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में विशेष मिलता है।[2]

वाजीकरण—अथर्ववेद में वाजीकरण ओषधियों का स्पष्ट उल्लेख है। वाजीकरण का अर्थ जिसमें शक्ति या वीर्य न हो उसमें शक्ति या वीर्य उत्पन्न करना है ('अवाजिनं वाजिनं कुर्वन्ति; येन वा अत्यर्थं व्यज्यते स्त्रीषु शुक्रं तद् वाजीकरणम्; वाजो वेगः प्रस्तावात् शुक्रस्य, स विद्यते येषां ते वाजिनः, ते क्रियन्तेऽनेन इति वाजीकरणम्; वाजः शुक्रं सोऽस्यास्ति इति वाजी, अवाजी वाजी क्रियते येन तद् वाजीकरणम्')।

---

१. 'अरुस्त्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्धृतम्।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्॥' (अ. वे. २।३।५)
'विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम्।
इदं जघन्या मासामाच्छिनद्मि स्तुकामिव॥' (अ. वे. ७।७४।२.)

२. रसायन, दीर्घायु के लिए ब्रह्मचर्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसी से उपनिषद् में ब्रह्मचर्य का विशेष महत्त्व बताया गया है (छा. उ. ८।४)। इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास आत्मा के विषय में पूछने के लिए जब गये, तब उन्होंने पहले ३२ साल ब्रह्मचर्य पालन किया। इसके बाद पुनः पूछने जाने पर इन्द्र ने ३२, ३२ वर्ष दो बार तथा अन्तिम बार पाँच साल ब्रह्मचर्य पालन किया था (छा. उ. ८।६)। इसी से कहा है—
'धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम्।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्॥' (सं. हृदय वाजीकरण)।

अथर्ववेद में ओषधियों के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं है, परन्तु "जिसका वीर्य क्षीण हो गया है, इस प्रकार के वरुणदेव के लिए गन्धर्वों ने जिस ओषधि को खोदा था, उपस्थ को उत्तेजना देनेवाली उस ओषधि को मैं खोदता हूँ।" इन शब्दों में स्पष्ट वाजीकरण का उल्लेख है।[1] इसी सूक्त में ओषधि के बाद मंत्र शक्ति द्वारा वाजीकरण शक्ति बतायी गयी है। वाजीकरण का उपयोग प्रजा–संतान की उत्पत्ति के लिए होता था। यह बात इस सूक्त और गर्भाधान सूक्त (अ. वे. ५।२५) से स्पष्ट है।

गोपथ ब्राह्मण में भेषज को ही अथर्व कहा गया है ('येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्'—३।४)। जो अथर्वा है, वह भेषज है। भेषज का एक पर्य्याय 'प्रतिषेध' है। यथा—

'थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः' (निरुक्त. ११।१९)

'थर्वति' का अर्थ गति है, उसका जो प्रतिषेध करे वह अथर्वा है। औषधि बढ़ते हुए रोग को रोकती है, इसलिए उसे अथर्वा कहते हैं। यही अथर्वा आयुर्वेद के साथ सम्बद्ध है।

स्वर्ण का चिकित्सा में उपयोग—अत्रिपुत्र ने स्वर्ण के लिए कहा है कि जो व्यक्ति स्वर्ण का सेवन करता है, उसके शरीर में विष नहीं लगता, जिस प्रकार से कमलपत्र के ऊपर पानी का स्पर्श नहीं होता (चि. २३।२४०)। स्वर्ण आयुवर्धक, ओजवर्धक है, जैसा कि यजुर्वेद में कहा गया है—

'यह सोना आयु के लिए हितकारी है, कान्तिदायक है, धन-समृद्धि से पुष्ट करता है, सब रोगों का भेदन करनेवाला है, वर्चस्व-तेज देता है। रोगों से जय प्राप्त करने के लिए यह मुझे प्राप्त हो।' (यजु. ३४।५०)

सोने से न राक्षस बच सकते हैं और न पिशाच, इसको कोई भी लाँघ नहीं सकता। स्वर्ण से कोई रोग नहीं बच सकता। जो व्यक्ति दाक्षायण स्वर्ण का सेवन करता है, या कराता है, उस करनेवाले और करानेवाले दोनों को दीर्घ आयु मिलती है। (यजु. ३४।५१)

सर्प-चिकित्सा—अत्रिपुत्र ने स्थावर और जंगम दो प्रकार के विष कहे हैं। ये दोनों विष परस्पर विरोधी हैं; स्थावर विष (मूलज विष) ऊर्ध्वगामी है और जंगम विष अधोगामी है। इसलिए स्थावर विष जंगम को और जंगम स्थावर विष को नष्ट

---

१. **'यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे।
तां त्वा वयं खनाम्यस्योषधिं शेफहर्षणीम्॥'** (अ. वे. ४।४।१)

करता है ('तस्माद् दंष्ट्राविषं मौलं हन्ति, मौलं च दंष्ट्रजम्'--चरक. चि. अ. २३)।[१] यह वेद में भी कहा गया है कि 'विष विष को नष्ट करता है'--

'चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम्।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येऽतु त्वा विषम्॥' (अथर्व. ५।१३।४)

हे सर्प! आँखों के तेज से तेरी आँखों को नष्ट करता हूँ और विष से (स्थावर विष से) तेरे विष को नष्ट करता हूँ। हे साँप! मर जा, मत जी।

'कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्र आमे शृणुतासिता अलीकाः।
मा मे सख्युः स्तामानमपिष्ठाता श्रावयन्तो निविषे रमध्वम्॥'
(अथर्व. ५।१३।५)

हे कैरात! पृश्नि, उपतृण्य, बभ्रु, असित और अलीक नामवाले सर्प! तुम मेरे मित्र के घर में न ठहरो और खटका सुनते ही विषैले स्थान पर रमण करो!

सुख प्रसव के लिए प्रार्थना--'जिस प्रकार से वायु बिना रुकावट के बहती है, जितनी तेजी से मन चलता है, जिस प्रकार सुखपूर्वक पक्षी उड़ते हैं; इस प्रकार दसवें मास में हे गर्भ! तू गर्भाशय से बाहर आ जा।' (अथर्व. १।११।६)

अथर्ववेद में आये हुए आयुर्वेद सम्बन्धी विषयों की सूची निम्नलिखित है, जिससे चिकित्सा विषयक सूक्तों की विस्तृत जानकारी मिल जाती है--

---

१. महाभारत में भी स्थावर विष की चिकित्सा जंगम विष से कही गयी है। दुर्योधन द्वारा भीम को दिये हुए विष की शान्ति नागों के काटने से हुई थी। इस घटना से स्पष्ट है ('हतं सर्पविषेणैव स्थावरं जंगमेन तु'--आदि. १२७।५७)। महादेव शिव के गले में पिये हुए हलाहल का प्रतिकार उसमें लिपटे हुए साँप ही कर रहे हैं। गंगा की शीतल धारा उनके सिर पर गिरकर विष की गरमी दूर करती है, माथे पर स्थित चन्द्रमा विष की नीलिमा, कालिमा को अपनी द्युति से धो रहा है। तभी महादेवजी आज भी जीवित हैं। सिकन्दर का सेनापति निर्याकिस लिखता है कि 'यूनानी लोग सर्पविष दूर करना नहीं जानते थे; परन्तु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पड़े, उन सबको भारतीयों ने दुरुस्त कर दिया।' मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ११२

उपनिषदों में सर्पविद्या और देवजन विद्या का उल्लेख विद्याओं में आता है ('सर्प देवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि'--छांदोग्य ७।१।२)। शतपथ ब्राह्मण १३।४।३।-३-१४ भी देखिए।

अंजन ७।३०।३६; अपामार्ग ४।१७; ४।१८, ४।१९; अपांभेषज १।४, ५; ६, ६।२३; २४; अक्षिरोग भेषज ६।१६; आञ्जन ४।९; १९।४५; आप १।३३ ३।१३; ७।३९, १९।२; ६९; आस्राव की ओषधि २।३; ओषधि ८।७; ६।५९; कुष्ठौषधि ६।९५; केशवृंहण ६।१३६; केशवर्धन ६।१३७; केशवर्धनी ओषधि ६।२१; गर्भसंस्राव २०।९६; ११-१६; पिप्पली भैषज्य ६।१०९; पृश्निपर्णी भैषज्य ६।२२; ५२, ८३, १९।४४; रोहिणी वनस्पति ४।१२; लाक्षा ५।५; वनस्पति ३।१८; वाजीकरण ४।४; विष भैषज्य ७।५६; सौभाग्यवर्धन ६।१३९।

रोगादि निवारण—इषु निष्कासन ६।९०; उन्मत्तता मोचन ६।१११; कास-शमन ६।१०५; कुष्ठ-तक्म नाशन ५।४; कुष्ठनाशन १९।३९; क्लीवत्व नाशन ६।१३८; गर्भबृंहण ६।१७; गर्भदोष-निवारण ८।६; गण्डमाला-चिकित्सा ७।७४-७६; चिकित्सा ६।९६; जल-चिकित्सा ६।५७; ज्वर नाशन १।२५; ७।११६; तक्म नाशन ५।२२; दुस्वप्न नाशन २०।९६; नारी सुखप्रसूति १।११; बलास नाशन ६।१४; मूत्र मोचन १।३; यक्ष्म नाशन १।१२; ३।७; ३१; ६।२०, ८५, ९१, १२७; १२।२; १९।३८; २०।९६, ६-१९, १७-२३; रुधिरस्राव को रोकने के लिए धमनी को बाँधना १।१७; रोग नाशन ६।४४; रोग निवारण ४।१३; रोगोपशमन १।२, ५।१५; वृष रोग नाशन ५।१६; श्वेत कुष्ठ नाशन १।२३, २४; सुमंगल दन्त ६।१४०; हृद्रोग; कामला शमन १।२२; क्षेत्रियरोग निवारण २।८।

कृमि नाशन—कृमिघ्न ५।२३; कृमि जम्भन २।३१; कृमि नाशन २।३२, ४।३७।

विष नाशन—विषघ्न ४।६; विष दूषण ६।१००; विष नाशन ४।७; सर्पविष दूरीकरण १०।४; सर्पविष नाशन ५।१३, ७।८८; सर्पविष निवारण ६।१२; साँपों से रक्षा ६।५६।

अरिष्ट नाशन—अरिष्ट क्षपण ६।२७-२८-२९-८०; अलक्ष्मी नाशन १।१८; असुर क्षपण ६।७, १९।६६; ईर्ष्या विनाशन ६।१८, ७।४५; कृत्यादूषण १०।१; कृत्या परिहरण ५।१४-३१; दस्यु नाशन २।१४; पिशाच क्षपण ४।२०; मन्यु शमन ६।४३; यातुधान नाशन १।७-८; यातुधान क्षपण ६।३२; रक्षोघ्न १।२८।५२९।

(अथर्ववेद संहिता श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा संपादित)

इस प्रकार से आयुर्वेद से सम्बन्धित विषयों का अथर्ववेद में विस्तार से वर्णन होने के कारण आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा गया है।

संक्षेप में आयुर्वेद के सब अंगों का उल्लेख वेदों में मिल जाता है, अन्यों की अपेक्षा अथर्ववेद में अधिक उल्लेख है; क्योंकि यह वेद पीछे बना। तब तक लोगों को

रोग तथा उसके उपायों की जरूरत विशेष रूप से अनुभूत नहीं हुई थी। वेद कोई आयुर्वेद के स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं, उनमें तो जीवन के लिए उपयोगी (कृषि, वस्त्र बुनना आदि) तथा अध्यात्मसम्बन्धी सब प्रकार के विषय बीजरूप में मिलते हैं। पीछे से इन विद्याओं का विकास पृथक्-पृथक् हुआ।

कौशिक सूत्र—अथर्ववेद का सूत्रग्रन्थ कौशिक है। ब्लूमफील्ड ने कौशिक सूत्र को पिछले सूत्रकाल का ग्रन्थ माना है। इसका समय ३००-४०० ईसवी पूर्व माना जा सकता है। कौशिकसूत्र में वनस्पति सम्बन्धी जानकारी विशेष रूप से दी गयी है। रोगों के नाम इसमें मिलते हैं। उदावर्त का उल्लेख है (४।२५।१९), औषध निर्माण में फांट का उल्लेख है (४।२५।१८)। जलौका लगाने का, नस्य देने का (४।२६।८) विधान है। 'वरुण-गृहीत' शब्द का अर्थ टीकाकार ने जलोदरी किया है, जो ठीक है। वरुण के कोप से जलोदर रोग होने का आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण के हरिश्चन्द्र उपाख्यान से समर्थित है। सर्पविष के ऊपर हल्दी के चूर्ण को घी में मिलाकर पिलाने का उल्लेख कौशिक सूत्र में है (४।२८।४); परन्तु साथ में अथर्ववेद के मंत्रों से अभि-मंत्रण करना चाहिए।

अथर्ववेद में राजयक्ष्मा रोग के साथ अज्ञात यक्ष्मा रोग का भी उल्लेख है। सूत्रकार ने अज्ञात यक्ष्मा का ग्राम्य रोग अर्थ किया है। ग्राम्य रोग से टीकाकार मैथुन सम्बन्धी रोग लेते हैं, इससे अधिक स्पष्टीकरण नहीं। संभवतः ग्राम्य रोग से सुश्रुत में लिखा उपदंश रोग विवक्षित हो (भावप्रकाश में कहे गये या आज जिस रोग के लिए उपदंश सामान्यतः प्रचलित है वह नहीं)। अथवा अत्रिपुत्र ने 'ग्राम्य' शब्द शहरी जीवन के लिए बरता है ('ग्राम्यवासकृतमसुखमसुखानुबन्धं च'; 'ग्राम्यो हि वासो मूल मशस्तानाम्'—चरक० चि० अ० १।४।४); उस जीवन से सम्बन्धित रोग विवक्षित हो।

कौशिक सूत्र का लक्ष्य भी वैद्यक नहीं है, उसका सम्बन्ध अभिमंत्रण क्रिया से है; जैसा कि इसके टीकाकार केशव ने कहा है—

'भेषजशान्तिर्भैषज्यशब्देनोच्यते। तत्र द्विविधा व्याधयः। आहारनिमित्ता अन्यजन्मपापनिमित्ताश्च। तत्र अहारनिमित्तेषु चरकवाहटसुश्रुतेषु शमनं भवति। अशुभनिमित्तेषु अथर्ववेदविहितेषु शान्तिकेषु व्याध्युपशमनं भवति।' (कौ० सू० अ० ४ : क० २५ की टीका)। केशव का वचन काश्यप संहिता के वचन से मिलता है। 'चिकित्सा दो प्रकार की है; औषध और भेषज रूप में। दीपन आदि द्रव्यों के योग का नाम औषध है और हवन-व्रत-तप-दान शान्तिकर्म को भेषज कहते हैं' (का० सं० औषध भेषजेन्द्रिय अध्याय) अत्रिपुत्र ने इनके युक्तिव्यपाश्रय और दैवव्यपाश्रय

नाम दिये हैं (चरक० सू० अ० ११।५४)। इसके अतिरिक्त सत्त्वावजय तीसरी चिकित्सा मानी है। पूर्व जन्मकृत पापों से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा के लिए अथर्ववेदोक्त शान्तिकर्म ही करने चाहिए। अथर्ववेद के समय में सम्भवतः चिकित्सा में इस प्रकार का पार्थक्य न रहा हो। उस समय शान्तिकर्म (भेषज) तथा औषधकर्म (औषध) ये एक में ही मिले थे, जो इनको जानता था, उसे भिषक् कहते थे। पूर्व जन्मकृत पाप से रोग होते हैं, उनकी चिकित्सा के लिए भेषज चिकित्सा है।

संक्षेप में, वैदिक काल के अन्त में तथा सूत्रग्रन्थों के समय तक आयुर्वेद में विकास क्रम प्रारम्भ हो गया था। वेदों में वर्णित रोगों और वनस्पतियों के सम्बन्ध में जिज्ञासा, खोज प्रारम्भ हो गयी थी। वनस्पति सम्बन्धी ज्ञान का विकास बुद्धकाल में कितना अधिक बढ़ गया था, इसे जीवक की शिक्षा के समय में देखेंगे। रोगों के लक्षण, उनकी पहचान, चिकित्सा का क्रम क्रमशः विकसित होता गया; जो कि बुद्धकाल में अपने पूर्ण यौवन पर पहुँच गया था। बुद्धकाल से पूर्व आथर्वण वैद्य ही सब प्रकार की चिकित्सा करते थे। इनकी चिकित्सा सीमित थी (वेदों में सौ या सवा सौ वनस्पतियों का ही उल्लेख है), सम्भवतः उस समय रोग भी इतने नहीं थे, क्योंकि जीवन सादा और सरल था (देखिए चरक० चि० अ० १।४।५ में इन्द्र का वचन)। पीछे से इस ज्ञान का विकास हुआ। शतपथ-ब्राह्मण में अंगों के नाम, याज्ञवल्क्य स्मृति में अस्थियों की विवेचना मिलने लगती है। इस प्रकार से यह ज्ञान ६०० ई० पूर्व तक पर्याप्त विकसित हो चुका था।

ब्राह्मण ग्रन्थ

वेदों की व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में है, प्रत्येक वेद का अपना ब्राह्मण है, इनका प्रधान विषय 'यज्ञ' ही है। शब्दों की व्युत्पत्ति और सृष्टि सम्बन्धी विचारों का भी कथा-रूप में विवेचन है। ब्राह्मण का अर्थ ब्रह्मा द्वारा कहे गये नियम हैं। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं—ऐतरेय और कौषीतकी। शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण एक सौ अध्यायों का विशाल और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें यज्ञों के वर्णन के साथ अनेक प्राचीन आख्यानों और सामाजिक विषयों का भी वर्णन है। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय है। सामवेद के ब्राह्मण ताण्ड्य और छान्दोग्य हैं। अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है।

ब्राह्मणों में विधि और अर्थवाद रूप में याज्ञिक क्रियाओं का वर्णन है। विधिवाद में यज्ञ विधि है और अर्थवाद में इतिहास, आख्यान, पुराण, रूप में क्रियाओं तथा

प्रार्थनाओं की व्याख्या है। व्याधियाँ ऋतु सन्धिकाल में होती हैं। वर्तमान ऋतु का अन्तिम सप्ताह और अग्रिम ऋतु का प्रथम सप्ताह ऋतुसन्धि होती है। इसमें रोग विशेष होते हैं।

ऋतुसन्धि में पूर्व ऋतुसन्धि की विधि धीरे-धीरे छोड़कर नयी विधि धीरे-धीरे लेनी चाहिए। यदि सहसा नयी विधि ले ली जाय तब रोग होता है। इसलिए इससे बचने का विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में है।

ऋतु सन्धि में होनेवाले रोगों से बचना——रोगों से बचने के उपाय यज्ञ बताये गये हैं। इन यज्ञों में जो सामग्री बरती जाती है, वह भी प्रत्येक ऋतु के अनुसार ही होती थी। जिस प्रकार प्रत्येक ऋतु का अपना खान-पान, रहन-सहन आयुर्वेद शास्त्र में कहा गया है, उसी प्रकार ब्राह्मणों में प्रत्येक ऋतु के लिए पृथक्-पृथक् सामग्री का विधान यज्ञों के लिए किया गया है।

इस सामग्री में चार प्रकार के द्रव्य होते हैं——१. सुगन्धित——कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि; २. पुष्टिकारक——घी, दूध, फल, कन्द (विदारी आदि), अन्न——चावल, गेहूँ, उड़द, आदि; ३. मिष्ट द्रव्य——शक्कर, शहद, छुहारे, दाख आदि; ४. रोगनाशक द्रव्य——सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियाँ——स्वामीदयानन्द। इन रोगनाशक औषधियों में अन्य कूठ आदि औषधियाँ ऋतु के अनुसार मिलायी जाती हैं। रोगनाशक औषधियों में कूठ, वच, नीम, कुलञ्जन आदि तीक्ष्ण सुगन्धित द्रव्य तथा अन्य औषधियाँ मिलायी जाती हैं।

इस प्रकार की सामग्री से हवन करने का उल्लेख ब्राह्मणों में है——

'भैषज्य यज्ञा वा एते। तस्मा दृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।
ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते॥' (गोपथ ३।१।१९)

ये ओषधियों के ही यज्ञ हैं। इसलिए ऋतुओं की सन्धियों में यज्ञ किये जाते हैं; क्योंकि ऋतु सन्धियों में रोग होते हैं।

रोग को उत्पन्न करनेवाले राक्षस (वर्त्तमान में रोगोत्पादक जीवाणु) बहुत ही सूक्ष्म होते हैं। ये आँखों से दिखाई नहीं देते।

'तदवधुनोति। अविधूतं रक्षः। अविधूता अरातयः, इति।
तन्नाष्ट्रा एवैतद् रक्षांस्यतोऽपहन्ति॥' (शत. ब्रा. १।१।४)

वह चर्म को झटक देता है; और कहता है कि राक्षसों का नाश हो गया। इस प्रकार से विनाशक राक्षसों का संहार होता है।

इन अदृश्य राक्षसों का नाश करने के लिए यज्ञ से उठी सूक्ष्म वायु ही समर्थ है। इसकी चर्चा पृष्ठ १५ पर की जा चुकी है। सुश्रुत में व्रणवाले रोगी के पास दोनों समय सरसों, नीम के पत्ते और घी से धूम करने के लिए कहा गया है।

'रक्षोघ्नैश्च मंत्रैः रक्षां कुर्यात्'—सुश्रुत सू. ५।१७

"ततो गुग्गुल्वगुरुसर्जरसवचागौरसर्षपचूर्णैः लवणनिम्बपत्रमिश्रैराज्ययुक्तैर्धूपयेत्; आज्यशेषेण चास्य प्राणान् समालभेत्।

'नागाः पिशाचा गन्धर्वाः पितरो यक्षराक्षसाः।
अभिद्रवन्ति ये त्वां ब्रह्माद्या घ्नन्तु तान् सदा॥
पृथिव्यामन्तरिक्षे च ये चरन्ति निशाचराः।
दिक्षुवास्तुनिवासाश्च पान्तु त्वां ते नमस्कृताः॥'

—सुश्रुत. सू. अ. ५।१८-२०-२०।

इन सूक्ष्म आँखों से अदृश्य जीवाणुओं, राक्षसों का नाश करने में यज्ञीय धूम ही समर्थ हैं; इसलिए यज्ञों का विधान है। इनका विशेष प्राबल्य ऋतुसन्धि में होता है। इसलिए ऋतु सन्धि में यज्ञ करने का मुख्य विधान है। बड़े-बड़े यज्ञ प्रायः इसी काल में होते हैं। यथा, होली के समय नवशस्येष्टि यज्ञ होता है। इस समय नया अन्न (गेहूँ, चना आदि) पैदा होता है। उस समय बड़ा भारी यज्ञ होता है। इसी यज्ञ का विकृत रूप होली दाह है। यह समय वसन्त ऋतु का है, वसन्त ऋतु में ही प्रायः दानेदार ज्वर होते हैं। यथा-चेचक, खसरा, टाईफाईड आदि। इसलिए चेचक को बँगला में वसन्त या वासन्तिक ज्वर भी कहते हैं। इससे बचने के लिए नव शस्येष्टि यज्ञ है। इसी प्रकार प्रत्येक पौर्णमासी एवं अमावास्या के दिन विशेष बड़े यज्ञ होते थे। इन्हीं यज्ञों का विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में है। इन यज्ञों में जो सामग्री बरती जाती थी वह रोगनाशक होती थी।

अस्थिसंख्या—अत्रिपुत्र ने शरीर के अंगों का विभाजन छः भागों में किया है। दो बाहु, दो टाँगें, एक शिर, ग्रीवा; तथा अन्तराधि (मध्यभाग)। अस्थियों की संख्या तीन सौ साठ बतायी गयी है ('त्रीणि षष्टीनि शतान्यस्थ्नां दन्तोलूखलनखेन' —चरक० शा० अ० ७।६)। सुश्रुत में यह तीन सौ साठ की संख्या वेदवादियों के नाम से कही गयी है। वेदवादी अस्थियों की संख्या तीन सौ साठ मानते हैं, परन्तु इस शल्यतंत्र में तो तीन सौ ही है ('त्रीणि षष्टीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते; शल्यतन्त्रेषु तु त्रीण्येव शतानि—सू० अ० ५।१८)।

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी अस्थियों की संख्या तीन सौ साठ ही बतायी गयी है, अंगों का विभाग भी छः भागों में किया गया है[1]।

शतपथ ब्राह्मण में भी अस्थियों की संख्या तीन सौ साठ ही मानी गयी है। पुरुष की संवत्सर के साथ तुलना करते हुए लिखा है :—

'पुरुषो वै संवत्सरः। पुरुष इत्येकं संवत्सर इत्येकमत्र तत्समं। द्वे वै संवत्सरस्याहोरात्रे द्वाविमौ पुरुषे प्राणावत्र तत्समम्। त्रय ऋतव संवत्सरस्य त्रय इमे पुरुषे प्राणा अत्र तत्समम्।........त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्य रात्रयस्त्रीणि च शतानि षष्टिश्च पुरुषस्यास्थीन्यत्र तत्समम्। त्रीणि च शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि, रात्रयस्त्रीणि च शतानि षष्टिश्च पुरुषस्य मज्जातोऽत्र तत्समम्॥' शत० १२।३।२।

शतपथ के इस वचन का आधार अथर्ववेद का मंत्र है—

'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानिक उतच्चिकेत।
तत्राहतस्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये॥
—अथर्व. १०।८।४.

कालरूपी वर्षचक्र में बारह मास परिधि रूप में हैं। वर्षा, शीत और ग्रीष्म ये तीन ऋतुएँ नाभि रूप में हैं; और वर्ष की तीन सौ साठ रात्रियाँ इस चक्र की खील हैं; जिनसे यह चक्र स्थिर है, मजबूत है, ढीला नहीं होता।

अथर्ववेद के इस मन्त्र को शरीर के साथ सम्बद्ध करने में पाँच अग्नि और सात धातु मिलकर बारह परिधियाँ होती हैं। पाँच अग्नि—"भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः। पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि।' २—सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः। यथा स्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादतः॥' च० चि० १५।१३–१५। ये पाँच अग्नि और सात धातु (धारणात् धातवः) इस पुरुष की परिधि, बाह्य सीमा हैं। तीन नाभि के स्थान पर तीन दोष—वात, कफ, पित्त हैं। तीन सौ साठ शंकु के रूप में पुरुष में तीन सौ साठ अस्थियाँ हैं। पुरुष को संवत्सर कहा गया है (पुरुषो वै संवत्सरः), इसलिए उसमें इसकी समानता है।

शरीर के अंगों के नाम शतपथ ब्राह्मण में विशेष रूप से मिलते हैं, इसके लिए 'रसयोगसागर' का उपोद्घात देखना चाहिए।[2]

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति में सम्पूर्ण शरीर के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन चरक के अनुसार ही मिलता है।

२. 'रसयोग सागर' में शरीर सम्बन्धी बहुत से शब्दों के नाम वेद, शतपथ ब्राह्मण तथा सुश्रुत से दिये गये हैं; जिससे उनकी समानता का पता चलता है।

कृमियों के सम्बन्ध में—जो आँख से नहीं दीखते ऐसे सूक्ष्म प्राणियों के लिए वैदिक साहित्य में कृमि, यातुधान, राक्षस आदि साभिप्राय शब्द आते हैं। इन्हीं के लिए 'सर्प' शब्द भी आया है, ये सरकते हैं, अथवा ये अतिक्रूर होते हैं, या खानेवाले होते हैं अथवा विष का कारण होते हैं, इसलिए सर्प हैं। इनके लिए नमस्कार है—

'नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।
येऽन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥' (वा. सं. १३।६)
या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीं रनु।
ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः।' (वा. सं. १३।७.)

जो सर्पणशील कृमि पृथिवी, पार्थिव द्रव्यों की सहायता से, जो अन्तरिक्ष में, वायुमण्डल में, जो द्युलोक में—आकाश परमाणुओं में सब ओर घूमते हैं, उन सब को मेरा नमस्कार है। मेरे नमस्कार से प्रसन्न होकर मुझे हानि न पहुँचायें। जो कृमिसृष्टि यातुधानों की नाना प्रकार की पीड़ा उत्पन्न करनेवाली यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि को बाणों के समान पीड़ा देनेवाली है; जो सब प्राणियों के आहार साधन वनस्पतियों में तथा अवटेषु, अवनत प्रदेशों में रहते हैं, उन सब सर्पों को नमस्कार है।

शतपथ ब्राह्मण में इसकी व्याख्या में है—

"अथ सर्पनामैरूपतिष्ठते। इमे वै लोकाः सर्पास्ते हाऽनेन सर्वेण सर्पन्ति।......... यद्वेव सर्पनामैरुपतिष्ठत इमे वै लोकाः सर्पा यद्धि किं च सर्पत्येष्वेव तल्लोकेषु सर्पति तद्यत् सर्पनामैरुपतिष्ठते। यैवेषु लोकेषु नाष्ट्रा (अतिक्रूराः) यो व्यद्वरो (व्यदनशीलो दन्दशूकादिः) या शिमिदा (विषहेतुर्लूतावृश्चिकादिः) तदेतत्सर्वं शमयति॥"—शतपथ २७।

ऐतरेय ब्राह्मण में—अश्विनौ को देवताओं का चिकित्सक कहा गया है। ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन है (५।२२); ओषधियों से रोग निवारण (३।४०); अंजन से नेत्र रोगों की निवृत्ति (१।३); शापादि से उन्माद, कुष्ठादि रोगों की उत्पत्ति; शुनःशेप के उपाख्यानों में वरुण के कोप से जलोदर रोग; साम विधान ब्राह्मण में साँपों से रक्षा (२।३।३); भूताक्रान्ति (२।२।२); रोगाक्रान्ति (२।२।३) है। तैत्तिरीय आरण्य में कृमिवर्णन (४।३६।१) है:

श्रौत सूत्रों में जिनका सम्बन्ध श्रुति (वेद) से है; कर्मकाण्ड का विशेष उल्लेख है। इसमें आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणात्य इन तीन अग्नियों के आधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्यादि यज्ञों का वर्णन है। इनमें आश्वलायनीय में यज्ञीय पशुओं में त्याज्य रोगों का निर्देश है। आपस्तम्ब में कृमियों का वर्णन

(१५।१९।५); आश्वलायन-गृह्यसूत्र में सूर्योदय और सूर्यास्त में सोना रोग का कारण कहा गया है (३।७।१।२); यजामान में त्याज्य रोगों का उल्लेख (१।२३।२०) पशु रोगों की निवृत्ति (४।८।४०) है। शाङ्ख्यायन में—शारीरिक पीड़ा के समय वेद मंत्र गाने का निषेध (४।७।३६); सब रोगों की निवृत्ति (५।६।१–२)। गोभिलीय में रोग निवर्त्तक मंत्रों का उल्लेख (४।६।२); आपस्तम्ब में अर्धावभेदक-आधा सीसी में कृमि के कारण, बालक के अपस्मार रोग में कुक्कुर भूत का उल्लेख; बालक में क्षेत्रीय रोग का परिहार[1] (६।१५।४)। पारस्कर में शिर पीड़ा में मर्दन से रोग शान्ति (३।६) हिरण्यकेशी में अग्नि से रोग नाश होना; (१।२।२८); बालक के क्षेत्रीय रोग की शान्ति (२।३।१०)। खादिर गह्यसूत्र में कृमिवर्णन (४।४।३); गायों के रोग की शान्ति के लिए उनको यज्ञीय धूम प्रदेश में चराना (४।३।१३); सर्पदंश की चिकित्सा (४।४।१) आदि विषय न्यूनाधिक रूप से मिलते हैं।[2]

कौशिक सूत्रों में रोग शान्ति में मंत्रों का विनियोग मिलता है। "अथ भैषज्यानि" इससे प्रारम्भ करके रोग प्रतिकार के वर्णन में उन-उन मंत्रों द्वारा जल, औषध आदि को अभिमंत्रित करके पिलाना, हवन, मार्जन आदि बहुत से उपाय लिखे गये हैं। वातिक तक्म रोग में मांस-मेद का पान; कफ रोग में मधुपान; वातपित्तज में तैल पान; धनुर्वाताङ्ग कम्प शरीरभंगादि वात रोगों में घृत का नस्य एवं पान। (तुलना कीजिये अर्दित रोग में—"अर्दिते नावनं मूर्ध्नि, तैलं तर्पणमेव च"; मन्यास्तम्भ में "रूक्ष-स्वेदस्तथा नस्यं मन्यास्तम्भे प्रयोजयेत्"; विश्वाची और अवबाहुक रोग में—"बाहुशीर्षगते नस्यं पानञ्चोत्तरभक्तिकम्"—आयुर्वेदसंग्रह से); रक्तस्राव के अधिक होने पर या स्त्री के अति रजःस्राव होने पर मिट्टी का पान [१. 'मृच्छंख-हेमामलकोदकानाम्'; २. 'पक्वस्य लोष्ठस्य च यः प्रसादः, सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतो रक्तातियोगप्रशमाय देयः।' चरक: चि० अ० ४; ३. 'मधुना छागदुग्धेन कुलालकरकर्दमः। अवश्यं स्थापयेद् गर्भं चलितं पानयोगतः'—आयुर्वेदसंग्रह]।

---

१. क्षेत्रीय रोगों से अभिप्राय उन रोगों से है, जो कि गर्भाशय से बच्चे में आते हैं। गर्भाशय की शुद्धि के लिए क्षेत्रीकरण शब्द आता है। इसकी शुद्धि इसी लिए की जाती है कि बच्चे में ये रोग न आयें। क्षेत्रीय रोगों का उत्तम उदाहरण आजकल का सिफलिस रोग है। पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है। देखिए—'संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद' पुस्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी से प्रकाशित।

२. विस्तार के लिए काश्यप संहिता का उपोद्घात देखें।

हृदय रोग और कामला में रोगी को हल्दी और चावल का भोजन ["निशाचूर्ण कर्षमितं दध्नः पलमितं तथा। प्रातः संसेवनं कुर्यात् कामलानाशनं परम् ॥"— आयुर्वेदसंग्रह। २. 'लिह्याद् हरिद्रां त्रिफलान्वितां वा'—अत्रिपुत्र]; श्वेतकुष्ठ में गोबर से इतना घिसे कि त्वचा लाल हो जाय, फिर भृंगराज, इन्द्रवारुणी, हल्दी और नीली के पुष्पों को पीस कर लेप करना; वातरोग में पिप्पली का सेवन; शस्त्र लगने पर रक्त बहने पर अथवा रोग के कारण शरीर के अन्दर से रक्त आने पर लाक्षा का उपयोग ["उरो मत्वा क्षतं लाक्षां पयसा मधुसंयुताम्। सद्य एव पिबेज्जीर्णे पयसाऽद्यात् सशर्कराम् ॥" —चरक चि० अ० ११।१५]। राजयक्ष्मा, कुष्ठ, शिरोरोग, सम्पूर्ण अंगों में वेदना होने पर मक्खन में मिलाये कुष्ठ के चूर्ण से रोगी के शरीर पर लेप करना; गण्डमाला में शंख को घिसकर लेप करना। (स्वर्जिजकामूलकक्षारः शंखचूर्ण-समन्वितः। प्रलेपो विहितस्तीक्ष्णो हन्ति ग्रन्थ्यर्बुदादिकान् ॥ आयुर्वेदसंग्रह)। जलौका लगाकर रक्त प्रवाहण (तुलना कीजिए—"नृपाढ्यबालस्थविर भीरु दुर्बल नारी-सुकुमाराणामनुग्रहार्थं परमसुकुमारोऽयं शोणितावसेचनोपायोऽभिहतो जलौकसः ॥" सुश्रुत० सू० १३।३)। रक्त न निकलने पर सैन्धव नमक का रगड़ करना। (लवण-तैलप्रगाढैः व्रणमुखमवघर्षयेत्—एवं सम्यक् प्रवर्त्तते ॥ सुश्रुत० सू० अ० १४।३५); व्रण में गोमूत्र से व्रण को मलना; आदि उपाय दिये गये हैं।

प्राचीन काल में शरीर धातुओं की विषमता का कारण राक्षस, भूत, पिशाच, तथा रुद्र आदि देवताओं का प्रकोप; इनको ही रोग का कारण समझा जाता था। इस-लिए इन देवताओं की स्तुति होती थी। इसी प्रकार जिन ओषधियों से या जल से या अन्य वस्तु से रोग रूपी कष्ट से मुक्ति मिलती थी उसको देवता कहा गया है (लोक में आज भी देखते हैं, कि जब निराश रोगी को कोई चिकित्सक अच्छा कर देता है, वह उसको सर्वमान्य देवतारूप में गिनता है, यही बात उस समय भी प्रतीत होती है)।

उपनिषदों में आयुर्वेद

उपनिषद् का अर्थ ही समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त करना है। इसी से कहा गया है—

"परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्य कृतः कृतेन।
तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥'

—मुण्डक. २।१२.

गुरु के पास हाथों में समिधा लेकर पहुँचे। तब गुरु उसको ब्रह्म ज्ञान देता है। यह ज्ञान परा और अपरा नाम से जाना जाता है। अपरा में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद,

अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष हैं।[१] परा में ब्रह्म ज्ञान—जिससे ब्रह्म जाना जाता है। उपनिषदों का मुख्य विषय ब्रह्म ज्ञान है; जैसा कि सनत्कुमार के पास जाकर नारद का ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करना; प्रजापति के पास इन्द्र और विरोचन का जाना; जनक का बहु दक्षिणावाले यज्ञ में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ज्ञानी का पता लगाना आदि से स्पष्ट है।

उपनिषद् और आरण्यक वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग हैं। अतः इनको वेदान्त भी कहते हैं। भारतीय अध्यात्मशास्त्र के देदीप्यमान रत्न उपनिषद् हैं। उपनिषदों की संख्या दो सौ तक हैं; परन्तु इनमें मुख्य उपनिषद् ग्यारह हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। भारत के सभी दर्शनों का उदय और विकास उपनिषदों की परम्परा से हुआ है। उपनिषदों से ही ज्ञान के प्रति उदारता का पता चलता है, जब कि अच्छे-अच्छे ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण अपनी शंका-संदेह को दूर करने के लिए क्षत्रिय राजाओं के पास पहुँचते हैं। यही क्षत्रिय राजा आगे धर्म के प्रवर्त्तक—धर्मोपदेशक, बुद्ध और महावीर के रूप में हमारे सामने आते हैं।

ब्रह्मज्ञान का आधार शरीर है। इसलिए शरीर के धारण करनेवाले अन्न के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर उल्लेख है। यथा—

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति'—तैत्तिरीय ३।

अन्नं न निन्द्यात्—तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्म-वर्चसेन। महान् कीर्त्या।' तैत्तिरीय। ७।

अत्रिपुत्र ने भी अन्न के लिए ये शब्द कहे हैं—"न कुत्सयन्नकुत्सितं........ अन्नमाददीत—सू०अ० ८।२० तथा सू० अ० २७।३४९–३५०।

अन्न का पाचन—शरीर में अन्न के पाचन को गन्ने के रस से गुड़ बनाने की प्रक्रिया द्वारा बताया है। गन्ने का रस पकाते समय तीन कड़ाहों का उपयोग होता है। पहले

---

१. कौटिल्य ने चार विद्याएँ कही हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीति। नैषध में चौदह और अठारह विद्याओं का उल्लेख है—इनमें उपवेद मिलाने से तथा धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा, न्याय मिलाकर अठारह हैं।

अन्तिम कड़ाहे में रस डालते हैं। वहीं पर गरम होता रहता है। गरम होने से बहुत मैल निकल जाती है। इसमें से गरम रस लेकर पहले कड़ाहे में डालते हैं। इसमें बाकी की मैल निकलती है और रस गाढ़ा हो जाता है। साफ और गाढ़ा हो जाने पर इसे बीच के कड़ाहे में लाकर पकाते हैं। जब यह पक जाता है तब इसको मिट्टी के चाक पर फैलाकार गुड़ शक्कर या राब बनाते हैं।[1]

यही तीन प्रकार का स्थूल, सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म पाक अन्न का होता है —

"अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥१॥ आपः पीतस्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥" छान्दो० ५।

'स्थूलः सूक्ष्मस्तन्मलश्च तत्र तत्र त्रिधा रसः।
स्वस्थूलांशः परं सूक्ष्मस्तन्मलो याति तन्मलम् ॥'—आयुर्वेद संग्रहः।

इसी को अत्रिपुत्र ने रस और किट्ट दो भागों में लिखा है। रस के ही स्थूल और सूक्ष्म दो भाग होते हैं। इनसे ही सम्पूर्ण शरीर पुष्ट होता है। (चरक सू० अ० २८।४)।

पामा रोग—छान्दोग्य में रैक्व की कथा आती है। जानश्रुति रैक्व के पास ज्ञान की इच्छा से जाता है, उसने रैक्व को गाड़ी के नीचे पामा रोग से पीड़ित देखा—और अपनी जिज्ञासा प्रकट की। (छान्दो० ४।१।८)।

पामा कुष्ठ का एक भेद है; इसमें श्वेत, लाल, काले रंग की पिडकाएँ होती हैं। इनमें अतिशय खाज रहती है। धूप में पसीना आने से अतिशय खाज होती है, इसलिए छाया में बैठा था। गाड़ी चलाने का उसका धंधा था, परन्तु था तत्त्वज्ञानी, जैसा कि रैक्व कथा से पता चलता है।

घोड़े का शिर लगाना—आथर्वण ऋषि ने मधुविद्या का उपदेश अश्विनौ को दिया है। अश्विनौ ने दधीची ऋषि को दिया। परन्तु इस उपदेश-परम्परा में एक कथा दी गयी है। आथर्वण ने यह मधुविद्या अपने मुख से नहीं दी थी। अश्विनौ ने उसके शिर को काटकर घोड़े का सिर लगाया। उसने जब मधुविद्या का उपदेश अश्विनौ को दिया तब वह सिर गिर पड़ा। उस पर अश्विनौ ने पुनः आथर्वण का सिर जोड़ दिया। आथर्वण को कहा गया था कि इस मधुविद्या का यदि तुम उपदेश

---

१. इसका उल्लेख ऋग्वेद १।११७।२२ मंत्र में भी है।

करोगे तो तुम्हारा सिर गिर जायगा। इसलिए घोड़े का सिर लगाया गया था। (बृहदारण्य० ५।१७)।

यज्ञ का सिर अश्विनौ ने जोड़ा था। इससे रुद्र ने यज्ञ का सिर काट दिया था। इसके लिए देवता अश्विनौ के पास जाकर कहने लगे कि 'आप दोनों हम सब में श्रेष्ठ होंगे, आप यज्ञ का शिर फिर जोड़ दीजिए। उन्होंने कहा 'ऐसा ही सही' उन्होंने शिर जोड़ दिया इसके लिए इन्द्र ने इनको यज्ञभाग प्रदान करके प्रसन्न किया (सुश्रुत० अ० १।२७) 'यज्ञस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम्। एतैश्चान्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषगुत्तमौ ॥ बभूवतुर्भृशं पूज्याविन्द्रादीनां महात्मनाम् ॥' (चरक० चि० अ० १।४।)।

हृदय की क्रिया का वर्णन—'हृदय' में तीन अक्षर हैं; 'हृ' का अर्थ आहरण करना है, यह सारे शरीर का रक्त लेता है; सब शरीर का रक्त हृदय में पहुँचता है। 'द' यह सारे शरीर को रक्त देता है; 'य'—सारे शरीर की क्रियाओं को नियमित करता है। एक सेकण्ड के लिए बन्द नहीं होता; निरन्तर चलता रहता है। हृदय के ये सब कार्य इसके नाम से स्पष्ट हैं।

"एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्म तत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरं हृदयमिति। हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गलोकं य एवं वेद ॥ (बृहदा० ५।३।)

चरक—चरक के विषय में उपनिषद् में उल्लेख होने से यह स्पष्ट हो गया कि 'चरक' बहुतों के लिए आता है। जो लोग विचरण करते रहते हैं, उनको 'चरक' कहते थे। वैशम्पायन के अन्तेवासियों के लिए भी चरक शब्द आया है। शालीन, यायावर ऋषियों की भाँति चरक भी ऋषियों का ही एक भेद है—

'शालाश्रयत्वाच्छालीनत्वम्। वृत्त्या वरमायातीति यायावरत्वम्।
अनुक्रमेण चारणत्वाच्चरत्वम्।'— बौधायनधर्मसूत्र (११वाँ प्रकरण)

शालीन और यायावर ऋषियों का उल्लेख चरक में आता है (चि० अ० १।४।३); जो ऋषि लगातार घूमते रहते थे, वे 'चरक' थे। जैसे, अत्रिपुत्र अग्निवेश के गुरु, जिनको कि कभी हिमालय में, कभी कैलाश में और कभी काम्पिल्य में देखा जाता था। इन चरकों का उल्लेख उपनिषदों में भी आया है।

"अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम।
(बृहदा. ३।३।१)

चरकसंहिता के भिन्न-भिन्न वाद---चरकसंहिता में रोग और पुरुष की उत्पत्ति का निर्णय करने में जितने मत या वाद बताये गये हैं, वे सब उपनिषद् में मिलते हैं। ये सब वाद बुद्ध के समय प्रचलित थे। ये वाद (सम्प्रदाय) लगभग ६२ थे। (जैन-ग्रन्थों में इनकी संख्या ३६३ है)। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :---

आजीविक, जटिलक, मुण्डसावक, परिव्राजक, गोतमक, मागन्धिक, तेदण्डिक। बुद्ध के अतिरिक्त उस काल में अन्य प्रचारक भी थे। पुराण कस्सप; मक्खलिपुत्त-गोशाल; निगण्ठ नाटपुत्त; अजित केशकम्बिलन्; प्रबुद्ध कच्चायन; सञ्चय वेलट्ठ-पुत्त। (भारतवर्ष का इतिहास---त्रिपाठी। पृष्ठ ७६)।

पूरण कस्सप---अक्रियावाद या अकर्म के प्रचारक थे। मक्खलिगोशाल; इनका सिद्धान्त कर्म और कर्मफल दोनों का निराकरण था। इनका मत नियति (भाग्य) वाद था। अजित केशकम्बलि---इनका मत था कि मृत्यु के बाद सब नष्ट हो जाता है। कर्म द्वारा फल की सम्भावना नहीं। इनका मत उच्छेदवाद था। प्रबुद्ध कच्चायन---इनका मत है कि सत का नाश नहीं होता और असत् से कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता। इनके मत में व्यक्ति का कोई उत्तरदायित्व नहीं।

चरकसंहिता में इन्हीं वादों की समीक्षा है--- यथा, चरक. सू० अ० २५ में रोग और पुरुष की चर्चा में। सुश्रुत में इन सब वादों को एक श्लोक में ही कहा गया है---

वैद्यके तु---

'स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा।
परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः॥' (शा. अ. १।११.)

वैद्यक शास्त्र में स्वभाव, ईश्वर, काल, इच्छा, नियति और परिणाम इनको स्थूलरूप में कारण मानते हैं। यही वाद चरकसंहिता में स्पष्ट रूप में भिन्न-भिन्न ऋषियों के मुख से सुनने में आते हैं। इन्हीं सब वादों का समावेश श्वेताश्वतर में किया गया है: ---

"कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥"

(श्वेताश्वतर १।२-३.)

परिषदें---किसी विषय का निर्णय करने के लिए या समझने के लिए मिलकर

विचार होता था; इसी से अत्रिपुत्र ने कहा है कि "वैद्यसमूहो निःसंशयकराणाम्"—(चरक० सू० अ० २५।४०)। इस प्रकार की गोष्ठी या परिषद् का उल्लेख चरक में कई स्थानों पर आता है; (यथा—चरक सू० अ० १२; अ० २५; अ० २६)।

इन परिषदों या सम्मिलित कथाओं में विषय की विवेचना परस्पर होती थी। ये परिषदें अपनी शाखा या चरण की रक्षक होती थीं। परिषद् के बिना कोई परिवर्त्तन नहीं हो सकता था। काश्यप संहिता में '**इतिपरिषद्**' कहकर इस बात को कहा है।

यह परम्परा उपनिषदों की है—उपनिषदों में राजा जनक का ब्रह्म ज्ञान का निश्चय करने के लिए सभा संगठित करना और पञ्चालों की परिषद् का उल्लेख आता है। (बृहदा० ६।२।१, छान्दो० ३।१)।

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जन; शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते है ते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसां चक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति'—छान्दोग्य० (अ० ५। ११। १)

इसकी तुलना के लिए देखिए—चरक, सू० अ० २६।३–७

ज्ञानप्राप्ति के उपायों में अध्ययन, अध्यापन और तद्विद्यसम्भाषा ये तीन उपाय चरक में कहे गये हैं (वि. अ. ८।६)। महाभाष्य में आगम काल, स्वाध्यायकाल, प्रवचन काल और व्यवहार काल ये चार प्रकार विद्या ग्रहण के बताये गये हैं।

आगन्तुक उन्माद—चरक में देवता आदि के प्रकोप से उत्पन्न उन्माद को आगन्तुक उन्माद कहा गया है। इनमें देवता लोग देखने से उन्माद उत्पन्न करते हैं; गुरु, वृद्ध, सिद्ध, महर्षि, शाप देकर; पितर अपने को दिखाकर और गन्धर्व स्पर्श करके उन्माद करते हैं। (चरक. नि. अ. ७।१२)।

उपनिषद् में गन्धर्व से गृहीत स्त्री का उल्लेख है। बृहदारण्यक (३।७।१); इससे स्पष्ट है कि उस समय भूतविद्या का अस्तित्व था।

भूतविद्या से अभिप्राय—भूतविद्या का उल्लेख नारद ने भी किया है—"देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।" (छान्दोग्य. ७।१।२)

"भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्।' (सुश्रुत. सू. अ. १।८।४)

देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग, ग्रह आदि के आवेश से दूषित मनवालों के लिए शान्तिकर्म, बलिहरण आदि ग्रहों की शान्ति के लिए किये जानेवाले कर्म 'भूतविद्या' नाम से कहे जाते हैं।

इनके अतिरिक्त हृदय की नाड़ियों का उल्लेख (अथवा एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिंगलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य, नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा . . . .।' छान्दोग्य. अ.८।६।१); अंगों के वर्णन (नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि। अवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता . . . . .' बृहदारण्य. अ. १।१।१); का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। उसी के लिए आवश्यक चर्चा आयुर्वेद के वाक्यों की की गयी है।

उपनिषदों में जहाँ भी विद्याओं का उल्लेख स्पष्ट आता है, वहाँ आयुर्वेद का स्वतंत्र उल्लेख नहीं है।

सम्भवतः वेद के उपांगों में या अथर्ववेद के पढ़ने के साथ ही आयुर्वेद का ज्ञान होने से इसका पृथक् उल्लेख इन विद्याओं में नहीं किया गया है। फिर भी उपनिषदों में आयुर्वेद के विचारों की छाया दीखती है। उस समय की विचार परिपाटी चरकसंहिता के उपदेश के समय तक मिलती है। सुश्रुत में मिलकर विचार करने की पद्धति का उल्लेख नहीं है। न उसमें स्थानचंक्रमण मिलता है। चरक की परिपाटी स्पष्ट रूप से उपनिषदों की छाया है।

दूसरा अध्याय

रामायण और महाभारत काल

रामायण का समय

रामायण और महाभारत के समय के विषय में इतिहास के पण्डितों में तथा अन्य श्रद्धालु विद्वानों में बहुत मतभेद है। श्रद्धालु विद्वान् उपलब्ध वाल्मीकि रामायण और महाभारत को पाँच हजार वर्ष से भी पूर्व का मानते हैं; उनकी दृष्टि से ये त्रेता और द्वापर युग की रचनाएँ हैं। परन्तु इतिहास की दृष्टि से ये ग्रंथ इतने प्राचीन नहीं दीखते। उनकी मान्यता के अनुसार रामायण का समय ईसा से ५०० वर्ष पूर्व माना गया है। क्योंकि रामायण में कोशल प्रदेश की राजधानी 'अयोध्या' का ही उल्लेख है। बुद्ध के समय में इसका साकेत नाम हो गया था; बौद्ध ग्रन्थों में साकेत को ही कोशल की राजधानी कहा गया है। बौद्धकाल के प्रसिद्ध 'पाटलिपुत्र' का भी उल्लेख रामायण में नहीं है, मिथिला का ही उल्लेख है। पाटलिपुत्र को मगध नरेश अजातशत्रु ने ५०० ईस्वी पूर्व बनाया था। अजातशत्रु ने इस नगर को गंगा और शोण के संगम पर बसाया था।

रामायण में वर्णित विशाला और मिथिला दो स्वतंत्र राज्यों का अस्तित्व बौद्ध काल में समाप्त हो गया था। उसके स्थान पर वैशाली गणतंत्र बन गया था। महाभारत में वर्णित विस्तृत मगध राज्य को जिसका राजा जरासन्ध था; रामायण में छोटा राज्य लिखा है। रामायण में भारत का दक्षिण भाग बीहड़ जंगलों से भरा तथा राक्षसों के रहने का स्थान बताया गया है, परन्तु महाभारत में दक्षिण विजय के समय सहदेव को यहाँ के चोल और पाण्डय राजाओं से बहुत धन सम्पदा, सुन्दर वस्त्र, मोती आदि मिलने का उल्लेख है। महाभारत में रामोपाख्यान है, जिससे स्पष्ट है रामायण महाभारत से पूर्व का ग्रन्थ है।

रामायण—संस्कृत का आदि काव्य कहा जाता है। इससे पूर्व वंशानुचरित (जिसका प्राचीन नाम नाराशंसी है और पिछला नाम इतिहास है)[१] का लिपिबद्ध

---

१. अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त में विद्याओं का परिगणन करते हुए कहा गया है—'तमितिहासश्च पुराणं च गाथा च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् इतिहासस्य च वै स

इतिहास नहीं मिलता। रामायण में राजा क्रमागत बताया गया है। रामायण पिछले काव्यों, नाटकों का आदि स्रोत है। कालिदास, अश्वघोष ने इसी से प्रेरणा ली है। इसकी उपमाएँ, इसके वचन, उनकी रचनाओं में मिलते हैं।[१] रामायण काव्यमय ऐतिहासिक रचना है। इस रचना में प्रसंगवश चिकित्सा सम्बन्धी कुछ वचन मिलते हैं; ये वचन मुख्यतः शल्य चिकित्सा से सम्बन्ध रखते हैं। यथा—

मेषवृषण—इन्द्र के नामों में एक नाम मेषवृषण भी है। गौतम ऋषि के शाप से इन्द्र के वृषण निकम्मे हो गये थे। इसलिए उसके लिए अश्विनौ ने मेष के वृषणों को लगाया था। इसी से उसका नाम 'मेष वृषण' हुआ। (वा. रा. बा. ४९।८, १०, १२)

मूढ़ गर्भ में शल्यकर्म—सुश्रुत ने फँसे अंग को काटकर निकालने की सूचना दी है (यद्यदङ्ग हि गर्भस्य तस्य सज्जति तद् भिषक्। सम्यग् विनर्हरेत् छित्वा रक्षेन्नारीं च यत्नतः॥'—चि. अ. १५।१३)। सीता ने भी अपने दुःख का वर्णन करते हुए हनुमान को इसी रूप में सन्देश दिया है—

यदि राम जल्दी नहीं आयेंगे तो अनार्य राक्षस रावण मेरे अंगों को अवश्य तेज शस्त्रों से बहुत जल्दी काट देगा; जिस प्रकार कि शल्य चिकित्सक गर्भस्थ शिशु के अंगों

पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥'—अथर्व. १५।६; ११-१२.

'मनोन्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन पितृणां च मन्मभिः॥'—यजु. ३।५३.

नर का आशंसन करनेवाले गानों से और अपने पूर्व पुरुषों के महत् ज्ञान का चिन्तन करने से हम अपने भीतर मन का निर्माण करते हैं।

१. वाल्मीकि रामायण की उपमा अश्वघोष के काव्य में मिलती है—

'इदं ते चारु संजातं यौवनं ह्यतिवर्तते।
यदतीतं पुनर्नेति स्रोतः शीघ्रमपामिव॥'—वा.रा. सुन्दर. २०।१२.

अश्वघोष ने भी इसी उपमा को कहा है—

'ऋतुर्व्यतीतः परिवर्त्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु संनिवर्त्तते जलं नदीनां च नृणां च यौवनम्॥'
—सौन्दरानन्द. ९।२८.

'अश्वघोष की काव्यशैली सिद्ध करती है कि वह कालिदास से कई शताब्दी पूर्व के थे। भास उनका अनुकरण करते हैं और उनका शब्द-भंडार यह सिद्ध करता है कि वह कौटिल्य के निकटवर्त्ती हैं।'—बौद्धधर्म दर्शन, पृष्ठ १३७।

अत्रिपुत्र ने यक्ष्मा रोग चिकित्सा में कहा है—'प्रसन्नां वारुणीं सीधुमरिष्टानासवान्मधु। यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयन्॥' (च. चि. अ. ८।१६५)। संग्रह का यह वर्णन गुप्त काल का है।

ओषधि पर्वत—रामायण के युद्ध काण्ड में ओषधि पर्वतानयन अध्याय है, जिसमें हनुमान् ओषधिपर्वत को लंका में लाये थे। ओषधिपर्वत की पहचान बताते हुए हिमालय के पास काञ्चन पर्वत (स्वर्ण पर्वत) और कैलास के शिखर का वर्णन किया गया है। इनके बीच में सब ओषधियों से युक्त पर्वत हैं।

ये ओषधियाँ मृतसंजीवनी, विशल्यकरणी, सावर्ण्यकरणी तथा संधानकरणी हैं[1]। इन सबको लेकर हनुमान जल्दी ही आ गये थे। इन ओषधियों के आने से सब मृत वानर शल्यरहित, पीड़ारहित हो गये। इन ओषधियों की गन्ध सूँघते ही सब मृत वानर ऐसे उठे मानो नींद से उठे हों[2]।

मृत और जीवित की परीक्षा—शक्ति लगने पर लक्ष्मण जब मूर्च्छित हो गये तब राम ने उनको मृत समझा। उस समय सुषेण वैद्य ने उनके जीवित होने के निम्न-लिखित चिह्न बताये; यथा—

इसका मुख नहीं बदला, न काला पड़ा और न कान्ति रहित हुआ; वह अच्छी प्रभा-युक्त है, प्रसन्न है, हथेलियाँ लाल कमल के समान हैं, आँखें निर्मल हैं; मृत व्यक्तियों का ऐसा रूप नहीं होता। हे राम! आपका भाई दीर्घायु है; लम्बी आयुवालों का ही ऐसा मुख होता है। (वा. रा. युद्ध १०२।१५-१७) मरणशील व्यक्ति के लक्षण इसके विपरीत होते हैं; यथा—'वैवर्ण्यं भजते कायः कायच्छिद्रं विशुष्यति। धूमः संजायते मूर्ध्नि दारुणाख्यश्च चूर्णकः॥' (चरक. इन्द्रिय. अ. १२)

लक्ष्मण को जीवित करने के लिए ओषधिपर्वत से दक्षिण किनारे की ओषधियों को लाने का निर्देश हनुमान् को दिया गया था। हनुमान् ओषधि को न पहचानकर पर्वत के एक भाग को ही ले आये। सुषेण वैद्य ने ओषधि को उखाड़कर वानरों को दिया।

---

१. 'मृतसंजीवनीं चैव विशल्यकरणीमपि।
सावर्ण्यकरणीं चैव सन्धानकरणीं तथा।
ताः सर्वा हनुमन् गृह्य क्षिप्रमागन्तुमर्हसि॥' (वा. रा. युद्ध. ७४।३३)

२. 'तावप्युभौ मानुषराजपुत्रौ तं गन्धमाघ्राय महौषधीनाम्।
बभूवतुस्तत्र तदा विशल्यावुत्तस्थुरन्ये च हरिप्रवीराः॥' (वा. रा. युद्ध. ७४।७३)

वानरों ने इसे कूटा, इसका नस्य सुषेण ने लक्ष्मण को दिया। इसे सूँघकर लक्ष्मण पीड़ा रहित होकर उठ खड़े हुए। (वा.रा. युद्ध. ६।१०२)।

रामायण में आयुर्वेद सम्बन्धी उद्धरण यत्र-तत्र थोड़े ही हैं। यह एक संस्कृत काव्यमय रचना है—कथाप्रसंग में जो भी उल्लेख मिलता है, उससे तत्कालीन चिकित्सा-ज्ञान की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। शल्य चिकित्सा, औषध चिकित्सा उस समय पर्याप्त उन्नति पर थी इसमें सन्देह नहीं।

वैद्यशब्द—वैद्य शब्द रामायण में सम्भवतः सबसे पहले आता है, वेद में 'भिषक्' शब्द है—'प्रधानं साधकं वैद्यं धर्मशीलं च राक्षस। ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते शूरं परिभवन्ति च ॥' (वा. रा. युद्ध. १६।४)।

महाभारत में आयुर्वेद साहित्य

महाभारत (भारत सावित्री) के विषय में डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने जो लिखा है, वह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है—

'महाभारत इस देश की राष्ट्रीय ज्ञान संहिता है। सदा उत्थानशील कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने विशाला बदरी के एकान्त आश्रम में बैठकर भारतीय ज्ञानसमुद्र का अपनी विशाल बुद्धि से मन्थन किया; जिससे महाभारतरूपी चन्द्रमा का जन्म हुआ। जिस प्रकार समुद्र और हिमालय रत्नों की खान हैं, उसी प्रकार यह महाभारत है। जो इसमें है, वही अन्यत्र मिलेगा, जो यहाँ नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं।' चरक संहिता के अन्तिम श्लोकों में भी यही वचन है—'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।' (सि. अ. १२।५४) यह बात सम्भवतः कायचिकित्सा के सम्बन्ध में ही है।

महाभारत के पहले पर्व में उसके इतिहास और पुराण दोनों नाम दिये गये हैं—('द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा'—आदि. १।१५; 'भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थसंयुताम्'—आदि. १।१७।१९)। ऐतिहासिक और सृष्टि सम्बन्धी अनुश्रुतियों पर विचार करनेवाले और उनकी रक्षा करनेवाले विद्वानों को और मेधावी ऋषियों को पुराणवित् कहा गया है (अथर्व. ११।८।७)। अतीत काल को जाननेवाले पुराणवित् होते थे, क्योंकि विश्व के सब पदार्थों का अन्तर्भाव नाम और रूप में होता है, रूप नष्ट हो जाता है, नाम ही शेष रह जाता है। इन्हीं पुराणविदों को आजकल के शब्दों में ऐतिहासिक कह सकते हैं। पुराणकाल के वृत्तान्तों का पारायण करनेवाले विद्वानों की कल्पना उत्तर वैदिक काल में हो चुकी थी (अथर्व. १५।६, ११-१२)। इस प्रकार इतिहास-पुराण की परम्परा या प्राचीन जनश्रुतियों का अति विशिष्ट संकलन और

अध्ययन वैदिक संहिताओं का व्यास करनेवाले एवं लोकविधान के तत्त्वज्ञ महामुनि कृष्ण द्वैपायन ने किया।

भारत और महाभारत ये दोनों नाम पहले कुछ समय तक पृथक् थे। जैसा कि पाणिनि के सूत्र (६।२।३८) से पता चलता है। कुछ समय पीछे, सम्भवतः शुंगकाल में भारत ग्रन्थ अपने ही बृहत्तर रूप महाभारत में अन्तर्लीन हो गया। व्यास का मूल ग्रन्थ भारत २४,००० श्लोकों का था और उसमें उपाख्यान नहीं थे (आदि. १।६३१)। पीछे से पुराणों के, वेदों के उपाख्यान इसमें जोड़ दिये गये, जिससे कथा में रस आ गया और गूढ़ विषय सर्वसाधारण के लिए बुद्धिगम्य हो गया।

महाभारत का समय--वैदिक साहित्य---ब्राह्मण, उपनिषदों में महाभारत का नाम नहीं; इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी नाम मिलते हैं। महाभारत में ये विषय कुछ परिवर्त्तित रूप में अवश्य मिलते हैं। कुरुक्षेत्र की मुख्य घटना का उल्लेख किसी वैदिक साहित्य में नहीं है। परीक्षित-पुत्र जनमेजय तथा शकुन्तला-पुत्र भरत का वर्णन ब्राह्मणों में मिलता है। यजुर्वेद के ग्रन्थों में यत्र-तत्र कुरु-पंचाल तथा विचित्रवीर्य के पुत्र युधिष्ठिर के यज्ञों का वर्णन मिलता है। परन्तु समस्त वैदिक साहित्य में पाण्डु, दुःशासन, युधिष्ठिर, दुर्योधन, कर्ण आदि महाभारत के प्रमुख पात्रों का नाम नहीं मिलता (एक ब्राह्मण ग्रन्थ में 'अर्जुन' नाम आया है, वह वहाँ इन्द्र के लिए है)। कौरव और पाण्डवों के युद्ध का निदश सबसे प्रथम पतञ्जलि ने किया है। युधिष्ठिर, अर्जुन का नाम पाणिनि के सूत्रों में आता है।

त्रिपिटकों में भी महाभारत का उल्लेख नहीं है। जातक कथाओं में कृष्ण की कथा को भुलाने का प्रयास दीख पड़ता है; फिर भी हरिवंश और महाभारत के मौसल पर्व की कहानियों का संकेत मिलता है। जातकों में धनंजय, युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, विदुर आदि नाम मिलते हैं, द्रौपदी, धनंजय तथा विदुर के वर्णन आये हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि महाभारत की रचना वैदिक काल के पीछे और बौद्ध साहित्य से पूर्व हुई है। इसलिए ईसा से ४०० वर्ष पूर्व इसका अस्तित्व था। इसी से सूत्र ग्रन्थों; सांख्यायन तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र में इसके उद्धरण मिलते हैं। जो पाली साहित्य इस समय से पूर्व रचा गया था उसका परिचय महाभारत से नहीं था। महाभारत की बहुत-सी उपदेशात्मक कथाएँ वैदिक साहित्य से ली गयी हैं। महाभारत की बहुत-सी कथाएँ जैन और बौद्ध साहित्य में हैं। पाणिनि को महाभारत का ज्ञान था। पाणिनि का समय ४०९ ईसा पूर्व है, अतः इससे पहले महाभारत बन गया था।

महाभारत का पहला नाम 'जय' था---'इसमें पुराणसंश्रित कथाएँ, धर्मसंश्रित

कथाएँ, राजर्षियों के चरित-जैसे मुख्य विषयों का ताना-बाना कुरु-पाण्डवों के 'जय' नामक इतिहास के चारों ओर बुन दिया गया है। ययाति और परशुराम के बड़े-बड़े उपाख्यान, जिन्हें व्याकरण में 'यायात' और 'आधिराम' कहा गया है; जो किसी समय लोक में स्वतंत्र रूप से प्रचलित थे, और फिर महाभारत में संगृहीत होते गये। (भारत सावित्री) इस प्रकार से इसका आकार बढ़ गया, जो गुप्तकालीन शिलालेखों में 'शतसाहस्री' नाम से लिखा गया है। महाभारत में भी यह उल्लेख है—

'इदं शतसहस्रं तु श्लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम् ॥'

महाभारत में अश्विनौ का उल्लेख चिकित्सा के सम्बन्ध में आता है—'तमुपाध्यायः प्रत्युवाच, अश्विनौ स्तुहि। तौ देवभिषजौ त्वां चक्षुष्मन्तं कर्त्ताराविति। स एवमुक्त उपाध्यायेनोपमन्युरश्विनौ स्तोतुमुपचक्रमे वाग्भिः ऋग्भिः ॥'—आदि. ३।५६।

आयुर्वेद के आठ अंग—आयुर्वेद आठ अंगों में विभक्त है। ये आठ अंग शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, कौमारभृत्य, भूतविद्या, रसायन, वाजीकरण और विष-गर-वैरोधिक प्रशमन हैं। महाभारत के सभापर्व में (लोकपाल सभाख्यान पर्व में) नारद युधिष्ठिर को प्रश्न के रूप में शिक्षा देते हुए कहते हैं—

'हे युधिष्ठिर! क्या तुम शरीर के रोगों की चिकित्सा औषध सेवन और पथ्य से करते हो? मानसिक रोगों को वृद्धों के सेवन से तथा उनके सत्संग से दूर करते हो? (तुलना कीजिए—'मानसं प्रति भैषेज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्। तद्विद्यसेवा विज्ञान-मात्मादीनां च सर्वशः।'—चरक. सू. अ. ११।४५) क्या तुम्हारे वैद्य चिकित्सा के आठों अंगों में निपुण हैं? तुम्हारे शरीर के सम्बन्ध में क्या मित्र लोग अनुरक्त हैं? वे तुम्हारे स्वास्थ्य का ध्यान रखते हैं?' (सभा. १५।९०-९१)

स्थावर विष को जंगम विष नष्ट करता है—विष के दो भेद हैं; स्थावर और जंगम। इनमें जंगम विष अधोभाग म जाता है और स्थावर विष ऊर्ध्वगामी होता है। इसलिए जंगम विष को (साँप आदि के विष को) स्थावर विष (अहिफेन, संखिया आदि) नष्ट करता है। भगवान् शिव की कल्पना में इसी बात को ध्यान में रखा गया है। समुद्र मन्थन से उत्पन्न हलाहल विष को उन्होंने पिया। उनके गले पर साँप लिपटे हुए हैं; जिनके विष के प्रभाव से वह नीचे नहीं जा सकता। उसका प्रभाव सिर पर हुआ। उसकी गरमी को कम करने के लिए गंगा की शीतल धारा गिरने की कल्पना की गयी और विष के प्रभाव की कालिमा को दूर करने के लिए माथे पर चन्द्रमा को स्थापित किया गया; जिसकी द्युति से ५८ कालिमा छिप गयी।

दुर्योधन ने भीम को जब विष दे दिया और उसके मूर्च्छित होने पर उसे नदी में गिरा दिया, तब वहाँ साँपों ने उसे काटा। साँपों के दंश से उसका विष नष्ट हो गया था।

पापी दुर्योधन ने भीन के खाने की वस्तुओं में विष मिला दिया : जिससे भीम मर जाय। विष के वेग से मूर्च्छित, निश्चेष्ट हुए भीम को लतापाशों से दुर्योधन न स्वयं बाँधकर स्थल से जल में धकेल दिया। वहाँ पर साँपों के काटने से कालकूट विष नष्ट हो गया, क्योंकि स्थावर विष को जंगम विष नष्ट करता है। विष के उतरने पर भीम जाग उठा और उसने अपने सब बन्धन तोड़कर साँपों को मारना प्रारम्भ किया। (आदि. १२७।५३-५९)

लोक में यह प्रचार है कि अफीम खानेवाले को साँप का विष नहीं चढ़ता। सम्भवतः इसका यही आधार हो कि स्थावर विष पर जंगम विष का प्रभाव नहीं होता।

विष पर मंत्र का प्रभाव—विष प्रतिकार के उपायों में मंत्रशक्ति का महत्त्व आयुर्वेद में वर्णित है—

'देवर्षि और ब्रह्मर्षियों से कहे, तप-सत्यमय मंत्र कभी व्यर्थ नहीं होते। ये अति भयंकर विष को भी नष्ट कर देते हैं। सत्य-ब्रह्म-तपवाले तेजस्वी मंत्रों से जिस प्रकार विष नष्ट होता है; वैसा औषधों से नहीं होता।'[1] (सुश्रुत. कल्प. अ. ५।९-१०)

महाभारत में मंत्रों का प्रभाव काश्यप द्वारा तक्षक साँप से काटे हुए वृक्ष को पुनः जीवित करने से स्पष्ट होता है—

'सातवाँ दिन आने पर ब्रह्मर्षि काश्यप राजा परीक्षित के पास जाने लगे। रास्ते में तक्षक ने काश्यप को देखा और पूछा कि हे ब्रह्मन् ! कहाँ इतनी तेजी से जा रहे हो। काश्यप ने कहा कि कुरुओं के राजा परीक्षित के पास जा रहा हूँ; आज उसको तक्षक साँप काटेगा और मैं उसको जीवित करूँगा। तक्षक ने कहा कि मैं ही तक्षक हूँ—मेरे काटे हुए को तुम जीवित नहीं कर सकते। मैं इस वृक्ष को काटता हूँ, तुम इसे जीवित कर दोगे ? यह कहकर तक्षक ने वृक्ष को काटा। काश्यप ने उस वृक्ष की सारी राख को एकत्र करके पुनः उसे जीवित कर दिया[2]।'

---

१. योगदर्शन में भी मंत्र और ओषधि से सिद्धि प्राप्त करने का उल्लेख है—'जन्मौषधिमंत्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥'—(४।१)

२. 'यद् वृक्षं जीवयामास काश्यपस्तक्षकेण वै।
नूनं मंत्रैर्हतविषो न प्रणश्येत काश्यपात् ॥'—(आदि. ५०।३४)

परीक्षित ने साँप से बचने के लिए जो साधन एकत्र किये थे—उनमें मंत्र सिद्ध ब्राह्मण; ओषधियाँ और वैद्य भी थे ('रक्षां च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च। ब्राह्मणान् मंत्रसिद्धांश्च सर्वतो वै न्ययोजयत्॥' आदि. ४२।३०)।

राजयक्ष्मा रोग—अत्रिपुत्र ने यक्ष्मा रोग का कारण अधिक स्त्री-सेवन से होनेवाला शुक्रनाश बताया है। इसे समझाने के लिए राजा चन्द्रमा और प्रजापति की अट्ठाईस कन्याओं के विवाह का एक दृष्टान्त उन्होंने दिया है। सत्यवती-पुत्र विचित्रवीर्य भी अधिक स्त्री-सेवन से यक्ष्मा रोग से आक्रान्त हुए थे। भिषकों से चिकित्सा कराने पर भी यह रोग नष्ट नहीं हुआ और अन्त में उनकी मृत्यु का कारण बना। यथा—

'ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः।
विचित्रवीर्यस्तरुणोयक्ष्मणा समगृह्यत॥
सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः।
जगामास्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम्॥'—

(म. भा. १। १०२।८०-७१)

चैत्ररथ वन—चैत्ररथ वन की प्रसिद्धि संस्कृत साहित्य में बहुत पुरानी है। कादम्बरी में महाश्वेता वर्णन-प्रसंग में चित्ररथ गन्धर्व द्वारा इसके बनाने का उल्लेख है ('तेनैव चेदं चैत्ररथं नामातिमनोहरं काननं निर्मितम्'—कादम्बरी।) गीता के विभूतिपाद में भगवान् ने गन्धर्वों में अपने को चित्ररथ बताया है ('गन्धर्वाणां चित्ररथः')। घोषयात्रा प्रसंग में द्वैतवन के अन्दर दुर्योधन-कर्ण आदि का चित्ररथ गन्धर्व के साथ युद्ध होना प्रसिद्ध है।

कालिदास ने मेघदूत में चैत्ररथ को वैभ्राज नाम से कहा है ('वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्या सहायाः'—उत्तर मेघ)। महाभारत में भी वैभ्राज शब्द आता है (आदि. ८५।९)। रघुवंश में भी कालिदास ने चैत्ररथ वन का उल्लेख किया है।

इसी चैत्ररथ वन का उल्लेख चरकसंहिता में अत्रिपुत्र ने किया है—जहाँ पर ऋषियों के साथ बैठकर रस-विनिश्चय किया गया था—(चरक. सू. अ. २६।६)।

यह चैत्ररथ देवताओं और ऋषियों के रहने का स्थान था। इसका उल्लेख आयुर्वेद में भी आया है। आधुनिक चित्राल ही चैत्ररथ बन है; ऐसा भी कई विद्वान् मानते हैं।

युद्ध में वैद्य—वाहट ने संग्रह में और धन्वन्तरि ने सुश्रुत संहिता में राजा के समीप वैद्य को रहने का उल्लेख किया है। वैद्य को सदा राजा के खान-पान तथा अन्य वस्तुओं की देखरेख करनी चाहिए। राजा को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए,

क्योंकि श्रेष्ठ हाथी भी विना अंकुश के पूजनीय नहीं होता ('न हि भद्रोऽपि गजपति-निरङ्कुशः श्लाघनीयो जनस्य'—संग्रह. ८।५)।

वैद्य का स्थान सेना-पड़ाव में राजा के समीप होता था। उसके डेरे पर एक ध्वजा (विशेष चिह्न, रेडक्रास) लगी रहती थी, जो दूर से दीखती थी, जिससे लोग तुरन्त उसके पास पहुँच सकें। वहाँ उसके पास सब उपकरण—साजसज्जा रहती थी। यह वैद्य सब अंगों में निपुण होता था; कुलीन, आस्तिक, उत्तम परिजनोंवाला, आलस्यरहित, क्रोधरहित, चतुर, समझदार होता था।[1] कौटिल्य ने भी स्कन्धावार में चिकित्सकों को रखने के लिए कहा है। (कौटिल्य अर्थ. १०।६२)

युधिष्ठिर ने अपनी सेना में सैकड़ों शिल्पी तथा शास्त्रविशारद वैद्य वेतन देकर रखे थे; वे सब उपकरणों से युक्त थे, (उद्योग[२]। ५२।१२)

भीष्म की चिकित्सा के लिए शल्य चिकित्सक—भीष्म जब शरशय्या पर गिर पड़े उस समय उनकी चिकित्सा के लिए दुर्योधन शल्य निकालने में निपुण, सब साधनों से युक्त वैद्यों को लेकर पहुँचा। ये सब वैद्य कुशल और सुशिक्षित थे। इनको देखकर भीष्म ने दुर्योधन से कहा कि 'इनको अब धन देकर वापस कर दो। इस अवस्था में पहुँच जाने पर अब वैद्यों की क्या जरूरत?' यह सुनकर दुर्योधन ने धन देकर वैद्यों को वापस कर दिया। (भीष्म. १२०।५५-५९)

महाभारत में आयुर्वेद के वचन रामायण की भाँति यत्र-तत्र ही मिलते हैं। युद्ध की तैयारी में अन्य वस्तुओं के साथ वैद्यों की भी जरूरत होती थी, क्योंकि शत्रु लोग यवस, आसन, भूमि, जल, वायु आदि को विषमय कर देते हैं; उनका चिकित्सा-प्रतीकार करने के लिए वैद्य का साथ में रहना आवश्यक है (सु. क. अ. ३।६)। इसलिए युधिष्ठिर ने वैद्यों को साथ में रखा था। रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति के पृष्ठवंश हैं।

---

१. 'स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम्।
भवेत्सन्निहितो वैद्यः सर्वोपकरणान्वितः॥
तत्रस्थमेनं ध्वजवद्यशःख्यातिसमुच्छ्रितम्।
उपसर्पन्त्यमोहेन विषशल्यमथार्दिताः॥'—(सुश्रुत. २४।१२-१३)

२. तस्माद् भिषजो राजा राजगृहासन्ने निवेशनं कारयेत्।
तथाहि सर्वोपकरणेषु नृपतिशरीरोपयोगिस्वपरोक्षवृत्तिर्भवति।'
—(संग्रह. ८।७)

संजीवनी विद्या—महाभारत के आदिपर्व में (अ. ७०) ययाति के चरित्र वर्णन में एक सरस लघु कथा बृहस्पति पुत्र कच और शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी की है। एक बार ऐश्वर्य के लिए देवता और असुरों में युद्ध हुआ। देवासुर संग्राम में विजय पाने की इच्छा से देवताओं ने बृहस्पति को अपना पुरोहित बनाया और असुरों ने शुक्राचार्य को। दोनों पुरोहितों में लाग-डाट थी। देवता जिन दानवों को युद्ध में मारते उशना अपनी संजीवनी विद्या के बल से उन्हें पुनः जीवित कर देते थे। बृहस्पति के पास संजीवनी विद्या नहीं थी। इसी से देवताओं ने बृहस्पति के पुत्र कच को शत्रु शुक्राचार्य के पास संजीवनी विद्या सीखने के लिए भेजा।

कच ने देवताओं की यह बात स्वीकार की और शुक्राचार्य के पास जाकर ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके पाँच वर्ष वहाँ रहकर संजीवनी विद्या सीखी। जब दानवों को इस भेद का पता लग गया तो उन्होंने उसे मार दिया। परन्तु शुक्राचार्य ने अपनी पुत्री देवयानी के कहने से उसे पुनः जीवित कर दिया। इसी प्रकार दो बार हुआ। शुक्राचार्य कच की भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे संजीवनी विद्या का वरदान दिया।

कच विद्या सीखकर जब गुरु घर से लौटने लगा तब देवयानी ने कच से विवाह का प्रस्ताव किया, परन्तु कच ने गुरुकन्या होने से पूजनीय मानकर उसके प्रस्ताव को न माना। इससे रुष्ट होकर उसने कहा कि तुम्हारी यह विद्या फलवती नहीं होगी। इस पर कच ने उससे शान्त भाव से कहा कि 'तुम्हारा यह वचन काम के कारण है, धर्म से नहीं; इसलिए मैं जिसको यह विद्या सिखा दूँगा उसको फलवती होगी—

'फलिष्यति न ते विद्या यत् त्वं मामात्थ तत् तथा।'
'अध्यापयिष्यामि तु यं तस्य विद्या फलिष्यति॥'–(महा. १।७७।२०)

संजीवनी विद्या से यह ज्ञात होता है कि वह मृत व्यक्ति को फिर से जीवित करने का ज्ञान था; इसका क्या रूप था, यह अज्ञात है।

शारीरिक और मानसिक दो प्रकार के रोग (शान्ति पर्व. अ. १६।८-९) तथा शीत, उष्ण और वायु ये तीन शारीरिक रोगों के कारण तथा सत्त्व, रज तम, ये तीन मन के गुण कहे हैं (शा. अ. १६।११-१३)।

कुष्ठ रोग—शान्तनु के बड़े भाई देवापि को कोढ़ी होने से राजगद्दी नहीं मिली थी ('न राज्यमर्हामि त्वग्दोषोपहतेन्द्रियः'—बृहद्देवता ८।१५६)। उनका कुष्ठ रोग असाध्य रहा होगा—जिस प्रकार कि विचित्रवीर्य का यक्ष्मा रोग ठीक नहीं हुआ था।

पाणिनीय व्याकरण में आयुर्वेद साहित्य[1]

पाणिनीय व्याकरण अपने समय के इतिहास पर कुछ प्रकाश डालता है। व्याकरण में लोक के अन्दर प्रचलित शब्दों का उल्लेख है। इन शब्दों में कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनसे आयुर्वेद साहित्य का परिचय मिलता है; जैसे, रोगों के नाम। ये शब्द यद्यपि कम हैं, फिर भी उस समय की झलक देने के लिए पर्याप्त हैं।

पाणिनि का समय—गोल्डस्टूकर ने इस आधार पर कि पाणिनि केवल तीन वैदिक संहिताओं और निघण्टु (यास्क के निरुक्त) से परिचित थे, उनका काल ७वीं सदी ईसा पूर्व माना था। श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का भी यही मत था; कारण कि पाणिनि के ग्रन्थ में दक्षिण भारत का अधिक परिचय नहीं पाया जाता। (चरक संहिता में भी दक्षिण भारत का परिचय नहीं मिलता। सुश्रुत संहिता में दक्षिण का परिचय स्पष्ट आता है—'श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा।' चि. अ. २९।२७।) मैकडानल के मतानुसार पाणिनि का काल ३५० ई० पूर्व के लगभग माना जाता है परन्तु इनके प्रमाण बहुत सन्दिग्ध हैं। शायद यह कहना अधिक निरापद है कि ५०० ई० पू० के लगभग या बाद पाणिनी हुए थे। ('वैदिक सम्यता'—पृष्ठ १२१; पाणिनि कालीन भारत वर्ष, अ. ८)।

चरक संहिता में आये जनपद, चरक आदि शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ पाणिनि-व्याकरण से ज्ञात होता है। चरक संहिता में एक अध्याय 'जनपदोद्ध्वंसनीय' (वि.अ. ३) नाम का है। इससे स्पष्ट है कि उस समय भारत में बहुत से जनपद थे। यह स्थिति महाभारत काल के पीछे तथा बुद्ध से पूर्व की है। सूत्रकाल का जनपद शब्द भारतीय भूगोल में बहुत महत्त्व का है।

जनपद—सूत्र काल में भारत बहुत से जनपदों में विभक्त था; इनकी विस्तृत सूचियाँ भुवनकोश के नाम से लिपिबद्ध कर ली गयी थीं—जो महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में सुरक्षित हैं (भीष्मपर्व ९; मार्कण्डेयपुराण अ. ५७)। पाणिनि के समय जनपदों का ताँता सारे देश में फैला हुआ था। काशिकाकार ने ग्रामों के समुदाय को जनपद कहा है। ग्राम शब्द नगर का भी द्योतक है। जनपदों की सीमा नदी पर्वत आदि थे। दो पड़ोसी जनपदों के नाम जोड़े के रूप में भी प्रसिद्ध थे। जैसे सिन्धु-सौवीर; कुरु-पंचाल; मद्र-केकय आदि (चरक संहिता में पंचाल क्षेत्र का उल्लेख

---

१. डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' के आधार पर।

है—(वि. अ. ३)]। पाणिनि के व्याकरण में जो जनपद आये हैं, उनमें पंचाल का नाम नहीं है ; वे नाम मगध, काशी, कोशल, वृजि, कुरु, अश्मक, अवन्ति, गन्धार और कम्बोज हैं। बुद्ध के समय जनपदों की संख्या सोलह थी, यथा—काशी, कोशल, अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अस्सक, अवन्ती, गन्धार और कम्बोज। पंचाल का नाम बुद्ध के पूर्व प्रसिद्ध जनपदों की सूची में है। सम्भवतः पंचाल प्रदेश का उस समय तक पृथक् महत्त्व समाप्त हो गया होगा अथवा कुरु के अन्दर ही समाविष्ट हो गया होगा। पंचाल का एक नाम प्रत्यग्रथ है (पाणिनि अष्टाध्यायी ४।१।१७३)। महाभारत में यह नाम नहीं मिलता। पाणिनीय में पंचाल नाम भी नहीं मिलता। मध्यकालीन कोशों के अनुसार पंचाल का ही दूसरा नाम प्रत्यग्रथ था, जिसकी राजधानी अहिच्छत्रा थी। चरक संहिता में काम्पिल्य राजधानी बतायी गयी है—'पञ्चालक्षेत्रद्विजातिवराध्युषित–काम्पिल्यराजधान्याम्–' वि. अ. ३०।३।३; जिसकी पहचान आजकल फर्रुखाबाद से होती है। पंचाल का नाम कुरु के साथ जोड़े के रूप में ही प्रायः आता है। जोड़े के रूप में उन्हीं देशों के नाम आते हैं जिनकी भाषा और रीति-रिवाज मिलते हों। इसलिए पंचाल जनपद कुरु जनपद का पड़ोसी था।

जनपद के आधार पर शिल्पशिक्षा—पेशेवर लोगों की शिक्षा को जानपदी शिक्षा कहा गया है और शास्त्रीय शिक्षा को भूयसी विद्या नाम दिया गया है ('जानपदीषु विद्यातः पुरुषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति'–यास्क)।

चरक—शिष्य तीन प्रकार के होते थे—माणव, अन्तेवासी और चरक। पाणिनि ने माणव और चरक इन दोनों का एक साथ उल्लेख किया है ('माणवचरकाभ्यां खञ्'–५।१।११)। वैशम्पायन का नाम भी चरक था। सम्भवतः एक से दूसरे स्थान पर जाकर ज्ञान प्राप्त करने या ज्ञान प्रचार करने के लिए उनकी यह संज्ञा थी। माणव के लिए दण्डमाणव शब्द भी आता है (अष्टा. ४।३।१३०)। जब तक उपनयन नहीं होता था; शिष्य दण्ड धारण करके गुरु के पास रहता, तब तक वह माणवक था। उपनयन होने के बाद गुरु के पास रहने से अन्तेवासी छात्र होता था। अनेक चरणों में घूम-घूमकर ज्ञान प्राप्त करनेवाला छात्र चरक कहलाता था[1]। ऐसे विद्यार्थी अल्पकाल के लिए ही गुरु के समीप रहते थे। वैशम्पायन का नाम भी चरक था; जिसके कारण

---

१. 'तक्कसिलं गत्वा उग्गाहित सिप्पाततो निक्खमित्वा सब्ब समय सिप्पज् च देस चारित्रग च जानिस्सामाति अनुपुब्बेन चारिकं चरन्ता।' (जातक भा. ५ पृष्ठ ३४७)

उसके शिष्य भी चरक कहलाये ('कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च'--४।३।१०४; चरक इति वैशम्पायनस्य आख्या, तत्सम्बन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनः चरका इत्युच्यन्ते--काशिका)। आचार्य कुल में ब्रह्मचर्य की अवधि समाप्त करके उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो विचरते थे उनके लिए 'चरक' यह अन्वर्थ संज्ञा थी। जातकों में तक्षशिला विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए 'चारिकं चरन्ता' कहा गया है (सोनक जातक ५।२।४२७)। बृहदारण्यक उपनिषद् में भुज्यु लाटचायनिने याज्ञवल्क्य से कहा कि मद्रदेश में वह अपने साथियों के साथ चरक बनकर बिचर रहा था ('मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजामः'–३।३।१)। श्युआन चुआङ ने भी पाणिनि के लिए लिखा है कि उन्होंने सम्पूर्ण शब्द सामग्री लम्बी यात्रा तथा विद्वानों से मिलकर प्राप्त की, यही उनका चरक रूप था।

रोग नाम---रोग और औषधियों से सम्बन्धित कुछ शब्द अष्टाध्यायी में आते हैं। रोग के पर्याय गद (६।३।७०) और उपताप (७।३।६१) थे। छूत की बीमारी को स्पर्श रोग (३।३।१६) कहते थे। वैद्य के लिए अगदंकार शब्द बरता जाता था (६।३।७०)। नैषध में भी यह शब्द मिलता है ('द्वौ मंत्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः।' ४।११६)। जड़ी-बूटी 'ओषधि' और तैयार दवाई 'औषध' कहलाती थी ('ओषधेर-जातौ'–५।४।३७)। 'सिध्मादिभ्यश्च' (५।२।९७) से सिध्मल; 'अर्श आदिभ्योऽच्' (५।२।१२७) से अर्शसः; 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शने लचः' (५।२।१००) से पामनः–पामावाला शब्द बनता है।

रोग की चिकित्सा करने के लिए ('रोगाच्चापनयने' ५।४।४९) रोग के नाम के साथ तस् प्रत्यय जोड़कर कृ धातु से शब्द बनाये जाते थे; यथा–प्रवाहिकातः कुरु, कासतः कुरु; छर्दिकातः कुरु। इनका अर्थ यह होता था कि प्रवाहिका की चिकित्सा करो; कास की, छर्दि की चिकित्सा करो।

दूसरे या चौथे दिन आनेवाले ज्वर के लिए द्वितीयक और चतुर्थक शब्द आते हैं ('कालप्रयोजनाद् रोगे'–५।२।८१)। सर्दी देकर चढ़नेवाले ज्वर को 'शीतक' और गर्मी से आनेवाले ज्वर को 'उष्मक'; विषपुष्प से उत्पन्न ज्वर को 'विषपुष्पक' कहते थे (औषधि गन्ध से उत्पन्न ज्वर का उल्लेख सुश्रुत में भी है---'औषधिगन्धविषजौ विषपित्त-प्रसाधनैः।' उत्तर. अ. ३८।२६८)।

रोगवाची शब्द बनाने में विशेष पद्धति पायी गयी है। धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय जोड़कर रोगवाची शब्द एक ही ढंग से बनाये जाते थे; जैसे, प्रच्छर्दिका, प्रवाहिका, विचर्चिका। रोग के नाम से रोगी का नाम रखने की प्रथा चल पड़ी थी (५।२२८); जिसके आधार

पर कुष्ठी, किलासी, वातकी, अतिसारकी ('वातातिसाराभ्यां कुक् च'. ५।२।१२९) कहते थे। रोग से मुक्त किन्तु निर्बलता से पीड़ित व्यक्ति के लिए 'ग्लास्नु' शब्द आता है—(३।२।१३९); चरक में भी यह शब्द आता है—'भूयिष्ठं ग्लास्नाव'—चि. १।१८. परन्तु अर्थ भिन्न है। कात्यायन ने रोग से पीड़ित व्यक्ति के लिए 'आमयावी' शब्द का उल्लेख किया है(५।२।१२२)। शरदृतु में उत्पन्न रोग—उत्तर भारत में वर्षा की समाप्ति पर शरदृतु के प्रारम्भ में ज्वरादि रोगों का बड़ा प्रकोप होता है ('वैद्यानां शारदी माता' यह विचार इसी लिए है)। पाणिनि ने इनके लिए शारदिक शब्द कहा है ('विभाषा रोगातपयोः' ४।३।१३)।

त्रिदोष—पाणिनिसूत्र 'तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ' (५।१।३९) पर कात्यायन ने वात-पित्त-कफ का उल्लेख किया है। वात के रोगी को वातकी (५।२।१२९) कहा गया है। पित्त सिध्मादिगण (५।२।९७) में और श्लेष्मा पामादिगण में (५।२।१००) पठित है।

आचार्यों के नाम—पाणिनि के सूत्र 'गर्गादिभ्यो यञ्'(४।१।१०५)के गर्गादि गण में जतूकर्ण, पराशर, अग्निवेश शब्दों का उल्लेख है। 'कथादिभ्यष्ठक्'(४।४।२) के कथादि गण के आयुर्वेद शब्द से 'तत्र साधुः' इस अर्थ में 'आयुर्वेदिकः' शब्द निष्पन्न हुआ है।

इस तरह ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व भी इस ज्ञान का उल्लेख मिलता है।[1]

---

१. महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी भाष्य में कुछ रोगों के नाम लिखे हैं। यथा—'नड्वलोदकः पादरोगः, दधित्रपुषं प्रत्यक्षो ज्वरः।' 'तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ' (५।१।३९)इस पर कात्यायन के वार्त्तिक "वातपित्तश्लेष्मभ्यः शमनकोपनयोरुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्, सन्निपाताच्चेति वक्तव्यम्" के वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक उदाहरण दिये हैं। इसी प्रकार से 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य'(८।४।६१) का उत्कन्दको रोगः; 'ह्वः सम्प्रसारणम्,(६।१।३२)'का दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः' है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गाँवों में आज भी प्रसिद्ध है कि छाछ के साथ फूट—बड़ा कचरा खाने से ज्वर होता है; नड्वलोदकं पादरोगः—राजस्थान में बाल नाम का कृमि (Tope worm) प्रायः होता है। ये सब उदाहरण प्राचीन काल में प्रसिद्ध रोगों के हैं।

तीसरा अध्याय

बौद्ध साहित्य में आयुर्वेद

महाजनपदों का युग [लगभग १४२५ से ३६३ ई० पूर्व]

भारतवर्ष का तिथिक्रम के अनुसार शृंखलाबद्ध इतिहास इसी समय से मिलता है। इस समय देश की स्थिति वैदिक काल से बहुत वदल गयी थी। बुद्ध के समय यह क्रान्ति राजनीतिक, धार्मिक सब रूपों में हो चुकी थी। महाभारत का सार्वभौम सम्राट्-शासन टूट चुका था। उस समय देश सोलह जनपदों में विभक्त था। इनमें चार राज्य मुख्य थे—(१) मगध, जिसमें अंग शामिल था, जिसका राजा बिम्बसार था; (२) कोशल, जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी, जिसमें काशी सम्मिलित थी, जिसका राजा प्रसेनजित था; (३) कौशाम्बी, जिसका राजा वत्सराज उदयन था; (४) अवन्ती, जिसका राजा चण्ड प्रद्योत था। इस काल के प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक का सम्बन्ध मगध के राजा बिम्बसार और अवन्ती के राजा चण्ड प्रद्योत के साथ था, जैसा कि आगे हम देखेंगे।

धार्मिक क्रान्ति ठीक वही थी, जिसकी झलक चरक संहिता में मिलती है; पुनर्जन्म है वा नहीं, कर्म-कर्मविपाक है वा नहीं, नियतिवाद आदि। इस क्रान्ति को करनेवाले मुख्य शास्ता छः थे, उनके नाम—अजितकेश कम्बल, पूरण कस्सप, पकुध कच्चायन, मक्खलि गोसाल, संजय वेलट्ठिपुत्त, निगंठ नातपुत्त। अजितकेश कम्बल के मत से न दान है, न इष्टि, न हुत, न सुकृत और न दुष्कृत कर्म का फलविपाक है। न इहलोक, न परलोक; मनुष्य चातुर्भौतिक है। संजय का कहना था कि प्राणातिपात (वध), अदत्तादान (स्तेय), मृषावाद, परदार-गमन से पाप नहीं होता; दान-यज्ञ आदि से पुण्य नहीं होता। मक्खलि गोशाल नियतिवादी थे। गोसाल आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक थे। ये अचेलक थे—अनेक प्रकार के कृच्छ्र तप करते थे। ये पंचाग्नि तापते थे, उत्कुटिक थे, चमगादड़ की भाँति हवा में झूलते थे। पालिनिकाय में इनको मुक्ताचार कहा गया है। बुद्धघोष के अनुसार पूरण कस्सप आत्मा को निष्क्रिय और कर्म को नहीं मानते थे (तुलना कीजिए "निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन्! विद्यते कथम्" चरक. शा. १।६)। अजित नास्तिक थे और कर्मविपाक नहीं मानते थे। गोसाल नियतिवादी

थे—ये कर्म और कर्मफल दोनों का प्रतिषेध करते थे (तुलना कीजिए—'दृष्टं न चाकृतं कर्म यस्य स्यात् पुरुषः फलम्' सू. अ. २५; कर्म-कर्मफलं न. च. सू. अ. ११।१४)।

यह बात ध्यान में रखने की है कि बुद्ध के समय में आस्तिक का अर्थ ईश्वर में प्रतिपन्न नहीं था और न वेदनिन्दक को ही नास्तिक कहते थे। पाणिनि के निर्वचन के अनुसार नास्तिक वह है जो परलोक में विश्वास नहीं करता। ('अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः'– यह सूत्र पाणिनि का है; तुलना कीजिए चरक संहिता में पुनर्जन्म की विवेचना से–'पातकेभ्यः परं चैतत् पातकं नास्तिकग्रहः' —सूत्र. अ. ११।१५; 'सन्ति ह्येकप्रत्यक्षपराः परोक्षत्वात् पुनर्भवस्य नास्तिक्यमाश्रिताः'–सू. अ. ११।६)।

इस प्रकार से उस समय की स्थिति देश में अनेक वादों की थी, जैसा कि आचार्य नरेन्द्रदेवजी ने अपनी पुस्तक 'बौद्धधर्म दर्शन' के प्रारम्भ में लिखा है—

'जिस समय भगवान् बुद्ध का लोक में जन्म हुआ, उस समय देश में अनेक वाद प्रचलित थे। विचार-जगत में उथल-पुथल हो रही थी (इसका उदाहरण उपनिषदों में आत्मा, ब्रह्म आदि प्रश्नों का विचार है—लेखक)। लोगों की जिज्ञासा जाग उठी थी। परलोक है या नहीं, मरण के अनन्तर जीव का अस्तित्व रहता है या नहीं, कर्म है या नहीं, कर्म विपाक है या नहीं; इस प्रकार के अनेक प्रश्नों में लोगों को कुतूहल था। इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए लोग उत्सुक थे।' (१ पृष्ठ)

बौद्धों के चार ब्रह्म विहार हैं, यथा–मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा (बौद्धधर्म दर्शन–पृष्ठ ९४); चरक में यही चार प्रकार की वैद्यवृत्ति कही गयी है (सू. अ. ९।२६)।

आयुर्वेद साहित्य—बौद्ध-धर्म का प्रचार भारत से बाहर दूर तक हुआ। इसलिए इसका साहित्य भारत के बाहर भी मिला है। जिसमें मध्य एशिया में प्राप्त 'नावनीतकम्' है, जो कि पूर्णतः आयुर्वेद की रचना है। यद्यपि इसके सम्पादक कविराज बलवन्तसिंह मोहन वैद्यवाचस्पति इसको ईसा से ६०० वर्ष पूर्व का मानते हैं, परन्तु विवेचना से यह गुप्तकाल का ज्ञात होता है। इसका लशुनकल्प अष्टांग-संग्रह के लशुनकल्प से बहुत मिलता है। छंद रचना, बौद्ध देवताओं की स्तुति ये सब बातें इसके गुप्तकाल से पहले का सिद्ध होने में बाधक हैं। 'नावनीतकम्' का हिन्दी अर्थ 'मक्खन' है।

इसी श्रृंखला में दूसरा ग्रन्थ 'सद्धर्मपुण्डरीक' है। यह भी मध्य एशिया में मिला था। कमल शुद्धता और पूर्णता का चिह्न है, पंक में उत्पन्न होने पर भी जिस प्रकार से कमल उससे उपलिप्त नहीं होता, उसी प्रकार से बुद्ध इस लोक में उत्पन्न होने पर भी उससे निर्लिप्त रहते थे। यह ग्रन्थ चीन, जापान आदि महायानधर्मी देशों में बहुत पवित्र माना जाता है। ('बौद्धधर्म दर्शन')

इस ग्रन्थ में २७ अध्याय (परिवर्त्त हैं), इसके पाँचवें औषधि-परिवर्त्त का सम्बन्ध आयुर्वेद से है—जो कि बहुत थोड़ा है। यथा—'जिस प्रकार इस त्रिसाहस्र महासाहस्र लोक-धातु में पृथ्वी, पर्वत और गिरिकन्दराओं में उत्पन्न हुए जितने तृण, गुल्म, ओषधि, वनस्पतियाँ हैं, उन सबको महाजल मेघ समकाल में वारिधारा देता है; वहाँ यद्यपि एक धरणी पर ही तरुण एवं कोमल तृण, गुल्म, ओषधियाँ, महाद्रुम भी प्रतिष्ठित हैं और वे एक तोय से अभिष्यन्दित हैं; तथापि अपने-अपने योग्यतानुरूप ही जल लेते हैं और फल देते हैं (बौद्धधर्म दर्शन पृष्ठ १४६[1]) चरक में भी चार ही प्रकार के औद्भिद् बताये गये हैं—'वनस्पतिस्तथा वीरुद् वानस्पत्यस्तथौषधिः'—चरक. सूत्र. १।७१; इसमें वीरुध से गुल्म लिया गया है 'लता गुल्माश्च वीरुधः'—चक्रपाणि)। 'यथा वात पित्तश्लेष्माण एव रागद्वेषमोहाः। द्वाषष्टि च दृष्टिकृतीनि द्रष्टव्यानि। यथा च तासु ओषधयस्तथा शून्यता निमित्ताप्रणिहितनिर्वाणद्वारं च द्रष्टव्यम्॥' (ओषधि परिवर्त)

तीसरा मुख्य ग्रन्थ 'विनयपिटक' है, इसमें भिक्षुओं के आचरण सम्बन्धी नियम हैं; इसका सम्बन्ध मुख्यतः आयुर्वेद साहित्य से है। इसी के आधार पर चरकसंहिता के

---

१. 'तद् यथापि नाम काश्यपास्यां त्रिसाहस्र महासाहस्रयां लोकधातौ यावन्तस्तृण-गुल्मौषधिवनस्पतयो नानावर्णा नानाप्रकारा ओषधिग्रामा नानानामधेयाः पृथिव्यां जाताः पर्वतगिरिकन्दरेषु वा मेघश्च महावारिपरिपूर्ण उन्नमेद् उन्नमित्वा सर्ववर्तां त्रिसहस्रमहासहस्रां लोकधातुं संछादयेत् संछाद्य च सर्वत्र समकालं वारि प्रमुञ्चयेत्।' (ओषधि परिवर्त्त.)

'यथाहि कश्चिज्जात्यन्धः सूर्येन्दुग्रहतारकाः।
अपश्यन्नेवमाहासौ नास्ति रूपाणि सर्वशः॥
जात्यन्धं तु महावैद्यः कारुण्यं संनिवेश्य ह।
हिमवन्तं स गतवान् तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा॥
सर्ववर्णरसस्थाना नागाल्लभत ओषधीः।
एवमादीश्चतस्रोऽथ प्रयोगमकरोत्ततः॥
दन्तैः संचूर्ण्य कांचित्तु पिष्ट्वा चान्यां तथापराम्।
सूच्यग्रेण प्रवेश्याङ्गे जात्यन्धाय प्रयोजयेत्॥
स लब्धचक्षुः संपश्येत् सूर्येन्दुग्रहतारकाः।
एवं चास्य भवेत्पूर्वमज्ञानात्तदुदाहृतम्॥' (५४-५८.)

कुछ शब्द एवं उस समय की चिकित्सा का सही परिचय मिलता है, जिससे पता चलता है कि उस समय आयुर्वेद के आठों अंग पूर्णतः अपने यौवन में थे। मस्तिष्क और पेट के शल्यकर्म उस समय में होते थे, आयुर्वेद को सात साल निरन्तर पढ़ लेने पर भी इसकी समाप्ति, इसका छोर नहीं मिलता था।

चौथा ग्रन्थ 'मिलिन्द प्रश्न' है, जो कि विशेष उपयोगी तो नहीं, परन्तु उसमें भी आयुर्वेद विषय का संक्षिप्त उल्लेख मिलता है। जैसे—वेदनाओं के आठ प्रकार बताये गये हैं, इन प्रकारों में वायु का बिगड़ना, पित्त का प्रकोप होना, कफ का बढ़ जाना, सन्निपात दोष हो जाना, ऋतुओं का बदल जाना, खाने-पीने में गड़बड़ होना, वाह्य प्रकृति के दूसरे प्रभाव आदि।

विनयपिटक में आयुर्वेद साहित्य[1]

विनय, अनुशासन का अर्थ नियम है। इस पिटक में भिक्षु-भिक्षुणियों के आचार सम्बन्धी नियम तथा उनके इतिहास और व्याख्याओं को एकत्र किया गया है, इसलिए इसका नाम विनयपिटक है। इसमें 'महावग्ग' और 'चुल्लवग्ग' नाम के दो खन्धक (स्कन्ध) हैं। सर्वास्तिवादी इनको क्रमशः विनय-महावस्तु और विनय-क्षुद्रकवस्तु कहते हैं। स्थविरवादी खन्धक नाम देते हैं। धम्मपद की अट्ठकथा में कथा के लिए वत्थु (=वस्तु) शब्द का प्रयोग आता है। इसलिए सर्वास्तिवादियों का महावस्तु और क्षुद्रकवस्तु नाम बहुत उपयुक्त है।

स्वेदकर्म और चीर-फाड़—आयुर्वेद की पद्धति में स्वेद चिकित्सा का महत्त्व है। इसका विशेष महत्त्व वातरोग में है। आयुष्मान् पिलिन्दिवच्छ के शरीर में वात-रोग था। भगवान् बुद्ध से यह बात कही गयी। उस समय बुद्ध ने स्वेदकर्मचिकित्सा (पसीना निकालने की चिकित्सा) करने को कहा था। इस चिकित्सा में चार प्रकार के स्वेद बताये गये हैं (विनयपिटक—६।२।१)—

(क) सम्भार स्वेद (अनेक प्रकार के पसीना लानेवाले पत्तों के बीच में सोना)—यह स्वेद संस्तर-स्वेद का रूप है, जिसमें दोष आदि की अपेक्षा से एरण्ड आदि स्वेदन-द्रव्यों को उबालकर इनको चटाई पर बिछाकर उस पर कम्बल, कौशेय या वातहर पत्र बिछाकर रोगी लेटता है। (संग्रह-सूत्र. अ. २६।९)

---

१. यह सम्पूर्ण विवरण श्री राहुल सांकृत्यायन के 'विनयपिटक' से लिया गया है।

(ख) महास्वेद—इसमें पोरसा (पुरुष प्रमाण) भर गड्ढा खोदकर उसे अंगारों से भरकर तथा मिट्टी, बालू से मूँदकर उस पर नाना प्रकार के वातहर पत्तों को बिछाकर शरीर में तेल लगाकर इस पर लेटकर पसीना निकालना पड़ता था।

यह स्वेद आयुर्वेद में वर्णित कूपस्वेद से मिलता है, इसमें पुरुष-प्रमाण से दुगुना गड्ढा खोदकर इसे अन्दर से साफ और समान करके, इसमें हाथी, घोड़ा, गाय, गदहा और ऊँट की विष्ठा जलाते हैं। जब इसमें से धुआँ निकलना बन्द हो जाय, तब इसके ऊपर चारपाई रखकर या इसे बन्द करके पत्ते बिछाकर स्वेद लेते हैं। (संग्रह. सू. अ. २६। १३; चरक. सू. अ. १४।५९-६०)

(ग) उदककोष्ठक—गरम पानी से भरे बरतन जिस कोठरी में रखे हों, उसमें बैठकर पसीना लेना।

यह स्वेद बहुत कुछ कुम्भी-स्वेद से मिलता है—वातहर द्रव्यों से युक्त पानी को हंडी में उबालकर उस हंडी से लगकर स्वेद ले ('पूर्ववत्स्वेदद्रव्याणि कुम्भ्यामुत्क्वाथ्योपश्लिष्योपविष्टस्तद्वदुष्माणं गृह्णीयात्'—संग्रह. सू. अ. २६।११)[1]।

(घ) भंगोदक—पत्तों के काढ़े से सींच-सींचकर पसीना निकालना।

इस स्वेद का उपयोग अत्रिपुत्र ने अर्शरोग में बताया है—('पत्रभंगोदकैः शौचं कुर्यादुष्णेन वाऽम्भसा'—चरक. चि. अ. १४।६९; 'वृषार्कैरण्डबिल्वानां पत्रोत्क्वाथैश्च सेचयेत्'—अ. १४।४४) पत्रभंग के लिए केवल भंग शब्द आया है।[2]

जन्ताघर—उक्त चार स्वेदों के अतिरिक्त जेन्ताक-स्वेद का भी उल्लेख है। विनय-

---

१. संग्रह और चरक में इस स्वेद का दूसरा रूप भी दिया गया है; यथा—

'कुम्भीं वातहरक्वाथपूर्णां भूमौ निखानयेत्।
अर्धभागं त्रिभागं वा शयनं तत्र चोपरि॥
स्थापयेदासनं वाऽपि नातिसान्द्रपरिच्छदम्।
अथ कुम्भ्यां सुसन्तप्तान् प्रक्षिपेदयसो गुडान्॥
पाषाणान् वोष्मणा तेन तत्स्थः स्विद्यति ना सुखम्॥' (चरक.)

२. प्रसाधन में भी पत्रभंग शब्द आता है। यथा—कादम्बरी में 'किमिति च हरिण इव हरिणलाञ्छनेन लिखितः कृष्णागुरुपत्रभंगः पयोधरभारः।' इसमें पत्ते (तेजपात, चमेली आदि) काटकर कपोलों या स्तनों पर लगाये जाते थे, अथवा अगरु, चन्दन आदि के लेपों से अंगों पर चित्रकर्म (भक्ति, लेखा) किया जाता था।

पिटक में जेन्ताक के स्थान पर 'जन्ताघर' नाम दिया गया है। यह एक प्रकार का घर होता था, जिसमें 'धूमनेत्र' मकान के मध्य में या एक पार्श्व में होता था। इसको पर्याप्त गरम करके इसका उपयोग किया जाता था।

सम्भवत: जन्ताघर का ही रूप जेन्ताक है। मोहनजोदरो में एक स्नानगृह खुदाई में मिला है। यह स्नानगृह सार्वजनिक बताया जाता है, जैसा कि इसके विशाल आकार से पता चलता है। सम्भवत: जन्ताघर का अर्थ सार्वजनिक घर हो।

'चुल्लवग्ग' में भगवान् ने भिक्षुओं को चंक्रम और जन्ताघर करने की आज्ञा दी है। ये ऊँची कुर्सी पर बनाये जाते थे, इनकी चिनाई ईंट, पत्थर और लकड़ी से होती थी। इन पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ होती थीं, इनके अन्दर किवाड़, बिलाई, देहरी, सरदल, खूँटी होती थी। जन्ताघर में धूमनेत्र रहता था; यह धूमनेत्र छोटे जन्ताघर में एक ओर रहता था और बड़े जन्ताघर में बीच में रहता था। जन्ताघर का अग्नि-मुख मिट्टी से ढँका रहता था। यह घर अन्दर से मिट्टी से लिपा होता था, इसमें पानी निकलने की नाली रहती थी। इसमें एक चौकी होती थी, यह चारों ओर से घिरा होता था। (विनयपिटक ५।२।२)

यह वर्णन आयुर्वेद के जेन्ताक के वर्णन से बहुत मिलता है, केवल कार्यभेद है। अत्रिपुत्र ने जो जेन्ताक-स्वेद बताया है, उसमें धूमनेत्र बीच में रहता था। इसमें भी धूमनेत्र पर ढक्कन लगाने को कहा है ('अङ्गारकोष्ठकस्तम्भं सपिधानं कारयेत्')। इसमें स्वेद लिया जाता है, इसलिए नाली की जरूरत नहीं। कार्य दोनों का एक ही है। एक प्रकार से ये दोनों घर उष्णवात सुरक्षित घर थे। इसलिए बौद्धसाहित्य का 'जन्ताघर' ही आयुर्वेद साहित्य में जेन्ताक बन गया प्रतीत होता है।

रक्तमोक्षण——आयुष्मान् पिलिन्दिवच्छ को पर्ववात (गठिया) का रोग था; इसमें भगवान् ने सींग से खून निकालने की अनुमति दी थी।

अन्य उपचार——इसी प्रकार से फोड़े के रोग पर शस्त्रकर्म करने की, काढ़ा पीने की, तिलकल्क बाँधने की, पट्टी बाँधने की, धुआँ देने की, बढ़े हुए मांस को नमक की कंकरी से काटने की, घाव न भरने पर तेल की वर्त्ती (विकासिका) अन्दर भरने की अनुमति दी गयी है। (विनय. ६।२।५)

सर्प चिकित्सा में चार महाविक्कटों को खिलाने (पाखाना, मूत्र, राख और मिट्टी देने) की अनुमति दी गयी थी। पाण्डुरोग में गोमूत्र की हर्रे खिलाने की, जुलपित्ति रोग (खुजली, छविदोष) में गन्धक लगाने की अनुमति दी थी। घी, मक्खन, मधु, तेल और खाँड़ ये पाँच सामान्य औषधियाँ भी थीं। इनको सात दिन के लिए रख सकते थे।

भगन्दर में शस्त्रकर्म का निषेध—राजगृह के वेणुवन कलंदक निवाप में रहते हुए एक भिक्षुक को भगंदर-रोग हो गया था। आकाशगोत्र वैद्य शस्त्रकर्म करता था। भगवान् ने इस स्थान पर शस्त्रकर्म करने का निषेध किया, क्योंकि इस स्थान का चमड़ा कोमल होता है, घाव मुश्किल से भरता है, शस्त्र चलाना कठिन है। इसलिए गुह्य स्थान के चारों ओर दो अंगुल तक शस्त्रकर्म नहीं करना चाहिए। (विनयपिटक ६।३।१३)

रोगी की सेवा सम्बन्धी सूचनाएँ—निम्न पाँच बातों से रोगी की सेवा करना मुश्किल होता है—१. साथियों के अनुकूल न होने से (इसी लिए परिचारक के लिए 'अनुरागश्च भर्त्तरि' कहा गया है); २. अनुकूल की मात्रा नहीं जानने से; ३. औषध सेवन नहीं करने से; ४. हित चाहनेवाले परिचारक से ठीक-ठीक रोग की बात नहीं बताने से (इसी से रोगी के लिए आवश्यक है—'ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः'); ५. दुःखमय, तीव्र, खर, कटु, प्रतिकूल, अप्रिय, प्राणहर शारीरिक पीडाओं को नहीं सहन करने से (इसी से अभीरुत्व कहा गया है)।

इसके विपरीत पाँच बातों से रोगी की सेवा करना सुगम होता है। यथा—अनुकूल परिचारक होने से, अनुकूल मात्रा जानने से, औषध सेवन करने से, ठीक-ठीक रोग को बता सकने से और शारीरिक पीड़ाओं को सहने से रोगी की सेवा सुखकर होती है।

परिचारक सम्बन्धी सूचनाएँ—परिचारक में इन बातों का होना ठीक नहीं—१. दवा ठीक नहीं करता; २. अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु को नहीं जानता; ३. किसी लाभ से रोगी की सेवा करता है, मैत्रीपूर्ण चित्त से नहीं; ४. मल-मूत्र, थूक, वमन के हटाने में घृणा करता है; ५. रोगी को समय-समय पर धार्मिक कथा द्वारा समुत्तेजित और आनन्दित नहीं करता (इसी से अत्रिपुत्र ने कहा है—रोगी के साथी 'गीत-वादित्रोल्लापकश्लोकगाथाख्यायिकेतिहासपुराण-कुशलानभिप्रायज्ञाननुमतांश्च देशकालविदः पारिषद्यांश्च'—चरक. सू. अ. १५।७)।

इसके विपरीत परिचारक रोगी की सेवा करने योग्य होता है; जैसे, दवा ठीक करने में जो समर्थ होता है; अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु को जानता है; किसी लाभ से सेवा नहीं करता; मल-मूत्र, थूक, वमन को हटाने में घृणा नहीं करता; रोगी को समय-समय पर धार्मिक कथा सुनाकर आश्वासन और आनन्द देता है। (८।७।४-५)

इसके अतिरिक्त अंजन, अंजनदानी, अंजन की सलाई (६।१।११), कर्णमल-हरिणी (५।३।७), सिर पर तैल (६।१।१२), धूमवर्त्ती का विधान, धूमनेत्र की

अनुमति (६।१।१४), पैरों पर तैल की मालिश (६।२।३), और भिन्न-भिन्न प्रकार की औषधियों की अनुमति (६।१।१---९) भगवान् ने भिक्षुओं को दी थी।

जीवकचरित---बौद्ध काल से लेकर आज तक किसी भी वैद्य या चिकित्सक की कुशलता का, अध्ययन का, इतिहास नहीं मिलता, जैसा जीवक का मिलता है। जीवक का सब श्रम, यश, धन अपना कमाया हुआ था। यह वर्णन आयुर्वेद के पूर्ण उत्कर्ष को बताता है।

उस समय बुद्ध भगवान् राजगृह में वेणुवन कालन्दक निवाप में विहार करते थे। उस समय वैशाली समृद्धिशाली, बहुत जनों से आकीर्ण, अन्न-पान संपन्न थी। उसमें ७,७७७ प्रासाद (बड़े ऊँचे महल), ७,७७७ कूटागार (लम्बाई-चौड़ाई के विस्तृत मकान), ७,७७७ आराम (बगीचे), ७,७७७ पुष्करिणियाँ थीं। गणिका अम्बपाली दर्शनीय, परम रूपवती, नाच, गीत और वाद्य में चतुर थी, चाहनेवालों के पास पचास कार्षापण पर रात में जाया करती थी। तब राजगृह का नैगम (नगरसेठ) किसी काम से वैशाली में आया, उसने समृद्ध वैशाली को देखा।

काम समाप्त कर जब नैगम राजगृह गया तब उसने बिम्बसार से वैशाली के वैभव का वर्णन किया और कहा कि 'देव ! हम भी एक गणिका रखें ?'

'तो भणे ! वैसी कुमारी ढूँढ़ो---जिसको तुम गणिका रख सको।'

उस समय राजगृह में सालवती नाम की कुमारी अभिरूप-दर्शनीय थी। तब राजगृह के नैगम ने सालवती को गणिका चुना। सालवती ने थोड़े ही समय में नाच, गीत, वाद्य सीख लिया। चाहनेवालों के पास सौ कार्षापण पर रात को जाया करती थी। तब यह गणिका अचिर में ही गर्भवती हो गयी। गणिका को लगा कि गर्भवती स्त्री पुरुषों को नापसन्द (अप्रिय) होती है। यदि कोई यह जान जायगा कि सालवती गर्भवती है, तो मेरी सब मान-प्रतिष्ठा धूल में मिल जायगी। इसलिए क्यों न बीमार बन जाऊँ। तब सालवती ने दौवारिक को आज्ञा दी---'कोई पुरुष आये और मुझे पूछे तो उससे कह देना कि बीमार है।'

गर्भ के पूर्ण समय पर सालवती ने एक पुत्र जना। तब दासी से सालवती ने कहा कि 'हजे ! इस बच्चे को सूप में रखकर कूड़े के ढेर पर छोड़ आ।' दासी उस बच्चे को ढेर पर छोड़ आयी।

उस समय अभय राजकुमार राजा की हाजिरी के लिए जा रहे थे, उन्होंने कौओं से घिरे उस बच्चे को देखकर लोगों से पूछा---'यह कौओं से घिरा क्या है ?' 'देव !

बच्चा है, जीता है।' तब कुमार ने कहा कि इसे हमारे अन्तःपुर में ले जाकर दासियों को दे आओ और उनसे पोसने के लिए कह देना।

'जीता है'—कहने से इसका नाम जीवक हुआ; कुमार ने पाला था, इसलिए इसका नाम 'कौमारभृत्य' हुआ। जीवक कौमारभृत्य शीघ्र ही विज्ञ हो गया। उसने अनुभव किया कि राजकुल मानी होता है, बिना शिल्प के जीविका करना मुश्किल है, क्यों न मैं शिल्प सीखूँ।

उस समय तक्षशिला में एक दिशाप्रमुख (दिगंत प्रसिद्ध) वैद्य रहता था। जीवक राजकुमार से बिना पूछे तक्षशिला गया[1]। जाकर वैद्य से बोला—(वैद्य का नाम नहीं दिया गया, परन्तु श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का कहना है कि तक्षशिला के आत्रेय भारतीय आयुर्वेद के पहले प्रसिद्ध आचार्य थे। (इतिहासप्रवेश पृष्ठ ८१)

'आचार्य ! मैं शिल्प सीखना चाहता हूँ !' आचार्य ने कहा—'तो भन्ते जीवक ! सीखो।' जीवक कौमारभृत्य बहुत पढ़ता था, जल्दी धारण कर लेता था, अच्छी तरह समझता था, पढ़ा हुआ उसको भूलता नहीं था। सात वर्ष तक अध्ययन करने पर

---

१. तक्षशिला का वर्त्तमान नाम शाहजी दी ढेरी है, जो रावलपिंडी जिले में है। पहले यह प्रदेश गन्धार में था। गन्धार को सिल्यूकस ने मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को युद्ध की सन्धि में दिया था। गन्धार क्षेत्र उस समय विद्या का बहुत बड़ा केन्द्र था। पाणिनि का शलातुर जन्मस्थान यहीं था। गन्धार का राजा नग्नजित् था, इसने पुनर्वसु से विष के सम्बन्ध में पूछा था—

'गन्धारदेशे राजर्षिर्नग्नजित् स्वर्णमार्गदः।
संगृह्य पादौ पप्रच्छ चान्द्रभागं पुनर्वसुम्॥
न च स्त्रीभ्यो न चास्त्रीभ्यो न भृत्येभ्योऽस्ति मे भयम्।
अन्यत्र विषयोगेभ्यः सोऽत्र मे शरणं भवान्॥' (भेल.पृ. ३०.)

सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को एरिया (हेरात), ऐराकोशिया (कन्दहार), परोपनिसदी (काबुल की घाटी-पेशावर), गैड्रोसिया (बलोचिस्तान) ये चार प्रान्त दिये थे। सिल्यूकस ने अपने राजदूत मेगस्थनीज को मौर्य-दरबार में भेजा था। तक्षशिला के वृद्ध राजा और उसके पुत्र आम्भि (ओम्फिस) ने बुखारा में ही सिकन्दर के पास दूत भेजकर भारतीय आक्रमण के समय सहायता का वचन दिया था; बदले में अपनी रक्षा की माँग की थी। तब से यह प्रदेश यूनानियों के पास था, जिसे सन्धि में चन्द्रगुप्त को वापस किया गया था।

जीवक को अनुभव हुआ कि बहुत पढ़ा, समझा, परन्तु इस शिल्प का कहीं अन्त नहीं मिलता, कब इस शिल्प का अन्त जान पड़ेगा। तब वह वहाँ गया जहाँ वह वैद्य था। जाकर उस वैद्य से बोला—'आचार्य ! मैं बहुत पढ़ता हूँ, याद करता हूँ; कब इस शिल्प का अन्त जान पड़ेगा।'

आचार्य ने कहा—'तो भन्ते ! खनती (खनित्र) लेकर तक्षशिला के योजन-योजन चारों ओर घूमकर जो अभैषज्य (दवा के अयोग्य) देखो उसे ले आओ।' जीवक गया और आकर बोला—

'आचार्य ! तक्षशिला के योजन-योजन चारों ओर मैं घूम आया, किन्तु मैंने कुछ भी अभैषज्य नहीं देखा।'[1]

---

१. जातकों के वर्णन से पता लगता है कि तक्षशिला के अमुक विश्वविख्यात आचार्य के पास पाँच सौ शिष्य थे। विद्या के केन्द्र के रूप में तक्षशिला की कीर्त्ति ६०० ई० पू० में थी। काशी, राजगृह,मिथिला,उज्जयिनी से विद्यार्थी यहाँ अध्ययन के लिए आते थे। धनुर्विद्या के एक विद्यालय में १०३ राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। कोशल के राजा प्रसेनजित की शिक्षा तक्षशिला में हुई थी। अटक के पास शलातुर में पाणिनि का जन्म हुआ था, वे भी तक्षशिला विश्वविद्यालय के ही स्नातक रहे होंगे। अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य भी यहीं शिक्षित हुए थे।

उच्च शिक्षा के लिए विद्यार्थी तक्षशिला में जाते थे, विद्यार्थी की आयु प्रवेश के समय १६ वर्ष होती थी। सामान्यतः वे आचार्यकुल में अन्तेवासी (सेवाकारी) रहकर अध्ययन करते थे। सम्पन्न विद्यार्थी शुल्क के साथ आवास और भोजन व्यय देते थे। धनी विद्यार्थी, जैसे काशी का राजकुमार; अपने निवास की स्वतंत्र व्यवस्था करते थे। निर्धन विद्यार्थी जो शुल्क नहीं दे सकते थे, दिन में आचार्य की गृहस्थी का कार्य करते थे और रात्रि में विद्या पढ़ते थे।

तक्षशिला में विद्यार्थी कठिन विषयों के अध्ययन के लिए आते थे। यहाँ पर १८ प्रकार के शिल्प सिखाये जाते थे, जिनमें आयुर्वेद, शल्य, व्यापार, धनुर्वेद, ज्योतिष, भविष्यकथन, मुनीमी, कृषि, रथचालन, इन्द्रजाल, नागवशीकरण, गुप्त निधि अन्वेषण, संगीत, नृत्य, और चित्रकला थी। विषयों के चयन में वर्ण का प्रश्न नहीं था। एक ब्राह्मण राजपुरोहित ने धनुर्विद्या सीखने के लिए अपने पुत्र को तक्षशिला में भेजा था। (प्राचीन भारतीय शिक्षणपद्धति—अलतेकर)

'सीख चुके भन्ते जीवक ! यह तुम्हारी जीविका के लिए पर्याप्त है।' यह कहकर उसने जीवक को थोड़ा पाथेय (राह खर्च) दिया। जीवक पाथेय लेकर राजगृह की ओर चला। जीवक का यह पाथेय साकेत में समाप्त हो गया। जीवक को पाथेय प्राप्त करने की आवश्यकता हुई।

उस समय साकेत में नगरसेठ की भार्या सात वर्ष से सिरदर्द से पीड़ित थी। बहुत बड़े-बड़े दिगंत विख्यात वैद्य उसे अरोग नहीं कर सके और बहुत हिरण्य लेकर चले गये। तब जीवक ने साकेत में आकर लोगों से पूछा—

भन्ते ! कोई रोगी है, जिसकी मैं चिकित्सा करूँ ?' लोगों ने इस नगरसेठ की भार्या को बताया। जीवक गृहपति श्रेष्ठि के घर गया और दौवारिक द्वारा श्रेष्ठी की पत्नी से चिकित्सा की आज्ञा चाही। पत्नी ने उसे युवा समझकर पहले तो मना कर दिया, परन्तु पीछे जीवक के यह कहने पर कि 'पहले कुछ मत देना, अरोग होने पर जो चाहना दे देना'—उसने चिकित्सा करने की अनुमति दे दी।

जीवक ने सेठानी को देखकर रोग को पहचाना और सेठानी से एक पसर घी माँगा। जीवक ने पसर भर घी को नाना दवाइयों से पकाकर सेठानी को चारपाई पर उतान लिटाकर नथुनों में दे दिया। नाक से चढ़ाया हुआ घी मुख से निकल पड़ा। सेठानी ने उस घी को पीकदान में से उठवाकर दासी से बर्तन में रखवा दिया, जिससे वह पैरों पर मलने या दीपक में जलाने के काम आये।

जीवक ने सेठानी का सात वर्ष का सिरदर्द एक ही नस्य से अच्छा किया। सेठानी ने अरोग होने पर जीवक को चार हज़ार कार्षापण दिये। पुत्र ने चार हजार दिये, बहू ने अलग से चार हज़ार दिये, गृहपति ने भी चार हज़ार कार्षापण एक दासी और एक रथ दिया।

जीवक ने इस सारी समृद्धि को ले जाकर राजकुमार के सामने रखा और कहा—'देव ! यह सोलह हज़ार कार्षापण, दास-दासी और अश्व-रथ मेरे प्रथम काम का फल है। इसे देव पोसाई (पोसावनिक) में स्वीकार करें।'

'नहीं, भन्ते ! यह तेरा ही रहे। हमारे ही अन्तःपुर (हवेली की सीमा) में मकान बनवाकर रहो।' जीवक अन्तःपुर में मकान बनाकर रहने लगा।

जीवक का चिकित्सा कौशल—१. उस समय मागध श्रेणिक बिम्बीसार को

तक्षशिला का राजा आम्भि था, इसका अपने पड़ोसी राजा पौरव (पोरस) से द्रोह था, इसी के कारण आम्भि ने लड़ाई में सिकन्दर की मदद की थी।

भगन्दर का रोग था। धोतियाँ (साटक) खून से सन जाती थीं। देवियाँ देखकर परिहास करती थीं---'इस समय देव ऋतुमती हैं, देव को फूल उत्पन्न हुआ है; जल्दी ही देव प्रसव करेंगे।' इससे राजा मूक होता था। तब राजा विम्बीसार ने अभय राजकुमार से कहा---'भन्ते अभय ! मुझे ऐसा रोग है जिससे धोतियाँ खून से सन जाती हैं, देवियाँ देखकर परिहास करती हैं। तो भन्ते अभय, ऐसे वैद्य को ढूँढ़ो जो मेरी चिकित्सा करे।'

अभय ने कहा---'देव ! यह तरुण वैद्य जीवक अच्छा है, यह देव की चिकित्सा करेगा। अभय ने जीवक से कहा---'जीवक ! राजा की चिकित्सा करो।'

जीवक नख में दवा ले जहाँ राजा विम्बीसार था, वहाँ गया और राजा से कहा---'देव ! रोग को देखें।' जीवक ने राजा के भगन्दर को एक ही लेप से निकाल दिया। तब जीवक को विम्बीसार पाँच सौ स्त्रियों का आभूषण देने लगा। जीवक ने कहा--'यही बस है कि देव मेरे उपकार को स्मरण करें।' 'तो भन्ते जीवक ! मेरा उपस्थान (सेवा चिकित्सा द्वारा) करो, रनवास और बुद्धप्रमुख भिक्षुसंघ का भी उपस्थान करो।' 'अच्छा देव !' कहकर जीवक ने राजा को उत्तर दिया।

२. राजगृह के श्रेष्ठी को सात वर्ष से सिरदर्द था। बहुत से दिगन्त विख्यात वैद्य आकर निरोग न कर सके और बहुत-सा हिरण्य लेकर चले गये। वैद्यों ने उसे दवा करने से जवाब दे दिया था। किसी ने कहा था कि श्रेष्ठी पाँचवें दिन मरेगा और किन्हीं वैद्यों ने कहा था कि सातवें दिन मरेगा।

तब राजगृह के नैगम ने राजा विम्बीसार से श्रेष्ठी गृहपति की चिकित्सा कराने के लिए कहा। विम्बीसार ने जीवक को बुलाकर श्रेष्ठी की चिकित्सा करने की आज्ञा दी।

जीवक ने श्रेष्ठी गृहपति के विकार को पहचानकर उससे कहा---'गृहपति ! यदि मैं तुम्हें निरोग कर दूँ तो मुझे क्या दोगे ?' 'आचार्य, सब धन तुम्हारा हो; और मैं तुम्हारा दास।'

क्यों गृहपति ! तुम एक करवट से सात मास लेट सकते हो?' गृहपति ने सात मास एक करवट से और सात मास दूसरी करवट से तथा सात मास उत्तान–चित लेटने की शर्त को स्वीकार किया। तब जीवक ने श्रेष्ठी गृहपति को चारपाई पर लिटाकर चारपाई से बाँधकर सिर के चमड़े को फाड़कर, खोपड़ी खोलकर दो जन्तु निकालकर लोगों को दिखलाये।

'देखो यह दो जन्तु हैं। एक बड़ा और एक छोटा। जिन्होंने गृहपति के पाँचवें

दिन मरने की बात कही थी उन्होंने इस बड़े जन्तु को देखा था। पाँच दिन में यह श्रेष्ठी की गुद्दी को चाट लेता जिससे गृहपति मर जाता। जिन आचार्यों ने सातवें दिन मरने की बात कही थी उन्होंने इस छोटे जन्तु को देखा था।

फिर खोपड़ी जोड़कर सिर के चमड़े को सीकर लेप कर दिया। अच्छा होने पर उसने सौ हज़ार निष्क राजा को दिये और सौ हज़ार जीवक को दिये[1]।

३—बनारस के श्रेष्ठी (नगरसेठ) के पुत्र को मक्खचिका (सिर के बल घुमरी काटना) खेलते हुए अँतड़ी में गाँठ पड़ जाने का रोग हो गया था (सम्भवतः आंत्र सम्मूर्छन—इन्ट्रास्टैंन्युलेशनरोग होगा—लेखक)। इससे खायी हुई यवागू भी अच्छी प्रकार से नहीं पचती थी; पेशाब-पाखाना भी ठीक से न होता था। इससे वह कृश, रुक्ष, दुर्बल, पीला, ठठरी (धमनी सन्थत्त गत्त) भर रह गया था।

तब श्रेष्ठी राजा विम्बीसार से जीवक को माँगकर चिकित्सा के लिए बुलाकर लाया। जीवक ने श्रेष्ठीपुत्र के विकार को पहचान कर, लोगों को हटाकर, कनात घिरवाकर, खंभों को बँधवाकर, भार्या को सामने कर, पेट के चमड़े को फाड़कर, आँत की गाँठ निकाल कर भार्या को दिखायी।

गाँठ को सुलझाकर, आँतों को भीतर डालकर, पेट के चमड़े को सीकर लेप लगा दिया। बनारस के श्रेष्ठी का पुत्र थोड़े समय में निरोग हो गया। श्रेष्ठी ने जीवक को सोलह हज़ार निष्क धन दिया।

४—उज्जैन के राजा चण्ड प्रद्योत को पाण्डुरोग की बीमारी थी। बहुत से बड़े-बड़े दिगंत विख्यात वैद्य आकर निरोग न कर सके और बहुत-सा हिरण्य लेकर चले गये। तब राजा प्रद्योत ने राजा मागध श्रेणिक विम्बीसार के पास दूत भेजा—'देव ! ऐसा रोग है; अच्छा हो यदि देव जीवक वैद्य को आज्ञा दें कि वह मेरी चिकित्सा करे।' तब राजा ने जीवक से उज्जैन (उज्जयिनी) जाकर राजा की चिकित्सा करने के लिए कहा। जीवक वहाँ जाकर राजा के विकार को पहचानकर बोला—'देव ! घी पकाता हूँ, उसे देव पियें।' राजा ने कहा—भनो जीवक ! बस, घी के बिना और जिससे तुम निरोग कर सको, उससे करो, घी से मुझे घृणा, प्रतिकूलता है।

---

१. भोजप्रबन्ध में भी इसी तरह के शल्यकर्म का उल्लेख है—

'ततस्तावपि राजानं मोहचूर्णेन मोहयित्वा शिरः कपालमादाय तत्करोटिकापुटे स्थितं शफरकुलं गृहीत्वा कस्मिंश्चिद् भाजने निक्षिप्य सन्धानकरणमुद्रया कपालं यथावदारभ्य संजीवन्या च तं जीवयित्वा तस्मै तदवर्शयताम्'—'भोजप्रबन्धम्।'

जीवक ने सोचा कि इस राजा का रोग ऐसा है, जो बिना घी के आराम नहीं किया जा सकता। क्यों न मैं घी को कषाय वर्ण, कषाय गन्ध और कषाय रस में पकाऊँ। तब जीवक ने नाना ओषधियों से घी को पकाया। तब जीवक को यह विचार हुआ कि राजा को घी पीने पर पचते समय उवांत (उद्गार,वमन) होता जान पड़ेगा। यह राजा बड़ा क्रोधी है, मुझे मरवा न डाले; इसलिए क्यों न मैं पहले ही ठीक कर रखूं।[१]

जीवक ने राजा से जाकर कहा—'देव ! हम लोग वैद्य हैं। विशेष मुहूर्त्त में मूल उखाड़ते हैं, ओषधि संग्रह करते हैं। अच्छा हो; यदि देव वाहनशालाओं और नगर-द्वारों पर आज्ञा दे दें कि जीवक जिस वाहन से चाहे उस वाहन से जाय, जिस द्वार से चाहे, उस द्वार से जाय, जिस समय चाहे उस समय जाय, जिस समय चाहे उस समय नगर के भीतर आये।'

राजा प्रद्योत ने वाहनागारों और द्वारों पर उक्त आज्ञा भेज दी। उस समय राजा प्रद्योत की भद्रवतिका नाम की हथिनी जो दिन में पचास योजन चलनेवाली थी। तब जीवक राजा के पास घी ले गया और बोला—'देव ! कषाय पियें।' जीवक राजा को घी पिलाकर भद्रवतिका पर बैठकर नगर से निकल पड़ा। राजा को घी से उवांत हुआ। राजा ने मनुष्यों से कहा—दुष्ट जीवक ने मुझे घी पिलाया है, जीवक को ढूंढ़ो। मनुष्यों ने कहा कि वह भद्रवतिका पर नगर के बाहर गया है।

तब राजा ने काकदास को बुलाया—जो कि एक दिन में साठ योजन चलता था, और उससे कहा—'भन्ते काक ! जा, जीवक वैद्य को यह कहकर लौटा ला कि—राजा तुम्हें बुला रहे हैं। भन्ते काक ! ये वैद्य लोग बड़े मायावी होते हैं। उसके हाथ का कुछ मत लेना।'

काक ने जीवक को मार्ग में कौशाम्बी में कलेवा करते देखा और कहा कि 'राजा तुम्हें लौटवाते हैं।' जीवक ने कहा—'ठहरो भन्ते काक ! जब तक खा लूं; हन्त भन्ते काक ! तुम भी खाओ।'

काक ने कहा—'आचार्य ! बस; राजा ने आज्ञा दी है कि वैद्य बहुत मायावी

---

१. पाण्डुरोग—पित्तरोग के लिए घी सबसे उत्तम है; 'पित्तस्य सर्पिषा पानम्।' (संग्रह २१।४)

'नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारमनुवर्त्तते।
यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम्॥' (चरक. नि. १।४०)
'पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा।
स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे॥' (चि. १६।४३.)

होते हैं, उनके हाथ का कुछ मत लेना।' उस समय जीवक नख में दवा लगा आँवला खाकर पानी पी रहा था। तब जीवक ने कहा—'काक ! आँवला खाओ, पानी पियो।' काक ने देखा कि जीवक भी आँवला खाकर पानी पी रहा है, इसमें कोई दोष नहीं। उसने भी आधा आँवला खाया और पानी पिया। उसका आधा खाया आँवला वहीं वमन हो गया। तब काक ने जीवक से कहा कि 'आचार्य ! क्या मुझे जीना है ?

जीवक ने कहा—'भन्ते काक ! डर मत—तू भी निरोग होगा, राजा भी। राजा चंड है, मुझे मरवा न डाले, इसलिए मैं नहीं लौटूंगा।' काक को भद्रवतिका देकर जीवक राजगृह की ओर चला। राजगृह पहुँचकर सब वृत्तान्त बिम्बीसार को सुनाया। राजा ने कहा कि अच्छा किया, जो नहीं लौटे; वह राजा चण्ड है, तुम्हें मरवा भी डालता।

राजा प्रद्योत ने निरोग होने के बाद जीवक के पास दूत भेजा—'जीवक आयें, वर (इनाम) दूंगा।' जीवक वापस नहीं गया, कहला दिया कि देव मेरा उपकार (अधिकार) याद रखें। उस समय राजा प्रद्योत को हज़ारों दुशालाओं के जोड़ों में श्रेष्ठ प्रवर शिवि देश (वर्तमान स्यालकोट) के दुशालों का एक जोड़ा प्राप्त हुआ था राजा प्रद्योत ने शिवि के इस दुशाला को जीवक के लिए भेजा।

५—भगवान् बुद्ध का शरीर दोषग्रस्त था। तब भगवान् ने आयुष्मान् आनन्द को सम्बोधित किया—'आनन्द ! तथागत का शरीर दोषग्रस्त है, तथागत जुलाब (विरेचन) लेना चाहते हैं।'

आनन्द जीवक के पास जाकर बोले—'जीवक ! तथागत का शरीर दोषग्रस्त है; जुलाब लेना चाहते हैं।' 'तो भन्ते आनन्द ! भगवान् के शरीर को कुछ दिन स्निग्ध करें (चिकित्सा करें)। आनन्द ने भगवान् के शरीर को कुछ दिन स्नेहित करके जीवक से कहा कि 'तथागत का शरीर स्निग्ध है। अब जैसा समझो वैसा करो।' तब जीवक ने सोचा—यह मेरे लिए योग्य नहीं कि मैं भगवान् को मामूली जुलाब दूं। इसलिए तीन उत्पलहस्तो को नाना औषधियों से भावित कर और स्वयं जाकर भगवान् को एक उत्पलहस्त (चम्मच) देते हुए जीवक ने कहा—

'भन्ते ! इस पहले उत्पलहस्त को भगवान् सूंघें, तो इससे आपको दस बार शौच हो जायगा। इस दूसरे उत्पलहस्त को सूंघने से फिर दस बार शौच होगा; और तीसरे उत्पलहस्त के सूंघने से भी।'[1]

---

१. इससे मिलती जुलती कल्पना अत्रिपुत्र ने भी दी है—

'फलपिप्पलीनां फलादिकषायेण त्रिःसप्तकृत्वः सुपरिभावितेन पुष्परजःप्रकाशेन

औषध देने के पीछे जीवक को सूझा कि तथागत का शरीर दोषग्रस्त है, उनको तीस विरेचन नहीं होंगे—एक कम तीस होंगे। विरेचन होने पर जब भगवान् नहायेंगे तब फिर एक विरेचन होगा।

भगवान् को इसी प्रकार से गरम जल से स्नान करने पर एक बार और शौच हुआ। इस प्रकार उन्हें पूरे तीस विरेचन हुए। तब जीवक ने भगवान् से कहा कि जब तक भगवान् का शरीर स्वस्थ नहीं होता तब तक मैं जूस–पिंडपात दूंगा। भगवान् का शरीर थोड़े समय में ही स्वस्थ हो गया।

जीवक ने राजा प्रद्योत से मिला हुआ शिवि देश का दुशाला भगवान् को भेंट किया।

'नावनीतकम्'[1]—इसकी पाण्डुलिपि मेजर जनरल एच० बावर सी० बी० को १८९० में कूचार (मध्य एशिया) में मिली थी। कूचार चीन के रास्ते में पूर्वी तुर्किस्तान का एक क्षेत्र है। इसके साथ उनको छः और भी पाण्डुलिपियाँ मिली थीं। इन सात पाण्डुलिपियों में केवल पहली और तीसरी पाण्डुलिपि चिकित्सा विषय से सम्बद्ध है। प्रथम पाण्डुलिपि पाँचवें प्रकरण पर सहसा समाप्त हो जाती है। छठीं पाण्डुलिपि का विषय सर्पदंश है, यह सम्पूर्ण है।

इन पाण्डुलिपियों की भाषा गुप्तकालीन है। जो बौद्ध साधु दूर-दूर घूमते थे, प्रचार के लिए पहुँचते थे, उनके द्वारा ये पोथियाँ इतनी दूर पहुँची थीं। सम्भव है कि ये कश्मीर या उद्यान में लिखी गयी हों। इनका समय ईसा की चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध होगा।

नावनीतक एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें बहुत से योग भिन्न-भिन्न ऋषियों के नाम से संगृहीत हैं। नावनीतक का आधार चरक-संहिता, भेल-संहिता मुख्यतः हैं। भेल पुनर्वसु

चूर्णेन सरसि संजातं बृहत्सरोरुहं सायाह्नेऽवचूर्णयेत्। तद्रात्रिव्युषितं प्रभाते पुनरवचूर्णितमुद्धृत्य हरिद्राकृसरक्षीरयवागूनामन्यतमं सैन्धवगुडफाणितयुक्तमाकण्ठं पीतवन्तमाघ्रापयेत्। सुकुमारमुत्क्लिष्टपित्तकफमौषधद्वेषिणमिति समानं पूर्वेण।' (चरक. क. अ. १।१९)

संग्रह में थोड़ा आगे भी कहा है—'एतेन सर्वमाल्यगन्धप्रावरणपटा व्याख्याताः।' (संग्रह. कल्प. १)

१. नावनीतक—मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास ने लाहौर से प्रकाशित, कविराज बलवन्तसिंह मोहन वैद्यवाचस्पति द्वारा सम्पादित के आधार पर।

आत्रेय का शिष्य था। भेलसंहिता से १५ योग और चरकसंहिता से २९ योग लिये गये हैं। ४४ योग अन्य स्थानों के हैं या स्वतंत्र हैं। इनके विषय में लेखक ने कुछ नहीं लिखा। इसके अतिरिक्त कांकायन, निमि, उशनस, बृहस्पति का नाम भी उसमें है। अगस्त, धन्वन्तरि और जीवक के नाम से भी योग लिखे गये हैं। काश्यप के नाम से बहुत से योग हैं। इनमें से बहुत से योग अन्यत्र भी मिलते हैं, जिससे सम्भव है कि लोक में जो योग बहुत प्रचलित थे, सामान्य जन जानते थे; वे इसमें आ गये हैं। (जिस प्रकार कि—बिहारी सतसई में सुदर्शन चूर्ण, पद्मावत में सोना साफ करने की सलोनी क्रिया, मालविकाग्निमित्र में सर्पदंश चिकित्सा; और जनता में हिंग्वष्टक या लशुनादि वटी के योग प्रचलित हैं।)

नावनीतक की भाषा संस्कृत है जिसमें प्राकृत मिली हुई है (जैसी सद्धर्मपुण्डरीक में है)। इसमें भी प्राकृत की छाया स्पष्ट है (शायमति के लिए शमेति, शामयन्ति के लिए शमेन्ति, धावित्वा के स्थान पर धोवित्वा, प्रतिपाद्ये के स्थान पर प्रति पाद्यामि शब्द आये हैं।) मुख्यतः इसमें अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और आर्या छंद प्रयुक्त हुए हैं।

ग्रन्थ का प्रारम्भ लशुन कल्प से होता है। संग्रह एवं हृदय में वाहट ने लशुन के लिए प्रशस्ति एवं रसायन प्रयोग दिया है। वाहट ने लशुन की प्रशंसा जिस रूप में की है उससे भी सुन्दर श्लोक नावनीतक में मिलते हैं। लहसुन खाने पर बहुत जोर दिया गया है। लशुन का शब्दार्थ (लवण से न्यून) किया है; लवण-रस को छोड़कर शेष सब रस इसमें हैं।

इसके सिवा पाचन के योग, रसायन, वाजीकरण योग, आश्च्योतन, मुखलेप आदि प्रथम भाग में हैं। द्वितीय भाग में सामान्य रोगों के योग हैं। पुस्तक का नाम नावनीतक है (मक्खन; जो कि दही को बिलोकर, मथकर मिलता है, उसी प्रकार से आयुर्वेद ग्रन्थों को मथकर जो मक्खन मिला वह यह है)। इसलिए इसमें चुने हुए योगों का संग्रह है। कुछ योग जन सामान्य से एकत्र किये गये हैं। तृतीय भाग में भी योग है। चतुर्थ और पाँचवें भाग में प्राशक हैं, तंत्र विद्या है। छठे और सातवें भाग में महामायूरी और विधाराज्ञी सूत्र हैं, जिनका सम्बन्ध सर्पों से है—मयूर सर्पों का शत्रु है। महामायूरी और धरणी ये दोनों मंत्र-प्रार्थनाएँ बौद्धों में हिन्दुओं के गायत्री मंत्र (गायन्तं त्रायत इति गायत्री; बोलनेवाले की रक्षा करती है) के समान रक्षक एवं पवित्र है (संग्रह में भी स्थान-स्थान पर धरिणी, महामायूरी; अपराजिता का उल्लेख है। हर्षचरित में बाण ने लिखा है कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के समय उसकी शय्या के पास महामायूरी का पाठ हो रहा था)।

विशेषताएँ—नावनीतक की सबसे मुख्य विशेषता लहसुन के खाने का विधान करना है। यह रसायन है; राजयक्ष्मा तथा गण्डमाला के लिए अव्यर्थ औषध है। लहसुन की गन्ध उग्र होने से इसका उपयोग कृमि (जर्म्स, बैक्टीरिया) मारने में होता है। इसको रस्सी में बाँधकर घर के बाहर की सरदल पर लटकाते हैं; जिससे कि चेचक आदि वायु से फैलनेवाले रोग नहीं होते (हर्म्याग्रेष्वथ तोरणेषु वलभी द्वारेषु चाविष्कृताः। कन्दाद्या लशुनस्रजो विरचेत् भूमौ (त)थैवार्च्चनम्'—नावनीतक) लहसुन का उपयोग तथा प्रयोग विधि बहुत ही विस्तार से वर्णित है।[1] बावर-पाण्डुलिपि के प्रथम संस्करण के पीछे पश्चिमी चिकित्सा में लहसुन का महत्त्व समझा जाने लगा। तंत्र प्रयोग भी चिकित्सा में उस समय प्रचलित था, इससे यह स्पष्ट है।

भाषा—नावनीतक की भाषा ललित एवं प्रसाद गुणयुक्त है। हिमालय का वर्णन कालिदास के कुमारसम्भव में हिमालय की याद दिलाता है। दोनों के भाव, उपमाएँ एक ही हैं। माधुर्य और अलंकार की दृष्टि से नावनीतक की रचना कई स्थानों पर बहुत ही मनोरम है। उदाहरण के लिए लशुन का वर्णन देखिए—

---

१. लशुन के उपयोग का विधान अष्टांगसंग्रह, अष्टांगहृदय, काश्यपसंहिता और नावनीतक में है। इसकी उत्पत्ति एक ही प्रकार से बतायी गयी है; इसके न खाने का भी कारण एक ही है। रसोन का उपयोग, उसके सेवन की विधि; तथा उसके गुण प्रायः सबमें एक हैं। सबमें ही इसको रसायन; वातनाशक कहा गया है। संग्रह में इसकी प्रशंसा में कहा गया है—

'अमृतकणसमुत्थं यो रसोनं रसोनं, विधियुतमिति खादेच्छीतकाले सदैव।
स नयति शतजीवी स्त्रीसहायो जरान्तं कनकरुचिरवर्णो नीरुजस्तुष्टिजुष्टः॥'

नावनीतक में भी इसके सम्बन्ध में सुन्दर पद्य रचना है। इसके प्रयोग का समय शीतकाल एवं वसन्त में है (अयमिह लशुनोत्सवः प्रयोज्यो हिमकाले च मधौ च माधवे च—नावनीतक)। काश्यप संहिता में भी लशुन की इसी प्रकार स्तुति है—"न जातु भ्रश्यते जातं नृणां लशुनखादिनाम्। न पतन्ति स्तनाः स्त्रीणां नित्यं लशुनसेवनात्॥ न रूपं भ्रश्यते चासां न प्रजा न बलायुषी। सौभाग्यं वर्धते चासां दृढं भवति यौवनम्॥' काश्यप संहिता—लशुनकल्प "अशोक जब बीमार हुआ था, उसे वैद्य ने प्याज खाने को कहा था—परन्तु उसने यह कहकर निषेध कर दिया था कि मैं क्षत्रिय हूँ।"

'दृष्ट्वा पत्रैर्हरितहरितैरिन्दनीलप्रकाशैः कन्दैः कुन्दस्फटिककुमुदेन्द्वंशुशंखाभ्र-शुभ्रः उत्पन्नस्थो म [मु] निमुपगतः सुश्रुतः काशिराजं किन्वेतत्स्यादथ सभगवानाह तस्मै यथावत् ।'

चरकसंहिता के वचनों को अपनी रचना में कहा है; उदाहरण के लिए—

'मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्ठीमधुकस्य चूर्णम् ।
रसो गुडूच्यास्तु समूल पुष्प्याः कल्कः प्रयोज्यः खलु शंखपुष्प्याः ॥'
(चि. १।३।३०.)

नावनीतक में—

'स्वरसेन शंखपुष्प्याः ब्राह्मी मण्डूकपर्णी मधुकानाम् ।
मेधारोग्यबलार्थी जीवितुकामः प्रयुञ्जीत ॥'—(नावनीतक १।५२.)

नावनीतकम् में मातंगी विद्या का उल्लेख है। यहाँ पर मातंगी विद्या का स्तोत्र दिया गया है; काश्यपसंहिता में भी इस विद्या का नाम आया है। इस संहिता में मातंगी विद्या का फल बताया गया है; इसमें उसका स्तोत्र है; जो कि लगभग तंत्र की भाँति है। इसी प्रकार से महामायूरी विद्या का मंत्र तथा फलश्रुति इसमें है; अष्टांगसंग्रह आदि ग्रन्थों में इस विद्या का उल्लेख है, परन्तु मंत्र या स्तोत्र नहीं है। वह इसी में है।

इस प्रकार से बौद्ध साहित्य में मुख्यतः इन चार पुस्तकों की सहायता से आयुर्वेद की स्थिति जानी जा सकती है। इसमें विनयपिटक का महत्त्व सबसे अधिक है।

इसके अतिरिक्त बौद्ध शब्द का चारिका शब्द पाणिनि के 'चरक' शब्द का प्रतिरूप है। चारिका शब्द चंक्रम विचरने के लिए आता है। जो भिक्षु चतुर्मास छोड़कर शेप मासों में विचरते रहते थे, उनका नाम चारिक है। इसी प्रकार भिक्षा के अर्थ में भी चारिका शब्द है। भगवान् बुद्ध का उपदेश था—'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, चरत भिक्षुवे, चरत भिक्षुवे।' जो देश में वास्तविक ज्ञान का प्रचार करते थे, वे चरक थे (हिन्दू सभ्यता—पृष्ठ ११०); जातक में आता है 'अनुपव्वे न चारिकां चरन्तः'—जातक भा. ५, पृष्ठ २४७। हिन्दी का 'चारण' शब्द भी इसी अर्थ को बताता है; जो कि सदा चलते रहते थे (अथवा चरणों की स्तुति राजा, महाराजाओं का यश कीर्त्तन करते थे, इसलिए चारण कहे जाते थे)।

वास्तव में भारत के इतिहास का प्रारम्भ इसी साहित्य से होता है। यहीं से तिथिक्रम एवं विदेशियों से सम्बन्ध का प्रारम्भ स्पष्ट होता है। यह अवस्था आयुर्वेद साहित्य के लिए पूर्ण यौवन की थी; जो कि इस देश में ही उत्पन्न हुआ था। उस समय

लोग यहाँ पर आयुर्वेद-चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन के लिए आते थे। यह अवस्था मध्यकाल तक बनी रही, जैसा कि अरब और भारत के सम्बन्ध में पुस्तक के लेखक ने स्पष्ट लिखा है, तथा मध्य कालीन भारतीय संस्कृति में हम देखेंगे।

इस समय से अधिक उज्ज्वल पक्ष चिकित्साशास्त्र का प्राचीन काल में अन्यत्र नहीं, और आज तक भी नहीं। मस्तिष्क का शल्यकर्म इस बीसवीं सदी में भी अभी तक पूर्ण सफलता के साथ नहीं हुआ। इसलिए इस समय को 'आयुर्वेद का मध्याह्न काल' कहने में कोई भी अतिशयोक्ति मैं नहीं समझता।

चौथा अध्याय

स्मृति और पुराणों में आयुर्वेद साहित्य

पुराणों की संख्या अट्ठारह निश्चित है। इसका कारण सम्भवतः भगवान् वेद-व्यास का नाम जुड़ा होना है; क्योंकि महाभारत काल का सम्बन्ध अट्ठारह संख्या से विशेष है। कौरव-पाण्डव युद्ध में दोनों पक्षों की सेना की संख्या अट्ठारह अक्षौहिणी थी; महाभारत का युद्ध भी अट्ठारह दिन चला; महाभारत के पर्व भी अट्ठारह हैं; गीता के अध्याय भी अट्ठारह हैं; इसलिए पुराणों की संख्या भी अट्ठारह ही प्रतीत होती है।

पुराणों का लक्षण जो मिलता है; उसके अनुसार अनुलोम सृष्टि; प्रतिलोम सृष्टि (प्रलय), ऋषिवंश, मन्वन्तर तथा राजवंशों का वर्णन करना पुराणों का लक्षण है।[1] प्राचीन आख्यायन के लिए पुराण शब्द आता है। इन आख्यायनों का ही सबसे अधिक प्रभाव हिन्दू धर्म पर पड़ा है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की कल्पना इन पुराणों में ही की गयी है। इनकी महिमा सर्वत्र गायी गयी है। पुराणों के ये आख्यायन वैदिक काल की कथाओं को स्पष्ट करने के लिए ही हुए हैं। इनमें लोकाचार सम्बन्धी कथाओं का संग्रह है।

पुराणों का महत्त्व, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से बहुत है। चिकित्सा के इतिहास के सम्बन्ध में भी इनका महत्त्व है; यद्यपि उतना अधिक नहीं, जितना भौगोलिक ऐतिहासिक दृष्टि से है (गरुड़ पुराण में बहुत से श्लोक चरक, सुश्रुत से संगृहीत हैं)।

पुराणों के नाम ये हैं—(१) ब्रह्मा, (२) विष्णु, (३) अग्नि, (४) वायु, (५) मत्स्य, (६) स्कन्द, (७) कूर्म, (८) लिङ्ग, (९) भविष्य, (१०) पद्म, (११) भागवत, (१२) ब्रह्माण्ड, (१३) गरुड़, (१४) मार्कण्डेय, (१५) ब्रह्मवैवर्त्त, (१६) वामन, (१७) वराह और (१८) शिव।

---

१. 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥'

रचना काल––अलबरूनी ने जो कि १०३० ईसवी में भारत आया था, अट्ठारह पुराणों की सूची दी है; शंकराचार्य ने नवीं शताब्दी में; कुमारिल भट्ट ने ८वीं शताब्दी में पुराणों का उल्लेख किया है। बाण ने कादम्बरी में पुराणों का उल्लेख किया है (६२० ईसवी); कौटिल्य अर्थशास्त्र में पुराणों का उल्लेख है; उन्मादी राजपुत्रों को पुराण उपदेश ग्रहण करने के लिए कहा गया है। अर्थशास्त्र का समय ३०० ईसवी पूर्व है।

साथ ही पुराणों में कलियुग के राजाओं का वर्णन है। विष्णु पुराण में मौर्यवंश के राजाओं का (३२६ से १८५ ई० पू०); मत्स्य पुराण में आन्ध्र वंश के राजाओं का; वायु पुराण में गुप्तवंश के राजाओं का; आभीर, गर्दभ, शक, यवन, तुषार, हूण आदि म्लेच्छ राजाओं का वर्णन है। इसलिए इनका ठीक समय निश्चित करना कठिन है; परन्तु इतना सत्य है कि इनकी चरम सीमा गुप्त काल है। भले ही इनके प्रारम्भ की सीमा ईसा से छठी शती पूर्व हो या जो हो! इस प्रकार इन तेरह सौ वर्ष के लम्बे समय में इनकी रचना हुई है।

वेद के अधिकारी केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य थे; परन्तु रामायण, महाभारत, पुराण सुनने का अधिकार सबको था। स्त्री और शूद्र भी इसको सुनकर ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। जिस प्रकार जातक कथाओं से बुद्ध धर्म का प्रचार हुआ, उसी प्रकार पुराणों से हिन्दू धर्म का प्रचार-विस्तार बढ़ा। इनमें ही सगुण उपासना, अवतारवाद तथा अन्य बातों को जन्म मिला। इनमें भक्ति का महत्त्व बताया गया है। कलियुग में भक्ति ही मोक्ष का साधन मानी गयी है। इसी भक्ति माहात्म्य का प्रचार पुराणों में उपाख्यानों से समझाया गया है। पुराणों का पारायण लोमहर्षण सूत या उनके पुत्र उग्रश्रवा ने किया था।

पुराण की प्राचीनता उपनिषद् काल तक जाती है। जहाँ इतिहास पुराण को अध्ययन का मान्य विषय स्वीकृत किया गया है। पुराण को पाँचवाँ वेद कहा गया है। रामायण, महाभारत के समान पुराण भी जनता के लिए वेद की भाँति थे।

चिकित्सा विषय––१––ब्रह्म वैवर्त्त पुराण, ब्रह्म खण्ड में आयुर्वेद की उत्पत्ति का निम्नलिखित वर्णन मिलता है––

"ऋग्यजुः सामाथर्व्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः
विचिन्त्य तेषामर्थञ्चैवायुर्वेदं चकार सः॥
कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः
स्वतंत्रसंहितां तस्मात् भास्करश्च चकार सः॥" इत्यादि इत्यादि।

ब्रह्मा ने आयुर्वेद उत्पन्न किया। इसे आयुर्वेद परम्परा में तथा अन्य स्थानों पर भी कहा है; परन्तु ब्रह्मा ने भास्कर को आयुर्वेद दिया, यह आयुर्वेद ग्रन्थों की परम्परा में नहीं मिलता (लोक में अवश्य प्रसिद्धि है कि 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्'—स्वास्थ्य सूर्य से माँगना चाहिए)। भास्कर ने अपने सोलह शिष्यों को आयुर्वेद सिखाया। उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थ बनाये। इन शिष्यों में न तो इंद्र का नाम है, और न भारद्वाज का। धन्वन्तरि, दिवोदास और काशिराज ये तीनों भिन्न बताये गये हैं; जब कि उपलब्ध सुश्रुत संहिता से ये तीनों नाम एक ही व्यक्ति के प्रतीत होते हैं।

चरक संहिता में ब्राह्म रसायन के दो पाठ हैं (चि. अ. १।१); इनमें यह नहीं कहा गया कि इनको ब्रह्म ने कहा या बनाया था। परन्तु पिछले ग्रन्थों में ब्रह्मा के नाम से कहे गये बहुत योग मिलते हैं। विशेषतः रसशास्त्र में ब्रह्मा के बनाये बहुत योग हैं[1]। ब्राह्मसंहिता कोई थी, इसकी जानकारी भावमिश्र के कहने से होती है।

२—अग्निपुराण में आयुर्वेद का विषय कुछ विशेष है; परन्तु यह विषय बहुत पीछे का है; इसमें बहुत से श्लोक चरक संहिता से पूर्णतः मिलते हैं, रोग निदान में भी कुछ भी विशिष्टता नहीं। घोड़ों तथा हाथियों की भी चिकित्सा वर्णित है। विष चिकित्सा और बालतंत्र में मंत्र प्रयोग भी दिये गये हैं (सुश्रुत संहिता में ग्रहों की चिकित्सा में मंत्र जो दिये गये हैं, वे इनसे सर्वथा भिन्न हैं)।

अग्नि पुराण में सिद्धौषधानि (२७८ वाँ); सर्वरोगहराणि औषधानि (२७९); रसादि-लक्षण (२८०); वृक्षायुर्वेद (२८१), नाना रोगहराणि औषधानि (२८२)

---

१. भावप्रकाश में—'ब्राह्म संहिता' एक लाख श्लोक की कही गयी है—

'विधाताऽथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन्।
स्वनाम संहितां चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम्॥'

वरुण चिकित्सा ग्रन्थ में भी ब्रह्मा का उल्लेख है—ब्रह्मा ने श्रृंग, जलौका, और तीक्ष्ण शस्त्रों का चिकित्सा में उपयोग किया—

"श्रृंगं षडङ्गुलं स्वतं जलूकं द्वादशाङ्गुलम्।
शस्त्रमङ्गुलमात्रेण ब्रह्मणा निर्मितं पुरा॥'

रसौषध ब्रह्मा के द्वारा निर्मित्त; सर्वांग सुन्दर रस (रसेन्द्रसारसंग्रह); बालकुलान्तक (र. सा.सं.); चतुर्मुख रस (र. सा. सं.); विजयानन्द (र. सा. स.); बृहत् अग्निमुख चूर्ण (ग. नि.); बृहत् सारस्वत चूर्ण (ग. नि.); चन्द्रप्रभा गुटिका (ग. नि.); आदि बहुत योग ब्रह्मा के नाम से मिलते हैं। (हिस्ट्री आफ इंडियन मैडिसिन)

मंत्र रूप औषध (२८३); मृतसंजीवनीकर सिद्ध योग (२८४), कल्पसागर (२८५); गज चिकित्सा (२८६); अश्व वाहनसार (२८७); अश्व-चिकित्सा (२८८) शान्त्यायुर्वेद (२९१); गोनसादि-चिकित्सा (२८७); बालाग्रहहर बालतंत्र (२९८) चिकित्सा से सम्बद्ध है।

अग्नि पुराण के बहुत से योग तथा पथ्य आयुर्वेद ग्रन्थों में पूर्णतः मिलते हैं; यथा—

अग्नि पुराण—	चरक तथा अन्य ग्रन्थ
१. षडंगपानीय—मुस्तपर्पटकोशीरचन्द-नोदीच्यनागरैः ।। २७८।४.	मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः।। चि. अ. ३।१४५
२. मुद्गाः मसूराश्चणकाः कुलत्थाश्च सकुष्टकाः ।। २७८।६.	मुदगान्मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् सम कुष्टकान् ।। चि. अ. ३।१८९.
३. रक्षन् बलं हि ज्वरितं लंघितं भोजयेद् भिषक्	प्राणाविरोधिना चैनं लंघनेनोपपादयेत्- चि. अ. ३।१५१

इसी प्रकार से नासा के रक्त को रोकने में दूर्वा का स्वरस; बालकों के लिए प्रसिद्ध अवलेह (शृंगी सकृष्णातिविषां चूर्णितां मधुना लिहेत् । एका चातिविषा कासच्छर्दि-ज्वरहरी शिशोः ।।२८२।२); जंगाल, आनूपदेश; वात रक्त में गिलोय का उपयोग; कुष्ठ में खदिर का उपयोग (कुष्ठिनाञ्च तथा शस्तं पानार्थे खदिरोदकम्—२७८।१४; तुलना कीजिए—"यथा सर्वाणि कुष्ठानि हतः खदिरबीजकौ" चि. अ. ६।१९); कुष्ठ के लेप में मनःशिला और हरताल (२७८।१६); नेत्र रोगों में त्रिफला का सेवन; आदि योग बताये गये हैं।

घोड़ों तथा हाथियों की चिकित्सा, उनके प्रशस्त लक्षण इस पुराण में दिये गये हैं। अग्नि पुराण में कुछ शब्द भाषा के ही हैं; यथा नालं (२८७।२८); रोकयित्वा (२७८।३९)। अग्नि पुराण में शल्य चिकित्सा या शालाक्य विषय का उल्लेख नहीं है; कहीं-कहीं पर नेत्ररोग और शिरो रोग के लिए सामान्य उपचार है। आयुर्वेद का विषय बहुत ही संक्षिप्त तथा उथला है। योग भी जो दिये गये हैं वे सब सामान्य हैं। दूसरे ग्रन्थों से सम्बन्धित हैं।

धातुओं का भस्म के रूप में उपयोग इसमें है; (ताम्रं मृतं मृततुल्यं गन्धकञ्च कुमा-रिका। २८५।१३)। आयुर्वेद की प्राचीन संहिताओं में धातुओं का उपयोग सूक्ष्म चूर्ण के रूप में मिलता है; परन्तु भस्म के रूप में नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है यह अंश बहुत पीछे का है।

गरुड़ पुराण में आयुर्वेद सम्बन्धी विवरण पर्याप्त हैं; यद्यपि यह भी अग्निपुराण

की भाँति बहुत प्राचीन नहीं है। चिकित्सा सम्बन्धी उल्लेख के अतिरिक्त रत्नों की परीक्षा भी इसमें मिलती है। (गरुड़ पुराण ६८।९-१०)

रत्नों की उत्पत्ति, उनके गुण दोष, रंग धारण करने आदि सम्बन्धी उल्लेख विस्तार से दिया गया है।

चिकित्सा सम्बन्धी अध्याय १४६ से प्रारम्भ होकर दो सौ दो तक चले गये हैं। इनमें रोगों का वर्णन, हिताहित सम्बन्धी, अनुपान सम्बन्धी, प्रसाधन सम्बन्धी, मुख पर लेप, बालों के लेप, तेल, वाजीकरण, रसायन, वशीकरण, नेत्ररोग आदि विषय वर्णित हैं। झिञ्जिनीवात (११७।४९); संघातवात (१४७।४८) आदि नये शब्द इसमें हैं; ये शब्द प्राचीन आयुर्वेद संहिताओं में नहीं मिलते।

इसमें सर्वरोग निदान प्रथम अध्याय है। इस अध्याय का प्रारम्भ सुश्रुत को सम्बोधन करके धन्वन्तरि ने किया है। इसमें आत्रेय आदि से वर्णित रोगों का निदान कहा गया है। अध्याय का प्रारम्भ वाग्भट के अष्टांग हृदय के श्लोकों से हुआ है (माधव निदान में भी ये श्लोक हृदय के निदान स्थान से लिये गये हैं। अष्टांग हृदय की रचना गुप्त काल की है; इसलिए गरुड़ पुराण या उसका यह भाग इसके पीछे का या इस समय का होना चाहिए।)। सर्व रोग निदान का प्रथम अध्याय संग्रह एवं हृदय में ही मिलता है, अन्य संहिताओं में नहीं है। इस अध्याय में रोगों के सामान्य कारणों का उल्लेख किया गया है।

इसके आगे ज्वर निदान है। इसमें पुनः संग्रह के आधार पर वचन मिलते हैं; यथा---वात, पित्त, कफ दोषों के अनुसार क्रमशः सात, दस या बारहवाँ दिन ज्वर से मोक्ष के लिए या मृत्यु के लिए होता है। यह अग्निवेश का मत है; हारीत के अनुसार यह मर्यादा १४, २० एवं २४ दिन की है (तुलना कीजिए, संग्रह नि० २।५९–६१)। इसमें रक्तपित्त निदान, कास, श्वास, हिक्का, यक्ष्मा, अरोचक, हृद्रोग, मदात्यय, अर्श, तृष्णा, अतिसार-ग्रहणी, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र; प्रमेह, विद्रधि, गुल्म, उदर, पाण्डु-शोथ, विसर्पादि, कुष्ठरोग, कृमि निदान, वात व्याधि, वात रक्त निदान हैं। चिकित्सा शास्त्र में सूत्र-स्थान, सर्वरोगहर नामक योगसार अध्याय है। इसमें त्रिदोष की विवेचना है तथा इसकी सामान्य चिकित्सा है।

हिताहित अनुपान विधि में द्रव्यों के गुण बताये गये हैं। एक प्रकार से अन्नपान विधि, द्रव्य-विवेचन इसमें किया गया है। ज्वर-चिकित्सा; नाड़ी व्रण, शूल, भगन्दर, कुष्ठादि की चिकित्सा, स्त्रीरोग चिकित्सा, योगसार-रसों के गुण, उनके गुण-धर्म (रस विवेचना) आते हैं। घृत तैलादि प्रकथन, चिकित्सा में नाना योग हैं। इसके आग

आरोग्यशाला में चिकित्सा के सब सम्भार-साधन होने चाहिए। (देखिए चरक० सू० अ० १५ में उपकल्पनीय अध्याय); इसी से 'महौषध परिच्छदां' कहा गया है। इसमें दवाइयों का भण्डार रहे। यह औषध समूह वनस्पतियों का, प्राणिज तथा खनिज सबका होना चाहिए।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन मनुष्य का स्वास्थ्य-आरोग्य ही है ('शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'---कालिदास)। इसलिए आरोग्य को देनेवाला व्यक्ति सब कुछ देनेवाला है। सब प्रकार की ओषधियों तथा साजशय्या से परिपूर्ण आरोग्यशाला को बनाना चाहिए। इसमें चतुर, होशियार वैद्य रखना चाहिए। बहुत प्रकार के अन्न, खान-पान प्रभूत मात्रा में संग्रह करना चाहिए (रोगी को खाना-पीना यहीं से दिया जा सके)। (शब्द कल्पद्रुम)

वैद्य के गुण---वैद्य का शास्त्र अध्ययन ठीक प्रकार से होना चाहिए। शास्त्र को ठीक समझे; बुद्धिमान्, (प्रतिपत्ति कुशलः); जिसने ओषधियों की आजमाइश---परीक्षा कर ली हो, औषधियों की शक्ति की ठीक जाँच की हो। वैद्य औषधि के मूल का वास्तविक ज्ञाता---कहाँ से औषधि आती है, कैसी बनी है, आदि बातें जो पूरी तरह समझे; ओषधियों को किस समय पर उखाड़ना चाहिए, यह जिसको ज्ञात हो; औषधि के संग्रह काल को जाननेवाला; शालि, गेहूँ, चावल आदि निरामिष तथा मांसों के बल-वीर्य-विपाक को जानता हो; त्यागी के समान वृत्ति रखे (लोभ रहित)। वैद्य को मनुष्यों के लिए अनुकूल और प्रियवादी होना चाहिए।

इस प्रकार का वैद्य आरोग्यशाला में जो व्यक्ति रखता है, उसको बहुत पुण्य होता है; वह लोक में धार्मिक, कृतार्थ (सब कुछ जिसने कर लिया---आगे कुछ भी करने को नहीं रहा); बुद्धिमान् होता है।---(शब्द कल्पद्रुम)

पुराणों में दान की जो महिमा वर्णित है, उसमें आरोग्यशाला बनाना, जीवनदान करना सबसे मुख्य कहा गया है। इसी के लिए मनुष्यों को प्रेरित किया गया है। आज ईसाई धर्म, अपने धर्म-प्रचारकों की सहायता से इतना नहीं फैला, जितना अपने चिकित्साकार्य---जीवनदान से। विशेषतः अशिक्षित जनता में जहाँ पर भूत-प्रेत रोग के कारण माने जाते हैं; वहाँ पर चिकित्सा से उनका बहुत प्रचार हुआ है। इसी से आरोग्यशाला के लिए पुराणों में प्रेरणा दी गयी है।

'दारुणैः कृष्यमाणानां गदैर्वैवस्वतक्षयम्।
छित्त्वा वैवस्वतस्तान् पाशान् जीवितं यः प्रयच्छति॥
धर्मार्थदाता सदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते।

न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद् विशिष्यते[1] ॥
परो भूतदयाधर्म इति मत्वा चिकित्सया ।
वर्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥' (चरक. चि. अ. १।४।
६०-६२)

स्मृतियों में आयुर्वेद साहित्य

उपनिषदों की भाँति स्मृतियाँ भी अनेक हैं। स्मृतियों का आधार श्रुति है ('श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'–रघुवंश)। ये ही स्मृतियाँ या धर्मशास्त्र प्राचीन भारत की सभ्यता पर अधिक प्रकाश डालते हैं। इनमें मुख्य या प्रतिनिधि ग्रन्थ मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य और नारद प्रणीत हैं। विष्णु स्मृति के अतिरिक्त ये सब श्लोकों में हैं। इनका जो वर्त्तमान रूप है उसमें रामायण और महाभारत की भाँति बहुत अंश समय-समय पर पीछे भी जोड़ा गया है।

चिकित्सा का विषय—मनुस्मृति में उद्भिज्जों का भेद, ओषधि, वनस्पति, वृक्ष और वल्ली के रूप में किया गया है। फल के आने पर जिनका नाश होता है; बहुत पुष्प और फल जिनमें आता है, वे ओषधियाँ हैं। जिनमें पुष्पं नहीं आता, फल आते हैं, उनको वनस्पति कहते हैं; पुष्प और फलवाले वृक्ष हो जाते हैं; गुच्छ-गुल्म जो नाना प्रकार की तृण जातियाँ हैं, ये वल्ली हैं। इनके संज्ञा अन्तः होती हैं; ये भी सुख-दुःख का अनुभव करती हैं (अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःख समन्विताः ।१।४९)।

मनुस्मृति के गृहस्थाश्रम वर्णन में जो आचार वर्णित हैं; वही तथा उससे मिलता वर्णन आयुर्वेद की वृद्धत्रयी संहिता में आता है (मनु—४।४३–६४; चरक० सूत्र० अ० ८; सुश्रुत चि० अ० २४; संग्रह सू० अ० ३)।

मनुस्मृति में चिकित्सक के अन्न का ग्रहण करना निषेध किया गया है (पूयं चिकित्सकस्यान्नं ४।२२०)। यह अन्न किन कारणों से निषिद्ध हुआ है; यह नहीं लिखा; परन्तु अस्थि स्पर्श में, मांस, रक्तादि के स्पर्श में प्रायश्चित्त है; सम्भवतः इसलिए निषेध हो।

चिकित्सक की भूल पर दण्ड—चिकित्सक यदि पशु चिकित्सा में मिथ्या वर्त्तन करे तो उसे प्रथम साहस का दण्ड देना चाहिए। मनुष्य की चिकित्सा में मिथ्या

---

१. 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं साधनं यतः ।
तस्मादारोग्य-दानेन तद्दत्तं स्याच्चतुष्टयम् ॥'
—आरोग्यदान, स्कन्दपुराण ।

वर्त्तन करने में मध्यम साहस का दण्ड दें (चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः। अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥९।२८४)।

विष्णु स्मृति—यह स्मृति बहुत पीछे की बनी है; कम से कम गुप्तकाल से पहले की नहीं है। इसमें दी हुई स्वास्थ्य सम्बन्धी सूचनाएँ (अध्याय ६०, ६१, ६३ और ६४ में) अष्टांग-संग्रह में दी गयी सूचनाओं से प्रायः मिलती हैं (दिनचर्या अध्याय सूत्र० अ० ३)। शौचकार्य सम्बन्धी निर्देश; शौचकार्य में मिट्टी का उपयोग (मिट्टी की विशेषता—गन्ध लेपक्षयकरम्;—संग्रह में—लेपगन्धापहम्) एक समान शब्द रचना (नप्रत्यनिलानलेन्द्वर्कस्त्रीगुरुब्राह्मणानाञ्च—विष्णु; न नारी पूज्य गोऽर्केन्दुवाय्वन्नाग्निजलं प्रति—संग्रह) है।

दातुन के नियम—किन-किन वृक्षों की दातुन नहीं करनी चाहिए; यथा—लसूड़ा, रीठा, बहेड़ा, धव, धन्वन, बन्धूक; सम्भालू, सहजन, तिन्दुक आदि वृक्षों की दातुन नहीं करनी चाहिए (तुलना कीजिए संग्रह० सू० अ० ३।२०–२१, इनमें न पारिभद्र-काम्लिका 'मोचक' शाल्मलीशाणजम्—यह पंक्ति पूर्णतः संग्रह में—पारिभद्रकमम्लीकामोचक्यौ शाल्मलीं शणम्, इस प्रकार है')। जिन वृक्षों की दातुन करनी चाहिए, उनमें बरगद, असन, अर्क, खदिर, करंज, सर्ज, नीम, अपामार्ग, मालती आदि हैं (यह रचना भी दोनों में समान हैं)।

स्नान के सम्बन्ध में दूसरे के बनाये कुएँ आदि में स्नान करने का निषेध है; अथवा दूसरे के स्नान से बचे पानी में स्नान न करे; यदि स्नान करना हो तो पाँच पिण्ड देकर स्नान करे (विष्णु ६४)[१]। स्नान करके शिर को (संग्रह में बालों को) फटकारना मना किया है—"धुनयान्न शिरोरुहान्।"

सद्वृत सम्बन्धी बातें भी प्रायः वे ही हैं, जो आयुर्वेद ग्रन्थों में वर्णित हैं। यथा-—अधार्मिक, वृषल; शत्रुओं के साथ संगति—मुसाफिरी न करे; केश, तुष, कपाल, अस्थि, भस्म, अंगार इनको न लाँघें और न इनके पास सोये। देवता तथा विद्वान् एवं वनस्पतियों की प्रदक्षिणा करे। नदी को व्यर्थ में न तैरे ('न वृथा नदीं तरेत्' इस

---

१. संग्रह और याज्ञवल्क्य स्मृति में भी यही उल्लेख है; (याज्ञवल्क्य १।१५९; संग्रह ३।७१)। इसका स्पष्ट अर्थ नहीं है; संग्रह के टीकाकार इन्दु ने लिखा है कि तालाब में से मिट्टी के पाँच पिण्ड निकालकर बाहर फेकें। इससे वह तालाब अपना हो जाता है; फिर स्नान करें; यह अर्थ स्पष्ट नहीं, परन्तु यह वचन समान रूप में तीनों में हैं।

पाठ के स्थान पर संग्रह में 'नदी तरेन्न बाहुभ्याम्' पाठ है); बाहु से न तैरे, टूटी हुई नाव से नदी को पार न करे।

याज्ञवल्क्य स्मृति—मनुस्मृति के पीछे प्रामाणिक स्मृति यही है। मनु से कहा आचार-विचार उत्तर भारत में प्रामाणिक है। याज्ञवल्क्य स्मृति की प्रतिष्ठा मध्य भारत और दक्षिण में है। वहाँ पर इसको प्रामाणिक रूप में स्वीकार किया जाता है। इसकी रचना मनुस्मृति के पीछे की मानी जाती है।

आयुर्वेद विषय तथा चरक संहिता सम्मत अस्थिगणना एवं दैव और पुरुषकार सम्बन्धी विचार इसमें एक समान हैं। साथ ही अष्टांग संग्रह के मान्य विचार भी स्नान के सम्बन्ध में इसमें आते हैं (उदाहरण के लिए—"पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात् परवारिषु।'—१।१५९; यह पंक्ति इसी रूप में संग्रह में आती है; सू० अ० ३।७१)।

चरक में अस्थिगणना तीन सौ साठ बतायी गयी है; सुश्रुत में इस अस्थिगणना को वेदवादियों की बताया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी मनुष्य की अस्थिगणना तीन सौ साठ ही कही गयी है (षड्ङ्गानि तथा स्थानञ्च सहषष्ट्या शतत्रयम्।३।८४)। त्वचा भी चरक के समान छः मानी गयी है। शिराओं की संख्या सात सौ; स्नायु नौ सौ; धमनियाँ दो सौ; पेशियाँ पाँच सौ हैं। नाड़ियों को हृदय से निकलती कहा गया है; इनकी संख्या बहत्तर हजार (द्वासप्तति सहस्राणि) कही गयी है।

गर्भ निर्माण—प्रतिमास गर्भाशय में गर्भ का निर्माण बताया गया है। तृतीय मास में आत्मा का आना कहा गया है (आत्मा गृह्णात्यजः सर्वं तृतीये स्पन्दते ततः। दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्॥ वैरूप्यं मरणं वाऽपि तस्मात् कार्यं प्रियं स्त्रियाः॥ ३।७९)। आठवें मास में ओज का माता से गर्भ में और गर्भ से माता में जाना कहा गया है। आठवें मास में उत्पन्न गर्भ इसीलिए नहीं बचता (देखिए चरक-संहिता में भी शा० अ० ४।२४)।

याज्ञवल्क्य स्मृति का यह प्रकरण चरक संहिता का अनुसरण करता है।

दैव और पुरुषकार—यह प्रश्न प्रायः सर्वत्र विचारा गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इस पर विचार किया गया है। यथा—

'दैवे पुरुषकारे च कर्म्मसिद्धिर्व्यवस्थिता।
तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदेहिकम्॥
केचिद्दैवात् स्वभावाच्च कालात् पुरुषकारतः।
संयोगे केचिदिच्छन्ति फलं कुशलबुद्धयः॥

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्धयति॥' (१।३४९-३५१)

कर्मसिद्धि दैव और पुरुषकार इन दोनों पर आश्रित है। कभी दैव से, कभी स्वभाव से, कभी काल से और कभी पुरुषकार से और कभी संयोग से काम होता है। जिस प्रकार एक पहियावाला रथ चल नहीं सकता, उसी प्रकार पुरुषकार के बिना दैव भी सफल नहीं होता। इसमें अभिव्यक्त कर्म को 'दैव' और पौर्वदेहिक कर्म को 'पौरुष' कहा गया है जो सामान्यतः ठीक नहीं। चरक में पूर्वजन्म कृत कर्म को दैव अरि इस जन्म में किये गये कर्म को पौरुष कहा गया है (शा० अ० २।४४); इससे स्पष्ट है कि यह पाठ प्रमाद का है।

ये ही विचार चरक संहिता में आये हैं; यथा—पुरुषकार कर्म बलवान् हो तो वह दुर्बल दैव कर्म को दबा लेता है, और यदि पुरुषकार कर्म निर्बल हो तो उसे दैव कर्म दबा लेता है; इस विचार से कोई आयु को नियत मानते हैं (वि० अ० ३।३४)। आयु का परिमाण दैव और पुरुषकार कर्म पर स्थित है; आत्मकृत कर्म को दैव कहते हैं, जो कि पूर्व शरीर में किया होता है। इस जीवन में जो कर्म करते हैं, उसे पुरुषकार कहते हैं (वि० अ० ३। २९-३०)। पूर्वजन्म में जो कर्म किया जाता है, उसको दैव शब्द से कहते हैं; वह भी काल आने पर रोगों का कारण बन जाता है (शा० अ० १।११६)।

नारदीय मनुस्मृति—यह स्मृति बहुत पीछे की है, सम्भवतः गुप्त काल के बाद की है। इसका प्रमाण मुख्यतः नहीं माना गया है। परन्तु इसके कुछ श्लोक सभ्य समाज में बहुत सम्मानित हैं (न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा; वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्। नाऽसौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति, न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥' व्यवहार ८०)।

इसमें ही प्राड्विवेक के लिए शल्य चिकित्सक का उदाहरण दिया गया है; जिस प्रकार से शल्य चिकित्सक गूढ़ शल्य को यंत्र-शस्त्र द्वारा ढूँढ कर निकाल लेता है; उसी प्रकार से प्राड्विवाक् को चाहिए कि तर्क में से सच्ची बात को निकाल ले। जहाँ पर सब लोग कहें कि ठीक हुआ वही निःशल्य विवाद है; इसके विपरीत सशल्य विवाद है।

बौधायनस्मृति—यह स्मृति भी पीछे की है। इसकी भी प्रतिष्ठा मुख्य स्मृतियों में नहीं है। इसमें शालीन यायावर आदि ऋषियों के लिए धर्म निरूपण है। चरक में दो प्रकार के ऋषि कहे गये हैं। एक शालीन और दूसरे यायावर। बौधायन में चक्रचर एक अन्य भेद भी बताया गया है; जो कि उपनिषद् के 'चरक' संज्ञावाले ऋषियों को बताता है। (बौधायन ३।३-४-५)

शाला बनाकर रहनेवाले ऋषि शालीन; श्रेष्ठवृत्ति से गमन करनेवाले या जीवन-यापन करनेवाले यायावर तथा जो नियमतः चंक्रमण करते रहते थे वे चक्रचर थे।

वृत्ति नौ प्रकार की है—षण्निवर्त्तनि (छः दिनों में एक बार भोजन); कौद्दाली (कुदाल से खोदकर); ध्रुवा (?); संप्राक्षिलनी (पानी में धोकर खाना); समूहा (सब मिलाकर आहार); पालनी (?); शिला (खेत में से गिरी बाल चुनना—देहाती भाषा में सैला करना); ऊञ्छ (एक-एक दाना चुनना); कापोता (कबूतर की भाँति बिखरे दाने एकत्र करना, चुनना); सिद्धेच्छा (जो मिल गया, स्वयं कोई दे गया); वे नौ वृत्तियाँ हैं (शिला और उञ्छ को एक मानना चाहिए)। इन वृत्तियों के आधार पर रहते हुए जो ऋषि जीवन यापन करते थे; वे यायावर थे।

पाँचवाँ अध्याय

मौर्यकाल में आयुर्वेद साहित्य

(३६३-२११ ई० पूर्व)

इस काल से सम्बन्धित मुख्य साहित्य कौटिल्य का अर्थशास्त्र और अशोक के शिलालेख हैं। इन लेखों में उसने अपने राज्य शासन का वर्णन किया है।

सिकन्दर के आक्रमण के समय देश भिन्न-भिन्न राज्यों में विभक्त था; जिस तरह कि बुद्ध के समय देश में सोलह जनपद थे। विशेषत: भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में बहुत से पर्वतीय राजा थे। इनमें तक्षशिला, जो कि विद्या का एक बड़ा केन्द्र बौद्धकाल में था, स्वतन्त्र था; उसका राजा स्वतन्त्र था, जिसने सिकन्दर के दूत के आने पर उससे सन्धि कर ली थी। उसने और उसके पुत्र आम्भि ने बुखारा में ही सिकन्दर के पास दूत द्वारा भारतीय आक्रमण के समय सहायता का वचन दिया था और बदले में उसकी रक्षा का वचन माँगा था। तक्षशिला के राजा की पड़ोसी राजा पौरव (पोरस) से दुश्मनी थी, अत: वह चाहता था कि आक्रान्ता की सहायता लेकर पड़ोसी राज्य को कुचल सकूँ। पौरव का राज्य झेलम और रावी के बीच में था; वह अपना राज्य फैलाने के लिए दोनों नदियों के पार के प्रदेश में हाथ फैला रहा था। पौरव ने तक्षशिला के राजा की भाँति आक्रान्ता का साथ न देकर उससे लोहा लेना सोचा, इसके लिए उसने पड़ोसी राज्यों को मिलाया। केवल रावी पार के कठों को वह अपने संगठन में नहीं ला सका।

इसी प्रकार अष्टक राज्य; अश्वक, आयुध जीवियों, कठ, क्षुद्रक, मालवक आदि बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे और वे सब स्वतन्त्र थे। इन सबके साथ लड़ते हुए सिकन्दर की सेना का मनोबल एवं शारीरिक शक्ति थक गयी थी, इसलिए इसने व्यास से आगे बढ़ना अस्वीकार कर दिया और वापस लौटी। लौटते समय यह शरद् और मूषिक प्रदेश में से गजरी। यहाँ पर ब्राह्मणों का राजा मुसिकानुस (मुचकर्ण) था। इसकी राजधानी अलोर (वर्तमान सक्खर) थी। ओनेसिक्रितस का कहना है कि यहाँ के लोग अपनी आयु और स्वास्थ्य के लिए प्रसिद्ध हैं। ये लोग प्राय: १३० वर्ष तक

जीते हैं। चिकित्सा को वे अन्य सारे विज्ञानों से ऊपर मानते और उसका विशेष अध्ययन करते हैं---(डा० त्रिपाठी---पृष्ठ १०७)।

जीते हुए प्रदेश को वह भिन्न-भिन्न रूप में शासित कर गया। झेलम और व्यास के बीच का राज्य पौरव की प्रभुता में रखा गया; झेलम के पश्चिम में आम्भि और कश्मीर में अभिसार के राजा को अधिपति बनाया गया और इसके राज्य में हजारा जिला भी सम्मिलित कर दिया था।

इससे स्पष्ट है कि देश में स्वतन्त्रता की चाह थी। आयुधजीवी ब्राह्मण-राज्य में ब्राह्मणों का आधिपत्य था, जो सिंहासन के नियन्ता और वहाँ की राजनीति के सूत्र का संचालन करते थे। उन्होंने घोषणा की थी कि विदेशी आक्रान्ता का प्रतिरोध करना चाहिए; प्रतिरोध न करनेवाले राजाओं की निन्दा की और गणराज्यों को उभाड़ा। (हिन्दू सभ्यता)।

यहाँ पर इतना और समझना आवश्यक है कि इन राज्यों में से एक बड़ा मार्ग था, जो कि काबुल से चलकर सीधा मगध तक पहुँचता था। भारत के दूसरे छोर पर मगध के नन्दों का बड़ा भारी राज्य था, जिसकी सीमा गंगा का काँठा था।

यह महापथ ईरान और सिन्ध के रेगिस्तान को बचाता हुआ सीधे उत्तर की ओर चित्राल और स्वात की घाटियों की ओर जाता है। इसी पथ में 'बलख' पड़ता है, जो कि हरा-भरा, फलोंवाला देश है। यहीं पर भारतीय, ईरानी, शक और चीनी चारों महा जातियाँ मिलती थीं। यहीं पर व्यापार में आदान-प्रादान होता था। बलख से चलकर महाजनपथ पूर्व की ओर चलते हुए बदख्शां; बखां, पामीर की घाटियों को पार करते हुए काशगर पहुँचता था। बलख के दक्षिणी दर्वाजे से महापथ भारत को जाता था। हिन्दुकुश और सिन्धु नदी को पार करके यह रास्ता तक्षशिला पहुँचता था और वहाँ पाटलिपुत्रवाले महाजनपथ से जा मिलता था। यह महाजन-पथ मथुरा में जाकर दो शाखाओं में बँट जाता था; एक शाखा पटना होती हुई ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह को चली जाती थी और दूसरी शाखा उज्जयिनी होती हुई पश्चिम समुद्र तट पर स्थित भरुकच्छ के बन्दरगाह पहुँचती थी [डा० मोतीचन्द्र।]

बलख से होकर तक्षशिला तक इस महा जनपथ को कौटिल्य ने हैमवत पथ कहा है। (चरक में "हिमवतः पार्श्वे" पढ़ते हैं)। यह हैम पथ तीन खंडों में बाँटा जा सकता है; एक बलख खण्ड; दूसरा, हिन्दुकुश खण्ड और तीसरा भारतीय खण्ड।

बलख का उल्लेख बहुत प्राचीन काल से भारतीय साहित्य में है। महाभारत से

पता चलता है कि यहाँ पर खच्चरों की बहुत अच्छी नस्ल होती थी। चीन के रेशमी कपड़ों, पश्मिनों, इत्र, गन्ध आदि का व्यापार किया जाता था।

हिन्दुकुश की पर्वतमाला में अनेक पगडंडियाँ हैं; इनमें नदियाँ बहुत हैं; इसलिए रास्ता नदियों के किनारे-किनारे चलता है। इसी रास्ते के बीच में कपिश या कपिशा एक प्रसिद्ध स्थान आता है। युवान च्वाङ के अनुसार कापिशा में सब देशों की वस्तुएँ मिलती थीं। इसी स्थान से भारत का मध्य एशिया से व्यापार चलता था। पाणिनि ने अपने व्याकरण में कपिशा का उल्लेख किया है (४।२।९९)। यहाँ की द्राक्षा प्रसिद्ध थी "कापिशायिनी द्राक्षा।" कापिशी से लम्पाक होकर जलालाबाद का प्राचीन रास्ता पंजशीर की घाटी को छोड़कर आगे बढ़ता है। युवान च्वाङ ने जलालाबाद को भारत की सीमा कहा है। सिकन्दर ने इसी प्रदेश को जीता था। परन्तु बीस वर्ष बाद सैल्युकस प्रथम ने इसे चन्द्रगुप्त मौर्य को वापस कर दिया था। इसके पीछे बहुत दिनों तक यह प्रदेश विदेशी आक्रान्ताओं के हाथ में रहा और अन्त में काबुल के साथ मुगलों के अधीन हो गया। अंग्रेजी युग में भारत और अफगानिस्तान का सीमान्त प्रदेश बना।

गान्धार की पहाड़ी सीमा के रास्तों का कोई ऐतिहासिक वर्णन नहीं मिलता। गान्धार की राजधानी उस समय पुष्करावती थी। पेशावर की नींव तो सिकन्दर के चार सौ बरस बाद पड़ी। भारत का महापथ अटक पर सिन्ध पार करता है; इस नदी के दाहिने किनारे पर उद्भांड या उदक्भांड नाम का अच्छा घाट था। यहाँ सब पथ मिलते थे। यहाँ से महापथ सीधे पूरब जाकर होती मर्दान पहुँचता था, जहाँ शहबाज गढ़ी में अशोक का शिलालेख है।

बलख से लेकर तक्षशिला तक रास्ते का ज्ञान बौद्ध-साहित्य में कम मिलता है। महाभारत में अर्जुन के दिग्विजय में इसका वर्णन विस्तार से है। उत्तर कुरु भी इसी रास्ते पर था; ('विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः'— भारवि। सुश्रुत में उत्तर कुरु का नाम है; चरक में नहीं है)। इसी तरफ पारद, वंग, कितव, हारहूर (हैरात के रहनेवाले) रहते थे; जिनके नाम से इन देशों के नाम पड़े अथवा इन देशों के नाम से इन जातियों के नाम पड़े।

तक्षशिला से होकर महा जनपथ काशी और मिथिला तक चलता था। बनारस से तक्षशिला का रास्ता घने जंगलों में से जाता था, इसमें डाकुओं और पशुओं का बराबर भय बना रहता था। तक्षशिला उस समय भारतीय और विदेशी व्यापारियों का मिलन केन्द्र था। बनारस, श्रावस्ती, सौरेय्य के व्यापारी तक्षशिला में व्यापार करते थे।

तक्षशिला से लेकर मथुरा तक चलनेवाले रास्ते का विवरण बौद्ध साहित्य में, महाभारत में ठीक मिलता है। जीवक तक्षशिला में भद्रंकर, उदुम्बर और रोहीतक होते हुए मथुरा पहुँचा था। भद्रंकर की पहिचान स्यालकोट से की जाती है; उदुम्बर पठानकोट का इलाका था; रोहीतक आजकल का रोहतक है। वंक्षुनदी और हिन्दुकुश के बीच के जनपद का नाम वाह्लीक था। यहीं का वैद्य कांकायन था, जिसका उल्लेख चरक संहिता, भेल संहिता, नावनीतक में है। वाह्लीक का आजकल का नाम बल्ख है। इसके साथ ही मूंजान या मूंजवान का छोटा-सा राज्य लगता था; इस देश के निवासी मौंजायन कहलाते थे (सुश्रुत में मौञ्जवान, जिस सोम का उल्लेख है, वह यहीं पर होता था। (सुश्रुत चि० अ० २९।२८–२९)।

कौटिल्य ने इस स्थिति को पहिचाना और तक्षशिला से मगध की यात्रा करके एक बड़े राज्य को जन्म देने का प्रयत्न किया। इसमें उसे चन्द्रगुप्त का साथ मिल गया। जिसके लिए उसने प्रथम पश्चिमीय सीमा के पर्वतीय राजा पर्वतेश्वर की सहायता से नन्दराज्य को समाप्त किया, क्योंकि प्रजा उससे सन्तुष्ट नहीं थी। इसके पीछे स्थिति सँभल जाने पर पर्वतेश्वर को भी नष्ट कर दिया। यह सब एक देशप्रेम का उज्ज्वल उदाहरण है। तक्षशिला का वैभव इस समय भी कम नहीं हुआ था। चाणक्य को यहीं का विद्यार्थी और पीछे यहीं का अध्यापक कहा जाता है। जीवक के गुरु आत्रेय को भी यहीं का अध्यापक बताया गया है। कांकायन वाह्लीक भिषक् भी यहीं से अवश्य सम्बन्धित रहा होगा। इसी तक्षशिला में चन्द्रगुप्त विद्याध्ययन के लिए आया था। चाणक्य ने उसे यहीं से पहचाना और परखा, उसे साथ में लिया और एक नये राष्ट्र को जन्म दिया। उस समय पाटलिपुत्र तक रास्ते का वर्णन तथा चाणक्य के श्रम का उल्लेख जातकों में बहुत कुछ मिलता है।

चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित मौर्यवंश में आयुर्वेद से सम्बन्धित घटना 'विषकन्या' तथा 'विषयुक्त भोजन' की है। विषकन्या के द्वारा चाणक्य ने पर्वतेश्वर को मारा था और विष भोजन से नन्दों का नाश किया था। मुद्राराक्षस में एक प्रसिद्ध वैद्य के मारने का भी उल्लेख है; जो कि राक्षस के कहने से चन्द्रगुप्त को मारने के लिए आया था।

चाणक्य ने जब एकछत्र साम्राज्य बनाया तब उसने तक्षशिलावाला इलाका लेने के लिए आक्रमण किया। उस समय सिकन्दर के उत्तराधिकारी सिल्युकस के साथ युद्ध हुआ, जिसमें सिल्युकस हार गया। तब जो शर्तें हुईं उसके अनुसार सिल्युकस ने चन्द्रगुप्त को हैरात; कन्दाहार; काबुल की घाटी, और बिलोचिस्तान दिया

था। इसी में कन्दाहार की राजधानी तक्षशिला थी। इस प्रकार मौर्य राज्य की सीमा पश्चिम में सुरक्षित हो गयी थी।

पूर्व में ताम्रलिप्ति बन्दरगाह कलिंग के राज्य का था; इसको जीतने का प्रयत्न नन्द ने तथा चन्द्रगुप्त के पुत्र बिम्बिसार ने किया था। परन्तु इन दोनों को इसमें सफलता नहीं मिली; अन्त में सम्राट् अशोक ने कलिंग विजय किया।

उस समय उत्तरीय भारत में मगध और कलिंग ये दो बड़े राज्य थे। इसीसे इन्हीं के नाम पर दो मान-परिभाषाएँ आयुर्वेद में चलती हैं (कलिंग से मागध-मान श्रेष्ठ है, यह वचन सर्वथा पक्षपातपूर्ण है; दोनों मानों की प्रतिष्ठा थी)। इस प्रकार से मौर्य-राज्य का विस्तार पूर्व, दक्षिण में हो गया। जिससे एक बड़ा साम्राज्य स्थापित हो गया। इसी राज्य का चिह्न अशोक का सिंहवाला स्तम्भ था, जो हमारे गणराज्य का प्रतीक बना हुआ है।

इस बड़े साम्राज्य को चलानेवाला, उसकी नींव रखनेवाला कौटिल्य-चाणक्य था, जिसने शासनसूत्रों को अपनी अर्थशास्त्र-पुस्तक में अंकित किया है। इसी पुस्तक के आधार पर मौर्यवंश का शासन था। चन्द्रगुप्त के राज्यकाल का वर्णन मैगस्थनीज़ ने अपनी पुस्तक 'इन्डिका' में किया है। वह आज नहीं मिलती, परन्तु उसके उद्धरण दूसरे स्थानों में मिलते हैं। उनके आधार पर चिकित्सा के विषय में मैगस्थनीज़ की सूचना निम्न है—

"भारतीय चिकित्सकों की प्रशंसा करते हुए मैगस्थनीज़ ने कहा है कि 'वे अपने शास्त्र के बल पर अनेक सन्तान उत्पन्न करा सकते हैं; तथा दवाइयों द्वारा इच्छानुसार नर अथवा मादा बच्चे भी पैदा कर सकते हैं' (तुलना कीजिए संग्रह शा. १।६०-६१; ६५)। उनके बनाये मलहम और लेप (प्लास्टर) सुप्रसिद्ध हैं। दवाइयों के बजाय वे भोजन को ठीक से संचालित करके रोगों को दूर किया करते हैं।

अर्थशास्त्र में पशुओं के वैद्य को 'अनिकस्थ' और मनुष्यों का उपचार करनेवाले को 'चिकित्सक' कहा गया है। राज्य की तरफ से ब्राह्मणों की तरह चिकित्सकों को भी गाँवों में करमुक्त भूमि दी जाती थी, जो इस बात का प्रमाण है कि मौर्य सरकार चिकित्सकों को बहुत बढ़ावा देती थी, जिससे वे अपने शास्त्र में कुशलता प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहें।'—[सम्राट् चन्द्र गुप्त मौर्य—पांथरी; पृष्ठ २०६]।

कौटिल्य अर्थशास्त्र

इस अर्थशास्त्र के कर्ता चाणक्य हैं; इनके दूसरे नाम विष्णुगुप्त; मल्लनाग; कौटिल्य; द्रमिल, पक्षिल स्वामी, वात्स्यायन और अंगल हैं (अभिधानचिन्तामणि)

चणक का पुत्र होने से चाणक्य; कुटिल गोत्र होने से कौटिल्य कहा जाता है। इस अर्थशास्त्र की समाप्ति पर स्वयं चाणक्य ने कहा है–'स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रञ्च भाष्यञ्च"––स्वयं विष्णुगुप्त ने इस शास्त्र का सूत्र और भाष्य लिखा है।[१]

कामन्दक ने अपने नीतिशास्त्र का प्रयोजन कौटिल्य अर्थशास्त्र का संक्षिप्तीकरण बताया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में विष्णुगुप्त को नमस्कार किया है। दण्डी ने दशकुमार चरित में; बाण ने कादम्बरी में कौटिल्य की नीति का उल्लेख किया है। मल्लिनाथ की टीका में भी अर्थशास्त्र का उल्लेख है।

मेगस्थनीज़ राजदूत ने चन्द्रगुप्त के शासनकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है; इसमें चाणक्य का कहीं उल्लेख नहीं। चाणक्य और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध का पता विष्णुपुराण, वायुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों से चलता है। मुद्राराक्षस का सारा कथानक चाणक्य और चन्द्रगुप्त को नायक मानकर लिखा गया है। इसमें इतना स्मरण रखना चाहिए कि चाणक्य को स्वतः राजकार्य से कोई मतलब नहीं था; उसकी अन्तिम प्रतिज्ञा नन्दवंश का नाश और चन्द्रगुप्त को राज्य देना, प्रजा को योग्य शासक सौंपना था। राज्य को स्थिर करने के लिए योग्य मंत्री राक्षस को सौंपकर वह चन्द्रगुप्त से पृथक् होकर अपने स्वाभाविक कर्म अध्ययन-अध्यापन में लग गया। अर्थशास्त्र के अन्त की पुष्पिका में स्वयं कहा है––

"येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥"

जिसने शास्त्र, शस्त्र और नन्दराजा के अधीन हुई भूमि का क्रोध के कारण बहुत जल्दी उद्धार कर दिया, उसी विष्णुगुप्त कौटिल्य ने इस शास्त्र को बनाया है।

जब राजदूत मेगस्थनीज़ आया होगा तब मौर्य चन्द्रगुप्त पुराना हो गया होगा। राजुका; पाषण्डेलु; समाज; महामाता आदि पारिभाषिक शब्द अर्थशास्त्र की भाँति अशोक के शासन लेखों में भी हैं।

अर्थशास्त्र की रचना चरकसंहिता के समान गद्य-पद्यमय है। आपस्तम्ब सूत्र, बौधायन धर्मसूत्र भी इसी प्रकार लिखे गये हैं। इसका निश्चित क्रम है, एक विषय एक स्थान पर है (चरकसंहिता में यह बात नहीं मिलती; सुश्रुत में है)। कुछ पद

---

१. चाणक्य नाम अर्थशास्त्र में नहीं है; परन्तु पंचतन्त्र में है––'अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि, वात्स्यायनका कामसूत्र अर्थशास्त्र की शैली पर है।

पाणिनि के अनुसार नहीं हैं; यथा— 'औपनिषत्क' के स्थान पर औपनिषदिक (काम सूत्र में भी 'औपनिषदिकमाचरेत्' यही पाठ है'); रोचन्ते के स्थान पर रोचयन्ते, चातुराश्रिका के स्थान पर चतुरश्रिका पाठ है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र की बहुत अधिक समानता कामसूत्र से होने के कारण इसको चौथी सदी का भी माना जाता है।

अर्थशास्त्र की आयुर्वेद ग्रन्थों से समानता—(१) अर्थशास्त्र की भाषा और शैली चरक से मिलती है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार से चरकसंहिता में भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत दिखाकर अन्त में आत्रेय ने अपना मत स्थापित किया है; उसी प्रकार इसमें भी है। (देखिए सूत्र स्थान अ. २६।८; अ. २५;) परन्तु अष्टांग संग्रह में सबके मत दे दिये हैं; अपना मत स्पष्ट नहीं किया। यथा, विषप्रतिषेध. ४०वें अध्याय में, नग्नजित; विदेहपति; आलम्बायन; धन्वन्तरि का मत दिखाकर कह दिया "मुनिना येन तूक्तं तत्सर्वमिह दर्शितम्।"

(२) **तंत्रयुक्ति**—चरक संहिता में ३६ तंत्रयुक्तियाँ बतायी गयी हैं (सि. १२।४१)। इन तंत्रयुक्तियों से शास्त्र स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार से सूर्य के कारण कमलवन और प्रदीप से घर प्रकाशमान हो जाता है, उसी प्रकार तंत्रयुक्तियों से शास्त्र का प्रबोधन और प्रकाशन होता है (सि. अ. १२।४७)। इसलिए सुश्रुत संहिता और अष्टांग संग्रह में भी तंत्रयुक्तियाँ ग्रन्थ समाप्ति में दी गयी हैं। संग्रह में उत्तर स्थान की समाप्ति पर हैं। सुश्रुत में तंत्रयुक्तियाँ ३२ बतायी गयी हैं। (द्वात्रिंशत् तन्त्रयुक्तयो भवन्ति शास्त्रे–उत्तर. अ. ६५।३;), संग्रह में तंत्रयुक्तियाँ चरक के समान दी गयी हैं।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में ३२ बत्तीस तंत्रयुक्तियाँ बतायी गयी हैं। सुश्रुत संहिता और कौटिल्य की तंत्रयुक्तियाँ समान हैं। संग्रह और चरक की समान हैं (भट्टारहरिचन्द्रने चार अधिक मानी हैं;—परिप्रश्न, व्याकरण, व्युत्क्रान्त-अभिधान और हेतु।)

आयुर्वेद विषय—राजपुत्रों से राजा की रक्षा-प्रकरण में कौटिल्य ने अत्रिपुत्र के जातीसूत्रीय अध्याय (चरक. शा. अ. ८) का स्पष्ट उल्लेख उद्देश्य रूप में किया है। चरक के इस अध्याय लिखने का यही अर्थ है कि उत्तम संतान उत्पन्न हो। इसलिए कहा है—

जिन स्त्री-पुरुषों के शुक्र-शोणित और गर्भाशय निर्दोष हों और जो अच्छी संतति चाहते हों; उनके लिए अच्छी संतान प्राप्त करने का उपाय कहते हैं (अ. ८।३...')

अब चाणक्य का वचन देखिए—

"तस्माद् ऋतुमत्यां महिष्यां ऋत्विजश्चरुमैन्द्रबार्हस्पत्यं निर्वपेयुः। आपन्नसत्त्वायां कौमारभृत्यो गर्भमर्मणि प्रजनने च वियतेत्।" (विनया. १७।२५-२६)

अत्रिपुत्र ने ऋत्विज द्वारा यज्ञ विधान विस्तार से दिया है। उसमें सम्पूर्ण प्रक्रिया स्पष्ट लिखी है (शा. अ. ८ १०-१४)। गर्भ रहने पर गर्भ की रक्षा में निपुण वैद्य तथा प्रजनन में निपुण वैद्य इसकी देख-रेख करें।

उद्देश्य दोनों का 'श्रेयसी प्रजा' का है। चाणक्य का अपना मत सबसे पीछे है। इससे पूर्व प्रत्येक आचार्य का मत चाणक्य ने दिया है। चाणक्य ने मूल वस्तु को ही पकड़ा है; इसी से उसकी जानकारी सही है। अत्रिपुत्र ने भी कहा है कि प्रजापति को उद्देश्य मानकर उस स्त्री की कामना पूर्ण करने के लिए यज्ञ करे ('तस्याः कामपरिपूर्णार्थं काम्यामिष्टिं निर्वर्त्तयेद्' 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु इत्यनयर्चा'—शा.अ.८।११)।

भोजन में विष-परीक्षा—राजाओं के शत्रु, मित्रों की अपेक्षा अधिक होते हैं। ये लोग समीपवर्त्ती नौकर आदि के द्वारा राजा के खान-पान में विष दे देते हैं; स्त्रियाँ सौभाग्य के लोभ में (वशीकरण के लिए) तथा अन्यों के कहने से राजा को विष दे देती हैं। यह विष अन्न-पान के सिवाय वस्त्र, माला, आभूषण, शय्या, स्नानजल, अवलेप आदि के रूप में भी दिया जा सकता है। इसलिए इन वस्तुओं की परीक्षा करनी चाहिए।

परीक्षा करने के लिए राजा को अपने पास कुलीन, स्नेही, विद्वान्, आस्तिक, उत्तम आचारवाले, चतुर; मित्रभूत, निश्चल, पवित्र, नम्र, आलस्यरहित, व्यसनों से दूर, निरभिमानी, अक्रोधी, असाहसिक, वाक्य के अर्थ को जानने में कुशल, आयुर्वेद के आठों अंगों में निपुण, शास्त्रानुसार जिसने आयुर्वेद में योग और क्षेम प्राप्त किये हों, जिसके पास नाना प्रकार की विषनाशक औषधियाँ (अगद) हों, सब प्रकार के सात्म्य को समझनेवाले वैद्य को रखना चाहिए (संग्रह. सू. अ. ८।४)। कौटिल्य ने विषचिकित्सा में निपुण वैद्य के लिए 'जाङ्गुली वैद्य' नाम दिया है।[1]

इसलिए विषविद्या को जाननेवाले तथा अन्य चिकित्सक पुरुष भी राजा के समीप रहें। चिकित्सक को उचित है कि वह औषधालय से स्वयं लाकर परीक्षा की हुई औषधि को लेकर राजा के सामने ही उस औषधि में से कुछ थोड़ी-सी, उसके पकाने-

---

१. युद्ध के समय चिकित्सकों को रखने का उल्लेख अर्थशास्त्र में है—"चिकित्सकाः शस्त्रयंत्रागदस्नेहवस्त्रहस्ताः स्त्रियाश्चान्नपानरक्षिण्यः पुरुषाणामुद्धर्षणीयाः पृष्ठतस्तिष्ठेयुः ॥" (सांग्रामिक. १०।३।६२.)

वाले तथा पीसनेवाले पुरुष को खिलाकर एवं स्वयं चखकर राजा को दे । इसी तरह से मद्य और पानी को भी समझना चाहिए। (अर्थशास्त्र. विनया. २१।२६)

चाणक्य ने इसी प्रकार राक्षस के भेजे वैद्य के द्वारा बनाये गये विषयुक्त अन्न-पान की परीक्षा करके चन्द्रगुप्त की जान बचायी थी।

चाणक्य ने राजा के स्नान कराने में, अंगों के दबाने में; बिस्तर आदि बिछाने में; वस्त्रों के धोने, माला आदि कार्यों में दासियों को ही नियुक्त करने के लिए कहा है (अ. २१।२८)।

भोजन करने से पूर्व राजा को अग्नि में तथा पक्षियों को बना हुआ अन्न देकर बलि-वैश्वदेव विधि करनी चाहिए (इससे अन्न की परीक्षा भी हो जाती है)। विष मिश्रित अन्न को अग्नि में डालने से अग्नि की लपटें और धुवाँ दोनों नीले रंग के निकलते हैं; इनमें चट-चट शब्द होता है। विष मिश्रित अन्न खाने पर पक्षियों में विपत्ति और मृत्यु होती है। विषयुक्त अन्न की भाप मोर की गर्दन के समान रंगवाली होती है, तथा विषवाला अन्न बहुत जल्दी ठण्डा हो जाता है, हाथ में छूने से या जरा तोड़ने से उसका रंग बदल जाता है; उसमें गाँठ-सी पड़ जाती है और वह अच्छी तरह पकता भी नहीं। दाल आदि व्यंजन विषयुक्त होने पर बहुत जल्दी सूख-से जाते हैं। यदि इनको फिर आग पर रखकर गरम किया जाय तो फट जाते हैं, झागों का रंग कुछ काला-सा रहता है। इनकी स्वाभाविक गन्ध और स्पर्श नष्ट हो जाता है। द्रव, तरल वस्तुओं में विष मिला होने पर उसमें अपनी आकृति विकृत दीखती है। झागों का समूह अलग और पानी अलग रहता है, इसके ऊपर रेखा-सी दीखती है।

घी, तैल, ईख के रस आदि में विष मिला होने पर नीली रेखाएँ दिखाई देती हैं। दूध में ताम्र वर्ण की, शराब और पानी में काले रंग की, दही में श्याम, शहद में सफेद रंग की रेखाएँ दीखती हैं। गीले द्रव्यों में विष मिला होने पर वे बहुत जल्दी मुर्झा जाते हैं, दुर्गन्ध आने लगती है, काले, नीले या श्यामवर्ण हो जाते हैं। सूखे द्रव्यों में विष मिला होने पर वे बहुत जल्दी चूर हो जाते हैं; इनका रंग भी बदल जाता है। विष मिला होने पर कठिन द्रव्य मृदु और मुलायम द्रव्य कठिन हो जाता है। विषयुक्त वस्तु के समीप रेंगनेवाले छोटे-छोटे कीड़े आदि की मृत्यु हो जाती है।

बिछाने और ओढ़ने के कपड़ों पर विष का योग करने पर कपड़ों पर उस-उस स्थान पर काले या भिन्न वर्ण के धब्बे पड़ जाते हैं। उस स्थान पर सूती कपड़ों के तन्तुओं का और ऊनी कपड़ों के बालों का रोवाँ उड़ जाता है। सोना-चाँदी आदि

धातुओं की तथा स्फटिक आदि मणियों की बनी वस्तुएँ विषयुक्त होने पर मैली कीचड़-जैसी हो जाती हैं। इनकी स्निग्धता, कान्ति, भारीपन, प्रभाव स्पर्श आदि गुणों का नाश हो जाता है। (अर्थशास्त्र. २१।९-२२)।

उपर्युक्त विवरण की तुलना के लिए संग्रह. सू. अध्याय ८ में १० से १७ तक की कण्डिका तथा सुश्रुत-कल्पस्थान २८ से ३३ अध्याय १ में देखा जा सकता है। इनमें विस्तार से अन्नपरीक्षा दी गयी है। घरों में पशु-पक्षी पालने का उद्देश्य जहाँ मकान की शोभा है; वहाँ पर अन्न की परीक्षा का भी अभिप्राय है (वेश्मनो विभूषार्थं रक्षार्थं चात्मनः सदा। सन्निकृष्टांस्ततः कुर्याद्राजस्तान् मृगपक्षिणः ।। १।३३)।

विष देनेवाले व्यक्ति की पहचान— विष देनेवाले पुरुष का मुख कुछ सूखा-सा तथा विवर्ण हो जाता है; बातचीत करते समय वाणी लड़खड़ाती है; पसीना आ जाता है; घबराहट के कारण शरीर में जम्भाई और कँपकँपी आती है; साफ रास्ता होने पर भी बेचैनी के कारण वह बार-बार गिर पड़ता है। यदि कोई दो व्यक्ति अपनी बातें कर रहे हों तो वह ध्यान से सुनने लगता है—कहीं मेरे सम्बन्ध में तो बातें नहीं कर रहे हैं; कोई बात पूछने पर झट क्रोध आ जाता है; अपने कार्यों में और अपने स्थान पर उसका चित्त स्थिर नहीं रहता; इधर-उधर हड़बड़ाया हुआ-सा रहता है (तुलना कीजिए सुश्रुत . क. अ. १।१८-२२; संग्रह. सू. अ. ८।१८ से)।

राजा को विष से बचाने के लिए राजा के वैयक्तिक कार्यों में—स्नान, अनुलेपन, माला, वस्त्र परिधान आदि में मुख्यतः दासियों को नियुक्त करने की सम्मति कौटिल्य ने दी है। दासियाँ स्वयं अथवा अपनी आँखों के सामने वस्त्र और माला राजा को दें, जिससे इनमें विष का सन्देह न हो। स्नान के समय उपयोग की वस्तुएँ—उबटन, चन्दन; पटवास तथा सिर पर लगाने के सुगन्धित वस्तुओं को दासियाँ अपनी छाती और बाहुओं पर लगाकर पहले देख लें फिर राजा के उपयोग में दें। यही बात अन्य वस्तुओं के विषय में भी समझें (तुलना कीजिए—सु. क. अ. १।२५-२७; संग्रह सू. अ. ८।१४।१७)।

कौटिल्य में रत्नों और धातुओं की परीक्षा विस्तार से दी गयी है, किस भूमि में कौन-सी धातु मिलेगी या मिलने की सम्भावना है, इसका भी इसमें उल्लेख है। सामान्यतः जिन धातुओं में अधिक भार होता है; वे अधिक सारवान होती हैं। सुवर्णाध्यक्ष के कार्यों के उल्लेख में 'विशिखा' शब्द आया है। यह शब्द बहुत महत्त्व का है। वर्त्तमान सराफे का नाम विशिखा है। ऐसा श्री उदयवीर शास्त्री जी का मत है। यह शब्द चरकसंहिता में (सू. अ. २९।९ में) तथा सुश्रुत में (सू. अ. १०

अवलोकितेश्वर

तारा देवी

में) आता है; वहाँ इसका अर्थ गली (रथ्या) किया गया है[1]। शुद्ध सोने की पहचान में स्वर्ण कमल के पराग के समान रंगवाला, मृदु, स्निग्ध और शब्द रहित श्रेष्ठ बताया गया है।

इस अर्थशास्त्र का कुप्य शब्द चन्दन आदि की बढ़िया लकड़ी वाँस तथा छाल आदि के लिए आता है (अनुवादक श्री उदयवीर जी शास्त्री)। कुप्याध्यक्ष को चाहिए कि भिन्न-भिन्न स्थानों के वृक्षों तथा जंगलों की रक्षा करनेवालों से बढ़िया लकड़ी मँगवाये। इन लकड़ियों में सागून, तिनिश, धन्वन, अर्जुन, मधूक, तिलक, साल, शिंशप, अरिमेद, राजादन; शिरीष, खदिर; सरल, ताल, सर्ज, अश्वकर्ण, सोमबल्कल, कश (बब्बूल—इसी से कसना शब्द बना है); आम; प्रियक; धव आदि हैं। ये सब आयुर्वेद में चिकित्सा कार्य में वर्णित हैं।

इसी प्रकार कालकूट, वत्सनाभ, हालाहल, मेषशृंगी; मुस्ता, कुष्ठ; महाविष, वेल्लितक, गौरार्द्र आदि विषों का उल्लेख है। इसके आगे तोल का उल्लेख है। तोल के लिए जो बटखरे बनाये जायँ वे मगध या मेकल देश में उत्पन्न होनेवाले पत्थर के बनाने चाहिए (इसी से आज भी गया की पत्थर की खरलें, तामड़ा पत्थर या उड़दिया पत्थर की अच्छी मानी जाती हैं)।

नागरिक का कर्त्तव्य बताते हुए (नगर की रक्षा करनेवाला नागरिक) कौटिल्य ने कहा है कि 'जो पुरुष हथियार आदि से लगे हुए घावों की चिकित्सा छिपाकर करता है या रोग अथवा जनपदोध्वंसक रोगों को फैलानेवाले द्रव्यों का छिपकर उपयोग करता है; इनकी चिकित्सा करनेवाला चिकित्सक यदि गोप या स्थानिक को इनके सम्बन्ध में सूचना दे देता है; तो वह अपराधी नहीं समझा जा सकता। परन्तु यदि चिकित्सक सूचना न दे उसे भी अपराधी की भाँति समझना चाहिए। इसी प्रकार जिस घर में ये कार्य होते हों, उसके मालिक को भी चिकित्सक की भाँति सूचना देनी चाहिए और यदि वह न दे तो उसे भी दोषी समझे (प्रकरण ५६।११)।

---

१. विशिखा शब्द का अर्थ कौटिल्य अर्थशास्त्र के टीकाकार श्री शास्त्री उदयवीर जी ने 'स्वर्ण का व्यापार करनेवाले व्यापारियों का बाजार' किया है। जो ठीक भी है। श्री डाक्टर वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने बताया है कि बाण ने कादम्बरी के उज्जयिनी-वर्णन में और कालिदास ने मेघदूत में उज्जयिनी के वर्णन में सर्राफे का ही चित्र खींचा है। सब बाजारों में सर्राफा का महत्त्व सबसे अधिक है। इस बाजार से ही देश की समृद्धि का पता लग जाता है।

कुष्ठ और उन्माद के रोगियों के विषय में चिकित्सक तथा उनके समीप में रहनेवाले व्यक्ति प्रमाण होते हैं। नपुंसक के विषय में स्त्रियाँ, मूत्र में झाग न उठना; पानी में विष्ठा का डूब जाना प्रमाण है (प्रक. ७२।१२)।

महामारी को फैलने से रोकने के उपाय---वर्षा के बन्द हो जाने पर इन्द्र, गंगा, पहाड़, और समुद्र की पूजा करवाये। औपनिषदिक उपायों (आगे १४वें अध्याय में कथित) से कृत्रिम व्याधियों का (जो कि इन औपनिषदिक तथा अन्य रूप से पैदा की जाती हैं) प्रतीकार करे। स्वाभाविक-प्राकृतिक व्याधिभय का वैद्य चिकित्सा के द्वारा तथा सिद्ध, तपस्वीजन शान्ति कर्म और प्रायश्चित्त आदि से दूर करें। मरक (संक्रामक) व्याधियों को दूर करने के लिए भी यही उपाय काम में लाना चाहिए (प्रकरण ७८।२०)।

पशुओं में महामारी फैलने पर स्थान-स्थान पर शान्ति कर्म तथा पशुओं के अपने-अपने देवता की हाथी के लिए सुब्रह्मण्यम्; घोड़े के लिए अश्विनी, गाय के लिए पशुपति; भैंस के लिए वरुण, बकरी के लिए अग्नि; आदि की पूजा कराये।[1]

सर्प का भय होने पर मंत्र और औषधियों के द्वारा विषवैद्य उनका प्रतीकार करे, अथवा नगरनिवासी मिलकर उसे मार डालें, अथवा अथर्ववेद को जाननेवाले पुरुष अभिचार-क्रिया से साँप को मार दें। पर्वपर नागपूजा कराये (प्रकरण ७८।५०)।

आशु मृतक परीक्षा---अर्थशास्त्र का यह प्रकरण अद्यतन जूरिस प्रूडेन्स से सम्बन्धित है। इसमें मृत शरीर की परीक्षा, तथा मृत्यु के कारण, शव को सुरक्षित रखने के उपाय बताये गये हैं। यथा---

आशु मृतक व्यक्ति (जो सहसा मृत हुआ हो) के शरीर को तैल में डालकर (रखकर) परीक्षा करे (तैल में रहने से वह सड़ता नहीं)। जिसका मूत्र निकल गया हो, मल निकल गया हो, पेट खाली हो, हाथ पैरों पर सूजन आयी हो, आँखें फटी हों (बाहर निकली हों), गले में निशान हो तो समझना चाहिए कि गला घोंटकर मारा गया हो।

यदि इसकी बाहें और टाँगें सिकुड़ी हुई हों तो समझना चाहिए कि इसे लेटा कर फाँसी दी गयी है। यदि हाथ-पैर और पेट फूला हो, आँखें अन्दर में धँसी हों। नाभि ऊपर को उठी हो तो समझना चाहिए कि इसे शूली पर चढ़ाकर मारा गया है।

---

१. तुलना कीजिए, सुश्रुत. सू. अ. ६।१९-२०।

जिसकी गुदा और आँख बाहर निकल गयी हो, जीभ कट-सी गयी हो, पेट फूला हो; उसे पानी में डुबोकर मारा समझना चाहिए।

जो खून से भीगा हो, शरीर के अवयव टूट-फूट गये हों उसे लाठियों और रस्सियों से मारा समझना चाहिए। जिसका शरीर जगह-जगह से फट गया हो उसे मकान से गिरकर मरा समझना चाहिए। जिसके हाथ, पैर, दाँत, नाखून, कुछ काले पड़ गये हों, मांस, रोएँ और खाल छिन्न हो गये हों, मुख से झाग आती हो, उसे जहर देकर मारा समझना चाहिए।

यदि लक्षण ऊपर के समान ही हों, परन्तु किसी कटे हुए स्थान से रक्त निकल रहा हो तो समझना चाहिए कि इसे साँप ने या किसी विषैले कीड़े ने काटा है। जिसने अपने वस्त्र इधर-उधर बिखेर-से रखे हों तथा जिसे कै और दस्त बहुत आये हों उसके विषय में धतूरा आदि उन्मादक वस्तुओं का सन्देह करना चाहिए।

विष से मरे व्यक्ति के विषय में बचे हुए खान-पान की परीक्षा करनी चाहिए (यह परीक्षा पक्षियों से–'वयोभिः' पाठ भी है—करानी चाहिए)। पेट में अन्न का सर्वथा परिपाक होने पर हृदय का (मेरे विचार से आमाशय के ऊर्ध्व भाग का, जिसके लिए आजकल कार्डिक औरीफिक शब्द बरता जाता है, क्योंकि यह हृदय के पास रहता है) कुछ हिस्सा काटकर उसे अग्नि में डाले; इसमें से यदि चिट-चिट शब्द आये एवं वर्षाकालिक इन्द्रधनुष के समान नीला लाल रंग दिखाई दे तो इसको विषयुक्त समझे। जलाये हुए पुरुष के अधजले हृदय प्रदेश को देखकर या मृत व्यक्ति के नौकरों को वाक्पारुष्य तथा दण्डपारुष्य से पीड़ित करके विष देनेवाले का पता लगाना चाहिए।

इस सारे प्रकरण में (८३वाँ प्रकरण) मृत्यु के कारणों को पता लगाने तथा मारनेवाले व्यक्ति के लक्षण, उसके स्वभाव का चित्रण स्पष्ट रूप से मिलता है।

औपनिषदिक अधिकरण—श्री उदयवीर जी शास्त्री के अनुसार औषधि और मंत्रों के रहस्य को उपनिषद् कहते हैं (क्योंकि ये दोनों बातें गुरु के समीप में रहकर ही सीखी जाती हैं—लेखक); इनके लिए यह प्रकरण है। इसमें परघात प्रयोग, प्रलम्भन में (औषधि और मंत्रों के द्वारा भूख, प्यास नष्ट करने या आकृति बदलने से शत्रु को ठगना, प्रलम्भन है) अद्भुतोत्पादन एवं प्रलम्भन में भैषज्य मन्त्र प्रयोग दो प्रकरण पृथक्-पृथक् हैं। इनके बाद इन उपायों का प्रतिकार बताया गया है।

इन प्रयोगों में भिन्न-भिन्न औषधियों का, पशु-पक्षियों का सहयोग लिया गया है। चरकसंहिता तथा अन्य ग्रन्थों में विरुद्ध अन्न-पान विषय में इस प्रकार की जानकारी दी गयी है (चरक. चि. अ. २६; संग्रह. सू. अ. ८ में)।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में यह विषय राजनीति की दृष्टि से आया है। निशान्त प्रणिधि तथा आत्मरक्षा प्रकरण आयुर्वेद से बहुत अधिक मिलते हैं। इनमें राजा की रक्षा विषप्रयोग से विशेष रूप में बतायी गयी है। इन्हीं विष प्रयोगों का एक रूप विषकन्या भी है; जिसका उपयोग चाणक्य ने पर्वतेश्वर के मारने में किया था।

विषकन्या—का अर्थ विषमयी कन्या से है। इस कन्या के निर्माण में विशेष उपाय किये जाते थे। कन्या को जन्म से ही कोई विष बहुत ही थोड़ी मात्रा में—जिससे इसको हानि न हो; देना प्रारम्भ करते हैं। यह विष धीरे-धीरे कन्या के लिए सात्म्य बन जाता है। धीरे-धीरे इसकी मात्रा बढ़ाते जाते हैं। अन्त में इसकी मात्रा यहाँ तक पहुँचा देते हैं, जो कि सामान्यतः दूसरों के लिए घातक हो जाती है। जिस प्रकार कि विषैला कीड़ा अपने विष से नहीं मरता उसी प्रकार यह कन्या भी इस विष से नहीं मरती, न इसको कोई हानि होती है। कीड़े का विष दूसरे के लिए घातक होता है, उसी प्रकार यह कन्या भी दूसरों के लिए विषमय होती है (आजकल हौर्स सीरम बनाने की भी यही विधि है; इसी विधि से सर्प विष की चिकित्सा के लिए 'एन्टीवीनम' बनता है)। यह विष कन्या के सब अंग-प्रत्यंगों में व्याप्त हो जाता है; जिससे जूँ, खटमल आदि जन्तु मर जाते हैं। पुष्पों की माला त्वचा के सम्पर्क से जल्दी मुर्झा जाती है। यह सामान्य परीक्षा है।[1] [यदल्पमल्पं क्रमतो निषेवितं विषं च जीर्णं समुपैति नित्यशः। ततस्तु सर्वं न निबाध्यते नरं दिनैर्भवेत्सप्तभिरेव सात्म्यकम्—कल्याण कारक]

इसलिए चाणक्य ने राजा के लिए सूचना दी है—

अन्तर्गृहगतः स्थविरस्त्रीपरिशुद्धां देवीं पश्येत्। न कांचिदभिगच्छेत्॥ २७।२२।

---

१. आजन्मविषसंयोगात् कन्या विषमयीकृता।
स्पर्शोच्छ्वासादिभिर्हन्ति तस्यास्त्वेतत् परीक्षणम्॥
तन्मस्तकस्य संस्पर्शात् म्लायते पुष्पपल्लवौ।
शय्यायां मत्कुणैर्वस्त्रे यूकाभिः स्नानवारिणा॥
जन्तुभिर्म्रियते ज्ञात्वा तामेवं दूरतस्त्यजेत्॥
न च कन्यामविदितां संस्पृशेदपरीक्षिताम्।
विविधान्कुरुते योगान्कुशलाः खलु मानवाः॥ (संग्रह. सू. अ. ८।)

२. विषकन्योपयोगाद्वा क्षणाद् जह्यादसून्नरः॥ (सुश्रुत. क. अ. १.)

अन्तःपुर में जाकर राजा अपने निवास के ही मकान में विश्वस्त वृद्ध परिचारिका से परीक्षा की हुई देवी राजमहिषी को देखे। किसी रानी को लक्ष्य करके स्वयं ही उसके स्थान पर न जाय।

अशोक द्वारा किये गये आयुर्वेद कार्य—मौर्यवंश में दो ही प्रतापी राजा विशेषतः मुख्य हैं—एक चन्द्रगुप्त और दूसरा अशोक। चन्द्रगुप्त के राज्य की जानकारी कौटिल्य अर्थशास्त्र के आधार पर मिलती है। अशोक के राज्य शासन की जानकारी उसके शिलालेखों से होती है। इन शिलालेखों में लोगों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जो उसने अपनी आज्ञाओं में सूचनाएँ उत्कीर्ण करायी हैं, वे आज भी हमारे गौरव की बात है।

अशोक के मानव-कल्याण के कार्यों में—

१. पशुवध बन्द करना—अशोक ने धीरे-धीरे अपनी रसोई में शाक को छोड़कर सब पाक बन्द कर दिये और स्वयं निरामिष हो गया (प्रथम शिलालेख में)।
२. दूसरे शिलालेख के अनुसार अशोक ने मनुष्य और पशुओं दोनों की चिकित्सा का प्रबन्ध सारे राज्य में किया, इसके लिए देश-विदेश में अस्पताल बनाये। इस प्रकार चिकित्सा सम्बन्धी प्रबन्ध दक्षिण के पड़ोसी राज्यों में चोलों, पांडच, सात्मि पुत्रों, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी (सिंहलन्) तथा यवन राज्यों में किया (दूसरे और तेरहवें शिलालेख में)।[१]
३. अशोक ने प्रत्येक आधे कोस पर कूप और विश्रामगृह बनवाये।
४. जहाँ पर औषधियों के पौधे नहीं थे, वहाँ पर दूसरे स्थानों से पौधे मँगवाकर लगवाये। मनुष्य और पशुओं के लिए (परिभोगाय पशुमनुषाणाम्) उसने वट वृक्ष और आम्रवन लगवाये।
५. दूतों को उसकी ओर से परार्थ कार्य के सम्पन्न करने की भी हिदायत कर दी गयी थी; जिससे सम्राट् प्राणियों के प्रति अपने ऋण से मुक्त हो सके (प्राचीनभारत का इतिहास—डाक्टर त्रिपाठी)।

मौर्य शासन चन्द्रगुप्त मौर्य से प्रारभ होता है; इसने ३२१ से २९७ ई० पू० तक राज्य किया; इसके पीछे इसके पुत्र बिन्दुसार ने २९७ से २७२ ई० पूर्व तक राज्य किया। विन्दुसार का पुत्र अशोक हुआ; जिसने अपने दूसरे भाइयों को मारकर राज्य प्राप्त किया। इसका राज्यकाल २७२ से २३२ तक चालीस वर्ष का है। इसके आगे

---

१. स्कन्दपुराण में तथा अन्य पुराणों में आरोग्यदान का बहुत महत्त्व बताया गया है; जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं।

कुणाल, दशरथ आदि राजा हुए। अन्तिम राजा बृहद्रथ था---जिसका राज्यकाल १९१ से १८४ ई० पू० है। इनमें प्रतापी सम्राट् अशोक ही हुआ; जिसने अपने राज्य का विस्तार किया, और फिर स्नेह तथा प्रेम से शासन किया। यह प्रेम का शासनभाव कलिंग की विजय के पीछे अशोक में आया था।

मान---कलिंग पूर्व का बन्दरगाह था। पूर्व का सब व्यापार जो समुद्री रास्ते से होता था, वह सब कलिंग बन्दर ताम्रलिप्ति से होता था। इसलिए यह एक स्वतंत्र वलिष्ठ राज्य था। मान के विषय में कहा जाता है कि मान का प्रारम्भ, नाप-तोल के बट्टों का प्रारम्भ, नन्द से हुआ है ('नन्दोपक्रमणिमानानि'--पाणिनिसूत्र २।४।२१.) उदाहरण में नन्दोपक्रमराः शूर्यः, नन्दोपक्रमराः द्रोणः, काशिका में उदाहरण दिये हैं; शूर्य और द्रोण दो माप हैं। शूर्य परिमाण पर ही आज छाज का व्यवहार देहात में होता है। देहातों में भार, छाज, गोणी शब्द आज भी एक मान को बताते हैं। गोणी से अभिप्राय गधे, टट्टू या बैल पर लादनेवाली बोरी से है; जिसमें अनाज भरते हैं। इसको कुम्हार या गड़ेरिये ऊन से बनाते हैं। इसका एक निश्चित मान लम्बाई-चौड़ाई का होता है। भार भी इसी प्रकार एक वजन है। खेतों में गेहूँ आदि अनाज कट जाने पर इसके भार बाँधे जाते हैं। इनमें से एक-एक भार काटनेवाले को दिया जाता है। यह भार प्राचीनकाल में अन्दाजे से तोल में बँधते थे। वही शब्द तोल संख्यक आज देहातों में चलता है; यही बात शूर्प-छाज के साथ है; यह भी तोलवाची है)।

प्राचीन काल में मगध और कलिंग ये दो मान इन दोनों राज्यों के कारण प्रसिद्ध थे जैसा कि हम पूर्व पृष्ठों पर लिख चुके हैं। इनमें श्रेष्ठता की कल्पना (मगध मान श्रेष्ठ बताया गया है) पीछे की है। वास्तव में कोई भी मान न श्रेष्ठ है और न कम है। नन्द का राज्य बहुत विस्तृत था, इसलिए माप-तोल के लिए बटखरों का प्रारम्भ नन्द ने किया, तभी से मागध मान प्रसिद्ध हुआ। कलिंग जनपद स्वतंत्र था, इसलिए उसकी परम्परा अलग से चलती रही (डाक्टर अग्रवाल का पाणिनि कालीन का भूगोल)।

पशु चिकित्सा---हाथियों के सम्बन्ध में कौटिल्य ने लिखा है कि जहाँ अधिक गरमी हो वहाँ हाथियों को न ले जाय क्योंकि इनका पसीना बाहर न निकलने से इनमें कुष्ठ हो जाता है। पानी में न नहाने से, पर्याप्त जल न पीने से अन्दर का दाह बढ़कर इनको अन्धा कर देता है (हस्तिनो ह्यन्तः स्वेदाः कुष्ठिनो भवन्ति। अनवगाहमानास्तोयमपिबन्तश्चान्तरवक्षाराच्चान्धी भवन्ति ।। अमि[illegible]स्य कर्म. ९।४८-४९)।

मिनाण्डर और मिलिन्द प्रश्न

मौर्य सम्राटों की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होने लगी थी। अशोक के पीछे कोई भी प्रतापी राजा नहीं हुआ। ऐसी स्थिति म पास के पड़ोसी राजाओं ने भारत पर आक्रमण किया। इनमें मुख्य आक्रान्ता मिनाण्डर था (जिसका पाली नाम मिलिन्द है)। इसकी राजधानी साकल (वर्त्तमान स्यालकोट) थी। मिनाण्डर यवन था; इसके आक्रमण के समय मगध की गद्दी पर पाटलिपुत्र में पुष्यमित्र राजा था। वह शुंग वंश का था। इसके समय में महा भाष्यकार पतञ्जलि हुए हैं। उन्होंने अपने महाभाष्य में 'जिन यवनों का निर्देश किया है, वह इनके लिए ही हैं; यथा—'अरुणद् यवनः माध्यमिकाम्'; 'अरुणद् यवनो साकेतम्'। 'माध्यमिका' नामक गाँव मथुरा के पास है। यह सम्भवतः प्राचीन मुख्य नगर था; जिसे मिनाण्डर ने जीता था। इसी प्रकार से साकेत, अयोध्या को जीता था। इसके आगे ये नहीं बढ़े। गार्गीपुराण में भी मथुरा और पंचाल देश जीतने का उल्लेख है। यह समय सम्भवतः ईसा से प्रथम शती पूर्व का है।

साकल नगर मद्र देश में था। मद्र देश का उल्लेख महाभारत और छान्दोग्य उपनिषद् (३.३१; ७।१) में है। पाण्डवों का मामा शल्य मद्र देश का ही था। मद्र देश चिनाब और रावी के बीच में स्थित था। सिकन्दर ने यहीं पर दूसरे पौरव को पाया था; प्रथम पौरव जिसके साथ उसका संग्राम हुआ था उसका राज्य जेहलम और चिनाब के बीच के द्वाबे में था; जिसकी सीमा इससे छूती थी। शाकल दो बार विदेशियों के हाथ में गया—एक बार सिकन्दर के समय और दूसरी बार मिनाण्डर के समय। मौर्य सम्राटों की शक्ति के क्षीण होने के साथ भारतवर्ष की पश्चिम सीमा कमजोर हो गयी थी। काबुल, पुष्कलावती, तक्षशिला के प्रान्त यवनों के (इन्डोग्रीक, भारत यूनानी) हाथों में चले गये थे।

मिनाण्डर के राज्य के विस्तार का पता बहुत कुछ उसके सिक्कों से चलता है। इसके सिक्के काबुल से लेकर मथुरा-बुन्देलखण्ड तक पाये गये हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि भड़ौच तक उसके सिक्के ईसा की प्रथम शती के तीसरे चरण तक चलते थे। उत्तर में कश्मीर में सिक्के मिले हैं। सिक्कों पर राजा की शकल बहुत सुन्दर आयी है; लम्बी नाक के साथ मूर्त्ति बड़ी ही सजीव मालूम पड़ती है। कुछ सिक्कों पर शकल तरुण अवस्था की है और कुछ पर वृद्धावस्था की। इससे पता चलता है कि इसका राज्यकाल बहुत लम्बा था। सिक्कों के एक तरफ ग्रीक भाषा में और दूसरी

ओर पाली भाषा में अभिलेख हैं; (महरजस तद्रतस मेनन्द्रस)। कुछ सिक्कों पर दौड़ते घोड़े, ऊँट, हाथी, सूअर, चक्र या ताड़ के पत्ते खुदे हैं। चक्रवाले सिक्कों से यह प्रमाणित होता है कि यह बौद्ध था। एक सिक्का जो मिला है, उसमें एक तरफ पाली में 'महरजस धर्मिकस मेनन्द्रस' लिखा है। धर्मिकस शब्द धार्मिकस्य का पाली रूप है। इससे स्पष्ट है कि वह बौद्ध था (श्री जगदीश काश्यप)। यह राजा बहुत न्यायी था। इसके फूलों (भस्मावशेष) पर बड़े-बड़े स्तूप बनवाये गये।

सागल (साकल, स्यालकोट) नगर का वर्णन—यवनों [illegible] का केन्द्र सागल नाम का एक नगर था। वह नगर नदी और पर्वतों से शोभित रमणीय भूमि भाग में बसा, आराम, उद्यान, उपवन, तड़ाग, पुष्करिणी से सम्पन्न, नदी, पर्वत और वन से अत्यन्त रमणीय था*। उस नगर का निर्माण दक्ष कारीगरों ने किया था। अनेक प्रकार की विचित्र दृढ़ अटारी और कोठे थे। नगर का सिंहद्वार विशाल और सुन्दर था। भीतरी गढ़, गहरी खाई और पीले प्राकार से घिरा हुआ था। सड़क, आँगन और चौराहे सभी अच्छी तरह बँटे थे। दुकानें अच्छी तरह सजी-सजाई और बहुमूल्य सौदों से भरी थीं। जगह-जगह पर अनेक प्रकार की सैकड़ों सुन्दर दानशालाएं बनी थीं। यह नगर सभी प्रकार के मनुष्यों से गुलजार था। बड़े-बड़े विद्वानों का केन्द्र था। काशी-कोटूम्बर आदि स्थानों के बने कपड़ों की बड़ी-बड़ी दुकानें यहाँ पर थीं। सभी प्रकार के धन-धान्य और उपकरणों से भण्डार कोष-पूर्ण था। उत्तर कुरु की तरह उपजाऊ और आलकनन्दा देवपुर की भाँति शोभा सम्पन्न यह नगर था।

जिस प्रकार गंगा नदी समुद्र से जा मिलती है, उसी प्रकार सागल नामक उत्तम नगर में राजा मिलिन्द (मिनान्दर) नागसेन के पास गया। अन्धकार को नाश करनेवाले, प्रकाश को धारण करनेवाले तथा विचित्र वक्ता (नागसेन के पास) राजा ने जाकर अनेक विषयों के सम्बन्ध में सूक्ष्म प्रश्न पूछे।

जो प्रश्न पूछे गये उनको लेकर ही मिलिन्द प्रश्न नामक ग्रन्थ की रचना हुई है। इन प्रश्नों का उत्तर अभिधर्म, विनय, सूत्रों के अनुकूल, उपमाओं तथा न्यायों से दिया

*** आराम, बड़े-बड़े बाग; उद्यान, फुलवाड़ी; उपवन, बगीचा, छोटा बाग—जहाँ पिकनिक के लिए जाते हैं। काशी में इनके लिए बगीची शब्द चलता है। तड़ाग, कहीं खोदे हुए या पक्के बने बड़े-बड़े तालाब; पुष्करिणी, छोटे तालाब जिनमें सीढ़ियाँ हों, जो घर के समीप या उसमें ही होती हैं।**

गया है। इनमें से आयुर्वेद या चिकित्सा से सम्बन्धित प्रश्न और उनका उत्तर यहाँ पर दिया गया है।[1]

स्वप्न के विषय में—भन्ते नागसेन ! सभी स्त्री-पुरुष स्वप्न देखते हैं; अच्छे भी बुरे भी, पहले का देखा हुआ भी और पहले का नहीं देखा हुआ भी; पहले का किया हुआ भी और पहले का नहीं किया हुआ भी; शान्ति देनेवाला भी और घबड़ा देनेवाला भी, दूर का भी और निकट का भी और भी अनेक प्रकार के, हजारों तरह के। यह स्वप्न है क्या चीज ? कौन इनको देखता है ?

महाराज ! स्वप्न चित्त के सामने आनेवाली निर्देश-सूचना (निमित्त-काश्यप) है। महाराजः छः प्रकार के स्वप्न आते हैं—१. वायु भर जाने से स्वप्न आता है; २. पित्त के प्रकोप से; ३. कफ बढ़ जाने से स्वप्न आते हैं; ४. देवताओं के प्रभाव में आकर स्वप्न आते हैं; ५. बार-बार किसी काम को करते रहने से उसका स्वप्न आता है; ६. भविष्य में घटनेवाली बातों का भी कभी-कभी स्वप्न आता है। महाराजः इन छः में जो अन्तिम भविष्य में होनेवाली बातों का स्वप्न आता है, वही सच्चा होता है; बाकी दूसरे झूठ (पृष्ठ ३६५)। गाढ़ी नींद के हलकी हो जाने पर जो एक खुमारी की-सी अवस्था होती है उसीमें स्वप्न आते हैं। चित्त के काम करने पर स्वप्न आते हैं।

(इसकी तुलना कीजिए—"नातिप्रसुप्तः पुरुषः स्वप्नफलानफलांस्तथा। इन्द्रियेश मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा ॥ दृष्टं श्रुतानुभूतं च प्रार्थितं कल्पितं तथा। भाविकं दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः ॥ तत्र पञ्चविधं पूर्वमफलभिषगादिशेत् ॥ चरक. इ. अ. ५।४२, ४३; भाविकम्-भाविशुभाशुभफलसूचकम्; दोषजम्-उल्वणवातादि-दोषजन्यम्—चक्रपाणि)।

इसके आगे दर्पण का उदाहरण देकर स्वप्न को नागसेन ने समझाया है (३६५-३६८)।

काल मृत्यु और अकाल मृत्यु—भन्ते नागसेन ! जितने जीव मरते हैं, सभी काल मृत्यु से ही मरते हैं या कुछ अकाल से (जिन्दगी पूरा होने के पहले ही) भी ?

महाराज ! कुछ काल मृत्यु से भी और कुछ अकाल मृत्यु से भी।

भन्ते नागसेन ! कौन कालमृत्यु से मरते हैं और कौन अकाल मृत्यु से ?

---

१. यह विषय श्री जगदीश काश्यप की पुस्तक 'मिलिन्द प्रश्न' के आधार पर है।

(नागसेन ने अनेक उदाहरण देकर महाराज को यह बात समझायी। यथा—फल पकने पर और पहले भी गिर जाते हैं)।

महाराज ! क्या आपने देखा है कि आम के वृक्ष से, जामुन के वृक्ष से, या किसी दूसरे फल के वृक्ष से फल पक जाने पर भी गिरते हैं और पकने के पहले भी ?

हाँ, भन्ते देखा है।

महाराज ! वृक्ष से जो फल गिरते हैं, वे सभी काल से ही गिरते हैं, या अकाल से भी ?

भन्ते ! जो फल पक कर और बढ़कर गिरते हैं वे काल से गिरते हैं; किन्तु जो कीड़ा खा जाने, लाठी चलाये जाने, आँधी, पानी या भीतर ही भीतर सड़ जाने से गिरते हैं, वे अकाल से गिरते हैं।

महाराज ! इसी तरह जो पूरे बूढ़े होकर मरते हैं, वे काल मृत्यु से मरते हैं और जो अपने कर्म के कारण, बहुत चलने-फिरने के कारण, या काम के अधिक भार रहने के कारण मरते हैं उनकी अकाल मृत्यु समझनी चाहिए (तुलना कीजिए—"एवं वादिनं भगवन्तमग्निवेश उवाच—किन्तु खलु भगवन् ! नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं नवेति। तं भगवानुवाच—इहाग्निवेश–भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते। २. तस्मादुभयतृष्टत्वादेकान्तग्रहणमसाधु। निदर्शनमपि चात्रोदाहरिष्याम ॥ वि. अ. ३।३३–३८; कालाकालमृत्व्वोस्तुखलु भावाभावयोरिदमध्यवसितं नः—"यः कश्चिन् म्रियते स काल एव म्रियते; नहि कालच्छिद्रमस्ति" इत्येके भाषन्ते; तच्चासम्यक्। २—लोकेऽप्येतद् भवति—काले देवो वर्षति अकाले देवो वर्षति; काले शीतमकाले शीतं; काले तपत्यकाले तपति; काले पुष्पफलमकाले पुष्पफलमिति। तस्मादुभयमस्ति काले मृत्युरकाले च; नैकान्तिमत्र ॥ शा. अ. ६।२८)।

सात कारणों से अकाल मृत्यु—१. भोजन न मिलने से; २. पानी न मिलने से; ३. साँप का काटा आदमी योग्य उपचार न मिलने से; ४. जहर दिया आदमी उचित औषध न मिलने से; ५. आग में पड़ा आदमी; ६. पानी में डूबा आदमी; ७. तीर लगा आदमी अच्छा वैद्य न मिलने से घाव के कारण मर जाता है।

मृत्यु के आठ कारण—महाराज ! जीव आठ प्रकार से मरते हैं—१. वायु के उठने से; २. पित्त के बिगड़ जाने से; ३. कफ के बढ़ जाने से; ४. सन्निपात हो जाने से; ५. मौसम के बिगड़ जाने से (तुलना कीजिए—हेतुस्तृतीयः परिणामकालः—चरक. शा. अ. २।४०); ६. रहन-सहन में गड़बड़ होने से (तुलना कीजिए—प्रज्ञापराधो विषमास्तथाऽर्था—शा. अ. २।४०); ७. किसी भी बाहरी कारण से;

८. कर्म फल के आने से; (तुलना कीजिए—१. जितेन्द्रियं नानुतपन्ति रोगास्तत्काल-युक्तं यदि नास्ति दैवम् ।। २।४२; २. निर्दिष्टं दैव शब्देन कर्म यत् पौर्वदेहिकम् । हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते ।। चरक. शा. अ. १।११६) ।

व्रण-चिकित्सा—हिंसा को समझाते हुए नागसेन ने कहा कि "कल्पना करो कि एक व्रण की चिकित्सा करते हुए एक अनुभवी वैद्य और शल्य चिकित्सक तेज गन्धवाली और काटनेवाली खुरदरी मलहम का लेप कर देता है, उससे व्रण की सूजन मिट जाती है; कल्पना करो कि वह उस व्रण को नश्तर से चीर देता है और क्षार से जला देता है। इसके पीछे वह इसको किसी क्षारीय द्रव से धुलवा कर एक लेप लगा देता है; जिससे अन्त में घाव भर जाता है; और वह व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है।

हे राजन् ! अब बताओ, क्या चिकित्सक ने मलहम का लेप, नश्तर से चीरना, क्षार से जलाना, क्षार से धोना, यह सब कार्य हिंसा से प्रेरित होकर किये थे।

इसके आगे भन्त नागसेन ने राजा को प्यासे, आग की ढेरी; भारी मेघ, साँप का विष, तीर का निशाना, थाली की आवाज़, धान की फसल, आदि की उपमा देकर काल मृत्यु और अकाल मत्यु को समझाया। ("भन्ते नागसेन ! आश्चर्य है, अद्भुत है ! आपने कारणों को अच्छा दिखाया है। अकाल मृत्यु होती है, इसे प्रमाणित करने के लिए कितनी उपमाएँ दीं। अकाल मृत्यु होती है, इसे साफ़ कर दिया।' (पृष्ठ ३७९) ।[1]

वैद्य की शिक्षा—सुश्रुत में चिकित्सा कर्म की शिक्षा के विषय में एक अध्याय है (योग्यासूत्रीय) । इसका अभिप्राय क्रियात्मक शिक्षा में शिष्य को निपुण करना है; क्योंकि बहुत श्रुत होने पर भी कर्म में अयोग्य होता है।

इसी बात को भदन्त नागसेन ने उपमा रूप में कहा है—

'महाराज ! कोई वैद्य या जर्राह पहले किसी गुरु को खोजकर उसके पास जाता है। फिर उसे अपनी सेवाएँ देकर या वेतन देकर सारी विद्या सीखता है—छुरी कैसे पकड़ी जाती है; कैसे चीरा जाता है; कैसे निशान लगाया जाता है; कैसे छुरी चलायी जाती है, चुभे हुए को कैसे निकाला जाता है; घाव को कैसे धोना चाहिए; उसे कैसे सुखाना चाहिए, उस पर कैसे मलहम लगाना चाहिए; रोगी को कैसे उलटी कराना चाहिए; कैसे जुलाब देना चाहिए; कैसे रसायन देना चाहिए। उसकी शिष्यता में

---

१. 'सत्यं बतेदं प्रवदन्ति लोके नाकालमृत्युर्भवतीति सन्तः।'—वा.रा. ५।२८।३; 'ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते'—(वा. रा. २।२०।५१.)

सब बातें सीखने के पीछे ही वह स्वतंत्र रूप से किसी रोगी का इलाज अपने हाथ मे लेता है (पृष्ठ ४३४)।

वेदनाओं का मूल क्या है? अग्निवेश ने भी अत्रिपुत्र से पूछा था कि "कारणं वेदनानां किं—शा. अ. १।१३; इसका उत्तर अत्रिपुत्र ने दिया है "धीधृतिस्मृति-विभ्रंशः संप्राप्तिः कालकर्मणाम्। असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःख हेतवः॥" शा. अ. १।९८। बुद्धि-भ्रंश, धृति-भ्रंश; स्मृति-भ्रंश; काल-सम्प्राप्ति, कर्म-संप्राप्ति, असात्म्यार्थ संयोग ये दुःखों के कारण हैं। इसी को भन्त नागसेन तथा मिलिन्द के प्रश्न उत्तर में देखते हैं—

'भन्ते! बिना कर्मों के रहे सुख या दुःख नहीं हो सकता। कर्मों के होने से ही सुख और दुःख होते हैं। यह भी एक दुविधा आपके सामने रखी गयी है, इसे खोलकर समझायें।

नहीं, महाराज! सभी वेदनाओं का मूल कर्म ही नहीं है। वेदनाओं के होने के आठ कारण हैं। वे आठ कौन से हैं? (१) वायु का बिगड़ जाना; (२) पित्त का प्रकोप होना; ३. कफ़ का बढ़ जाना; ४. सन्निपात दोष हो जाना; ५. ऋतुओं का बदल जाना; ६. खाने-पीने में गड़बड़ होना; ७. बाह्य प्रकृति के दूसरे प्रभाव और ८. अपने कर्मों का फल होना; इन आठ कारणों से प्राणी नाना प्रकार के सुख-दुःख भोगते हैं। महाराज! जो ऐसा मानते हैं कि कर्म के ही कारण लोग सुख-दुःख भोगते हैं; इसके अलावे कोई दूसरा कारण नहीं है; उनका मानना गलत है।

महाराज! यदि सभी दुःख कर्म के कारण उत्पन्न होते हैं; तो उनको भिन्न-भिन्न प्रकारों में नहीं बाँटा जा सकता। महाराज! वायु बिगड़ने के दस कारण होते हैं; १. सर्दी; २. गर्मी, ३. भूख, ४. प्यास; ५. अति भोजन; ६. अधिक खड़ा रहना; ७. अधिक परिश्रम करना; ८. बहुत तेज चलना; ९. बाह्य प्रकृति के दूसरे प्रभाव; १०. अपने कर्म का फल। इन दस कारणों में पहले नौ पूर्व जन्म या दूसरे जन्म में काम नहीं करते, किन्तु इसी जीवन में काम करते हैं। इसलिए यह नहीं कह सकते कि सब सुख और दुःख कर्म के कारण ही होते हैं।

महाराज! पित्त के कुपित होने के तीन कारण हैं—१. सर्दी, २. गर्मी, ३. कुसमय भोजन करना। महाराज—कफ बढ़ जाने के तीन कारण हैं; १. सर्दी, २. गर्मी, ३. खीने-पीने में गड़बड़ी करना। इन तीनों दोषों में किसी के बिगड़ने से खास-खास कष्ट होते हैं। मूर्ख लोग सभी को कर्मफल से ही होनेवाले समझते हैं। इनके सिवाय पुनर्जन्म (८९ पृ०); काल के विषय में (६३); संसार की उत्पत्ति और उससे

भुक्ति (पृ० ६५); आत्मा का अस्तित्व प्रश्न (६८); कर्मफल के विषय में (९०); पेट में कीड़े (१२६); कड़ुवी दवा, गोमूत्र का उपयोग (२१२); आदि विषय संक्षेप से स्थान-स्थान पर आये हैं।[1]

भदन्त नागसेन से ही प्रभावित होकर मिनाण्डर बौद्ध बना था और अशोक की भाँति उसने बौद्ध धर्म के प्रचार में शक्ति लगायी थी।

दिव्यावदान

अवदान (प्राकृत-अपादन) बौद्ध साहित्य में महायान से सम्बन्धित कथाएँ हैं। जातकों में भगवान् बुद्ध से सम्बन्धित कथानक ही हैं। अवदान में बुद्ध के अतिरिक्त दूसरों की भी कथाएँ हैं। ये एक प्रकार से हिन्दुओं के पुराणों की भाँति हैं। इन कथाओं से मनुष्यों को धर्मोपदेश दिया गया है।

'अवदान शतक' का समय ईसा की दूसरी शती माना जाता है; क्योंकि तीसरी शती में इसका चीनी अनुवाद प्राप्त था। यही समय दिव्यावदान का है। अवदान में बहुत से प्रचलित श्लोक मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्न श्लोक दिव्यावदान में दो स्थानों पर आता है—

'त्यजेद् एकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥' (**सधनकुमारावदान पृ० ४२५.**)

यह श्लोक पंचतन्त्र में भी इसी रूप में मिलता है (काकोलूकीयम्—८२)। इसी प्रकार से रुद्रायणावदान (पृ० ५३७) में यही श्लोक इसी रूप में मिलता है। चूडापक्षावदान में (पृष्ठ ४७४) मृत मूषक वणिक् की कथा बहुत प्रसिद्ध है। इस प्रकार से इस अवदान में पंचतन्त्र तथा अन्य देशों में प्रसिद्ध कथाओं, श्लोकों का उल्लेख मिलता है।

पंचतन्त्र की रचना गुप्त काल के आसपास मानी जाती है। अवदानों की रचना का काल भी ईसा की दूसरी शती से लेकर चौथी शती के बीच का या इसके आसपास माना गया है। इन कथाओं में कहीं-कहीं पर आयुर्वेद सम्बन्धी उल्लेख हैं। उसके कुछ उदाहरण यहाँ हैं—

आयुर्वेद सम्बन्धी विषय

ऊर्ध्व गुद रोग—इस रोग का उल्लेख अष्टांग संग्रह में हुआ है। इस रोग में अर्श,

---

१. ये विषय चरक संहिता और सुश्रुत संहिता में भी मिलते हैं। चरक संहिता में इनका विस्तार से उल्लेख है।

गुल्म, कफ आदि से रुकी वायु ऊपर मुख में आती है, जिससे मुख में दुर्गन्ध आती है; इसको ऊर्ध्वगुद रोग कहते हैं[1]।

कुनालावदान (२७) में अशोक को यह रोग होने का उल्लेख है। राजा अशोक ने जब कुनाल को तक्षशिला में भेज दिया तब उसको महान् रोग उत्पन्न हुआ। इसमें उसके मुख से मल आने लगा; सब रोमकूपों से दुर्गन्ध आने लगी; इसकी चिकित्सा न हो सकी। यह देखकर राजा ने कहा---कुनाल को बुलाओ; उसे राज्य सौंपूंगा। इस प्रकार की जिन्दगी से क्या लाभ? यह सुनकर तिष्यरक्षिता चिन्ता में पड़ गयी। उसने सोचा यदि कुनाल को राजगद्दी मिल गयी, तब तो मैं मरी। उसने अशोक से कहा--'मैं तुमको स्वस्थ करूँगी, किन्तु वैद्यों का आना रोक दो।' राजा ने वैद्यों का आना बन्द कर दिया। अब तिष्यरक्षिता ने वैद्यों से कहा 'यदि कोई व्यक्ति इसी प्रकार के रोग से पीड़ित आये; वह स्त्री या पुरुष हो; उसे मुझे दिखाना। कोई आभीर इसी रोग से आक्रान्त हुआ। उसकी पत्नी ने वैद्य के पास जाकर उसके रोग की चर्चा की। वैद्य ने कहा 'रोगी ही यहाँ आये; रोग देखकर औषधि दूंगा।' पत्नी पति को वैद्य के पास ले गयी। वैद्य उसे तिष्यरक्षिता के पास ले गया। तिष्यरक्षिता ने इसको गुप्त स्थान में ले जाकर मार दिया। मरने के बाद पेट चीरकर उसने उसके पक्वाशय स्थान को देखा। वहाँ उसे आन्त्र में बड़ा कृमि मिला। जब यह कृमि ऊपर को जाता है तब दुर्गन्ध आती है; नीचे जाने पर नीचे दुर्गन्ध आती है। उसने मरिच पीसकर इस पर डाली, फिर भी यह नहीं मरा। इसी प्रकार पिप्पली और सोंठ पीसकर डाली, (उससे भी इसे कुछ नहीं हुआ)। फिर बहुत मात्रा में प्याज दी, उसके लगने से कृमि मर गया। मल मार्ग से बाहर निकल गया। उसने यह सब बात राजा से कही; और कहा, 'देव! आप प्याज खायें; आप स्वस्थ हो जायेंगे।' राजा ने कहा---'देवि! मैं क्षत्रिय हूँ, कैसे पलाण्डू खाऊँगा[2]।' देवी ने कहा---'देव! खाना ही चाहिए; जीवन के लिए औषध है।' राजा ने प्याज खायी। वह कृमि मरकर मल मार्ग से निकल गया; राजा स्वस्थ हो गया। राजा ने प्रसन्न होकर तिष्यरक्षिता को वर दिया।[3]

---

१. अधः प्रतिहतो वायुरर्शोगुल्म कफादिभिः।
यात्यूर्ध्वं वक्त्रदौर्गन्ध्यं कुर्वन्नूर्ध्वगुदस्तु सः॥---(संग्रह. उत्तर. अ. २५.)

२. "द्विजा नाश्नन्ति तमतो दैत्यदेहसमुद्भवम्"---राहु के गले से गिरी रक्त के बूंदों से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य रसोन लहसुन और पलाण्डु नहीं खाते। (संग्रह. उत्तर. अ. ४९.)

३. दिव्यावदान---(डा० वासुदेवशरण अग्रवाल सम्पादित, पृष्ठ ३८६)।

अत्यग्नि—धर्मरूच्यवदान (१८) में, श्रावस्ती के एक ब्राह्मण की पत्नी की कथा है। ब्राह्मणी के गर्भवती होने पर उसे अत्यग्नि की शिकायत हो गयी। सब कुछ खा लेने पर भी इसकी तृप्ति नहीं होती थी। ब्राह्मण दुःखी होकर ज्योतिषियों और वैद्यों के पास तथा तंत्रविदों के पास गया और उनसे कहा कि आप चलकर देखें कि उसको क्या रोग है अथवा भूत ग्रह प्रवेश है या अन्य मरण चिह्न है। उसके अनुसार ही उपचार करूँ। उन्होंने ब्राह्मणी की इन्द्रियों में कुछ भी वैपरीत्य नहीं देखा। तब उन्होंने ब्राह्मणी से पूछा कि कब से यह शिकायत तुमको हुई। उसने कहा—गर्भवती होने के साथ ही यह शिकायत आरम्भ हुई है। तब ज्योतिषी और वैद्यों ने कहा कि इसको और कोई बीमारी नहीं, न भूतग्रह प्रवेश है। इसको गर्भावस्था के कारण ही अत्यग्नि है।[1]

कृमि—बुद्ध के उपदेश को बताते हुए कृमि और सूर्य की उपमा दी गयी है। जब तक सूर्य उदय नहीं होता तभी तक कृमि चमकता है। सूर्य के उदय होने से कृमि भी नहीं चमकता। इसी प्रकार से जब तक तथागत नहीं बोलते तभी तक तार्किक जोर दिखाते हैं; ज्ञानी के बोलने पर न तो तार्किक चूं करता है और न श्रोता। सब चुप हो जाते हैं।

गोशीर्ष चन्दन[2]—गुप्तकाल में इस चन्दन की बहुत प्रशंसा है; कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी चन्दन के बहुत से भेदों का उल्लेख है। इनकी पहचान दी गयी है। इसमें गोशीर्ष चन्दन का भी उल्लेख है (गोशीर्षकं कालताम्रगन्धि च—२।११।४५)। इसी गोशीर्ष चन्दनवाले एक वणिक् की कथा है। इस गोशीर्षक से राजा का ज्वर शान्त हुआ (अत्रान्तरे सौपीरकीयो राजा दाहज्वरेण विक्लवीभूतः। तस्य वैद्यैर्गोशीर्षचन्दनम् उपदिष्टम्। गोशीर्षचन्दनेनासौ राजा स्वस्थीभूतः—पूर्णावदान, पृ० २९)

सुप्रियावदान (आठवाँ, पृ० ९७) में दिव्य औषधियों के प्रकरण में शंखनाभी का उल्लेख है। शंखनाभी नामौषधी दिवा धूमायते रात्रौ प्रज्वलति)।

अवदान-कथाएँ धर्म का उपदेश करनेवाली हैं; इनमें आयुर्वेद का विषय उतना ही आता है, जितना सामान्य रूप में प्रचलित था या आवश्यक था; इसलिए ये संक्षिप्त उदाहरण हैं।

---

१. देखिए, अत्यग्नि. चरक. चि. अ. १५।२१७-२२८.

२. गोशीर्ष चन्दन की विशेष जानकारी के लिए अत्रिदेव विद्यालंकार की "प्राचीन भारत के प्रसाधन" पृ० १३५ देखें।

छठवाँ अध्याय

कुषाण काल

(२१० ई० पूर्व से १७६ ई० तक)

कनिष्क और चरक संहिता—अशोक के समय में भारत और चीन का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। अशोक ने अपने धर्म प्रचारक चीन भेजे थे। चीनियों ने कुछ भारतीय नाम अपना लिये थे। सीता (यारकन्द) नदी के भारतीय नाम को अपनाकर चीनी लोग उसे आज तक सीतो कहते हैं। तारीम के कोठे में भारतवर्ष की जनता और सभ्यता बहुत अधिक जम गयी थी, इसलिए प्राचीन इतिहास में इसे चीग हिन्द (Ser-India) कहते हैं। इस इलाके में ऋषिक (यूचि) लोग रहते थे। हूणों से भगाये जाने के कारण ऋषिक लोग धीरे-धीरे हिन्दूकुश के इस पार भी उतरने लगे। कम्बोज देश से हिन्दूकुश के घाटों को पारकर स्वात और सिन्ध की दूनों में होकर वे सीधे गान्धार की तरफ़ आ निकले। हिन्दूकुश के दक्खिन उनकी पाँच छोटी-छोटी रियासतें बनीं। कुछ समय पीछे कुषाण नाम का एक शक्तिशाली व्यक्ति उनमें सरदार बन गया। उसने बाकी चारों रियासतों को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। पीछे से पह्लवराज्य के कमजोर होने पर उसने समूचे अफगानिस्तान, कपिश, पश्चिमी-पूरबी गान्धार (पुष्करावती, तक्षशिला) को जीत लिया। बलख, कम्बोज तथा चीन हिन्द के कुछ हिस्से पर तो उसका अधिकार पहले ही था। कुषाण को इतिहास में कफ्स कहते हैं। दीर्घ शासन के बाद अस्सी वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई (अन्दाजन ३० ई० में)।

कुषाण का बेटा विम कफ्स था। कुषाण बौद्ध था और विम शैव था। इसने समूचा पंजाब, सिन्ध और मथुरा जीत लिया। इसकी राजधानी बदख्शां थी। इसका राज्यकाल अन्दाजन ३० से ७७ ई० है।

कनिष्क—विम कफ्स का उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध राजा कनिष्क हुआ है। उसने खेतान के राजा विजयकीर्त्ति के साथ मिलकर फिर मध्य देश पर चढ़ाई की। उन्होंने साकेत (अयोध्या) को घेर लिया और उसके बाद पाटलिपुत्र को भी जीता। यहाँ से कनिष्क प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष को अपने साथ ले गया। मध्यदेश और मगध

पूरी तरह् कनिष्क के हाथ में आ गये और वहाँ उसके क्षत्रप राज करने लगे। प्रसिद्ध शक संवत् जो ७८ ईसवी में शुरू होता है; कनिष्क का चलाया हुआ है।

कनिष्क ने प्राय: बीस वर्ष राज्य किया। इसी समय (७३-१०२ ई०) चीन के एक सेनापति ने सारे मध्य एशिया को जीतकर बड़ा साम्राज्य बनाया। कनिष्क को भी चीन-हिन्द में उस सेनापति से हारना पड़ा। उसने पुष्करावती से हटकर पुरुषपुर (पेशावर) बसाया और बदरूशां से अपनी राजधानी वहाँ उठा लाया। पेशावर और अन्य स्थानों पर उसने अपने स्तूप, विहार आदि बनवाये। अपनी राजधानी को उसने विद्या का केन्द्र बनाया। महाकवि अश्वघोष के अतिरिक्त आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य चरक भी उसकी सभा में थे (डाक्टर त्रिपाठी के अनुसार मातृचेट, नागार्जुन, वसुमित्र; पार्श्व भी थे)। कनिष्क की प्रेरणा से चौथी बौद्ध संगीत कश्मीर में श्रीनगर के पास हुई। उसके सिक्कों पर उसका नाम 'कनिष्क शाहानुशाह' अर्थात् शाहों का शाह लिखा होता है। शकों के सरदार शाहि कहलाते थे। (इतिहास प्रवेश; जयचन्द्र विद्यालंकार के आधार पर)।

चरक संहिता

वर्त्तमान उपलब्ध चरक संहिता में (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित) मुख्य पृष्ठ पर निम्न वाक्य लिखे मिलते हैं—

'महर्षिणा पुनर्वसुनोपदिष्टा, तच्छिष्येणाग्निवेशेन प्रणीता चरकदृढबलाभ्यां प्रतिसंस्कृता चरक संहिता'

प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ की पुष्पिका में निम्न वचन मिलते हैं—प्रथम अध्याय का नाम और नीचे दूसरा वचन—"इति ह स्माह भगवानात्रेय:"

प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में पुष्पिका का प्रारम्भ निम्न प्रकार से होता है—

इत्याग्निवेशकृते तन्त्रे चरक संस्कृते...नाम—अध्याय—समाप्त: ।।

ग्रन्थ समाप्ति की अन्त:पुष्पिका का यह क्रम चिकित्सा स्थान के चौदहवें अध्याय तक चलता है। पन्द्रहवें अध्याय से यह बदलता है—

इत्यग्निवेश कृते तन्त्रेऽप्राप्ते दृढबल संपूरिते नाम अध्याय: ।।[1]

---

१. यह क्रम निर्णयसागर की प्रकाशित चरकसंहिता के आधार पर है; कलकत्ता से प्रकाशित पुस्तकों में चिकित्सा स्थान के कुछ अध्यायों में व्यतिक्रम है। इसका विचार आगे किया गया है।

इससे पुस्तक का सम्बन्ध पुनर्वसु, आत्रेय, अग्निवेश, चरक और दृढबल इन पाँच के साथ आता है। पुनर्वसु और आत्रेय इन दो से एक ही व्यक्ति अभिप्रेत है; क्योंकि चरक संहिता में बहुत स्थानों पर "पुनर्वसुरात्रेय" एकत्र पाठ है। यथा, सू. अ. २२।१३। पुनर्वसु नाम इनका पुनर्वसु नक्षत्र में उत्पन्न होने से पड़ा और आत्रेय नाम अत्रिपुत्र होने से हुआ। शिशु का एक नाम नक्षत्र के ऊपर भी रखने का विधान चरक संहिता में है (द्वे नामनी कारयेन्नाक्षत्रिकं नामाभिप्रायिकं च--शा. अ. ८।५०)। इसलिए वास्तव में चार ही व्यक्ति हैं, जिनका सम्बन्ध वर्त्तमान चरक संहिता से है। आत्रेय, अग्निवेश; चरक और दृढबल।

आत्रेय गुरु या उपदेष्टा हैं, और अग्निवेश शिष्य या पूछनेवाला है। सूत्र स्थान के प्रारम्भ में अग्निवेश के साथी पाँच और भी शिष्य हैं, यथा—भेल (ड़) जतूकर्ण, पराशर; हारीत, क्षारपाणि। इन छः शिष्यों को आत्रेय ने शाश्वत हेतु लिंग और औषध तीन स्कन्धोंवाला आयुर्वेद सिखाया। इन सब ने अपनी-अपनी संहिताएँ बनायीं। इनमें मुख्य तंत्र अग्निवेश का ही बनाया हुआ था—उसी का अधिक प्रचार हुआ। इसका कारण उसकी बुद्धि की विशेषता ही थी; ऋषि के उपदेश में कोई अन्तर नहीं था (सू. अ. ३२)।

आत्रेय ने समान रूप से सबको शास्त्र का ज्ञान कराया था। शास्त्र का ज्ञान उस समय अनेक प्रकार से कराया जाता था। उपनिषद् काल में ज्ञानप्राप्ति की परिपाटी भिन्न थी। इसमें शिष्य गुरु के आश्रम में रहकर, उसके समीप बैठकर ही ज्ञान प्राप्त करता था। इसमें ज्ञानदाता ऋषि प्रायः शालीन थे—वे शाला बनाकर रहते थे—शिष्य लोग ज्ञानपिपासा से उनके पास पहुँचते थे।

दूसरा ढंग ज्ञान देने का बुद्ध भगवान् का था। इसमें वे स्वयं ज्ञान पिपासा से आलारकालाम और उद्दक रामपुत्र के आश्रम में गये थे। परन्तु वे स्वतः कभी आश्रम बनाकर नहीं बैठे। केवल चतुर्मास के लिए एक स्थान पर रहते थे। आनन्द, शारिपुत्र, मौद्गलायन आदि शिष्यों को साथ में लेकर चारिका (चंक्रम, भ्रमण) करते थे और इसी समय कभी-कभी उपदेश, ज्ञान, शिक्षा देते थे। इसमें शिष्य प्रश्न करते थे और वे उसका समाधान करते थे तथा समय-समय पर स्वतः भी शिक्षा देते थे।

इस प्रकार की शिक्षा में वे अपने एक शिष्य को ही केन्द्र बनाकर उसे ही सम्बोधन करके शिक्षा देते हैं। बुद्ध भगवान् ने जो भी वचन कहे वे प्रायः आनन्द को सम्बोधन करके कहे हैं। इन्हीं वचनों का उनके समय या उनके पीछे संग्रह करके लिपिबद्ध किया गया है। ये सब संग्रह भगवान् बुद्ध के पीछे के हैं। इन्हीं संग्रहों का विषय क्रम से पृथक्-

पृथक् संग्रह करके ग्रन्थ लिखे गये हैं। यथा—सूत्र, विनय और अभिधम्म। इनको त्रिपिटक (तीन पिटारी) कहते हैं। प्रवचनकाल और ग्रन्थ प्रणयन काल मिश्रित था।

भगवान् बुद्ध ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनेक लोगों को विभिन्न परिस्थितियों में जो उपदेश दिये थे उनका संग्रह सूत्र पिटक में किया गया है। विनय पिटक में भिक्षुओं की रहन-सहन के नियमों का संग्रह है—आचार्य्य के प्रति कर्त्तव्य, शिष्य के प्रति कर्त्तव्य, मठ में रहने आदि के नियम हैं। अभिधम्म पिटक के ग्रन्थ गूढ़ और गम्भीर हैं। बौद्ध साहित्य में ये तीनों पिटक अलग-अलग हैं।

चरक संहिता में भी यही चारिका (चंक्रम, भ्रमण) क्रम से अग्निवेश को आत्रेय ने शिक्षा दी है। आत्रेय एक स्थान पर नहीं रहते थे। वे हिमालय, कैलाश, काम्पिल्य में घूमते फिरते थे। इन वचनों को पुनः इनके शिष्यों ने अपनी बुद्धि के अनुसार लिपिबद्ध किया। लिपिबद्ध करके इनको ऋषियों के सामने सुनाया (सू. अ. १।३३)।

चरकसंहिता के अनुसार आत्रेय के वचनों को अग्निवेश ने लिपिबद्ध किया था। ये वचन पीछे संस्कृत हुए, जिस प्रकार कि बुद्ध के वचनों का संस्कार भिन्न-भिन्न समयों में होनेवाली संगीतियों में हुआ था। परन्तु चरक संहिता में जिस प्रकार से आत्रेय के वचनों को गूँथनेवाले अकेले अग्निवेश हैं उसी प्रकार प्रतिसंस्कर्त्ता भी अकेला चरक है; और उसके पीछे दृढबल उसे पूर्ण करता है।

आत्रेय कौन थे—इसका विचार **आयुर्वेद परम्परा प्रकरण** में विस्तार से किया जायगा। यहाँ पर इतना ही स्पष्ट करना आवश्यक है कि चरक संहिता में पुनर्वसुरात्रेय, कृष्णात्रेय और भिक्षुक आत्रेय, तीन आत्रेय आते हैं। भिक्षुक शब्द वानप्रस्थी के लिए आता है; (गौतम ने भिक्षु शब्द तृतीय आश्रम के लिए प्रयुक्त किया है—हिन्दू सभ्यता १३३)। कौटिल्य ने वानप्रस्थी के लिए अग्निहोत्र आवश्यक कहा है। 'वानप्रस्थस्य ब्रह्मचर्यं भूमौ शय्या जटाजिनधारणमग्निहोत्रं वन्यश्चाहारः'–१।३।११) इसी से आत्रेय को अग्निहोत्र करता हम पाते हैं (चि. १४।३; चि. १९,२ चि. २९।३)

पुनर्वसुरात्रेय और कृष्णात्रेय दोनों एक हैं। चरकसंहिता में ये शब्द पर्य्यायवाची हैं (त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता—च. सू. अ. ११)। भेलसंहिता में कृष्णात्रेय नाम अपने गुरु के लिए कई बार आया है (कृष्णात्रेयं पुरस्कृत्य कथाश्चक्रुः महर्षयः—पृष्ठ २८; अशीतिकं नरं विद्यात् कृष्णात्रेयवचो यथा—पृ. ९८)। महाभारत में भी कृष्णात्रेय नाम आता है ('गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्। देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सनम्'—शा. अ. २१०)। इसलिए दो ही आत्रेय रहे; पुनर्वसुरात्रेय और भिक्षुकआत्रेय। पुनर्वसुरात्रेय का तीसरा नाम 'चन्द्रभागि'

'विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिप्यातिविस्तरम् ।
संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम् ॥' (चरक. सि. अ. १२।३६.)

संस्कर्त्ता वस्तु को संक्षेप में नहीं, विस्तार से समझा देता है; जो वस्तु विस्तार से नहीं हो, उसे संक्षिप्त कर देता है; इस प्रकार से पुराने तंत्र को फिर से नया (समयानुकूल) बना देता है। इसी दृष्टि से कई लोगों की मान्यता है कि इस संहिता में 'भवति चात्र या भवन्ति चात्र' नाम से जो वचन आये हैं, वे संस्कर्त्ता के हैं। परन्तु यह ग्रन्थकर्त्ता की अपनी परिपाटी है। यह संभव है कि ग्रन्थ के अन्त में तत्र श्लोकाः, या तत्र श्लोकौ से आये वचन संस्कर्त्ता के हों। क्योंकि ज्वरनिदान के अन्त में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि गद्य में वर्णित वस्तु को जब पुनः श्लोक (पद्य में) में कहा जाता है, उसे पुनर्वचन नहीं समझना चाहिए। यह तो स्फुट तथा सुगम करने के लिए होता है (नि. अ. १।४१)। इसके आगे श्लोकों में अध्याय का संक्षेप आ जाता है। सम्भवतः यह संक्षेप संस्कर्त्ता का है।

एक मत यह भी है कि बुद्ध के उपदेश वचनों में से भिन्न-भिन्न वचन प्रकरण एवं विषय क्रम से पृथक् करके ही. सूत्र, विनय, अभिधम्म तीन त्रिपिटक बने थे। इसलिए सम्भवतः अग्निवेश द्वारा संगृहीत वचनों को चरक ने विषय अनुसार क्रमबद्ध किया हो। परन्तु इस विषयवार क्रम की छँटनी अग्निवेश ने स्वतः की है। यह अधिक संगत है; क्योंकि भेल संहिता का कोई संस्कर्त्ता नहीं है। उसमें भी विषय-विभाग इसी प्रकार से है। इसलिए संस्कर्त्ता के वचन चरक में अध्याय के अन्तिम वचन "तत्रश्लोकाः" रूपी हैं। इसीलिए अन्त में स्थान-स्थान पर पढ़ते हैं—"भगवानग्निवेशाय प्रणताय पुनर्वसु (नि. अ. १।४४); आत्रेयेणाग्निवेशाय भूतानां हितकाम्यया—(चि. अ. १। ३४६)। ये वचन तीसरा व्यक्ति ही कह सकता है; यह तीसरे व्यक्ति प्रतिसंस्कर्त्ता चरक थे।

चरक कौन थे? इसका विवेचन 'आयुर्वेद-परम्परा' में विस्तार से किया गया है। यहाँ पर इतना ही लिखना पर्याप्त है कि चरक एक शाखा का नाम है, जिसका सम्बन्ध वैशम्पायन से है। वैशम्पायन के साथ होने से इनका सम्बन्ध स्वतः कृष्ण यजुर्वेद से है (पुनर्वसुरात्रेय भी कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित थे, इसलिए उनके नाम के साथ कृष्ण विशेषण लगा था; जिससे वे दूसरे आत्रेय से भिन्न प्रतीत हों)। इस शाखावाले चरक कहाये थे। उनमें से किसी एक ने इस संहिता का प्रतिसंस्कार किया है।

इसी शाखावाला चरक कनिष्क का राजवैद्य था। 'चरक' शब्द उपनिषद् में बहुवचन में आया है।' 'मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम (बृहद्. ३।३।१।) मद्र से अभिप्राय

स्यालकोट के इलाके से है जो कि रावी और जेहलम के बीच का है। गान्धार देश भी इससे बहुत दूर नहीं। इस प्रदेश में चरक शाखा के लोग रहते होंगे, जो चिकित्सा कार्य में निपुण होते थे। कनिष्क का राज्य भी इसमें था; उसकी राजधानी पेशावर भी इसी प्रदेश के समीप में है। इसलिए इस शाखा का कोई चरक कनिष्क का राजवैद्य रहा होगा। उसीने चरक संहिता का प्रतिसंस्कार किया, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। ग्रन्थ में कनिष्क की या उसके राज्यकाल की झलक जिस प्रकार से अश्वघोष की उपलब्ध रचनाओं में नहीं मिलती, उसी प्रकार इस संहिता में भी नहीं है। यह भी सम्भव है कि इस शाखा के किसी अन्य चरक ने इस संहिता का संस्कार किया हो, और कनिष्क का राजवैद्य दूसरा चरक रहा हो। 'आत्रेय' शब्द भी बहुवचन में मिलता है; परन्तु चरक संहिता से सम्बन्धित आत्रेय के साथ पुनर्वसु एवं कृष्ण विशेषण लगा होने से स्पष्ट हो जाता है। चरक के साथ कोई विशेषण नहीं। इसलिए किसी एक के प्रति निश्चित नहीं कह सकते। कनिष्क का राजवैद्य चरक था। इसके मानने में कोई आपत्ति या बाधा नहीं, परन्तु इसी ने चरक संहिता का प्रतिसंस्कार किया यह सन्दिग्ध है, क्योंकि चरक शब्द बहुवचनान्त मिलता है; जो कि एक शाखा से सम्बन्ध रखने-वालों का सूचक है।

दृढ़बल—का दूसरा नाम 'कापिलबलि' था। (चरक. चि. अ. ३०)। कपिल-बल का पुत्र होने से इनका यह नाम पड़ा। ये पंचनदपुर के रहनेवाले थे (चरक चि. सि. १२.)। पंचनदपुर कश्मीर देश में था; जैसा राजतरंगिणी में कल्हण ने लिखा है" (राज. २४६, २५०)।

वितस्ता और सिन्धु नदी जहाँ पर मिलती है; जहाँ पर आज पञ्जपनोर (पञ्च-नीर) नाम का स्थान है; वही 'पंचनदपुर' था। इसलिए दृढ़बल को कश्मीर देश का कह सकते हैं।

पञ्जपनोर नाम का स्थान कश्मीर नगर से उत्तर में साढ़े तीन कोस की दूरी पर त्रिगाम्य-वितस्ता (जेहलम)—सिन्ध-क्षीरभवानी और आञ्चार इन पाँच नदियों के संगम के पास स्थित है। ऐसा श्री जीयालाल जी ने श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य को बताया है। संग्रह में 'कपिलबलस्त्वाह' कहकर कपिलबल का उल्लेख किया गया है (सू. अ. २० पृष्ठ १६४) कपिलबल दृढ़बल के पिता थे।

दृढ़बल का समय वाग्भट से पूर्व का है; क्योंकि अष्टांग संग्रह में उसके वचन उद्धृत मिलते हैं। जैज्जट ने भी अपनी निरन्तरपदव्याख्या नामक चरकटीका में दृढ़बल के वचन प्रमाण रूप में उपस्थित किये हैं। वाग्भट और जैज्जट का समय चौथी शताब्दी

है। इसलिए उससे पूर्व इसका समय होना चाहिए। दृढबल से पूरित भाग में जया, विष्णु, वासुदेव, कृष्ण का नाम आता है। इससे स्पष्ट है कि गुप्तकाल में जब कृष्ण वासुदेव की पूजा चल पड़ी थी, उस समय इसकी रचना हुई है। मंत्रों में 'हिलि' शब्द का प्रयोग गुप्तकाल में प्रसिद्ध मातंगी विद्या का द्योतक है (देखिए—नावनीतक में मातंगी विद्या)। मंत्र रचना गुप्तकाल की है—

'पिष्यमाण इमं चात्र सिद्धं मंत्रमुदीरयेत्।
मम माता जया नाम जयो नामेति मे पिता।
सोऽहं जयजयापुत्रो विजयोऽथ जयामि च॥
नमः पुरुषसिंहाय विष्णवे विश्वकर्मणे।
सनातनाय कृष्णाय भवाय विभवाय च॥
तेजो वृषाकपेः साक्षात्तेजो ब्रह्मेन्द्रयोर्यमे।
यथाहं नाभिजानामि वासुदेवपराजयम्।
मातुश्च पाणिग्रहणं समुद्रस्य च शोषणम्।
अनेन सत्यवाक्येन सिध्यतामगदोह्ययम्।
हिलिमिलि संस्पृष्टे रक्ष सर्वभेषजोत्तमे स्वाहा॥'

(चि.अ.२३।९०-९४.)

२—वाग्भट में मद्यपान का वर्णन दृढबल के मद्यपान की ही छाया है—जो कि स्पष्ट गुप्तकाल के वैभव की उत्तम झाँकी है—

'वेशे यथर्तुकेशस्ते कुसुमप्रकरीकृते।
सरसा संमते मुख्ये धूपसंमोदबोधिते॥
सोपधाने सुसंस्तीर्णे विहिते शयनासने।
उपविष्टोऽथवा तिर्यक् स्वशरीरसुखे स्थितः॥
सौवर्णै राजतैश्चापि तथा मणिमयैरपि।
भाजनैर्विमलैश्चान्यैः सुकृतैश्च पिबेत् सदा॥
रूपयौवनमत्ताभिः शिक्षिताभिर्विशेषतः।
वस्त्राभरणमाल्यैश्च भूषिताभिर्यथर्तुकैः॥
शौचानुरागयुक्ताभिः प्रमदाभिरितस्ततः।
संवाह्यमान इष्टाभिः पिबेन्मद्यमनुत्तमम्॥'

(चरक. चि. अ. २४।१३-२०)

वाग्भट का वर्णन इससे मिलता है—

"स्नातः प्रणम्य सुरविप्रगुरून् यथास्वं, वृत्तिं विधाय च समस्त परिग्रहस्य।
आपानभूमिमथ गन्धजलाभिषिक्तामाधारमण्डपसमीपगतां श्रयेत।
स्वास्तृतेऽथ शयने कमनीये, मित्रभृत्यरमणीसमवेतः।
स्वं यशः कथकचारणसंघैरुद्धृतं निशमयन्निति लोकम्॥
विलासिनीनां च विलासशोभि गीतं सनृत्यं कलतूर्यघोषैः।
काञ्चीकलापैश्चलकिङ्किणीकैः क्रीडाविहङ्गैश्च कृतानुनादम्॥
मणिकनकसमुत्थै राजतैर्यैर्विचित्रैः सजलविविधलेखाक्षौमवस्त्रावृताङ्गैः।
अपि मुनिजनचित्तक्षोभसम्पादिनीभिश्चकितहरिणलोलप्रेक्षणीभिः प्रियाभिः॥
यौवनासवमत्ताभिर्विलासाधिष्ठितात्मभिः सञ्चार्यमाणं युगपत्सम्वङ्गीभिरितस्ततः॥"

(हृदय. चि. अ. ७।७५-७८; ८०.)

इससे स्पष्ट है कि दृढ़बल गुप्तकाल के प्रारम्भ में वाग्भट से पूर्व हुआ। इसका समय चतुर्थ शती का पूर्वभाग या तृतीय शती का उत्तरार्द्ध होगा।

दृढ़बल की देन—चरक संहिता के चिकित्सा स्थान के अन्त में दृढ़बल ने कहा है कि इस संहिता में सत्रह चिकित्सा अध्याय, कल्पस्थान और सिद्ध स्थान नहीं मिलते थे। उनको दृढ़बल ने भिन्न-भिन्न स्थानों से एकत्रित करके पूर्ण किया, जिससे यह तंत्र पूरा हो जाय।

चिकित्सा स्थान के सत्रह अध्यायों में विवाद है, कि कौन-से सत्रह अध्याय दृढ़बल ने पूरे किये। चिकित्सा स्थान में दो क्रम मिलते हैं।

प्रथम क्रम निर्णय सागर का (बम्बई का) क.	द्वितीय क्रम कलकत्ता प्रकाशन में ख.
१. रसायन	१. रसायन
२. वाजीकरण	२. वाजीकरण
३. ज्वर	३. ज्वर
४. रक्तपित्त	४. रक्तपित्त
५. गुल्म	५. गुल्म
६. प्रमेह	६. प्रमेह
७. कुष्ठ	७. कुष्ठ
८. राजयक्ष्मा	८. राजयक्ष्मा

९. उन्माद	९. अर्श
१०. अपस्मार	१०. अतिसार
११. क्षत	११. विसर्प
१२. शोथ	१२. मदात्यय
१३. उदर	१३. द्विव्रणीय
१४. अर्श	१४. उन्माद
१५. ग्रहणी	१५. अपस्मार
१६. पाण्डु	१६. क्षत
१७. श्वास	१७. शोथ
१८. कास	१८. उदर
१९. अतिसार	१९. ग्रहणी
२०. छर्दि	२०. पाण्डु
२१. विसर्प	२१. श्वास
२२. तृष्णा	२२. कास
२३. विष	२३. छर्दि
२४. मदात्यय	२४. तृष्णा
२५. द्विव्रणीय	२५. विष
२६. त्रिमर्मीय	२६. त्रिमर्मीय
२७. ऊरुस्तम्भ	२७. ऊरुस्तम्भ
२८. वातव्याधि	२८. वातव्याधि
२९. वातशोणित	२९. वातशोणित
३०. योनिव्यापद्	३०. योनिव्यापत्

प्रथम आठ अध्यायों में एकमत हैं, पिछले पाँच अध्याय दृढबल के हैं, इसमें दोनों संस्करण समान हैं। चक्रपाणि का कहना है कि प्रथम आठ अध्याय और द्वितीय क्रम के नौ से तेरह अध्याय छोड़कर शेष को दृढ़बल ने पूरा किया है। माधवनिदान के टीकाकार विजयरक्षित ने २६,२७,२८ अध्यायों को दृढ़बल से सम्बन्धित बताया है। इसके अतिरिक्त (क) विभाग के ५,१६,१७,२२,२३ या ख भाग के १९,२०,२१,२४ और २५ को पिछले लेखकों ने दृढ़बल के नाम से उद्धृत किया है।

अष्टांगहृदय के टीकाकार अरुणदत्त ने ग्रहणी रोग की टीका में (क भाग का १५ वाँ अध्याय) दृढ़बल का मत दिखाते हुए कहा है—

रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च ।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः ।।
इत्युक्तवन्तमाचार्यं शिष्यस्त्विदमचोदयत् ।
रसाद् रक्तं विषदशात् कथं देहेऽभिजायते ।।

चार पाण्डु, श्वास, तृष्णा, विषको (क भाग के—१६,१७,२२ और २३ को) विजयरक्षित ने माधवनिदान की टीका में उद्धृत किया है।[1]

अब केवल बारह अध्याय रहते हैं, जिनके विषय में सन्देह है। अर्श, अतिसार, विसर्प, का (क भाग के १४, १९, २१) उल्लेख नावनीतक में हुआ है। नावनीतक का समय भी दृढबल का समय है; (गुप्तकाल के आसपास का समय है) इसलिए ये अध्याय सम्भवतः दढबल से पूर्व के हों[2]।

मदात्यय और द्विव्रणीय (क भाग के २४ और २५) अध्यायों को चरक के टीकाकार जज्जट ने अपनी निरन्तरपदव्याख्या में चरकाचार्य से सम्बन्धित बताया है—

---

१. व्यायाममम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम् ।
निषेव्यमाणस्य प्रदूष्य रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डुतां नयन्ति ।।
रक्तमित्युपलक्षणं, तेन त्वक् मांसमपि दूष्यत्वेन दृढबलेन पठितम् । (मा. नि. टीका.)
हिक्काश्वास—यदाह दृढबलः—कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ ।
च. चि. अ. १७.

तृष्णा—दृढबलेन तु पञ्चतृष्णा पठिता, वातपित्तश्लेष्मामोपसर्गजा इति।
मूर्च्छा (विष)—यदुक्तं दृढबलेन—

लघुरूक्षमाशु विशदं व्यवायी तीक्ष्णं विकाशी सूक्ष्मं च ।
उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः ।। (मा. नि. १७-१५ टीका.)
ते तैलादौ व्यस्तास्तीव्राः सन्ति, विषमद्ययोस्तु तीव्रतराः ।
अतस्तैलादिभिर्न मोहः, किन्तु विषमद्याभ्यामिति । (मा. टीका)

२. जामनगर से प्रकाशित चरकसंहिता (भाग १, पृष्ठ १०४ में) नावनीतक का समय दृढबल से पूर्व माना गया है। परन्तु नावनीतक में अष्टांग संग्रह की भाँति लशुन की प्रशस्ति है। गुप्तकाल के ग्रन्थों में लशुन की प्रशस्ति, इसके खाने पर विशेष जोर देना यह इस समय की विशेषता है, जिस प्रकार कि इस समय के बारीक झीने वस्त्र, उनकी चुस्ट विशेष है। इसलिए नावनीतक दृढबल के पीछे का होना चाहिए।

२४ वाँ अध्याय—चरकाचार्यसंस्कृतश्चायमध्यायः।

२५ वाँ अध्याय—आचार्यप्रणीतश्चायमध्यायः।

इस प्रकार से ख भाग के ९, १०, ११, १२, १३ ये पाँच अध्याय चरक के पक्ष में आते हैं। इस प्रकार से कलकत्ता से मुद्रित (ख भाग) पोथी के पिछले सत्रह अध्याय दृढबल से पूर्ण किये गये हैं। इनमें भी ग्रहणी, पाण्डु, श्वास, तृष्णा, विष ये पाँच अध्याय टीकाकारों के अनुसार दृढबल से पूर्ण किये गये हैं। इसलिए केवल सात ही अध्याय सन्दिग्ध रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि चक्रपाणिदत्त के समय तक (११वीं शताब्दी तक) क्रम सुरक्षित था। इसके पीछे क्रम बदला। कलकत्ता की छपी पुस्तक (देवेन्द्र-नाथसेन, उपेन्द्रनाथ सेन द्वारा प्रकाशित) में ख भाग का ही क्रम है। बम्बई की प्रकाशित पुस्तकों में क भाग का क्रम है।

दृढबल ने सुश्रुत का श्लोक पूर्णतः लिया है (चरक. चि. अ. २६।११३-११४; 'आन ह्यते यस्य विशुष्यते च' आदि सुश्रुत उत्तर अ. २२।६ से उद्धृत है।)

इस प्रकार पुनर्वसुरात्रेय से उपदेश की गयी अग्निवेश की बनायी, चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत और दृढबल से पूरी की गयी वर्त्तमान चरक संहिता आज उपलब्ध है।

संहिता की रचना—अन्य संहिताओं से भिन्न है। वैदिक संहिताओं में मंत्र रचना छन्दोबद्ध है। इस रचना में गद्य और पद्य दोनों मिले हैं। कृष्ण यजुर्वेद में मंत्रों तथा विनियोग दोनों का मिश्रण है; शुक्ल यजुर्वेद में केवल मंत्र-भाग संगृहीत है। इस दृष्टि से चरक संहिता की रचना का साम्य कृष्ण यजुर्वेद के साथ है।[1]

१—संहिता की रचना का ढंग अपनी विशेषता लिये है। अष्टांग संग्रह में कौटिल्य

---

१. यह किंवदन्ती है कि एक बार वैशम्पायन मुनि के हाथ से ब्रह्महत्या हो गयी थी। गुरु ने शिष्यों से प्रायश्चित्त करने को कहा। याज्ञवल्क्य ने कहा कि मैं अकेला प्रायश्चित्त कर लूँगा, शेष शिष्यों को छोड़ दीजिए। इस पर गुरु क्रुद्ध हो गये और उससे विद्या वापस माँगी। याज्ञवल्क्य ने उसे वमन कर दिया; जिसे तित्तिरों ने चुग लिया। याज्ञवल्क्य को सूर्य ने पुनः वेदाध्ययन कराया। इससे इनकी संहिता वाजसनेयी हुई और तित्तिरों से चुगी विद्या की तैत्तरीय संहिता बनी। जिन शिष्यों ने आचार्य वैशम्पायन का प्रायश्चित्त किया था; वे चरक या चरकाध्वर्यु कहलाये। शतपथ में चरक या चरकाध्वर्यु शब्द प्रतिपक्षी, विरोधी के लिए कहीं-कहीं आता है। ब्रह्महत्या करनेवाले को कुछ वर्षों तक बराबर फिरना होता था यही उसका चरक था।—श्री हरिदत्तजी शास्त्री, ऋक्. सूत्रसंग्रह की भूमिका में।

अर्थशास्त्र की भाँति प्रथम अध्याय में सब अध्याय क्रम, विषय निरूपण दे दिया गया है। सुश्रुत में भी इसी परिपाटी का अनुसरण हुआ है। कामसूत्र में भी जो कि चौथी शती का है, यही प्रथा अपनायी गयी है। परन्तु चरक संहिता में विषय सूची, अध्याय-नाम, सूत्र-स्थान के अन्तिम अध्याय में पीछे से दिया गया है। इसमें सूत्र-स्थान के लिए 'श्लोक-स्थान' शब्द का भी व्यवहार हुआ है, जो कि आयुर्वेद की अन्य संहिताओं में नहीं मिलता।

२—इसमें, पाषण्ड शब्द का उल्लेख नहीं है। गो, ब्राह्मण इनके प्रति सम्मान, पूजा भाव मिलता है। सुश्रुत संहिता में गो शब्द पूजा के लिए नहीं आता। वहाँ अग्नि, विप्र और भिषक् तीन का ही उल्लेख है; इसमें भी दधि, अक्षत, अन्न, पान और रत्न से पूजा करने का उल्लेख है (सूत्र. अ. ५।७); परन्तु चरक संहिता में इस रूप में पूजा का उल्लेख नहीं है; और गो-ब्राह्मण शब्द एक साथ मिलता है। अन्य स्थानों पर 'द्विज' शब्द से ब्राह्मण ही लेना ऐसा कोई नियम नहीं है। द्विज शब्द पूजा अर्थ के लिए है (चरक-सूत्र. अ. १५।९)। जिस प्रकार से विप्र शब्द ब्राह्मण अर्थ को ही नियमित करता है, उस प्रकार से द्विज शब्द नहीं हैं; (संस्काराद् द्विज उच्यते) जिनके संस्कार होते हैं, वे द्विज हैं; इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों के लिए यह शब्द है। इसी से काम्पिल्य के वर्णन में "द्विजातिवराध्युषिते"—(वि. अ. ३।३) शब्द का अर्थ चक्रपाणि ने 'महाजनसेविते' किया है। महाभारत में यक्ष के "कः पन्थाः" प्रश्न का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने लोक व्यवहार में व्यवहार का निर्णय करने के लिए कहा है "महाजनो येन गतः स पन्थाः"—आरण्यकपर्व। इसी बात को उपनिषद् में आचार्य शिष्य से समावर्त्तन के समय कहता है "अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ता आयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः"—(तैत्तिरीय. ११।३)। इसलिए दोनों संहिताओं में समय का बहुत अन्तर है। सुश्रुत में ईश्वर शब्द भगवान् तथा कर्त्ता के रूप में है (यथा-अग्नि के लिए—जाठरो भगवानग्नि ईश्वरोऽन्नस्य पाचकः। (सूत्र. अ. ३५।२७) २. स्वभावमीश्वरं कालम्—शा. अ. १)। पाषण्ड शब्द भी सुश्रुत में है (पाषण्डाश्रमवर्णानां सपक्षाकर्मसिद्धये—सू. अ. २९।५)। चरक संहिता में ईश्वर शब्द भिन्न अर्थ में है। ईश्वर शब्द की कल्पना परमात्मा के अर्थ में पीछे की गयी है। चरक में प्रजापति, ब्रह्मा शब्द मिलते हैं; परन्तु इस अर्थ में ईश्वर शब्द नहीं "या पुनरीश्वराणां वसुमतां वा सकाशात्—(सू. अ. ३०।२९) में आया ईश्वर शब्द ऐश्वर्यशाली अर्थ में है।

३—चरकसंहिता में मुख्यतः उत्तरीय भारत का उल्लेख है। इसमें भी मुख्यतः

उत्तरीय पश्चिमीय प्रदेश का। पूर्व में काम्पिल्य अन्तिम सीमा है। वाकटिक काल में (२४८ से २४० ईसवी) काम्पिल्य का नाम सुनाई नहीं देता, इसके स्थान पर 'अहिच्छत्रा' नाम प्रचलित होता है। काम्पिल्य नाम संहिताओं में बहुत पुराना है (तैत्तिरीय संहिता ६-४।१९।१; मैत्रायणी संहिता ३।१२।२०; काठक संहिता. ४।८; आदि में)।

इसके अतिरिक्त वाहलीक; पह्लव; चीन; शूलीक, यवन और शक ये सब नाम जो चरक संहिता में (चि. अ. ३०।३१६ में) मिलते हैं; वे सब पश्चिम भारत की जातियाँ हैं। हिन्दूकुश पर्वत और वंक्षु नदी के बीच का बड़ा जनपद 'वाहलीक' था। जिसे आजकल बल्ख कहते हैं।

वाह्लीक से मध्य एशिया की ओर चलने पर पह्लव जनपद पड़ता है; जिसकी भाषा पहलवी. (ईरानी) है। पहलवी का आर्य भाषा से बहुत सम्बन्ध है; पारसियों का धर्मग्रन्थ अवेस्ता इसी भाषा में है। अन्धक और वृष्णीक नाम भी चरक में है ('चण्डालद्रविडान्ध्रकै:'—इण्डिय० ५।२९)।

पार्थव जाति को पुरानी फारसी और संस्कृत में पह्लव कहते थे। इन पह्लवों ने अपना राज्य शक स्थान से हरऊवती की तरफ बढ़ाया, वहाँ से बढ़कर काबुल के यूनानी राज्य को जीता और गान्धार तथा सिन्ध को भी शकों से छीन लिया (लगभग ४५ ई० पू०)। शकों का राज्य कहीं पर भी न रह गया। हरऊवती के पह्लवों ने लगभग ईसवी सन् के शुरू तक अफगानिस्तान, पंजाब और सिन्ध पर राज्य किया।

इन पह्लव राजाओं में श्पलिरिष, उसके बेटे अय या अज और अय के बेटे गुदफर का विस्तृत राज्य रहा। श्पलिरिष ने काबुल जीता। अज और गुदफर समूचे उत्तर पश्चिम भारत के राजा थे। पह्लव राजा प्राय: बौद्ध थे; हिन्दूकुश के दक्खिन के या यूनानी सिक्कों की तरह शकस्थान के इन राजाओं के हरऊवती में चलनेवाले सिक्कों पर भी प्राकृत जरूर लिखी रहती थी। इसका अर्थ यह है कि काबुल और कन्दहार के प्रदेश तब स्पष्ट रूप से भारत में गिने जाते थे—(जयचन्द्र विद्यालंकार)।

शक और चीन—हमारे देश में जिस समय अशोक राज्य करता था, लगभग उसी समय में चीन में एक बड़ा राजा हुआ, जिसने वहाँ की छोटी-छोटी नौ रियासतों को जीतकर सारे चीन को एक कर दिया। चीन के उत्तर इर्तिश और आमूर नदियों के बीच में हूण रहते थे। ये लोग चीन पर आक्रमण करते थे। इनसे बचाने के लिए इसने अपने समूचे देश की उत्तरी सीमा पर एक दीवार बनवायी थी। तब हूणों ने पश्चिम की तरफ रुख किया। तुर्क और हूण एक ही जाति के दो नाम हैं। मध्य एशिया से कास्पिन और काले सागर के उत्तर में जो जातियाँ रहती थीं वे सब शक परिवार

की थीं। शक लोग भी आर्य थे, परन्तु तब तक वे जंगली और खानाबदोश थे। शकों से मिलनेवाली एक और जाति इनसे सटे प्रदेश कासून (तिब्बत और मंगोलिया के बीच चीन का जो भाग गर्दन की तरह निकला है) में रहती थी इस जाति को चीनी लोग 'यूचि' कहते थे। संस्कृत की पुस्तकों में इसी को 'ऋषिक' कहा गया है। यूचि या ऋषिकों के पड़ोस में तारीम नदी के उत्तर तरफ लुखार लोग रहते थे।

हूणों ने पश्चिम हटकर ऋषिकों पर हमले किये (१७६-१६५ ई०पू०) और उन्हें मार भगाया। ऋषिक लोग वहाँ से भाग कर लुखार देश में जा पहुँचे और वहाँ के राजा बने। जब वहाँ से भागना पड़ा तब लुखारों को अपने साथ खदेड़ते हुए वे पश्चिम की ओर बढ़े, और थियानशान पर्वत को पार कर गये (कुछ विद्वान थियान शान पर्वत को ही 'उत्तर कुरु' कहते हैं; उत्तरकुरु का नाम सुश्रुत में है चि. अ.। परन्तु चरक में नहीं है)। वहाँ से उनकी एक शाखा दक्खिन झुककर कम्बोज देश अर्थात् पामीर बदख्शां की तरफ बढ़ी और दूसरी शाखा ने सुग्ध दोआबा में शकों की खास बस्ती पर हमला किया। ऋषिकों की अपेक्षा लुखारों की संख्या अधिक थी, इसी से इतिहास में लुखार अधिक प्रसिद्ध हैं।

सुग्ध से खदेड़े जाकर शक हरात से घूमकर लूटमार करते हुए शक स्थान की पुरानी बस्ती में जाने लगे। हरात और शक स्थान तब पार्थव राज्य में थे। इसलिए सबसे पहले पार्थवों से वास्ता पड़ा। दो पार्थव राजा लड़ाई में मारे गये। (१२८-१२३ ई० पू०)। किन्तु पीछे से इनका दमन मिथ्रदास (रय) ने किया। उसके आक्रमण से घबरा कर शकों ने भारत की ओर मुख किया और हमारे सिन्ध प्रान्त पर अधिकार कर लिया (लगभग १२०-११५ ई०पू०)। सिन्ध में उनकी ऐसी सत्ता जम गयी कि वहाँ पर शक द्वीप कहलाने लगा और पश्चिमी लोग उसे हिन्दी शकस्थान कहने लगे। यहाँ से वे उज्जैन, मथुरा, पंजाब में फैले।

यवन—पुराणों के अनुसार इस देश का नाम भारतवर्ष है। यह हिमालय के दक्षिण और समुद्र के उत्तर कहा गया है। भरतों की प्रजाओं का निवास होने से इसका नाम भारतवर्ष है। इसमें कुल सात पर्वत हैं; महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमत्, ऋक्ष गोंड़वाना के पहाड़; (गोंड़वाना के पहाड़) विन्ध्य और पारिपत्र (विन्ध्य का पश्चिम भाग अरावली तक); जहाँ भरत के वंशज रहते हैं। इसके पूर्व में किरात और पश्चिम में यवन बसते हैं। मध्य में आर्य बसते हैं।

शूलीक—चीन से आगे मध्य एशिया का प्रदेश शूलीक है; यहाँ की भाषा का नाम शूली है। आजकल इसको कास्कर कहते हैं।

इससे स्पष्ट है कि चरक संहिता का मुख्य सम्बन्ध भारत की पश्चिम सीमा से तथा उत्तर में हिमालय पर्वत से (पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश) सम्बन्ध रहा है। इसी से उनका वाह्लीक भिषक् कांकायन के साथ विचार विनिमय करने का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है (सू. स्थान अ. १; सू. अ. १२; सू. अ. २५; सू. अ. २६; शा. अ. ६ में)। चरक के अनुसार वाह्लीक में और भी वैद्य थे, उनमें कोकायन की ख्याति अधिक थी (सू. अ. २६।५)। तक्षशिला भी इसी प्रदेश में था; जो विद्या का केन्द्र था---जहाँ पर दिक् प्रमुख आचार्य रहते थे। आत्रेय का नाम आयुर्वेद के आचार्य के रूप में तक्षशिला के साथ सम्बद्ध कहा जाता था। सम्भवतः भिक्षु आत्रेय से इसका अभिप्राय हो। पुनर्वसु आत्रेय भी इसी समय इसी प्रदेश में हुए हों और यही स्थान उनका मुख्य विचरने का हो। क्योंकि इस स्थान की जानकारी, हिमालय की दिव्य औषधियों का वर्णन जितना मिलता है; उतना अन्य स्थानों का नहीं है। काम्पिल्य को छोड़कर शेष सम्पूर्ण चरक संहिता में आत्रेय को हिमालय में या उसके प्रदेशों में विचरता पाते हैं। चरक संहिता में मलयाचल, पारिपत्र, विन्ध्य तथा सह्याद्रि पर्वतमाला से उत्पन्न नदियों के जलों का उल्लेख है (सू. अ. २७।२१०-२१२)। सम्भवतः यह वचन सुनने से हो या प्रतिसंस्कर्त्ता हो; क्योंकि इसके अधिक नाम भी हैं---सात्म्य दक्षिणतः पेया मन्यश्चोत्तरपश्चिमे (चि. अ. ३०।३१८) में दक्षिण शब्द राजपूताने, दक्षिण की जानकारी नहीं, अन्धक, द्रविड़ कच्छ, काठियावाड के अर्थ में आया है; आज भी वहाँ राबड़ी, लप्सी का अधिक रिवाज खाने में हैं। मध्य देश में अश्मक अवन्ति का स्थान है। यह उल्लेख बहुत संक्षेप में है; सम्भवतः व्यापार के सिलसिले में जो लोग इन स्थानों से उधर आते थे उनकी जानकारी से यह लिखा हो, अथवा प्रति संस्कर्त्ता चरक ने इसे बढ़ाया हो, मूल वचन 'क्षीरसात्म्यश्च सैन्धवाः'---(३१६।$\frac{5}{2}$) तक ही हो। इसलिए चरक का उपदेश काल बुद्ध के आसपास जबकि तक्षशिला विद्या का केन्द्र रहा, तब का है; जो कि लगभग ६०० ई० पू० का आता है। प्रति संस्कर्ता चरक का समय कनिष्क का हो सकता है। बुद्ध के समय में ही विद्या का केन्द्र उत्तर पश्चिम में था; इसलिए काशी आदि जनपदों से शिष्य वहाँ पर शिक्षा के लिए जाते थे। उसी समय की तथा उसी स्थान की जानकारी चरक संहिता में मिलती है।

चरक संहिता में अर्थशास्त्र के शब्द---राज्यों की छोटी इकाई से लेकर बड़ी से बड़ी इकाई का क्रम से नाम कीर्त्तन किया गया है। इनके साथ विशेष प्रान्तों का भी उल्लेख किया गया है---

१. क्षार का अधिक उपयोग नहीं करना चाहिए। इस प्रसंग में---

'ये ह्येनं ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते त आन्ध्यषाण्ढ्यखालित्य-पालितभाजा हृदयापकर्त्तिनश्च भवन्ति। तद्यथा प्राच्याश्चीनाश्च।' (वि. अ. १।१७)।

२. लवण का अधिक उपयोग नहीं करना चाहिए—इस प्रसंग में—

'ये ह्येनं ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते, ते भूयिष्ठं ग्लास्नावः शिथिल-मांसशोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति। तद्यथा—वाह्लीकसौराष्ट्रिक सैन्धव-सौवीरकाः ते हि पयसाऽपि सह लवणमश्नन्ति॥' (वि. अ. १।१८)।

ग्राम सबसे छोटी इकाई थी, उसके पीछे नगर, फिर निगम तब जनपद था।[1] इनका स्पष्टीकरण 'हिन्दूसभ्यता' में देखिए।

सिन्धुजनपद—सिन्धु नदी के पूर्व में सिन्ध सागर दुआब का पुराना नाम सिन्धु था। सिन्धु में जिसके पूर्वज रहते थे अर्थात् जिसका निकास सिन्धुजनपद से था, उसकी संज्ञा सैन्धव थी। (सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ—४।३।९२) काशिका में सक्तुसिन्धु और पानसिन्धु उदाहरण दिये गये हैं। ये दोनों नाम भोजन की आदतों के अनुसार हैं। चरक में इनको दूध पीनेवाला कहा गया है (क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवाः–चि.अ.३०।३१७)। महाभारत में सिन्धु के राजा जयद्रथ को क्षीरान्नभोजी कहा गया है (द्रोण पर्व. ७।७।१८) जयद्रथ सौवीर (आधुनिक सिन्ध का उत्तरी भाग) और उसके ऊपर दक्षिण सिन्धु जनपद का राजा था। क्षीर भोजन दक्षिण-सिन्धु की विशेषता समझी जाती है (ते हि पयसाऽपि सह लवणमश्नन्ति–(चरक वि. अ. १।१८); काठियावाड़, कच्छ में आज भी खिचड़ी दूध के साथ खाने की चलन है)।

सौवीर—वर्त्तमान काल के सिन्धु प्रान्त या सिन्ध नद के निचले कोठे का पुराना नाम सौवीर जनपद था। भारतीय साहित्य में सिन्धु-सौवीर यह दो जनपदों का नाम जोड़े के रूप में प्रसिद्ध था। भौगोलिक दृष्टि से दोनों की सीमाएँ परस्पर सटी हुई थीं। सौवीर जनपद की राजधानी रोरुव (संस्कृत सरौक) वर्त्तमान रोडी है। यहाँ पर पुराने शहर के भग्नावशेष हैं। रोड़ी के उस पार सिन्धु के दक्षिण किनारे पर सक्खर

---

१. पाणिनि ने कहीं तो ग्राम और नगर में भेद माना है जैसे, प्राचां ग्रामनगराणाम्" (७।३।१४) सूत्र में और कहीं पर ग्राम शब्द से नगर का भी ग्रहण किया है—जैसे, वाहीक ग्राम (४।२।११७) उदीच्य ग्राम (४।२।१०९ में)। पतंजलि ने कहा है कि कितनी जनसंख्या होने से ग्राम और कितनी जनसंख्या होने से नगर कहलाते हैं; इस विषय में लोक को प्रमाण मानना चाहिए (न नु च भो य एव ग्रामास्तन्नगरम्। कथं ज्ञायते? लोकतः। तत्राति निर्वन्धो न लाभः ७।३।१-४)। 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' से।

प्रसिद्ध नगर है; जिसका पुराना नाम शार्कर था। यहाँ के गोत्रों में आनी प्रत्यय लगता है (जैसे, वास्वानी, कृपलानी, गिड़वानी)। प्राचीन काल में 'मैमतायनी'—इसका उदाहरण है; जिसका नाम चरकसंहिता के सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में आया है (मैत्रेयो मैमतायनिः—१।१७)।

सौराष्ट्र—सिन्ध के ठीक दक्षिण में कच्छ जनपद है। पाणिनि ने कच्छी मनुष्यों को काच्छक कहा है। पाणिनि के समय कच्छ नाम प्रसिद्ध था; चरक के समय सौराष्ट्र नाम प्रसिद्ध हुआ। काशिका में कच्छ देश से सम्बन्धित तीन उदाहरण दिये हैं—काच्छकं हसितम् (कच्छवालों के हँसने का ढंग); काच्छकं जल्पितम् (कच्छ-वालों के बोलने का ढंग); काच्छिका चूड़ा (कच्छवालों के सिरकी चुटैया का ढंग)।

वाह्लीक—हिन्दुकुश के उत्तर पच्छिम में वाह्लीक; उत्तर-पूर्व में कम्बोज; दक्षिणपूर्व में गंधार और दक्षिण पश्चिम में कपिश था। इस प्रकार गन्धार, कपिश, वाह्लीक और कम्बोज इन चार जनपदों का एक चौगड्डा था। वाह्लीक का आजकल का नाम बदख्शां है। कम्बोज के पश्चिम में वंक्षु के दक्षिण और हिन्दुकुश के उत्तर पश्चिम का प्रदेश वाह्लीक जनपद था। महरौली स्तम्भ के लेख के अनुसार चन्द्र-नामक राजा ने वाह्लीक तक अपना विस्तार किया था। इस चन्द्र की पहिचान चन्द्र गुप्त द्वितीय से की जाती है। चरक में कांकायन को वाह्लीक भिषक् कहकर याद किया गया है पादताड़ित में वाह्लीक देश के कांकायन गोत्री ईशानचन्द्र वैद्य के पुत्र हरिचन्द्र का नाम आता है (देखिए चरक संहिता के टीकाकार भट्टार हरिचन्द्र)।

चरक संहिता में नये शब्द—चरक संहिता में कुछ शब्द उस समय के प्रसिद्ध लोक साहित्य से सीधे आये हैं; यथा—उपनिषद्, शल्य, सूत्र, शाखा आदि। सूत्र, शब्द तंत्र के अर्थ में आया है; सूत्र शब्द ग्रथित पुष्पों के धागे के अर्थ में है—

"तत्रायुर्वेदः शाखा-विद्या सूत्रं ज्ञानं शास्त्रं, लक्षणं तन्त्रमित्यनर्थान्तरम्—

(सू.अ. १०।३१)

यथा सुमनसां सूत्रं संग्रहार्थं विधीयते।
संग्रहार्थं तथाऽर्थानामृषिणा संग्रहः कृतः॥ (सू. अ. ३०।८९.)

२. 'ससंग्रहव्याकरणम्'—यह शब्द इसी रूप में काशिका में आता है। ससंग्रहं व्याकरणमधीते"—संग्रह का अर्थ वहाँ वार्त्तिकों से है; व्याकरण को वार्त्तिकों के साथ पढ़ता है; चरक संहिता में यह शब्द "त्रिविधायुर्वेदसूत्रस्य ससंग्रहव्याकरणस्य सत्रि-विधौषधग्रामस्य प्रवक्तारः" (सू. अ. २९।७) में आया है; यहाँ पर संग्रह और व्याकरण का अर्थ चक्रपाणि ने सामान्य, विशेष किया है; परन्तु यह विशद समाधान नहीं दीखता।

त्रिविध सूत्र-हेतु-लिंग-औषधि को संक्षेप और विस्तार या भाष्य के साथ कहनेवाला यह अर्थ अधिक संगत है।[1]

३. चरक में अध्यापन के लिए शिष्य का नासावंश का सीधा होना आवश्यक कहा गया है। चीनी और मंगोलियनों का नासावंश दबा रहता था (आर्यप्रकृतिमक्षुद्रकर्माणमृजुचक्षुर्मुखनासावंशम्-वि. अ. ८।८)। इसलिए सम्भवतः उस समय आयुर्वेदाध्यापन आर्य लोग ही करते थे।

४. चरक संहिता में कुछ शब्द बौद्ध साहित्य से सीधे आये हैं; यथा खुड्डुक शब्द; यह शब्द खुद्दक का रूपान्तर है (खुद्दक निकाय); इसका शुद्ध रूप क्षुद्रक है। इसी प्रकार जेन्ताक के लिए विनय पिटक में जन्ताक शब्द आता है। इस घर में भी धूमनेत्र इसी प्रकार बनाने का उल्लेख है।

बौद्धों में चार ब्रह्म विहार हैं। यथा—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा (बौद्धधर्म दर्शन, नरेन्द्रदेवजी कृत, पृष्ठ ९४)। चरक संहिता में भी कहा है—

'मैत्री कारुण्यमार्त्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधेति॥' (सू. अ. ९।२६)

योग दर्शन में भी (समाधि पाद ३३ सूत्र) इनका उपयोग चित्त प्रसादन के लिए बताया गया है। ये चारों ब्रह्म विहार कहे जाते हैं।[2]

इन सब विचारों से यह निश्चित है कि पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश को उपदेश बुद्ध के समय के आस-पास दिया है। अग्निवेश ने उसे लिपिबद्ध किया। चरक ने कनिष्क के समय इसका प्रति संस्कार किया और उस समय का सात्म्य आदि नयी बातें इसमें मिलायीं। इसके पीछे जो भाग इस संहिता के नहीं मिले (सम्भवतः चरक को नहीं मिले, अथवा इसके पीछे लुप्त हो गये हों) उनको दृढ़बल ने अपने काश्मीर प्रदेश के आस-पास से ढूंढ़कर पूरा किया। इन भागों का मिलना पश्चिमोत्तर प्रान्त में ही सुलभ था, क्योंकि आत्रेय का मुख्य जीवन उधर ही बीता था और वहीं पर तक्षशिला विद्या का बड़ा केन्द्र था। कनिष्क की राजधानी भी उधर ही थी। कनिष्क का वैद्य चरक भी वहीं था। इसलिए सामग्री मिलने का वही स्थान था; जहाँ से दृढ़बल ने सामग्री एकत्र करके इस संहिता को पूरा किया।

---

१. शास्त्र की परीक्षा में कहा गया है—'सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमम्'—इससे संक्षेप और भाष्य दोनों का ज्ञान वैद्य को होना उचित है।

२. इस सम्बन्ध में "चरकसंहिता का अनुशीलन", पृष्ठ १५० देखना चाहिए।

'अखण्डार्थं दृढबलो जातः पञ्चनदे पुरे।
कृत्वा बहुभ्यस्तन्त्रेभ्यो विशेषोञ्छशिलोच्चयम् ॥
सप्तदशौषधाध्यायं सिद्धिकल्पैरपूरयत् ॥'

उञ्छ और शिला वृत्ति से—कहीं पर तो कण-कण चुनकर और कहीं पर सम्पूर्ण वाक्य या पद अथवा वाक्यसमूह तंत्रों में से एकत्रित करके दृढ़बल ने चिकित्सा के १७ अध्याय, सिद्धि और कल्प सम्पूर्ण पूरे किये।

इस प्रकार से उपलब्ध चरक संहिता का सम्बन्ध पुनर्वसुरात्रेय, अग्निवेश, चरक और दृढ़बल इन चारों से है और इनमें से अग्निवेश को यदि छोड़ दें तो तीनों का सम्बन्ध भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त से है।

चरक संहिता का विश्लेषण—चरक संहिता में दो रूप उपदेश के मिलते हैं; एक में पुनर्वसुरात्रेय स्वतः शिष्यों को उपदेश देते हैं; यथा, विमान स्थान के तृतीय अध्याय में "वनविचारमनुविचरन् शिष्यमग्निवेशमब्रवीत्; दृश्यन्ते हि खलु सौम्य!" इसमें स्वतः शिष्य को उपदेश दिया है; शिष्य के लिए सौम्य विशेषण उपनिषद् के सम्बोधन का स्मरण करा देता है (यह सम्बोधन सुश्रुत में नहीं हैं; उपनिषदों के "सदेव सौम्येदमग्रमासीत्" आदि वचनों में शिष्य के लिए सौम्य शब्द आता है)। दूसरे प्रकार के उपदेश में अग्निवेश पूछता है और आत्रेय उसका उत्तर देते हैं; यथा—इसी अध्याय में कालमृत्यु-अकालमृत्यु सम्बन्धी प्रश्न; ज्वर रोगी के लिए गरम पानी क्यों दिया जाता है; ये प्रश्न अग्निवेश ने किये और आत्रेय ने उनका उत्तर दिया।

इन दो प्रकार के व्याख्यानों के अतिरिक्त सम्भाषा रूप में भी विषय का प्रतिपादन मिलता है, (यथा—सू. अ. २५; सूत्र. अ. २६; शा. अ. ३ में)। पुनर्वसुरात्रेय ऋषियों के साथ बैठकर जब विचार करते थे, उस समय जो वचन-प्रतिवचन चलते थे, उनको अग्निवेश ने अपनी स्मृति से लिपिबद्ध किया। इस प्रकार के विचार विनिमय से जो लाभ होते हैं, और क्यों शिष्य को इनके समय उपस्थित रहना चाहिए, इसका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण स्वतः संहिता में किया गया है। (वि. अ. ८।१५)। इसलिए चरक संहिता में यह परिपाटी मिलती है। सुश्रुत में इस प्रकार का वचन-प्रतिवचन, संभाषा विधि नहीं मिलती।

चरक संहिता का क्षेत्र काय-चिकित्सा तक सीमित है। इसलिए जहाँ पर भी दूसरे शास्त्र का विषय आता है, वहाँ पर उस शास्त्र के ज्ञाता से सहायता लेने को कहा अथवा वस्तु का संक्षेप में प्रतिपादन किया। उनका कहना है कि पराधिकार, दूसरे के अधि-

कार के विषय में विस्तार से कहना ठीक नहीं। परन्तु शिष्य को समझाने के लिए विषय का उल्लेख किया है।

चरक संहिता की भाषा—भाषा और शैली दोनों ही सरल हैं। भाषा में लम्बे वाक्य भी हैं (यथा, कल्प स्थान में आनूप देश का वर्णन) और छोटे भी वाक्य हैं, (यथा, सूत्र स्थान के आठवें अध्याय में सद्वृत्त का उल्लेख)। भाषा का प्रवाह अविच्छिन्न, स्वाभाविक है। इसमें कठिन शब्दों का प्रयोग नहीं है। सामान्यतः बोलचाल की भाषा तथा प्रतिदिन आँखों के सामने आनेवाले उदाहरण दिये गये हैं।

शैली की विशेषता में ऋषियों के साथ बैठकर विचार करना है। चरक संहिता में जितने ऋषियों का उल्लेख हमको मिलता है, उतना किसी भी आयुर्वेद-पुस्तक में नहीं है। बहुत-से ऋषियों का नाम बहुत प्राचीन है। यथा—जमदग्नि, वशिष्ठ, भृगु, अगस्त्य आदि); कुछ ऋषियों के नाम नये हैं (यथा—वडिश, शरलोमा, कांप्य, कैकशेय, हिरण्याक्ष (काशिक); भरद्वाज के साथ कुमारशिर विशेषण नया है।

इनमें से कुछ ऋषि स्वतंत्र रूप से वाद-विवाद में भाग लेते हैं; (यथा, भरद्वाज का शारीरस्थान में गर्भावक्रान्ति प्रकरण में); और कहीं पर समूह में विचार चलता है (यथा सूत्र. अ. २५ और २६ में) कहीं पर गुरु स्वतः ही विषय के सम्बन्ध में शंकाएँ बताकर उनका समाधान करते हैं (यथा. सू. अ. ११ में पुनर्जन्म के विषय में); कहीं पर अग्निवेश ही बहुत-से प्रश्न पूछ बैठते हैं (यथा शा. अ. १ और २ में) और पुनर्वसु आत्रेय उनका समाधान करते हैं। समाधान में बहुत ही सरल मार्ग अपनाया गया है; यथा—

अतीत, अनागत और वर्त्तमान इन तीन वेदनाओं में भिषक् किस वेदना की चिकित्सा करता है? अग्निवेश के इस प्रश्न का उत्तर आत्रेय ने बहुत ही सरलता से दिया है—'वैद्य तीन कालों की वेदनाओं की चिकित्सा करता है। 'लोक में हम देखते हैं कि कहा जाता है कि यह तो वही पुराना शिरदर्द है; यह तो पहलेवाला ज्वर है; इन प्रसिद्ध वचनों से बीती हुई बीमारी का फिर से आना पता चलता है। इनमें अतीत रोगों की चिकित्सा होती है।

पहले भी पानी की बाढ़ आयी थी। इस बार फिर नहीं आयी; इसलिए अभी से बाँध बनाना चाहिए। यह सोचकर जैसे धवाँ बाँधा जाता है, उसी प्रकार से पिछली बीमारी लौट न आये, इसके लिए वैद्य प्रथम से ही उपाय करता है। यह अनागत चिकित्सा है। रोगों के पूर्वरूप दीखने पर ही जो चिकित्सा की जाती है, वह अनागत है।

वर्त्तमान वेदनाओं में सुख कारण के सेवन से दुःखों की एक लम्बी पंक्ति समाप्त हो जाती है और सुख भी होता है (सामान्य सर्दी लगने पर यदि इसकी चिकित्सा प्रारम्भ

में ही कर ली जाय तो इससे होनेवाले ज्वर, खाँसी, गले में सूजन आदि रोगों की लम्बी परम्परा टूट जाती है और यदि चिकित्सा न की जाय तो यह परम्परा बनती जाती है)।

इसी प्रकार वमन-विरेचन सिद्धि को बहुत सरल उदाहरण देकर स्पष्ट किया है (सि. अ. २)।

दार्शनिक विचार—चरक संहिता के दर्शन पर सबसे प्रथम श्री सुरेन्द्रनाथदास ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री आफ् इण्डियन फिलासफी' के भाग १ और २ में प्रकाश डाला है। उसमें उन्होंने स्पष्ट किया है कि उपलब्ध सांख्यकारिका से पहले चरक-संहिता में प्रकृति का विचार हुआ है। चरक में प्रकृति और पुरुष को एक स्वीकार कर चौबीस तत्त्व माने गये हैं; क्योंकि दोनों ही अव्यक्त हैं। सांख्य में प्रकृति और पुरुष को पृथक् मानकर पच्चीस तत्त्व माने गये हैं। चरक संहिता में तन्मात्र शब्द नहीं हैं (सुश्रुत में तन्मात्र शब्द है), उसके लिए सूक्ष्म शब्द आया है। चरक संहिता में भी सांख्य की भाँति ईश्वर का उल्लेख नहीं है। सांख्य में इन्द्रियों को सात्त्विक कहा गया है, परन्तु आयुर्वेद में इनको भौतिक कहा गया है। चरक संहिता से पूर्व सांख्य दर्शन का निर्देश पहले देखने में नहीं आता।

चरक संहिता में सांख्यवादियों का उल्लेख बहुत स्थानों पर आया है। सांख्य-वादियों के मौलिक और अपर दो भेद हैं। चरक संहिता में मौलिक सांख्यवादियों के लिए ही सम्भवतः आदि शब्द आया है (सांख्यैराद्यैः प्रकीर्त्तितः—सूत्र. अ. २५।१५) इसके पीछे अपर सांख्य हुए जो कि पच्चीस तत्त्व मानते हैं (देखिए सांख्य कारिका)। इससे स्पष्ट है कि चरक मौलिक सांख्यों के चौबीस तत्त्व मानता है (शा. अ. १, १६-१७)। बौद्धदर्शन के अनात्मवाद, क्षणिक विचार (शा. अ. १) तथा निर्हेतुक विनाश (सूत्र. अ. १६।२७-२८) इसमें दीखते हैं; जो इस बात को स्पष्ट करने के प्रमाण हैं, यह ग्रन्थ उपनिषदों के अन्तिम समय में उपदेश किया गया है; क्योंकि उपनिषदों में भी अनात्मवाद मिलता है; आत्मा के लिए विचिकित्सा है। न्याय दर्शन और वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों का उल्लेख है। (सूत्र. अ. १। और २५)

वैशेषिक दर्शन में आत्मा का लक्षण चरक-संहिता में वर्णित आत्मा के लक्षणों का पूर्णतः अनुकरण ही है (शा. अ. १।७०-७३)। मन का लक्षण उसका अस्तित्व न्याय-दर्शन में चरक के अनुसार है। चरक में अनुमान सिद्ध करने के लिए हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगम का उल्लेख है, परन्तु व्याप्ति का उल्लेख नहीं, जो कि न्याय के अनुमान का प्राण है। अर्थापत्ति के लिए अर्थप्राप्ति शब्द दिया है। चरक में अभाव की सत्ता नहीं। चरक ने युक्ति को प्रमाण माना है। न्याय-दर्शन में अनुमान के अन्दर युक्ति

का समावेश है। वादमार्गों में चरक में प्रतिष्ठापना, जिज्ञासा, व्यवसाय, वाक्यदोष, वाक्यप्रशंसा, उपालम्भ, परिहार, अभ्यनुज्ञा, हेत्वन्तर, अर्थान्तर आदि पद नये हैं, न्याय दर्शन में इनका विचार नहीं। जाति और निग्रह-स्थान के भेद भी न्याय-दर्शन की भाँति चरक में नहीं है।

न्यायदर्शन की भाँति ईश्वर की सत्ता पृथक् चरक में नहीं है। कार्य और कारण सम्बन्ध को आत्मा की सिद्धि के लिए माना है। न्याय ने इसे ईश्वर सिद्धि में घटाया है। योगदर्शन सम्मत ईश्वर भी चरक में नहीं आया। योग दर्शन में अष्ट विध ऐश्वर्य का उल्लेख दूसरे रूप से ही चरक में आया है। (शा. अ. १) योग को मोक्ष का प्रवर्त्तक माना है। योग-ज्ञान में सब प्रकार की वेदनाओं की समाप्ति कही गयी है।

चरक संहिता में पुनर्जन्म; पुरुष और रोग की उत्पत्ति; आत्मा सम्बन्धी प्रश्नों का विचार बहुत ही स्वतंत्र रूप में है। चरक संहिता में आस्तिक का अर्थ है, जो पुनर्जन्म को माने और पुनर्जन्म को जो नहीं मानता वह नास्तिक है। यह अर्थ पाणिनि के सूत्र "अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः" (४।४।६०); के अनुसार ठीक है; परन्तु मनुस्मृति के अनुसार जो कि वेद को न माननेवाले व्यक्ति को नास्तिक कहते हैं;—ठीक नहीं है ('योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्य्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥' —मनु. २।११)।

चरक संहिता में वेद को ही आप्तागम (आप्तों का शास्त्र) माना है; इसकी प्रामाणिकता स्वतंत्र रूप से स्वीकार की है; इसके साथ वेद के साथ जिसका मेल बैठता हो; परीक्षा करनेवालों ने जिसको बनाया हो; (अच्छी प्रकार से जाँच-पड़ताल करने पर जो निश्चय हुआ हो); सज्जनों ने जिसका समर्थन कर दिया हो; लोक के कल्याण, उपकार के लिए बनाया हो (धन के लिए या स्वार्थवश न बना हो); ऐसा शास्त्र विषय भी आप्तागम होता है (सू. अ. ११।२७ स्वामी दयानन्दजी को भी यही मान्यता है कि वेद स्वतः प्रमाण है; शेष ग्रन्थ वहीं तक प्रमाण हैं; जहाँ तक वे वेद के साथ अनुकूल हैं)

चरक का दर्शन किसी एक दर्शन के ऊपर निर्भर नहीं है; सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक इन सब का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। साथ ही स्वतंत्र विचारों का भी प्रतिपादन दीखता है। ईश्वर सम्बन्धी मान्यता इसमें नहीं है। आचार सम्बन्धी सदाचार पर ही जोर है; जैसा कि भगवान् बुद्ध का सिद्धान्त और उपदेश था।

प्रत्यक्ष ज्ञान किन कारणों से नहीं होता, इस विषय में चरक संहिता और सांख्य-कारिका का मत एक ही है। यथा—

"सतां चरूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यात् मनोऽवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः ॥' (सू.अ.११।८)

'अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥' (सांख्य ७)

वस्तु के बहुत दूर और बहुत समीप होने से, इन्द्रिय के नष्ट होने से, मन के ठीक प्रकार न लगने से, सूक्ष्म होने से, रुकावट होने से, किसी से अभिभूत होने पर (दिन में चन्द्रमा का दिखाई न देना); और समान वस्तुओं के होने से वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। वास्तव में चरक संहिता का दर्शन उपलब्ध सांख्यकारिका से प्राचीन है। चरक में तन्मात्र शब्द नहीं है। सुश्रुत में तन्मात्र शब्द है।

चरक संहिता में देवतावाद है; परन्तु यह वैदिक देवताओं से ही सम्बद्ध है (क. अ. १।१४) पुराण कल्पनावाले महादेव, विष्णु और ब्रह्मा का उल्लेख आया अवश्य है (ज्वर चिकि. अ. ३ में–ज्वर की उत्पत्ति में शिव–१५-२५;) वृषभध्वज की पूजा, सि. अ. १२।१९।१); ज्वर की शान्ति में विष्णु–३१० से ३१३); साथ में गङ्गा, मरुद्गण की पूजा का भी उल्लेख है। विष्णु सहस्र नाम का पाठ करने के लिए भी कहा गया है। ये सब बातें तात्कालिक मान्यता को स्पष्ट करती हैं। यह विचार रोग की मुक्ति के सम्बन्ध में है। सामान्यतः सद्वृत्त में आचार पर ही जोर है, (यथा, चरक. सू. अ. ८ में)। परन्तु राक्षस, भूत, पिशाच आदि का नाम लेकर बच्चे को भयभीत करने का निषेध भी है (शा. अ. ८।६४)। भूत सम्बन्धी ग्रहों का प्रतीकार भी इसमें है (शा. अ. २।९-१०)।[1]

चरक और सुश्रुत—जन्म से जाति की कल्पना चरक संहिता में नहीं है; अध्ययन, एवं कर्म से जाति उत्पन्न होती है (चि. अ. १। ५२-५३)। चरक संहिता में सुश्रुत की भाँति जाति का प्रश्न नहीं है (सुश्रुत में अध्ययन सम्बन्ध में—सू.अ.२।५; सूतिकागार में घर और शय्या के निर्माण में जाति विचार–शा. अ.१०।५ है)। चरक में ब्राह्मण भोजन का उल्लेख नहीं है; (सुश्रुत में है, चि. अ. ४।२९ में–'ब्राह्मणसहस्रं भोजयेत्')। सुश्रुत ने चरक की भाषा के वाक्य पूरे के पूरे उठाये हैं, सु.अ.४।५, में चरक के सू. अ. १५।५. का पूरा वाक्य लिया गया है; इसी प्रकार अन्य स्थल भी है। चरक संहिता में योगदर्शन सम्मत ईश्वर का उल्लेख नहीं।

---

१. 'मणयश्च धारणीयाः कुमारस्य खड्गरुरुगवयवृषभाणां जीवतामेव दक्षिणेभ्यो विषाणेभ्योऽग्राणि गृहीतानि स्युः ॥' (शा. अ. ८।६२.)

चरक संहिता में अन्न, पान के सम्बन्ध में विशेष जानकारी दी गयी है; लगभग बीस-पच्चीस तरह के चावलों का उल्लेख है। कश्मीर में आज भी प्रसिद्ध राजमाष का उल्लेख है; गेहूँ और जौ, मूँग, चावल का प्रायः उपयोग होता था। मांस वर्ग का विभाग पक्षियों के रहन-सहन की प्रवृत्ति के अनुसार किया गया है। यह विभाग बहुत सरल और संक्षिप्त है (सू. अ. २७।५३-५५)। शाक वर्ग में प्रायः पत्रशाक या द्रवांश बहुल शाकों का ही उल्लेख है। फलवर्ग में फलों के गुण विवेचन तो हैं, परन्तु चिकित्सा में अनार के सिवाय दूसरे किसी फल का उपयोग नहीं है; केले का उपयोग विशेष रोग (स्त्री रोग में) में है। द्राक्षा का उपयोग मुख्य रूप से है। सुरावर्ग में नाना प्रकार के मद्यों का वर्णन है। जलवर्ग में आकाश से गिरा पानी देश-काल के अनुसार किस प्रकार परिवर्तित हो जाता है, इसका उल्लेख है। इसके आगे गोरस वर्ग है—जिसमें दूध, दही, घी आदि का गुण-दोष विवेचन है। इक्षुवर्ग में गन्ने के रस तथा इससे बनने-वाली वस्तुओं के गुड़, मत्स्यण्डिका (राब); खण्ड शर्करा (मोटी मिश्री, कालपी या मुलतानी मिश्री) का उल्लेख है। इसी में मधु के चार प्रकारों का वर्णन है। इसके आगे कृतान्न वर्ग, बनी हुई वस्तुओं के विषय में है। स्नेहों तैल, लवण-क्षार का आहार योगी वर्ग में उल्लेख किया है। मूली आदि जो वस्तुएँ हरी खायी जाती हैं, उनका हरितवर्ग में उल्लेख है। अन्त में आहार-सम्बन्धी सूक्ष्म विवेचन करके यह अध्याय समाप्त किया है।

वैद्य-भेद—चिकित्सा व्यवसाय में उस समय भी ठगी चलती थी; इसी से कहा गया है—"राज्ञां प्रभावात् चरन्ति राष्ट्राणि"—(चरक. सू. अ. २९।८)। इसलिए सामान्य जनता को छद्मचर वैद्यों का पता बताने के लिए उनकी विशेष पहचान बताई गयी है- (सू. अ. २९।९)। इनको लोक के लिए काँटा कहा गया है; जिस प्रकार रास्ते में पड़े काँटे से बचकर चला जाता है; उसी प्रकार इनसे बचकर रहना चाहिए। ये रोगों को शरीर में प्रविष्ट कराते हैं, रोग बढ़ाते हैं और प्राणों को बाहर निकालते हैं। सुश्रुत में राजा की सम्मति चिकित्सा कर्म में लेना आवश्यक बताया गया है (राज्ञानु ज्ञातेन, सू. अ. १०।३)।

इनके दो भेद हैं—छद्मचर और सिद्धसाधित। छद्मचर वैद्य तो वैद्यों का रूप बनाकर, उनके समान दिखावा रखकर मनुष्यों को ठगते हैं। सिद्ध साधित वैद्य—जिन वैद्यों ने धन, मान, प्रतिष्ठा पायी है जिनके ज्ञान की ख्याति होती है, उनके नाम के बहाने से (अपना नाम वैसा रखकर या अपने को उनका शिष्य बताकर) कमाते हैं (सू. अ. ११।५०-५१-५२)। इनसे मनुष्यों को बचना चाहिए।

इनके विपरीत जो वैद्य प्राणों को शरीर में प्रविष्ट करते हैं और रोगों को बाहर निकालते हैं; जो प्रयोग के ज्ञान-विज्ञान-सिद्धि में सिद्ध हैं; उनको 'प्राणाभिसर' कहा गया है। ऐसे वैद्यों के लिए नमस्कार है। (तेभ्यो नित्यं कृतं नमः)।

इस प्रकार के वैद्य भी जब कभी बहुत जोखम का काम करते थे—जिसमें प्राणोंका संशय होता था, उस समय सब भाई बन्धुओं के सामने सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट करके राजा को सूचित करके चिकित्सा कर्म करते थे, जिससे पीछे अपयश या बदनामी न हो। (चि. अ. १३।१७५-१७७)।

किसी बड़े रोग से रोगी के स्वस्थ होने पर उसे सब जाति-बन्धुओं को दिखाया जाता था; जिससे वैद्य को यश मिले (चरक संहिता में वैद्य के लिए चिकित्सा कर्म में धन का इतना महत्त्व नहीं जितना मान का है; स्थान-स्थान पर मान-यश की रक्षा रखने का विधान है) अच्छी तथा परिश्रम से किसी औषध के सिद्ध होने पर उसका विज्ञापन, सूचना देने का उल्लेख भी चरक में है [सि. अ. १२।१९-(१)]।

वैद्य के लिए या अन्य व्यक्तियों के लिए धन की आवश्यकता का उल्लेख चरक संहिता में है "न ह्यतः पापात् पापीयोऽस्ति यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः" (सू. अ. ११।५); बिना साधनों के जीवन बिताना सबसे बड़ा पाप है। साधनों के लिए धन एकत्र करे। इसके लिए सज्जनों से सम्मानित वृत्तियों का अवलम्बन करने को कहा है।

पेशे और साथी—चरक के समय जीवन के उपयोगी सब पेशे चालू थे। यथा—पाचक; स्नापक, स्नान करानेवाले; चापी करनेवाले संवाहक; उठाने-बिठानेवाले, उत्थापक; संवेशक; औषधि पेषक; गाने-बजानेवाले; किस्से-कहानी सुनानेवाले; श्लोक सुनानेवाले; इतिहास-पुराण में कुशल देशकाल को समझनेवाले व्यक्ति रोगी के पास रहते थे (सू. अ. १५।७)।

कलाओं में कुशल, धन धान्य से समृद्ध, परस्पर अनुकूल रहनेवाले; समान प्रकृति, एक ही आयु के, कुल-माहात्म्य-दाक्षिण्य-शील-पवित्रता से युक्त, नित्य प्रति काम में लगे, प्रसन्न चित्त, शोक-चिन्ता से मुक्त, प्रिय बोलनेवाले, समान शील, विश्वासी, जिनके सामने केवल एक ही कार्य हो (नाना उलझनों में न फँसे हों) ऐसे साथी चुनने चाहिए।[1]

चरक संहिता का ढाँचा—चरक संहिता का ढाँचा एक विशेष क्रम से बना है। सम्पूर्ण संहिता को आठ स्थानों में बाँटा है। यथा—सूत्र (श्लोक) स्थान, निदान स्थान, विमान स्थान, शारीरिक स्थान, इन्द्रिय स्थान, चिकित्सा स्थान, कल्प स्थान

---

१. विस्तृत ज्ञान के लिए चरकसंहिता का अनुशीलन (सांस्कृतिक) देखना चाहिए।

और सिद्धि स्थान। अध्यायों की कुल संख्या एक सौ बीस है। यही संख्या सुश्रुत संहिता में भी है। मनुष्य की आयु एक सौ बीस वर्ष पाँच दिन मानी गयी है,[1] लोक में भी प्रचलित है—साठा सो पाठा—साठ का होने पर पकता है। इसमें पाँच दिन छोड़ दिये जायँ तो उसी दृष्टि से इन संहिताओं में अध्याय संख्या निश्चित की गयी है। सूत्र स्थान और चिकित्सा स्थान में तीस-तीस अध्याय है; विमान स्थान, निदान स्थान, शारीरिक स्थान में आठ-आठ अध्याय, इन्द्रिय स्थान, कल्प स्थान और सिद्धि स्थान में बारह-बारह अध्याय हैं।

सूत्र स्थान सबसे मुख्य स्थान है। इसमें संहिता का सम्पूर्ण विषय सूत्र रूप में आ गया है। जिस प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रकार के कुसुमों को सूत्र में पिरो दिया जाता है; उसी प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों को इस सूत्र में अत्रिपुत्र ने पिरो दिया है। यह सूत्र-स्थान चार-चार अध्यायों में विभक्त करके सात विषय प्रतिपादित किये हैं। यथा—प्रथम चार अध्याय भेषज चतुष्क है; अगले चार स्वस्थ वृत्तिक; इसके आगे क्रमशः चार-चार अध्याय-निर्देश सम्बन्धी; प्रकल्पना चतुष्क; रोगाध्याय; योजना चतुष्क; अन्नपान चतुष्क हैं। शेष दो अध्याय संग्रह अध्याय हैं। यह क्रम अन्य किसी संहिता में इस रूप में नहीं है।

निदान स्थान में मुख्य आठ रोगों का उल्लेख है। विमान स्थान में—दोष-भेषज का विशेष ज्ञान कराया गया है। शारीर स्थान में शरीर सम्बन्धी ज्ञान कराने में आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि का, योग तथा अन्य आध्यात्मिक विषय तथा शरीर सम्बन्धी ज्ञान दिया गया है। इसी में उत्तम संतान की उत्पत्ति, पालन सम्बन्धी विषय आता है। अगला इन्द्रिय स्थान है। इन्द्रिय का अर्थ आत्मा है। इसलिए इसमें मृत्यु सम्बन्धी लक्षणों का उल्लेख है।[2] चिकित्सा स्थान के प्रथम दो अध्याय रसायन और वाजीकरण से सम्बन्धित हैं। शेष अध्यायों में प्रथम निदान स्थान में कहे गये आठ अध्यायों

---

१. 'समाः षष्टिर्द्विघ्ना मनुज करिणां च पञ्चक निशाः'—ज्योतिष; हाथी का यौवनकाल साठवें वर्ष में आता है; यथा—"भद्राणां षष्टिवर्षाणां प्रश्रुतानामनेकधा। कुञ्जराणां सहस्रस्य बलं समधिगच्छति।" सुश्रुत. चि.अ.२९।१६.

२. 'रिष्टसमुच्चय'—दुर्गदेवाचार्यकृत, भारतीय विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित हुई है। इसमें रोगों के रिष्ट वर्णित हैं। यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है। इसका कर्ता जैन था। इसमें नाना प्रकार के मंत्र दिये गये हैं।

रिष्ट के तीन भेद कहे गये हैं। यथा—

की चिकित्सा कहकर अन्य रोगों की चिकित्सा कही गयी है (कलकत्ते से प्रकाशित पुस्तकों में बम्बई से प्रकाशित पुस्तकों के अध्याय क्रम में यहाँ अन्तर है)। कल्प स्थान में वमन-विरेचन की कल्पना कही गयी है। सिद्धि स्थान में वमन-विरेचन वस्तु के विषय में विस्तृत जानकारी है। इसमें इनसे होनेवाली व्यापदों की औषधि से सिद्धि बतायी गयी है (सम्यक् प्रयोगं चैव कर्मणां व्यापन्नानां च व्यापत्साधनानि सिद्धिषूपदेक्ष्यामः—सू. अ. ४)।

इन सब स्थानों में आयुर्वेद के हेतु, लिंग और औषध इन तीन सूत्रों में वर्णित किया गया है। इस वर्णन में उस समय की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक जानकारी विशेष रूप में मिलती है। चरक संहिता केवल आयुर्वेद-चिकित्सा का ही प्रतिपादन करती है, ऐसी मान्यता ठीक नहीं। यही सही कि प्राचीन या आधुनिक व्याख्याकर्त्ताओं का ध्यान इस ओर नहीं गया। इस संहिता से उस समय की अध्यापन विधि; भाषा, विश्वास रूपी मान्यता है; देवतावाद-पूजा आदि बातों पर बहुत उत्तम प्रकाश पड़ता है।

यह संहिता इतनी महत्त्वपूर्ण है कि वाग्भट ने अपने ग्रन्थ अष्टांग संग्रह तथा अष्टांग हृदय में "इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः"—इस वचन से अध्याय का प्रारम्भ किया है।

टीकाएँ—चरक संहिता पर बहुत-सी टीकाएँ हैं। इनमें से निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं—

१: भट्टार हरिचन्द्र की बनायी चरकन्यास नामक व्याख्या। बाण ने हर्षचरित में भट्टार हरिचन्द्र के गद्य की प्रशंसा की है।[1] इस टीका का कुछ अंश श्री मस्तराम

'पिण्डस्थं च पदस्थं रूपस्थं भवति त्रिविकल्पम्।
जीवस्य मरणकाले रिष्टं नास्तीति सन्देहः॥' १७॥

(चरक में—'नत्वरिष्टजातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते। मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम्॥' इन्द्रि. २।५.

१. 'पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥' (हर्षचरितः, प्रथमोच्छ्वासः १२।)

वाक्पति के बनाये गौडवहो नामक प्राकृत काव्य में—(छाया रूप से)—

'भासे ज्वलनमित्रे कुन्तिदेवे च यस्य रघुकारे।
सौबन्धवे च बन्धे हारीचन्द्रे च आनन्दः॥'

तीसटाचार्य विरचित चिकित्सा कलिका में तीसटाचार्य के पुत्र चन्द्रट ने कहा है—

शास्त्री ने छापा था। महान विश्यामलक विरचित पादताडित (जो कि गुप्त-काल की रचना है) में वाह्लीक के रहनेवाले कांकायन गोत्री वैद्य ईशानचन्द्र के पुत्र हरिचन्द्र का नाम आता है। महेश्वर विरचित विश्वप्रकाश कोश के अनुसार ये साहसाङ्क नृपति के राजवैद्य थे। राजशेखर ने काव्य मीमांसा में हरिचन्द्र और चन्द्रगुप्त का विशाला अर्थात् उज्जयिनी में एक साथ उल्लेख किया है—(चतुर्भाणिक—पृष्ठ १७९)।

२. जैज्जटाचार्य विरचित निरन्तरपदव्याख्या नामक टीका। इसको लाहौर से मोतीलाल बनारसीदास ने छापा था। इसका कुछ अंश बीच से त्रुटित है। जैज्जट वाग्भट का शिष्य था। (इति वाग्भटशिष्यस्य जेज्जटस्य कृतौ निरन्तरपदव्याख्यायां चिकित्सा स्थाने रसायनाध्यायः समाप्तिमगमत्)। जैज्जट ने मदात्यय चिकित्सा में भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है, इसलिए जैज्जट इनके पीछे हुए।

३. चक्रपाणिदत्त की आयुर्वेद दीपिका व्याख्या। यह टीका आजकल विशेष सम्मानित है। चक्रपाणिदत्त गौड़ देश में वैद्य जाति के अन्दर लोधुवली संज्ञक दत्तकुल में उत्पन्न हुए थे। गौड़ाधिपति नयपालदेव की पाकशाला के अधिकारी एवं मन्त्री नारायणदत्त के पुत्र थे। इनके छोटे भाई का नाम भानुदत्त था। नयपाल का राज्यकाल ग्यारहवीं शती का मध्य है। चक्रपाणिदत्त के बनाये चिकित्सा-संग्रह (चक्रदत्त), द्रव्यगुण-संग्रह बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने सुश्रुत संहिता

'व्याख्यातरि हरिश्चन्द्रे श्रीजेज्जट नाम्नि सति सुधीरे च।
अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्या धाष्टर्यं समावहति॥'

विश्वप्रकाश कोष के प्रारम्भ में—भट्टार हरिचन्द्र के वंशधर महेश्वर ने कहा है—

'श्रीसाहसाङ्क नृपतेरनवद्यवैद्य-विद्यातरंग पदमद्वयमेव बिभ्रत्।
यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्र नामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलञ्चकार॥
(विश्वप्रकाश १।५).

साहसाङ्क नृपति से द्वितीय चन्द्रगुप्त अभिप्रेत है। इसका राज्यकाल ३७५ से ४१५ ईस्वी तक था। भट्टार हरिश्चन्द्र का भी यही समय था। विशेष जानकारी के लिए निर्णयसागर की प्रकाशित चरकसंहिता में श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य की भूमिका देखनी चाहिए। महान् विश्यामलक विरचित 'पादताडितकम्' में कांकायन गोत्री ईशानचन्द्र वैद्य के पुत्र हरिचन्द्र का उल्लेख है। इस पर डा० अग्रवाल की टिप्पणी देखिए (पृ० १७९).

के ऊपर भी भानुमती टीका की थी। मुक्तावली तथा शब्दचन्द्रिका ये दो ग्रन्थ इनके बनाये कहे जाते हैं। मुक्तावली आयुर्वेद का शब्द-कोष है। इसमें आयुर्वेदीय औषधियों के गुण और धर्म वर्णित हैं। चक्रपाणि टीका में आयुर्वेद के तथा इससे सम्बन्धित पचास से ऊपर आचार्यों के नाम तथा उनके ग्रन्थों का उल्लेख आया है। आज इनमें से कई ग्रन्थ प्रायः नहीं मिलते।

४. शिवदास सेन विरचित तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या—शिवदास सेन गौड़ देश (बंगाल में) मालञ्चिका ग्राम में उत्पन्न हुए थे,[1] इनके पिता का नाम अनन्त सेन था। बार्बरशाह, गौड़देश के अधिपति के समाश्रित थे। बार्बरशाह का राज्यकाल १४५७ से १४७४ ईस्वी तक था। मालञ्चिका गाँव पवना जिले में है।

शिवदास सेन ने चरक पर तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या; चक्रदत्त पर तत्त्वचन्द्रिका व्याख्या; द्रव्यगुण संग्रह पर द्रव्यगुण संग्रह व्याख्या, अष्टांगहृदय पर अष्टांगहृदय-तत्त्वबोध नामक व्याख्या की है।

५. नवीन व्याख्यानकारों में श्री योगीन्द्रनाथ सेन की चरकोपस्कार तथा श्री गङ्गाधर कविरत्न की जल्पकल्पतरु व्याख्या है। इसमें चरकोपस्कार व्याख्या अपूर्ण है, परन्तु विद्यार्थियों के लिए बहुत ही हृदयङ्गम, सरल है। जल्पकल्पतरु व्याख्या दार्शनिक व्याख्या है।

भेल संहिता

पुनर्वसु आत्रेय के छः शिष्य थे—अग्निवेश, जतुकर्ण, पराशर, क्षीरपाणि, भेल और हारीत। इन सबने अपनी-अपनी संहिताएँ बनायीं और ऋषियों समेत बैठे आत्रेय को सुनायी थीं। इनमें से केवल दो संहिताएँ मिलती हैं; एक अग्निवेश की बनायी चरक से प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता और दूसरी भेलसंहिता। भेलसंहिता त्रुटित रूप में है; जितना भी अंश मिला है, उससे स्पष्ट है कि यह संहिता अग्निवेश के सहपाठी की ही है। इसमें बहुत से वचन उसी संहिता के उसी रूप में मिलते हैं।

---

१. मालञ्चिकाग्रामनिवासभूमौ गौडावनीपालभिषग्वरस्य।
अनन्तसेनस्य सुतो विधत्ते टीकामिमां श्री शिवदाससेनः॥'
(चक्रदत्त टीका)

योऽन्तरङ्गपदवीं दुरवापां छत्रमप्यतुलकीर्त्तिरवाप।
गौडभूमिपतेर्बार्वकसाहात् तत्सुतस्य सुकृतिनः कृतिरेषा॥
(द्रव्यगुण संग्रह व्याख्या)

अध्यायों का नामकरण भी बहुत मिलता है, शंकाएँ भी एक-जैसी ही हैं। इस संहिता का प्रचार बहुत नहीं हुआ, जैसा कि अष्टांगहृदय के वचन से स्पष्ट है (भेडाद्याः—किं···)।

भेलसंहिता की छपी पुस्तक कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है। यह ग्रन्थ त्रुटित है। इस संहिता में पृथिवीकाय, अप्काय; वायुकाय, तेजःकाय आदि शब्दों का उल्लेख है; (पृष्ठ ८७); बौद्ध साहित्य दीर्घ निकाय (१ से ५५ पृष्ठ) में पृथिवीकाय, आपोकाय, ब्रह्मकाय, देवकाय आदि शब्द मिलते हैं।

भेलसंहिता में कुछ नये विचार भी हैं। यथा—मन मस्तिष्क में रहता है; इसके बिगड़ने से उन्माद होता है (चित्तं हृदयसंश्रितम्—चित्त हृदय में रहता है। हृदय से मस्तिष्क लेना या दिल लेना यह स्पष्ट नहीं। श्री दुर्गाशंकर भाई जी ने मस्तिष्क लिया है। सबसे प्रथम मन दूषित होता है; फिर चित्त, चित्त के पीछे बुद्धि दूषित होने से उन्माद होता है—चि. अ. ८)।

हृदय का वर्णन सुश्रुत के वर्णन से मिलता है। यथा—

'पुण्डरीकस्य संस्थानं कुम्भिकायाः फलस्य च।
एतयोरेव वर्णं च विभर्त्ति हृदयं नृणाम्॥
यथा हि संवृत्तं पद्मं रात्रौ चाहनि पुष्यति।
हृत्सदा संवृत्तं स्वप्ने विवृत्तं जाग्रतः स्मृतम्॥' (भेल. सूत्रस्थान अ. २१)।

सुश्रुत में हृदय का उल्लेख (शा. अ. ४।३२) इसी के आधार पर है। हृदय से रस (रक्त) निकलता है और फिर शिराओं द्वारा इसी में लौट आता है। यह बात चरक-सुश्रुत में नहीं है। चरक में हृदय का ऐसा उल्लेख भी नहीं है।[1]

भेलसंहिता का प्रचार किसी समय अवश्य रहा होगा, क्योंकि इसके कुछ योग नावनीतक में आते हैं।

डल्लन ने भेल संहिता का उल्लेख किया है "इदानीं भेलभालुकिपुष्कलावतादीनां शल्यतंत्रविदां मतेन विषमज्वरोत्पत्तिमभिधाय..... (सुश्रुत. उत्तर तंत्र ३९। अ. में टीका)।

---

१. श्री दुर्गाशंकर केवलराम जी शास्त्री जी की मान्यता है कि सुश्रुत के उत्तर तंत्र के पीछे और नावनीतक के पूर्व ३०० ईस्वी के आस-पास इस संहिता की रचना हुई है। यह विचार अधिक सम्मत नहीं लगता, क्योंकि इस काल की भौगोलिक, सांस्कृतिक झलक उपलब्ध भेलसंहिता में नहीं है; जब कि इस समय के दूसरे ग्रन्थों में वह है।

भेल संहिता का पाठ टीकाकारों ने उतारा है; यथा—माधवनिदान में ज्वर रोग की टीका में विजय रक्षित ने—"भेलोऽपि पैत्तिकः पठ्यते ।

आमाशयस्थः पवनो ह्यस्थिमज्जागतोऽपि वा।
कुपितः कोपयत्याशु श्लेष्माणं पित्तमेव च ॥'

शिवदास सेन जी ने भी इस संहिता का पाठ उद्धृत किया है—

'नागरं देवकाष्ठं च धन्याकं बृहतीद्वयम् ।
दद्यात् पाचनकं पूर्वं ज्वरिताय ज्वरापहम् ॥'

भेल संहिता का काल—भेल संहिता का वर्तमान चरक संहिता का काल अर्थात् ६०० ई० पू० है (भेल संहिता की भूमिका)। आत्रेय का शिष्य होने से इसकी रचना प्रायः अग्निवेश के बनाये चरक से मिलती है। चैत्ररथ वन का उल्लेख, गर्भ का कौन-सा अंग प्रथम बनता है; भरद्वाज और आत्रेय का गर्भविक्रान्ति प्रश्न पर एक समान विवाद, इसको उसी समय का सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

भेल संहिता का विश्लेषण—भेल संहिता की रचना चरकसंहिता के समान सूत्र स्थान, निदान, विमान, शारीर; चिकित्सा, कल्प और सिद्धि स्थान रूप में है। इस संहिता की बहुत-सी बातें चरक संहिता से मिलती हैं और कुछ अधिक भी हैं,(यथा —गुल्म पदार्थ और उसका स्वभाव—"दुष्टानां हन्तुकामानां परप्राणभृतां यथा। हस्त्य-श्वरथयानानां संघातो गुल्म इष्यते ॥ एवं देहरसादीनां धातूनां विप्रकर्षणम्। संसर्गो गुल्म इत्युक्तं संघातो गुल्म उच्यते ॥ स्तम्भिनिस्तम्भिनीनांतु (?) वल्लीनां वीरुधा-मपि। संघातो गहनं गुल्मस्तद्वद्गुल्मस्तु देहिनाम् ॥ अमूर्त्तत्वाद्धि वा तस्य संवृत्तिर्नोप-जायते। सुधाय पित्तश्लेष्माणौ मारुतौ गुल्मतां व्रजेत् ॥ मधूच्छिष्टमयं पिण्डं चिन्वन्ति भ्रमरा यथा। तथा रो (को)ष्टे (ष्ठे)षु पवनो धातूंस्तान् विचिनोत्यपि ॥" 'सुधाय' शब्द इसमें स्पष्ट नहीं)।

चरक संहिता में महा, चतुष्पाद अध्याय में (सू. अ. १०) आत्रेय और मैत्रेय का संवाद चिकित्सा की सफलता एवं निष्फलता के विषय में है। भेल संहिता में यही प्रश्न आत्रेय और भद्र शौनक के बीच में है(न त्वेतां बुद्धिमात्रेयः शौनकस्यानुमन्यते)॥

'पक्तये कारणं पक्तुः यथा पात्रं घनानि (त्रेन्धनानलाः) ।
विजेतुर्विजयो(ये) भूमिः(मे)श्चभूः (म्वः) प्रहरणानि च ॥
मृद्दण्डचक्रसूत्राद्याः कुम्भकाराहृते यथा ।
नावहन्ति गुणान् वैद्यादृते पादत्रयं भिषक् ।
विद्यात्तस्मात् चिकित्सायां प्रधानं कारणं भिषक् ॥' (सूत्र. नवाँ)

चरक संहिता में ये श्लोक इसी प्रकार सू. अ. ९ में ही आते हैं। इसी प्रकार गर्भ का कौन-सा अंग प्रथम बनता है; इस सम्बन्ध में चरक संहिता की भाँति भिन्न-भिन्न ऋषियों के मत दिये गये हैं। इन मतों में कुछ ऋषियों के मत दोनों संहिताओं में समान है (पक्वाशयो गुदमिति भद्रशौनकः—चरक; पश्चा (क्व) द्गु (गु) द इति शौनकः—भेल; २—नाभिरिति-भद्रकाप्यः—चरक; नाभिरिति खण्डकाप्य.-भेल; ३—शिरः पूर्वमभिनिवर्त्तते कुक्षाविति कुमारशिरा भरद्वाजः—चरक; शिर इति भरद्वाजः—शरीरस्य तन्मूलत्वात्—भेल)। कुछ नाम नये भी हैं; यथा, पराशर का मत; चरक में यह मत कांकायन का कहा गया है। भेल में आत्रेय का जो मत इस विषय में दिया गया है, वह चरकसंहिता के मत से भिन्न है।

उदररोग की चिकित्सा में शस्त्रकर्म दोनों संहिताओं में एक ही प्रकार का है। सर्प विषवाले फल से भी चिकित्सा समान रूप से कही गयी है।

कुष्ठरोग में खदिर का उपयोग विशेष रूप से दिया गया है। कुष्ठ में खदिर का विशेष उपयोग सुश्रुत में भी है (चि. अ. ९।७०)। चरकसंहिता में खदिर का उपयोग अवश्य आता है, परन्तु इसके लिए इतना जोर नहीं मिलता जितना भेल और सुश्रुत में है।

भेल संहिता में आत्रेय के लिए कृष्णात्रेय; पुनर्वसुरात्रेय, चान्द्रभागि शब्द प्रायः आते हैं। जिससे स्पष्ट है कि इस भेल संहिता का सम्बन्ध अग्निवेश के गुरु आत्रेय से है; जैसा कि संहिता में भी कहा गया है "इति ह स्माह भगवानात्रेयः"।

हारीत संहिता

वर्त्तमान काल में उपलब्ध हारीत संहिता बहुत अर्वाचीन है। कलकत्ते में १८८७ में यह छपी थी। पीछे गुजराती और हिन्दी में छपी। इसकी भाषा, रचना-शैली पूर्णतः अनार्ष है। चक्रपाणि, विजयरक्षित आदि ने हारीत संहिता के जो उद्धरण दिये हैं, वे इसमें नहीं मिलते।

इसी प्रकार से अग्निवेश के नाम से कहा जानेवाला अंजननिदान भी नवीन कृति है, क्योंकि इसके कुछ पाठ सुश्रुत संहिता में हैं, चरक संहिता में नहीं हैं।

अग्निवेश संहिता; जतुकर्ण संहिता; पाराशर संहिता, क्षीरपाणि संहिता प्राचीन काल में थीं। इनके पाठ टीकाकारों ने उद्धृत किये हैं। आज वे उपलब्ध नहीं हैं। विशेष जानकारी के लिए प्रत्यक्ष शारीरम् तथा काश्यपसंहिता का उपोद्घात देखना चाहिए।

सातवाँ अध्याय

नागवंश

भारशिव-वाकाटक और सुश्रुत संहिता

(लगभग १७६-३४० ई०)

पृष्ठ भूमि—अशोक के बाद के मौर्य राजा निकम्मे और कर्त्तव्य-विमुख निकले। उन्होंने अपनी कमजोरी को अशोक की क्षमा नीति से ढाँपने का झूठा प्रयत्न किया। २१० ई० पू० में यह साम्राज्य टूटने लगा और भारत वर्ष चार मण्डलों में बँट गया; मध्यदेश, पूरब, दक्षिण और उत्तरापथ। इनमें नये राज्य उठ खड़े हुए।

सबसे प्रथम दक्षिण और पूरब के मण्डल स्वतंत्र हुए। दक्षिण में सिमुल नाम के एक ब्राह्मण ने अपना राज्य स्थापित किया। इसके वंश का नाम सातवाहन (= सालवादन प्राकृत) है। इसका प्रारम्भ महाराष्ट्र में हुआ। पीछे से यह आन्ध्र में भी फैल गया और आन्ध्रवंश कहलाने लगा (वाकाटक वंश भी वाकाट स्थान से उत्पन्न होने के कारण वाकाटक कहलाया)। इस वंश का राज्य अनेक उतार-चढ़ाओं के साथ ४५० बरस तक बना रहा। कलिंग में २१० ई० पू० एक क्षत्रिय ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था।

मौर्य साम्राज्य की निष्क्रियता से ऊबकर प्रजा और सेना बिगड़ गयी थी। इसी से सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने समूची सेना के सामने बृहद्रथ राजा को मारकर शासन सँभाला। इसने मद्रदेश (स्यालकोट) तक विजय की। बौद्धों का दमन किया। इसका बेटा अग्निमित्र था (जिसको लेकर कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक लिखा)। इसका पौत्र वसुमित्र था। पुष्यमित्र के पीछे शुंगों का आधिपत्य मथुरा तक जरूर बना रहा। इसके सामन्त मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, भारहुत में राज्य करते थे (इस समय पांचाल क्षेत्र की राजधानी अहिच्छत्रा थी; काम्पिल्य नहीं—इसे स्मरण रखना चाहिए; चरक में काम्पिल्य राजधानी कही गयी)। शुंग राजा पाटलिपुत्र के बजाय अयोध्या में और कभी-कभी विदिशा (भेलसा) में भी रहते थे।

उत्तर की तरफ पर्याप्त उतार-चढ़ाव हुए जिससे अफगानिस्तान और पश्चिमी पंजाब में चार यवन राज्य बन गये थे। एक कापिशी में, दूसरा पुष्करावती में, तीसरा

तक्षशिला में, चौथा शाकल में। इन सब राज्यों के बहुत से सिक्के अब तक मिलते हैं। शाकल का राजा मिनाण्डर (महेन्द्र था)।

इन यूनानी राज्यों और शुंग साम्राज्य के बीच पूर्वी पंजाब, राजपूताना, काठियावाड़ में बहुत-से गणराज्य बन गये थे। इनमें सतलज के निचले कोठे पर यौधेय नाम का एक मजबूत गणराज्य था। कुणिन्द नाम का शक्तिशाली राज्य हिमालय की तराई में व्यास से जमुना तक था। दक्षिण में सातवाहन वंश के राजा राज्य करते थे। परन्तु पश्चिम में ऐसी कोई शक्ति नहीं उठी। इसी कारण इसकी राजधानी उज्जैन के लिए चारों तरफ की शक्तियों में छीना-झपटी रही (क्योंकि यह मुख्य स्थान था; यहाँ से दक्षिण-पूरब का रास्ता खुलता है)। इसलिए उज्जैन कई शताब्दियों तक रणस्थली रहा। शकों का पहला धावा काठियावाड़ और उज्जैन पर हुआ। शकों ने १०० ई० पू० में सम्भवतः उज्जैन जीता और ५८ वर्षों तक राज्य किया। तब प्रतिष्ठान (पैठन) से आकर राजा विक्रमादित्य ने (गौतमी पुत्र शातकर्णी) इनको हराया। शकों का संहार करके विक्रम संवत् चलाया।

दूसरी शती ई० पू० में भारत में चार बड़ी शक्तियाँ थीं, पाँचवीं शक्ति के रूप में शक आये थे। मध्यदेश के शुंग राज्य और उत्तरापथ के राज्यों को शकों ने मिटा दिया था (कनिष्क शक था)। तब केवल दो शक्तियाँ बची थीं; एक शक और दूसरी सातवाहन। सातवाहनों की समृद्धि अद्वितीय थी। सातवाहनों ने शकों को जड़ से उखाड़ फेंका था। गौतमीपुत्र का बेटा वासिष्ठी पुत्र पुलुभावी बहुत योग्य राजा था। सातवाहनों में से एक राजा हाल में बहुत प्रसिद्ध हुए जिनकी बनाई सप्तशती है।

सातवाहनों का राज्य दूसरी शती के अन्त में टूटने लगा। आन्ध्र देश में इस समय ईक्ष्वाकु वंश ने राज्य किया; उसकी राजधानी श्री पर्वत (कृष्णा नदी के दक्षिण नालमलै पर्वत गुण्टूर जिले में) थी। काठियावाड़ में छोटे-छोटे गण राज्य बन गये।[1]

भारशिवों का उदय—दूसरी शती ई०पू० के अन्त में विदिशा (भेलसा) में क्षत्रियों का राज्य था। नहपान शक ने जब विदिशा जीता तब वे सिन्ध और पार्वती के संगम पर पद्मावती (आधुनिक पदमपर्वायां) में चले गये। ७८ ई० में भारत में ऋषिक-तुखारों का (कुषाणों का) साम्राज्य स्थिर होने पर स्वतंत्रता की रक्षा के लिए नर्मदा के दक्षिण जंगलों में जा बसे। इन्हीं नाग क्षत्रियों के नाम से नागपुर बसा। दूसरी शती के मध्य में (लगभग १४०-१७० ई०) में राजा नवनाग हुआ। उसने अपने जंगल

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार के 'इतिहास प्रवेश' के आधार पर।

के आसरे से आधुनिक बघेलखंड के रास्ते गंगा-कोठे की तरफ बढ़कर तुखार साम्राज्य के पूर्वी छोर पर चोट की। कौशाम्बी को जीत लिया और कान्तिपुर (मिर्जापुर के पास आधुनिक कन्तित) में अपना नया राज्य बनाया। कान्तिपुर के राजा शिव के उपासक थे; इन्होंने अपने वंश का नाम भारशिव रखा*। नवनाग के उत्तराधिकारी वीरसेन (लगभग १७०-२१० ई०) ने मथुरा से भी तुखार सत्ता उठा दी। पद्मावती और मथुरा में भी नाग राजवंश की शाखाएँ स्थापित हो गयीं। इनके लिए ताम्र पत्र पर लिखा है —

"अंशभारसन्निवेशितशिवलिंगोद्वाहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवंशानाम् पराक्रमाधिगत-भागीरथी अमलजलमूर्छाभिषिक्तानाम् दशाश्वमेध अवभृतस्थानानाम् भारशिवानाम्" :

उन भारशिवों (के वंश) का; जिनके राजवंश का आरम्भ इस प्रकार हुआ था कि उन्होंने शिव लिंगों को अपने कंधे पर वहन करके शिव को भलीभाँति परितुष्ट किया था; वे भारशिव जिनका राज्याभिषेक उस भागीरथी के पवित्र जल से हुआ था, जिसे उन्होंने

*** इस विषय को डाक्टर के० पी० जायसवाल ने बहुत ही विस्तार से 'अन्धकार युगीन भारत' में स्पष्ट किया है। कुषाण काल से गुप्तवंश के बीच का समय इससे पहले अन्धकार में था।**

भारशिवों की शिव के साथ बहुत समानता थी। इनके नामों के पीछे नाग शब्द आता था, शिवजी के चारों ओर जैसे गण रहते थे—इनके राज्य के चारों ओर भी गणराज्य थे। जिस प्रकार शिवजी बराबर योगियों की तरह रहते हैं, उसी प्रकार भारशिवों का शासन भी बिलकुल सरल था। उनकी कोई भी बात शानदार नहीं थी। उन्होंने कुशन साम्राज्य के सिक्कों और उनके ढंग की उपेक्षा की और फिर से पुराने हिन्दू ढंग के सिक्के बनाने आरम्भ किये। उन्होंने शानशौकत नहीं बढ़ायी। शिव के समान उन्होंने जान-बूझकर दरिद्रता अंगीकार की। उन्होंने हिन्दू प्रजातंत्रों को स्वतंत्र किया और उन्हें इस योग्य कर दिया कि वे अपने यहाँ के लिए जैसे सिक्के चाहें, वैसे सिक्के बनायें और जिस प्रकार चाहें, जीवन निर्वाह करें। ये लोग अश्वमेध करते थे, परन्तु एकराट् या सम्राट् नहीं बनते थे। सदा राजनीतिक शैव बने रहे और सार्व राष्ट्रीय दृष्टि से साधु और त्यागी रहे।—'अन्धकार युगीन भारत' पृष्ठ ११०।

अपने पराक्रम से प्राप्त किया था, वे भारशिव जिन्होंने दस अश्वमेध करके अवभृथ स्नान किया था।

दूसरे राजाओं ने दो या चार अश्वमेध यज्ञ किये थे; इन्होंने दस अश्वमेध यज्ञ किये थे, इसीलिए ये मूर्धाभिषिक्त कहे गये हैं। ये दस अश्वमेध सम्भवतः बनारस के दशाश्वमेध घाट पर ही किये गये हों, क्योंकि इनकी राजधानी कान्तिपुर इसी के पास है। काशी–शव का निवास स्थान माना जाता है।

भारशिवों ने गंगा तट पर पहुँचकर अपने देश को राष्ट्रीय संकटों से मुक्त करने का भार अपने ऊपर लिया था। (कुशाणों के राज्यकाल में हिन्दूजाति बौद्धों को जिस दृष्टि से देखती थी, उसका उल्लेख महाभारत वन पर्व १८८ में आया है। यथा—उस समय आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, कम्बोज, वाह्लीक और आभीर शासन करेंगे। वेदों के वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे। शूद्र लोग ब्राह्मणों को 'भो' कहकर बुलायेंगे; ब्राह्मण इनको आर्य कहेंगे। लोग इहलौकिक बातों में बहुत अनुरक्त होंगे। सब कर्मकाण्ड और यज्ञ लुप्त हो जायेंगे। उस समय सब एक वर्ण हो जायेंगे। देवताओं की पूजा वर्जित कर देंगे, हड्डियों की पूजा करेंगे—(यह स्पष्ट संकेत बुद्ध या मिलिन्द के अस्थि शेषों पर बने स्तूपों से है, देवताओं के पवित्र स्थानों पर एडूक—बौद्ध स्तूप बनेंगे—जिनके अन्दर हड्डियाँ रखेंगे, यह संकट था)।

भारशिव राजाओं के समय बौद्ध धर्म की बहुत अधिक अवनति हो गयी थी। उसने अहिन्द स्वरूप धारण कर लिया था। इसका कारण यही था कि उसने कुशानों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। इससे इनकी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता नष्ट हो गयी थी। परन्तु स्थिति इतनी बदल गयी थी जिससे न वैदिक समाज वापस आ सकता था और न वैदिक धर्म अपने पुराने रूप में (कर्मकाण्ड) में लौट सकता था। बौद्ध धर्म के कारण जनता के विचारों में बहुत परिवर्तन आ गये थे। इसलिए वैदिक धर्म को जगाने की जो लहर उठी वह बौद्ध धर्म के सुधार की सब प्रवृत्तियों को लेकर चली।

बौद्ध धर्म आचार प्रधान था। ईश्वर और देवताओं की पूजा के लिए उसमें जगह न थी। जन साधारण का नाम बिना देवता के चल नहीं सकता था। अनार्यों में भी जड़पूजा का स्थान और मान है। शूरसेन देश में वासुदेव कृष्ण की पूजा चलती थी। भारत में जितने भी देवता पूजे जाते थे, उनमें विष्णु, शिव, सूर्य, स्कन्द आदि की भिन्न-भिन्न शक्तियों के सूचक विभिन्न रूप हैं। यहीं अवतार वाद की कल्पना बनी। पहले देवताओं की पूजा यज्ञों द्वारा होती थी; अब उनकी मूर्त्ति बनाकर मन्दिरों में पूजा की जाने लगी। मूर्त्तियाँ देवताओं की शक्ति का प्रतीक समझी जाने लगीं।

वैदिक देवता में इन्द्र मुख्य थे। अब विष्णु और शिव की प्रधानता हो गयी। ऐतिहासिक कृष्ण की पूजा में अब वैदिक प्रकृति-देवता विष्णु की पूजा मिल गयी। यही सातवाहन युग का भागवत धर्म था। विष्णु के अतिरिक्त शिव और स्कन्द की पूजा उस समय के पौराणिक धर्म में बहुत प्रचलित थी। भागवत धर्म और शैव धर्म को विदेशी भी अपना लेते थे।

पौराणिक धर्म का प्रभाव फिर बौद्धों और जैनों पर भी पड़ा। इन्होंने बुद्ध और महावीर के भी अवतार की कल्पना की। बौद्ध धर्म का यह नया रूप महायान कहलाया; पुराना बौद्ध धर्म (थेरवाद) हीनयान कहलाने लगा।

साहित्य—पौराणिक धर्म की तरह नये संस्कृत साहित्य का विकास पहले-पहल सातवाहन-युग में हुआ। पुष्यमित्र शुङ्ग के समय पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा। शुंगों के समय (अन्दाजन १५० ई० पू० में) मनुस्मृति लिखी गयी। इसी कारण इसमें बौद्धविरोध भाव बहुत हैं। इसके २५० या ३०० साल पीछे याज्ञवल्क्य स्मृति लिखी गयी। भास कवि भी इसी समय हुए। नागार्जुन, अश्वघोष, चरक ये सब इसी पहली शताब्दी के आस-पास हुए। नागार्जुन ने एक लौहशास्त्र लिखा और पारे के योग बनाने की विधि निकाल कर रसायन के ज्ञान को बढ़ाया।

मीमांसा-दर्शन के प्रवर्त्तक जैमिनि, वैशेषिकदर्शनकार कणाद, अक्षपाद गौतम, वेदान्त के प्रवर्त्तक बादरायण भी इसी युग में हुए। अमरकोश भी इसी समय लिखा गया। उसका लेखक अमरसिंह बौद्ध था। संस्कृत के साथ प्राकृत में भी रचना हुई—राजा हाल ने हालसप्तशती लिखी। एक सातवाहन राजा के समय गुणाढ्य ने पैशाची प्राकृत में बृहत्कथा लिखी थी, जो अब नहीं मिलती।

यवन और शुंग राजा का समय २१० से १०० ई० पू० है; और सातवाहन युग २१० ई० पू० से १७६ तक है। इसके आगे भारशिव और वाकाटक युग ४५५ ईस्वी तक है।

श्रीपर्वत—चरक संहिता में दक्षिण प्रदेश का उल्लेख नहीं आता। परन्तु सुश्रुत संहिता में दक्षिण प्रदेशों का उल्लेख आता है (श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा—चि. अ. २९।२७)। श्रीपर्वत अपने चमत्कार के लिए प्रसिद्ध है।* इसी प्रकार चि. अ.

---

* **'सफलप्रणयिमनोरथसिद्धिश्रीपार्वतो'—हर्षचरित।**

[२] **श्री पर्वतश्चाश्चर्यवार्तासहस्राभिज्ञेन जरद्द्रविडधार्मिकेण—कादम्बरी।**

४।२९ में "दक्षिणपथगाश्च गन्धा वातघ्नानि"—सुगन्धित द्रव्य दक्षिण में ही होते हैं —इसलिए उनका उल्लेख है।

श्रीपर्वत का वर्तमान नाम नालमलै है। गुंटूर जिले में कृष्णा नदी के किनारे नागार्जुन-कोंड अर्थात् नागार्जुन की पहाड़ी पर कई शिलालेख मिले हैं। इनके आधार पर श्रीपर्वत की ठीक स्थिति का ज्ञान हो जाता है। इन पहाड़ियों के बीच में एक उपत्यका या घाटी है; इन पहाड़ियों पर उन दिनों किलेबन्दी थी। सैनिक कार्यों के लिए यह स्थान बहुत ही उपयुक्त था, एक दृढ़ गढ़ का काम देता था। इस स्थान पर बौद्धों के संगमरमर के कुछ स्तूप मिलते हैं; उनके आधार पर इस स्थान का नाम 'श्रीपर्वत' निश्चित किया गया है। यह अनुश्रुति बहुत पुरानी है कि सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु और विद्वान् नागार्जुन श्रीपर्वत पर चला गया था। उसकी मृत्यु यहीं पर हुई थी। इसी से उस पहाड़ी को आजतक नागार्जुनी कोंड कहते हैं। युवानच्वांग ने लिखा है कि नागार्जुन सातवाहन राजा के दरबार में रहता है। (हर्षचरित में भी बाण ने इसका उल्लेख किया है—"नागलोक से वासुकी से प्राप्त मोतियों की एक लड़ी मन्दाकिनी नामकी माला को लाकर अपने मित्र समुद्राधिपति सातवाहन नामके राजा को नागार्जुन ने दी थी। वही माला आचार्य दिवाकर ने हर्ष को दी थी)। नागार्जुन और सातवाहन की मैत्री का सम्बन्ध प्रसिद्ध है। नागार्जुन ने सातवाहन राजा को बौद्ध धर्म का सार एक पत्र में लिखकर भेजा था। सुहृल्लेख नामक उस पत्र का अनुवाद तिब्बती भाषा में सुरक्षित है।

सातवाहन काल दूसरी और तीसरी शताब्दी का है। नागार्जुन का समय भी इसी के आस-पास होना चाहिए। नागार्जुन सिद्ध थे, उनका निवास श्रीपर्वत था, इसलिए सिद्धि प्राप्ति के लिए वह महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा।[१] वज्रयान (महायान

---

[१] 'भगवति, सेदानीं सौदामिनी समासादिताश्चर्यमंत्रसिद्धप्रभावा श्रीपर्वते कापालिकव्रतं धारयति॥'—मालती माधव।

'अद्य किल भर्त्ता श्री पर्वतादागत्य श्रीखण्डनामधेयस्य धार्मिकस्य सकाशादकाल कुसुमसंजननदोहदं शिक्षयित्वात्मनः परिगृहीतां नवमल्लिकां कुसुमसमृद्धिशोभितां करिष्यतीति तत्रैवं वृत्तान्तं ज्ञातुं देव्या प्रेषितास्मि॥'—रत्नावलि २रा अंक।

१. महाभारत में, आरण्यपर्व में, श्री पर्वत का उल्लेख है—

'श्री पर्वतं समासाद्य नदीतीरमुपस्पृशेत्।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति॥

से निकला—बौद्ध वाममार्ग पन्थ) छठी ई० में आन्ध्र देश के श्रीपर्वत पर पहले पहल प्रकट हुआ। वज्रयान ने बुद्ध को वज्रगुरु बनाया। वज्रगुरु उसे कहते हैं, जिसे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हों। सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए अनेक गुह्य साधनाएँ करनी पड़ती थीं।

वाकाटक—समुद्रगुप्त की विजयों से प्राय: एक सौ बीस वर्ष पूर्व वाकाटक राज्य की नींव पड़ी। आजकल के पन्ना शहर के पास किलकिला नामक छोटी-सी नदी है, जो आगे केन में जा मिलती है। इस किलकिला प्रान्त में भारशिवों का एक सामन्त और सेनापति रहता था, जो विन्ध्यशक्ति के नाम से प्रसिद्ध था। यही वाकाटक या विन्ध्यवंश का था।

भारशिव साम्राज्य की सब शक्ति वाकाटकों के हाथ में चली गयी थी। भारशिव राज्य में मालवा प्रान्त, बघेलखण्ड से बस्तर तक का इलाका और दक्खिन कोशल का छत्तीसगढ़ था। वाकाटकों ने अब दक्षिण प्रदेश जीते। इससे सातवाहन, इक्ष्वाकु राजवंश (जिसका सम्बन्ध श्रीपर्वत से था) की समाप्ति हुई। वाकाटक और पल्लव वंश का आपस में बहुत सम्बन्ध था।

विन्ध्यशक्ति के बेटे प्रवरसेन ने ६० वर्ष तक राज्य किया, इसके समय साम्राज्य की बहुत उन्नति हुई। भारशिव सम्राट् भवनाग ने अपनी इकलौती बेटी प्रवरसेन के बेटे गौतमीपुत्र वाकाटक को दी थी और अपने दोहते को उत्तराधिकारी बनाया था। इस प्रकार से दोनों वंश एक हो गये। प्रवरसेन के पीछे जितने राजा हुए उन सब के नामों के पीछे सेन शब्द आता है। प्रवर सेन के बाद उसका पोता रुद्र सेन गद्दी पर बैठा था। रुद्रसेन प्रथम का पुत्र पृथिवी षेण हुआ। पृथिवी षेण की राजनीति, बुद्धिमत्ता वीरता और उत्तम शासन की बहुत प्रशंसा की जाती है। इसने कुन्तल के राजा को जीता था और इसकी कन्या से विवाह किया था। कुन्तल देश कर्नाटक देश (कदम्ब देश) का एक अंग था। इस पृथिवी षेण प्रथम के पुत्र रुद्र सेन द्वितीय का विवाह चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की कन्या प्रभावती से हुआ था। इस प्रभावती गुप्त का जन्म सम्राज्ञी कुबेरनागा के गर्भ से हुआ था, जो नागवंश की राजकुमारी थी।

श्री पर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः।
न्यवसत् परमप्रीतो ब्रह्मा च त्रिदशैर्वृतः॥' ८६।१६-१७.

आठवीं से ग्यारहवीं शती तक ८४ सिद्ध हो चुके थे। इनमें ही एक सिद्ध नागार्जुन था, जिसका सम्बन्ध वज्रयान से था। सिद्ध होने से इसे सिद्धियाँ प्राप्त थीं। इसने ही रसायनशास्त्र को जन्म दिया था। आयुर्वेद में रसशास्त्र का विकास इसी से हुआ।

वाकाटकों ने त्रिकूट, कुन्तल, आन्ध्र राजाओं पर विजय प्राप्त कर ली थी, भारशिवों से उत्तराधिकार में जो मिला था वह इससे अलग था। इनकी राजधानी का नाम चनका या कांचनका था। वाकाटकों में प्रवर सेन और रुद्र सेन ये दो बहुत प्रतापशाली हुए। यह निश्चित है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में ही पृथिवी षेण प्रथम और रुद्र सेन द्वितीय हुए थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने एक नयी नीति चलायी थी। जो राज्य किसी समय उसके वंश के शत्रु थे उनके साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करता था। इसी से उसने अपनी कन्या प्रभावती का विवाह वाकाटक शासक रुद्रदमन द्वितीय के साथ कर दिया था। कदम्ब राजा की एक कन्या का विवाह अपने वंश के एक राजकुमार से कर दिया था। स्वयं उसने अपना विवाह कुवेरनागा के साथ किया जो कि नाग राजकुमारी थी।

वाकाटकों का जिस भाग में प्रत्यक्ष शासन था, उसकी सीमा दक्षिण में कुन्तल की सीमा से मिलती थी। दक्षिण के आन्ध्र पल्लव भी वाकाटकों के समान भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। पल्लवों से पहले इक्ष्वाकु वंश राज्य करता था, इनकी राजधानी श्री पर्वत थी। सातवाहनों के पतन के बाद इनका अभ्युदय हुआ। समुद्रगुप्त ने पल्लवों को जीता था।

पृथिवी षेण का दूसरा पुत्र अपने पिता के पीछे गद्दी पर बैठा था। इसका नाम प्रवर सेन द्वितीय था। इसका पुत्र नरेन्द्र सेन आठ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा था। इसने योग्यता से शासन किया था। इसका विवाह कुन्तल के राजा की कन्या 'अज्झिता' के साथ हुआ था। इससे स्पष्ट है कि इसका कुन्तल पर प्रभाव था या उससे घनिष्ठ मैत्री थी।

इस प्रकार दक्षिण से सम्बन्ध विशेष रूप में वाकाटक काल में होता है। यही समय सुश्रुत संहिता का होना चाहिए क्योंकि इसमें दक्षिण देश का उल्लेख, बौद्धों के प्रति घृणा. ब्राह्मणों के प्रति विशेष आदर, वर्णभेद आदि बातें मिलती हैं।

सुश्रुत संहिता

सुश्रुत संहिता में उपदेष्टा काशिराज धन्वन्तरि हैं। श्रोता रूप में सुश्रुत-औपधेनव, वैतरणी, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित आदि हैं। सम्पूर्ण सुश्रुतसंहिता सुश्रुत को सम्बोधन करके कही गयी है। सुश्रुत के लिए 'वत्स' विशेषण प्रायः आता है (उपनिषदों में शिष्य के लिए सौम्य सम्बोधन प्रायः आता है)। सुश्रुत ने शल्यशास्त्र के अध्ययन की इच्छा प्रकट की थी, इसलिए धन्वन्तरि ने इसी अंग का उपदेश दिया। इस अंग की प्रमुखता का कारण भी बता दिया है, क्योंकि प्राक्काल में देवताओं,

असुरों के संग्राम में व्रणों का रोहण इसी चिकित्सा से हुआ था, यज्ञ का शिर भी इसी शास्त्र की सहायता से जुड़ा था। इस शास्त्र में यह विशेषता है कि इसमें उपचार बहुत शीघ्र हो जाता है। यंत्र, शस्त्र आदि से रोग को सीधा देखा जा सकता है; शेष काय-चिकित्सा आदि तंत्रों को भी इसकी अपेक्षा रहती है, इसलिए यह मुख्य है, इसी की शिक्षा दीजिए।

सुश्रुत के पाँच स्थानों में (सूत्र, निदान, शरीर, चिकित्सा और कल्प में) शल्य विषय ही प्रधान है; उत्तर तंत्र में कायचिकित्सा से सम्बन्धित ज्वर, कास आदि रोगों का वर्णन है। मुख्यतः इसका सम्बन्ध शल्य से है; इसी लिए कुछ लोगों ने 'धन्वन्तरि' शब्द का अर्थ ही शल्य में पारंगत किया है (धनुः शल्यं तस्य अन्तं पारमियर्त्ति गच्छतीति धन्वन्तरिः)।

वर्त्तमान उपलब्ध सुश्रुत का उपदेष्टा धन्वन्तरि है। धन्वन्तरि एक सम्प्रदाय है, जिसका सम्बन्ध शल्य शास्त्र से है। जो भी शल्यशास्त्र में निपुण होते थे, वे सब धन्वन्तरि शब्द से कहे जाते थे। इसी से चरकसंहिता में 'धन्वन्तरीयाणां' बहुवचन मिलता है। आदि उपदेष्टा धन्वन्तरि थे। उन्हीं के नाम से यह अंग कहा जाने लगा। इस सुश्रुत का प्रतिसंस्कर्त्ता डल्हण के अनुसार नागार्जुन है। नागार्जुन कई हुए हैं। अन्तिम नागार्जुन सातवाहन राजा का मित्र था, जिसका उल्लेख बाण ने अपने हर्षचरित में एक लड़ी मोतियों की माला के प्रसग में किया है। सातवाहन दक्षिण का राजा था। यह समय लगभग दूसरी शताब्दी के आसपास का है। इस समय प्राकृत का स्थान संस्कृत ने ले लिया था। ब्राह्मण धर्म का फिर से प्राबल्य हो गया था। बौद्ध धर्म के प्रति द्वेष हो गया था; जन्म से जाति का प्राधान्य हो गया था। इसी से सुश्रुत संहिता में ये बातें मिलती हैं; यथा—

सूतिकागार ब्राह्मण के लिए श्वेत, क्षत्रिय के लिए लाल; वैश्य के लिए पीली, और शूद्र के लिए कृष्ण मृत्तिका पर बनाना चाहिए। पलंग भी ब्राह्मण के लिए बिल्व का; क्षत्रिय के लिए न्यग्रोध (बरगद) का; वैश्य के लिए तिन्दुक का और शूद्र के लिए भिलावे की लकड़ी का बनाना चाहिए। (शा. अ. १०।५)।

२. अध्यापन के विषय में भी शूद्र के लिए मंत्र छोड़कर उपनयन करके आयुर्वेद का अध्यापन करने का उल्लेख एक आचार्य के मतरूप में दिया गया है। (शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मंत्रवर्जमुपनीतमध्यापयेदित्येके—सू. अ. २।५)।
३. औषध निर्माण हो चुकने पर उसकी पूजा करके ब्रह्मभोज कराने का उल्लेख है (चि. अ. ४।२९)। चरक संहिता में ऐसा उल्लेख नहीं आता।

चरक संहिता में इतना विस्तृत भूगोल नहीं है। चरक के समय भारत का इतना परिचय ऋषि को नहीं था। उनका विचरण पश्चिमोत्तर प्रान्त में ही रहा था। सुश्रुत के समय तक उत्तर भारत का सम्बन्ध दक्षिण से अच्छे प्रकार हो गया था; लोगों का परस्पर आवागमन व्यापार था; इसलिए सम्पूर्ण देश की जानकारी, कौन वस्तु, औषध कहाँ उत्पन्न होती है; इसका उल्लेख है। कश्मीर नाम भी चरक में नहीं है; वहाँ पर जातियों के नामों का उल्लेख है। केशर के लिए भी वाल्हीक ही नाम है ("वाह्लीकातिविषे विल्वं.।.." चि० अ० ३०।९१), आज भी ईरान से केशर आता है। कालिदास ने रघु के वर्णन में वाल्हीक के केशर का ही उल्लेख किया है (रघुवंश ४।६७)। केशर का नाम 'काश्मीर' जो पीछे आया है। सुश्रुत के समय कश्मीर नाम प्रसिद्धि में था। चरक में केसर के लिए कुंकुम और वाह्लीक ये दो ही शब्द आये हैं। सुश्रुत में भी केसर के लिए "काश्मीरम् या काश्मीरज" नहीं है; परन्तु काश्मीर शब्द है। भाव प्रकाश में केसर की उत्पत्ति कश्मीर में कही गयी है (कश्मीर-देशजक्षेत्रे कुंकुमं यद् भवेत् हितत्। भा० प्र०)।

देवगिरि, सह्याद्रि, श्रीपर्वत ये नाम महाभारत में भी हैं। सहदेव ने दक्षिण की विजय भी की थी। पाण्डच, चोल राजाओं के जीतने का उल्लेख है, परन्तु यह पीछे मिलाया हुआ पाठ है (सभा० २८।४८; भारत सावित्री पृष्ठ १४२ पर)। आन्ध्र सातवाहन युग में ही हमारा दक्षिण से विशेष परिचय हुआ है। उसी समय सुश्रुत का निर्माण हुआ, यह मानना अधिक समीचीन है।

सुश्रुत संहिता का ढांचा—इसमें भी एक सौ बीस अध्याय हैं। इस गणना में उत्तर तंत्र के अध्यायों को नहीं गिना गया। उत्तरतंत्र एक प्रकार का परिशिष्ट या खिल स्थान होता था; जो कि ग्रन्थ को पूर्ण करने के लिए था। यह संख्या मनुष्यों की आयु एक सौ बीस वर्ष मानकर है। हाथियों की भी आयु इतनी ही होती है। साठ वर्ष की आयु में हाथी पूर्ण युवा होता है; लोक में मनुष्य के लिए भी कहा जाता है, कि साठ वर्ष में मनुष्य को बुद्धि आती है (साठा सो पाठा, पका)[1]। सम्भवतः इसी से एक सौ बीस अध्याय बनाये गये हों।

---

१. "समाःषष्टिर्द्विघ्ना मनुज करिणां पंच निशाः"—(बृहत्संहिता)।
'भद्राणां षष्टिवर्षाणां प्रस्तुतानामनेकधा।
कुञ्जराणां सहस्रस्य बलं समधिगच्छति ॥' (सुश्रुत चि. अ. २९।१)।
भद्र जाति के हाथी श्रेष्ठ होते हैं (ईदृशो भद्रजातिस्यात् कुञ्जरो विजयावहः—

संहिता का विभाग—सूत्रस्थान में ४६ अध्याय; निदान-स्थान में १६; शारीर स्थान में १०; चिकित्सास्थान में ४०; कल्पस्थान में ८; और उत्तर तंत्र में ६६ अध्याय हैं। उत्तरतंत्र को छोड़कर मुख्य शल्यतन्त्र शेष अध्यायों में वर्णित है।

सुश्रुत का प्रवक्ता एक राजा है; इसीलिए इस प्रवचन में अभिमान है (अहं धन्वन्तरिरादिदेवो—सू० १।३१); आयुर्वेद का दान करने के लिए माँगनेवालों के लिए—अर्थिभ्यः—याचकों के लिए देना कहा है। चरक संहिता या अन्य संहिताओं में ऐसे वचन नहीं मिलते; अपितु रोग शान्ति के उद्देश्य से—आरोग्य के हेतु इसका प्रचार मिलता है। काशिराज का उपदेश एक ही स्थान पर बैठकर है स्थान-स्थान विचरण करते हुए नहीं है। इस समय अध्ययन उपनिषद् की भाँति अन्तेवासी रूप में होता है; चरकों की भाँति नहीं होता, जो कि गुरु के साथ घूम-घूम कर विद्याध्ययन करते थे।

सुश्रुत में चरक संहिता के समान ऋषि समूह के साथ विचार विनिमय; ऋषियों के भिन्न-भिन्न मत नहीं मिलते। न इसमें न्याय, वैशेषिक, योग आदि दर्शनों का चरक जितना उल्लेख मिलता है। सांख्य मत से पुरुष की उत्पत्ति बतायी गयी है। इन्द्रियों को पंच महाभूतों से सम्बद्ध माना है। सांख्य में इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानी गयी है (सांख्यकारिका २२—प्रकृतेर्महांस्ततोहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः) सांख्य में वैकारिक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पंच तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। सुश्रुत में पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति भूतादि अहंकार से मानी गयी है। यह दोनों में भेद है।

सुश्रुत के समय में भी भिन्न-भिन्न वाद प्रचलित थे। वैद्यक शास्त्र में इन सब वादों का उपयोग किया गया है। भिन्न-वाद—

'स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा।
परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः।' (शा. अ. १।११)

स्थूल बुद्धिवाले प्रकृति को भिन्न-भिन्न रूप में समझते हैं। कोई इसको स्वभाव रूप में जानता है; कोई इसका कर्त्ता ईश्वर मानता है; कोई काल, कोई यदृच्छा अपने आप बनी रहती है। कोई इसे नियति, भाग्य का परिणाम गिनता है और कोई इसे परिणाम रूप मानता है। आयुर्वेद में इन सब मान्यताओं का उपयोग कहीं पर मिलता है, यथा—काँटों में तीक्ष्णता; मृत-पक्षियों में चित्र-विचित्र रंग स्वभाव का परिणाम है। मनुष्य जड़ है। आत्मा सुख-दुःख का स्वामी है; यह ईश्वर की

मानसोल्लास अ. ३।४।२३०); इसका यौवन साठ वर्ष में आता है; इसकी आयु १२० वर्ष होती है। यौवनकाल वय का मध्यकाल है।

सत्ता बताता है। सृष्टि का प्रलय ऋतु चक्र यह काल से होता है। तृण और अरणी के संयोग से अग्नि की उत्पत्ति यदृच्छा है। उत्पत्ति में धर्म-अधर्म को कारण मानना नियति वाद है। प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार की उत्पत्ति परिणाम-वाद है।

शल्य तंत्र का क्रियात्मक ज्ञान से सम्बन्ध अधिक होने के कारण इसकी शिक्षा देने के लिए "योग्यासूत्रीय" अध्याय सुश्रुत में दिया गया है। इसमें किस कर्म का किस वस्तु पर अभ्यास करे, इसका विशेष उल्लेख है; यथा—कूष्माण्ड, दूधी, तरबूज, खीरा, ककड़ी आदि वस्तुओं में छेदन कर्म का अभ्यास दिखाना चाहिए। ऊपर को काटना, नीचे को काटना आदि कार्य भी इन्हीं पर दिखाना चाहिए। मश्क, वस्ति, प्रसवेक (चमड़े की थैली) आदि पानी एवं कीचड़ से भरी वस्तुओं में भेदन कर्म दिखाये। बालवाली खाल पर लेखन कार्य को; मरे हुए पशुओं की सिराओं में तथा कमलनाल में वेधन कर्म को दिखाये। घुण से खायी लकड़ी में, सूखी तुम्बी के मुख में एषण कार्य को; कटहल, बिम्बी, बिल्वफल की मज्जा में एवं मृत पशु के दाँतों में आहर्य कार्य को दिखायें। सूक्ष्म-घट्ट दो वस्त्रों में; कोमल त्वचाओं में सीवन कार्य का अभ्यास करायें। पुस्त (मिट्टी या लकड़ी के बने मौडल), के अंग-प्रत्यंगों पर पट्टी का अभ्यास करना चाहिए। मृदु मांस के टुकड़ों पर अग्नि और क्षार का अभ्यास करायें। (सू० अ० ९।४)।

शवच्छेद सीखने का भी उपाय बताया गया है। शल्य शास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान विना संशय के जाननेवाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह मृत शरीर का शोधन करके अंगप्रत्यंग का निश्चय करे। जो वस्तु आँख से पृथक् देख ली जाती है, शास्त्र से भी जिसे समर्थन प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार दोनों प्रकार से जानना ही ज्ञान को बढ़ाता है। इसलिए संपूर्ण अंगोंवाले, विष से न मरे हुए, बहुत लम्बी बीमारी से न मरे, एक सौ वर्ष की आयु से कम व्यक्ति के शव में से आंत्र और पल निकाल कर पुरुष के शव को बहते हुए जलवाली नदी में पिञ्जरे के अन्दर मूंज, वल्कल, कुश, सन आदि से लपेटकर एकान्त स्थान में रखकर गलायें। भली प्रकार नरम हो जाने पर इसको निकालकर सात दिन तक खस, बाल, बाँस, वल्वज की बनायी किसी एक कूर्च्ची (ब्रश) से धीरे-धीरे रगड़ते हुए त्वचा से लेकर अन्दर और बाहर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग को देखना चाहिए (शा० अ० ५।४७-४९)।

व्रणितागार (अस्पताल)—रोगी के लिए सबसे प्रथम एक घर चाहिए। इसमें रोगी की शय्या, पीडारहित, असंकुचित (पर्याप्त लम्बी-चौड़ी), सुन्दर गद्देवाली, रमणीय होनी चाहिए। शय्या का सिरहाना पूर्व की ओर रखना चाहिए। इस

पर शस्त्र रखना चाहिए ।[1] इस शय्या के पास मित्र लोग नयी-नयी बातें सुनाकर रोगी के व्रण की तकलीफ दूर करते रहें, ये मित्र उसे बराबर सान्त्वना देते रहें।

रोगी के पास स्त्रियों का जाना (स्त्री परिचारिकाएँ) निषिद्ध किया गया है। विशेषतः गम्य, ग्राम्यधर्म के योग्य स्त्रियों का दर्शन, इनके साथ बात-चीत, इनका स्पर्श सर्वथा ही छोड़ देना चाहिए (अगम्य स्त्रियों का तो प्रश्न ही नहीं)। क्योंकि कभी अकस्मात् स्त्रीदर्शन से शुक्रस्राव हो जाय तो ग्राम्यधर्म के बिना भी वे विकार उत्पन्न हो जाते हैं। (सू० अ० १९।१४–१५)।

रोगी के खान-पान का विधान बताकर उसकी आधिदैविक चिकित्सा भी कही गयी है। यह आधिदैविक चिकित्सा मन की तथा शरीर की पवित्रता से सम्बन्ध रखती है। रोगी को नख और बाल कटाकर साफ श्वेत वस्त्र धारण करके रहना चाहिए। मन की शान्ति, मंगल, देवता, ब्राह्मण, गुरु की आज्ञा में सदा तत्पर रहना चाहिए। यह सब इसलिए है कि हिंसा में रुचि रखनेवाले, बड़े शक्तिशाली, महेश, कुबेर, कार्तिकेय की आज्ञा पालन करनेवाले राक्षस मांस एवं रक्त की चाह से व्रणी रोगी के पास आते हैं। इनके आने का उद्देश्य पूजा प्राप्त करना या गतायुष को मारना है। ये अनुचर जितेन्द्रिय, सावधान पुरुष को नहीं मार सकते। इसलिए सुन्दर घर में (साफ घर में) मंगल, सुन्दर, अनुकूल कथाओं को सुनता रहे (यह सब कृमि, जर्म्स के लिए कहा गया है; संग्रह में इनको भूत शब्द से कहा है। संग्रह, उत्तर १७) जर्म्स की एक ही प्रवृत्ति है, केवल आहार प्राप्त करना। दूसरा इनको कोई कार्य नहीं; आहार भी मांस, रक्त, वसा का ही है। सदा ये अन्धकार में रहते हैं। (आधी रात में या अन्धकार में आक्रमण करते हैं)। इनसे बचाने के लिए रोगी में आत्मबल, मनोबल लाने के लिए यह उपचार है।

यंत्रशस्त्र—शस्त्र कर्म के उपयोगी साधनों को यंत्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, जलौका के रूप में चार अध्यायों में वर्णन किया है। यंत्रों की संख्या एक सौ एक बतायी गयी है। इनमें प्रधान यंत्र हाथ ही है। मन और शरीर में जिससे कष्ट पहुँचे उसे शल्य

---

१. प्रसवकाल में सूतिका के सिरहाने या उसके पास लोहे की कोई वस्तु कैंची, चाकू, कील आदि रखने का रिवाज आज भी है। सम्भवतः अकेला रहने पर रोगी कभी स्वप्न में या अन्य प्रकार से डर जाय तब शस्त्र पास में रहने से थोड़ा-सा बल मिले इसलिए यह सुविधा की ~~ो हो।

कहते हैं (सुश्रुत के मत से शोक और चिन्ता भी शल्य हैं)। इन शल्यों को निकालने के लिए यंत्र है।

यंत्र छः प्रकार के हैं—स्वस्तिक, संदेश, ताल, नाड़ी, शलाका और उपयंत्र। यंत्रकर्म चौबीस प्रकार के हैं, परन्तु चिकित्सक को चाहिए कि अपनी बुद्धि से और भी कर्मों को सोच ले। यंत्रों में बारह दोष होते हैं; यथा—बहुत मोटा होना, सार न होना (टूट जाना, कमजोर), बहुत लम्बा, बहुत छोटा, पकड़ में न आना, कठिनाई से पकड़ा जाना, टेढ़ापन, ढीला रहना, बहुत उठा होना, जोड़ का ढीला होना, कोमल मुख; पकड़ ढीली रहना—ये बारह दोष यंत्रों के हैं।

शस्त्रों की संख्या बीस है। ये सब शस्त्र अच्छी पकड़वाले, अच्छे लोहे के, उत्तम धारवाले, देखने में सुन्दर जिनके मुख आपस में ठीक तरह मिलते हों, भयानक डरावने नहीं होने चाहिए। शस्त्र का टेढ़ा, कुण्ठित, टूटा हुआ, खुरदुरी धारवाला (आरी के समान), बहुत मोटा; बहुत छोटा, बहुत लम्बा; बहुत तुच्छ होना दोष है। इनमें आरी का खुरदरी धारवाला होना अच्छा है।

शस्त्रों की धार चार प्रकार की होती थी। भेदन कार्य में आनेवाले शस्त्रों की धार मसूर के पत्ते के समान मोटी; लेखन काम के शस्त्रों की धार मसूर के पत्ते की मोटाई से आधी; वेधनशस्त्रों की धार तथा विस्रावण शस्त्रों की—बाल के समान, छेदनशस्त्रों की धार आधे बाल के समान होती थी। इन शस्त्रों की पायना (पानी चढ़ाना) तीन प्रकार की है; क्षार में, पानी में और तेल में। शस्त्रों को तेज करने के लिए चिकनी शिला होती है। इसका रंग उड़द के समान काला, धार को सुरक्षित रखने के लिए सिम्बल के डिब्बे होते हैं (विनयपिटक में भी इस प्रकार के डिब्बे, थैलों का उल्लेख भिक्षुओं के लिए कहा गया है)।

शस्त्र की तीक्ष्णता की पहचान—जब अच्छी प्रकार से तेज किया शस्त्र बाल को काट सके; अच्छी प्रकार बना हो; ठीक प्रकार से उचित रूप में बना हो; तब उचित रूप में पकड़कर काम में लगाना चाहिए। इन शस्त्रों को बढ़िया लोहे से बनाना चाहिए। इसके लिए अपने कर्म में होशियार; लुहार से तीक्ष्ण शुद्ध लोहे के शस्त्र बनवाने चाहिए।

क्षार, अग्नि और जलौका के लगाने-बनाने रखने आदि के विषय में पूर्ण जानकारी दी गयी है। इसके आगे कर्णबन्धन के विषय में उल्लेख है। कर्णबन्धन का विषय आगे भी चिकित्सा स्थान में (चि० अ० २५ में) आया है। ऐसा पता चलता है कि इस समय कर्णवेधन पर तथा कान की पालि लम्बी करने की प्रथा बहुत विस्तृत रूप में

थी। कान की पाली को बढ़ाने के लिए इसमें छेदन करके इसमें वर्धनक—छल्ले पहनाय जाते थे। इन छल्लों से कई बार पाली कट जाती थी। इस पाली को जोड़ने के लिए पन्द्रह प्रकार के बन्धन तथा तैल आदि बताये गये हैं[1]। कानों के बढ़ाने का विस्तृत उल्लेख, इसमें होनेवाले उपद्रव, इनका प्रतिकार सुश्रुत में जितने विस्तार से है, इतने विस्तार से इससे पूर्व की और इससे पीछे की संहिताओं में नहीं है।

प्लास्टिक सर्जरी—इसी प्रसंग में अन्य स्थान से मांस काटकर या कपोल के मांस से नाक बनाने का उल्लेख है।[2] नासासन्धान विधि के अनुसार ओष्ठसन्धान विधि का भी उल्लेख है। इस प्रसंग से स्पष्ट है कि कर्णवेधन की भाँति नासिकावेधन करके इनमें आभूषण पहने जाते थे। सम्भवतः ओठ में भी पहने जाते हों, या जन्म से अथवा किसी अन्य प्रकार से इनका छेदन होने पर इनके बनाने की विधि का उल्लेख है। चिकित्साशास्त्र में सुश्रुत के अन्दर ही सबसे प्रथम लिखित प्रमाण इस सम्बन्ध मे मिलता है।

सुश्रुत में अश्मरी, अर्श, उदररोग, मूढ़ गर्भ तथा व्रणों के उपक्रम आदि चीर फाड़ सम्बन्धी जानकारी स्पष्ट रूप से दी गयी है। भयंकर शल्य कर्मों में—जहाँ पर प्राणों का संशय हो, वहाँ पर उत्तरदातृत्व पूर्ण व्यक्ति की रजामन्दी लेकर—अन्यों को (राजा को) सूचित करके शस्त्र कर्म करना चाहिए; जिससे पीछे अपयश न मिले। शस्त्र कर्म करने से पूर्व तथा शस्त्रकर्म के समय तथा इसके पीछे के लिए जो आवश्यक सूचनाएँ हैं, उन सब के विषय में सूचना दी गयी है।

---

१. सुश्रुत में 'शूक रोग' नाम से एक रोग का उल्लेख है। शूक एक प्रकार का कीड़ा है, जिसके शरीर पर बाल-बाल होते हैं। इसका उपयोग लिंग, कान आदि बढ़ाने के लिए अन्य वस्तुओं के साथ किया जाता था (सू. नि. अ. १४।४)। इसके उपयोग से रोग होते थे। कानों की पाली बढ़ाने का रिवाज था। यथा—

'लोध्रकासीसमातंगबलाकल्कैस्तिलोद्भवम्।
तैलं संसाधितं लिंगयोनिकर्णविवर्धनम्॥' (अनंग रंग)

२. 'विश्लेषितायास्त्वथ नासिकाया वक्ष्यामि सन्धानविधिं यथावत्।
नासाप्रमाणं पृथिवीरुहाणां पत्रं गृहीत्वा त्ववलम्बितस्य॥
तेन प्रमाणेन हि गण्डपार्श्वादुत्कृत्य बद्धत्वचं नासिकाग्रम्।
विलिख्य चाशु प्रति संदधीत तत् साधु बन्धैर्भिषगप्रमत्तः।' (सु. सू. अ. १६।२७।२८)

कल्पस्थान में राजाओं की रक्षा विष से कैसी करनी चाहिए, विष का प्रयोग किन-किन स्थानों से और किस-किस प्रकार हो सकता है, इसकी पूरी जानकारी दी गयी है। रसोईघर का प्रबन्ध, भोजन की परीक्षा, धूप, वायु, मार्ग, जल, वस्त्र, माला, खड़ाऊँ, कंघी आदि में विष प्रवेश होने पर इनकी सफाई कैसे करनी चाहिए—ये सब बातें विशेष रूप से लिखी गयी हैं। इस प्रकरण में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि वायुमण्डल में जब विषसंचार हो तो नगाड़े (दुन्दुभि) पर अगद (विष नाशक औषधियाँ) का लेप करके इसे बजाना चाहिए। इसके बजाने से जो शब्द वायु में गति उत्पन्न करता है, उससे वायु का विष नष्ट होता है; जहाँ तक इसकी आवाज जायगी वहाँ तक विष नष्ट हो जायगा।[1]

इसी संहिता में ग्रहों के नाम, उनकी उत्पत्ति तथा अन्य जानकारी सबसे प्रथम सामने आती है। ग्रहों की पूजा जो कि सम्भवतः पहली या दूसरी शताब्दी के समय चली थी, इसमें पूर्ण रूप से दी गयी है। ग्रहशान्ति के लिए बलि, चतुष्पथों पर स्नान आदि कर्म बताये गये हैं। भिन्न-भिन्न ग्रहों की पूजा वर्णित है, नवग्रह पूजा का उल्लेख सुश्रुत में ही है। चरकसंहिता में पूतना का नाम है; परन्तु सुश्रुत में पूतना, अन्ध पूतना, शीत पूतना तीन नाम हैं। चरक में इस नाम को लेकर बच्चे को डराना मना किया है (शा० अ० ८)।

ग्रहों के अतिरिक्त अमानुषोपसर्ग प्रतिषेध अध्याय में (उत्तर० अ० ६३)—निशाचरों के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख है। इसमें अदृश्य वस्तु का भविष्य ज्ञान; उसकी अस्थिरता, मनुष्यों से अधिक क्रिया जिस रोगी में मिलती है उसे ग्रह से आक्रान्त बताया गया है। यह ग्रह विज्ञान सुश्रुत में सबसे प्रथम मिलता है। इसके आगे इसी समय की काश्यप संहिता में विस्तार से देखने में आता है।[2]

---

१. 'एतेन भेर्यः पटहाश्च दिग्धा नानद्यमाना विषमाशु हन्युः।
दिग्धाः पताकाश्च निरीक्ष्य सद्यो विषाभिभूता ह्यविषा भवन्ति॥'
(सु. क. अ. ५।७२).

'अनेन दुन्दुभिं लिम्पेत् पताकां तोरणानि च।
श्रवणाद् दर्शनात् स्पर्शात् विषात् संप्रतिमुच्यते॥' (क. अ. ६।४).

२. काश्यप संहिता में रेवती को ही 'षष्ठी', 'धरणी', मुखमण्डिका कहा गया है। आज जो छठी की पूजा चलती है जिसका बाण ने भी कादम्बरी में उल्लेख किया है, वह यही षष्ठी-रेवती है। 'धरणी' नाम बौद्ध साहित्य में देवता का है।

सुश्रुतसंहिता का मुख्य सम्बन्ध शल्य शास्त्र से है। शल्य चिकित्सा में जीवाणु एक मुख्य वस्तु है; इनको संहिता में निशाचर रूप से व्यक्त किया गया है। इनके कार्य को ठीक प्रकार से न समझने पर, इनका प्रत्यक्ष ज्ञान न होने पर इनको ग्रह, देवता से सम्बद्ध बताया गया है। जहाँ भी विचित्रता तथा मनुष्य से अधिक पराक्रम-प्रवृत्ति देखने में आयी उसे देवता या ग्रह के साथ जोड़ा गया है। यह प्रथा चरक में नहीं है।

सुश्रुत के टीकाकार—सुश्रुत की टीका श्री जैज्जट ने की थी। ऐसा उल्लेख डल्लन और मधुकोश की व्याख्या से ज्ञात होता है। जैज्जट नाम कैयट, मम्मट की भाँति टकारान्त होने से इनको कश्मीर का बताया गया है। यह वाग्भट के शिष्य थे।

सुश्रुत के दूसरे टीकाकार गयदास थे। इनकी टीका का नाम पंजिका था। डल्लन ने बार-बार गयदास का नाम लिखा है। गयदास के पाठ का अनुकरण किया है। गयदास जैज्जट के पीछे डल्लन से पूर्व लगभग सातवीं या आठवीं शती में हुए थे ? गयदास की टीका पंजिका या न्यायचन्द्रिका का निदानस्थान की १९३८ की तृतीय आवृत्ति में निर्णय सागर प्रेस से छपी है। बहुत स्थानों पर डल्लन की टीका से अधिक स्पष्ट और विस्तृत है। गयदास की शरीरस्थान की टीका भी है, ऐसा सुनने में आता है।

डल्लन—डल्लनाचार्य या डलणाचार्य मथुरा प्रदेश के रहनेवाले थे, ऐसा कविराज गणनाथ सेन जी का कहना है। ये दसवीं शती के पास हुए थे। मथुरा के पासवाले भादानक देश के भरतपाल नामक वैद्य के पुत्र और सहपाल राजा के प्रीतिपात्र थे। सहपाल राजा मथुरा प्रदेश के किसी भाग का सामन्त था। डल्लन ने इसको भादनक नाथ कहा है। यह सहपाल भारत के इतिहास में प्रसिद्ध बंगाल के पालवंश का सम्भवतः महीपाल का पूर्वज होगा; ऐसी मान्यता गणनाथ सेन की है। पाल राजाओं की सत्ता दसवीं-ग्यारहवीं शती में बंगाल से बाहर भारत में भी फैल चुकी थी, यह इतिहास प्रसिद्ध है। सम्भवतः इनमें से किसी का सामन्त हो।

चक्रपाणिदत्त ने डल्लण का नाम अपनी टीका में नहीं लिखा; परन्तु इसके मत का खण्डन किया है। चक्रपाणिदत्त का समय ग्यारहवीं शती का है। इससे डल्हण चक्रपाणि से पहले दसवीं शती में हुए होंगे। यह मानना सही है। गणनाथ सेन जी के मत से चक्रपाणिदत्त ने डल्हण का मत बिना नाम लिए बहुत उद्धृत किया है। इसलिए आगे लिखा हालदार का मत चिन्तनीय है।

डल्हण की टीका में सरलता, प्राचीन पाठों का संग्रह, विद्यार्थियों के लिए उपयोगी टीका है। भानुमती टीका में जो कि चक्रपाणिदत्त की है, पाण्डित्य अधिक है।

इसी से डल्हण की टीका निबन्ध संग्रह का प्रचार सबसे अधिक है। यही सुश्रुत की सम्पूर्ण टीका है।

डल्हण ने अपनी टीका में जैज्जट, गयदास के उपरान्त पंजिककार भास्कर, टिप्पनकार माधव तथा ब्रह्मदेव का उल्लेख किया है। कार्त्तिक या कार्तिक कुंड; सुधीर; सुकीर का उल्लेख है। इसके सिवाय टिप्पणीकार लक्ष्मण का नाम कहीं पर मिलता है। इस समय सुश्रुत पर डल्हण की ही सम्पूर्ण टीका मिलती है; गयदास और चक्रपाणिदत्त की अपूर्ण है।

चक्रपाणिदत्त की टीका का नाम भानुमती है। इसका नाम तात्पर्यतिका भी है। इस टीका में चक्रपाणि ने भट्टार हरिचन्द्र के बहुत से उद्धरण दिये हैं। सरस्वती-भवन पुस्तकालय, बनारस में भानुमती टीका सम्पूर्ण रूप में थी। वह ब्रिटिश म्यु-जियम में चली गयी है। (डाक्टर पी० चटर्जी डी० एस० पी०), चक्रपाणि दत्त ने सुश्रुत के रक्तसंचार के सिद्धान्त पर बहुत ही विशद वर्णन लिखा है, (सम्भवतः इसी को श्री हाराण चन्द्र कविराज जी ने अपनी टीका में 'तन्त्रान्तरे' के नाम से उद्धृत किया है। इसमें रक्तसंचार का वर्णन आधुनिक रूप में मिलता है; यथा—'चतुः-प्रकोष्ठं हृदयं वामदक्षिणभागतः। तस्याधो दक्षिणौ कोष्ठौ गृहीत्वाऽशुद्धशोणितम्॥' इत्यादि)।

टीकाकारों के विषय में श्री गुरुपद शर्मा हालदार ने अपने ग्रन्थ वृहत्त्रयी में अच्छा विवेचन किया है। इसमें बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिनके विषय में अभी विचार विनिमय की पर्याप्त गुंजाइश है। संक्षेप में उनकी विवेचना का आधार भी डल्हण की टीका है; जिसमें उसने पूर्व के टीकाकारों का मत या नाम उल्लेख किया है। (यह तिथि नाम का क्रम सन्दिग्ध है केवल टीकाकारों की जानकारी के लिए लिखा है) यथा—

१. डल्हण ने विप्रचण्डाचार्य का मत लिखा है; कीथ ने इसको प्राकृत प्रकाशक के कर्त्ता वररुचि के समय का माना है जिससे स्पष्ट है कि पाँचवीं-छठीं शती में यह जीता था।
२. सातवीं या आठवीं शती में वंग देश के समीपवर्त्ती शिलाह्रद ग्राम में माधवकार ने प्रश्न सहस्रविधान नामक अन्य सुश्रुत श्लोक वार्त्तिक बनाया था। प्रोफेसर विल्सन ने 'दी मैटेरिया मैडिका औफ दी हिन्दूज़' की भूमिका में लिखा है कि आठवीं सदी में हारून और मेसूर के राज्यकाल (७७३ ईस्वी) में चरक, सुश्रुत निदान का अरबी भाषा में अनुवाद हो चुका था। यह अनुवाद मूल भाषा से किया गया था अथवा पारसी भाषा में किये अनुवादों से उलथा किया गया, इसको

निश्चित रूप से नहीं कह सकते। श्री डाक्टर पी० सेरे ने भी अपनी पुस्तक 'दी हिस्ट्री आफ हिन्दू कैमिस्ट्री' में इसका समर्थन किया है। यह भी पता चलता है कि खलीफा हारुण-अल-रसीद की सभा में मंका नाम का राजवैद्य और अल्बेरूनी नाम का वैयाकरण रहता था। इन्होंने माधवनिदान का अनुवाद अरबी भाषा में किया था।

३. नवीं या दसवीं शती के बीच में 'कार्त्तिक कुण्ड' नाम के किसी वैद्य ने सुश्रुत की टीका लिखी थी। यह सुना जाता है कि सिद्धयोग का प्रणेता वृन्द कुण्ड इनका ज्ञातिबन्धु था। कार्तिक कुण्ड ने चरक की भी टीका लिखी है।

४. नवमी शती जैज्जट का समय है (वास्तव में जैज्जट का समय वाग्भट के साथ ही है जो सम्भवतः ५वीं शती के आसपास है); इसने भी सुश्रुत की टीका लिखी थी, जो कि बहुत प्रामाणिक थी। श्री हालदार महोदय जैज्जट और जज्जट को भिन्न मानते हैं। इस दृष्टि से जज्जट का नवीं शताब्दी में होना सम्भव हैं।

५. दसवीं शताब्दी में सुवीराचार्य ने सुश्रुत संहिता की व्याख्या लिखी थी। निश्चल ने चिकित्सा संग्रह टीका रत्नप्रभा में लिखा है 'तत्र सुविस्तरं सुवीरजेज्जटौ जल्पितवन्तौ, तदसारमिति चन्द्रिकाकारः (गयदासः)। इससे स्पष्ट होता है कि सुवीर ने भी कोई व्याख्या की थी।

६. दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में भास्कर भट्ट ने सुश्रुत पञ्जिका लिखी थी। पञ्जिका का अर्थ हेमचन्द्र ने "टीका निरन्तरा व्याख्या पञ्जिका पदभञ्जिकेति" किया है। अमरकोष की टीका में रघुनाथ ने पंजिका का अर्थ 'टीका ग्रन्थस्य विषमपदव्याख्यायिका समस्तपदव्याख्यायिका तु पञ्जिकेति" ॥ पंजिका व्याख्या अब नहीं मिलती। परन्तु १६५६ ईस्वी में कवीन्द्राचार्य की ग्रन्थ सूची में इसका नाम मिलता है।

७. दसवीं और ग्यारहवीं शती में गयदास हुए हैं। गयदास को चन्द्रिकाकार भी कहा जाता है। इनकी टीका की बहुत प्रसिद्धि थी। इनकी टीका के नाम बृहत् पंजिका, न्याय चन्द्रिका आदि थे। रत्नप्रभा में निश्चल ने लिखा है—"गौड़ेश्वरान्तरङ्ग श्री गयदासेन दर्शितम्"। सम्भवतः गौडाधिपति महीपाल के ये राजवैद्य थे। चक्रपाणि महिपाल के पुत्र नयपाल के प्रधान मंत्री थे। इनकी लिखी केवल निदान स्थान की पंजिका मिलती है।

८. तीसट के पुत्र चन्द्रट ने भी सुश्रुत की पाठ-शुद्धि की थी ('सुश्रुते पाठशुद्धिञ्च तृतीयां चन्द्रटो व्यधात्')। यह न तो व्याख्याकार थे और न प्रतिसंस्कर्त्ता।

९. ग्यारहवीं शताब्दी में कुमार भार्गवीय ग्रन्थ के कर्त्ता भानुदत्त के कनिष्ठ भ्राता चक्रपाणिदत्त ने सुश्रुत संहिता की भानुमती टीका की थी। टीका के नाम से भानु के साथ इसका सम्बन्ध ज्ञात होता है। डल्हण का समय इससे पूर्व मानना ठीक है। उसने भानुमती टीका का उल्लेख नहीं किया। हालदार का मत इस सम्बन्ध में संदेहात्मक है।

१०. ग्यारहवीं शताब्दी में ब्रह्मदेव ने सुश्रुत पर टिप्पणी और व्याख्या लिखी थी। डल्हण ने ब्रह्मदेव का नाम अपनी व्याख्या में लिखा है।

११. वंगसेन के पिता गदाधर ने सुश्रुत संहिता पर एक व्याख्या लिखी थी। इनका समय ग्यारहवीं शती है। माधवनिदान की मधुकोष टीका में विजयरक्षित ने निदान की व्याख्या इनके नाम से दी है। इन्होंने चिकित्सासार संग्रह (वंगसेन) बनाना प्रारम्भ किया था; परन्तु पूरा नहीं किया। इसको वंगसेन ने समाप्त किया।

१२. ग्यारहवीं और बारहवीं शती में किसी समय गयीसेन ने सुश्रुत की व्याख्या लिखी थी। ये वंगदेशवासी विषपाड़ा ग्राम में रहते थे (एकः पुनर्गयीसेनो भेदेनैव चतुर्विधः। विषपाडाभवः श्रेष्ठस्तिकायिपुरजस्तथा॥ भरत मल्लिक के वैद्यकुल से)।

१३. तेरहवीं शताब्दी में डल्लणाचार्य ने निबन्धसंग्रह की व्याख्या लिखी थी। वैद्य समाज में इसका बहुत आदर है। डल्लण और डल्हण पर्य्याय है। डल्लण ने टीका में वंगभाषा के कुछ नाम दिये हैं; जिनसे ज्ञात होता है कि ये वंगभाषा को जानते थे। यथा—बन्धूकः, बांदुली (६३ पृ०); पनसः, काटल (४४८ पृ०); तरक्षुः, जरख (४७९); अश्वतरः, वेसर (४७३ पृ०); पानीयविडालः, भोदब्र (४७५); शम्बूकः, शामूक (४७७ पृ०)। डल्हण का समय चक्रपाणि-दत्त से पहले दसवीं शती है। इसने भानुमती टीका का उल्लेख नहीं किया है।

१४. १९०५ ईस्वी में गंगाधर के शिष्य श्री हारायण चन्द्रजी ने सुश्रुत की टीका लिखी थी। इसे १९१७ में पूरा किया।[१]

श्री हालदार महोदय ने सुश्रुत के उत्तर तंत्र को प्रतिसंस्कर्त्ता का बनाया हुआ माना है। इसके विषय में जो विवेचना की है, वह हृदयंगम नहीं है। आयुर्वेद ग्रन्थों

---

१. हालदार महोदय का मत अनिर्णीत है। डल्हण चक्रपाणि से पहले दसवीं शती में हुए हैं। उन्होंने भानुमती या दूसरों की टीका का उल्लेख नहीं किया, यही प्रमाण उनको दसवीं शती का बताता है।

में उत्तर तंत्र, उत्तर स्थान, या खिलस्थान नाम से परिशिष्ट रूप में भाग मिलते हैं; जिनमें कि मुख्य भाग से बचे विषयों का सामान्य रूप से वर्णन किया जाता है। हार्नले महोदय का जो वचन प्रमाण रूप में दिया गया है, वह केवल कल्पना मात्र है। 'बृहत् सुश्रुत' इस नाम की संगति जोड़ने के लिए ही कल्पस्थान में यह नाम देकर उत्तर तंत्र को 'यवीय सुश्रुत' या सुश्रुत कह दिया है, जिसकी कोई संगति नहीं। ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक (सहोत्तरं त्वेदधीत्य सर्वं ब्राह्मं विधानेन यथोदितेन। न हीयतेऽर्थान् मनसोऽभ्युपेतादेतद्वचो ब्राह्ममतीव सत्यम्॥ उत्तर० अ० ६६।१७)। इसमें एक सौ बीस संख्या मुख्य ग्रंथ की है; उत्तर तंत्र तो परिशिष्ट होने से उसके अध्यायों की गणना नहीं है। यह आज की परिपाटी से भी ठीक है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में एक सौ बीस अध्यायों की एक परम्परा है, जो सुश्रुत के मुख्य भाग में भी निभायी गयी है।

विलुप्त तंत्र और संहिताएँ

आयुर्वेद के आठ अंग हैं। इन अंगों पर पृथक्-पृथक् तंत्र बने थे। कुछ संहिताएँ जिस शाखा में बनी थीं, उसी ऋषि के नाम पर प्रसिद्ध हुईं। प्राचीनकाल में शिक्षा पद्धति का विकास चरणों और शाखाओं में हुआ है; इसीसे आयुर्वेद के पर्यायों में शाखा और सूत्र में पर्याय रूप से दिये गये हैं (तत्रायुर्वेदः शाखा, विद्या, सूत्रं, ज्ञानं, शास्त्रं, लक्षणं तन्त्रमित्यनर्थान्तिरम्—सूत्र अ० ३०।३१)। शाखा और चरण का नाम ऋषि के नाम में होता था। एक शाखा या एक चरण में कई विषयों के ग्रन्थ बनते थे, और ये सब ग्रन्थ उसी शाखा या चरण के नाम से कहे जाते थे। एक प्रकार से ये शाखा और चरण उस समय के ज्ञान के विद्यापीठ थे (जिस प्रकार आज एक ही विश्व-विद्यालय में कई विषयों की पढ़ाई होती है, और उसके सब स्नातक उसी विद्यापीठ के नाम से प्रसिद्ध होते हैं)। इसलिए एक ही ऋषि के नाम पर श्रौत सूत्र, और आयुर्वेद ग्रन्थ दोनों मिलते हैं, यथा—आश्वलायन और आलम्बायन ऋषि के नाम पर दोनों विषयों के ग्रन्थ मिलते हैं। इसका इतना ही अभिप्राय है कि ये एक शाखा में बने हैं, न कि एक ऋषि के बनाये हैं।[1] इस दृष्टि से देखने पर नामों की बहुत कुछ समस्या सुलझ जाती है।

ग्रन्थों का नाम टीकाओं में आये नामों से संग्रह करके कविराज गणनाथ जी ने 'प्रत्यक्ष-शारीरम्' के उपोद्घात में एक पूर्ण जानकारी वचनों को उद्धृत करके दी है।

---

१. 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष'—(डाक्टर अग्रवाल) इस विषय में देखा जा सकता है।

उसके आधार पर तथा अन्य जानकारी से यहाँ पर केवल तन्त्रों का नाम लिखा जाता है–

कायचिकित्सा सम्बन्धी तंत्रः––१-अग्निवेश संहिता, २-भेड संहिता, ३-जतुकर्ण संहिता ४-पाराशर संहिता (संग्रह में इसका मत बहुत स्थानों पर उद्धृत है; यथा–– अ० २१।१७); सू० ५-हारीत संहिता (आज जो छपी संहिता हारीत के नाम से मिलती है; उससे यह भिन्न है; क्योंकि हारीत के नाम से उद्धृत वचन उपलब्ध संहिता में नहीं हैं। प्रकाशित हारीत संहिता आधुनिक समय की है, भाषा बहुत सामान्य है); ६-क्षारपाणि संहिता; ७-खरनाद संहिता; ८-विश्वामित्र संहिता; ९-अरिन्द्र संहिता; १०-अत्रि संहिता; ११-मार्कण्डेय संहिता; १२-आश्विन संहिता; १३-भारद्वाजसंहिता; १४-भानुपुत्र संहिता।

शल्य चिकित्सा सम्बन्धी तंत्र––१-औपधेनव तन्त्र; २-औरभ्र तन्त्र; ३-बृहत्सुश्रुत तंत्र; ४-सुश्रुत तंत्र; ५-पौष्कलावत तंत्र; ६-वैतरण तंत्र; ७-वृद्ध भोज तंत्र; ८-भोज तंत्र; ९-कृतवीर्य तन्त्र; १०-करवीर्य तन्त्र; ११-गोपुररक्षित तंत्र; १२-भालुकी तन्त्र; १३-कपिलबल तंत्र; १४-सुभूति गौतम तंत्र।

शालाक्य सम्बन्धी तंत्र––१-विदेह तंत्र; २-निमि तंत्र; ३-कांकायन तंत्र; ४-गार्ग्यतन्त्र; ५-गालवतन्त्र; ६-सात्यकि तंत्र; ७-भद्र शौनक तंत्र; ८-शौनक तन्त्र; ९-कराल तन्त्र; १०-चक्षुष्य तन्त्र; ११-कृष्णात्रेय तंत्र; १२-कात्यायन तंत्र।

भूत विद्या सम्बन्धी तंत्र––१-अथर्वतन्त्र (कविराज गणनाथ सेनजी का कहना है कि इसका पृथक् तन्त्र नहीं है; सुश्रुत, चरक में ही ग्रहों का जो वर्णन है, वह इससे सम्बन्धित है। काश्यप संहिता में रेवती कल्प या रेवती ग्रह सम्बन्धी अध्याय इसी विषय से सम्बन्धित है)।

कौमार भृत्य सम्बन्धी तंत्र––१-वृद्धकाश्यप संहिता (काश्यप संहिता के उपोद्घात में पण्डित हेमराजशर्मा जी ने चार काश्यप लिखे हैं––कौमार भृत्याचार्य; वृद्धकाश्यप और काश्यप दो; अगदतन्त्राचार्य-वृद्धकाश्यप और काश्यप दो। रावणकृत प्राचीन बालतंत्र में काश्यप और वृद्धकाश्यप दो नाम आते हैं। इस कौमारभृत्यतंत्र में आचार्य रूप से वृद्धकाश्यप ही अभिप्रेत हैं। काश्यप से अभिप्राय सम्भवतः कौमारभृत्याचार्य काश्यप से है। डल्हण ने सुश्रुत की व्याख्या में काश्यप का नाम लिखा है। मधुकोश में वृद्ध काश्यप के नाम से दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं। ये श्लोक अगद तंत्र विषयक होने से दोनों काश्यप भिन्न दीखते हैं। एक का सम्बन्ध (काश्यप का) अगदतंत्र से और दूसरे का (वृद्धकाश्यप का) कौमार भृत्य से है; ऐसा प्रतीत होता है। चरक

और अष्टांगसंग्रह में कश्यप और काश्यप दो ही आचार्य कहे गये हैं—"अंगिरा जामदग्निश्च वसिष्ठः कश्यपो भृगुः। कांकायनः कैंकशेयो धौम्यो मारीचिकाश्यपौ" ॥ सू०अ० १; अष्टांग संग्रह में 'धन्वन्तरिभरद्वाजनिमिकाश्यपकश्यपाः'—सू० अ० १।

२-काश्यपसंहिता; ३-सनकसंहिता; ४-लाट्यायनसंहिता; ५-आलम्बायन संहिता; ६-उशनः संहिता; ७-बृहस्पतिसंहिता।

रसायन तंत्र १—पातञ्जलतंत्र, २—व्याडितंत्र, ३—वशिष्ठतंत्र, ४—माण्डव्यतंत्र, ५—नागार्जुनतंत्र, ६—अगस्त्य तंत्र, ७—भृगु तंत्र, ८—कपिञ्जल तंत्र, ९—कक्षपुट तंत्र, १०—आरोग्यमंजरी, (कक्षपुटतंत्र और आरोग्य मंजरी का सम्बन्ध तंत्र नागार्जुन से कहा जाता है)

वाजीकरण तंत्र—कुचुमार तन्त्र (यह आधुनिक दीखता है; १९२२ में महामहोपाध्याय श्री मथुराप्रसाद दीक्षित जी ने इसे प्रकाशित किया है।)

इन विलुप्त तंत्र या संहिताओं के अतिरिक्त बहुत से नाम और भी हैं, जो कि टीकाओं में आते हैं। इन नामों में मनुष्य का नाम ही मिलता है; संहिता का उल्लेख नहीं। नाम कीर्तन से यह समझा जाता है कि इन्होंने कुछ लिखा होगा। उदाहरण के लिए—

अष्टांगसंग्रह में दारुवाही; नग्नजित्, का नाम आता है। अरुणदत्त के अष्टांगहृदय की टीका में और भी नाम आये हैं। वृन्दकृत सिद्धयोग की टीका में श्रीकण्ठ ने बहुत से आचार्यों का नाम लिखा है। इसी प्रकार से शिवदास सेन जी और चक्रपाणि ने जिन ग्रन्थों या आचार्यों का उल्लेख अपनी टीकाओं में किया है, उनके भी ग्रन्थ उस समय प्राप्य होंगे। सामान्यतः उनका अध्ययन नहीं होता होगा। ये पुस्तकें आज की दृष्टि से सहायक या स्पष्टीकरण के रूप में बरती जाती थीं। मूल ज्ञान के लिए प्रसिद्ध संहिताएँ ही थीं। इस से आज हमारे सामने कायचिकित्सा सम्बन्धी चरकसंहिता, अष्टांगसंग्रह; शल्यचिकित्साओं में सुश्रुत संहिता; कौमारभृत्य विषय में जीवनतंत्र या काश्यपसंहिता अवशिष्ट है।

काश्यपसंहिता या वृद्धजीवक तंत्र

नेपाल के राज्य गुरु श्री पं० हेमराज शर्मा जी ने अपने ग्रन्थ संग्रह में से इस ग्रन्थ को प्रकाशित करवाया है। यह ग्रन्थ खंडित रूप में है। श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। इस संहिता का सम्बन्ध कौमार भृत्यतंत्र से है।

काश्यपसंहिता की भी चरक-सुश्रुत के समान परम्परा है। जिस प्रकार चरक संहिता का मूल उपदेशक पुनर्वसु आत्रेय हैं, उसी प्रकार काश्यप संहिता के उपदेष्टा

मारीच काश्यप हैं। ऋचीक के पुत्र जीवक ने काश्यप के बनाये तंत्र का संक्षेप किया है। कलियुग में यह तंत्र नष्ट हो गया था; पीछे से जीवक के वंशज वात्स्य ने इसका प्रतिसंस्कार किया है।[1]

चरक संहिता में मारीच काश्यप नाम तीन स्थानों पर आता है (सू. अ. १।१२; सू. अ. १२। शा. अ. ६।२१;)। दारुवाह का नाम काश्यपसंहिता में आता है। (सू. वेदना); (सू. रोगाध्याय)। (चक्रपाणि ने भी दारुवाह का उल्लेख किया है। चि. अ. ३।७४ की टीका में)। आत्रेय के शिष्य रूप में भेल और नग्नजित् का नाम है (गान्धारभूमौ राजर्षिमग्न (नग्न) जित्स्वर्गमार्गगः। संगृह्य पादौ प्रपच्छ चान्द्रभागं पुनर्वसुम् ।।) नग्नजित् के पुत्र स्वर्जित का उल्लेख शतपथब्राह्मण में है। इस प्रकार से पुनर्वसु आत्रेय; भेल, नग्नजित्, दारुवाह, वार्योविद; मारीच, काश्यप ये सब वैद्य विद्या के आचार्य ऐतरेय-शतपथ काल से अर्वाचीन नहीं, थोड़ा बहुत आगे-पीछे के हैं। यह मान्यता श्रीहेमराज जी की है।

बौद्ध साहित्य में प्रसिद्ध जीवक से यह वृद्धजीवक भिन्न है, क्योंकि दोनों के कार्य में अन्तर है। यह जीवक बालरोग की चिकित्सा का उपदेश करता है। महावग्ग के जीवक ने शस्त्रकर्म किये हैं। कौमारभृत्य के आचार्य रूप में जीवक का उल्लेख नावनीतक में है। उपलब्ध संहिता के उपदेष्टा भले ही अग्निवेश के समय के हों, परन्तु प्रतिसंस्कर्त्ता वात्स्य बहुत पीछे के हैं। कनखल का नाम इस संहिता में है ('गंगाह्रदे कनखले निमग्नः पंचवार्षिकः।' कनखल का नाम कालिदास के मेघदूत में आता है— 'तस्माद् गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां'—पूर्वमेघ. ५३); कालिदास का समय चौथी शताब्दी है; उसके आस-पास ही इसके प्रति संस्कर्त्ता का समय होना चाहिए। इस संहिता के काल विभाग में उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी-जैसे जैन साहित्य के पारिभाषिक शब्दों का होना; मातंगी विद्या का उल्लेख; अव्यक्त से अहंकार आदि सोलह विकारों की उत्पत्ति, सुश्रुत के अनुसार सांख्यमत से उल्लेख; कृतयुग के मनुष्यों का गर्भ में केवल

---

१. 'जीवको निर्गततमा ऋचीकतनयः शुचिः।
जगृहेऽग्रे महातंत्रं सञ्चिक्षेप पुनः स तत् ।।
ततः कलियुगे तंत्रं नष्टमेतद् यदृच्छया।
अनायासेन यक्षेण धारितं लोक भूतये ।।
वृद्धजीवकवंश्येन ततो वात्स्येन धीमता।
अनायासं प्रसाद्याथ लब्धं तंत्रमिदं महत् ।।'

सात दिन रहना; अभेद्य, अच्छेद्य; अस्थि रहित शिर, जन्म से ही सब कार्यों के करने की क्षमता आदि अद्भुत कल्पनाओं का उल्लेख इसके प्रति संस्कर्त्ता का सुश्रुत के पीछे होना प्रामाणित करता है (श्री दुर्गाशंकर शास्त्री)।

काश्यपसंहिता कालीन भूगोल और समय—काश्यप संहिता में भिन्न-भिन्न देशों तथा भिन्न-भिन्न जातियों का उल्लेख है। ये जातियाँ प्रायः वर्णसंकर या म्लेच्छ हैं। यथा—सूत; मागध, वेन; पुक्कस (पुलकस), इस जाति की स्त्रियाँ पर सौती घर में डगरिन का काम करती थीं—छोटी जात—मिलिन्द प्रश्न); प्राच्यक, चण्डाल; मुष्टिक आदि ये जातियाँ देश में उस समय तक उत्पन्न एवं प्रसिद्ध थीं। कुलिन्द, किरात आदि जातियों का निवास स्थान यमुना का उद्गम स्थान है; जहाँ पर यह नीचे मैदान में आती है। हिमालय की तराई में ये सब जातियाँ थीं।

देशों के नाम—कुरुक्षेत्र, कुरु, नैमिषारण्य; पाञ्चाल, माणीचर; कौसल, हारीत-पाद, चर, शूरसेन मत्स्य, दशार्ण (इसका उल्लेख मेघदूत में भी है); शिशिराद्रि; सारस्वत, सिन्धु, सौवीर; विपाद् (व्यास), और सिन्धु के बीच के छावे के लोग; कश्मीर, चीन, अपरचीन, खश; वाह्लीक; दासेरक; शात सार; रामण (रामठ); तथा इनसे अगले देशों के मनुष्यों के सात्म्य का उल्लेख किया गया है (कल्प-भोजनकल्प—४१।४३)।

काशी, पुण्ड्र, अंग, कवंग, काच, आनूपक (कोंकण), कौशल देशवासियों को तीक्ष्ण द्रव्य देने चाहिए। कलिंग, पट्टनवासिन; दक्षिण देशवासी; नर्मदा के पास के व्यक्तियो के लिए पेया सात्म्य होती है।

मातंगी विद्या, लशुनकल्प—अष्टांग संग्रह में रसोन का उपयोग विशेष रूप में वर्णित है। रसोनका उपयोग कल्परूपमें रसायन दृष्टि से करने का उल्लेख है। नावनीतक का प्रारम्भ ही लशुनकल्प, लशुन सेवन से हुआ है। काश्यपसंहिता में भी लसुन कल्प विस्तार से दिया गया है। लशुन का उपयोग मुख्यतः शक-कुषाणों के संसर्ग से चला है। इसकी गन्ध के कारण द्विज इसे नहीं खाते थे। इसका प्रचार हो, इसीलिए तीसरी सदी के समय की काश्यप संहिता में तथा गुप्तकाल के संग्रह नाव-नीतक में इस पर जोर दिया गया है। लशुनकल्प या लशुन के उपयोग का इतना विस्तृत उल्लेख प्राचीन संहिताओं में नहीं है।

बौद्धों की महामायूरी विद्या का उल्लेख संग्रह में (महाविद्यां च मायूरीं शुचिस्तं श्रावयेत्सदा—उत्तर. अ. ८) तथा नावनीतक (छठे प्रकरण) में आता है। काश्यप संहिता में मातंगी विद्या का उल्लेख किया गया है। यह भी बौद्धों की एक विद्या है जो कि

दैवी बाधा, रोग आदि कष्टों को दूर करने के लिए पढ़ी जाती है. ('मातंगी नाम विद्या-पुण्या दुःस्वप्नकलिरक्षोघ्नी पापकल्मशाभिशापमहापातकनाशनी'—रेवतीकल्प)। इस विद्या का उपयोग वरतने को विद्या पूर्ण रूप से वर्णित है। महामायूरी विद्या (नावनीतक, पृ. १४४) से विद्या बहुत मिलती है (रेवतीकल्प, पृ. १६७)।

भाषा—काश्यप संहिता की भाषा सामान्य संस्कृत है, परन्तु इसमें कुछ विशेषता भी है। यथा—"नास्या लिंगनी जातहारिणी भवति; या एवं वेद।' रेवतीकल्प।

जो ऐसा जानता है, (य एवं वेद)—यह वचन इस रूप में प्राचीन संहिताओं में नहीं है। उपनिषद् में इसी रूप में मिलता है (अन्नादो भवति य एवं वेद—छान्दो. ३।१३।) इसके साथ ही भद्रकाली नाम (लशुनकल्प १०८) भी आता है, जो कि निश्चित गुप्तकाल के आसपास का है। सामान्यतः भाषा में अन्य भाषा के शब्द नहीं। भाषा तथा रेवतीकल्प; ग्रहों का उल्लेख; लिंगनी, परिव्राजिका; श्रमणका, कण्डनी, निर्ग्रन्थी, चीरवल्कलधारिणी; तापसी, चारिका, जटिनी, मातृमण्डलिकी, देवपरिवारिका, वेक्षणिका, जातहारिणी का उल्लेख है। ये सब सम्प्रदाय उस समय प्रचलित थे। इसमें हिन्दू, जैन, बौद्ध सब का उल्लेख है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न जातियों का उल्लेख विस्तार से इसमें मिलता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न तापसों का उल्लेख यहाँ पर है (रेवतीकल्प.)।[1]

इनमें से कुछ पहचाने जा सकते हैं। यथा-लिंगनी—इसके लिए भारवि के किरात का पहला श्लोक सहायक है "स वर्णलिङ्गी विदतः समाययौ"—इसमें लिंग, चिह्न धारण करनेवाला साधु अनुमोदित है। इसी प्रकार तापस, जो कि तप करते थे; यथा पंचाग्नि-तप या वृक्ष की भाँति (स्थाणु रूप में) होकर तप करते थे; परिव्राजिका—संन्यासिनी; श्रमण का—भिक्षुणी; चीरवल्कल धारिणी—चीथड़े या वल्कल को टुकड़े करके पहनने वाली चरिका—घूमनेवाली; जटिनी—जटा रखनेवाली मातृमण्डलिकी—सप्तमाताओं की पूजा करनेवाली; देवपरिवारिका—वासुदेव, कृष्ण, बलराम, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न की पूजा करनेवाली; वेक्षणिका (ईक्षतेर्नाशब्दम् के अनुसार प्रत्यक्ष को ही माननेवाली); जाताहारिणी (?)। काश्यप संहिता में एक श्लोक सुश्रुत संहिता का मिलता है। यथा—

---

१. बाण ने हर्षचरित में बहुत-से सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। यथा—'आर्हत, मस्करी, श्वेतपट, पांडुरिभिक्षु, भागवत, वर्णी, केशलुंचन, कापिल, जैन, लोकायतिक, कणाद, औपनिषद्, ऐश्वर, कारणिक, कारन्धमी (धातुवादी, रसायन बनानेवाले), धर्मशास्त्री, पौराणिक, साप्ततन्तव, शाल्य, पांचरात्रिक; इनके सिवाय अन्य भी मत-मतान्तर माननेवाले थे।' (हर्षचरित, आठवाँ उच्छ्वास)

"कुक्कुटस्य पुरीषं च केशांश्चर्म पुराणकम् ।
जीर्णां च भिक्षुसङ्घाटीं सर्पनिर्मोचनं घृतम् ॥'
(बालग्रह॰ चिकि॰ काश्यप)

'पुरीषं कौक्कुटं केशांश्चर्म सर्पत्वचं तथा ।
जीर्णां च भिक्षु सङ्घाटीं धूपनार्थोपकल्पयेत् ॥' (सुश्रुत उ॰ ३३।६)

दोनों के पाठ साम्य से काश्यप संहिता सुश्रुत के पीछे की है। भौगौलिक उल्लेख तथा लशुनकल्प से गुप्त काल के प्रारम्भ या तीसरी सदी के आस-पास की दीखती है। लशुन-कल्प का या लसुन और पलाण्डु का प्रचार गुप्तकाल के साहित्य में ललित भाषा में मिलता है। नावनीतक, संग्रह, हृदय इनमें इस पर विशेष बल दिया गया है। मातंगी विद्या, तथा संग्रह की महामायूरी विद्या, नावनीतक में महामायूरी विद्या का पाठ इस बात को पुष्ट करता है कि कुषाण-काल के पीछे बनी है।

काश्यप संहिता की विशेषता—भारत में पुत्र जन्म के पीछे छठी की जो पूजा प्रचलित है; इसका उल्लेख संहिता में स्पष्ट रूप में विस्तार से दिया गया है—

षष्ठी के पाँच भाई हैं, जिनमें एक भाई स्कन्द है। तुम भाइयों के बीच में रहने से षण्मुखी होगी, नित्य लालन की जायेगी। तुम छठी हो, इसलिए छठी सदा पूजा की जायेगी। इसलिए सूतिका षष्ठी (छठी), पक्ष षष्ठी की पूजा करनी चाहिए।

'भ्रातृणां च चतुर्णां वै पञ्चमो नन्दिकेश्वरः ।
भ्राता त्वं भगिनी षष्ठी लोके ख्याता भविष्यसि ॥
यथा मां पूजयिष्यन्ति तथा त्वां सर्वदेहिनः ।
अस्मत्तुल्यप्रभावा त्वं भ्रातृमध्यगता सदा ॥
षण्मुखी नित्यललिता वरदा कामरूपिणी ।
षष्ठी च तिथिः पूज्या पुण्या लोके भविष्यति ॥
तस्माच्च सूतिका षष्ठीं पक्षषष्ठीं च पूजयेत् ।
उद्दिश्य षण्मुखीं षष्ठीं तथा लोकेषु नन्दति ॥'
(बालग्रहचिकित्सा, पृष्ठ ६७)

इसी प्रकार दाँतों के नाम, इनकी उत्पत्ति, दन्तसंपत् (सूत्र अ॰ २०) का विस्तृत उल्लेख इसी संहिता में है। मनुष्यों के दाँत बत्तीस होते हैं। इनमें से आठ दाँत (अकल की दाढ़) अपने आप एक बार उत्पन्न होते हैं। शेष चौबीस दाँत द्विज, दूसरी बार उत्पन्न होते हैं। जितने मासों में दाँत बैठते हैं; उतने ही दिनों में फूटते हैं। जितने मासों में उत्पत्ति के पीछे निकलते हैं, उतने ही वर्षों में गिरते हैं (प्रथम दाँत का

उद्गम छठे मास में होता है; छठे वर्ष में प्रथम दाँत गिरता है) । मध्य के ऊपर के दो दाँतों का नाम राजदन्त है; ये पवित्र हैं । इनके टूटने पर श्राद्ध करने योग्य नहीं रहता । मनुष्य अपवित्र होता है । इनके पार्श्व के दाँत वस्त है । इसके आगे दाढ़ हैं; और शेष दाँत हानव्य (हनुप्रदेश में उत्पन्न) कहे जाते हैं । कन्याओं के दाँत जल्दी निकलते हैं । इनके निकलने में पीड़ा कम होती है; क्योंकि इनके मसूड़े पोले और कोमल होते हैं । लड़कों के दाँत देर में निकलते हैं; और इनमें पीड़ा होती है ।

दाँतों का भरा होना, समान होना, घनता (ठोसपन), शुभ्रता; स्निग्धता, श्लक्षणता; निर्मलता; निरामयता, रोग रहित होना; क्रमश: कुछ ऊँचे होते जाना; मसूड़ों की समता, रक्तता, स्निग्धता, बड़ा-ठोस-मजबूत जड़ का होना दाँतों की सम्पत्ति है । दाँत का कम होना; टेढ़ा या बढ़ा होना; काला होना; मसूड़ों का दाँतों से पृथक् न दीखना अप्रशस्त हैं ।

फक्क रोग—जिसे आजकल 'रिकैट' कहा जाता है, इसी संहिता में सबसे प्रथम आता है । जिस धात्री का दूध कफ से दूषित होता है, उसे फक्का कहते हैं । इस दूध के पीने से बच्चे में फक्क रोग हो जाता है । जिससे बच्चा एक साल का होने पर भी पैरों से नहीं चल सकता । यह फक्क रोग तीन प्रकार का है—१. दूध से पैदा होनेवाला; २. गर्भ में उत्पन्न, ३. किसी रोग के कारण होता है । जब माता गर्भवती हो, तब दूध में सहसा परिवर्त्तन आ जाता है । इस दूध के पीने से बच्चे में यह रोग हो जाता हैं ।

इस रोग की चिकित्सा में कल्याणक, षट्पल; ब्राह्मी घृत देने का विधान है (ब्राह्मी घृत शूद्र के लिए निषिद्ध है, क्योंकि इस घृत के पीने से शूद्रा के बच्चे मर जाते हैं) ।

कटु तैल कल्प—तैल का रोग में इतनी बड़ी मात्रा में उपयोग बहुत कम है । चरक संहिता में तैल की महिमा वर्णित है । तैल के प्रयोग से दैत्य लोग वृद्धावस्था से शून्य; रोगरहित; श्रम से न थकनेवाले (जितश्रमा:); युद्ध में अति बलवान् हुए थे । (सू.अ. २७।२८८) । रोग में विना औषधियों का तैल इतनी बड़ी मात्रा में इसी संहिता में बरता गया है । इसके पीछे की संहिताओं में भी यह नहीं है ।

इस तैल का उपयोग प्लीहा की वृद्धि में बताया गया है । प्लीहा रोग की शान्ति के लिए इससे उत्तम औषध दूसरी नहीं है । रोगी को कल्याणक या षट्पल घृत से स्निग्ध करके कटु तैल पिलाना चाहिए । तैल को रोगी के अग्निबल के अनुसार देना चाहिए; सामान्यत: बड़ी मात्रा ४८ तोला (१२ पल) है और मध्यम मात्रा २४ तोला (छै पल) छोटी मात्रा १६ तोला (चार पल) है । रोगी की प्रकृति के अनुसार इसको औषधियों

से संस्कृत देने का भी विधान लिखा गया है। कटु तैल के समान शतावरी, शतपुष्पा-कल्प भी इस संहिता की अपनी विशेषता है।

काश्यप संहिता का ढांचा और भाषा—काश्यप संहिता की रचना चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता की रचना की भाँति हुई है। इसमें उत्तरतंत्र के स्थान पर खिल स्थान है। प्राप्त काश्यप संहिता में सूत्रस्थान, विमानस्थान, शारीरस्थान, इन्द्रियस्थान, चिकित्सास्थान, सिद्धिस्थान, कल्पस्थान और खिलस्थान हैं। निदानस्थान मिला नहीं; क्योंकि विमानस्थान को तीसरा स्थान लिखा गया है। सिद्धिस्थान कल्पस्थान से पहले आया है।

काश्यप संहिता के विमानस्थान की रचना चरक संहिता के विमान स्थान से बहुत मिलती है; परन्तु साथ ही कुछ अधिक भी दिया गया है। यथा शिष्योपक्रमणीय विमान में ब्राह्मण को हविष्य ओदन की दक्षिणा देना, गुरु के अंग का स्पर्श आदि विचार अधिक हैं।

शिष्य का अनुशासन चरक संहिता का अनुकरण करता है। वाद सम्बन्धी जितना पाठ काश्यप संहिता का उपलब्ध है, उसमें भी चरक संहिता का अनुसरण है। आयुर्वेद सम्बन्धी, आयु क्या है ? आयुर्वेद के अंग, किनको पढ़ना चाहिए, किसलिए पढ़ना चाहिए, इसका प्राथमिक तंत्र क्या है, किस वेद से इसका सम्बन्ध है, नित्य है या अनित्य, अतीत-अनागत-वर्त्तमान इन तीन वेदनाओं में भिषक् किस वेदना की चिकित्सा करता है, आदि प्रश्न चरक संहिता की भाँति हैं। इनका उत्तर भी लगभग उसी प्रकार है।

इन्द्र ने कश्यप, वशिष्ठ, अत्रि और भृगु इन चार ऋषियों को आयुर्वेद सिखाया था। यह शास्त्र चारों वर्णों के लिए है। आयुर्वेद के आठों अंगों में कौमारभृत्य अंग सब से मुख्य है। इसमें भी आयुर्वेद का सम्बन्ध अथर्ववेद से बताया गया है। वेदों का आश्रय आयुर्वेद ही कहा गया है (आयुर्वेदमेवाश्रयन्ते वेदाः)। जिस प्रकार से दक्षिण हाथ में अंगूठा चारों अँगुलियों से नाम और रूप में पृथक् रहता हुआ भी इन चारों अँगुलियों पर आधिपत्य करता है, उसी प्रकार आयुर्वेद भी चारों वेदों से नाम और रूप में पृथक् रहता हुआ भी इन पर शासन करता है। वेदों में भी धर्म-अर्थ-काम युक्त पुरुष निश्रेयस का विचार किया जाता है। इसमें भी त्रिवर्ग के सारभूत पुरुष निश्रेयस का विचार होता है। जिस प्रकार देश को न जाननेवाले मनुष्य देश को जाननेवाले के पास जाते हैं; इसी प्रकार वेदना होने पर शिक्षा, कल्प, सूत्र निरुक्त, आदि के ज्ञाता आयुर्वेदज्ञ के पास पहुँचते हैं। इसलिए हम कहते हैं कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से पाँचवाँ आयुर्वेद है।

चरक संहिता में जिस प्रकार अत्रिपुत्र के अग्निहोत्र करने का उल्लेख है (हुताग्नि-

होत्रम्–चि. अ. १९); उसी प्रकार काश्यप संहिता में हुताग्निहोत्र शब्द आता है (हुताग्निहोत्रमासीनम्–विशेषकल्प २.हुताग्निहोत्रं–विसर्प)। 'हेतुलिंगौषध' शब्द चरक संहिता में इसी रूप में मिलता है। (सू. अ. १।२४), काश्यपसंहिता में भी यह शब्द इसी रूप में मिलता है। (हेतुलिंगौषधज्ञानैः–विशेषकल्प)।

जातिभेद—चरक संहिता में वर्णभेद से चिकित्सा भेद नहीं है। संग्रह और हृदय में भी नहीं है। यह भेद सुश्रुत संहिता में सबसे प्रथम मिलता है (शा. अ. १०) उसके बाद इस संहिता में है। यथा—

शूद्र को ब्राह्मी घृत नहीं पीना चाहिए, उससे इसका नाश होता है। यदि शूद्र स्त्री इस घी को पीती है, तो उसकी संतान मर जाती है; मरने के पीछे स्वर्ग नहीं पहुँचते, इनका धर्म लुप्त हो जाता है (फक्क चिकित्सा)। (स्वर्ग को जाने की भावना चरक एवं संग्रह में नहीं है)।

नये शब्द—ऋतु उत्पत्ति बताते हुए उत्सर्पिणी (उन्नतिकाल); अवसर्पिणी (अवनतिकाल) इन दो शब्दों का उल्लेख आता है। ये शब्द जैन शास्त्र में मिलते हैं। इसके आगे कृतयुग में मनुष्यों के शरीर का नाम 'नारायण' कहा गया है। इसका गर्भ में वास सात दिन कहा गया है। उत्पन्न होते ही यह सब कार्यों को करने में समर्थ होता है। इसको भूख, प्यास, थकान, ग्लानि, भय, ईर्षा, कुछ भी नहीं होता। न यह स्तन पीता है; धर्म-तप-ज्ञान-विज्ञान बहुत होता है। त्रेता में जो शरीर उत्पन्न होते हैं; उनका नाम अर्धनारायण है; इनमें एक अस्थि होती है। शरीर सिकुड़ और फैल नहीं सकता। गर्भावस्था का समय आठ मास है। यह स्तन्य (दूध) पीता है। द्वापर में कैशिक नामक शरीर उत्पन्न होता है। कलियुग में प्रज्ञप्ति पिशित शरीर उत्पन्न होता है। इसमें ३६३ अस्थियाँ होती हैं (भेल संहिता में भी यही संख्या है)।

नारायण शब्द सबसे प्रथम इस संहिता में आता है। पीछे की संहिताओं में (संग्रह-हृदय में) यह शब्द नहीं देखा जाता।

पंचमहाभूत, इन्द्रियों की उत्पत्ति का क्रम सांख्य दर्शन से सम्मत है। मन को अतीन्द्रिय माना गया है। महदादि सब क्षेत्रों को अव्यक्त कहा गया है। क्षेत्रज्ञ को नित्य, अचिन्त्य और आत्मा नाम दिया गया है। शरीर, इन्द्रिय, आत्मा, सत्त्व के समु-दाय को पुरुष कहते हैं। ज्ञान का होना और न होना मन का लक्षण है; मन एक और अणु है; इत्यादि विवेचना चरक संहिता के आधार पर है।

अध्यायों का नामकरण भी चरक संहिता के अनुसार प्रायः मिलता है। यथा—अतुल्य गोत्रीय-चरक में, असमानगोत्रीय शारीर-काश्यप में; गर्भावक्रान्ति; जाति-सूत्रीय नाम दोनों में एक समान हैं।

धूपदान (अर्चयेदादित्यमुद्यन्तं गन्धधूपार्घ्यवार्जपैः। क्षीयमाणं च शशिनमस्त्यान्तं च भास्करम् ॥ नपश्येद् गर्भिणी नित्यं नाप्युभौ राहुदर्शने ।) के योग काश्यपसंहिता में बहुत हैं। नाना प्रकार के धूप—कौमारधूप, माहेश्वर, भद्रङ्कर, रक्षोघ्न, दशांग, गृहधूप आदि हैं। धूपदान विधि विस्तार से दी गयी है (धूपकल्प)। धूपों की उत्पत्ति अग्नि से बतायी गयी है। इनका मुख्य उपयोग राक्षस, भूत, पिशाच और रोगों को दूर करने में है।

सातवाँ अध्याय

गुप्त काल

पूर्व गुप्त साम्राज्य

समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त

वाकाटक प्रवर सेन के मरते ही समुद्रगुप्त ने वाकाटक साम्राज्य पर हमला कर दिया। तीन-चार चढ़ाइयों में ही उसने वाकाटक राज्य को जीत लिया। इसके पीछे समूचे गुजरात काठियावाड़ को जीतकर सारे भारत का 'महाराजाधिराज' बन गया। इसकी विजय का वृत्तान्त इलाहाबाद किले में कौशाम्बीवाली लाट पर खुदा है। समुद्रगुप्त के सिक्के काठियावाड़ तक मिलते हैं।

मगध और अन्तर्वेद को जीतकर समुद्रगुप्त ने दक्खिन-पूरब तक मुख किया। मगव-कोशल (छत्तीस गढ़), महाकान्तार (वस्तर) जीतता हुआ वह आन्ध्र देश की तरफ बढ़ा। यहाँ इसका कलिंग, आन्ध्र के सरदारों तथा कांची के पल्लवराजा सिंह-वर्मा के छोटे भाई विष्णुगोप ने मुकाबला किया। युद्ध में ये हार गये और अधीनता स्वीकार करने पर छोड़ दिये गये। इस प्रकार वाकाटक राज्य के दो पहलू जीतकर समुद्रगुप्त ने इसके केन्द्र पर चढ़ाई की। जिसमें प्रवरसेन का बेटा रुद्रदेव मारा गया। इस प्रकार से समुद्रगुप्त का राज्य काबुल-सिंहल तक छा गया था। सबने उसे अपना अधिपति मान लिया था। इस विजय के उपलक्ष में उसने अश्वमेध किया। वह स्वयं विद्वान् तथा काव्य एवं संगीत में निपुण था। वह और उसके वंशज विष्णु के उपासक थे (इतिहास प्रवेश के आधार पर)।

समुद्रगुप्त के पिता का नाम चन्द्रगुप्त था; जो कि घटोत्कच का पुत्र था। घटोत्कच को गुप्त (श्री गुप्त) का उत्तराधिकारी कहा जाता है। गुप्तवंश का अभ्युदय वास्तव में चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में हुआ। इसकी उपाधि महाराजाधिराज थी। यह इसके वंश में चलती रही। सिक्कों पर इसका नाम तथा इसकी रानी कुमारदेवी का नाम अंकित है। कुमारदेवी लिच्छवी वंश की कन्या थी; इसलिए समुद्रगुप्त लिच्छवियों का दौहित्र था। इसी सम्बन्ध से लिच्छवियों की सहायता मिलने पर समुद्रगुप्त ने मगध में वाकाटक राज्य को परास्त किया। अशोक के बाद प्रतापी राजा समुद्रगुप्त ही

हुआ। समुद्रगुप्त ने लम्बे समय तक राज्य किया। इसकी मृत्यु ३८० ईस्वी के आस-पास हुई थी। समुद्रगुप्त की विजय कीर्त्ति इलाहाबाद के स्तम्भ पर जो हरिषेण ने खुदवायी है; वह उत्तम साहित्य का गद्य-पद्यमय रचना का सुन्दर उदाहरण है।

समुद्रगुप्त के पीछे प्रतापी राजा इसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय हुआ, जिसने अपने भाई की वधू ध्रुवदेवी की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखा था। पीछे इसने चन्द्रगुप्त द्वितीय से विवाह कर लिया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता की भाँति संग्राम यात्रा की, इसने पश्चिम को प्रथम जीता। इसका मुख्य अभियान गुजरात और काठियावाड़ के शकों के प्रति था। इसमें चन्द्रगुप्त बहुत समय तक मालवा में रहा। इसकी पुष्टि भेलसा के पास उदयगिरी के स्तम्भ से होती है। इसमें रुद्रदामन तृतीय केवल हारा ही नहीं, उसका सारा राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया। यह सम्भवत: पाँचवीं शताब्दी का समय है। पश्चिम में जो क्षत्रप ३०० साल से राज्य कर रहे थे, इस समय उनका अन्त हुआ। इस प्रकार से इसका राज्य बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब समुद्र तक पश्चिम में फैल गया था। इस समय पश्चिम देशों से व्यापार सम्बन्ध स्थापित होने के कारण पश्चिमीय सभ्यता का प्रसार प्रारम्भ हो गया था। विक्रमादित्य उपाधि थी, जो इस चन्द्रगुप्त ने धारण किया था। यह उपाधि सम्भवत: समुद्रगुप्त से इनको मिली थी[1]। विक्रमादित्य की सभा के कालिदास आदि नौ रत्न-वाली बात इसी के साथ सम्बन्घित है। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजय यात्रा का वर्णन दिल्ली की कुतुबमीनार के पास खड़े लोहे के स्तम्भ पर खुदा है, परन्तु इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। सिन्धु को पार करके (सात मास में) इसने वाह्लीक को जीता था। समुद्रगुप्त ने जिन कुशाणो को जीता था; उन्होंने उसके मरने के पीछे शिर उठाया था। जिनके साथ लड़ते समय रामगुप्त कैद हो गया था। अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को

---

१. कालिदास ने रघुवंश में रघु की जिस यात्रा का उल्लेख किया है, वह इसी की विजययात्रा का उल्लेख है, ऐसा बहुत मानते हैं। इसके प्रमाण में वहाँ पर प्रचलित 'स्यापा' रिवाजा का उल्लेख बताते हैं देखिये डा० अग्रवाल का हूण सम्बन्धी लेख।

'तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटनादेशि बभूव रघुचेष्टितम्॥' (रघु. ४।६८.)

इस पद में 'कपोलपाटला' पाठ के स्थान पर ऊपर का पाठ मानते हैं एवं 'सिन्धुतीरविचेष्टनैः' के स्थान पर 'वंक्षुतीरविचेष्टनैः' पाठ मानते हैं।

देने पर छूटा था। इस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को परास्त किया था; जिससे प्रसन्न होकर ध्रुवदेवी ने चन्द्रगुप्त से शादी की थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पड़ोसी राजाओं से विवाह सम्बन्ध करके मित्रता बढ़ायी। उसने नाम वंश में विवाह किया, अपनी कन्या प्रभावती का रुद्रसेन द्वितीय से विवाह किया।

इसी समय चीनी यात्री फाईयान आया था; जो कि लगभग दस वर्ष तक भारत में रहा (४०० से ४११ तक)। दौर्भाग्य से उसने इस समय के विषय में कुछ नहीं लिखा। चन्द्रगुप्त द्वितीय का समय गुप्तकाल का यौवन था। इस समय कला, विज्ञान; साहित्य की उन्नति चरम सीमा पर थी। इसका श्रेय समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय को है; जिससे यह समय 'स्वर्णयुग' के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। समुद्रगुप्त ने विजय यात्रा को प्रारम्भ किया था; उसके पुत्र चन्द्रगुप्त ने इसको पूरा किया और समुचित संघटित बनाया।

साहित्य के क्षेत्र में कालिदास इसी समय के कवि हैं; ज्योतिष में वराहमिहिर इसी समय हुए।[1]

अष्टांग संग्रह और वाग्भट

इस समय की अकेली पुस्तक वाग्भट की बनायी अष्टांगसंग्रह है। अष्टांगहृदय इसी का पद्यमय संक्षिप्त रूप है। चरक और सुश्रुत के पीछे यही संहिता है। अष्टांग-संग्रह और अष्टांगहृदय ये दोनों एक ही लेखक की कृतियाँ हैं (जिस प्रकार आजकल गोदान से संक्षिप्त गोदान बनाया गया है—दोनों के कर्त्ता प्रेमचन्द्र ही हैं)। संग्रह में गद्य और पद्य मिला है। उसे वद्ध वाग्भट कहा जाता है। वाग्भट के पिता का नाम सिंह-गुप्त था। इसके पितामह का नाम वाग्भट था। गुरु का नाम अवलोकितेश्वर था। यह बौद्धधर्म को माननेवाला था। इत्सिंग ने इसके सम्बन्ध में लिखा है, जिससे कुछ विद्वान् इसको ७वीं सदी में ले जाते हैं, जो उचित नहीं जँचता, जैसा हम आगे देखेंगे। अष्टांगहृदय संहिता का अनुवाद तिब्बती भाषा में भी हुआ है।[2] गुप्तकाल में पिता-

---

१. 'दी क्लासिकल एज'—पुस्तक भारतीय विद्या भवन के आधार पर—
'धन्वन्तरिक्षपणकाऽमरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

२. इसी समय हस्त्यायुर्वेद, अश्वशास्त्र (शालिहोत्र) की रचना हुई थी।

मह का नाम रखने की प्रवृत्ति मिलती है। यथा, चन्द्रगुप्त का बेटा समुद्रगुप्त, समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय हुआ।

इस समय भारतीय साहित्य में पश्चिमीय विज्ञान ने प्रवेश कर लिया था। वराह-मिहिर की पंच सिद्धान्तिका में पितामह, रोमक, पौलिस, वाशिष्ठ और सूर्य के सिद्धान्त हैं। इनमें पिछले चार सिद्धान्त अधिक वैज्ञानिक हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि चार सिद्धान्त ग्रीक ज्योतिष से लिये गये हैं (इसी से शायद कहा है—'म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक्शास्त्रमिदं स्थितम्। ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्द्विजः॥ बृहत्संहिता २।) ४)। इसमें दूसरे और तीसरे नाम के विषय में कोई सन्देह का स्थान नहीं है।

इसी प्रकार चिकित्सा पर भी पश्चिम का प्रभाव दीखता है। इसमें पलाण्डु के वर्णन में वाग्भट ने कहा है—

'यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारादिविनिर्मितानाम्।
कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव॥'

(संग्रह. उत्तर. अ. ४९)

शक स्त्रियों की कपोलकान्ति से चन्द्रमा भी लज्जित होता है। यह कपोल कान्ति पलाण्डु के सेवन से आयी है। शक स्त्रियों की कपोल कान्ति की प्रशंसा कालिदास ने भी की है—

'यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः॥' (रघु. ४।२१).

पलाण्डु-मद्य-मांस तीनों का सम्बन्ध इसी ग्रन्थ कर्त्ता ने बताया है। इनमें एक भी वस्तु बिना दूसरे और तीसरे के पूर्ण नहीं होती ('सुतीव्रमारुतव्याधिघातिनो लशुनस्य च। मद्यमांसवियुक्तस्य प्रयोगे स्यात् कियान् गुणः॥' 'आनूपं जांगलं मांसं विधिनाप्युपकल्पितम्। मद्यं सहायमप्राप्य सम्यक् परिणमेत् कथम्॥' (संग्रह. चि. अ. ९)।

इसी समय नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी। बौद्ध यात्री इत्सिंग दस वर्ष तक नालन्दा में रहा था। उसने लिखा है कि "पहले (वैद्यक) की आठ शाखाए आठ पुस्तकों में थीं, परन्तु अब एक व्यक्ति ने उन सब का संग्रह करके एक पुस्तक बनायी है। हिन्दुस्तान के वैद्य उसका अनुसरण करके चिकित्सा करते हैं (रिकार्ड औफ बुद्धिस्ट प्रैक्टिस—में डा. हार्नले)। इत्सिंग का ऊपर का कथन वाग्भट के अष्टांगसंग्रह के ऊपर घटता है। इत्सिंग का समय ६७५ से ६८५ के आस-पास है। परन्तु वाग्भट इससे पूर्व हुए हैं। व्याकरण से सम्बन्धित वाग्भट इससे भिन्न हैं; जिसके विषय में भर्तृहरि ने

कहा है—"हन्तेः कर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तमर्थे तु सप्तमी । चतुर्थी वाधिकामाहुश्चूर्णि-भागुरिवाग्भटाः ॥' (महाभाष्यदीपिका) ; अष्टांगसंग्रह के टीकाकार वाग्भट के शिष्य इन्दु ने उत्तरतंत्र अ. ५० की टीका में लिखा है—

पदार्थयोजनास्तु व्युत्पन्नानां प्रसिद्धा एवेत्यत आचार्येण नोक्ताः । तासु च भवतो हरेः श्लोकौ—

'संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचितिर्देशः कालो व्यक्ति स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥' अनयोरर्थ :—

इसमें प्रथम कारिका भर्तृहरि विरचित वाक्यपदीय २।३१७ में उपलब्ध होती है। दूसरी कारिका यद्यपि काशी संस्करण में उपलब्ध नहीं होती, तथापि प्रथम कारिका की पुण्यराज की टीका पृष्ठ २१६ पंक्ति १६ से द्वितीय कारिका की व्याख्या छपी है। इसीसे प्रतीत होता है कि द्वितीय कारिका मुद्रित ग्रन्थ में छूट गयी है। वाक्यपदीय के कई हस्तलेखों में द्वितीय कारिका उपलब्ध है (संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास. पृष्ठ. २६१)।

प्रख्यात ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर जो शक संवत् ४२१ [५५६ ईस्वी] में हुआ है; उसने वृहत्संहिता के कादर्पिक प्रकरण [अ० ७६] में माक्षिक आदि औषधियों का एक पाठ दिया है, जो कि अष्टांग संग्रह में से [उत्तार स्थान अ० ४९] लिया गया है। इस लिए वाग्भट का समय पाँचवीं शती के आसपास निश्चित है। 'कलौ-वाग्भटनाम्ना तु' कलियुग में वाग्भट नाम का धन्वन्तरिका अवतार होगा या प्रसिद्ध वैद्य होगा ऐसी दन्त कथाएँ इसकी ख्याति बताती हैं। प्रबन्ध चिन्तामणि में कहा गया है कि वाग्भट ने राजा भोग का यक्ष्मा रोग औषध की गन्ध से अच्छा कर दिया था। ये सब दन्त कथाएँ इसकी ख्याति के लिए हैं [श्री दुर्गाशंकर जी शास्त्री]।

वाग्भट का जन्म स्थान सिन्धु था। इनके पिता का नाम सिंह गुप्त और पितामह का नाम वाग्भट था। गुरु का नाम अवलोकितेश्वर था, उनका धर्म बौद्ध था। इतना परिचय ग्रन्थ कर्त्ता ने स्वतः दिया है।[1]

---

१. "भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून्मे पितामहो नामधरोऽस्मि यस्य ।
सुतो भवत्तस्य च सिंहगुप्तस्तस्याप्यहं सिन्धुषु लब्धजन्मा ॥
समधिगम्य गुरोरवलोकितात् गुरुतराच्च पितुः प्रतिभां मया ॥'
(संग्रह. उत्तर. अ. ५०).

अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय—वाग्भट का नाम इन दोनों संहिताओं के साथ जुड़ा है। अष्टांगसंग्रह पद्य और गद्य दोनों में है, अष्टांगहृदय केवल पद्य में है। दोनों में पद्य-लालित्य तथा गद्य की रचना उत्तम कोटि की है। विषय का वर्णन इसमें विशेष आकर्षक है। मद्यपान के लिए जो सुन्दर श्लोक बनाये गये हैं, यह इसकी अपनी विशेषता है। ये श्लोक दोनों संहिताओं में एक-से हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से वाक्य [illegible] एक ही मिलते हैं। हेमाद्रि ने अपनी टीका में अष्टांगसंग्रह का पाठ पूर्णतः उठाया है, जिससे विषय साफ़ हो जाता है।

दोनों संहिताओं में 'अलिञ्जर' शब्द आता है (अलिञ्जराः पद्मपुटाभिधानाः—संग्रह. चि. अ. [illegible]); यह शब्द गुप्तकाल का ही है; जिसका अर्थ बड़े मटके हैं। इसी प्रकार रचना में भिन्न-भिन्न छन्दों का योग, लम्बे-लम्बे वाक्यों की सुन्दर रचना (सू. अ. २१।८ में) इनको गुप्त कालीन सिद्ध करती है।[1] गुप्त काल की कला का सजीव चित्रण वाग्भट ने मदात्यय-प्रकरण में किया है।

वाग्भट ने प्रथम यौवन काल में सुश्रुत-चरक तथा अन्य संहिताओं के आधार पर (जैसे—पराशर, आदि का मत—सू. अ. २१ में; नग्नजित्—विदेह का मत—विषप्रतिप्रतिषेध में) संग्रह को बनाया। संग्रह बहुत विस्तृत हो गया था। हृदय बनाया; जैसा स्वयं उन्होंने लिखा है—इसके बाद आठ अंगोंवाले आयुर्वेद समुद्र का मन्थन करने से जो अष्टांगसंग्रह रूप बड़ी अमृत राशि मैंने प्राप्त की थी; उसी के आधार पर जो व्यक्ति थोड़े परिश्रम से बहुत अधिक फल की इच्छा करते हैं; उनके लिए यह अष्टांगहृदय पृथक् ग्रन्थ बनाया है। इस हृदय को पढ़ लेने पर संग्रह ठीक प्रकार से समझकर अच्छी प्रकार चिकित्सा कर्म का अभ्यास करके वैद्यों से नहीं घबराता। चरक आदि अन्य बड़े-बड़े ग्रन्थों को पढ़नेवाला दूसरे वैद्यों को यदि पराजित कर देता है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। (हृदय अ. ४०।८०; ४०।८३) दोनों संहिताओं का कर्त्ता एक है, केवल आयु-एवं काल का भेद है। मनुष्य आयु ज्यों-ज्यों बढ़ती है; त्यों-त्यों उसका अनुभव ज्ञान विकसित होता जाता है और उसके विचारों में प्रौढ़ता तथा परिपक्वता आ जाती है। यह प्रौढ़ता और परिपक्वता अष्टांगहृदय में स्पष्ट है। उस समय पुनः संस्करण होने की इतनी सम्भावना नहीं थी, जितनी आज है। इसलिए हृदय में जो नयी वस्तु या कुछ योग मिलते हैं, वे पिछले अनुभव एवं ज्ञान के परिणाम रूप ही हैं। दोनों का कर्त्ता एक

---

१. संग्रह में बच्चों का जो वर्णन आया है, वह कालिदास के शिशु वर्णन से मिलता है।

ही है। नाम साम्य; भाव साम्य, वाक्य साम्य, रचना साम्य और क्रम साम्य ये सब बातें इनमें भेद नहीं बतातीं।

बौद्ध वाग्भट—वाग्भट स्वयं बौद्धधर्म का अनुयायी था। इसीलिए उसने वैदिक मंत्र देने के साथ बौद्धों का मंत्र भी दिया है। (संग्रह. सू. अ. २७।१३-१४) बौद्धों के दशकर्म का उल्लेख संग्रह में है—

"दशकर्मपथान् रक्षन् जयन्नभ्यन्तरानरीन्।' (सू. अ. ३।१६).

सौन्दरानन्द में भी इन दश कर्म पथों का उल्लेख है—

'इति कर्मणां दशविधेन परमकुशलेन भूरिणा।
भ्रंशिनि शिथिलगुणोऽपि युगे विजहार तत्रमुनिसंश्रयात् जनः॥'
(सौन्दर. ३।३७).

१. प्राणातिपात विरति; २.अदत्तदान दानविरति; २. काममिथ्याचार विरति; ४. मृषावाद विरति; ५. पिशुनवचन विरति; ६. परुषवचन विरति; ७. प्रलाप विरति, ८. अभिध्या विरति; ९. अव्यापाद; १०. असम्यक् दृष्टि विरति। इन दस प्रकार के पापों को छोड़ना चाहिए।

इसी प्रकार 'शास्ता' (सू. अ. ३।१२०) बुद्ध का नाम लेकर अपनी शय्या पर जाय; धारणी जो बौद्धों का मंत्र (सू. अ. ८।१०१,९९) आर्या-अवलोकितेश्वर और आर्यतारा ये बोद्धों के देवता हैं (सू. अ. ८।९४); आर्या-अवलोकितेश्वर तो बुद्ध के रूपान्तर है; एक बोधिसत्त्व की संज्ञा है, जो वर्त्तमान कल्प के अधिष्ठाता हैं।

'आर्यावलोकितं पर्णशवरीमपराजिताम्।
प्रणमेवार्यतारां च सर्वज्वरनिवृत्तये॥' (चि. अ. २).

इस अवतरण में आर्यावलोकित, पर्णशवरी, अपराजिता; आर्यतारा आदि सब बौद्ध देवताओं का उल्लेख है। इसी प्रसंग में चरक में विष्णुसहस्रनाम, महादेव की पूजा का उल्लेख है ('सोमं सानुचरंदेवं समातृगणमीश्वरम्। पूजयन् प्रयत: शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात्' चि. अ. ३।३१०)।

उत्तर स्थान में एक स्थान पर द्वादशभुजी अवलोकितेश्वर का उल्लेख है—

'ईश्वरं द्वादशभुजं नाथमार्यावलोकितम्।
सर्वव्याधिचिकित्सां च जपन् सर्वगुहान् जयेत्॥' (उत्तर. अ. ८).

इसमें आर्यावलोकित के साथ ईश्वर नाम जोड़कर पूरा नाम आर्यावलोकितेश्वर होता है। इसकी द्वादश भुजाओं की मर्त्ति की कल्पना वाग्भट के समय हो गयी थी।

देवी अपराजिता—इसका उल्लेख उत्तर तंत्र में आया है (भूर्जे रोचनया विद्यां लिखितामपराजिताम्। विधिना साधिता भूतैः सर्वैरप्यपराजिताम्' । ८) । गोरोचना से भूर्जपत्रपर लिखकर पूजा करे।[१]

संग्रह के मंगलाचरण में "बुद्धाय तस्मै नमः" कहकर बुद्ध को नमस्कार किया है। हृदय के मंगलाचरण में साक्षात् बुद्ध का नाम न लेकर नमस्कार करने की प्रथा गुप्त-कालीन है। 'अपूर्व वैद्य' शब्द ही गुप्तकाल में बुद्ध के लिए प्रचलित था; इसीलिए संग्रह में स्थान-स्थान पर 'भैषज्यगुरवे' शब्द आता है (सू. अ. २७।१४)। "नमश्च-क्षुपरिशोधनराजाय तथागतायार्हते सम्यक् संबुद्धाय"—(सू. अ. ८) में बुद्ध को नमस्कार किया है। बुद्ध के लिए वैद्यराज शब्द आता है (स वैद्यराजोऽमृतभेषज-प्रदः—ललितविस्तर) अमृत औषध देकर भवरोग के हरनेवाले वैद्यराज हैं।

रोग समूह को नष्ट करनेवाले उत्तम वैद्य के लिए कहा गया हैं कि उसका कर्म उसी प्रकार प्रशंसनीय है, जैसे—महाबोधिसत्त्वों के चरित (संग्रह. उ. ५०)।

संग्रह और हृदय दोनों में महामायूरी विद्या का उल्लेख मिलता है (संग्रह. उत्तर. अ. ८; हृदय. उत्तर. ५।५१)। महामायूरी बौद्धों के पाँच बड़े मंत्रों में से एक थी जो पचरक्षा के नाम से प्रसिद्ध है। चौथी और आठवीं शती के बीच में कई बार संस्कृत महामायूरी का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ है। पहिला अनुवाद भिक्षुपो श्रीमित्र ने ३१७ और ३२२ के बीच में किया। दूसरी बार कुमार जीव (४०२ से ४१२) ने महामयूरी का नया अनुवाद प्रस्तुत किया। इन अधूरे अनुवादों के तीन पूरे चीनी अनुवाद भी मिले हैं। पहला संघवर्मन ने (५१६ ईस्वी); दूसरा इत्सिंग ने (७०५ ईस्वी); तीसरा अमोघवज्र ने (७४६-७७१ में) किया है। तिब्बती भाषा में भी शिलेन्द्रबोधि; ज्ञानसिद्धि और शाक्यप्रभ के लिए महामायूरी के अनुवाद तंजूर के संग्रह में मिले हैं। इससे ज्ञात होता है कि चौथी शती से ७वीं शताब्दी तक महामयूरी का अत्यधिक प्रचार था। वाग्भट और बाणभट्ट दोनों के उल्लेख इस पृष्ठ भूमि में समझे जा सकते हैं।

संग्रह में बौद्ध पारिभाषिक शब्द 'धारिणी' का भी उल्लेख आया है (धारिणीमिमां धारयन्—सू. अ. ८), धारणी का अभिप्राय देवता के ध्यान मंत्र से है।" "मायूरी, महा-मयूरी आर्या, रत्नकेतु, धारिणी" इनको दोनों समय सूतिकागार में पढ़ने के लिए कहा गया है। (उत्तर० अ० १)।

---

१. बौद्ध ग्रन्थों में गणेश को पददलित करनेवाली देवी अपराजिता कही गयी है। इसकी मूर्त्तियां भी मिलती हैं।

संग्रह के दूतादि विज्ञानों में १०८ मंगल गिनाये गये हैं। इनमें मणिभद्र का नाम आया है; पुनश्च दोनों ग्रन्थों में वायविडंग, आंवला, हरड़, दन्ती और गुड़ को मिलाकर महीने भर खाने का सिद्ध योग माणिभद्र यक्ष का बताया हुआ कहा गया है ('सिद्धं योगं प्राह यक्षो मुमुक्षोर्भिक्षोः प्राणान् माणिभद्रः किलेमम् । (संग्रह कुष्ठ. चि. अ. २१) माणिभद्र यक्षों के राजा थे। बौद्ध साहित्य में, महाभारत में और पुरातत्त्व की मूर्त्तियों में भी इनका नाम लगभग तीसरी शती ईस्वी पूर्व से आने लगता है। वाग्भट के समय में भी माणिभद्र की पूजा रही होगी।

संग्रह में एक स्थान पर 'जिन जिनसुततारा भास्कराराधनानि" यह उल्लेख आता है। इसमें जिन (बुद्ध); जिन सुत (राहुल), तारा और सूर्य की पूजा का उल्लेख है। बुद्ध के लिए 'जिन' शब्द बाण के हर्ष चरित में भी आया है। बौद्ध भिक्षु को जिन और जैन साधु को अर्हत् कहा गया है। जैन का अर्थ हर्ष चरित के टीकाकार शंकर ने 'शाक्य' किया है। बौद्ध साहित्य में बुद्ध को प्रायः 'जिननाथ' कहा गया है।

जिस समय इन दोनों ग्रन्थों का संकलन हुआ है, उस समय बुद्ध, अवलोकितेश्वर, तारा, अपराजिता, महामायूरी, पर्णशवरी, भैषज्यगुरु आदि विभिन्न बौद्ध धर्म सम्बन्धी देवी-देवताओं की पूजा का लोगों में प्रचार था। प्रत्येक महान युग में लोगों की आवश्यकता पूर्ति के लिए विभिन्न शास्त्रों के प्रामाणिक संग्रह ग्रन्थ तैयार होते हैं। गुप्त काल में भी इस प्रकार के विविध ग्रन्थ तैयार किये गये। जैसे—व्याकरणशास्त्र में काशिका; कोषों में अमरकोष; ज्योतिष (गणित) में आर्यभटीय; ज्योतिष में बृहत्संहिता; वास्तु और शिल्पशास्त्र में मानसार; पुराणों में विष्णुधर्मोत्तर पुराण; अलंकारों में दण्डी का काव्यादर्श, नीति ग्रन्थों में शुक्रनीति; हस्त्यायुर्वेद में पालकाय मुनिकृत हस्त्यायुर्वेद; इसी प्रकार आयुर्वेद क्षेत्र में इस युग की आवश्यकतानुसार अष्टांग संग्रह और अष्टांग हृदय दो ग्रन्थ प्राचीन शास्त्रों का मन्थन करके तैयार किये गये हैं। जैसा कि स्वयं कर्त्ता ने कहा है—"युगानुरूपसन्दर्भो विभागेन करिष्यते"—(सू. अ. १।२०) 'न मात्रामात्रमप्यत्र किंचिदागमवर्जितम्। तेऽर्थाः स ग्रन्थबन्धश्च संक्षेपाय क्रमोऽन्यथा ॥' (सू. अ. १।२२; अर्थात् युग के अनुसार आयुर्वेद के सन्दर्भ को विभागों में बाँट कर इस ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ। इसमें एक भी मात्रा शास्त्र से विरुद्ध नहीं है; वे ही अर्थ हैं, और वही ग्रन्थ रचना है; केवल संक्षिप्त करने के लिए दूसरा क्रम अपनाया है। इस प्रकार प्राचीन आयुर्वेद ग्रंथों का ही बौद्ध रूपान्तर अष्टांग संग्रह और अष्टांग हृदय हैं। जैसा कि स्वयं ग्रन्थों के अन्त में लेखक ने लिखा है—ब्रह्मा से कहे हुए आयुर्वेद शास्त्र को स्मरण करनेवाले पूर्व ऋषि थे। इस समय गुरु से पढ़नेवाले व्यक्ति हुए हैं। जिन्होंने स्मरण

किया और जिन्होंने गुरु से सुनकर इनमें से किस में श्रद्धा करनी चाहिए ? यह समझना चाहिए (स्मरण करनेवालों की अपेक्षा सुननेवालों का ज्ञान प्रत्यक्ष होने से अधिक प्रामाणिक है; मैंने गुरु अवलोकितेश्वर से सुना है; इसलिए मेरी रचना अधिक प्रामाणिक है) । अथवा जिन्होंने स्मरण किया था, उन्हीं की परम्परा से मैंने इस शास्त्र को पढ़ा है। इसलिए अभिधाता वक्ता का विचार करना व्यर्थ है । मैनफल वमन कराता है; त्रिवृत्त विरेचन कराता है; इसको मैं कहूँ या अत्रि कहें तो वक्ता के कहने से गुणों में अन्तर नहीं आता । जिसमें ठीक और बुरा पहिचानने की बुद्धि नहीं होती, वही लोक में प्रचलित रेखा का अनुसरण करता है—रेखा का फकीर होता है (साध्व साध्विधिविवेकयुक्तोलोकपंक्तिकृतभक्तिविशेषः ।' ऐसा व्यक्ति मूर्ख ही होता है; विद्वान तो अच्छी कही बात को पसन्द करता है (वालिशो भवति नो खलु विद्वान् सूक्त एवं रमते मतिरस्य—संग्रह. उत्तर) ।

संग्रह में कही गयी यह बात हृदय में और भी स्पष्ट तथा जोर देकर कही गयी है—यदि केवल चरक ही पढ़ते हो तो सुश्रुत में वर्णित रोगों को नहीं समझ सकते; यदि सुश्रुत को पढ़ते हो तो चरक में कही दोष दुष्य काल, बल, आदि का ज्ञान ठीक से नहीं होता । वस्तु के पक्षपात में जिसका मन फँसा हो, ऐसा मूर्ख अच्छे कहे वाक्य में आदर न रखकर सारी आयु भर ब्रह्मा से कहे प्रथम आयुर्वेद को भले पढ़ता रहे । वक्ता के कहने से ही द्रव्य की शक्ति में भिन्नता नहीं आती । इसलिए मत्सर बुद्धि को छोड़कर मध्यस्थता निरपेक्षता का सहारा लेना चाहिए । वात को तैल, पित्त को घी, कफ को मधु शान्त करता है; इसमें वक्ता कहने मात्र से अन्तर नहीं आता ।

यदि यह हठ है कि ऋषि प्रणीत ही ग्रन्थ पढ़ने हैं, तो चरक-सुश्रुत को छोड़कर भेल, जतुकर्ण आदि के ग्रन्थ क्यों नहीं पढ़ते—वे भी ऋषि प्रणीत हैं । इसलिए अच्छे वचनों को, बिना वक्ता का विचार करके ग्रहण करो (हृदय. उत्तर. अ. ४०-८४-८८) ।

अन्त में दोनों संहिताओं में एक ही प्रकार से संसार की मंगल कामना की गयी है, जिसमें भगवान् बुद्ध का वचन 'बहुजन हिताय, बहुजनसुखाय, चरत भिक्षवे, चरत भिक्षुवे' का ही भाव है, यथा—

'हृदयमिव हृदयमेतत्सर्वायुर्वेदवाङ्मयपयोधेः ।
कृत्वा यच्छुभमाप्तं शुभमस्तु परं ततो जगतः ॥' (हृदय. उत्तर. अ. ४०।९)
इति मुनिवचनानां जीवितोपश्रयाणामभिलषितसमृद्धौ कल्पवृक्षोपमानाम् ।
यदुचितमिह पुण्यं कुर्वतो मेऽनुवादं भवतु विगतरोगो निर्वृतस्तेन लोकः॥'

(उत्तर.)

ग्रन्थ में मंगल कामना नाटकों के अन्तिम भरत वाक्य का स्मरण दिलाती है; जो गुप्तकाल की प्रथा है। इसी समय प्रायः नाटकों की रचना हुई है।

संग्रह की रचना—वाग्भट ने संग्रह के प्रारम्भ में स्पष्ट कर दिया है कि सब तंत्रों का संग्रह करके उनसे सार भाग लेकर मैं अष्टांग संग्रह बनाता हूँ। इस संग्रह में अस्थान, अति विस्तार संक्षेप, और पुनरुक्ति दोष नहीं है। संग्रह में जो परम्परा दी गयी है; उसमें पुनर्वसु के साथ धन्वन्तरि, भारद्वाज, निमि; काश्यप, कश्यप सबका उल्लेख इन्द्र के पास जाने में किया है। इनके शिष्यों में अग्निवेश, हारीत, भेड़ के साथ माण्डव्य, सुश्रुत, कराल का नाम भी सुना जाता है। इसलिए इन सबके शास्त्रों का संग्रह जरूर कर्ता ने किया है। उदाहरण के लिए भेल संहिता से तथा चरकसंहिता से मिलाकर इसे लिखा है; यथा—

'स्नानं सुगन्धैः स्नानीयैः कृत्वा स्वगनुलेपनम्।....इत्यादि

भेल के "कान्ता सुमध्यवयसः" के स्थान पर, "मध्यं वयः किञ्चिदिव स्पृशन्तः" संग्रह ने रखा है। दोनों की रचना गुप्तकालीन संस्कृत का भेद स्पष्ट कर देती है।

इतना ही नहीं विविधगणसंग्रह अध्याय (सू. अ. १६) में ओषधियों का सूखा विषय ऐसे सुन्दर छंदों में वर्णित किया गया है, जिससे याद करने में कठिनाई नहीं होती। इसी प्रकार चरकसंहिता का महाकषाय की औषधियाँ भी छंदोबद्ध कर दी गयीं जिससे इनको याद कर लिया जाय।

चरक संहिता का सम्पूर्णतः अनुकरण करते हुए भी विषय को स्पष्ट किया गया है। यथा, चरक में शरीर के उपस्तम्भ आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य कहे गये हैं (सू. अ. ११)। सुश्रुत में ब्रह्मचर्य के कारण क्लीबता कही गयी है; चरक में भी वीर्य के प्रतिघात से क्लीवता का उल्लेख है। इसलिए ब्रह्मचर्य का अर्थ स्पष्ट कर दिया; यह अर्थ वही है, जो कि मनुस्मृति का है अर्थात् ऋतुकाल में सहवास करने पर भी गृहस्थ ब्रह्मचारी ही रहता है; इसी से कहा "मनः शरीरस्थितिमात्रमेव सेवेद्व्यवायं न च तत्पर : स्यात्'—यह बीच का मार्ग निकाल दिया। इस प्रकार से दोनों चरक-सुश्रुत की संगति बनायी गयी है।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति के 'पंचपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्परवारिणि'—इस वाक्य को इसी रूप में ले लिया है (सू. अ. ३।७१)—दूसरे के बनाये तालाब में से मिट्टी के पाँच पिण्ड निकाल कर ही स्नान करना चाहिए।

अष्टांग संग्रह में अपने समय के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन बहुत ही सरलता से किया गया है, यथा—वात, पित्त, कफ इन दोषों में सन्निपात होने पर किस दोष का

प्रथम शमन करना चाहिए इसके लिए भिन्न-भिन्न विचार दिये गये हैं (सु. अ. २१।-१६-२५)।

पराशर का मत है कि वात-पित्त-कफ के सन्निपात में समान बल होने पर प्रथम वायु का शमन करना चाहिए, क्योंकि वायु ही इन सबको चलानेवाला है। नेता के जीत लेने पर उसके साथ सम्पूर्ण सेना हार जाती है। दूसरे आचार्य स्थान के अनुसार दोष का शमन कहते हैं। उनके मत से प्रथम कफ को जीतना चाहिए। शिर, छाती, कण्ठ ये कफ के स्थान हैं, कफ के इन स्थानों में रहने से अन्न में रुचि नहीं हो सकती। रुचि न होने से औषध-अन्न का पाचन नहीं होगा। इसलिए प्रथम कफ को शान्त करना चाहिए; यही कफ शरीर के द्वार का अर्गल है। अतः पित्त या वायु का शमन करना चाहिए। तीसरा विचार सुश्रुत का है—सुश्रुत का कहना कि सब रोगों में एक ही विचार सर्वत्र नहीं है। ज्वर, अतिसार में पित्त, कफ, वायु इस क्रम से दोषों को शान्त करना चाहिए। चौथा विचार कि ज्वर में प्रथम कफ, फिर पित्त और अंतमें वायु को शान्त करना चाहिए। क्योंकि आमाशय के ज्वर में उत्क्लेशित होने से पित्त के लिए दी गयी औषधि कफ को और भी बढ़ायेगी। इसलिए जब ये दोष अपने स्थान में स्थित हों तब कफ, पित्त और वायु इस क्रम से इनको शान्त करना चाहिए।

इस प्रकार से उस समय के भिन्न-भिन्न विचार स्पष्ट कर दिये गये हैं। इसी प्रकार विष के वेगों में नग्नजित और विदेह के मत दिये गये हैं (सप्तमे मरण वेग इति नग्नजितो मतम् । २. सप्तेति वेगामूर्च्छाद्या विदेहपतिना स्मृता। ३. आश्रयः सप्त-सप्तानामित्यालम्बायनोऽब्रवीत् । ४. वेगान् धन्वन्तरिस्तद्वत् सर्पदष्टस्य मन्यते ।। मुनिना येन यत्तूक्तं तत्सर्वमिह दर्शितम्)। यह कहकर सब आचार्यों के मत दिखा दिये गये हैं।[1]

वस्तु का प्रतिपादन तथा उसमें विप्रतिपत्ति बहुत ही सुन्दरता से समझायी गयी है। यथा—आँख तेज का प्रतिनिधि है; यही चक्षु सूर्य या धूप से फिर कैसे दूषित होती

---

१. संग्रह के टीकाकार इन्दु ने इस पर बहुत अच्छा श्लोक दिया है—
'स्मर्तारो वयमागमस्य न पुनः कर्तुं व्यवस्थां क्षमाः
कान्ते वर्त्मनि तैर्न भावगहने बुद्धिः प्रविवक्षत्यलम् ।
पारावारदृशः करामलकवत् पश्यन्ति भावान् सुखं,
ये तेषां रसना प्रयातु गदितं यद्युक्तमत्रास्फुटम् ।।'

है ? इसे चाकू या शस्त्र और पत्थर के उदाहरण से समझाया है (अश्मनो जन्म लोहस्य तत एव च तीक्ष्णता। उपघातोऽपि तेनैव तथा नेत्रस्य तेजसः ॥ हृदय सू. अ. २३।२१)। लोहा पत्थर से ही निकलता है; पत्थर से ही तेज होता है और पत्थर पर गिरकर ही कुण्ठित हो जाता है।

इसी प्रकार गर्भ धारण के समय जीव के आने को मणि (लैन्स) में सूर्य की किरणों के आने से समझाया है। सूर्य की किरणें लैन्स में आती नहीं दीखती हैं, परन्तु तिनके आदि जलाने के कार्य से उनका आना स्पष्ट होता है। इसी प्रकार जीव का आना प्रतिदिन आनेवाली वृद्धि से ज्ञात होता है ('तेजो यथाऽर्करश्मीनां स्फटिकेन तिरस्कृतम् नेन्धनं दृश्यते गच्छत्सत्त्वो गर्भाशयं तथा॥' हृदय. शा. १।३)।

ये दोनों उदाहरण अष्टांग हृदय में हैं; जो ग्रन्थकर्त्ता के प्रौढ़ विचारों की पुष्टि एवं अनुभव के द्योतक है; क्योंकि विषय को सरल बनाने के लिए ही ये उदाहरण हैं। संग्रह में जितने ऊहापोह विचार विनिमय, भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं, हृदय में वे नहीं हैं। हृदय में विषय बहुत ही सरल ढंग से प्रतिपादित किया गया है। हृदय के अध्यायों की संख्या भी एक सौ बीस है; जो आयुर्वेद प्रणाली से युक्तिसंगत है। संग्रह में अध्याय संख्या एक सौ पचास है। इसमें सुश्रुत का शल्य अंग तथा चरक का काय चिकित्सा अंग एवं उस समय के भिन्न-भिन्न विचार सबका संग्रह किया गया है। इसलिए ग्रन्थ का कलेवर बढ़ना स्वाभाविक है।

चरक के सिद्धिस्थान में दी गयी बस्तियों का चलन सम्भवतः सुश्रुत के समय में ही कम हो गया था। संग्रह के समय में तो इनका अवश्य बहुत प्रचार नहीं दीखता। बस्तियाँ ही आवश्यक हैं—चरक से सम्मत हैं। सुश्रुत के शल्य अंग में विस्तार, नये यंत्र शस्त्र तथा नवीन क्रिया का उल्लेख मिलता है। अंजन के विषय में अंजन शोधन, अंजन लगाना इसके सम्बन्ध में संग्रह से अधिक विवेचना अन्यत्र नहीं है। योनि व्रणेक्षण यंत्र तथा पलकों के बाल उखाड़ने के लिए तथा सूक्ष्म शल्य को निकालने के लिए एक संदेश का अधिक उल्लेख किया है। दूसरा यंत्र मुंचुण्डी (मोचना) है, शल्यनिर्घातनी यंत्र नया वाग्भट ने कहा है; इसका उपयोग शरीर में गहरे घुसे शल्य को निकालने में किया जाता था। वाग्भट ने यंत्रों-शस्त्रों तथा शल्यचिकित्सा का पूर्णतः क्रियात्मक रूप वर्णित किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ के पढ़ने से यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकर्त्ता ने प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष किया है, कोई भी वस्तु या वाक्य ऐसा नहीं जिसमें कठिनाई, अस्वाभाविकता की झलक दीखे। यदि चरक-सुश्रुत के प्रति ऋषि या आर्ष का प्रश्न हटा दिया जाय तो संग्रह ग्रन्थ अकेला ही दोनों शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान करा सकता है।

चिकित्सा कर्म के सम्बन्ध में जो ग्रन्थकर्त्ता ने कहा है कि "स्वभ्यस्तकर्मा भिषगप्रकम्प्यः, आकम्पत्यन्यविशालतन्त्र" ठीक ही है।

अष्टांग हृदय के व्याख्याकार—भिषगाचार्य हरिशास्त्री पराड़कर का कहना है कि अष्टांगसंग्रह पर जैज्जट आदि की बनायी दो-तीन टीकाएँ थीं। इस समय इन्दु की शशिलेखा टीका मिलती है। यही एक टीका सम्पूर्ण है। त्रिचूर के मंगलोदय प्रेस से वैद्य टी० रुद्रपारशव ने १९२६ में इसे प्रकाशित किया था।

इन्दु की टीका का नाम शशिलेखा है; शशिकला रूप से शंकर को नमस्कार किया है "प्रोद्भासि स्वच्छशंखस्फुटशशिकलोद्दामवैशद्यहृद्या" इससे स्पष्ट है कि इन्दु ब्राह्मण या वैदिक संस्कृति को मानते थे। वाहट की उक्तियाँ कठिन हैं; उनका परिष्कार करने के लिए इसने व्याख्या की है—

'दुर्व्याख्याविषसुप्तस्य वाहटस्यास्मदुक्तयः।
सन्तु संवित्तिदायिन्यःसदागमपरिष्कृताः॥'

इन्दुका उल्लेख हेमाद्रि की अष्टांगहृदय की टीका (सू. अ. ७। श्लोक ४०) में है।[1] इससे पुराना उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए १३वीं शती से पूर्व इन्दु की स्थिति निश्चित है। इसके साथ ही केरल के वैद्यों में प्रचलित दन्तकथा के आधार से तंत्र-युक्तिविचार नामक ग्रन्थ के लेखक वैद्य नील मेघ ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में इन्दु और जैज्जट को वाग्भट का शिष्य कहा है। इन्दु ने अष्टांग हृदय पर भी टीका की थी, ऐसी हरिशास्त्री पराड़कर जी की मान्यता है। दक्षिण में अष्टांग संग्रह का विशेष प्रचार है—उनका कहना है कि—

'अष्टांगसंग्रहे ज्ञाते वृथा प्राक्तंत्रयोः श्रमः।
अष्टांगसंग्रहेऽज्ञाते वृथा प्राक्तंत्रयोः श्रमः॥'

अष्टांग हृदय के टीकाकार—अष्टांगहृदय पर सबसे अधिक टीकाएँ हुई हैं। आयुर्वेद के किसी ग्रन्थ पर शायद इतनी अधिक व्याख्याएँ नहीं हुई। चरक, सुश्रुत के टीकाकार जैज्जट जैसे विद्वानों ने इसकी टीका की है। शिवदास सेन जी ने चरक, चक्रदत्त, द्रव्यगुण संग्रह की टीका के साथ इस पर भी टीका लिखी है, जिसका उत्तर तंत्र जयपुर से प्रकाशित हुआ है। इसमें पराड़कर जी ने हरिश्चन्द्र को भी अष्टांग

---

१. मधु क्षौद्रम्, मार्द्वीकम् इत्यरुणदत्तः, मैरेयो धान्यासवः, इति चन्द्रनन्दनः, शर्करासवः इत्यरुणदत्तः इन्दुश्च। मैरेयो धातकीपुष्पगुडधान्यक्षसंहितः—इति माधवकारः॥

हृदय का टीकाकार माना है। किस आधार पर यह लिखा है, यह पता नहीं; हरिश्चन्द्र तो वाग्भट से पहले हो गये हैं। अरुणदत्त और हेमाद्रि ने अष्टांगसंग्रह के कुछ वचन अपनी टीका में ऐसे दिये हैं; जो प्रकाशित संग्रह में नहीं मिलते।

पराड़कर जी ने ३४ टीकाओं का उल्लेख किया है; जिनमें ११ के कर्त्ताओं का पता नहीं। इस तालिका में कर्णाटी, द्राविड़ी, केरली आदि टीकाओं का उल्लेख है। इन टीकाओं में से ३ टीकाएँ छपी हैं। सर्वांग सुन्दर तथा आयुर्वेद रसायन। शेष में से नौ टीकाओं का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

१. आशाधर की उद्योत टीका—इसका उल्लेख पीटर्स ने आशाधर के ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए किया है। परन्तु ओफ्रेट के 'केटलोगस कैटलाग' में इसकी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख नहीं। आशाधर सपादलक्ष का जैन विद्वान् था और १२४० ई० में विद्यमान था।

२. चन्द्रनन्दन की पदार्थचन्द्रिका—ओफ्रेट में इसकी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख है। श्री पराड़कर के पास इसकी हस्तलिखित प्रति है। चन्द्रनन्दन का हेमाद्रि और डल्लन ने उल्लेख किया है; इसलिए यह दसवीं शती से पूर्व हुए हैं।

३. रामनाथ की टीका की हस्तलिखित प्रति का भी ओफ्रेट में उल्लेख है; सूत्रस्थान की टीका वेंकटेश्वर प्रेस में छपी है।

४. टोडरमल की टीका का उल्लेख भी इसी में है। श्री पराड़कर जी को भी इसकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी। यह टोडरमल मुगल बादशाह अकबर के मंत्री थे। इनके नाम पर 'टोडरानन्द' नाम का वैद्यक ग्रन्थ बना है।

५. पाठ्या नाम की एक टीका का भी इसमें उल्लेख है।

६-७. हृदय प्रबोधिका और बालप्रबोधिका—इन दो टीकाओं का भी इसमें उल्लेख है।

८. भट्ट नरहरि या नृसिंह कवि भट्ट शिवदेव के पुत्र की वाग्भट खंडन-मंडन टीका का भी इसमें उल्लेख है।

९. दामोदर की संकेतमंजरी का भी इसमें उल्लेख है।

१०. अरुणदत्त की सर्वांगसुन्दरी टीका सम्पूर्ण मिलती है। यह अरुणदत्त मङ्गलदत्त का पुत्र आयुर्वेद तथा संस्कृत साहित्य का अच्छा ज्ञाता था। इसने अनेक आयुर्वेद तंत्रों में से उतारा किया है। टीका में अरुणदत्त ने अपने बनाये पद्य भी लिखे हैं। अरुणदत्त वैदिक धर्मावलम्बी था, यह वस्तु मंगलाचरण से स्पष्ट है।

अरुणदत्त का समय—वाचस्पति ने माधवनिदान पर आतंकदर्पण नाम की टीका

संस्कृत ग्रन्थ लिखे हैं। हेमाद्रि या हेमोदपन्त के नाम से महाराष्ट्र में बहुत से पुराने बोध काम हुए हैं। हेमाद्रि ने आयुर्वेद रसायन टीका चतुर्वग चिन्तामणि बनाने के पीछे (१२७१ से १३०९) लिखी है, ऐसा विचार श्री पी० के गोड़े का है। उनका यह आधार आयुर्वेद रसायन के प्रारम्भिक श्लोकों के ऊपर है।[1] हेमाद्रि की टीका विद्वत्ता की सूचक और उल्लेखों उद्धरणों से भरी है। इस टीका में अष्टांगसंग्रह का बहुत भाग आ जाता है। लेखक को अष्टांगसंग्रह का हिन्दी अनुवाद करने में पर्याप्त पाठ इसी से मिला है। इसमें मूल अष्टांग हृदय के अध्यायों का क्रम बदलकर पृथक् पृथक् स्थानों के अध्यायों को प्रकरणवार लेकर टीका की है। यह फेरफार उसन 'सुख संग्रहण' के लिए अपने आप किया है, ऐसा उनका अपना कहना है (सम्भवतः अष्टांग का वचन "संक्षेपाय क्रमोऽन्यथा" यह वचन अनुसृत किया है)।

हेमाद्रि ने अपना परिचय चतुर्वर्गचिन्तामणि के प्रारम्भ में दिया है। मन्दिर-निर्माण की विशेष पद्धति हेमाद्रि ने चलायी थी। सुधा चूर्ण लेपादि के बिना भी शिला जोड़ी जा सकती है।

शिवदास सेन की टीका—अष्टांग हृदय पर श्री शिवदाससेन जी की टीका उत्तर स्थान पर श्री ज्योतिषचन्द्र सेन ने जयपुर में स्वामी लक्ष्मीराम जी ट्रस्ट से प्रकाशित करायी है। इस टीका में सरलता है, तथा टीका संक्षिप्त है। इसमें कहीं-कहीं पर पाठ परिवर्तन भी है जिससे अर्थ स्पष्ट होता है (उत्तर स्थान अ. ३० के ३८वें श्लोक में 'वृगस्य पत्रं' के स्थान पर 'पूगस्य पत्रम्' दिया है)। इससे अर्थ स्पष्ट हो गया है।

---

१. हेमाद्रिणा चतुर्वर्गचिन्तामणिविधायिना ।
तदुक्तव्रतदानादिसिद्ध्यारोग्यसिद्धये ॥२॥
क्रियतेऽष्टांगहृदयस्यायुर्वेदस्य सुग्रहा ।
टीका चरकहारीतसुश्रुतादिमतानुगा ॥ ३ ॥
हेमाद्रिर्नाम रामस्य राज्ञः श्री करणेश्वधिः ॥

अरुणदत्त हेमाद्रि से पहले हुए हैं। हेमाद्रि ने सू. अ. ७।४० की टीका में अरुणदत्त का नाम लिखा है। हेमाद्रि की टीका का कौशल सू. अ. १।१८, सू. अ. ३।१; सू. अ. ५।२३; सू. अ. ६।७५; सू. अ. ६।१०५-११२-१५८ आदि में देखा जा सकता है। टीका में कुछ विषय ऐसे भी हैं जो प्रकाशित संग्रह में नहीं मिलते।

हेमाद्रि ने चतुर्वर्ग चिन्तामणि के सिवाय आयुर्वेद रसायन टीका (अष्टांग हृदय की), कैवल्यदीपिका मुक्ताफल टीका; शौनक कृत प्रणवकल्प की टीका लिखी है।

(लेखक ने अष्टांगहृदय के अनुवाद में इसका उपयोग किया है)। शिवदाससेन जी ने सुश्रुत का पाठ अपनी टीका में स्थान-स्थान पर दिया है।

संग्रह में वावची, कुक्कुटी (इसका उल्लेख काश्यप संहिता में भी है) का उल्लेख किया है। संग्रह में भी काष्ठौषधियों का ही विशेष उल्लेख है। धातुओं का उपयोग भस्म के रूप में नहीं है। चरक-सुश्रुत की भाँति सूक्ष्म रज के रूप में माना जा सकता है। स्वर्ण का उपयोग घिसकर करने का उल्लेख है। लोह के उपयोग करने के लिए लोहे के पतले पत्र (तिल के समान) बनाकर इनको अग्नि में लाल करके इक्कीस बार आँवले के स्वरस में भिगोये। फिर इनको आँवले के रस में डुबोकर एक मास तक राख की ढेरी में दाब देना चाहिए। बीच-बीच में निकाल कर लोहे के दण्ड से इसको चलाना चाहिए। जब रस सूख जाय तब और डाल दे। इस प्रकार से जब यह रस एक साल में द्रव बन जाये तब इसका उपयोग करे। इसी प्रकार ताबाँ, चाँदी, सुवर्ण से भी पृथक्-पृथक् बनाये (रसा. ४९)। इसके अतिरिक्त स्वर्ण का उपयोग अन्य रूप में भी दिया गया है; जिसमें सम्भवतः सुवर्ण को घिसकर या इस प्रकार से बनाकर उपयोग किया जाता होगा या वर्क बनाकर सीधा उपयोग करते होंगे। जो मनुष्य दीर्घायु चाहते हैं, वे सुवर्ण को शंखपुष्पी के साथ खायें; मेधा की इच्छा रखनेवाले वचा के साथ, लक्ष्मी की चाह रखनेवाले कमलगट्टे के साथ, वाजीकरण चाहनेवाले विदारी के साथ स्वर्ण का उपयोग करें।

अष्टांग हृदय की रचना—यह हृदय संग्रह का ही सार रूप है। इसके अध्याय एक सौ बीस हैं। इसका विभाग संग्रह के अनुसार है—सूत्रस्थान, शारीरस्थान, निदान स्थान, चिकित्सास्थान, कल्पस्थान और उत्तर तंत्र। उत्तर तंत्र पर श्री शिवदास सेन जी की टीका भी है। अष्टांग संग्रह का प्रचार सबसे अधिक हुआ। इसकी जितनी टीकाएँ मिलती हैं, उतनी टीकाएँ किसी भी संहिता की नहीं। तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ, जर्मनी में इसका अनुवाद हुआ। यही इसके प्रसार का प्रमाण है। ग्रन्थकर्त्ता वाग्भट ने इसको इसी उद्देश्य से बनाया था। इसके लिए लघु वाग्भट नाम प्रचलित है; बृहत् वाग्भट नाम संग्रह के लिए है।

वाग्भट ने मध्यम मार्ग का अवलम्बन करने के लिए स्पष्ट रूप से इसी में लिखा है "अनुयायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम्"—कदम-कदम पर सब धर्मों में मध्यम मार्ग को पकड़े। इसी से वैदिक मंत्रों के साथ बौद्ध मंत्रों का भी उल्लेख है। स्वयं भी लोगों के लिए कहा है कि "माध्यस्थ्यमवलम्बताम्" निरपेक्ष रूप से सचाई का पालन कीजिए, किसी के प्रति विशेष आग्रह न रखिए।

इन दोनों संहिताओं में अव्यक्त, महान्, अहंकार, पंचतन्मात्र आदि सृष्टि क्रम सांख्य विचार तथा वाद-प्रतिवाद, गुण, कर्म, द्रव्य, सामान्य आदि न्यायदर्शन के विचार, मोक्ष का साधन योग प्रवृत्ति आदि योग दर्शन विचार इसमें बिलकुल नहीं किया गया। केवल क्रियात्मक दृष्टिकोण ही अपनाया गया है। इसी से सत्त्व, रज और तम के लिए गुण शब्द प्रयोग न करके महागुण शब्द बरता गया है। शीत-रूक्ष आदि को गुण कहा गया है। संग्रहकार ने पंच महाभूत से ही अपना कार्य चला लिया है; इससे पूर्व के तत्त्वों का प्रश्न ही नहीं उठाया; क्योंकि चिकित्सा में इन्हीं पाँच भूतों से काम रहता है।

दोनों संहिताओं में छंद रचना कौशल मिलता है। संग्रह पर केवल इन्दु की ही टीका है। इन्दु वाग्भट के शिष्य थे। हृदय पर पैंतीस से अधिक टीकाएँ हैं। शिवदास सेन जी तक ने इस पर टीका लिखी थी। इसकी प्रसिद्धि का कारण इसका सरल, लालित्यमय भाषा, गेयश्लोक रचना, संक्षिप्त एवं उपयोगी होना है।

वाग्भट में लिखित बौद्ध देवता

बौद्ध दार्शनिक और तार्किक विद्वान् असंग, नागार्जुन, दिङ्नाग, वसुबन्धु, आर्यदेव, चन्द्रकीर्त्ति, शान्तिदेव, और धर्मकीर्त्ति के द्वारा प्रशस्त और स्वर्ण दिन इस पाँचवीं-छठी शती में समाप्त हो गये। इस समय स्तोत्र, स्तव के दिन कश्मीर में सरवजनामित्र ८वीं शती में आरम्भ हुए। अब धर्म में मुद्रा, (हाथों की अँगुलियों की विशेष स्थिति या शरीर की विशेष स्थिति); मण्डल (अलौकिक चित्र) क्रिया (विधि) चर्या (अन्त: और बाह्य शुद्धि) आ गयी। यह विशेष प्रकार की साधना कुछ रूप में यौगिक क्रिया से और कुछ देवी-देवताओं की पूजाओं के साथ सम्मिलित हो गयी थी। अथर्ववेद में वर्णित अलौकिक शक्ति की आराधना वैदिक प्रक्रिया में प्रचलित थी। इस आराधना को मंत्रों से पृथक् करना सरल नहीं था। बुद्ध ने अपने अनुयायियों को मंत्रों से तो पृथक् किया, परन्तु उनकी विचारधारा को किसी रूप में एक स्थान में केन्द्रित नहीं किया। जिससे दीर्घ निकाय में एक पूरा प्रकरण (रक्षा नामक आत्तनातीय) है, जिसमें यक्ष, गन्धर्व आदि आत्माओं से रक्षा करने का उल्लेख है। महामायूरी, धरणी का उल्लेख विनयपिटक में है।

धरणी—पीछे से जिनको तंत्र कहा गया है, उनका प्रारम्भिक रूप धरणी कहा जाता था। यह महायान सूत्र का एक भाग था। ललित विस्तर या सन्धि निर्मोचन सूत्र (लगभग दूसरी शती ईस्वी) तक धरणी का रूप स्पष्ट नहीं था। इनको मंत्र ही समझा जाता था; जैसा कि ईसा की चौथी शती में बने कारण्डवव्यूह से स्पष्ट है।

इससे महायान के प्रारम्भ ग्रन्थ स्वर्णप्रभाशसूत्र के एक प्रकरण में बताया गया है कि देवता सूत्र लिखने पढ़नेवालों की आपत्तियों से रक्षा करते हैं। सद्धर्मपुण्डरीक में कुछ धरणियाँ हैं, जो मनुष्य की रक्षा करती हैं। पीछे से बहुत-सी धरणियाँ बनीं, जो मनुष्यों की नाग, यक्ष, राक्षस तथा अन्य दुष्ट आत्माओं से रक्षा करती हैं। इसके अतिरिक्त ये धरणियाँ राज्यदण्ड, साँप, हिंस्रक पशु, अग्नि, चोर, रोग, पाप और मृत्यु से बचाती हैं। इसके पीछे धरणी मृत्यु के समय शान्ति देनेवाली, इच्छित चाह को पूरी करनेवाली, यहाँ तक कि बोधि चित्त-निर्वाण तक देनेवाली मानी जाने लगी। (इसी से प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के समय महामायूरी के पाठ का उल्लेख बाण ने हर्षचरित में किया है)। धरणी नाम काश्यपसंहिता में रेवती के बीस नामों में आया है (काश्यप संहिता पृष्ठ ६७)।

मंत्र ताड़पत्र पर लिखकर कवच आदि के रूप में धारण किये जाते थे। पीछे से धरणी मंत्रपद बोधिसत्त्व, बुद्ध और दूसरे देवताओं के लिए बनाये गये। पूजा मूर्ति या चित्ररूप में प्रचलित हुई, जिसकी सूचनाएँ पुस्तकों में दी हुई हैं। जो व्यक्ति इस पूजा को करवाता था उसे **विद्याधर** कहते थे; जिनसे वह पूजा करता था, उसे धरणी या मंत्र कहते थे, और इसी को विशेष शब्दों में **विद्याराजनी** (महामायूरी विद्याराजनी) कहते थे; जिसके लिए यह पूजा की जाती थी उस व्यक्ति को यजमान कहते थे।

धरणी का प्रादुर्भाव ईसा की चौथी शती से आठवीं शती के बीच में हुआ है। बहुत अधिक धरणीवाली पाण्डु लिपियाँ गिलगित; पूर्वीय तुर्किस्तान और मध्य एशिया से मिली हैं। ये गुप्तकालीन ईसा की सातवीं शती की लिपि में लिखी हैं।

धरणी या मंत्रपद का तांत्रिक गुप्त यौगिक क्रियाओं से बहुत कम सम्बन्ध है। धरणी का महत्त्व मंत्र पद के पुनः-पुनः उच्चारण पर निर्भर करता है; जो कि अवलोकितेश्वर की पूजा के लिए लगभग एक मास तक किया जाता था। इसमें न तो शक्ति की उपासना है और और न मुद्रा, मण्डल, क्रिया या चर्या का उल्लेख है।

अवलोकितेश्वर और तारा—धरणियों में बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की पूजा है।[1] अवलोकितेश्वर का स्थान "पोतलक" है। यह स्थान दक्षिण में कहीं श्री धान्यकात्यक (अमरावती) के पास है। ईसा की चौथी शती मे बने कारण्डवव्यूह में बोधिसत्त्व का प्रथम देवता, (आदि बुद्ध, आदिनाथ वज्र) नाम से कहा है: इसमें 'तारा'

---

१. ईश्वरं द्वादशभुजं नाथमार्यावलोकितम्।
सर्वव्याधिचिकित्सन्तं ॰पन् सर्वगुहान् जयेत्॥ (संग्रह.)

देवी का नाम नहीं; परन्तु महेश और उमा का उल्लेख है; जो कि अवलोकितेश्वर के रूप हैं। इससे स्पष्ट है कि महायान में उस समय उमा-महेश्वर का स्थान था; जो कि पीछे तंत्रयान में विकसित हुआ।

इस ग्रन्थ में सबसे प्रथम हमको "ओं मणिपद्म हुँ"—यह मंत्र देखने में आता है (आज भी लामा अपने चक्र को घुमाते हुए इस मंत्र को बोलते रहते हैं)। यह मंत्र अवलोकितेश्वर का हृदय कहा जाता है; इसमें त्रिपिटक का नवांग ज्ञान समाविष्ट कहा जाता है। इसी से इसको साधक 'सारी-महाविद्याराजनी' कहते हैं।

इससे स्पष्ट है कि ईसा की चौथी शती में बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर पूजा का मुख्य देवता था और देवी तारा इस समय तक बौद्धिक पूजा में सम्मिलित नहीं हुई थी।

'मञ्जुश्रीमूलकल्प' में बोधिसत्त्व मञ्जु श्रीदेवी की पूजा लिखी गयी है; परन्तु जो मनुष्य दुःखों से शान्ति चाहते हैं, उनके लिए तारादेवी की पूजा भी लिखी है। गुह्य समाज में बुद्ध विरोचन को प्रथम बुद्ध कहा है, जिससे बहुत से बुद्ध स्त्री रूप में उत्पन्न हुए, इन रूपों के नाम लोचना, मामकी, पाण्ड्रवासिनी और सम्यतारा थे। मञ्जु श्री मूलकल्प में तारा के नाम भिन्न आये हैं। यथा—भृकुटी, लोचना, मामकी, श्वेता, पाण्ड्रवासिनी, सुतारा, इनको महाभद्रा नाम से कहा गया है[1]। ग्रन्थ में तारा देवी को विद्याराजनी कहा है; जो दुनिया के कष्टों से छुड़ानेवाली है। इसका कार्यक्षेत्र यद्यपि पूर्व है, तथापि यह सारे संसार में घूमती है।

तारा का उद्गम और इसकी अपार शक्ति की प्रशंसा सबसे प्रथम 'महाप्रत्यंगिरा-धारिणी' में मिलता है। यह ग्रन्थ मध्य एशिया से प्राप्त हुआ गुप्तकालीन सातवीं शती की लिपि में लिखित है। इसका अनुवाद चीनी भाषा में प्रसिद्ध तांत्रिक अमोघवज्र ने (७०४–७७४ ईस्वी में) किया था। इसमें तारादेवी का वर्ण श्वेत, वज्र की माला धारण किये हुए; हाथ में वज्र लिए; मुकुट में विरोचन की मूर्त्ति बनी हुई बताया गया है। ईसा की आठवीं शती में होनेवाले कश्मीर देश के कवि सर्वजनमित्र ने तारा-

---

१. सुश्रुत में तारः, सुतारः शब्द आते हैं (तारः सुतारः स सुरेन्द्रगोपः—कल्प. अ. ३।१४); डल्हण ने इन शब्दों का अर्थ क्रमशः चाँदी, पारा और सुवर्ण किया है। पारे के लिए सुतार शब्द मेरे देखने में नहीं आया। सुतारः-सुतारा यदि माना जाय या सुतारः ही रखें तो भी इस शब्द की समानता सुतारा से बहुत है। बौद्ध साहित्य में सुतारा या तारा शब्द मिलता है। इसलिए सुश्रुत का समय जो निश्चित किया गया है (वाकाटक काल का) वह ठीक ही लगता है।

देवी की स्तुति में एक स्तोत्र बनाया था। इस स्तोत्र का स्रग्धरा छन्द है। इसमें यह देवी निर्बल व्यक्ति के लिए शक्तिदात्री रूप में बतायी गयी है। कष्टों को दूर करने-वाली, सब दुःखों से छुड़ानेवाली वर्णित है।

ईसा की सातवीं शती के बाद से तारास्तोत्र बहुत मिलते हैं। तारादेवी को प्रज्ञा या प्रज्ञापारमिता नाम दिया गया। इसको सब बुद्धों की माता तुल्य तथा अवलोकि-तेश्वर की सहचरी कहा गया, जो मैत्री और करुणा के प्रतीक हैं। हिन्दुओं में यही तारा और अवलोकितेश्वर दोनों पुरुष और शक्ति के रूप में पूजित हुए हैं। ब्राह्मण इन्हीं को शिव और शक्ति के रूप में पूजा करते हैं। जिसमें शक्ति संसार के बन्धन से छुटाकर मोक्ष देनेवाली है। शिव या पुरुष संसार में बन्धन का कारण है। बौद्धिक दर्शन भी लगभग इसी बात को बताता है; जिसमें ब्रह्मा की समानता आदि बुद्ध से; शक्ति की समानता तारा या प्रज्ञा से जो मोक्ष का कारण है; शिव की समानता अवलोकितेश्वर से है। इसमें अन्तर केवल इतना ही है शिव या पुरुष संसार-बन्धन का कारण है, और अवलोकितेश्वर मैत्री और करुणा का दूत या प्रेरक है है।

तांत्रिक सिद्धान्तों में जल्दी ही ऐसे परिवर्तन हुए जिससे तारा को बुद्ध की शक्ति माना जाने लगा। इसमे, बुद्ध और तारा में वही सम्बन्ध स्थापित हो गया जो शिव का पार्वती के साथ है। आदि बुद्ध को ब्रह्मा माना गया है।[1]

जैनागम पद्मावती पूजा स्तोत्र में आता है—

> तारा त्वं सुगतागमे भगवती गौरीति शैवागमे
> वज्रा कौलिकशासने जिनमते पद्मावती विश्रुता।
> गायत्री श्रुति शालिनां प्रकृतिरित्युक्तासि सांख्यागमे
> मातर्भारति किं प्रभूतभणितैर्व्याप्तं समस्तं त्वया॥

आर्या—का उल्लेख वाग्भट में आया है (संग्रह सू. अ. ८।९४)। डा० अग्रवाल ने कादम्बरी (पृष्ठ ८० में) में आर्या से वृद्धा आर्या, विमाता लिया है। लोक में विमाता की पूजा छठी के दिन होती है। आर्या का अर्थ शिशु माता किया है—"पुरुषेषु यथा रुद्रस्तथा आर्या प्रमदास्वपि। आर्या माता कुमारस्य पृथक् कामार्थमिज्यते (२१।१-४०)। कुशाण काल में इस देवी का पद बहुत ऊँचा था। मथुरा में मिले शिला फलक पर "आयवती प्रतिथापिता आर्यवती अर्हत पुजाये"—यह लिखा है (देखिये कादम्बरी पृष्ठ ८० पाद टिप्पणी)।

---

१. **दी एज औफ इम्पीरियल कन्नौज—भारतीय विद्या भवन बम्बई से प्रकाशित, पृष्ठ २६०-२६२ के आधार पर।**

नावनीतकम्

आयुर्वेद के दो ग्रन्थ इसी समय के दीखते हैं। इनमें नावनीतक की मूल प्रति को मेजर जनरल बावर पाण्डुलिपि कहा जाता है क्योंकि बावर ने इसे काश्गर से प्राप्त किया था। इसमें आयुर्वेद के नुस्खों का संग्रह है। इसकी रचना चतुर्थ शती के लगभग मानी जाती है। इसमें आत्रेय, क्षारपाणि; जतुकर्ण, पराशर, भेल, हारीत तथा सुश्रुत का उल्लेख है। इसमें लशुनकल्प सबसे प्रथम दिया गया है। इसमें सात प्रकरण हैं—

प्रथम प्रकरण में—लशुनकल्प, सूत्रस्थान, परिभाषा, आश्च्योतन, मुखलेप, अंजन, शिरोलेप और मिश्रित योग हैं। द्वितीय प्रकरण में ग्रन्थ रचना का उद्देश्य यह कहा है—

प्राक्प्रणीतैर्महर्षीणां योगमुख्यैस्समन्वितम्।
वक्ष्येऽहं सिद्धसंनिकर्षं नाम्ना वै नावनीतकम्॥
नानाव्याधि परीतानां नृणां स्त्रीणाञ्च यद्हितम्।
कुमाराणां हितं यच्च तत्सर्वमिह वक्ष्यते॥
समासरतबुद्धीनां भिश्जां प्रीतिवर्द्धनम्।
योगबाहुल्यतश्चापि विस्तरज्ञं मनोनुगम्॥

प्राचीन ऋषियों के मुख्य योगों को मैं नावनीतक—मक्खन रूप में सार रूप में—कहता हूँ (संग्रह रूप में रचना इस समय से आयुर्वेद में प्रारम्भ होती है; योगसंग्रह सम्बन्धी ग्रन्थों का यहीं से प्रारम्भ होता है। इसी शृंखला में आगे वृन्दमाधव; योग-तरंगिणी, चक्रदत्त, माधव निदान, वंगसेन आदि संग्रह ग्रन्थों का संकलन आरम्भ होता है) इसमें नाना प्रकार के रोगों से पीड़ित पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के लिए योग कहे गये हैं। ये योग प्रायः सब पुस्तकों से संगृहीत हैं। चरक-सुश्रुत के साथ भेल संहिता के भी योग इसमें मिलते हैं। इसी प्रकरण में मुख्य योगों का संग्रह है। इसमें चूर्ण, गुटिका, घृत, तैल, प्रकीर्ण योग, वस्ति, वृष्ययोग, अंजन विधान, वलीपलित योग, हरीतकी कल्प; शिलाजतुकल्प, चित्रककल्प (लशुनकल्प भी यहीं चाहिए था, अथवा इस पर जोर देने के लिए इसको प्रारम्भ में रख दिया है) और मिश्रक योग हैं। तृतीय प्रकरण में मिश्रक योग और सिद्ध योग हैं। चतुर्थ प्रकरण में सिद्धमंत्र, पाशक केवली मंत्र हैं। पाँचवें प्रकरण में मंत्र विषय आता है। छठे प्रकरण में अगदतंत्र और महा-मायूरी मंत्र है। सातवें प्रकरण में आनन्द महामायूरी मंत्र है। इसी प्रकरण में यश मित्र का नाम आता है (अनया आनन्द महामायूरी विद्याराजया तथागतभाषिताया यशमित्रस्य रक्षां करोमि)।

भेलसंहिता से १५ योग और चरकसंहिता से २९ योग नावनीतक में लिये गये

हैं। इनके सिवा और भी योग हैं। नावनीतक के समय मंत्र-तंत्र का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। योगों के सम्बन्ध में एक-एक योग कांकायन, सुप्रभ, निमि; उशनस; वाड़वली; बृहस्पति के नाम आते हैं। अगस्त्य धन्वन्तरि और जीवक के नाम से दो-दो योग आये हैं। काश्यप के नाम से योगों की एक पूरी सूची दी गयी है। इनमें से बहुत से योग अन्यत्र नहीं मिलते। सम्भवतः नावनीतक लेखक ने लोक में प्रसिद्ध योगों का संग्रह किया है; जैसा कि इसका नावनीतक नाम बताता है। इन संग्रहीत योगों के सिवा लेखक का अपना बहुत कम अंश है।

नावनीतक में बौद्धों की मायूरी, महामायूरी विद्या विस्तार से दी गयी है। इस विद्या का प्रचार उस समय अवश्य रहा होगा। इसका उल्लेख वाग्भट ने भी किया है। अमृतप्राश घृत का पाठ चिकित्सा-कलिका और अष्टांगहृदय का मिलता है, परन्तु नावनीतक के पाठ में बकरी के मांस के रस का उल्लेख नहीं। यह सम्भवतः हिंसा की दृष्टि से छोड़ दिया होगा।

"नमस्तथागतेभ्यः" में तथागत शब्द बुद्धदेव के लिए ही प्रचलित है; यहाँ पर बहुवचन में प्रयुक्त है; संग्रह में एक ही वचन में है (नमश्चक्षुःपरिशोधनराजाय तथागतायार्हते सम्यक् सम्बुद्धाय—सू० अ० ८।१००)। इसी प्रकार 'उर उद्घातेषु' के स्थान पर 'उरोद्घातेषु' कहा है। 'ह्रीवेर' के स्थान में 'हिरिवेरम्', तेजस्विनी के स्थान पर 'तेजोवती' कहा है। विभक्ति का व्यत्यय भी हुआ है, प्राग्भक्ताद् के स्थान पर 'प्राग्भक्तम्' कहा। सन्धि व्यत्यय भी है, सूपौदनम् के स्थान पर सूपोदनम्, समास व्यत्यय—राज्यन्धः के स्थान पर रात्रिमन्धः आता है। पदव्यत्यय भी मिलता है; भाषते के स्थान पर भाषति, आधत्ते के स्थान पर आधत्ति कहा है। इसीलिए श्री हरप्रसाद शास्त्री का कहना है—

"विद्वान बौद्ध पण्डितों ने भी अपाणिनीय पदों का अधिकतः प्रयोग किया है।"

श्री गुरुपदशर्मा हालदार की मान्यता है कि नावनीतक का संस्कार पीछे हुआ है। नावनीतक के चौदहवें अध्याय में जीवक नाम आता है (भार्गी सपिप्पली पाठा पयस्या (मधुनासह)। (श्लैहि) मकया लिहेच्छर्द्या इति होवाच जीवकः ॥१४।७४)। जीवक प्रायः ईसा से ६०० वर्ष पूर्व हुए थे। ये वचन बहुत पीछे के हैं। काश्यप के शिष्य जीवक अभिप्रेत होने पर सन्देह नहीं रहता।

चक्रपाणि ने भी इस पुस्तक का संहिता रूप में उल्लेख किया है। दसवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी के बीच में चन्द्रटाचार्य्य, चक्रपाणि दत्त, निश्चलकार आदि ने इसका उल्लेख कहीं पर नावनीतक का नाम देकर और कहीं पर बिना नाम देकर किया है;

सोलहवीं शताब्दी में होनेवाले श्री शिवदास सेन ने चरक-तत्त्वप्रदीप में इसके श्लोक दिये हैं। ये श्लोक मूल ग्रन्थ से उद्धृत हैं अथवा निश्चल प्रणीत रत्नप्रभा से; यह नहीं कहा जा सकता। कवीन्द्रकृत ग्रन्थसूची में (१६५६) नावनीतक का नाम नहीं मिलता; इस समय तक इसका लोप सम्भवतः हो चुका होगा। निश्चल तथा शिवदास ने अपने-अपने ग्रन्थों में नावनीतक का नाम न लेकर यह श्लोक दिया है—

निदिग्धिकायाः स्वरसं ग्राह्येद् यंत्रपीडितम्।
चतुर्गुणे रसे तस्मिन् घृतप्रस्थं विपाचयत्॥

यही श्लोक उपलब्ध नावनीतक में दूसरे अध्याय में (५३वाँ) है। इसलिए यह स्पष्ट है कि प्राचीनों ने जिस नावनीतक का उल्लेख किया है, वह इससे अभिन्न है। सोलहवीं शताब्दी में इसका पूर्णतः लोप हो गया होगा। क्योंकि उसके बाद इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। पीछे 'काशगढ़' स्थान से यह प्राप्त हुआ।

प्राचीन काल में कश्मीराधिपति महाराज कुश ने तिब्बत से उत्तर चीन राज्य को जीतकर इस राज्य की देखरेख के लिए 'कुशगढ़' नाम से एक विशाल दुर्ग बनवाया था। प्रथम शताब्दी के अन्त में कश्मीर नरेश का देहान्त होने पर कुशगढ़ राज्य पुनः चीन के वश में आ गया था। इसके पीछे कुशानाधिपति कनिष्क ने चीन राज्य को जीतकर इस प्रदेश को अपने अधीन कर दिया, जिससे कुशगढ़ राज्य भी इसके राज्य में आ गया था। यहाँ पर कनिष्क ने बौद्धों के बहुत से उपनिवेश बसाये थे। कनिष्क की पुष्पपुर (पेशावर) और कपिशा दोनों राजधानियाँ थीं। इन बौद्धों में कुछ वैद्य भी थे—जिन्होंने वहाँ नावनीतक सुरक्षित रखा होगा। इसका प्रचार करने के लिए इसमें सब ऋषियों के नाम कीर्त्तन कर दिये गये। इसमें काशिराज वक्ता और सुश्रुत पूछनेवाले हैं (उत्पन्नास्थो म (मु) निमुपगतः सुश्रुतः काशिराजं, किन्चेतन्स्यादथ स भगवानाह तस्मै यथावत्॥)

सुश्रुत और काशिराज का सम्बन्ध देखकर श्री हालदार इसका सम्बन्ध सुश्रुत संहिता के साथ जोड़ते हैं। परन्तु सुश्रुत में रसोन की इतनी प्रशंसा या गुण कथन नहीं है। चरक की भाँति सामान्य उल्लेख है, वह भी रसायन रूप में नहीं। लशुन का मुख्य वर्णन नावनीतक, काश्यप संहिता, अष्टांग संग्रह और अष्टांग हृदय में ही मिलता है। यह चारों संहिताओं में अति विस्तृत रूप में है; इसके उपयोग के प्रति लोगों को आकर्षित करने के लिए उत्तम छन्दों में, लालित्यपूर्ण वर्णन किया गया है; यथा—

'दृष्ट्वापत्रैः हरितहरितैरिन्द्रनील प्रकाशैः
कन्दैः कुन्दस्फटिककुमुदेन्द्वंशुशंखाभ्रशुभ्रैः॥' (नावनीतक)

इसलिए नावनीतक का रचनाकाल इन संहिताओं के आसपास ही होना चाहिए, जब कि भारत की संस्कृति में शक-यवनों का सम्बन्ध पूरा हो गया था। वैदिकधर्मावलम्बी प्रायः इसको म्लेच्छ वस्तु समझकर नहीं खाते।

'न भक्षयन्त्येनमतश्च विप्राः शरीरसंपर्कविनिःसृतत्वात्।
गन्धोग्रतामप्यत एव चास्य वदन्ति शास्त्राधिगमप्रवीणाः॥' (नावनीतक)

'राहोरमृतचौर्येण लूनाद्ये पतिता गलात्।
अमृतस्य कणा भूमौ ते रसोनत्वमागताः॥
द्विजा नाश्नन्ति तमतो दैत्यदेहसमुद्भवम्।
साक्षादमृतसम्भूतेर्ग्रामिणीः स रसायनम्॥' (संग्रह)

'एतच्चाप्यमृतं भूमौ भविष्यति रसायनम्।
स्थानदोषात्तु दुर्गन्धं भविष्यत्यद्विजोपगम्॥' (काश्यप)

लशुन के उपयोग के प्रति लोगों को आकृष्ट करने के लिए इसकी प्रशस्ति विशेष रूप में दी गयी है।

इसलिए सुश्रुत संहिता के साथ नावनीतक का सम्बन्ध सुश्रुत और काशिराज से जोड़ना युक्तिसंगत नहीं है। यह उल्लेख तो केवल अपने वाक्य में जोर तथा आदर उत्पन्न करने के लिए है। नावनीतक के प्रारम्भ में जो सुन्दर छन्द रचना (कुमार सम्भव के हिमालय वर्णन से मिलता है) है, वह इसको किसी भी प्रकार दूसरी शती तो क्या, तीसरी शताब्दी से पहले नहीं पहुँचाती। इतनी समासबहुल रचना तीसरी शताब्दी के अन्त की है; यही इसे इस काल में रखने का पुष्ट प्रमाण है।

सम्भवतः संग्रहग्रन्थों में नावनीतक सबसे प्रथम है; क्योंकि इसमें सबके प्रयोगों का संग्रह है। हरीतकी के विषय में लिखा है :

'हितं हयानां लवणं प्रशस्तं जलं गजानां ज्वलनं गवां च।
हरीतकी श्रेष्ठतमा नराणां चिकित्सिते पङ्कजयोनिराह॥'

हरीतकी के भेद भी इसमें कहे गये हैं (विजया त्रिवृत्ता रोहिणी चैव पूतनाऽमृता। जीवन्ती चाभया चैव सप्त योनिर्हरीतकी)। इनके रक्षण भी हरीतकी कल्प में दिये गये हैं। नवें अध्याय में नेत्राञ्जन हैं। अंजन नाना प्रकार के हैं; नेत्ररोग प्रतिकार योग; राज्यन्धता प्रतीकारयोग आदि। दसवें अध्याय में केशराज, केशरञ्जन योग दिये गये हैं। शिलाजतुकल्प में शिलाजतु की उत्पत्ति चरक के अनुसार दी है—

'हेमाद्याः सूर्यसन्तप्ताः स्रवमलं गिरिधातवः।
स्निग्धाभं गुरुभूतत्स्नाभं वमन्ति तच्छिलाजतु॥' (नावनीतक)

'हेमाद्याः सूर्यसन्तप्ताः स्रवन्ति गिरिधातवः ।
जत्वाभं मृदुमृत्स्नाभं यन्मलं तच्छिलाजतु ॥' (चरक.)

चौदहवें अध्याय में कुमारभृत्या प्रकरण है; जिसमें प्रायः लिखा है कि "काश्यपस्य वचो यथा" । इससे स्पष्ट है कि यह प्रथम योगसंग्रह ग्रन्थ है; जो कि सुगमता के लिए किया गया है । इसका समय लगभग चौथी शताब्दी के आसपास है । नावनीतक के तृतीय खण्ड में नखीतैलम्, माणिभद्रतैलम् (चिकित्सा में माणिभद्र का नाम संग्रह और हृदय में है); आत्रेयसम्मत तैलम्, नारायणसम्मततैलम् ये नाम तैल की महत्ता के रूप में दिये गये हैं; जो कि उस समय की परिपाटी थी ।

कामशास्त्र, वात्स्यायन कृत

भारतीय ऐतिहासिक गुप्तकाल को स्वर्णयुग कहते हैं । यह काल अनेक प्रतापी राजाओं के उदय होने के कारण प्रकाशित है । इसके अतिरिक्त इस काल में भारतीय सभ्यता और संस्कृति अपनी उत्कर्ष सीमा को पहुँच गयी थी ।

लोग अपना समय सुख से बिताते थे । फाहियान ने तत्कालीन सुख सम्पत्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है । उससे पता चलता है कि उस समय के लोगों ने अपने रहने के लिए बड़े-बड़े महल बनवाये थे । महाकवि शूद्रक ने वसन्तसेना के घर का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसका घर एक बहुत बड़ा महल था; जिसमें सात प्रकोष्ठ (घरों के चौक) बने हुए थे । इन महलों की सीढ़ियों पर अनेक रत्न जड़े थे, और बाहर चूने से सफेदी की गयी थी । वसन्तसेना के महल में आजकल की तरह खिड़कियाँ थीं ।

उस समय उद्यान, पक्षिपालन, वाहन आदि का शौक नागरिकों को था । बालों का शृंगार, केश विन्यास पर विशेष ध्यान दिया जाता था ।

सामाजिक जीवन में आनन्द लाभ के लिए भिन्न-भिन्न उत्सव होते थे । वात्स्यायन ने इनके पाँच विभाग किये हैं—सामूहिक यात्रा; समाज गोष्ठी, सभापानक, उद्यान भ्रमण और समस्याक्रीड़ा (कामसूत्र १।४।१४) । फाहियान ने पाटलिपुत्र के वर्णन में प्रतिवर्ष होनेवाले रथयात्रा का वर्णन किया है ।

इसके अतिरिक्त आखेट, भेड़ों, भैंसों, कुक्कुटों को लड़ाना, (इतश्चापनीतयुद्धस्य मल्लस्येव मर्द्यते ग्रीवा मेषस्य—मृच्छ अ० ४) मनोरंजन के साधन थे । जुआ भी मनोरंजन का उत्तम साधन था (द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्—मृच्छ० अं० २) । मृच्छकटिक में जुआ खेलने का बहुत विशद वर्णन है । कालिदास ने चौपड़ खेलने का वर्णन किया है (कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित् करेण रेखाध्वजलांच्छनेन। रत्नांगुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥रघु० ६।११) ।

खान-पान भी बहुत आनन्दमय था। मद्यपान की प्रथा थी, सम्भवतः इसमें दोष नहीं था, जैसा संग्रह के वर्णन से स्पष्ट है। कालिदास ने भी मदिरापान का उल्लेख किया है।[1]

इस प्रकार के सुखी जीवन के लिए तीसरे पुरुषार्थ के सूचनार्थ इस समय वात्स्यायन ने कामसूत्र की रचना की है। वात्स्यायन इनका गोत्र नाम प्रतीत होता है; असली नाम क्या था; यह स्पष्ट नहीं। न्यायसूत्रों पर भाष्य करनेवाले भी वात्स्यायन हैं। श्री वासुदेव उपाध्याय ने इनका व्यक्तिगत नाम पक्षिल स्वामी लिखा है। ये दक्षिण भारत के रहनेवाले थे। हेमचन्द्र ने अपने 'अभिधान चिन्तामणि' में इनका एक नाम द्रामिल दिया है। द्रामिल द्राविड़ का ही दूसरा रूप प्रतीत होता है। दिङ्नाग ने वात्स्यायन भाष्य का खण्डन किया है, इसलिए इन्हें दिङ्नाग से पूर्व होना चाहिए। डा० तूशी के अनुसार इनका समय ईसा की चौथी शताब्दी है।

कामसूत्र की रचना कौटिल्य-अर्थशास्त्र के ढंग पर सूत्र रूप में हुई है। अध्यायों के अन्त में विषय का संक्षेप श्लोकों में दिया है। इस ग्रंथ में आभीरों के समान ही आन्ध्र लोग सामान्य शासक रूप में वर्णित हैं। यह घटना २२५ ईसवी के बाद की होगी, जब आन्ध्रों का राज्य नष्ट हो गया था। इसलिए इस ग्रन्थ का समय चौथी या पाँचवीं शताब्दी मानने में कोई आपत्ति नहीं।

इस ग्रन्थ के सात भाग हैं, जिनमें तत्कालीन हिन्दू समाज के सुसंस्कृत (फैशनेबुल) नागरिकों के उत्सवप्रिय आनन्दमय विलासी जीवन का जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसके वर्णन में शरीर के स्वास्थ्य की दृष्टि से, आरोग्यशास्त्र के अनुसार अनेक उपयोगी सूचनाएं दी हैं। यह सब मनुष्य के लिए आवश्यक एवं उपयोगी होने से लिखा है, जिसका ज्ञान प्रत्येक नागरिक के लिए जरूरी है। यथा—

---

१. श्री वासुदेव उपाध्याय "गुप्त साम्राज्य का इतिहास"।

फाहियान ने इसके विपरीत लिखा है—उसका कहना है कि—"सारे देश में कोई अधिवासी न हिंसा करता है; न मद्य पीता है, और न लहसुन-प्याज ही खाता है। केवल चाण्डाल ही ऐसा करते हैं। जनपद में न तो लोग सूअर और मुर्गी पालते हैं, और न जीवित पशु ही बेचते हैं, न कहीं सूनागार है और न मद्य की दुकानें हैं। केवल चाण्डाल ही मछली मारते हैं, मृगया करते तथा मांस बेचते हैं"—फाहियान का यह वर्णन सम्भवतः ब्राह्मणों के लिए ही है। वे ही लशुन नहीं खाते थे ("द्विजा नाश्नन्तिमतो दैत्यदेहसमुद्भवम्"—संग्रह. उत्तर. अ. ४०)।

नागरिक का वृत्त—विद्या समाप्त करके व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम में आना होता है। गृहस्थ के लिए अपना घर होना आवश्यक है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह नगर में (८०० ग्रामों के समूह में), पत्तन में (राजधानी में), खर्वट में (दो सौ ग्रामसमूह में), महति (चार सौ ग्राम समूह या द्रोणमुख) में अपना निवास स्थान बनाये। यह ऐसे स्थान पर होना चाहिए जहाँ सद्‌गृहस्थ रहते हों अथवा जीविका प्राप्ति सुगम हो।

घर के पास में जलाशय और वृक्ष, वाटिका लगानी चाहिए। घर में अलग-अलग कक्षा प्रत्येक कार्य के लिए होनी चाहिए। सामान्यतः घर के दो विभाग हों, एक विभाग दिन के लिए और दूसरा अन्तःपुर या शयनकक्ष। मकान को नाना प्रकार से सजाया जाय। पलंग के सिराहने में कूर्चस्थान (देवतास्थापन—'जयमंगला') और चौकी रहनी चाहिए। चौकी पर अनुलेपन, माला, शृंगारदान, इत्रदान, बिजौरी की छाल और पान रहने चाहिएं। पास ही वीणा, चित्रफलक आदि वस्तु रखनी चाहिएँ।

नित्यकर्म—प्रातःकाल उठकर दैनिक कार्य करके, दन्तधावन, अनुलेपन, धूप, माला धारण करके, ओठों पर मोम, हाथ पैरों पर आलक्तक लगाकर दर्पण में मुख देखकर, पान खाकर काम में लगे। स्नान तो प्रति दिन करना चाहिए। उबटन दूसरे दिन लगाना चाहिए। तीसरे दिन फेनक (रीठे आदि के पानी) से सिर धोना, चौथे दिन हजामत करानी चाहिए। भोजन पूर्वाह्ण और अपराह्ण में करना चाहिए। भोजन के पीछे तोता-मैना आदि पक्षियों से विनोद करे; बटेर, मुर्गा, मेढ़ों का युद्ध देखे, मुसाहिबों के साथ बैठकर विनोद करे, दिन में आराम करे। तीसरे पहर गोष्ठी विहार करे। सायंकाल में संगीत सुने। रात्रि में धूप से सुगन्धित घर में शयन करे।

औपनिषदिक प्रकरण—कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस नाम का एक प्रकरण है, वह एक प्रकार से परिशिष्ट रूप में है। कामसूत्र में यह प्रकरण इसी रूप में है। इसमें नाना प्रकार की औषधियों का उल्लेख है, यथा—सुन्दरताकारक तगर, कूठ, तालीस पत्र का अनुलेपन, भिन्न-भिन्न वशीकरण औषधियाँ, वाजीकरण प्रयोग में उच्चटा और मुलहठीयुक्त शर्करा मिश्रित दूध। इसके सिवा मेष-मुष्क, बकरे के अण्ड, विदारी, कौंच का उपयोग भी वर्णित है। उरद का दूध में उपयोग मधु और घृत के साथ करने का विधान है। चरक की भाँति चटकाण्ड रस का चावलों और दूध के साथ सेवन भी लिखा है। शतावरी, गोखरू, श्रीपर्णी का उपयोग भी बताया गया है। अन्त में कहा है—

'आयुर्वेदाच्च वेदाच्च विद्यातन्त्रेभ्य एव च।
आप्तेभ्यश्चावबोद्धव्या योगा ये प्रीतिकारकाः॥
न प्रयुञ्जीत संदिग्धान्न शरीरात्ययावहान्।
न जीवघातसंबद्धानाशुचिद्रव्यसंयुतान्॥'

ऐसे योगों को आयुर्वेद से, वेद से या अन्य तंत्रों से जानना चाहिए, परन्तु संदिग्ध या शरीर को हानि पहुँचानेवाले योग नहीं बरतने चाहिए। जिन योगों में प्राणियों की हिंसा हो, जो अपवित्र द्रव्यों से बनते हों, उनको नहीं बरतना चाहिए।[1]

पिछले कामशास्त्र के ग्रन्थों में (अनंगरंग, पंचसायक, कुचुमारतंत्र में) इस प्रकरण को विस्तार से वर्णित किया है। कुचुमारतंत्र में प्रायः योग ही हैं। बल-वृद्धि एवं पुष्टि के लिए अश्वगन्धा का उपयोग तैल, चूर्ण या घी के रूप में बताया है। चक्रदत्त, भावप्रकाश आदि ग्रन्थों में वात्स्यायन के योगों की छाया मिलती है।

बाल काले करने तथा बाल सफेद करने आदि के जो योग दिये हैं, वे कौटिल्य-अर्थ-शास्त्र से भिन्न होने पर भी इसी अर्थ को सिद्ध करनेवाले तथा अस्थायी हैं। बाल काले करने के लिए मेंहदी का उपयोग है। श्वेत बालवाला व्यक्ति हास्यास्पद होता है—

'स्रग्गन्धधूपाम्बरभूषणानां न शोभते शुक्लशिरोरुहाणाम्।
यस्मादतो मूर्द्धजरागतैलं कुर्याद् यथैवाञ्जनभूषणानाम्॥' (नित्यनाथ)।

बृहत्संहिता

वराहमिहिर गुप्त-काल के सबसे प्रधान ज्योतिषी थे। इनका समय ५०५ ई० है। इनकी बनायी हुई बृहत्संहिता ज्योतिष का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। वराहमिहिर विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नों में एक थे। इसी संहिता का यह प्रसिद्ध श्लोक है —

---

१. आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में (सुश्रुत में) शूक रोग का उल्लेख है। इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती। कामसूत्र में लिंगवर्धक योगों में शूकों का उल्लेख है—सम्भवतः उनके उपयोग से ये रोग होते होंगे—"एवं वृक्षजानां जन्तूनां शूकैरुपलिप्तं लिङ्गं दशरात्रं तैलेन मृदितं पुनः पुनरुपलिप्तं पुनः प्रमृदितमिति जातशोफं खट्वायामधोमुखस्तदन्तरे लम्बयेत्। ततः शीतकषायैः कृतवेदनानिग्रहं सोपक्रमेण निष्पादयेत्। स यावज्जीवं शूकजो नाम शोफो विटानाम्॥" ७।२।२६। "अश्वगन्धाशबरकन्दजलशूकबृहतीफलमाहिषनवनीतहस्तिकर्णवज्रवल्लीरसैरेकैकेन परिमर्दनं मासिकं वर्धनम्॥" ७।२।२६

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम् ।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः ॥

म्लेच्छ-यवन (मुसलमान-ग्रीक) भी इस ज्योतिषशास्त्र को भली प्रकार जानते हैं; वे भी ऋषियों के समान पूजनीय हैं, फिर दैव को जाननेवाले द्विजातियों की बात क्या कहें ?

ज्योतिष का ग्रन्थ होने पर भी इसमें बहुत-सी बातें अन्य विषयों से सम्बन्धित हैं । इसमें आयुर्वेद से सम्बन्धित विषय भी आये हैं । यथा—

वज्रलेप—प्रासाद या मकान बनाने में वज्रलेप का प्रयोग किया जाता है, इससे देवालय, वलभी, देवप्रतिमा, कूप, भित्ति आदि हजार वर्ष स्थायी होते हैं । इसको बनाने में वनस्पतियों या धातुओं का उपयोग होता है । यथा—

(१) आम, तिन्दुक, कच्चा कैथ, सेमल के फूल, सल्ल के बीज, धन्वन की छाल, वच; इनका एक द्रोण जल में क्वाथ करे । जब आठवाँ भाग रह जाय तब इसमें श्रीवास का रस (गोंद), गुग्गुल, भिलावा, कुन्दरू, सर्जरस (बिरोजा), अलसी, बेल का गूदा; इनका कल्क मिला दे । यह वज्रलेप है । (२) सीसक आठ भाग, कांस्य दो भाग, पीतल एक भाग; इनको मिलाकर पिघलाये । यह वज्रसंघात है । सम्भवतः प्रतिमाओं को जोड़ने में इसका उपयोग होता होगा ।

वाजीकरण प्रयोग—वाजीकरण योगों को "कान्दर्पिकम्" नाम से दिया गया है । प्रायः सारे प्रयोग वनस्पतियों से सम्बन्धित हैं । इनमें नवीनता नहीं है । यथा—(१) कौंच की जड़ से सिद्ध दूध निर्बलता नहीं आने देता । (२) उरदों को दूध या घी में पकाकर छः ग्रास खाये और ऊपर से दूध पिये । (३) विदारी के चूर्ण को विदारी के रस की अनेक बार भावना देकर, इसको चीनी मिले दूध से पिये । (४) आँवले के चूर्ण को आँवले के रस से कई बार भावना देकर खाये, और ऊपर से दूध पिये । (५) सोनामाखी, पारद, मधु, लोहचूर्ण, हरीतकी, शिलाजीत, विडङ्ग, घी इनको मिलाकर इक्कीस दिन खाये । तिल, अश्वगन्धा, साठी चावल, वस्ताण्ड, गोखरू आदि का उपयोग भी वाजीकरण में है । वाजीकरण ओषधियों से अग्निमान्द्य होना सम्भव है, इसलिए उसका उपाय भी बतलाया है कि अजवायन, सैन्धव नमक, हरड़, सोंठ, पिप्पली इनके चूर्ण को मट्ठा या गरम पानी के साथ खाना चाहिए ।

वाजीकरण औषध सेवन करते समय अति अम्ल, अति तिक्त, नमक, कटु रस, क्षार, अति शाक, अति भोजन नहीं करना चाहिए, इससे दृष्टि और शुक्र की हानि होती है । जो वस्तु शुक्र को बढ़ाती है, वह दृष्टि को भी लाभदायक है, और जो शुक्र को हानि करती है, वह दृष्टि को भी हानिकारक है ।

रत्नपरीक्षा—रत्नों का उपयोग शुभ-अशुभ फल देनेवाला है, इसलिए रत्नों के सम्बन्ध में ज्योतिष में बहुत विचार है। शुभ रत्न से शुभ फल होता है और अशुभ रत्न से अमंगल होता है। इसलिए परीक्षा करके रत्नों को धारण करना चाहिए।

रत्नों का नाम, इनकी उत्पत्ति आदि विवेचना इस संहिता में है। वेणा नदी के किनारे पर शुद्ध हीरा उत्पन्न होता है। (वेणा नदी सम्भवतः वेत्रवती नदी है, जो विन्ध्याचल के पास है, अथवा जो ऋक्ष पर्वत से चेदि देश में निकलकर गोदावरी में मिलकर मछलीपत्तन के पास समुद्र में मिलती है वह 'वेन गंगा' नदी है)। वेणा नदी के किनारे का हीरा शुद्ध होता है। कोशल देश (सम्भवतः दक्षिण कोशल—छत्तीसगढ़ का इलाका) का हीरा शिरीष फूल के समान होता है। सौराष्ट्र का हीरा ताम्रवर्ण होता है, सोपारा का हीरा काला होता है। लाल-पीला हीरा क्षत्रियों के लिए, श्वेत ब्राह्मणों के लिए, शिरीष के समान हीरा वैश्यों के लिए, काला शूद्रों के लिए शुभ है (आयुर्वेदप्रकाश में वैश्यों के लिए पीला हीरा शुभ कहा है)।

उत्तम हीरा—सब वस्तुओं से अभेद्य, न कटनेवाला, वजन में हलका, जल में जिसकी किरणें चमकें, स्निग्ध, विद्युत, अग्नि, इन्द्रधनुष के समान कान्तिवाला हीरा उत्तम है। दोष—काकपद (कौए के पैर का चिह्न), मक्षिका (मक्खी), केश का चिह्न होना, कोई और धातु का मेल, शर्करा से युक्त, बुलबुले होना, टूटा होना, आगे को जो हीरे चपटे हों वे अच्छे नहीं। अशुभ या दोष युक्त हीरा धारण करने से भाई-बन्धुओं की हानि, धननाश होता है। शुभ हीरा धारण करने से विद्युत्, विष, शत्रु-भय का नाश होता है। (अ० ८०)

ताम्रपर्णी, पारशव, कौबेर, पाड्य; हैम (?)। भिन्न-भिन्न स्थानों में उत्पन्न मोतियों का रंग, चमक, आकार भिन्न-भिन्न होते हैं।

हाथियों, वराहों, साँपों के मोतियों का उल्लेख भी इसी प्रकरण में है। भिन्न-भिन्न संख्यावाली मोतियों की माला के नाम भिन्न-भिन्न हैं। एक हजार आठ लड़ी की माला इन्द्रच्छन्द कही है। दो हाथ की माला का नाम विजयच्छन्द है। एक सौ आठ लड़ी की या इक्यासी लड़ी की माला देवच्छन्द है। जितने चाहिए उतने मोतियों से बनी, हाथ भर लम्बी मोती की माला एकावली—एकलड़ी कही जाती है। इस माला के बीच में इन्द्रनील आदि कोई दूसरा रत्न हो तो इसका नाम यष्टी हो जाता है।

मुक्ता की भाँति पद्मराग और मरकत की परीक्षा संहिता में दी गयी है।

दातुन—दाँतों को स्वच्छ करने के लिए प्रति दिन दातुन करने का विधान आयुर्वेद में है (सुश्रुत चि० अ० २४)। किन वृक्षों की दातुन उपयोगी है, यह भी लिखा है। परन्तु बृहत्संहिता में कुछ अधिक सूचनाएँ दी हैं, यथा—न जाने हुए, पत्तों से युक्त, युग्म-पर्व, गाँठदार वृक्षों की दातुन नहीं करनी चाहिए, जो दातुन बीच से चीरी हो, वृक्ष पर ही सूख गयी हो, जिस पर छाल न हो, उस दातुन को नहीं बरतना चाहिए। विकंकत (बैंकड़), बेल, गम्भारी की दातुन से दाँतों में ब्राह्मी द्युति आती है; क्षेम वृक्ष (?) से उत्तम भार्या मिलती है; बरगद की दातुन से उन्नति होती है; आक की दातुन से तेज वृद्धि; महुए की दातुन से पुत्र लाभ; अर्जुन वृक्ष की दातुन से प्रियत्व मिलता है। इसी प्रकार शिरीष, करंज, पिलखन, चमेली, पीपल, बेर, कटेरी, कदम्ब की दातुन के फल लिखे हैं (अध्याय ८५)।

पटराग—चरकसंहिता में बच्चों के वस्त्रों को धूप देने के लिए कुछ ओषधियों का उल्लेख है (शा० अ० ८)। बृहत्संहिता में भी अनेक प्रकार की गन्ध बतलायी हैं। वास्तव में गन्धों की संख्या असीमित है; एक गन्ध को दूसरी, तीसरी गन्ध से मिलाने पर अनन्त भेद हो जाते हैं। इसी से इसमें भी गन्धों के बहुत से भेद कहे गये हैं।

गन्ध के द्रव्य प्रायः गिने हुए हैं, यथा—तुरुष्क, व्याघ्रनख, स्पृक्का, अगरु, दमनक, तगर, मुस्ता, बालक, शैलेयक, कर्चूर, कपूर, कस्तूरी, नागपुष्प, चोर, मलय, प्रियंगु, भूतकेशी, मांसी, श्रीवास। इन सब वस्तुओं से दो-तीन चीजों को दो-चार भाग की भिन्नता से मिलाने पर नाना प्रकार की सुगन्ध बनती हैं। धनिया और कपूर की उत्कट गन्ध होने से इनका सदा एक भाग लेने का विधान है, अधिक लेने से ये सब गन्धों को दबा लेते हैं। राल, गुड़, श्रीवास, नख इनकी धूप अलग-अलग देनी चाहिए। पीछे कस्तूरी और कर्पूर मिला देना अच्छा है।

आयुर्वेद में सुगन्ध का उपयोग शरीर और वस्त्रों पर करने का उल्लेख है (चरक, सू० अ० ५।९६–९७)। आयुर्वेद की दृष्टि स्वास्थ्य की है, ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि इस विषय में सौभाग्य, प्रीति, दीर्घायु की है। परन्तु दोनों में इनका उपयोग एक समान कहा गया है; यही इसका अभिप्राय है। आयुर्वेद में उल्लिखित गन्धर्वनगर (चरक० सू० अ० ९।१४) का स्पष्टीकरण भी बृहत्संहिता में मिल जाता है।

उत्तर गुप्तसाम्राज्य और कन्नौज का राज्य

(लगभग ४५५-६६६ ईसवी)

चन्द्रगुप्त द्वितीय के पश्चात् उसका पुत्र कुमार गुप्त गद्दी पर बैठा। इसने ४० वर्ष (४१५–४५५ ई०) तक शान्तिपूर्वक राज्य किया। बाकाटक राज्य में यही समय प्रभावती के पुत्र प्रवरसेन और उसके पुत्र नरेन्द्रसेन के शासन में बीता। राजगृह और पाटलिपुत्र के बीच नालन्दा स्थान में कुमार गुप्त ने महाविहार की स्थापना की थी। आगे चलकर यह एक महान् विद्यापीठ बन गया। यह युग अद्वितीय शान्ति और समृद्धि का था।

चौथी शताब्दी के अन्त में हूण टिड्डी दल की तरह संसार पर छा गये। ये जहाँ पहुँचते वहाँ गाँव और बस्तियाँ जलाते, मारकाट मचाते, अपने जंगलीपन और बर्बरता का परिचय देते। इनका अभियान मध्य एशिया से प्रारम्भ हुआ था। एक शाखा वोल्गा नदी को लाँघकर यूरोप को गयी और रोम राज्य पर मँडराने लगी। इससे आजकल का प्रसिद्ध नगर हूंगर (हुंगरी) बना और उनके भाई बन्धुओं के नाम से बुलगारिया हुआ।

हूणों की दूसरी बाढ़ मध्य एशिया के तुखार राज्यों पर टूटी (लगभग ४२५ ई०)। वहाँ की समृद्धि को नष्ट किया। तुखार राज्य को जीतकर हूणों ने ईरान के सासानी राज्य पर हमले किये। सासानी के राजा यज्दगुर्द द्वितीय को हराकर हूणों का एक दल अफगानिस्तान लाँघता हुआ पंजाब तक बढ़ आया। कुमार गुप्त की मृत्यु के समय गुप्तों का राज्य डगमगा गया था। इसका बेटा समुद्र गुप्त एक तरफ हूणों का मुकाबला कर रहा था और दूसरी ओर मालवा के विद्रोही गणों से जूझ रहा था। तीन महीने के बाद सब पर विजय पाकर समुद्र गुप्त अपनी माँ के पास उसी प्रकार पहुँचा जैसे कृष्ण देवकी के पास गये थे। इसके बारह वर्ष के शासन काल में गुप्त साम्राज्य ज्यों का त्यों बना रहा।

गुप्त साम्राज्य का अन्तिम राजा बालादित्य था, वही शायद भानुगुप्त था। बीच में कोई प्रतापी राजा नहीं हुआ। ५०० ईसवी के लगभग गन्धार के हूण राजा तोरमाण 'शाही जऊल्ल' ने गुप्त राज्य को कमजोर पाकर पंजाब से मालवा तक का राज्य वश में कर लिया। भानुगुप्त ने इससे युद्ध किया (५१० ई० में) परन्तु पीछे तोरमाण के बेटे मिहिरकुल को अपना अधिपति मान लिया। मिहिरकुल ने अपनी राजधानी शाकल (स्यालकोट) बनायी, वह अपने को पशुपति (शिव) कहता था। भानुगुप्त बालादित्य ने कुछ समय पीछे इस पर पुनः चढ़ाई की, जिसमें मिहिरकुल हार गया और कश्मीर में शरण ली। पीछे वहाँ के राजा को छल से मारकर गद्दी पर बैठ गया।

पंजाब, थानेसर और मालवा को गुप्तसम्राट् हूणों से न बचा सके, तब वहाँ की सारी प्रजा एकत्र होकर यशोधर्मा नामक व्यक्ति के नेतृत्व में लड़ी और उसने हूणों को करारी हार देकर देश का शासन सम्हाला। यशोधर्मा ने बालादित्य को जंगल में खदेड़ा और कमजोर गुप्तों का राज्य वश में किया। लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) के कांठे से महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा) तक, हिमालय से पश्चिम समुद्र तक समूचा देश उसे अपना राजा मानने लगा। यशोधर्मा का एक विजयस्तम्भ मन्दसोर में है, जिस पर ५३२ ई० लिखा है। इसके साथ इतिहास का प्राचीन काल समाप्त होकर मध्य काल प्रारम्भ होता है—जो एक हजार वर्ष का है।

मौखरि राजा—यशोधर्मा ने अपना कोई राजवंश नहीं चलाया। छठी शताब्दी के शुरू में गुप्त सम्राटों के वंश से एक शाखा निकली, जिसके राजाओं ने अगली शतियों तक इतिहास में विशेष भाग लिया। इन को पिछले गुप्त कहते हैं। इनका वास्तविक अधिकार केवल मगध-बंगाल पर था। इन गुप्तों के मुकाबले में अन्तर्वेद के ठीक बीच दक्खिन पंचाल की राजधानी कन्नौज में मौखरि नाम का एक नया राज-वंश उठ खड़ा हुआ। इसकी राजधानी थानेसर थी। इनकी सबसे प्रथम प्रसिद्धि हूणों के युद्ध में हुई थी। सम्भवतः यशोधर्मा की सेना की हरावल में ये रहे हों।

सबसे प्रसिद्ध और प्रतापी राजा प्रभाकर वर्धन (५९० से ६०५ ई०) हुआ[1]। यह सम्भवतः महासेन गुप्त का भानजा था। इसने उत्तरापथ की ओर अपनी शक्ति बढ़ायी। पहले इसने कश्मीर से हूणों को खदेड़ा, फिर सिन्ध, गुर्जर (पंजाब-मारवाड़)

---

१. प्रभाकरवर्धन के वंश को 'वर्धन वंश' नाम भी दिया गया है। इसी को पुष्पभूति वंश कहा है। वास्तव में वह बैस वंश का था। (इतिहासप्रवेश)

और गन्धार के राजाओं को वश में किया। तब दक्खिन की ओर झुका और लाट देश (भरुच-सूरत) पर चढ़ाई कर मालवा के राज्य को जीत लिया। मालवा के राजा महासेन गुप्त प्रथम ने अपने दो बेटे कुमार गुप्त और माधव गुप्त उसे सौंपे।

प्रभाकर वर्धन की तीन सन्तानें हुई—राज्यवर्धन, हर्षवर्धन और राज्यश्री। राज्यश्री का विवाह मौखरि राजा अवन्तिवर्मा के बेटे ग्रहवर्मा के साथ हुआ था। इस समय की समूची जानकारी कवि बाण ने अपने हर्षचरित में दी है। किस प्रकार छल से राज्यवर्धन को गौड़ के राजा ने मारा, राज्यश्री को मालवे के राजा ने कैद में डाला, किस प्रकार से छूटकर वह विन्ध्याचल में गयी, वहाँ पर सती होने के समय हर्ष ने किस प्रकार बचाया; यह सब जानकारी हर्षचरित से मिलती है।

हर्षवर्धन के समय (६३० ई०) युवानच्वाङ नामक एक चीनी यात्री भारत में आया था। वह दस साल यहाँ रहकर ६४० ई० में अफगानिस्तान, चीनहिन्द होकर वापस गया। हर्ष के साथ भी वह कुछ समय रहा, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक घूमा और उसने अपना यात्रावृत्तान्त लिखा।

राज्यश्री को वापस लाकर हर्ष ने राज्य उसे सौंप दिया और स्वयं शीलादित्य नाम से उसका प्रतिनिधि होकर देख-देख करने लगा। अब कुरु और पंचाल दोनों राज्यों की शक्ति हर्ष के हाथ में आ गयी। अब उसने दिग्विजय प्रारम्भ किया। छः वर्ष तक वह पूर्व से पच्छिम तक समूचे प्रदेशों को जीतता रहा। कामरूप के राजा भास्कर वर्मा का उसने स्वयं अभिषेक किया। सिन्धुराज को कुचलकर उसका राज्य छीना। शशांक हर्ष के आगे झुककर बच सका। वलभी के राजा ध्रुवसेन ने हर्ष से हार मानी। हर्ष ने उसे सामन्त बनाकर अपनी इकलौती बेटी उसको ब्याह दी। किन्तु पुलकेशी (द्वितीय) को नर्मदा के किनारे पर हर्ष हरा नहीं सका, और यहाँ पर उसे पराजय का मुख देखना पड़ा। नर्मदा ही दोनों राज्यों की सीमा बनी। हर्ष की अन्तिम चढ़ाई ६४३ ई० में उड़ीसा के गंजाम प्रदेश पर हुई।

हर्ष जैसा विजेता था, वैसा योग्य शासक भी था; शीलादित्य उसका नाम सार्थक था; शील और सच्चरित्रता की मूर्ति था। उसने एक-पत्नीव्रत धारण किया और आजन्म उसे निभाया। ६४७ ई० में हर्ष की मृत्यु हुई। गुप्तकाल में चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय जिस प्रकार साहित्य की उन्नति, विद्वानों का सम्मान, राजाश्रय मिला, उसी प्रकार हर्ष के समय कवि बाण को भी राजाश्रय मिला। हर्ष स्वयं विद्वान् एवं साहित्य-सेवी था। हर्षवर्धन का अपना कोई पुत्र नहीं था।

कवि बाण

बाण ने हर्षचरित में हर्ष का और अपना वर्णन करने में आयुर्वेद सम्बन्धी कुछ प्रसंग दिये हैं। यथा—

१. हर्षचरित में बाण ने अपने चवालीस मित्रों—सहायकों की तालिका दी है। इनमें मंत्रविज्ञ और वैद्यों में भिक्षुकपुत्र मंदारक, जाङ्गुलिक (विषवैद्य या गारुड़ी) मयूरक, मंत्रसाधक कराल, धातुवाद-विद् (रसायन या कीमिया बनाने-वाला) विहंगम और असुर विवर-व्यसनी लोहिताक्ष—पाताल में घुसने की विद्या जाननवाला भी था।

२. हर्ष स्कन्धावार पार करके राजद्वार पर आया। ड्योढ़ी के भीतर सब लोगों का आना-जाना रोक दिया गया था। जैसे ही वह घोड़े से उतरा उसने सुषेण नामक वैद्यकुमार को भीतर से आते हुए देखा और पिता की हालत पूछी। सुषेण ने कहा—अभी तो अवस्था में सुधार नहीं है, आपके मिलने से शायद हो जाय।

३. प्रभाकरवर्धन की चिकित्सा में पौनर्वसव (आत्रेय शास्त्र का ज्ञाता) अठारह वर्ष का एक रसायन नामक वैद्य था, जो राजकुल में वंश परम्परा से आ रहा था। यह आयुर्वेद के आठों अंगों में निपुण था, इसको राजा ने अपने पुत्र के समान ही पाला था। यह स्वभाव से ही अति चतुर और व्याधियों के पहचानने में निपुण था[1]।

४. बाण ने कादम्बरी में (द्रविड़ साधु वर्णन प्रकरण में)पारे से सोना बनाने, पारे के सेवन, असुर विवर प्रवेश और श्रीपर्वत का उल्लेख किया है।[2]

चिकित्साकलिका

चिकित्साकलिका का कर्त्ता तीसट है। इसके पुत्र चन्द्रट ने इसकी व्याख्या की है। इस व्याख्या के साथ मेरे सहपाठी श्री जयदेव विद्यालंकार आयुर्वेदाचार्य कृत

---

१. अधिक जानकारी के लिए 'संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद' पुस्तक देखनी चाहिए।

२. पारे से सोना बनाने या कीमिया (धातुवाद) की धुन वायु की तरह उसके मस्तक में भर गयी थी। कच्चे पारे का रसायन खाकर उसने काल-ज्वर ही बुला लिया था। श्रीपर्वत से सम्बन्धित अचम्भों की सैकड़ों बातें उसे याद थीं।

परिमल हिन्दी व्याख्या के साथ श्री नरेन्द्रनाथ मित्र जी ने १९८३ विक्रमी में इसे प्रकाशित किया था।

चिकित्साकलिका में तीसट और चन्द्रट का सम्बन्ध स्पष्ट है; यथा—

'तीसटसूनुर्भक्त्या चन्द्रटनामा भिषङ्मतश्चरणौ।
नत्वा पितुश्चिकित्साकलिकाविवृत्तिं समाचष्टे॥
व्याख्यातरि हरिचन्द्रे श्रीजेज्जटनाम्नि सति सुधीरे च।
अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्याधाष्टर्यं समावहति॥'

इससे स्पष्ट है कि तीसट के पुत्र चन्द्रट ने इसकी व्याख्या की है। टकारान्त नाम होने से इनका कश्मीर देशी होना सम्भावित है (कैयट, मम्मट, जैज्जट आदि नाम कश्मीर में प्रसिद्ध हैं)। तीसट को कुछ लोग वाग्भट का पुत्र बताते हैं। इनका आधार भाण्डारकर प्राच्य संशोधन की 'चिकित्साकलिका' की एक प्रति है; जिसमें ग्रन्थ की समाप्ति पर "इति वाग्भटसूनुना तीसटदेवेन रचितं चिकित्साशास्त्रम्" यह लिखा है। परन्तु ग्रन्थकर्त्ता और व्याख्याकार दोनों ने ही न तो ग्रन्थ के प्रारम्भ में न अन्त में वाग्भट का उल्लेख किया है। केवल पिता को नमस्कार किया है। ग्रन्थ समाप्ति में भी सुश्रुत का नाम है; वाग्भट का नाम नहीं। साथ ही सारी पुस्तक में वाग्भट की भाँति बौद्ध धर्म की झलक सर्वथा नहीं मिलती। कहीं भी एक वस्तु ऐसी नहीं, जिसमें इसका वाग्भट के साथ सम्बन्ध प्रतीत हो सके।

'सूर्याश्विधन्वन्तरिसुश्रुतादीन् भक्त्या नमस्कृत्य पितुश्च पादान्।
कृता चिकित्साकलिकेति योगैर्माला सरोजैरिव तीसटेन॥ १॥
हारीतसुश्रुतपराशरभोजभेलभृग्वग्निवेशचरकादिभिषिक्तिसकोक्तैः।
एभिर्गणैश्च गुणवद्भिरतिप्रसिद्धैर्धान्वन्तरीयरचना रुचिरप्रपञ्चैः॥ २॥'

इन नामों में वाग्भट का उल्लेख नहीं है। टीकाकार चन्द्रट ने भी आदि शब्द की व्याख्या में वाग्भट का उल्लेख नहीं किया।[1] इसलिए संग्रह और हृदय के कर्त्ता वाग्भट को तीसट का पिता मानना युक्तिसंगत नहीं है।

---

१. नावनीतक में देखिए—

'आत्रेयहारीतपराशरभेलगर्ग्यशाम्बव्यसुश्रुतवशिष्ठकरालकाप्याः।
सर्व्वौषधिरसगणाकृतिवीर्यनामजिज्ञासवः समुदिताः शतशः प्रचेरुः॥'

इसमें भी जिन आचार्यों के नाम हैं, वे ही आचार्य चिकित्साकलिका में भी वर्णित हैं।

जीसट का समय—जीसट ने अपनी पुस्तक की समाप्ति शुभकामना के साथ की है। यह मंगलमय प्रशस्ति इसे गुप्तकाल का प्रमाणित करती है। ग्रन्थ समाप्ति पर शुभकामना नाटकों की परम्परा में है, जो हमको सबसे प्रथम संग्रह और हृदय में मिलती है। इस परिपाटी को टीकाकार चन्द्रट ने भी "आरोग्यं तेन गच्छन्तु सन्तः सन्मार्गगामिनः" कहकर निभाया है। साथ ही यह पंक्ति वाग्भट के प्रसिद्ध श्लोक "भिषजां साधुवृत्तानां भद्रागमशालिनाम्। अभ्यस्तकर्मणां भद्रं भद्रं भद्राभिलाषिणाम्" की याद कराता है। इससे स्पष्ट है कि इसका समय वाग्भट के आसपास है, और उसकी झलक इसमें है। इसलिए वाग्भट का समय ही या उसके थोड़ा पीछे का इसका समय है।

चिकित्साकलिका का विश्लेषण—यह एक प्रकार का योग-संग्रह है, परन्तु नावनीतक से अधिक विस्तृत है। इसमें प्रायः सब योग काष्ठौषधियों के हैं। शिवा-गुटिका (शीर्षचिकित्सा २७०) इसी में सबसे प्रथम मिलती है, इसको पीछे चक्रदत्त ने लिया। इसमें चार सौ श्लोक हैं ('निरूपिता वृत्तशतैः चतुर्भिर्योगैः स्रगब्जैरिव लीसटेन'; लाहौर की छपी प्रति में चार सौ ही श्लोक हैं; दक्षिण भारत कोटायम की छपी में ४०७ हैं)। इसमें योग प्रायः संगृहीत हैं। यथा—हिंगुपंचक ('विश्वौषधेन रुचकेन सदाडिमेन स्यादम्लवेतसयुतं कृतहिंगुभागम्') भेल मुनि के नाम से संगृहीत है (२४८)। हिंग्वष्टक चूर्ण भी इसी में दिया गया है (२९४)। इसमें लिखित धूप काश्यपसंहिता से भिन्न हैं। यथा—दशांग धूप (३७५) को भृगु के पुत्र शुक्राचार्य का कहा गया है; इसका पाठ काश्यपसंहिता के दशांग धूप से सर्वथा भिन्न है (उसमें सरसों श्वेत है—कलिका में नहीं है, और भी वस्तुएँ भिन्न हैं)। विजयधूप चिकित्सा-कलिका में नया है। ये धूप भूत-विद्यातंत्र में दिये गये हैं। भूतविद्या नाम से एक अध्याय चिकित्सा कलिका में है, और भूतविज्ञानीय एवं भूतप्रतिषेध नामक दो अध्याय अष्टांगसंग्रह में हैं। चरक और सुश्रुत में इस रूप में पृथक् कोई अध्याय नहीं। दोनों में यह समानता है। इसमें आयुर्वेद के आठों अंगों की पृथक्-पृथक् चिकित्सा कही गयी है।

चिकित्साकलिका में वाग्भट के संग्रह की भाँति नये-नये सुन्दर छन्द मिलते हैं। यथा—

'सघृतमधु फलात्रयस्य चूर्णं समधुसितायुतमुच्चटोद्भवश्च।
समुद्गमथ मुद्गमाषपर्ण्योरमृतलतामलकत्रिकण्टकनाम्॥' १९७॥

इसमें 'पुष्पिताग्रा' छन्द है। "अमृतलतामलकत्रिकण्टका नाम्" यह पूरा वाक्य कवि लोलिम्बराज ने अपने वैद्यजीवन में लिखा है। काले तिलों के साथ आँवले का रसायन के रूप में व्यवहार इसका नया योग है।

काय-चिकित्सा का विषय जितने विस्तार से वर्णित है, शेष अंग उतने ही संक्षेप में हैं। रसायन एवं शल्य प्रकरण को बिलकुल संक्षेप में कहा गया है। बहुत से रसायनों को एक साथ एक ही श्लोक में कह दिया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में दोषों के विषय में सम्पूर्ण, परन्तु महत्त्वपूर्ण जानकारी दे दी गयी है। शरीरप्रकरण भी संक्षिप्त है। मुख्य विस्तार चिकित्सा के योगों का है। बहुत-से योग जो आज प्रचलित हैं (व्याघ्री हरीतकी, भार्गी गुड़, चित्रक हरीतकी आदि) वे इसी में से लिये गये हैं। संक्षेप में उस समय जो योग वैद्यों में मुख्यतः बरते जाते थे वे इसमें और नावनीतक में संगृहीत हैं। नावनीतक के योगों की अपेक्षा इसमें प्रसिद्ध नुस्खे अधिक हैं। इस प्रकार योगसंग्रह के ग्रन्थों में यह कृति प्रथम है।

इसकी टीका करते हुए चन्द्रट ने कहा है—

'चिकित्साकलिकाटीकां योगरत्नसमुच्चयम्।
सुश्रुते पाठशुद्धिञ्च तृतीयां चन्द्रटो व्यधात्॥'

चन्द्रट ने चिकित्सा-कलिका की टीका, योगरत्नसमुच्चय तथा सुश्रुत की पाठ-शुद्धि ये तीन कार्य किये। इस समय केवल टीका ही मिलती है; शेष दोनों का पता नहीं (योगरत्नाकर इससे भिन्न है और बहुत पीछे का है; जिसके कर्त्ता का पता नहीं)। इतना स्पष्ट है कि उस समय योगसंग्रह ग्रन्थों का पर्याप्त आदर था और ऐसे ग्रन्थों की रचना अधिक की जाती थी, क्योंकि इससे आर्थिक लाभ अधिक होता था। इसी से ग्रन्थकर्ता ने स्वयं कहा है—

'स्वल्पश्रुतस्य भिषजः किल सुश्रुतादि
शास्त्रोदधौ मतिरबोधवृढप्रमूढा।
अस्मद्विधग्रथितयोगसमुच्चये तु
बध्नाति बुद्धिमबुधः सुभिषग्वरो वा॥'

जिसने थोड़े शास्त्रों का अध्ययन किया है, ऐसे वैद्य की बुद्धि सुश्रुत आदि शास्त्र-रूपी समुद्र में अज्ञानवश प्रसरित नहीं हो सकती, परन्तु हमारे द्वारा बनाये योगसमुच्चय में तो मूर्ख तथा पण्डित दोनों की बुद्धि अच्छी प्रकार प्रसृत होती है।

आठवाँ अध्याय

मध्य काल

(६४७ से १२०० ई०)

शुक्रनीति, माधवनिदान, वृन्दमाधव, चक्रदत्त, वंगसेन

हर्ष की मृत्यु ६४७ या ६४८ ईसवी में हुई थी। उसके पीछे देश में अराजकता फैल गयी (अराजकता को संस्कृत में मछलियों की दशा कहते हैं—जयचन्द्र)। हर्षवर्धन के मंत्री–ओलनशुन (अर्जुन) ने उसकी गद्दी सँभाली। इसकी शक्ति भी तिब्बत के राजा और नेपाल की सेना ने युद्ध में तोड़ दी, यह कैद करके चीनी सम्राट् के पास भेजा गया। आसाम में भास्कर वर्मन् और मगध में माधव गुप्त के पुत्र आदित्य सेन ने (६७२ ई०) स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की। पश्चिम और उत्तर पश्चिम की शक्तियाँ भी अब स्वतन्त्र हो गयीं। इनमें राजपूताने के गुर्जर, कश्मीर के करकोटक मुख्य थे। इन्होंने अगली शती में राजनीति का सूत्र अपने हाथ में लिया।

अर्जुन के पीछे कन्नौज के राजा यशोवर्मा का नाम सबसे प्रथम सामने आता है (७२५ से ७४० ईसवी तक)। यशोवर्मा को कश्मीर के राजा ललितादित्य ने हराया था। यशोवर्मा की राजसभा के पण्डित भवभूति थे, जिनको ललितादित्य अपने साथ कश्मीर ले गया था[1]। यशोवर्मा किस वंश का था, यह पता नहीं। उसका नाम और सिक्के मौखरियों की शैली के हैं। उसके पीछे के राजा भण्डिकुल के थे। हर्षवर्धन के मामा का लड़का और सेनापति भण्डि था। जान पड़ता है कि यशोवर्मा के पीछे साम्राज्य उसके सेनापति के वंश के हाथ में चला गया। ललितादित्य के उत्तराधिकारी जयापीड़ ने कन्नौज के नये सम्राट् वज्रायुध को हराकर पहाड़ों में नेपाल तक राज्य बनाया।

---

१. राजतरंगिणी से पता चलता है (४।१३४) कि भवभूति कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा के सभापण्डित थे—

> 'कविवाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
> जितो राजा यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम ॥'

इस प्रकार कन्नौज का राज्य टूटने पर पाल, गंग, राष्ट्रकूट, प्रतिहार राज्यों का उदय हुआ (७४३–७९० ईसवी के लगभग)। मगध और बंगाल में जब अराजकता फैली, तो प्रजा ने श्रीगोपाल के हाथ में राज्यलक्ष्मी सौंप दी—उसे अपना राजा चुना (७४३ ई०)। कलिंग (उड़ीसा) में इस समय तक गंगवंश स्थापित हो चुका था। महाराष्ट्र–कर्णाटक के अंतिम चालुक्य राजा से सामन्त दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट ने राज्य छीन लिया था (७५३ ई०)। राष्ट्रकूट का असली अर्थ प्रान्त का शासक है, इसी से पीछे राठौड़ बना। इसी समय गुजर देश के राजा नागभट ने सिन्ध के मुसलमानों को हराकर अपना राज्य स्थापित किया; इसकी राजधानी भिन्नमाल थी। इसके पुरखा किसी राजा के प्रतिहार (द्वारपाल) थे; इसी से इसके वंशजों के साथ प्रतिहार शब्द जुड़ गया।

मगध और गौड़ राज्य में गोपाल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र धर्मपाल हुआ (७७०–८०९ ई०)। नागभट के भाई के पोते प्रतिहार राजा वत्सराज ने धर्मपाल को चुनौती दी और उसे युद्ध में हराया। परन्तु इन दोनों पर राष्ट्रकूट कृष्ण के बेटे ध्रुव-धारावर्ष (७८३–७९३ ई०) ने चढ़ाई की। इसने दोनों को हराया। लाट और मालवा प्रान्तों के लिए राष्ट्रकूटों और प्रतिहारों में लड़ाई रहती थी।

धर्मपाल का उत्तराधिकारी देवपाल हुआ (८१०–८५१ ई०)। यह भी योग्य शासक था। पाल राजा सब बौद्ध थे। धर्मपाल ने भागलपुर के पास विक्रमशिला नामक एक महाविहार बनवाया था; यह भी नालन्दा की तरह बाहर के बौद्ध देशों में शीघ्र प्रसिद्ध हो गया। इसके बटे देवपाल ने मगध के राज्य को पूर्वी भारत का साम्राज्य बना दिया। इसके सेनापति ने प्राग्ज्योतिष (आसाम) और उत्कल को जीत लिया। विन्ध्य में अमोघवर्ष से तथा नागभट की मृत्यु के बाद उसके पुत्र रामभद्र से भी लोहा लिया था।

परन्तु ८३६ ईसवी में पासा पलटा, रामभद्र के बेटे भोज या मिहिर भोज ने कन्नौज को जीता और उसे अपनी राजधानी बनाया। कश्मीर की सीमा तक उसने अपना राज्य बढ़ाया। पालों का राज्य तब केवल राढ़ देश (पश्चिमी बंगाल) और सम-तट पर रह गया था। पूरबी बंगाल में भी एक चन्द्र वंश खड़ा हो गया था, जिसकी राजधानी विक्रमपुर (ढाका) थी। भोज के पचास वर्ष बाद (८३६–८९० ईसवी) में उसके बेटे महेन्द्रपाल के शासन (८९१ से ९०७ ई०) में कन्नौज की राज्य-लक्ष्मी फिर उठी और वह फिर राजधानी बना। महेन्द्रपाल का बेटा महीपाल गद्दी पर बैठा। इसके समय (९१६ ई०) कन्नौज की फिर अवनति हुई और वह उजड़ा।

बंगाल के पाल-वंशी राजाओं ने ९५० ई० तक मगध को वापस ले लिया; परन्तु बंगाल को वे न ले सके और वहां एक कम्बोज वंश स्थापित हो गया। दसवीं शती के अन्त तक पालवंशी राजा महीपाल (९७५ से १०२६ ई० लगभग) ने फिर धीरे-धीरे अपने पुरखों का राज्य बना लिया। पहले इसने कम्बोज देश का अन्त कर उत्तरी बंगाल लिया (लगभग ९८४ ई०) और फिर मगध। अपने राज्यकाल के अन्त में इसने मिथिला को भी ले लिया (१०२३ ई०)। महीपाल राजा का पुत्र ही नयपाल था; जिसकी रसशाला-पाकशाला के सूदाध्यक्ष श्री चक्रपाणि दत्त के पिता नारायण थे। पिता के मरने पर चक्रपाणि प्रथम सूदाध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए और पीछे से प्रधान मंत्री बने। १०४० ईसवी में नयपाल ने महाराज पदवी धारण की थी।

अन्तर्वेद का साम्राज्य कमजोर होने पर विन्ध्य मेखला के सामन्त स्वतन्त्र हो गये। यमुना के दक्खिन में विदर्भ और कलिंग तक पुराना चेदि देश था। इस युग में दक्खिन का भाग चेदि और उत्तर का भाग जेजाकभुक्ति या जझौती कहलाता था। चेदि के कलचुरी वंश की राजधानी त्रिपुरी (जबलपुर के पास तेवर) थी। जझौती में चन्देल वंश राज्य करता था। इसकी राजधानी पहले महोबा, फिर खजुराहो थी।

चेदि और जझौती के पश्चिम मालवे में परमार राजपूतों का एक राज्य था। इसकी राजधानी धारा थी। उत्तरी राजपूताने में चौहानों का एक स्वतन्त्र राज्य बन गया था, जिसकी राजधानी साँभर थी। गुजरात में मूलराज सोलंकी ने (९६० ई०) में एक राज्य बनाया, जिसकी राजधानी अणहिल्ल पाटन थी। ओहिन्द के शाहियों का राज्य पंजाब तक फैला था[1]। इन राज्यों के बीच कन्नौज का प्रतिहार राज्य भी बना रहा।[1]

ओहिन्द के शाहियों में ही एक राजा जयपाल (९८६ ई० लगभग) था; जब सुबुक्-तगीन ने अपना राज्य पूरब और उत्तर की ओर बढ़ाना चाहा तब इसने जयपाल के किले जीते। सुबुक्-तगीन के मरने के पीछे जयपाल ने फिर सिर उठाया और अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। इस समय इसका युद्ध सुबुक्-तगीन के पुत्र महमूद गजनवी से हुआ, जिसमें यह हारा और अपने बेटे आनन्दपाल को ओल रखकर कैद से मुक्त हुआ। इस हार से दुखी होकर इसने अपने को आग में जला दिया। तब महमूद ने आनन्दपाल को भी मुक्त कर दिया। यह महमूद की पहली चढ़ाई थी। उसने भारतवर्ष पर कुल १७ चढ़ाइयाँ की थीं।

---

१. अटक से १६ मील उत्तर में उदभांडपुर है। अब इसे ओहिन्द कहते हैं। पहले यहीं से अटक-सिन्ध नदी पार की जाती थी। (सार्थवाह)

आनन्दपाल के साथ महमूद की कई लड़ाइयाँ हुई और अन्तिम लड़ाई में आनन्द-पाल मारा गया। इसके पुत्र त्रिलोचनपाल ने कर देना मंजूर किया और अपने दो हजार सैनिक सुलतान की सेवा में दिये। चार वर्ष तक दोनों में शान्ति रही। महमूद ने १०१४ ई० में फिर चढ़ाई की। इसमें कश्मीर का राजा तुंग और त्रिलोचन पाल दोनों हारे, जिससे महमूद का मुलतान और पंजाब पर दखल हो गया। इसके बाद वह और आगे बढ़ने लगा। उसने थानेसर पर धावा बोला, फिर १०१८ में एक लाख सेना के साथ अन्तवद पर चढ़ाई करके मथुरा और कन्नौज को लूटा। राजा राज्यपाल गंगा पार भाग गया था। महमूद की अन्तिम चढ़ाई १०२३ ई० में हुई; जिसमें उसने सोमनाथ का मन्दिर लूटा। महमूद ने कश्मीर पर १०२१ में चढ़ाई की, परन्तु वहाँ पर हार कर वापस गया। कश्मीर ही इससे बचा था। महमूद की मृत्यु १०२३ ई० में हुई।

महमूद के ही शासन काल में अल्बेरूनी भारत में आया था। इसने पेशावर और मुलतान में पण्डितों से संस्कृत पढ़ी। महमूद के सिक्कों पर कलमे का संस्कृत अनुवाद मिलता है—'अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतारः, नृपति-महमूद अयं टंको महमूदपुरे घटे हतो जिनायन संवत्'......अर्थात् एक अव्यक्त (ला इलाह इल्लिलाह), मुहम्मद अवतार (मुहम्मद रसूल इल्लाह), राजा महमूद। यह महमूदपुर (लाहौर) की टकसाल में पीटा गया, जिन (हज़रत) के अयन (भागने) का संवत्...।

राजा जयचन्द्र—कन्नौज में चन्द्र गहड्वार का पोता गोविन्द्रचन्द्र (१११४–११५४), इसका पुत्र विजयचन्द्र और विजयचन्द्र का पुत्र जयचन्द्र भी प्रबल और योग्य राजा हुए। ये काशी के भी राजा कहलाते थे। राजा चन्द्र की सभा में ही श्रीहर्ष पण्डित थे, जिनके बनाये नैषधचरित से पता चलता है कि उस समय चरक सुश्रुत के पठन का रिवाज था ('देवाकर्ण्य सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं, स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः।' (४।११६) इसमें सुश्रुत, चरक और नलद शब्द श्लेष रूप में हैं)। बारहवीं शती तक मगध और अंग गहड्वार के अधीन रहे (११९४ ई०)।

जयचन्द्र ११७० ई० में गद्दी पर बैठा। जयचन्द्र के शासन-काल की सबसे बड़ी घटना शहाबुद्दीन गोरी का हमला था। ११९१ में पृथ्वीराज ने तलावड़ी के मैदान में गोरी को परास्त किया था। इस पराजय का बदला लेने के लिए अगले वर्ष उसने फिर चढ़ाई की, जिसमें पृथ्वीराज मारा गया। इसमें जयचन्द्र लड़ाई से पृथक् रहा। अगले वर्ष ११९४ में गोरी ने कन्नौज की ओर प्रस्थान किया और चन्दावर तथा इटावे

के बीच लड़ाई हुई। युद्ध में जयचन्द्र मारा गया, इसका राज्य इसके पुत्र हरिश्चन्द्र को लौटा दिया गया। हरिश्चन्द्र ने कब तक राज्य किया इसका पता नहीं। परन्तु १२२६ ईसवी में गंगा यमुना का दोआबा मुसलमानों के हाथ में था।

चिकित्साकर्म सम्बन्धी उल्लेख—इस समय राजपूत राज्यों में परस्पर कलह थी। परस्पर लड़ाई झगड़े चल रहे थे। इसी ईर्ष्या से सूर्यमल और पृथ्वीराज (चाचा और भतीजे) ने मालव देश पर आक्रमण किया। इसमें सूर्यमल बहुत जख्मी हुए थे। इन जख्मों की चिकित्सा वैद्यों ने की थी। इसके सम्बन्ध में लिखा है—

१—"सूर्यमल और पृथ्वीराज दोनों थककर हट गये थे। जिस समय पृथ्वीराज सूर्यमल से मिलने के लिए आए उस समय शस्त्रवैद्य उनके जख्म सी रहे थे। पृथ्वीराज को आया देखकर सूर्यमल उससे मिलने के लिये खड़े हुए। इससे उनके सब जख्मों के टाँके टूट गये। पृथ्वीराज ने पूछा——चाचा क्या हाल है? सूर्यमल ने कहा—तुमको देखकर सब कुछ भूल गया हूँ।"—भारतवर्ष का इतिहास—ज्ञानमण्डल से प्रकाशित

२—कन्नौज के राजा जयचन्द राठौर का मृत शरीर उसके कृत्रिम दाँत से ही पहचाना गया था, जब वह शहाबुद्दीन—शम्सुद्दीन के साथ लड़ रहा था (११९४ ई०)। भारतवर्ष का इतिहास—एलफिस्टन कृत,[1] पृष्ठ ३५६

---

१. दाँत बनाने के सम्बन्ध में और भी जानकारी मिलती है, यथा—टूटे हुए दाँत को जोड़ने की विधि बहुत समय से भारतीयों को ज्ञात थी। इसके लिए हाथी दाँत को लेकर इसे इस प्रकार से गढ़ा जाता था कि वह टूटे हुए दाँत की भाँति बैठ सके। यह एक दृष्टि से विशेष कारीगरी थी। इसके पीछे मृत शरीर से वास्तविक दाँत लेकर उनका व्यवहार होने लगा। कभी-कभी जीवित व्यक्ति के भी दाँत लेकर इनको सोने, चाँदी से मढ़कर लगाया जाता था। जबड़े में जिस स्थान पर दाँत बैठाना होता था, उसका माप एक कम्पास के द्वारा लिया जाता था। दाँत को हाथीदाँत में खरादकर पीछे आरी से इसे अलग करते थे। मसूड़ों पर एक लेप (Pigment) लगा दिया जाता था। स्थान पर बैठाकर इसे बाहर से छीलकर या कुरेदकर ठीक कर दिया जाता था। भारतीयों में मुख में खराब दाँत के स्थान पर मुक्तासीप, बिल्लौर या सीप के दाँत लगवाने की प्रथा सामान्य थी। मुख में मनुष्य के दाँतों को कृत्रिम प्लेट में बैठाने से पूर्व उनको शिखर पर से काटकर इनकी नली साफ कर ली जाती थी। इसे थोड़ा बढ़ाकर ऐसा बना लिया जाता था कि कृत्रिम प्लेट या अस्थि के (दाँत के) पार्श्व से आनेवाली पिन इसमें जाकर इसे बाँध सके। स्वर्ण की प्लेट के

इस समय के आयुर्वेद साहित्य पर प्रकाश डालते हुए स्वर्गीय गौरीशंकर हीराचन्द्र जी ओझा ने लिखा है कि—"इसी समय इन्दुकर के पुत्र माधवकर ने 'रुग्विनिश्चय' या 'माधवनिदान' नामक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ आज भी निदान के सम्बन्ध में बहुत प्रामाणिक समझा जाता है। इसमें रोगों के निदान आदि पर बहुत विस्तार से विचार किया गया है। वृन्द के सिद्धयोग में ज्वर आदि की विवेचना बहुत विस्तार से दी गयी है। चक्रपाणिदत्त ने १०६० ई० में सिद्धयोग के आधार पर चिकित्सासंग्रह नामक ग्रन्थ लिखा था। इस समय के अन्त में १२०० ई० के लगभग शार्ङ्गधर ने शार्ङ्गधर संहिता लिखी, इसमें अफीम और पारे आदि औषधियों के वर्णन के अतिरिक्त नाड़ीविज्ञान के भी नियम दिये गये हैं (नाड़ीविज्ञान का प्रथम उल्लेख इसी में है—लेखक)। पारे का इस समय बहुत प्रचार था। अल्बेरूनी ने भी पारे का वर्णन किया है। वनस्पतिशास्त्र के सम्बन्ध में कई कोश भी लिखे गये, जिनमें शल्य-प्रदीप और निघण्टु प्रसिद्ध हैं।"—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—पृष्ठ ११९

पशु-चिकित्सा भी कम उन्नत नहीं थी। इस विषय पर बहुत ग्रन्थ मिलते हैं। पालकाप्य कृत गजचिकित्सा, गजायुर्वेद, गजदर्पण (जिसका हेमाद्रि ने उल्लेख किया है), गजपरीक्षा, बृहस्पति रचित गजलक्षण, गो-वैद्यशास्त्र, जयदत्त कृत अश्वचिकित्सा, नकुलकृत शालिहोत्र शास्त्र, अश्वतंत्र (इसका उल्लेख राय

लिए छाप (impression) मोम पर लेकर उसका मधूच्छिष्ट प्रतिबिम्ब (cast) बनाया जाता था। मोम को बत्ती की ज्वाला के सामने धीमे-धीमे गरम करके सावधानी के साथ नरम किया जाता था।

—इंडियन डेन्टल जर्नल, सं० ३-१९३१ (डेन्टीस्ट्री इन एनसियन्ट इंडिया—एन० एम० बेरी)।

जे० एच० बेडकौक (J.H. Badcock) ने लिखा है कि 'यह भली प्रकार ज्ञात है कि गिरे हुए दांत से जो गड्ढा रह जाता था, उसे भारतीय भली प्रकार से भर देते थे, इस कार्य में वे स्वर्ण के छोटे टुकड़े काम में लाते थे, बौन्टीयस (Bontius) ने लिखा है कि युवावस्था में जिनके दांत गिर जाते थे; वे स्वर्ण के दांत उनके स्थान पर लगवाते थे। कैरियर (Carrir) ने लिखा है कि 'भारतवर्ष के जिन स्थानों में दांत का कालापन सौन्दर्य पसन्द किया जाता है, वहां पर दांतों के बीच में स्वर्ण के छोटे-छोटे पत्तर लगा दिये जाते थे। कृत्रिम दांत बनाने के लिए मोतियों का प्रायः उपयोग होता था। (डेन्टीस्ट्री इन एनस्यिन्ट इण्डिया—लेखक एन० एम० चौकसी)

मुकुट की अमरकोश की टीका में है), गण-रचित अश्वायुर्वेद (सिद्धयोग संग्रह), अश्वलक्षण, हयलीलावती (मल्लिनाथ ने इसका उल्लेख किया है) आदि ग्रन्थ मिलते हैं। अधिकांश में ये ग्रन्थ हिन्दू शासन के ही समय के हैं।

तेरहवीं सदी में पशुचिकित्सा सम्बन्धी एक संस्कृत ग्रन्थ का फारसी में अनुवाद किया गया था। इसमें निम्नलिखित ग्यारह अध्याय हैं —

१. घोड़ों की जाति, २. उनकी सवारी और उनकी पैदाइश, ३. अस्तबल का प्रबन्ध, ४. घोड़ों का रंग और जातियाँ, ५. उनके दोष, ६. उनके अंग-प्रत्यंग, ७. उनकी बीमारी और चिकित्सा, ८. उनका दूषित रक्त निकालना, ९. उनका भोजन, १०. उनको हृष्ट-पुष्ट बनाने के साधन, ११. दाँतों से आयु को जानना।

पशु-चिकित्सा के साथ-साथ पशु विज्ञान और कृमि-शास्त्र भी अत्यन्त उन्नत था। भारतीय विद्वान् पशुओं के स्वभाव, प्रकृति आदि से पूर्णतया परिचित थे। पशुओं के शरीरविज्ञान को भी वे भली प्रकार जानते थे। घोड़े के दाँतों को देखकर उसकी आयु का पता लगाने की प्रथा भारत में पुरानी है। सर्पों की भिन्न-भिन्न जातियाँ इनको मालूम थीं। भविष्य पुराण में पाया जाता है कि वे वर्षा ऋतु के पूर्व संग करते हैं, और अनुमानतः छः मास के बाद सर्पिणी २४० अंडे देती है। बहुत से अंडे तो माता-पिता खा जाते हैं; और बचे अंडों से दो मास में बच्चे स्वयं निकल आते हैं। सात दिन में काले हो जाते हैं, और १५–२० दिन में उनके दाँत निकल आते हैं। तीन सप्ताहों में उनमें विष उत्पन्न हो जाता है, छः मास में साँप केंचुली उतारते हैं। उनकी त्वचा पर २४० सन्धियाँ होती हैं। डल्हण ने लिखा है कि लाटचायन कृमियों और सरीसृपों (रेंगनेवाले जन्तुओं) के विषय में प्रामाणिक विद्वान् है। उसने कृमियों के भिन्न-भिन्न अंगों पर भी विचार किया है,[1] यथा—

> 'कटुभिर्बिन्दुलेखाभिः पक्षैः पादैर्मुखैर्नखैः।
> शूकैः कण्टकलांगूलैः संश्लिष्टैः पक्षरोमभिः॥
> स्वनैः प्रमाणैः संस्थानैः लिंगैश्चापि शरीरगैः।
> विषवीर्यैश्च कीटानां रूपज्ञानं विभाव्यते॥'–कल्प

---

१. सिकन्दर के सेनापति नियर्कस ने लिखा है कि—'यूनानी लोग सर्पविष दूर करना नहीं जानते थे, परन्तु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पड़े, उन सबको भारतीयों ने ठीक कर दिया।' हिस्ट्री ऑफ मेडिसन-वाइज। दाहक्रिया और उपवास चिकित्सा में भी भारतीय प्रवीण थे।

हमारे समय के आस-पास के जैन पण्डित हंसदेव का लिखा 'मृग-पक्षी शास्त्र' भी अपने विषय का बहुत उपयोगी और प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसमें सिंहों का वर्णन करते हुए उनके छः भेद—सिंह, मृगेन्द्र, पंचास्य, हर्यक्ष, केसरी और हरि कहकर उनकी विशेषताएँ बतायी हैं। शेर के अतिरिक्त हंसदेव ने व्याघ्र, चरख, भालू, गैंडे, हाथी, घोड़े, ऊँट, गधे, गाय, बैल, बकरी, भैंस, हरिण, गीदड़, बंदर, चूहे आदि अनेक पशुओं और गरुड़, हंस, बाज, गिद्ध, सारस, कौआ, उल्लू, तोता, कोयल आदि नाना पक्षियों का विस्तृत विवरण दिया है। इनकी किस्में, वर्ण, युवावस्था, संभोग योग्य अवस्था, गर्भ-काल, इनकी प्रकृति, जाति, आयु तथा इनके भोजन, निवास आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। हाथी का भोजन गन्ना बतलाया है।

भारतीयों ने ही सबसे पहले औषधालय और चिकित्सालय बनाना प्रारम्भ किया था। फाहियान (४०० ई०) ने पाटलिपुत्र के एक औषधालय का वर्णन करते हुए लिखा है कि यहाँ सब गरीब और असहाय रोगी आकर इलाज कराते हैं। उनको आवश्यकतानुसार औषध दी जाती है। उनके आराम का पूरा खयाल रखा जाता है। यूरोप में सबसे पहला औषधालय विंसेंट स्मिथ के कथनानुसार दसवीं सदी में बना था। ह्युआन च्वांग ने भी तक्षशिला, मतिपुर, मथुरा और मुलतान आदि की पुण्यशालाओं के नाम दिये हैं, जिनमें गरीबों और विधवाओं को मुफ्त औषध, भोजन और वस्त्र दिये जाते थे।

वर्तमान यूरोपियन चिकित्साशास्त्र का आधार भी आयुर्वेद है। लार्ड एंपथिल ने एक भाषण में कहा था कि मुझे यह निश्चय है कि आयुर्वेद भारत से अरब में और वहाँ से यूरोप में गया। अरब का चिकित्साशास्त्र संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद पर निर्भर था। खलीफाओं ने कई संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया। भारतीय चिकित्सक चरक का नाम लैटिन में परिवर्तित होकर अब भी विद्यमान है। नौशेरवाँ का सम-कालीन बर्जोह्येह (Barzohyeh) भारत में विज्ञान सीखने आया था। प्रो० साचू के अनुसार अल्बेरूनी के पास वैद्यक और ज्योतिष विषयक संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद विद्य-मान थे। अल्मनसूर ने आठवीं सदी में भारत के कई वैद्यक ग्रन्थों का अरबी में अनु-वाद कराया। प्राचीन अरब-लेखक सैरेपिन ने चरक को प्रामाणिक वैद्य मानते हुए उसका वर्णन किया है। हारूँ रशीद ने कई वैद्यों को अपने यहाँ बुलाया था। आयु-र्वेद अरब से ही यूरोप में गया, यह निश्चित है।

अरब और भारत के सम्बन्ध (चिकित्सा विषय में)—भारतवर्ष से अरबों को गणित तथा फलित ज्योतिष के सिवा जो तीसरी विद्या मिली वह चिकित्सा की है।

चिकित्साशास्त्र की कुछ पुस्तकें उम्वी वंश के समय में ही सुरयानी और यूनानी भाषाओं के द्वारा अरबी में आ चुकी थीं। हारूँ रशीद की चिकित्सा करने के लिए भारत से मनकः (माणिक्य) नामक वैद्य बुलाया गया था और उसके इलाज़ से खलीफा अच्छे हुए। इस प्रकार से भारतीय चिकित्सा की ओर राज्य का ध्यान गया। बरामकी ने इसके प्रचार में बहुत मदद की। याहिन बिन खालिद बरमकी ने अपना एक आदमी इसलिए भारत भेजा कि वह जाकर भारत की जड़ी बूटियाँ लाये और एक वैद्य को सरकारी विभाग में इसलिए नियुक्त किया कि संस्कृत की चिकित्सा विषयक पुस्तकों का अनुवाद कराया जाय। खलीफा मवक्फिफ और विल्लाह अल्बासी ने भी हिजरी तीसरी शताब्दी में कुछ आदमी भारत में दवाइयों की जाँच के लिए भेजे थे।

संस्कृत की चिकित्सा सम्बन्धी जिन पुस्तकों का अनुवाद अरबी में हुआ उनमें दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं; एक सुश्रुत, जिसे अरबी लोग 'ससरो' कहते हैं। यह पुस्तक दस प्रकरणों में थी, इसमें रोगों के लक्षण, चिकित्सा और औषधियों का वर्णन है। याहिया बिन खालिद बरमकी की आज्ञा से मनका ने इसका अनुवाद इसलिए किया था कि बरमकी के चिकित्सालय में इसी के अनुसार इलाज हो। दूसरी पुस्तक चरक थी, जिसका अनुवाद फारसी में हुआ था। अब्दुल्लाह बिन अली ने फारसी से अरबी में इसका अनुवाद किया था। तीसरी पुस्तक का नाम इब्न नदीम में 'सन्दस्ताक' और याकूबी की छपी प्रति में सन्धशान है। एक और प्रति में सन्धस्तान है। इसका संस्कृत रूप 'सिद्धिस्थान' है। इब्न नदीम ने अरबी में इसका अर्थ खुलासा कामयाबी और याकूबी ने सूरत कामयाबी बतलाया है। इसका अनुवाद बगदाद के चिकित्सालय के प्रधान इब्न दहन ने किया था। चौथी पुस्तक का नाम याकूबी ने 'निदान' बताया है। इसमें चार सौ रोगों के केवल लक्षण या निदान बतलाये गये हैं। उनकी चिकित्सा नहीं बतायी गयी है।

एक और पुस्तक थी जिसमें जड़ी-बूटियों के भिन्न-भिन्न नाम थे। एक-एक जड़ी के दस-दस नाम दिये गये थे। सुलेमान बिन इसहाक के लिए मनका पण्डित ने इसका अरबी में अनुवाद किया था। एक और पुस्तक थी जिसका विषय था कि भारतीय और यूनानी दवाओं में से कौन दवाएँ ठण्डी हैं और कौन-सी गरम हैं, किस दवा की क्या शक्ति और क्या प्रभाव है ? इसका अरबी अनुवाद हुआ था।

रूसा नाम की हिन्दू विदुषी की एक पुस्तक का भी अनुवाद हुआ था, जिसमें

---

१. 'अरब और भारत के सम्बन्ध'—सैय्यद सुलेमान नदवी, पशुचिकित्सा तथा अधिक जानकारी के लिए इसे देख सकते हैं।

विशेषतः स्त्री-रोगों की चिकित्सा दी गयी थी। एक पुस्तक में गर्भवती स्त्रियों की चिकित्सा लिखी थी, एक में जड़ी-बूटियों का संक्षिप्त परिचय था, एक में नशे की वस्तुओं का उल्लेख था।

मसऊदी ने लिखा है कि राजा कोरश के लिए चिकित्साशास्त्र की बड़ी पुस्तक लिखी गयी थी, जिसमें रोगों के कारण, चिकित्सा, औषधियों की पहचान और जड़ी-बूटियों के चित्र बनाये गये थे। यूनानी दवाओं में एक प्रसिद्ध दवा 'इतरी फल' है; मुहम्मद ख्वारिज्मी ने (हि० चौथी शताब्दी में) इसे तिरीफल (त्रिफला) लिखा है। उसकी दूसरी दवा अंबजात है जो आम से बनती है। सबसे विलक्षण शब्द बहतः (या भत्त.?) है, ख्वारिज्मी का कहना है कि यह रोगियों का भोजन है। यह सिन्धी शब्द है, यह एक प्रकार का भात है जो दूध और घी में चावल पकाकर बनाया जाता है। इसे खीर भी समझ सकते हैं।

मसाले और औषधियों के नाम—सन्दल (अरबी), चन्दन (संस्कृत या हिन्दी), सन्दल (उर्दू)। जायफल को यही कहा जाता है। भल्लातक को अरबी में बलादर, हरीतकी को हलीलज, सोंठ को जंजीबल, एला को हेला, पिप्पली को फिल-फिल, नीलोत्पल को नीलोफर कहते हैं।

साँपों की विद्या (गारुड़ी विद्या)—भारत के लोग साँपों के प्रकार जानने और उनके काटे की झाड़-फूंक और जन्तर-मन्तर करने के लिए प्रसिद्ध हैं। राय नामक एक पण्डित की लिखी हुई इस विद्या की एक पुस्तक का अरबी में अनुवाद हुआ था, जिसमें साँपों के भेदों और विषों का वर्णन था। अरबी में एक और भारतीय पण्डित की पुस्तक का उल्लेख है, जो इसी विद्या पर थी (उयूनल अम्बा फी तब्बकातुल अतिब्बा —पृ० ३३, मिस्र)।

विष विद्या—जकरिया कज़वीनी ने अपनी आसारुल् बिलाद नामक पुस्तक में हिन्द या भारत के प्रकरण में बेश (विष) नामक एक जड़ी का उल्लेख किया है। इसके द्वारा राजाओं की आपस में मित्रता के छल से एक दूसरे को मारने की कथा लिखी है। यह बेश हिन्दी का विष है। गुह्य विद्या के सम्बन्ध में अरबी में चाणक्य या शानाक पण्डित की जो पुस्तक है, उसका नाम पहले आ चुका है। उसका अन्तिम प्रकरण भोजन और विष के सम्बन्ध में था। जान पड़ता है कि इसके सिवा इसकी कोई और भी पुस्तक थी, जिसमें विशेष रूप से विषों का वर्णन था और जो हिजरी सातवीं शताब्दी (ईसवी तेरहवीं शताब्दी) तक अरबी भाषा में मिलती थी। क्योंकि इब्न अबी उसैबअ ने सन् ६६८ हिजरी (१२७० ई०) में इस पुस्तक का पूरा वर्णन इस प्रकार किया है—

इस पुस्तक में पाँच प्रकरण हैं। याहिया बिन खालिद बरमकी के लिए मनका या माणिक्य पण्डित ने अबू हातिम बलखी की सहायता से फारसी में इसका अनुवाद किया था। फिर अब्बास बिन सईद जौहरी ने खलीफा मामूँ रशीद (२१८ हि०) के लिए दुबारा अनुवाद किया था। इब्न अदीम की सूची में इसी प्रकार की एक और पुस्तक का नाम मिलता है (इब्न नदीम), जिसका अरबी में अनुवाद हुआ था। परन्तु उसमें पुस्तक के मूल लेखक का नाम नहीं दिया है।

अरबी के लेखों में भारत के जिन पण्डितों और वैद्यों के नाम आये हैं, वे इस प्रकार हैं—बहला, मनका, बाजीगर (विजयकर ?), फलबर फल (कल्पराय कल ?), सिन्दबाद। ये सब नाम जाहिन (सन् २५५ हि०) ने दिये हैं। इसके आगे उसने आदि-आदि लिख दिया है। इनको याहिया बिन खालिद बरमकी ने भारत से बगदाद बुलाया था। ये सब चिकित्सक और वैद्य थे।

इब्न अबी उसैबअ ने उन वैद्यों में से मनका और बहला के बेटे का, जो शायद मुसलमान हो गया था और जिसका नाम सालह था, उल्लेख किया है। इब्न नदीम ने एक और नाम इब्न दहन लिखा है, और यही तीनों बगदाद में उस समय के प्रसिद्ध वैद्य थे। एक दूसरे स्थान पर उसने उन भारतीय पण्डितों के नाम दिये हैं, जिनके चिकित्सा और ज्योतिष के ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद हुआ था। वे नाम इस प्रकार हैं—बाखर, राजा, मनका, दाहर, अनकू, जनकल, अरीकल, जबभर, अन्दी, जबारी।

मनका—इब्न अबी उसैबअ ने अपनी तारीखुल अतिब्बा में लिखा है कि यह व्यक्ति चिकित्साशास्त्र का बहुत बड़ा पण्डित था। एक बार हारूँ रशीद बीमार पड़ा। बगदाद के सब चिकित्सक उसकी चिकित्सा करके हार गये। तब एक आदमी ने भारत के इस चिकित्सक का नाम लिया। यात्रा का व्यय आदि भेजकर यह बुलाया गया। इसकी चिकित्सा से खलीफा अच्छे हो गये। खलीफा ने इसको पुरस्कार आदि देकर मालामाल कर दिया। फिर यह राज्य के अनुवाद विभाग में संस्कृत पुस्तकों के अनुवाद का काम करने के लिए नियत किया गया। क्या हम इस मनका को माणिक्य समझें ?

सालेह बिन बहला—यह भी भारतीय चिकित्सा शास्त्र का पण्डित था। इब्न अबी उसबअ ने इसको भी भारत के उन्हीं विज्ञ चिकित्सकों में रखा, जो बगदाद में थे। एक बार जब खलीफा हारूँ रशीद के चचेरे भाई को मूर्च्छा या मिरगी का रोग हो गया और दरबार के प्रसिद्ध यूनानी ईसाई चिकित्सक बखतीशू ने कह दिया कि यह अब नहीं बच सकता, तब जाफर बरमकी ने इस भारतीय चिकित्सक को उपस्थित

किया और कहा कि इसी का इलाज होना चाहिए। खलीफा ने मान लिया और इसने बड़े मार्के की चिकित्सा की।

इब्न दह्न—यह बरमकियों के चिकित्सालय का प्रधान था और उन लोगों में से था जो संस्कृत से अरबी में अनुवाद करने के काम पर लगाये गये थे। प्रोफेसर जखाऊ ने 'इण्डिया' नामक ग्रन्थ की भूमिका में इस दह्न नाम का मूल रूप जानने का प्रयत्न किया है। उनकी जाँच का परिणाम यह है कि यह नाम धन्य या धनन होगा। यह नाम शायद इसलिए रखा गया है कि यह नाम धन्वन्तरि से मिलता जुलता है, जो मनु के शास्त्र में देवताओं का वैद्य बताया गया है।

शुक्रनीति

शुक्रनीति का समय नवीं शती के आस-पास का माना जाता है। यह राजनीति से सम्बन्धित है। शुक्र का नाम ही उशना है। पंचतंत्र में आता है—"उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः। स्त्रीबुद्धया न विशिष्येते तस्माद् रक्ष्याः कथं हि ताः॥" (मित्रभेद १९६।) कालिदास ने भी इनके नीतिशास्त्र की प्रशंसा की है—

'अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते।
कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्धः॥' कुमार.३।६

इन्द्र ! यदि आपका शत्रु शुक्राचार्य से भी नीतिशास्त्र पढ़कर आया होगा, तब भी अत्यन्त भोग की इच्छा को ऐसा दूत बनाकर उसके पास भेजूंगा कि वह उसके धर्म और अर्थ दोनों का उसी प्रकार से नाश कर दे जिस प्रकार बरसात में बढ़ी हुई नदी का बहाव दोनों तटों को बहा ले जाता है।

इसलिए शुक्र का नीतिशास्त्र बहुत प्रचलित प्रतीत होता है। नीतिशास्त्र में कौटिल्य की भाँति आयुर्वेद के विषय यत्र-तत्र मिलते हैं। इसकी रचना पद्यमय है जो बहुत साधारण है।

वैद्य का लक्षण—आयुर्वेद में हेतु, लिंग और औषध ये तीन ही मुख्य हैं ("हेतुलिंगौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्। त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः॥" चरक० सू० अ० १।२४)। इन तीन के ज्ञान में आयुर्वेद शास्त्र सीमित है ("त्रिविधस्यायुर्वेदसूत्रस्य ससंग्रहव्याकरणस्य......प्रवक्तारः।" चरक० सू० अ० २९।७)। इसी से तीन सूत्रों के ज्ञाता को वैद्य कहा गया है—

'हेतुलिंगौषधैर्भिर्यो व्याधीनां तत्त्वनिश्चयम्।
साध्यासाध्ये विदित्वोपक्रमेत स भिषक् स्मृतः॥' शु० २।८३

जो रोग के कारण, लक्षण और औषधि को वास्तव में पूर्णतः समझता है, साध्या-साध्य विकार को जानकर चिकित्सा प्रारम्भ करता है, वह वैद्य है (तुलना कीजिए, प्राणभिसर वैद्य के लक्षणों में—"सुखसाध्यकृच्छ्रसाध्ययाप्यप्रत्याख्येयानां च रोगाणां ......व्यपगतसन्देहाः।" सू० अ० २९।७)।

औषधि संचय—राजा को और वस्तुओं के साथ औषधियों का भी संग्रह करना चाहिए। कौन औषधि किस समय संग्रह करनी चाहिए, इनका विशद उल्लेख अत्रि-पुत्र ने किया है ("तत्र यानि कालजातान्यागतसम्पूर्णप्रमाणरसवीर्यगन्धानि कालातपाग्निसलिलपवनजन्तुभिरनुपहतगन्धवर्णरस—स्पर्शप्रभावाणि.........शुक्लवासाः संपूज्य देवता अश्विनौ गोब्राह्मणांश्च कृतोपवासः प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा गृह्णीयात्" कल्प अ० १।१०)। इसी प्रकार जनपदोद्ध्वंस रोग फैलने से पूर्व औषधियों का संचय करना चाहिए, क्योंकि वायु, उदक, देश, काल में विकार आने से औषधियाँ भी विकृत हो जाती हैं ("प्राक् च भूमेर्विरसीभावाद् उद्धरध्वं सौम्य ! भैषज्यानि यावन्नोपहतरसवीर्यविपाकप्रभावाणि भवन्ति।" वि० अ० ३।४)।

'गृह्णीयात् सुप्रयत्नेन वत्सरे वत्सरे नृपः।
ओषधीनां च धातूनां तृणकाष्ठादिकस्य च॥' शु० ५।४५

प्रति वर्ष राजा प्रयत्नपूर्वक औषधि, धातु, तृण, काष्ठ आदि का संचय करता रहे।

आयुर्वेद—आयु जिससे जानी जाती है, वह आयुर्वेद है। आयु के लिए हितकारी और अहितकारी द्रव्य, गुण, कर्मों का जिससे ज्ञान होता है, वह आयुर्वेद है (चरक० सू० अ० ३०।२३)। यह आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है (चरक० सू० अ० ३०।२१)। शुक्रनीति में आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद कहा है, जिसमें आयु को हेतु, लक्षण और औषधि से जानते हैं, वह आयुर्वेद है—

'विन्दत्यायुर्वेत्ति सम्यगाकृत्योषधिहेतुतः।
यस्मिन् ऋग्वेदोपवेदः स चायुर्वेदसंज्ञकः॥' शु० ४।७७

कला—कामसूत्र में चौंसठ कलाओं की गणना है, उनमें एक कला आसव—मद्य बनाने की भी है, "पानकरसरागासवयोजनम्"—पानक, रस, राग और आसव बनाने की कला को सीखे! प्राचीन काल में आसवविज्ञान मुख्य ज्ञान था, इसी से अग्निवेश ने अत्रिपुत्र से पूछा—"आसवानामिदानीमनपवादं लक्षणमनतिसंक्षेपेणोपदिश्यमानं शुश्रूषामहे—इति।" (सूत्र० अ० २६।४८) इसी कला को शुक्रनीति में कहा है—

'मकरन्दासवादीनां मद्यादीनां कृतिः कला।
शल्यमूढाहृतौ ज्ञानं शिराव्रणव्यधे कला॥' शु० ४।१२

'कटुभिर्बिन्दुलेखाभिः पक्षैः पादैः मुखैर्नखैः ।
शूकैः कण्टकलांगूलैः संश्लिष्टैः पक्ष्मरोमभिः ॥' (कल्पस्थान)

इसी प्रकार से शौनकसंहिता और आलम्बायन संहिता है। आलम्बायन संहिता का पाठ निदान-टीका में श्रीकण्ठ ने दिया है—"नैति रक्तं क्षताद् यस्य लताघाते न राजिकाः। न लोमहर्षः शीताद्‌भिः वर्जयेत्तं विषार्दितम् ॥"

(तुलना कीजिए—चरक० चि० अ० २३।३३–३४।) आलम्बायन का एक पाठ श्रीकण्ठ ने वृन्द के सिद्धयोग की टीका में दिया है—"संगृह्य सर्पं हस्ताभ्यां पुच्छे वक्त्रे च सात्त्विकः। स दष्टव्यस्ततः सर्पो द्विस्त्रिश्चतुरथापि वा ॥" (६८।५ की टीका)

ये संहिताएँ ऋषियों के नाम पर मिलती हैं, इसके सम्बन्ध में डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल का कहना है कि ये ग्रन्थ इन ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध चरण या शाखान्तर्गत हैं। प्राचीन काल में ऋषियों के नाम से चरण और शाखा चलती थी, शिष्य उसी से अपनी गुरुपरम्परा का परिचय देते थे। इसमें वे गौरव भी अनुभव करते थे (जिस प्रकार से आज अपनी उपाधि के पीछे विश्वविद्यालय का नाम लिखते हैं)।

चरण वैदिक विद्यापीठ थे—चरण उस प्रकार की शिक्षा-संस्था थी, जिसमें वेद की एक शाखा का अध्ययन शिष्यसमुदाय करता था और जिसका नाम मूल संस्थापक के नाम पर पड़ता था। इसका प्रबन्ध संघ के आदर्श पर होता था ("चरणशब्दः शाखानिमित्तकः पुरुषेषु सुवर्त्तते"—काशिका २।४।३) चरक में शाखा शब्द आयुर्वेद के अर्थ में आया है, जिस चरण में या शाखा में आयुर्वेद-विद्या का अध्ययन होता था, उस चरण के अन्दर बननेवाली संहिता उसी चरण के नाम से प्रसिद्ध होती थी)। वैदिक साहित्य के विविध अंगों का विकास चरणों में हुआ था। पाणिनि के समय से पूर्व ही चरणों में वैदिक साहित्य का इतना विकास हो चुका था (सूत्र ४।२।६६; ४।३।१०५)। श्रौत्रसूत्र या कल्पग्रन्थों के बाद धर्मसूत्रों की रचना भी (आयुर्वेद संहिताओं की भी) चरण साहित्य के अन्तर्गत हो गयी थी। एक ही चरण के छात्र परस्पर सब्रह्मचारी कहलाते थे। विद्वानों को चरण-जनित गौरव—प्रसिद्ध चरणों की सदस्यता के आधार पर समाज में आदर मिलता था ('काठिकया श्लाघते'—कठ होने के नाते अपना बड़प्पन दिखाता है; 'कतरः कठः, कतमः कठः'—इन दोनों में कौन कठ है, और इन सबमें कौन कठ है—'पाणिनि कालीन भारत वर्ष')। इस प्रकार आयुर्वेद में ऋषियों के नाम से मिलनेवाली भिन्न-भिन्न संहिताएँ ऋषियों से बनी होने की अपेक्षा ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध चरणों के अन्दर बनी मानना बहुत युक्तिसंगत एवं बुद्धिगम्य है। इस प्रकार से इनके निर्माण का समय जानना बहुत कुछ सरल हो जाता है।

माधवनिदान और माधवकर[1]

चिकित्साकलिका में तीसट ने अपने ग्रन्थ का प्रयोजन बताते हुए कहा है—'जिसने स्वल्प शास्त्रों का अध्ययन किया है—ऐसे वैद्य की सुश्रुत आदि शास्त्ररूपी समुद्र में अज्ञानवश बुद्धि प्रसरित नहीं होती; परन्तु हमारे बनाये हुए योगसमुच्चय में तो मूर्ख और पण्डित दोनों चिकित्सकों की बुद्धि अच्छी प्रकार प्रवेश करती है।' इसी प्रकार इन्हीं कारणों से निदान सम्बन्धी वचनों का पृथक् संग्रह करना पड़ा—

'नानातंत्रविहीनानां भिषजामल्पमेधसाम्।
सुखं विज्ञातुमातङ्कमयमेव भविष्यति॥' (निदान. ३)

अनेक शास्त्रों के ज्ञान से शून्य अल्प बुद्धिवाले वैद्यों को रोगों का ज्ञान सुगमता से कराने के निमित्त यही रोगविनिश्चय नामक ग्रन्थ सहायक होगा। इसमें कर्त्ता ने ऊपर इतना अधिक कह दिया कि "सद्भिषजां नियोगात्" सद्वैद्यों की प्रेरणा या आज्ञा से मैं यह कार्य कर रहा हूँ। आज यह संग्रह बहुत प्रसिद्ध है (निदाने माधवः श्रेष्ठः)। ग्रन्थकर्त्ता माधव ने अपने ग्रन्थ का नाम रोगविनिश्चय रखा है (निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्); परन्तु लोक में निदान या माधवनिदान नाम ही प्रसिद्ध है। इसमें प्रारम्भ में पंच निदान लक्षण देने के पीछे ज्वर, अतिसार आदि रोगों का निदान चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि ग्रन्थों में से संग्रह करके एकत्र किया गया है। निदान में आवश्यक वचनों को लिया गया है।

माधवकर का समय—अरबी प्रमाण इसको सातवीं शताब्दी का बताता है, क्योंकि अल्बेरूनी कहता है कि "उससे पहले अलवासीद खलीफा के समय जिन संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ था, उनमें माधवनिदान भी था।" खलीफा हारून् अल्-रशीद की सभा में मनका नाम का राजवैद्य और अल्बेरूनी नामका वैयाकरण था। मनका नामक भारतीय वैद्य ने हारून अल् रशीद को किसी भयानक रोग से स्वस्थ किया था। इसी के उपलक्ष्य में उसे वहाँ प्रतिष्ठा मिली थी। इसने वहाँ पर कई संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया था, जिनमें शरक् (चरक),

---

१. सिद्धसारसंहिता या सारसंग्रह नामक एक ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति नेपाल से मिली है। इसका लेखक रविगुप्त है। रविगुप्त बौद्ध था। वैद्य होने के साथ कवि और नैयायिक भी था। सर्वांगसुन्दरी टीका में जिस रविगुप्त के सिद्धसार का उल्लेख है, वह यही है। यह रविगुप्त आठवीं शती में हुआ है (देखिए—जर्नल औफ आयुर्वेद—अप्रैल १९२६, पृष्ठ ३७३; श्री दुर्गाशंकर भाई)।

मन्नद् (सुश्रुत) इन ग्रन्थों के साथ निदान भी था (—प्रत्यक्ष शारीर, उपोद्घात)। आठवीं शताब्दी में ही सुरजिद् वैद्य ने माधवनिदान के आधार पर लघुनिदान लिखा था, जिसका उल्लेख मधुकोश की टीका में मिलता है। इससे इनका समय सातवीं शताब्दी निश्चित होता है।

माधव ने वाग्भट के वचनों का संग्रह किया है। वृन्द और चक्रपाणि ने रोग-विनिश्चय के क्रम से ही अपने-अपने ग्रन्थों में चिकित्सा कही है। इसलिए इनसे पूर्व और वाग्भट के पीछे इनका समय आता है। चक्रपाणिदत्त का समय ग्यारहवीं शती है। चक्रपाणिदत्त ने अपना चिकित्सासारसंग्रह ग्रन्थ वृन्द के सिद्धयोग के आधार पर बनाया है। इसलिए वृन्द का समय चक्रपाणिदत्त से पहले का है। इसके बनाये ग्रन्थों की प्रतिष्ठा देखकर ही इसके ऊपर से रचना की है। इस ख्याति के लिए यदि एक सौ या दो सौ वर्ष का समय समझें तो वृन्द का समय ९वीं शती के आस-पास आता है। वृन्द से एक सौ या दो सौ वर्ष पूर्व माधव का समय आता है, जो सातवीं शती के आस-पास का है।

माधव को इन्दु का पुत्र कहा जाता है। नाम के पीछे कर आने से कविराज गणनाथ सेनजी इसको बंगाली मानते हैं। माधवकर ने रत्नमाला नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखा था, तीसरा ग्रन्थ द्रव्य-गुण पर बनाया था (—प्रत्यक्ष शारीर, उपोद्घात)।[1]

टीकाकार—माधवनिदान की दो टीकाएँ प्रसिद्ध हैं—(१) श्री विजयरक्षित और उसके शिष्य श्रीकण्ठ की मधुकोश टीका, (२) श्री वाचस्पति वैद्य की बनायी आतंकदर्पण टीका। ये टीकाकार चौदहवीं शताब्दी में हुए हैं। विजयरक्षित और श्रीकण्ठ का समय हेमाद्रि के पीछे है, ये चौदहवीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए हैं, और वाचस्पति चौदहवीं शती के उत्तरार्द्ध में (माधवनिदान, निर्णयसागर प्रेस का उपोद्घात)।

विजयरक्षित की टीका में स्थान-स्थान पर विवेचनात्मक नैपुण्य की झलक मिलती है। इन्होंने आयुर्वेद की संहिताओं का गहन अध्ययन किया था। यह शिवभक्त थे। इनके शिष्य श्रीकण्ठ ने गुरु की अधूरी टीका को पूर्ण करने के अतिरिक्त वृन्द के सिद्धयोग की

---

१. ७८६ ई० में खलीफा हारूनुलरशीद के समय काबुल पर अरबों ने चढ़ाई की और नगर के बाहर एक विहार को लूटा। पुराने रिश्ते के कारण खलीफा भारत से विद्वानों को बगदाद बुलाते और उन्हें वहाँ वैद्य आदि के पदों पर रखते थे। अरब विद्यार्थियों को वे पढ़ने भारत भेजते थे—इतिहासप्रवेश।

कुसुमावली टीका भी लिखी है। यह भी आयुर्वेद का विद्वान् था। इसने भी अपनी टीका में बहुत-सी संहिताओं का उल्लेख किया है। यह भी शिवभक्त था।

वृन्द-कृत सिद्धयोग

चिकित्साकलिका के ढंग पर वृन्द ने अपना सिद्धयोग बनाया है। इसमें रोगक्रम माधवनिदान के अनुसार रखा है। अपने अनुभव में आये योगों का संग्रह इसमें किया है।

'नानामतप्रथितदृष्टफलप्रयोगैः प्रस्ताववाक्यसहितैरिह सिद्धयोगः।
वृन्देन मन्दमतिनात्महितार्थिनाऽयं संलिख्यते गदविनिश्चयप्रक्रमेण ॥'

ग्रन्थकर्ता ने शिव और चण्डी की प्रार्थना से मंगलाचरण किया है ('ध्यात्वा शिवं परमतत्त्वविचारवेद्यं चण्डीमभीष्टफलदां सगणं गणेशम्')।

वृन्द ने चरक, सुश्रुत और वाग्भट से योगों का संग्रह तथा अन्य वचन उद्धृत किये हैं (कुष्ठ का मणिभद्र यक्षवाला योग, विरेचनाविकार ७४।१६—१७—वाग्भट का है)। इसके योग क्रियात्मक हैं (विरेचनाधिकार ७४ में एरण्ड तैल की प्रयोग विधि)। चक्रपाणि ने वृन्द के योगों को अपने ग्रन्थ में लिया है (वृन्द के शूलाधिकार का २६।५८ वाँ श्लोक पूर्णतः चक्रदत्त में है)। इससे स्पष्ट है कि चक्रपाणि वृन्द के पीछे हुए हैं। माधव के पीछे होने से रोगक्रम में उसका अनुसरण किया है। स्नायुक रोग का वर्णन माधवनिदान में नहीं है। वृन्द ने विस्फोटाधिकार के अन्दर इसका उल्लेख किया है ('शाखासु कुपितो दोषः शोथं कृत्वा विसर्पवत्......स स्नायुक इति ख्यातः क्रियोक्ता तु विसर्पवत् ॥' १५—१७)। इसकी चिकित्सा भी दो श्लोकों में दी है। चक्रदत्त ने वृन्द के शब्दों में ही स्नायुक रोग की चिकित्सा लिखी है। चक्रदत्त ने इस रोग का निदान नहीं लिखा, परन्तु वृन्द का कहा निदान ही स्वीकार किया है। चक्रदत्त के टीकाकार श्री शिवदास सेनजी ने लिखा है कि 'स्नायुक रोग'—नारू नाम से पश्चिम देश में प्रसिद्ध है; यह रोग रुग्विनिश्चय में नहीं, वृन्द ने इसका उल्लेख किया है। वृन्द का पाठ देकर उसकी व्याख्या की गयी है। चक्रदत्त ने स्वयं सिद्धयोग में से योग लेना स्वीकार किया है ('यः सिद्धयोगलिखितानधिकयोगानत्रैव निक्षिपति केवलमुद्धरेद्वा')।

चक्रदत्त का समय ग्यारहवीं शती है। इसलिए वृन्द का समय लगभग नवीं शती या दशमी शती होना सम्भव है। क्योंकि इस ग्रन्थ के प्रचार और ख्याति के लिए समय भी चाहिए। सिद्धयोग की ख्याति बहुत हुई होगी, इसी से चक्रपाणिदत्त-जैसे विद्वान् को इसको आधार बनाना पड़ा।

वृन्द के टीकाकार का कहना है कि पश्चिम में (मारवाड़ में) होनेवाले रोगों का उल्लेख विशेष रूप से ग्रन्थकर्त्ता ने किया है; इसके आधार पर इसका पश्चिम भारत का होना सम्भव है।

ज्वर से लेकर वाजीकरण तक सत्तर अधिकारों में चिकित्सा के सिद्धान्त प्रारम्भ में देकर संक्षेप में निदान देते हुए चिकित्सा क्रम कह दिया है। पीछे के अध्यायों में स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, वस्ति, धूम, नस्य आदि का वर्णन करते हुए ८१वें अध्याय में स्वस्थाधिकार कहा है। इसमें सद्वृत्त का भी उल्लेख किया है। अन्तिम अधिकार मिश्रकाधिकार है, जिसमें चिकित्सा के चार पाद, मान-परिभाषा आदि विषय हैं।

इस ग्रन्थ की एक ही टीका—कुसुमावली है, जिसे श्रीकण्ठ ने बनाया है ('श्री-कण्ठदत्तभिषजा ग्रन्थविस्तारभीरुणा। टीकायां कुसुमावल्यां व्याख्या मुक्ता क्वचित् क्वचित् ॥')। इनका समय १४वीं शती है। इनकी टीका सम्भवतः कहीं-कहीं रह गयी थी, उसे नागर वंश में उत्पन्न भाभल्ल के पुत्र नारायण ने पूरा किया। यह आनन्दाश्रम से प्रकाशित पुस्तक के अन्त में लिखा है।

ग्रन्थ की विशेषता—योग-संग्रह ग्रन्थों में प्रथम विस्तृत ग्रन्थ सम्भवतः यही है इसमें रोग का निदान नहीं दिया गया है। इसका कारण सम्भवतः माधवनिदान ग्रन्थ की ख्याति थी। इसलिए उसे छोड़कर चिकित्सा के दृष्टिकोण से ही इस ग्रन्थ की रचना हुई है। इसी से परिभाषा प्रकरण को विस्तार से दिया है; यही परिभाषा आज भी मान्य है। इस ग्रन्थ में खनिज धातुओं का प्रयोग बहुत कम है, परन्तु लोह और मण्डूर का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है। इसमें मण्डूर को चूर्ण करके, अग्नि में जलाकर प्रयोग करने का भी उल्लेख मिलता है—

'गोमूत्रशुद्धं मण्डूरं त्रिफलाचूर्णसंयुतम्।
विलिहन्मधुसर्पिर्भ्यां शूलं हन्ति त्रिदोषजम् ॥' २६।३३
'मण्डूरस्य पलान्यष्टौ गोमूत्रेऽर्धाढके पचेत्।
क्षीरप्रस्थं च तत्सिद्धं पक्तिशूलहरं नृणाम् ॥' २७।२४

इसी प्रकार से मण्डूरवटिका, शतावरीमण्डूर, गुड़मण्डूर आदि योग हैं। लोह का प्रयोग भी पर्याप्त है—

'अक्षामलकशिवानां स्वरसैः पक्वं सुलोहजं रेणुम्।
सगुडं यद्युपयुङ्क्ते मुञ्चति शूली त्रिदोषजं शूलम् ॥
कलायचूर्णस्य भागौ द्वौ लोहचूर्णस्य चापरः ॥
लिह्याद्वा त्रैफलं चूर्णमयश्चूर्णसमायुतम् ॥' २७।३७, ५०।५२

मण्डूर और लोहे का प्रयोग शूल रोग में ही है। इन दो धातुओं के सिवाय अन्य धातु का उपयोग इसमें नहीं है। ज्वर में, शूल में पात्र में पानी भरकर शरीर के ताप को कम करने या सेक करने का विधान इसमें है; जो पूर्णतः क्रियात्मक हैं (कांस्य-राजत-ताम्राणि भाजनानि च सर्वतः। परिपूर्णानि तोयस्य शूलस्योपरि निक्षिपेत् ॥२६।१६; तोयं-शीतं ज्ञेयम्—टीका)। ज्वर में रोगी के दाह, बेचैनी, अधिक उष्णिमा को शान्त करने का क्रियात्मक उपाय—

'उत्तानसुप्तस्य गभीरताम्रकांस्यादिपात्रं प्रणिधाय नाभौ।
तत्राम्बुधारा बहुला पतन्ती निहन्ति दाहं त्वरितं सुशीता ॥' (१।१०४)

रोगी की नाभि पर ताम्र-कांसा आदि धातु के जो पात्र उष्णिमा के लिए सुवाहक हों उन गहरे पात्रों को रख देना चाहिए। इन पात्रों में शीतल जल की मोटी धार गिरानी चाहिए। इससे रोगी का दाह शान्त होता है। इस प्रकार से इसमें सरल, उपयोगी योगों का संग्रह है।

अष्टांग संग्रह में लिखित प्रसिद्ध शिवागुटिका का उल्लेख चिकित्साकलिका और चक्रदत्त में है; परन्तु वृन्द ने सिद्धयोग में नहीं दिया है। सम्भवतः इसका कारण इसकी लम्बी विधि है। सिद्धयोग के योग संक्षिप्त एवं सरल हैं। रसायन योग भी इसी ढंग पर दिये गये हैं।

भाषा-सुन्दर और ललित है; उपमाएँ मनोहर हैं—

'तिमिरं रागतां याति रागात्काचत्वमेति च।
काचात्संजायते नीली तदाऽन्धो जायते नरः॥' (६१।११७)
'यस्त्रैफलं चूर्णमपथ्यवर्जी सायं समश्नाति हविर्मधुभ्याम्।
स मुच्यते नेत्रगतैः विकारैर्भृत्यैर्यथा क्षीणधनो मनुष्यः॥ (६१।१२०)

नागार्जुन से कही अंजनवर्त्ति का उल्लेख इसमें है (नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके। नाशनी तिमिराणां च पटलानां तथैव च ॥६।१५०)। इससे स्पष्ट है कि नागार्जुन ने जिस लोह शास्त्र का उल्लेख किया था तथा-जिसका उल्लेख चक्रदत्त ने किया है ('नागार्जुनो मुनीन्द्रः शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम्। तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेतद् विशदाक्षरैः ब्रूमः।' रसायन, १५) वह विधान वृन्द के समय तक प्रचलित नहीं था। यों लोह का प्रयोग चरक, सुश्रुत, संग्रह में है; परन्तु वह रसशास्त्र से भिन्न प्रकार का है। लोह, अभ्रक, ताम्र का मारण प्रयोग चक्रदत्त में प्रथम मिलता है।

वृन्द के समय इनका प्रचार प्राथमिक रूप में था। चक्रदत्त में अधिक मिलता है; इसके आगे रसौषध मिलने लगती हैं।

राजमार्त्तण्ड

भोजराज इसके कर्त्ता कहे गये है भोजराज के नाम से अलंकार, ज्योतिष आदि के ग्रन्थ मिलते हैं; डल्लण ने भोज के जो वचन दिये हैं, वह भोज इसके कर्त्ता से भिन्न हैं। विजयरक्षित, श्रीकण्ठ, चक्रपाणि ने भी भोज के वचन उद्धृत किये हैं (प्रत्यक्ष. उपोद्. पृष्ठ. २५-२६)। राजमार्त्तण्ड के साथ राज शब्द लगा होने से इसका कर्त्ता राजा भोज कहा जाता है (धारा नगरी के राजा भोज के सिवाय ८३६ ई० में रामभद्र का बेटा भोज या मिहिर भोज हुआ, जिसने कन्नौज को जीतकर भिन्नमाल के स्थान पर अपनी राजधानी कन्नौज को बनाया था। ग्रन्थकर्त्ता अपने को महाराज नाम से कहते हैं। राजा भोज विद्वानों का आश्रयदाता रूप में प्रसिद्ध है; सम्भवतः किसी पण्डित ने उनके नाम से यह रचना की हो जिस प्रकार श्रीहर्ष के नाम से प्रसिद्ध रत्नावली नाटिका, नागानन्द को बाण का कहा जाता है; परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है; इस अवस्था में यह केवल कल्पना भी हो सकती है)। लेखक ने स्वयं कहा है "योगानां संग्रहोऽयं नृपतिशतशिरोधिष्ठिताज्ञेन राज्ञा।"

राजमार्त्तण्ड में कर्णपालीवर्धन के लिए; लेप-तेल, घृत दिये हैं। इसी प्रकार श्रोणि वृद्धि के योग दिये हैं। इस प्रकार के योग सिद्धयोग या चक्रदत्त में नहीं हैं। इस प्रकार के लेप इसको अनंगरंग के आस-पास का प्रमाणित करते हैं; जो कि १०वीं या ११ वीं शती का है। इसमें कुछ प्रयोग सुन्दर हैं; यथा—आरोपिते मूर्धनि शीतवारिकुम्भे शमं गच्छति तत्क्षणेन। असृक्प्रवाहः प्रदरामयोत्थः स्त्रीणां नदीस्रोत इवावरोधात् ॥३०८॥ स्त्रियों के मध्य भाग को पतला करने का योग इसी में मिलता है "अतिमुक्तस्य मूलं तक्रेण समं निपीतमबलानाम्। प्रतनु विधत्ते मध्यं कसेरुरथवा समध्वाज्यः"॥३४७॥ अन्त में पशुरोग चिकित्सा दी है। कबूतरों में रंगभेद का कारण इनका खान पान बताया है "पारावतेभ्यः क्रमशः कुसुम्भमसूरमुद्गैः परिपोषितेभ्यः। भवन्त्यपत्यानि सितारुणानि नीलच्छवीनि च वधूप्रसंगात्" ॥४१७॥

चक्रपाणिदत्त का चिकित्सा सार संग्रह [चक्रदत्त]

चक्रपाणिदत्त ने अपना परिचय चक्रदत्त के अन्त में दिया है; जिसमें उसने अपने को गौड़ाधिपति नयपाल की पाकशाला के अधिकारी नारायण का पुत्र बताया है। इनके बड़े भाई का नाम भानु था। महीपाल का समय लगभग ९७५-१०२६ ई० है।

महीपाल ने धीरे-धीरे अपने पुरखों के राज्य का उद्धार किया। अन्तिम काल (१०२३ में) इसने मिथिला पर भी अधिकार कर लिया था।[१]

महीपाल के बाद उसका पुत्र नयपाल राजा हुआ। नयपाल का युद्ध कभी कर्ण के साथ हुआ था (१०४१-१०७२ ई०)। इसमें बौद्ध दार्शनिक दीपङ्कर श्रीज्ञान अथवा अतीश ने दोनों पक्षों में सन्धि करा दी थी। नयपाल का पुत्र विग्रहपाल हुआ। विग्रहपाल की मृत्यु के पश्चात् इसके तीन पुत्रों में राजगद्दी के लिए झगड़े हुए। इस लड़ाई-झगड़े में पाल राज्य संकुचित होकर छोटा हो गया। विग्रह पाल का तीसरा पुत्र रामपाल अपने दूसरे भाई शूरपाल के मरने के बाद गद्दी पर बैठा। इसने ४५ वर्ष राज्य किया। इस समय पाल राज समाप्ति पर था। इसके मरने के साथ-साथ यह और भी क्षीण हो गया। सामन्त धीरे-धीरे सिर उठाने लगे और वे स्वतंत्र हो गये। रामपाल का बेटा कुमारपाल हुआ। इसका मंत्री वैद्यदेव स्वतंत्र होकर राज्य करने लगा। विजयसेन सामन्त के उदय से मदनपाल को बंगाल छोड़ना पड़ा था; पालों का अधिकार विहार के एक भाग पर रह गया था। यहाँ पूर्व में सेनों से तथा पश्चिम गाहड़वालों से घिरे हुए अपने दिन पूरे किये। पालवंश को अन्तिम झाँकी ११७५ ई० के एक अभिलेख में मिलती है; जो गोविन्द पाल के शासन के १४ वें वर्ष का है (प्राचीन भारत का इतिहास डा० त्रिपाठी)।

सेन वंश—दसवीं शती से ही कनाड़े सिपाही भारत भर में प्रसिद्ध थे। १०८० ई० के करीब विजयसेन और नान्यदेव दो कनाड़े सैनिकों ने पाल राजाओं से बंगाल और तिरहुत छीनकर दो नये राज्य स्थापित किये। इसी विजयसेन से बंगाल में सेनवंश चला, जिसने पालवंश के पीछे वहाँ का शासनसूत्र चलाया।

विजयसेन ने ६२ वर्ष (१०९५ से ११५८ ई० के लगभग) राज्य किया, युद्ध में अनेक प्रदेश जीते। इसने गौड़नरेश मदनपाल पर आक्रमण किया था। (मदनपाल निघण्टु, जो आयुर्वेद का प्रसिद्ध निघण्टु है, जिसका बंगाल में बहुत प्रचार है, वह इसी का बनाया कहा जाता है। बंगाल से पालों को विजय सेन ने भगाया था, इसका उल्लेख राजशाही जिले के देवपाड़ा के एक शिलालेख में मिलता है। विजयसेन शिव-भक्त और श्रोत्रियों का उपासक था।

विजयसेन के बाद बल्लालसेन गद्दी पर बैठा। इसने राज्य का रक्षण किया। यह

---

[१] 'विद्याकुलसम्पन्नो भिषक्तरङ्ग उच्यते; लोध्रबली कुलीन—लोध्र बली-संकाशकुलोत्पन्नः'—शिवदास सेन।

भी शैव था। इसके पीछे लक्ष्मण सेन गद्दी पर बैठा। सेन राजकुल का अन्तिम राजा यही था। इसी के समय मुहम्मद इब्न बख्त्यार खिलजी ने ११९७ ई० के लगभग बिहार को जीता और ब्राह्मणों (बौद्ध भिक्षुओं) का वध करता हुआ ११९९ ई० के अन्त में जब थोड़ी-सी सेना लेकर नदिया के पास पहुँचा, तब बिना किसी विरोध के लक्ष्मण-सेन चुपचाप राजप्रासाद के पिछले दरवाजे से निकल भागा। लक्ष्मण सेन बहुत निर्बल था, अन्यथा १८ घुड़सवारों को साथ में लेकर बख्त्यार कैसे नदिया को ले सकता था। इसके पीछे सेन राज्य गंगा पार पहुँचकर पूर्व बंगाल में कायम हुआ। वहाँ पर १२०६ ई० के लगभग उसने राज्य किया। लक्ष्मणसेन ने ११८० में राज्य किया, इसका प्रबल प्रमाण है, परन्तु उसकी मृत्यु के पचास साल बाद तक ही पूर्व बंगाल में सेन वंश का राज्य रहा।

प्राचीन राजाओं की भाँति लक्ष्मण सेन भी साहित्यिकों के प्रति उदारता बरतता था। उसकी राज सभा में पवनदूत का रचयिता धोयिक तथा गीतगोविन्द का प्रणेता जयदेव था। लक्ष्मण सेन स्वयं कवि था। (प्राचीन भारत का इतिहास—डाक्टर त्रिपाठी)

पाल और सेनवंशी राजाओं के समय में ही बंगाल में वैद्यक शास्त्र के नये-नये ग्रन्थ बने। चक्रपाणिदत्त, मदनपाल, वंगसेन आदि प्रसिद्ध ग्रन्थकार इन्हीं वंशों के समय हुए और राज्याश्रय के कारण आयुर्वेद साहित्य की वृद्धि कर सके। इनमें सबसे प्रथम चक्रपाणिदत्त हुए हैं, जिनका समय नयपाल का राज्यकाल है। नयपाल ने १०४० ई० के लगभग महाराज की पदवी धारण की थी।

चक्रपाणि की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, इन्होंने बहुत ग्रन्थ बनाये, साहित्य में—माघ की टीका, कादम्बरी की टीका, दशकुमार चरित की उत्तरपीठिका, न्यायसूत्र की टीका; वैद्यकशास्त्र में—वैद्यकोष, आयुर्वेददीपिका नामक चरक की टीका, भानुमती नामक सुश्रुत टीका, व्यग्रदरिद्रशुभङ्करणम्, चिकित्सासंग्रह (चक्रदत्त), द्रव्यगुणसंग्रह, सारसंग्रह आदि। चरक की प्राञ्जल-विशद टीका के कारण इनको चरक-चतुरानन कहा जाता है। (बृहत्त्रयी—श्री हालदार, इसमें दशकुमारचरित की उत्तरपीठिका के विषय में सन्देह है—लेखक)

ग्यारहवीं शती में चिकित्सासंग्रह बनाया गया। इसके ऊपर बारहवीं-तेरहवीं शती के अन्तराल में श्री निश्चल ने रत्नप्रभा टीका की थी। इसी रत्नप्रभा का आश्रय लेकर १५वीं, १६वीं शताब्दी के बीच में शिवदास सेन ने अपनी तत्त्वचन्द्रिका नामक टीका लिखी है। द्रव्यगुणसंग्रह पर भी शिवदास सेन ने टीका लिखी है। चक्रदत्त या चिकित्सासारसंग्रह का आधार वृन्द का सिद्धयोग है। वृन्द की अपेक्षा इसमें योगों

की संख्या अधिक है, भस्मों का, धातुओं का प्रयोग अधिक है। इन प्रयोगों में प्रारम्भिक अवस्था भी मिलती है। यथा—

लोहामृतम्

(१) 'तनूनि लोहपत्राणि तिलोत्सेधसमानि च।
कशिकामूलकल्केन संलिप्य सर्षपेण वा ॥
विशोष्य सूर्यकिरणैः पुनरेवावलेपयेत्।
त्रिफलाया जले ध्मातं वापयेच्च पुनः पुनः ॥
ततः संचूर्णितं कृत्वा कर्पटेन तु छानयेत्।
भक्षयेन्मधुसर्पिभ्यां यथाग्न्ये तत् प्रयोजयेत् ॥'[1]

(२) 'मण्डूरं शोधितं पत्रीं लोहजां वा गुडेन तु।
भक्षयेन्मुच्यते शूलात् परिणामसमुद्भवात् ॥'

लोह का स्थाली पाक, भानुपाक, ताम्रमारण, अभ्रक शुद्धि इसमें द. है। इसी से कहा है—

'नागार्जुनो मुनीन्द्रः शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम्।
तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेतद् विशदाक्षरैर्ब्रूमः ॥'

चक्रपाणि ने वृन्द के योगों में कुछ परिवर्तन भी किया है, फलश्रुति भी कम कही है। नये योग भी मिलाये हैं। उस समय जो नये द्रव्य चिकित्सा में बरते जाते थे उनको भी लिखा है। मुख्यतः आदि से अन्त तक सिद्धयोग का अनुसरण किया गया है।

द्रव्यगुणसंग्रह में द्रव्यों का संग्रह, अनुपान आदि बातों की विवेचना है। इसकी टीका श्री शिवदास सेन ने बहुत ही प्रकाण्ड विद्वत्ता से की है। रसवीर्य-विपाक, प्रभाव की विवेचना तथा शूक-धान्य, शालि आदि की टीका इस विषय का पूर्ण ज्ञान कराने में समर्थ है। यद्यपि यह एक प्रकार का संग्रह है, परन्तु इसमें पर्याप्त स्वतन्त्र रचना मिलती है।

चरक पर चक्रपाणिदत्त ने आयुर्वेददीपिका (चरकतात्पर्य) नाम की टीका लिखी है। इसमें इन्होंने अपने गुरु का नाम नरदत्त दिया है। ये वंगदेश के अन्तर्गत वीरभूमि के समीप मयूरग्राम में लोध्रवंश, दत्तकुल में उत्पन्न नारायणदत्त के पुत्र थे। इनके पिता गौडाधिपति नयपाल के महानस—पाकशाला के अध्यक्ष थे। पिता

---

१. काशिका, श्वेत आक की जड़।

के मरने पर चक्रपाणिदत्त पहले महानस के अधिकारी बने और पीछे से विद्या-बुद्धि के कारण मंत्री हुए—

"गौडाधिनाथरसवत्यधिकारपात्र-नारायणस्य तनयः सुनयोऽन्तरङ्गात् ।
भानोरनुप्रथितलोध्रबली कुलीनः श्रीचक्रपाणिरिह कर्त्तृपदाधिकारी ॥'

(चक्रदत्त)

शिवदास सेन ने पात्र का अर्थ मंत्री और अन्तरंग का अर्थ विद्या-कुल से सम्पन्न भिषक् किया है। शिवदास सेन मंगलाचरण से स्वयं वैष्णव प्रतीत होते हैं। सेनान्त नाम से इनका बंगाली होना स्पष्ट है। ये स्वयं अपने को गौड़देश के मालंचिका ग्राम का निवासी और गौड़ देश के राजा के वैद्य अनन्तसेन का पुत्र कहते हैं। इनका काल-निर्णय गौड़राज बार्वकशाह से अपने पिता के अन्तरंग पदवी और छत्र प्राप्त करने के उल्लेख से हो जाता है। बार्वक शाह का समय १४५७ से १४७४ है। शिवदास ने अष्टांगहृदय पर भी टीका की है--

'आसीत् सभायां शिखरेश्वरस्य लब्धप्रतिष्ठः किल साहिसेनः ।
वाणीविलासं कविसार्वभौमं विजित्य यः प्राप यशो दुरापम् ॥
काकुत्स्थसेनस्तनयो ततोऽभूत्तस्यापि लक्ष्मीधरसेननामा ।
तस्मादभूद्वुद्धरणस्तनूजस्तस्याप्यनन्तस्तनयोऽथ जज्ञे ॥
मालञ्चिकाग्रामनिवासभूमेर्गौडावनीपालभिषग्वरस्य ।
अनन्तसेनस्य सुतो विधत्ते टीकामिमां श्रीशिवदाससेनः ॥'

द्रव्यगुण-संग्रह की टीका में थोड़ा अधिक है—

योऽन्तरङ्गपदवीं दुरवापां छत्रमप्यतुलकीर्त्तिमवाप ।
गौडभूमिपतिबार्वकसाहात् तत्सुतस्य सुकृतिनः कृतिरेषा ॥

श्री शिवदास सेन ने चक्रदत्त की टीका में मण्डूकपर्णी का मानामानी नाम दिया दिया है, राढ़ और वंग में इसे थूलकुडि या थानकुनि कहते हैं। कूचविहार, रंगपुर, राजशाही प्रान्तों में माना़मानी कहते हैं; इससे भी शिवदास सेन बीरभूमि के प्रतीत होते हैं। (वनौषधिदर्पण का उपोद्घात)

वंग सेन

वृन्द के सिद्धयोगसंग्रह और चक्रपाणिदत्त के चक्रदत्त से मिलता वंग सेन का चिकित्सासारसंग्रह है। ग्रन्थकर्ता अपने को कान्तिकावास में उत्पन्न एवं गदाधर का पुत्र कहते हैं ("कान्तिकावासनिर्जातगदाधरसूनुना। क्रियते वंगसेनेन चिकित्सासार-संग्रहः ॥") मंगलाचरण से ये शिवभक्त तथा सेन नाम से वंगदेशीय प्रतीत होते हैं।

इन्होंने स्नायुक रोग की चिकित्सा और निदान वृन्द में से लिया है; परन्तु उसमें अपनी ओर से वृद्धि की है, इसलिए ये वृन्द के पीछे हुए हैं। चक्रदत्त के ग्रहणी-अधिकार में 'रसपर्पटी' का पाठ है। इसके विषय में चक्रपाणिदत्त ने स्वयं कहा है–'निबद्धा चक्रपाणिना'–इसे चक्रपाणि ने बनाया है। वंगसेन ने रसायनाधिकार में इसी को 'गन्धक-रसपर्पटी' के नाम से लिखा है। इसलिए वंगसेन चक्रपाणिदत्त के पीछे हुए हैं। अभ्रक, लोह, पारद, गन्धक, ताम्र आदि खनिज द्रव्य-धातुओं का उपयोग चक्रदत्त और वंगसेन में प्रायः एक-सा है। हेमाद्रि ने वंगसेन में से बहुत उद्धरण लिया है। इसलिए चक्रपाणिदत्त के पीछे और हेमाद्रि से पूर्व इनका समय आता है। बंगाल से महाराष्ट्र तक ग्रन्थकर्ता की प्रतिष्ठा पहुँचने के लिए कम से कम पचास वर्ष तो अपेक्षित हैं, इसलिए वंगसेन का समय १२०० ईसवी के आस-पास आता है। कविराज गणसेन इनको शार्ङ्गधर के पीछे और भावमिश्र से पहले का बताते हैं (प्रत्यक्षशारीर उपोद्घात),। यह विचारणीय है।

वंगसेन पीछे का योगसंग्रह होने से इसमें अधिक क्रियात्मक रूप आया है। यथा–स्नायुक रोग में स्नायुक के टूटने से होनेवाले विकारों का उल्लेख है 'बाह्वोर्यदि प्रमादेन त्रुट्यते जंघयोरपि। संकोचं खञ्जतां चापि छिन्नं नूनं करोत्यसौ।।' इसी प्रकार नया जल लगने तथा उसकी चिकित्सा भी कही है–"महार्द्रकयवक्षारौ पीत्वा चैवोष्णवारिणा। नानादेशोद्भवञ्चैव वारिदोषमपोहति।।' इसके अतिरिक्त पानीयभक्त-वटी, खर्पररसायन, लोहाभ्रक, सर्वतोभद्रलोह आदि नये योग इसमें मिलते हैं। धातुओं का चिकित्सा में उपयोग चक्रदत्त की अपेक्षा इसमें अधिक है। इसमें कर्त्ता ने द्रव्यगुणसंग्रह भी जोड़ दिया है। लोह की विस्तृत जानकारी, खान की भिन्नता से गुण में भेद, भिन्न-भिन्न देशों के लोहे के गुण (इसी प्रसंग में पाणिदेश का उल्लेख) इसमें जितने विस्तार से मिलते हैं, उतने अन्यत्र नहीं देखने में आये। लोह का उपयोग जो आरम्भ काल में सामान्य रूप से था, वृन्द के समय (नवीं शती) में कुछ बढ़ा, चक्रदत्त ने इसकी पाकविधि का विस्तार किया। वंगसेन ने इसकी उत्पत्ति, विशेषता, गुण-धर्म तथा प्रयोग विधि का विस्तार किया। शङ्करलोह नामक योग (अर्शोऽधिकार) इसका प्रसिद्ध है। इसके सिवाय तांत्रिक प्रयोग भी इस समय अधिक थे। वृन्द के सिद्धयोग में सुख-प्रसव के लिए च्यवनमंत्र तथा दूसरे चित्रों को दिखाना दिया है, परन्तु इसमें कछुए का सिर, बिल्ली की आंतें, बन्दर कुत्ते का पित्त, इनका अंजन तथा अन्य रूप में प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि यह विषय प्रचलित हो गया था।

वंगसेन में ग्रन्थकर्ता ने निदान भी जोड़ दिया है। इससे लाभ यह हो गया है कि यह पुस्तक निदान और चिकित्सा दोनों का काम देती है। पीछे से यह परिपाटी भी चली कि दोनों को साथ में लेकर पुस्तकें बनायी जायें। इसी से वंगसेन ने लिखा है—

'हृदि तिष्ठति यस्यैष चिकित्सातत्त्वसंग्रहः।
स निदानचिकित्सायां न दरिद्रात्यसौ भिषक् ॥'

यह चिकित्सातत्त्व-संग्रह पुस्तक जिसको याद है; वह निदान और चिकित्सा में दरिद्र नहीं बनता। इसी से इसको पूर्ण बनाने के लिए लेखक ने जो भी आवश्यक और उपयोगी विषय समझा वह सम्पूर्ण इसमें संगृहीत किया है। उस समय के प्रसिद्ध रसायन, रसौषध, लोह वर्णन आदि विषय भी जोड़ दिये हैं। प्रत्येक ग्रन्थ उस समय की स्थिति, और विचार का ज्ञान कराता है। इस दृष्टिसे वंगसेन १२वीं शतीके आस-पास की चिकित्सा का पूर्ण ज्ञान हमें करा देता है। चिकित्सा में रसादि धातुओं और लोह का प्रयोग विशेष बढ़ गया था। ताम्र, अभ्रक का प्रयोग विस्तृत हो गया था। इनके प्रयोग की कई विधियाँ ढूंढ़ ली गयी थीं। द्रव्यगुण प्रकरण चक्रपाणि के द्रव्यगुणसंग्रह के आधार पर लिखा है। इसमें उसी संग्रह का मुख्य आधार है। एक प्रकार से उस समय चिकित्सा में योगसंग्रह की पुस्तकों का अधिक प्रचार था, सामान्य लोग इन पुस्तकों के आधार पर चिकित्सा प्रारम्भ करते थे। टोटका विज्ञान या मुष्टियोग का प्रारम्भ भी नवीं शती में ही समझना चाहिए। वृन्द ने सिद्धयोग उस समय के शास्त्रीय अथवा चालू योगों का संग्रह करके लिखा, चक्रपाणि ने उसे कुछ विस्तृत किया, वंगसेन ने उसे बहुत आगे बढ़ाया। इससे नयी वस्तुओं का प्रयोग इसमें आ गया है।

सोढल का गदनिग्रह

बारहवीं शती में गुजरात में सोढल नाम के एक वैद्य हुए थे, यह जोशी थे। अपने बनाये गुणसंग्रह नामक ग्रन्थ के अन्त में अपने को इन्होंने वत्सगोत्र का रायकवाल ब्राह्मण, वैद्य नन्दन का पुत्र और संघदयालु का शिष्य कहा है ("वत्सगोत्रान्वयस्तत्र वैद्यनन्दननन्दनः। शिष्यः संघदयालोश्च रायकवालवंशजः ॥ सोढलाख्यो भिषग् भानु-पदपङ्कजषट्पदः। चकारेमं चिकित्सायां समग्रं गुणसंग्रहम् ॥")। गुणसंग्रह एक निघण्टु है। सोढल ने अपने को ज्योतिषशास्त्री भी कहा है (श्री दुर्गाशंकर भाई का 'गुजरातनुं वैद्यक साहित्य निबन्ध')। १२५६ ईसवी का एक ताम्रपत्र जो कि भीमदेव दूसरे का है, उसमें रायकवाल जाति के ब्राह्मण ज्योति सोढ़ल के पुत्र को दान देने का उल्लेख मिला है। रायकवाल जाति और ज्योतिसोढ़ल इन दोनों बातों से यही

सोढल गदनिग्रह के कर्त्ता निश्चित होते हैं। इसलिए गदनिग्रह-कर्त्ता का १२वीं शती में होना असंदिग्ध प्रतीत होता है। रायकवाल जाति गुजरात में ही है, अतः ये गुजराती थे।

सोढल के बनाये गदनिग्रह में दस खण्ड हैं। पहले प्रयोग खण्ड में चूर्ण, गुटिका, अवलेह, आसव, घृत, तैल सम्बन्धी छः अधिकार हैं। इन अधिकारों में ५८५ से अधिक प्रत्यक्षफल दिखानेवाले योगोंका संग्रह है। इसमें कहे हुए बहुत से प्रयोग प्रकाशित पुस्तकों में नहीं मिलते। शेष नौ खण्डों में कायचिकित्सा, शालाक्य, शल्य, भूततन्त्र, बालतन्त्र, विषतंत्र, रसायन, वाजीकरण, पञ्चकर्माधिकार नामक प्रकरण हैं। प्रारम्भ में संक्षिप्त निदान कहकर चिकित्सा कही गयी है।

सोढल को माधवनिदान के साथ वृन्द की भी खबर थी। चक्रदत्त की खबर सम्भवतः सोढल को नहीं थी। चक्रदत्तवाले रसयोग सोढल में नहीं हैं। सोढल वंगसेन का समकालीन है, परन्तु यह गुजराती है और वंगसेन बंगाली है। वंगसेन को चक्रदत्त का ज्ञान होना सम्भव है सोढल को चक्रदत्त या वंगसेन का ज्ञान होना आवश्यक नहीं। रसोन का उपयोग बंगाल में पहले प्रारम्भ हुआ होगा।

सोढल के गुजराती होने से गुजरात में होनेवाली जो औषधियाँ अन्य निघण्टुओं में नहीं मिलतीं। वे इनके बनाये निघण्टु में हैं। इन वनस्पतियों के नाम वर्त्तमान कालीन नामों से मिलते हैं।

चिकित्सा में से योगों को पृथक् करने की शैली का प्रारम्भ इस गुजराती वैद्य ने १२वीं शती में प्रारम्भ किया, यह इसकी विशेषता है। इसके पीछे शार्ङ्गधर ने इसे अपनाया। प्राचीन संहिताओं की भाँति कायचिकित्सा, शालाक्य आदि विभाग भी इसने रखे, परन्तु इसको पूर्णतः निभा नहीं सका। अश्मरी आदि शल्यतंत्र के रोग काय-चिकित्सा में आ गये हैं। ग्रन्थी, अपची, सद्योव्रण आदि रोगों को शालाक्यतंत्र के रोगों के पीछे लिखकर माधव एवं वृन्द के प्रसिद्ध क्रम में अन्तर कर दिया है। शस्त्रचिकित्सा शल्याधिकार में नहीं है। संक्षेप में सोढल के ग्रन्थ का प्रचार गुजरात या अन्यत्र कम देखने में आता है।

ग्रन्थ की विशेषता—पृथक् फार्मेकोपिया भाग होने से औषध निर्माण में सुभीता हो गया। यह विभाग सम्भवतः इसलिए किया है कि उस समय एक नाम से कई निर्माण-विधियाँ प्रचलित होंगी। इनमें सोढल को जो योग मान्य होंगे वे पृथक् दे दिये हैं। उदाहरण के लिए, फलघृत स्त्रीरोग में प्रसिद्ध है, परन्तु सोढल ने एक फलघृत बालग्रह के लिए दिया है (प्रयोग खण्ड १।३९३)। वड़वानल चूर्ण, अग्निमुख चूर्ण, वैश्वानर

चूर्ण के कई पाठ इसमें दिये हैं, जो भिन्न-भिन्न रोगों के लिए हैं। इससे स्पष्ट है कि एक योग के नाम से कई नुसखे उस समय चल पड़े थे, जिनको कि सोढल ने लिखना प्रारम्भ किया। साथ ही योगों का प्रक्रियानुसार—कल्पना के भेद से पृथक्-पृथक् संग्रह किया।

इसमें कल्प बहुत अधिक दिये गये हैं। सुवर्णकल्प, कुंकुमकल्प, अम्लवेतस कल्प नये कल्प हैं जो अन्यत्र नहीं मिलते। अम्लवेतस नाम से जो वस्तु बाजार में मिलती है, वह इसके वर्णन से सर्वथा भिन्न है ("तेषां फलेभ्यो निर्यासः सोऽम्लत्वादम्लवेतसः")। इसमें निर्यास को अम्लवेतस कहा है। रसोन, पलाण्डु-कल्प संग्रह-हृदय की भाँति है। रसायन में तिल का प्रयोग अकेला इसी में है। आज भी काठियावाड़ में इसका रिवाज है ("दिने दिने कृष्णतिलप्रकुञ्चं समश्नतः शीतजलानुपानम्। पोषः शरीरस्य भवत्यनल्पो दृढा भवन्त्यामरणाच्च दन्ताः ॥")। इसकी उपमाएँ बहुत सुन्दर हैं, ग्रन्थकर्त्ता का रसायनप्रकरण संग्रह के आधार पर है।

नवाँ अध्याय

मुगल साम्राज्य और अंग्रेजी संगठन

[११७५ से १८३६ ई० तक]

नाड़ी ज्ञान तथा संग्रह ग्रन्थ (रसवाले)

महमूद के बाद गजनी की सल्तनत धीरे-धीरे क्षीण होती गयी। गजनी से हरात के रास्ते में फ़रारुद नदी के दून में गोर नामक प्रदेश है। वहाँ के पठान सरदार अलाउद्दीन ने महमूद के वंशज बेहराम को हराकर (१११८—५१ ई०) गजनी से भगा दिया, फिर उसके बेटे खुसरो के समय (११५२-६०) में गजनी को सात दिन तक लूटा और जलाकर खाक कर दिया। अलाउद्दीन का भतीजा शहाबुद्दीन बिन साम या मुहम्मदबिन साम (साम का बेटा मुहम्मद) था, यही इतिहास में शहाबुद्दीन गोरी के नाम से प्रसिद्ध है।

शहाबुद्दीन ने हिन्दुस्तान जीतने का संकल्प किया। गजनी लेने के पीछे उसने उच्चके राजा की रानी को अपनी तरफ मिलाकर वह राज्य जीत लिया और तब मुलतान और सिन्ध पर भी अधिकार कर लिया। ११७८ में उसने गुजरात पर चढ़ाई की, परन्तु इसमें असफल होकर अजमेर और दिल्ली की ओर मुख किया। गजनी छिन जाने से खुसरो लाहौर भाग आया था, परन्तु गोरी ने उसके बेटे से पंजाब छीन लिया (११८५-८६)। फिर दिल्ली प्रदेश की सीमा पर सरहिन्द का किला ले लिया, परन्तु तरावड़ी के मैदान में (पानीपत के पास) पृथ्वीराज से हारकर लौट गया। परन्तु अगले वर्ष जब इसी मैदान में फिर युद्ध हुआ तो पृथ्वीराज कैद होकर मारा गया। फिर वह सीधा अजमेर गया, दिल्ली में अपने दास तुर्क 'कुतुबुद्दीन ऐबक' को शासन करने के लिए छोड़ गया और अजमेर को अपने अधिकार में करके लौट गया। अन्तिम बार ११९४ में शहाबुद्दीन ने कन्नौज पर चढ़ाई की। उसका यह युद्ध कन्नौज के राजा जयचन्द के साथ चन्दावर मैदान में हुआ। इस लड़ाई में जयचन्द मारा गया।

अजमेर और कन्नौज के जिन अंशों पर मुसलमान विजेता काबू कर सके वे मुसलिम अमीरों में बाँट दिये गये। ११९७ ई० के बाद मुसलमानों ने चुनार का किला कन्नौज के सामन्तों से ले लिया और मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी नामक तुर्क सरदार को सौंप दिया। चुनार से मुहम्मद ने मगध तक हमले किये। मगध में पिछली शती

भर कोई स्थिर राज्य नहीं रहा था। वहाँ गोविन्दपाल की हैसियत एक सामान्य सामन्त जैसी थी। ११९९ ई० में मुहम्मद ने २०० सवारों के साथ हमला किया और बौद्ध भिक्षुओं के विहार को किला समझकर घेर लिया। बौद्ध भिक्षु और चारा न देखकर लड़े, परन्तु मारे गये। पीछे से आक्रामक ने यहाँ पर पुस्तकों के संग्रह को जला दिया, क्योंकि कोई उनको पढ़नेवाला नहीं था। उस विहार के नाम से उस शहर को बिहार कहने लगे, पीछे समूचे मगध प्राँत को बिहार कहने लगे।

बिहार जीत लेने के पीछे मुहम्मद बिन बख्तियार ने सेन राजाओं के गौड़ देश पर चढ़ाई की। उनकी राजधानी लखनौती लेकर उसे ही अपनी राजधानी बनाया।[1] लक्ष्मणसेन के बेटे केशवसेन और विश्व रूपसेन उससे बराबर लड़ते रहे। वे अपनी राजधानी ढाका के पास सुवर्णग्राम (सोनार गांव) ले गये। दक्खिनी-पूरबी बंगाल में में सौ बरस तक सेन राजाओं का अधिकार रहा। मुहम्मद विन बख्तियार की मृत्यु १२०५-६ ईसवी में हुई।

दिल्ली का गुलाम बंश (१२०६ से १२९० ई०)—शहाबुद्दीन के मरने के पीछे उसके उत्तराधिकारी ने दिल्ली का राज्य दास कुतुबुद्दीन को सौंप दिया। उसके पीछे दिल्ली की गद्दी पर गुलाम वंश का राज्य रहा। शहाबुद्दीन पठान था और कुतुबुद्दीन तुर्क था। चार वर्ष के पीछे कुतुबुद्दीन लाहौर में मारा गया (१२१० ई०)। दिल्ली की कुतुबमीनार उसकी बनवायी कही जाती है।

कुतुबुद्दीन की मृत्यु के पीछे इसका गुलाम और दामाद इसके पुत्र को हटाकर स्वयं गद्दी पर बैठा, इसका नाम इल्तुतमिश था। इसी समय उत्तर-पूरबी एशिया में एक भारी लहर उठी। पाँचवीं, छठी, सातवीं शती की भाँति मंगोलों ने अपनी विजय यात्रा प्रारम्भ की। इनका नेता 'चिङ्‌हिर हान, (चंगेज खान) था। मंगोलों ने तुर्किस्तान के तमाम मुस्लिम राज्यों को उखाड़ फेंका (१२१९ ई०)। अफगानिस्तान को भी

---

१. यह कहानी प्रसिद्ध है कि सिर्फ १८-२० सवारों के साथ, जिन्हें लोग घोड़ा बेचनेवाले समझते थे, बख्तियार के बेटे ने नदिया के राजमहल पर आक्रमण किया और लक्ष्मणसेन दूसरी तरफ से भाग निकला। परन्तु नदिया कभी सेनों की राजधानी नहीं थी और राजा लक्ष्मणसेन ११७० ई० से पहले ही मर चुका था। तीसरे लखनौती जीतने के ५५ बरस पीछे १२५५ ई० में नदिया पहले-पहल मुसलमानों के कब्जे में आया।

चंगेज ने तुर्कों से छीन लिया। इसके पीछे पौने दो शताब्दियों तक अफगानिस्तान मंगोलों के अधिकार में रहा। ये मंगोल दिल्ली के तुर्कों के लिए सदा आतङ्क का कारण रहे।

पहले पहल १२२१ ईस्वी में ख्वासिज्म (खीवा प्रदेश) के तुर्क शाह जलालुद्दीन का पीछा करते हुए चंगेज सिन्ध नदी के किनारे तक पहुंचा। जलालुद्दीन सिन्ध में भाग आया था। चंगेज के लौटने पर इल्तुतमिश ने पंजाब और सिन्ध प्रान्तों पर कब्जा किया।

मुहम्मद बिन बख्तियार की मृत्यु के पीछे लखनौती की ५-६ साल की मारकाट के बाद खिलजी अमीरों ने गयासुद्दीन उवज को गद्दी पर बैठाया। इल्तुतमिश ने बिहार और गौड़ को भी जीत लिया। तब से १२८८ ई० तक गौड़ प्रायः दिल्ली के अधीन रहा। उसके पीछे इल्तुतमिश ने मालवा, गुजरात, मारवाड़ को जीता। इल्तुतमिश की मृत्यु १२३६ ई० में हुई।

इसके बाद इसकी बेटी रजिया सुल्ताना गद्दी पर बैठी। यह कुशल और वीर स्त्री थी। तुर्कों ने स्त्री का शासन नहीं स्वीकार किया और बगावत हुई, जिसको दबाते हुए १२४० ईसवी में रजिया मारी गयी।

रजिया के पीछे उसके छोटे भाई नासिरुद्दीन महमूद को गद्दी पर ने बैठाया गया। इसने अपना मंत्री बलवन को बनाया, जो कि नासिरुद्दीन के पीछे दिल्ली की गद्दी पर बैठा। यह एक योग्य शासक और, वीर था, इसने मंगोलों पर निगाह रखने के लिए मुलतान में अपने बेटे को हाकिम बनाया। पूर्व में लखनौती का हाकिम अपने बेटे नासिरुद्दीन महमूद उर्फ बुगरा को बनाया। १२८५ में मंगोलों ने फिर चढ़ाई की, जिसमें मुलतान में इसका बेटा मुहम्मद मारा गया। फारसी और हिन्दी का प्रसिद्ध कवि मलिक खुसरो भी जो मुहम्मद का साथी था—इसमें कैद हुआ। अगले बरस बलवन भी चल बसा। इसके पीछे इसका पोता, बुगरा का लड़का गद्दी पर आया। बुगरा के शासन के चार साल बाद इसके सेनापति खिलजी ने इसे मारकर गुलाम वंश का अन्त १२९० ई० में कर दिया।

खिलजी वंश—यह १२९० से १३२५ ई० तक रहा। इसका प्रारम्भ जलालुद्दीन खिलजी से हुआ और अन्त ३० बरस के शासन में हुआ। इसमें प्रसिद्ध शासक अलाउद्दीन खिलजी हुआ, जिसने गुजरात, राजपूताना और दक्खिन को जीता था।

तुगलक वंश (१३२५-१३९८)—इसका प्रारम्भ गयासुद्दीन तुगलक से है। इसकी मृत्यु इसके स्वागत में शहर के बाहर लकड़ी के बनाये एक तोरण (कुश्क) के इसके ऊपर गिरने से हुई थी। यह तोरण इसके बेटे जूना (मुहम्मद तुगलक) ने बनवाया

था। पर्वतेश्वर के भाई वैरोचन की मृत्यु भी चाणक्य ने इसी प्रकार करवायी थी।[1] इसमें प्रतापी एवं मशहूर शासक मुहम्मद तुगलक हुआ, जो कि झक्की भी था। यह अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद ले गया था, फिर दिल्ली लाया। इसने चीन जीतने के लिए एक लाख आदमियों की सेना भेजी थी, जो रास्ते में ही मर गयी, केवल दस आदमी बचे थे।

मुहम्मद तुगलक के गद्दी पर बैठते ही १३२६ में मेवाड़ स्वतंत्र हो गया था। इसका राजा हम्मीर था जो गुहिलोत वंश का था। इसी के यहाँ माधवनिदान की आतंकदर्पण टीका बानानेवाले वाचस्पति का पिता प्रमोद था, और वड़ा भाई मुहम्मद तुगलक के यहाँ था।

तैमूर की चढ़ाई—मुहम्मद के अन्तिम दिनों में उसका शासन ढीला पड़ गया था। राजपूताना, दक्षिण तथा पूर्व में बहुत से छोटे-छोटे राज्य बन गये थे। मुहम्मद की मृत्यु १३५१ ई० में हुई। इसके पीछे इसका चचेरा भाई फीरोज तुगलक गद्दी पर बैठा, परन्तु इसके वंशज निकम्मे निकले। इनके समय पुरानी दिल्ली और फीरोज खां की बसायी नयी दिल्ली में दो अलग-अलग सुलतान थे। इसी समय मध्य एशिया में एक महान् विजेता प्रगट हो चुका था। इसका नाम तैमूर था। यह चगताई वंश का तुर्क था। इसने १३९८ में भारत पर चढ़ाई की। इसने अफगानिस्तान जीतकर काबुल नदी के उत्तर का काफिरिस्तान (कापिशी नगरी) को जीता और पंजाब होता हुआ दिल्ली आया और दिल्ली से मेरठ होता हुआ हरिद्वार की शिवालिक पहाड़ियों के रास्ते कांगड़ा, कश्मीर को जीतता हुआ वापिस समरकन्द चला गया। इसने लूट ही की, कोई राज्य नहीं बनाया। इससे भारत में छोटी-छोटी रियासतें बन गयीं, जो राज्य दिल्ली शासन में थे, वे भी अब स्वतंत्र हो गये। दिल्ली साम्राज्य मटियामेट हो गया।

प्रादेशिक राज्य (१३९८से १५०९ ई०तक)—दिल्ली साम्राज्य टूटने पर जौनपुर, मालवा और गुजरात ये तीन रियासतें बहुत शक्तिशाली हो गयीं। मेवाड़ में लाखा का शासन था, उसने उसका जीर्णोद्धार किया। तिरहुत और बंगाल का शासन राजा गणेश और शिवसिंह ने सम्भाला। पूरब और दक्खिनी भारत में स्वतंत्र राज्य बने। इनमें दक्षिण में विजयनगर नामक हिन्दू राज्य था, इसके राजा देवराय थे जो योग्य शासक थे। सिन्ध पर तैमूर की चढ़ाई का कोई असर नहीं पड़ा। कश्मीर भी पीछे स्वतंत्र

---

१. 'देवतागृहं प्रविष्टस्योपरि यंत्रमोक्षणेन गूढभित्ति शिलां वा पातयेत्।' कौटिल्य० पाँचवाँ अध्याय १६८।१.

हो गया। तैमूर के मरने के बाद उसके उत्तराधिकारियों के पास केवल काबुल बचा था। इसी समय अर्थात् १४९७ ईसवी में वास्को दगामा आशा अन्तरीप का चक्कर काटकर पुर्त्तगाल से भारत के पश्चिमी तट कालीक़ट पर पहुंचा। मलाबार के सरदारों ने अपना व्यापार बढ़ाने की गरज़ से इन आगन्तुकों को यहां कोठियाँ बनाकर पैर जमाने का अवसर दिया। १५१० में पुर्त्तगालियों के सेनापति आलबुर्क्ल ने बीजापुर से गोवा छीनकर इसे राजधानी बनाया और फिर वे धीरे-धीरे शक्ति बढ़ाने लगे।

सन्त और सुधारक सम्प्रदाय—इस युग में रामानन्द हुए जिनके शिष्य कबीर थे, महाराष्ट्र के पंढरपुर में विसोबा खेचर हुए जिनके शिष्य नामदेव थे। गुरु नानक का जन्म (१४६८-१५३८ ई०) पंजाब में हुआ था। बंगाल में सन्त चैतन्य (१४८५ से १५३३ ई०) पैदा हुए। इन्होंने वैष्णव धर्म का प्रचार किया, बौद्ध भिक्षु और भिक्खनियों को वैष्णव धर्म की दीक्षा दी। मारवाड़ की प्रसिद्ध मीरा बाई जो राणा सांगा की पुत्रवधू थी, चैतन्य से १३ बरस पीछे हुई (१४९८ से १५४६ ई०)।

साहित्य—चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी में देशी भाषाओं के साहित्य को प्रोत्साहन मिला। यह प्रोत्साहना सन्तों से तथा मुसलमानों से अधिक मिला। भारतीय विद्वान् अबतक संस्कृत में ही लिखते थे। मलिक खुसरो ने (१२५३-१३२५ ई०) सबसे पहले खड़ी बोली में कविता की। बंगाल में चण्डीदास ने बंगाला में, मैथिल विद्यापति ने मैथिली में कविता की। तामिल में कवि कम्बन् की रामायण इस समय का (१३वीं शती का) रत्न है।

मध्य काल का ज्ञान और अर्वाचीन काल का प्रारम्भ—गुप्त युग में भारतवर्ष का ज्ञान और सभ्यता जहांतक पहुंच चुकी थी उसके एक हज़ार वर्ष बाद तक संसार में कुछ उन्नति नहीं हुई। मंगोलों और अरबों द्वारा भारत और चीन का ज्ञान पश्चिमी यूरोप तक इसी समय पहुँचा; जिसमें दस गुणोत्तर गणना अरब ने भारत से ली और अरब से यूरोप में गयी, हमारे अंकों को हिन्दसे कहा गया। लकड़ी के ठप्पों से कागज पर छापने की पद्धति चीन से यूरोप में गयी। मंगोलों ने यूरोप में बारूद पहुँचायी। छापने की कला में जर्मनों ने सीसे के ठप्पे पीछे बनाये, जिससे प्रकाशन में सरलता आ गयी। नाविकों के लिए दिग्दर्शक यंत्र भी इसी समय बना।

आयुर्वेद साहित्य—इतने बड़े समय में केवल टीकाएँ या संग्रह ग्रन्थों के अतिरिक्त कोई बड़ा ग्रन्थ गुप्त साम्राज्य के पीछे आयुर्वेद साहित्य में नहीं मिलता। आयुर्वेद साहित्य में इन एक हज़ार वर्षों के अन्दर और आगे भी नये युग के आने तक कोई विशेष मूल्यवान् ग्रन्थ नहीं बना। ग्रन्थों की संख्या इस समय बहुत हो गयी, परन्तु वे सब

संग्रह मात्र हैं। इस समय निघण्टु और रसशास्त्र का विकास पूर्णतः हुआ। इन दो विषयों पर स्वतंत्र रूप से ग्रन्थ रचना हुई है। वास्तव में चिकित्सा में जल्दी सफलता के लिए रसशास्त्र का विकास अब होने लगा था। निघण्टु की रचना सम्भवतः मुगलों या तुर्कों के सम्पर्क से प्रारम्भ हुई होगी। उनकी चिकित्सा पद्धति में निघण्टु शास्त्र का विशेष महत्त्व है। उसी महत्त्व से आयुर्वेद में भी पृथक् निघण्टु शास्त्र बना।

नाड़ी-विज्ञान का प्रारम्भ भी इसी समय की विशेषता है। रावण के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ना ही इसको स्पष्ट करता है कि जह राक्षसी ज्ञान है। मंगोल या दूसरी पश्चिमी जातियों के सम्पर्क में आने से यह ज्ञान भारत में भी प्रचलित हुआ। इसलिए इस समय की संहिताओं में तथा ग्रन्थों में परीक्षा विधि में इसका भी समावेश हो गया।

मुगल साम्राज्य (१५०९-१७२० ई०)—हम्मीर वंश का राजा सांगा पश्चिमी भारत में जब अपनी शक्ति बढ़ा रहा था, तब उत्तर पश्चिमी पंजाब में तैमूर का एक वंशज अपने पैर जमाने की कोशिश में था। यह था बाबर जो कि सांगा से एक वर्ष पूर्व पैदा हुआ था। इसकी मां चंगेज खां के वंश की थी। बाबर ने ११ बरस की उम्र में गद्दी सँभाली थी। बाबर को उज्बगों से हारकर समरकन्द से भागना पड़ा। वहाँ से भाग करके उसने काबुल को वश में किया। यहीं से उसने बदख्शां को भी १५०९ ई० में वश में किया। बाबर ने पांच बरसों में काबुल के राज्य को संगठित करके १५१९ में पहली चढ़ाई भारत पर की। इस चढ़ाई में बाबर ने बन्दूकों और तोपों का प्रयोग किया। भारतवासियों के लिए ये वस्तुएँ नयी थीं।

उस समय की राजनीति ने इब्राहीम लोदी से तंग आकर बाबर को भारत में बुलाया। पंजाब के हाकिम दौलत खां ने, लोदी के चाचा अलाउद्दीन ने तथा राणा सांगा के दूतों ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया कि बाबर दिल्ली तक राज्य शासन ले ले और आगरे तक राणा सांगा ले ले। इस दशा में बाबर ने भारत पर चढ़ाई की। बाबर ने दो आक्रमणों में जमुना तक प्रदेश काबू कर लिया। पानीपत के मैदान में इब्राहीम लोदी ने बाबर का सामना किया। बाबर के पास ७०० यूरोपियन (फिरंगी) तोपें थीं, जिससे चार-पांच घंटों की लड़ाई में अफगान सरदार हार गये। बाबर का दूसरा प्रसिद्ध युद्ध राणा सांगा के साथ खानवा में हुआ, जिसमें बाबर जीता। इसी से बाबर उत्तरीय भारत का राजा बन गया था। पूरब को उसके बेटे हुमायूं ने जीतकर अवध, जौनपुर और गाजीपुर के इलाके इसमें मिला दिये। पानीपत, खानवा और घाघरा (चेदि) को जीतने से उसका साम्राज्य बदख्शां से बिहार तक फैल गया। १५३० में आगरे में उसका देहान्त हुआ, उसको काबुल में दफनाया गया था।

बाबर के पीछे हुमायूं (१५३०-१५५४ ई०) गद्दी पर बैठा। हुमायूं के भाई कामरान को बख्शीं, कन्दहार का राज्य मिला था। हुमायूं का राज्य अन्तर्वेद में बचा था। पच्छिम में मालवा को जीतना और पूरब में अफगानों को वश में करना; इन दोनों कार्यों में उसकी सारी शक्ति समाप्त हो गयी। मालवा-गुजरात में बहादुरशाह ने और पूरब में शेरशाह ने उसे तंग कर दिया। शेरशाह ने उसे पश्चिम पंजाब तक खदेड़ दिया था। शेरशाह से खदेड़ा जाकर हुमायूं सिन्ध की ओर भागा। शेरशाह ने रोहतास नाम का एक गढ़ नमक की पहाड़ियों में बनाना प्रारम्भ किया, जिससे काबुल और कश्मीर के आक्रमणों को रोका जा सके। यह काम उसने टोडरमल खत्री को सौंपा था (सम्भवतः इन्हीं के नाम पर टोडरानन्द आयुर्वेद की पुस्तक प्रसिद्ध है)।

शेरशाह का साम्राज्य कन्दहार-काबुल और काबुल की सीमाओं से कूचबिहार की सीमा तक पहुँच गया था। पूरवी मालवा को जीत लेने से सीमा गढ़-कंटका राज्य से मिल गयी थी। शेरशाह बहुत योग्य शासक था। भूमि को मापकर कर लेने की व्यवस्था सबसे प्रथम इसीने भारत में चलायी। बंगाल से पेशावर तक सड़के आजम इसी की बनायी हुई है। परगने बनाने का काम इसी का पहला था। परगनों में एक शासक शान्ति स्थापना के लिए रहता था और दूसरा अमीन, जो कर वसूल करता था। सैनिकों को वेतन नगद दिया जाता था। सड़कों के द्वारा इसने सोनार गांव से रोहतास होकर अटक को मिला दिया था। आगरा को बुरहानपुर से और चित्तौड़ से, लाहौर को मुलतान से सड़कों द्वारा जोड़ दिया था। सड़कों पर भोजन और पानी का प्रबन्ध हिन्दू और मसलमानों के लिए किया गया था। अकबर ने इसी की शासन-व्यवस्था की नकल की।

शेरशाह की मृत्यु (१५४५ ईसवी) के चार मास पीछे ही ईरान के शाह की मदद से हुमायूं ने कन्दहार जीत लिया। कामरान से काबुल छीन लिया। शेरशाह के बाद उसके बेटों का राज्य चला। परन्तु पीछे बिहार-बंगाल के पठान स्वतंत्र हो गये। इसी समय हुमायूं ने लाहौर जीत लिया, वहां से आगे बढ़कर दिल्ली पर दखल किया। अपने १३ बरस के बेटे अकबर को सेनापति बैराम खां की संरक्षकता में पंजाब का हाकिम बनाया और दिल्ली में ६ मास शासन करने के पीछे वह चल बसा।

अकबर को वसीयत में पंजाब और दिल्ली मिली और काबुल उसके छोटे भाई को मिला। बैराम खां की मदद से अकबर ने दिल्ली का शासन पुनः हेमू से छीन लिया था। अकबर ने १५६२ में बैराम खां को हज्ज के लिए भेज दिया और स्वयं विजय प्रारम्भ की। अकबर के सेनापतियों ने मालवे के सुल्तान बाजबहादुर को हराया। धीरे धीरे अकबर

ने राजपूताना, मेवाड़, उड़ीसा जीत लिये। गुजरात और बंगाल जीतकर अकबर उत्तर भारत का एक छत्र सम्राट् बन गया था। १५७६ ई० में अकबर के साम्राज्य के बराबर दुनिया में और कोई भी राज्य न था।

अकबर की शासन व्यवस्था शेरशाह की ही थी। जमीन का बन्दोबस्त वही था, टोडरमल ने इसे ठीक किया, वही इस काम में उसका मददगार था। माप के लिए गज और बीघा का मान ठीक किया गया। अकबर के राज्य में १५८० ई० में बारह सूबे थे। पीछे से दक्षिण जीतने पर बरार, खानदेश और अहमदनगर तीन नये सूबे बने। अकबर की मृत्यु १६०५ ई० में हुई।

अबुलफज़ल के लिखे अकबरनामे का एक भाग आइने अकबरी है। अकबर ने संगीत और चित्रण कला को प्रोत्साहना दी। इस समय सन्त साहित्य बहुत बना—सूरदास, तुलसीदास, गुरु अर्जुनदेव, दादू, मलूक, रविदास आदि सन्त इसी समय हुए।

अकबर के पीछे जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब तेजस्वी बादशाह हुए। इस समय देश की राजनीति प्रायः स्थिर रही। औरंगजेब के समय इसमें हिलोलें उठी थीं, जिससे उसके पीछे यह साम्राज्य चरम सीमा पर पहुँचकर गिरता चला गया।

१६वीं सदी में अराकान के तट पर पुर्तगाली बस गये थे। चटगांव इन फिरंगियों का अड्डा था, इनका काम लूट-पाट करना था, ये लूट का आधा हिस्सा राजा को देते थे। १६०० ई० में पूरब का व्यापार तोड़ने के लिए इंग्लैंड में ईस्ट इण्डिया कम्पनी बनी थी। इसे व्यापार करने का एकाधिकार मिला था। अंग्रेजों ने सूरत में व्यापारी कोठी खोली। इनके राजा का दूत सर टामस रो अजमेर में जहांगीर से मिला। अंग्रेजों को भारत में व्यापार करने की आज्ञा मिली। १६२२ ईसवी में फ्रांसीसी व्यापारी भी भारत पहुंचे।

शाहजहां के शासनकाल में मुगल साम्राज्य का वैभव खूब चमका। उसे देखकर विदेशी चकित थे। तख्ते ताऊस, ताजमहल, आगरे में मोतीमसजिद, दिल्ली शहर इसी समय बने। इस समय वैभव विलास बढ़ गया था। नये व्यसन और नये रोग इस समय में आये (भावप्रकाश में फिरंग रोग का उल्लेख इसी समय का है)। तमाखू का पहला प्रवेश बीजापुर में १६०५ में पुर्तगालियों से हुआ; जो कि यूरोप में अमेरिका से पहुँचा था। १६१६ ई० में पंजाब में और १६१८-१९ में दिल्ली-आगरा में ताऊन या प्लेग पच्छिम से आयी।

आयुर्वेद साहित्य—साहित्य में काव्य रचना के सिवाय कुछ नहीं था। बिहारी की सतसई मुगल काल के वैभव युग की ऐयाशी का पूरा प्रतिबिम्ब है। इस विलास-

बाबर के पीछे हुमायूं (१५३०-१५५४ ई०) गद्दी पर बैठा। हुमायूं के भाई कामरान को बख्शीं, कन्दहार का राज्य मिला था। हुमायूं का राज्य अन्तर्वेद में बचा था। पच्छिम में मालवा को जीतना और पूरब में अफगानों को वश में करना; इन दोनों कार्यों में उसकी सारी शक्ति समाप्त हो गयी। मालवा-गुजरात में बहादुरशाह ने और पूरब में शेरशाह ने उसे तंग कर दिया। शेरशाह ने उसे पश्चिम पंजाब तक खदेड़ दिया था। शेरशाह से खदेड़ा जाकर हुमायूं सिन्ध की ओर भागा। शेरशाह ने रोहतास नाम का एक गढ़ नमक की पहाड़ियों में बनाना प्रारम्भ किया, जिससे काबुल और कश्मीर के आक्रमणों को रोका जा सके। यह काम उसने टोडरमल खत्री को सौंपा था (सम्भवतः इन्हीं के नाम पर टोडरानन्द आयुर्वेद की पुस्तक प्रसिद्ध है)।

शेरशाह का साम्राज्य कन्दहार-काबुल और काबुल की सीमाओं से कूचबिहार की सीमा तक पहुंच गया था। पूरवी मालवा को जीत लेने से सीमा गढ़-कंटका राज्य से मिल गयी थी। शेरशाह बहुत योग्य शासक था। भूमि को मापकर कर लेने की व्यवस्था सबसे प्रथम इसीने भारत में चलायी। बंगाल से पेशावर तक सड़के आजम इसी की बनायी हुई है। परगने बनाने का काम इसी का पहला था। परगनों में एक शासक शान्ति स्थापना के लिए रहता था और दूसरा अमीन, जो कर वसूल करता था। सैनिकों को वेतन नगद दिया जाता था। सड़कों के द्वारा इसने सोनार गांव से रोहतास होकर अटक को मिला दिया था। आगरा को बुरहानपुर से और चित्तौड़ से, लाहौर को मुलतान से सड़कों द्वारा जोड़ दिया था। सड़कों पर भोजन और पानी का प्रबन्ध हिन्दू और मसलमानों के लिए किया गया था। अकबर ने इसी की शासन-व्यवस्था को नकल की।

शेरशाह की मृत्यु (१५४५ ईसवी) के चार मास पीछे ही ईरान के शाह की मदद से हुमायूं ने कन्दहार जीत लिया। कामरान से काबुल छीन लिया। शेरशाह के बाद उसके बेटों का राज्य चला। परन्तु पीछे बिहार-बंगाल के पठान स्वतंत्र हो गये। इसी समय हुमायूं ने लाहौर जीत लिया, वहां से आगे बढ़कर दिल्ली पर दखल किया। अपने १३ बरस के बेटे अकबर को सेनापति वैराम खाँ की संरक्षकता में पंजाब का हाकिम बनाया और दिल्ली में ६ मास शासन करने के पीछे वह चल बसा।

अकबर को वसीयत में पंजाब और दिल्ली मिली और काबुल उसके छोटे भाई को मिला। बैराम खाँ की मदद से अकबर ने दिल्ली का शासन पुनः हेमू से छीन लिया था। अकबर ने १५६२ में बैराम खाँ को हज्ज के लिए भेज दिया और स्वयं विजय प्रारम्भ की। अकबर के सेनापतियों ने मालवे के सुलतान बाजबहादुर को हराया। धीरे धीरे अकबर

ने राजपूताना, मेवाड़, उड़ीसा जीत लिये। गुजरात और बंगाल जीतकर अकबर उत्तर भारत का एक छत्र सम्राट् बन गया था। १५७६ ई० में अकबर के साम्राज्य के बराबर दुनिया में और कोई भी राज्य न था।

अकबर की शासन व्यवस्था शेरशाह की ही थी। जमीन का बन्दोबस्त वही था, टोडरमल ने इसे ठीक किया; वही इस काम में उसका मददगार था। माप के लिए गज और बीघा का मान ठीक किया गया। अकबर के राज्य में १५८० ई० में बारह सूबे थे। पीछे से दक्षिण जीतने पर बरार, खानदेश और अहमदनगर तीन नये सूबे बने। अकबर की मृत्यु १६०५ ई० में हुई।

अबुलफजल के लिखे अकबरनामे का एक भाग आइने अकबरी है। अकबर ने संगीत और चित्रण कला को प्रोत्साहना दी। इस समय सन्त साहित्य बहुत बना—सूरदास, तुलसीदास, गुरु अर्जुनदेव, दादू, मलूक, रविदास आदि सन्त इसी समय हुए।

अकबर के पीछे जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब तेजस्वी बादशाह हुए। इस समय देश की राजनीति प्रायः स्थिर रही। औरंगजेब के समय इसमें हिलोलें उठी थीं, जिससे उसके पीछे यह साम्राज्य चरम सीमा पर पहुँचकर गिरता चला गया।

१६वीं सदी में अराकान के तट पर पुर्तगाली बस गये थे। चटगांव इन फिरंगियों का अड्डा था, इनका काम लूट-पाट करना था, ये लूट का आधा हिस्सा राजा को देते थे। १६०० ई० में पूरब का व्यापार तोड़ने के लिए इंग्लैंड में ईस्ट इण्डिया कम्पनी बनी थी। इसे व्यापार करने का एकाधिकार मिला था। अंग्रेजों ने सूरत में व्यापारी कोठी खोली। इनके राजा का दूत सर टामस रो अजमेर में जहांगीर से मिला। अंग्रेजों को भारत में व्यापार करने की आज्ञा मिली। १६२२ ईसवी में फ्रांसीसी व्यापारी भी भारत पहुंचे।

शाहजहां के शासनकाल में मुगल साम्राज्य का वैभव खूब चमका। उसे देखकर विदेशी चकित थे. तख्ते ताऊस, ताजमहल, आगरे में मोतीमसजिद, दिल्ली शहर इसी समय बने। इस समय वैभव विलास बढ़ गया था। नये व्यसन और नये रोग इस समय में आये (भावप्रकाश में फिरंग रोग का उल्लेख इसी समय का है)। तमाखू का पहला प्रवेश बीजापुर में १६०५ में पुर्तगालियों से हुआ; जो कि यूरोप में अमेरिका से पहुँचा था। १६१६ ई० में पंजाब में और १६१८-१९ में दिल्ली-आगरा में ताऊन या प्लेग पच्छिम से आयी।

आयुर्वेद साहित्य—साहित्य में काव्य रचना के सिवाय कुछ नहीं था। बिहारी की सतसई मुगल काल के वैभव युग की ऐयाशी का पूरा प्रतिबिम्ब है। इस विलास-

मय जीवन का प्रतिबिम्ब इस समय के आयुर्वेद साहित्य में मिलता है। रसौषधियों तथा वाजीकरण योगों की फलश्रुति इसका देदीप्यमान उदाहरण है। सम्भवतः मुगलों के विलासी, ऐयाशी जीवन के लिए ही वैद्यों को ये योग और ये रचनाएं बनानी पड़ीं; क्योंकि मनसबदार प्रथा राज्य में रहने से, मनसबदारों को बड़ी-बड़ी तनख्वाहें मिलती थीं। परन्तु इनके मरने के बाद सम्पत्ति का वारिस बादशाह होता था। इसलिए ये लोग अपने जीवन काल में ही पैसे को खुले हाथ से खर्च करते थे। इसी विलास-मय जीवन को पूरा करने के लिए आयुर्वेद में मकरध्वज आदि रसों की फलश्रुतियाँ बढ़ायी गयीं। इस प्रकार के जीवन को निभाने के लिए ही वास्तव में रसशास्त्र का प्रयोग बना, जिससे कि रसौषध में अफीम, संखिया आदि वस्तुओं का मिश्रण हमको इसी समय सबसे प्रथम मिलता है। शुक्रस्तम्भन के लिए अफीम तथा शक्ति के लिए संखिये का उपयोग सम्भवतः मुसलमानों के सम्पर्क से हमने लिया है। पोस्त के डोडे का भी उपयोग हम करने लगे थे ("पोस्तकं तुलसी दीप्यं नागवल्लीदलं तथा।" बृहद्योगतरंगिणी—११८।७)। सुश्रुत में वर्णित उपदंश रोग को फिरंग रोग ही माना जाने लगा था। ("दद्यात् फिरंगामयके भिषग्भिः स्वेच्छं विधेयं किल पथ्यमस्य। तैलाम्लवर्जं निखिलव्रणघ्नं घृतानुपानैरुपदंशसूर्यः॥" बृ० यो० ११७।३७)। चन्द्रोदय आदि रसों की फलश्रुति इसी वैभव को पूरा करने के लिए है।

मुगल काल का अन्त—शाहजहाँ की बीमारी की खबर से चारों तरफ अव्यवस्था फैल गयी। शाहजहाँ की मृत्यु १६५८ में हुई, इसी समय गद्दी के लिए भ्रातृयुद्ध चला, जिसमें सब भाइयों को मारकर १६६१ ई० में औरंगजेब गद्दी पर बैठा। औरंगजेब का जीवन बराबर युद्ध में बीता, अधिक समय दक्खिन में उलझा रहा, वह उस तरफ से कभी भी निश्चिन्त नहीं रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्तरी भारत की ओर विशेष ध्यान नहीं रहा। इससे आसाम स्वतन्त्र हो गया। यही बात उत्तर पश्चिमी सीमा पर हुई। यहाँ के पठान हजारा जिले तक बढ़ आये। औरंगजेब की धर्मान्ध नीति ने राज्य की नींव को बहुत हिला दिया। दक्षिण में शिवाजी और बुंदेलखंड में छत्रसाल ने इसको परेशान कर दिया था।

औरंगजेब बहुत वृद्ध होकर मरा। औरंगजेब वसीयत छोड़ गया था कि उसका साम्राज्य तीनों बेटों में बाँट दिया जाय। परन्तु आजम नहीं माना और लड़ाई में मारा गया। दिल्ली की गद्दी पर शाह आलम बहादुरशाह के नाम से बैठा। इसने लगभग दस साल राज्य किया। इसकी मृत्यु के बाद (१७१२ ईसवी) चारों बेटों में परस्पर लड़ाई हुई। सबसे छोटे की जीत हुई। वह जहाँदारशाह के नाम से गद्दी

पर बैठा। जहाँदारशाह को सैयदबन्धुओं की मदद से फर्रुखसियर ने हरा दिया, वह पकड़ा गया और मारा गया। इसके आगे राज्यसूत्र सैयदबन्धुओं के हाथ में धीरे-धीरे पहुँच गया। सैयदबन्धुओं ने फर्रुखसियर को कैद करके बहादुरशाह के एक पोते को गद्दी पर बैठा दिया; जो कि तपेदिक से मर गया था। उसका एक भाई फिर बादशाह बना। वह भी इस रोग से मर गया।

फर्रुखसियर के विवाह के समय अंग्रेज डाक्टर हैमिल्टन आया था, उसने फर्रुखसियर की बवासीर की बीमारी का इलाज किया था (१७१५ ई०)। फर्रुखसियर ने उसे इनाम देना चाहा, तब उसने स्वयं कुछ लेने के बजाय यह प्रार्थना की कि बंगाल में अंग्रेज जो विलायती माल बेचें उस पर चुंगी न ली जाय।

फर्रुखसियर के बाद बहादुरशाह का तीसरा पोता गद्दी पर सैयदबन्धुओं की सहायता से बैठा। इसका नाम मुहम्मदशाह था। यह बहुत कमजोर और दीन बादशाह हुआ। इसके समय मराठों ने दिल्ली पर चढ़ाई की और नादिरशाह का आक्रमण हुआ। मुहम्मदशाह के बाद अहमदशाह दिल्ली की गद्दी पर आया। इस बीच में रुहेलों की ताकत पर्याप्त बढ़ गयी थी। साथ ही पूरब में अंग्रेजों के और दक्षिण में फ्रेंच के पैर जम चुके थे।

अहमदशाह की मृत्यु के पीछे आलमगीर द्वितीय गद्दी पर बैठा। इसके पीछे शाह आलम हुआ। यह डर के मारे इलाहाबाद से ही शासन करता रहा। ये सब नाम मात्र के शासक थे। शाह आलम के समय अंग्रेजों ने अवध तक हाथ फैला लिये थे और शाह आलम को दिल्ली की गद्दी दिलवाने में बहुत हिस्सा लिया था। इसी समय दक्षिण से मराठों ने और पश्चिम से अहमदशाह अब्दाली ने कई हमले किये। परिणाम यह हुआ कि शाह आलम एक प्रकार से मराठों का मातहत बादशाह रह गया। चार वर्ष बाद इसने अंग्रेजों से सन्धि कर ली। १७८८ में रुहेलों ने इसे अन्धा कर दिया और १८०६ में अंग्रेजों की पैंशन खाता हुआ मरा।

शाह आलम के पीछे अकबर द्वितीय (१८०६–१८३७ ई०) और बहादुरशाह (१८३७–१८५७) बादशाह हुए, ये दोनों अंग्रेजों के अधीन पैंशन पानेवाले थे। बहादुरशाह का शासन दिल्ली में लाल किले के अन्दर ही सीमित रह गया था।

औरंगजेब की मृत्यु के पीछे मरहठों की शक्ति, फ्रैंच लोगों की प्रगति दक्षिण में, बंगाल में अंग्रेजों के पैर तथा रुहेलखण्ड में रुहेलों की शक्ति पनपी। अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति से फ्रैंच लोगों को दक्षिण से बाहर किया, फिर पश्चिम की ओर आगे बढ़ते गये। पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली की और मरहठों की लड़ाई ने भारत

के भाग्य को पलट दिया। दिल्ली के बादशाह निर्बल हो गये थे, इससे कम्पनी को अवसर मिला। पहले जो कम्पनी व्यापार के लिए भारत में आयी थी, वही अब यहाँ पर पैर जमाकर राजा बनने को सोचने लगी। गद्दी के लिए सौदेबाजी करते हुए वे दिल्ली के ही नहीं, अपितु सारे भारत के शासक बन गये और मुगल बादशाह लाल किले की बहार दीवारी में सीमित हो गये। यह सब इन दो सौ साल में हो गया।

चिकित्सा सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्य

मुगलकाल में चिकित्सा की स्थिति क्या थी, इस सम्बन्ध में कुछ थोड़ा-सा पता आइने अकबरी से चलता है। मुसलमान या तुर्क अपने साथ अपने देश के हकीम लावे; अंग्रेज या यूरोप के दूसरे कोम अपने साथ वहाँ के चिकित्सक लाये। इस प्रकार से उत्तर भारत में वैद्यक देशी चिकित्सा के पनपने की स्थिति नहीं रही। दक्षिण में महाराष्ट्र के अन्दर हिन्दू राज्य रहने से वहाँ पर देशी चिकित्सा का विस्तार हुआ। वहाँ पर ही इस समय संग्रह-ग्रन्थ अधिक बने। ठेठ दक्षिण में आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रारम्भिक रूप; पंचकर्म विधि, वस्ति चिकित्सा, धारा स्नान आदि जो आज हमको बचा मिलता है; वह इसी का परिणाम है। अष्टांगसंग्रह या अष्टांग-हृदय का प्रचार दक्षिण में आज भी अधिक है। महाराष्ट्र में संग्रह ग्रन्थों की चिकित्सा उस समय चलती रही। बंगाल के चक्रदत्त या वंगसेन का प्रचार कम हुआ, परन्तु इनके ढंग पर बहुत से संग्रहग्रन्थ तैयार हुए।

मुगलों का जीवन विलासी था, उनमें शान-शौकत की अधिकता रही। ऐसी अवस्था में उनके लिए उसी प्रकार की चिकित्सा चली। जैसा कि जहाँगीर के विषय में लिखा है—

"महमूद ने आबदार से कहा कि हकीम अली के पास जाकर थोड़ा-सा हलके नशे-वाला शरबत ले आ। हकीम ने डेढ़ प्याला भेजा। सफेद शीशी में वासन्ती रंग का बढ़िया मीठा शरबत था। मैंने पिया। बहुत ही विलक्षण आनन्द प्राप्त हुआ। उस दिन से शराब पीना आरम्भ किया। फिर वह दिन पर दिन बढ़ता गया। नौ वर्ष में यह दशा हो गयी थी कि दो-आतिशा (दो बार खींची हुई) शराब के १४ प्याले दिन को और ७ प्याले रात को पीता था। सब मिलाकर अकबरी ६ सेर हुई।"

"यहाँ तक नौबत पहुँच गयी थी कि नशे की अवस्था में हाथ-पैर काँपने लगते थे। प्याला हाथ में नहीं ले सकता था; दूसरे लोग प्याला हाथ में लेकर पिलाते थे। हकीम अब्दुल फतह का भाई हकीम हमाम पिताजी के विशिष्ट पार्श्ववर्तियों में

था। उसे बुलाकर सारी दशा कह सुनायी। उसने कहा कि पृथ्वीनाथ, आप जिस प्रकार अर्क पीते हैं,—उससे ६ महीने में रोग असाध्य हो जायगा, फिर कोई उपाय न रहेगा।"

अकबर के पेट में जब तीव्र दर्द हुआ और उसका सहन करना सामर्थ्य से बाहर हो गया, तब उसे सन्देह हुआ कि मुझे विष दिया गया है; इसमें उसे अपने विश्वसनीय हकीम जैसे व्यक्ति पर भी साजिश में सम्मिलित होने का सन्देह हुआ।" (दरबारे अकबरी, पृष्ठ १७८,१७९,२०३)

अकबर के राज्य में कासिम खाँ को जल और स्थल का सेनापति इसलिए बनाया गया कि फूल-पत्ते, जड़ी-बूटियों की उन्नति हो।

अकबर के समय बहुत-सी पुस्तकों का अनुवाद फारसी में हुआ; जैसे—रामायण, महाभारत, हरिवंश। ज्योतिष के ताजक का भी अनुवाद हुआ। खानखाना अबुल फजल ने ज्योतिष पर एक मसनवी लिखी थी। परन्तु आयुर्वेद के किसी ग्रन्थ का अनुवाद इस समय होने का पता नहीं चलता। इस समय में चिकित्सा हकीमी ही अधिक चलती थी। उसकी अपनी किताबें थीं।

शेख फैजी के मरने के पीछे उसकी पुस्तकों का संग्रह शाही खजाने में चला गया। जब उसकी सूची बनी तो प्रथम श्रेणी की पुस्तकों में काव्य, चिकित्सा, फलित ज्योतिष और संगीत की पुस्तकें थीं (अकबरी दरबार—भाग २; पृष्ठ ३९९)। अबुल फजल ने अपने भाई फैजी के सम्बन्ध में लिखा है कि "वह कविताएँ करने, पहेलियाँ आदि बनाने या कूट-काव्य, इतिहास, कोश, चिकित्सा तथा सुन्दर लेख लिखने में अद्वितीय था।" (अकबरी दरबार—भाग २; पृष्ठ ३९५)

फैजी की तबीयत १००३ हिजरी में खराब हुई। दमा तंग करने लगा। चार महीने पहले यक्ष्मा हुआ था। अन्त समय में उसने सब बातों की ओर से अपना मन हटा लिया था। और भी कई रोग एकत्रित होने लगे थे। फैजी की मृत्यु १० सफर १००४ हिजरी में हुई। फैजी के पिता शेख मुबारक गरदन में फोड़ा निकलने (सम्भवतः प्रमेहपिड़िका, कार्बंकल) से मरे थे। ऐसी बीमारी प्रायः होती थी। (अकबरी दरबार—भाग २; पृष्ठ ३६५)

इटैलियन लेखक का विवरण

इस समय की चिकित्सा का उल्लेख इटैलियन लेखक निकोलियो मैन्युसी [Niccolao manucci) ने अपनी पुस्तक 'मोगल इण्डिया' (Stori–do–mogor)

में दिया है।[1] लेखक स्वयं चिकित्सक था। इसे औरंगजेब और शाह आलम के समय कई बार राजमहल में चिकित्सा कार्य करना पड़ा। विष के रोगियों की, आंतों के फटने की चिकित्सा के अतिरिक्त कई बार शिरावेध (फस्द खोलने की) चिकित्सा इसने की थी। इसके वर्णन से स्पष्ट है क उस समय वस्ति (एनीमा) का चलन नहीं था, उसके लिए कोई भी समुचित साधन नहीं थे, और न इसका उपयोग ही कोई जानता था—जैसा कि लौहर में काजी की औरत की चिकित्सा से स्पष्ट है। शाह आलम के लिए भी जब इसने एनीमा भेजा तब वहाँ भी कोई इसका उपयोग नहीं जानता था। वस्ति देने के लिए इसने उस समय एक नया तरीका अपनाया। इसने गाय का ऊधस् (Udder) लेकर उसमें हुक्के की नली लगाकर काम चलाया था।

इसके वर्णन से पता चलता है कि राजमहल में बहुत से हकीम थे, ये भिन्न-भिन्न विषयों में निपुण थे। इनकी विद्या के अनुसार इनके नाम थे, यथा—हकीमी बुजुंग (बड़ा हकीम), हकीम उलमुल्क (राजवैद्य), हकीम बिना (आँख का हकीम), हकीम मुहसिन, हकीम जानबख्श, हकीम मुमीन, हकीमों मुर्जैयैन, हकीम फाजिल (निर्देशक चिकित्सक), हकीम अब्दुलफतह, हकीम तरकबखान, हकीम सलाह, हकीम नब्ज (नब्ज का हकीम), हकीम अलैयर, हकीम नादिर, हकीम खुदा दोस्त, हकीम बदन (शरीर का चिकित्सक), अफलातून उज्ज जमाना, अरस्तू उज जमाना, जालीनूस उस जमाना, बकरात उज जमाना, आदि कई नाम थे, जो कि इनके पद एवं कार्य के सूचक होते थे।

प्लास्टिक सर्जरी—उस समय प्लास्टिक सर्जरी का भी चलन था, उसने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। उसके लिखे अनुसार—"औरंगजेब ने बीजापुर पर १६७० ईस्वी में आक्रमण किया। उस समय बीजापुरवाले यदि किसी मुगल को पत्ते काटते या घास-फूस इकट्ठा करते हुए देखते थे, उसे वे पकड़कर ले जाते थे। उसको जान से न मारकर उसकी नाक काटकर छोड़ देते थे। मुगल जर्राह इनकी नाक ठीक कर देते थे। ऐसी कई नाक बनी हुई मैंने देखी हैं। इसके लिए जर्राह भ्रुवों के ऊपर माथे पर से मांस काटकर उसे नाक के ऊपर आने देते थे। वहाँ पर इस मांस को जोड़कर नाक पर इस प्रकार बिठाते थे कि वह दूसरे मांस के साथ बैठ जाय। इसके ऊपर वे

---

१. यह पुस्तक कई भागों में है, इसे रायल एशियाटिक सोसाइटी ने प्रकाशित किया है। ये सब उद्धरण भाग २ से लिये गये हैं।

जख्म को भरनेवाला लेप लगा देते थे। थोड़े समय में व्रण भर जाता था। मैंने इस प्रकार की नाकें बनी देखी हैं।"

सिरा वेध—पागलपन की अवस्था में तथा कई अन्य अवस्थाओं में जब शरीर में रक्त का दबाव बढ़ जाता था (उसने इसे रक्त का बढ़ना लिखा है) तब रक्त निकाला जाता था। उसने इस प्रकार की कई घटनाओं का उल्लेख किया है। रक्त निकलवाने का राजकुमारियों, बेगमों और राजकुमारों में सामान्य रिवाज था। लेखक ने कहा है कि बेगमों और राजकुमारियों के रक्त निकालने पर उसे दो सौ रुपया और एक सराफ़ा उपहार में मिलता था। राजकुमार का रक्त निकालने पर चार सौ रुपया, एक सराफ़ा और एक घोड़ा भेंट दिया जाता था। शाह आलम प्रत्येक बार रक्त की मात्रा पूछता था कि कितना रक्त निकाला गया।

इसी प्रकार एक पागल का उल्लेख किया गया है, जो उसके दवाखाने में घुस गया था। उसने नौकरों से पकड़वाकर उसका सिरा वेध किया, जिससे वह स्वस्थ हो गया था।

प्रसव में चिमटों के उपयोग और भगन्दर रोग की चिकित्सा का उल्लेख उसने किया है। गोआ के प्रेसीडेन्ट को भगन्दर (Fistula) था, उसने एक डच डाक्टर के द्वारा उसे स्वस्थ करवाया था।

दाहकर्म—महल की एक औरत बीमार हो गयी, इसको आँतों की तकलीफ थी। इस तकलीफ को कोई भी अच्छा नहीं कर सका था। उस डाक्टर को बुलाया गया, उसने देखा दवाई देने से कोई लाभ नहीं। इसलिए उसने लोहे के छल्ले को आग में लाल गरम करके नाभि पर दाग दिया। इससे आँतों में गति चल पड़ी; आँतें अपना काम करने लगीं। इससे उसने समझा कि उदरशूल, वंक्षण या आँतों के अवरोध में इस प्रकार का दाह बहुत उपयोगी है।

इसी प्रकार का दाहकर्म हैजा-कालरा (Mort-de-chien) के लिए बताया है। यह उस समय प्रचलित था। इसमें लोहे की शलाका गरम करके उससे एड़ी के तब तक बीच में जलाते थे जब तक रोगी गरमी या दाह का अनुभव न करे।

सुश्रुत में भी यही चिकित्सा विसूचिका में बतायी है—

'साध्यासु पाष्ण्योर्दहनं प्रशस्तमग्निप्रतापो वमनं च तीक्ष्णम्।'

(सु. उ. अ. ५६। २.)

महल में बीमारों के लिए अलग स्थान (बीमारखाना) था; वहाँ पर उनकी सेवा-परिचर्या की जाती थी। रोगी वहाँ से अच्छे होकर या फिर मरकर ही बाहर होते थे। जब कोई मर जाता था तब बादशाह मृतक की सब जायदाद ले लेता था।

यदि रोगी कोई अधिकारी होता था, तो बादशाह पहले पहल उसे देखने आता था। इसके पीछे दूसरों से उसका समाचार पुछवाता था।

मुगल दरबार में चिकित्सक बहुत सोच-विचार कर परीक्षा करके रखे जाते थे। महल में जब उनका प्रवेश होता था, तब उनको सिर से पैर तक ढांप दिया जाता था। महल में हिजड़े चिकित्सक को ले जाते थे। परीक्षा के लिए नब्ज दिखायी जाती थी। रक्त निकालने के समय भी केवल वही स्थान नंगा किया जाता था, जहाँ से रक्त निकालना होता था। चिकित्सक को कई बार अप्रिय कार्य—विष देना भी करना पड़ता था। उसने अपनी पुस्तक में शाहजहाँ को विष देने की घटना का उल्लेख किया है; औरंगजेब ने हकीम के द्वारा शाहजहाँ को विष दिलाना चाहा, परन्तु हकीम ने उसे स्वयं खाकर प्राण त्याग दिये।

उस डाक्टर की इतनी सफलता देखकर मुसलमान हकीम उससे ईर्ष्या करने लगे थे। कई बार उससे भी अनुचित काम को कहा गया (यथा गर्भ गिराने, विष देने के लिए)। मिर्जा सुलेमान बेग की चिकित्सा उसने रक्त निकालकर ही की थी, जब कि हकीम उसका गरम इलाज कर रहे थे, जिससे वह मर जाता। इसी प्रकार से उसने महावत खाँ को विष देने का भी उल्लेख किया है; जिसके लिए उसे उत्तरदायी समझा गया, परन्तु पीछे स्पष्ट हो गया कि उसका इसमें हाथ नहीं था।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि औरंगजेब, शाह आलम के समय में ही राजमहलों में तथा जनता में यूरोपियन चिकित्सा का प्रवेश हो गया था, उनकी प्रतिष्ठा जमने लगी थी। जब रोगी हकीमों से स्वस्थ नहीं होते थे, तब इनकी सहायता ली जाती थी, उस समय के हकीम भी इनका मुकाबला नहीं कर पाते थे।

नाड़ी ज्ञान और संग्रह-ग्रन्थ (रसवाले)

नाड़ी ज्ञान—मुगल काल से पहले रोग को जानने के उपाय तीन प्रकार के (आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान) अथवा छः प्रकार के ("पंचभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति"—सु०अ० १०।४) थे। प्रश्न का सम्बन्ध होने से नाड़ी ज्ञान की विशेषता नहीं दीखती। परन्तु मुगलकाल में जब परदे की प्रथा बहुत बढ़ी हुई थी, तब यह परीक्षा सरल न रहने से नाड़ीज्ञान का विकास हुआ। यह विकास सबसे प्रथम हकीमों में हुआ होगा, क्योंकि उनकी स्थिति इसकी उत्पत्ति के लिए सहायक थी। आक्रामकों के साथ उनके हकीमों के द्वारा यह भारतवर्ष में भी आया, इसलिए जब शासन स्थिर हो गया, तब यहाँ के निवासियों ने भी इसे अपना लिया। इसी से सबसे प्रथम

नाड़ी ज्ञान हमको शार्ङ्गधर में मिलता है (शार्ङ्गधर, पूर्व, अ० ३ में)। इससे पता लगता है कि इस समय वैद्य के लिए नाड़ी ज्ञान आवश्यक हो गया था।

स्पर्श परीक्षा को ही विस्तृत बनाकर उससे नाड़ी ज्ञान का विस्तार किया गया (जिस प्रकार आज श्रवण-शक्ति के ज्ञान से स्टैथ्सकोप द्वारा रोग ज्ञान होता है, उसी प्रकार त्वचा के स्पर्श-ज्ञान से रोग का ज्ञान किया जाता था)। नाड़ी गति की धीमी या उतावली, भारी या हलकी, कठिन या मृदु तथा पक्षियों की चाल से समता करके रोग ज्ञान किया जाने लगा। यह परीक्षा भी एक प्रकार से अनुमान पर ही आश्रित है। इसमें रोगी के सब अंगों की परीक्षा—प्रत्यक्ष ज्ञान परीक्षा को एक प्रकार से छोड़ दिया जाता था, जो इस काल में विशेषतः स्त्री-जाति की दृष्टि से आवश्यक था। इसलिए नाड़ी ज्ञान का विकास हुआ। शार्ङ्गधर से कुछ समय पूर्व ही इसका विकास हुआ होगा, क्योंकि इससे पहले के ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है।

शार्ङ्गधर, भावप्रकाश, अथवा दक्षिण भारत की गदसंजीवनी, वैद्यशास्त्र, बृहद्-योग तरंगिणी, योगरत्नाकर आदि ग्रन्थों में नाड़ी ज्ञान का प्रकरण होने के अतिरिक्त नाड़ीशास्त्र पर स्वतन्त्र पुस्तकें भी लिखी गयीं। इनमें कुछ पुस्तकें दक्षिण भारत में और कुछ उत्तर भारत में लिखी गयी हैं। इनमें कणाद का नाड़ीविज्ञान बहुत प्रसिद्ध है। बम्बई में हिन्दी भाषान्तर और कविराज गंगाधर की व्याख्या के साथ यह प्रकाशित हुआ है। श्री यादवजी महाराज ने रावणकृत नाड़ीविज्ञान ग्रन्थ को अपनी आयुर्वेदग्रन्थमाला में प्रकाशित किया है। नाड़ीविज्ञान सम्बन्धी लगभग छोटे-बड़े ४६ ग्रन्थ मिलते हैं, इनमें बहुत से हस्तलिखित हैं। प्राचीन ग्रन्थों में से आजकल नाड़ीविज्ञान, नाड़ीज्ञान-तंत्र, नाड़ीदर्पण, नाड़ीज्ञानतरंगिणी, नाड़ीज्ञान शिक्षा और नाड़ीज्ञानदीपिका प्रसिद्ध हैं। इनमें से रघुनाथप्रसाद रचित नाड़ीज्ञानतरंगिणी गुजराती अनुवाद के साथ १९०८ में प्रकाशित हुई है। नाड़ीदर्पण हिन्दी भाषान्तर के साथ बम्बई में छपा है। शेष चारों कलकत्ता में प्रकाशित हुई हैं।

संक्षेप में नाड़ी ज्ञान का प्रचार इस देश में १३वीं सदी में हुआ है। यह विश्वास हो गया था कि वैद्य लोग नाड़ी देखकर रोग पहचान लेते हैं।[1] वास्तव में 'नब्बाज' नब्ज देखने में होशियार हकीम ही थे, उनमें ही यह शब्द प्रसिद्ध था।

---

१. इस सम्बन्ध में नाना प्रकार की दन्तकथाएं प्रचलित हैं। हाथ में नाड़ी पर धागा बांधकर रोग पहचानना, नाड़ी से खाये हुए भोजन का ज्ञान करना आदि बहुत-सी बातें हकीमों और वैद्यों के लिए सुनी जाती हैं।

वास्तव में नाड़ी ज्ञान अभ्यास के ऊपर आश्रित है। जिस प्रकार वीणा के तारों की झंकार द्वारा जाननेवाला व्यक्ति कर्णध्वनि से शब्दलहरी के राग को पहचान लेता है; उसी प्रकार अंगुली की त्वचा के स्पर्श से, नाड़ी स्पन्दन का अनुभव लेकर चिकित्सक अपने ज्ञान से रोग को समझता है।[1] इसके अभ्यास से रोग को समझनेवाले अनुभवी वैद्य और हकीम अब भी मिलते हैं। जिससे इस परीक्षा, इस ज्ञान का भी महत्त्व है, विशेषतः जब स्टैथ्सकोप द्वारा श्रवणेन्द्रिय रोगज्ञान में सहायक है, उसी प्रकार से अंगुली के माध्यम से त्वगिन्द्रिय का भी रोग परीक्षा में महत्त्व मानना पड़ता है।

रस-योगवाले ग्रन्थ—गुप्त काल के पीछे यदि भारत के चरमोत्कर्ष का कोई समय आया तो वह मुगल काल ही था। देश की सम्पदा शाहजहाँ के समय फूट पड़ी थी; जिसके कारण यूरोप के लोग ललचाये और इधर आने लगे। अकबर से लेकर शाहजहाँ तक का समय शान्ति तथा ऐश्वर्य का युग था। इस समय भोग-विलास ऐश्वर्य बहुत अधिक बढ़ गया था। इसी विलासमय जीवन को पूरा करने तथा इससे उत्पन्न रोगों को जल्दी अच्छा करने के लिए रसविद्या का चिकित्सा में प्रवेश हुआ। इससे प्रथम रसशास्त्र कीमियागरी-धातुवाद-सोना या चाँदी बनाने के लिए सिद्धों के पास था। उनमें ही इसका प्रचार था, जो इसको बहुत छिपाकर रखते थे, सर्व-साधारण को इसका ज्ञान नहीं देते थे। परन्तु इस समय में इसका उपयोग धीरे-धीरे चिकित्सा में बढ़ा। इससे पूर्व धातुओं का उपयोग जो मिलता है, वह चूर्ण-रज के रूप में मिलता है। इसमें भी बहुत कम धातुओं का उपयोग है, प्रवाल का उपयोग चरक में चि० अ० १८।१२५; चि० अ० २६।५६ में है, वह भी चूर्णरूप में है—जो वर्त्तमान पिष्टी है। भस्म तथा पारे का उपयोग इसी काल में प्रारम्भ होता है।

---

१. 'जले स्थले चान्तरिक्षे प्रसिद्धा यस्य या गतिः।
सैवोपमानमत्र स्यात् प्रसिद्धगुणयोगतः॥
न शास्त्रपठनाद् वापि शश्वदभ्यसनादपि।
स्पर्शनादिभिरभ्यासादेव नाडीविवेकभाक्॥
नाडीगतिरियं सम्यग् अभ्यासेनैव गम्यते।
नान्यथा शक्यते ज्ञातुं बृहस्पतिसमैरपि॥' (आयुर्वेदसंग्रह)

नाड़ी ज्ञान के सम्बन्ध में जानकारी के लिए ताराशंकर बन्द्योपाध्याय के बंगला में लिखित, साहित्यसंसद अकादमी दिल्ली से हिन्दी में प्रकाशित ('आरोग्यनिकेतन') उपन्यास को इस सम्बन्ध में देखना अच्छा है।

सामान्य रूप से चक्रदत्त में कुछ धातुओं का उपयोग आ गया है, परन्तु पारे के साथ धातुओं का उपयोग इसी समय से प्रारम्भ होता है।[1]

अफीम और संखिया का उपयोग जो इस काल में चला वह स्पष्ट मुसलमान हकीमों की देन है। इससे पूर्व चिकित्सा में इतनी तेज औषधियाँ नहीं बरती गयी थीं। परन्तु रहन-सहन, जीवन के ऐश आराम के लिए इन वस्तुओं का उपयोग प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे इनका चिकित्सा में भी उपयोग बढ़ा। गुप्त काल में मद्य, लसुन, प्याज, मांस आया था, इस काल में मद्य के साथ अफीम, भांग, संखिया चिकित्सा में आते हैं। ये वस्तुएँ हमको हकीमों से मिली हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। इनका सबसे प्रथम उल्लेख शार्ङ्गधर संहिता में मिलता है।

शार्ङ्गधर संहिता

प्रकाशित शार्ङ्गधर संहिता में शार्ङ्गधर को दामोदर का पुत्र कहा गया है ("इति श्रीदामोदरसूनुना श्रीशार्ङ्गधरेण विरचितायां श्रीशार्ङ्गधरसंहितायाम्")। ग्रन्थकर्त्ता ने इस संहिता में अपने विषय में कुछ नहीं लिखा। परन्तु शार्ङ्गधरपद्धति में ग्रन्थकर्त्ता ने अपना परिचय दिया है। उसके अनुसार शाकम्भरी देश में हम्मीर नाम का राजा हुआ है; जोकि चौहान वंश का था। उसकी सभा में राघवदेव नाम का ब्राह्मण था। उसके तीन पुत्र हुए—गोपाल, दामोदर और देवदास। दामोदर के तीन पुत्र हुए; जिनमें शार्ङ्गधर सबसे बड़े, इनसे छोटे लक्ष्मीधर और सबसे छोटे कृष्ण थे। शार्ङ्गधर ने शार्ङ्गधरपद्धति बनायी।

शार्ङ्गधरपद्धति में जिस हम्मीर का उल्लेख है, वह मेवाड़ का राजा हम्मीर ही दीखता है। वह स्वयं विद्वान् और विद्वानों का आदर करता था। उसी के नाम पर हम्मीरकाव्य संस्कृतसाहित्य में प्रसिद्ध है। उसकी सभा में विद्वान् रहते थे। उसका समय १२२६ ई० का है। शाकम्भरी देश से सांभर झील का प्रदेश अपेक्षित है।[2] इसलिए शार्ङ्गधरपद्धति के ग्रन्थकर्त्ता दामोदर हैं।

---

१. इस विषय में श्री यादवजी त्रिकमजी लिखित 'रसामृतम्' की भूमिका देखनी चाहिए।

२. 'पुरा शाकम्भरीदेशे श्रीमान् हम्मीरभूपतिः।
चाहुवाणान्वये जातः ख्यातः शौर्य इवार्जुनः॥
तस्याभवत्सभ्यजनेषु मुख्यः परोपकारव्यसनैकनिष्ठः।
पुरन्दरस्येव गुरुर्गरीयान् द्विजाग्रणी राघवदेवनामा॥

शार्ङ्गधरसंहिता में ग्रन्थकर्ता ने केवल इतना कहा है कि मैं शार्ङ्गधर सज्जनों को प्रसन्न करने के लिए मुनियों से कहे और चिकित्सकों से अनुभूत योगों का संग्रह करता हूँ। थोड़ी आयु और कम बुद्धिवाले जो कि सब ग्रन्थ नहीं पढ़ सकते उनके लिए यह संहिता है (अ० १३।१२९)। इसी से लघुत्रयी में इसका स्थान है। इस संहिता में ग्रन्थकार ने अपना कोई परिचय नहीं दिया है। इससे यह संहिता पद्धति से भिन्न है।

संहिता और पद्धति में दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं। पद्धति में चिकित्सा सम्बन्धी उल्लेख बिलकुल नहीं हैं। शार्ङ्गधरपद्धति में लोहे पर पानी चढ़ाने (Tempering) का एक योग दिया है जिसमें पिप्पली, सैन्धवनमक, कूठ को गोमूत्र में पीसकर लेप बनाये। इसे शस्त्र पर लगाकर आग में गरम करके पानी में बुझाना चाहिए; इसी को सुश्रुत में पायना कहा है (पिप्पली सैन्धवं कुष्ठं गोमूत्रेण तु पेषयेत्)। शार्ङ्गधरसंहिता में ऐसा कोई उल्लेख पायना विषयक नहीं है। इससे स्पष्ट है कि दोनों का विषय भिन्न है। विषय भिन्न होने से लेखक भी पृथक् मानने होंगे। पद्धतिकार ने अपने को वैद्य नहीं कहा है, केवल कवि कहा है। भाषा, धार्मिक भावना, कवित्व शक्ति दोनों में भिन्न होने से दोनों के कर्त्ता पृथक् हैं। शार्ङ्गधरसंहिता का उल्लेख हेमाद्रि ने किया है। इस दृष्टि से भी पद्धतिकार से १५० वर्ष के लगभग पूर्व वैद्य शार्ङ्गधर का समय आता है। शार्ङ्गधर में अफीम का उल्लेख होने से यह १२०० ई० के पूर्व की नहीं हो सकती (शुक्त की व्याख्या में हेमाद्रि ने शार्ङ्गधर म० अ० १०।७ में से शुक्त का लक्षण उद्धृत किया है—अष्टांगहृदय सू० ५।७६ की टीका)। हेमाद्रि का समय १२६०—१३०९ ईसवी है।

गोपालदामोदरदेवदाससंज्ञा बभूवुस्तनयास्तदीयाः ।
नेत्रावतारा इव चन्द्रमौलेरपाकृतध्वान्तगणास्त्रयोऽपि ॥
तेषां मध्ये यस्तु दामोदरोऽभूत्पुत्रास्तस्य श्रीमतोऽन्वीतरागः ।
मामीरम्यां शुद्धदेहं विधाय ज्ञानादात्मन्येव निष्ठां जगाम ॥
ज्येष्ठः शार्ङ्गधरस्तेषां लघुर्लक्ष्मीधरस्ततः ।
कृष्णोऽनुजस्तेषां त्रयस्त्रेताग्निसेवकाः ॥

श्री परशुराम शास्त्रीजी ने अपनी भूमिका शार्ङ्गधर संहिता में शाकम्भरी देश से अम्बाले का ग्रहण लिया है, वह ठीक नहीं। शाकम्भरी देवी का मन्दिर सहारनपुर जिले में भी है। शाकम्भरी नाम से साँभर का ग्रहण ही लेना उचित है।

शार्ङ्गधरपद्धति में बाल काला करने के कई प्रयोग दिये गये हैं। यथा—छः भाग त्रिफला, दो भाग अनार का मूल, तीन भाग हल्दी; इन सबको पीसकर मिला ले। इसमें साठी चावल एक भाग तथा भांगरे का रस बीस भाग मिलाना चाहिए। इस सारे को लोहे के पात्र में रखकर लोहे के ढक्कन से ढाँपकर इसे घोड़े की लीद में एक मास तक गाड़ देना चाहिए। फिर इसको निकालकर इसमें दूध मिलाकर इसे सिर और माथे पर लगाना चाहिए। ऊपर से एरण्ड के पत्ते बाँधकर रात को सो जाना चाहिए। प्रातः स्नान करना चाहिए। इस प्रकार करने से बाल काले हो जाते हैं और यदि यही प्रयोग सात-सात दिन छोड़कर किया जाय तो मनुष्य के बाल सदा काले रहते हैं। इसी प्रकार के बाल काला करने के कई योग शार्ङ्गधरपद्धति में हैं। शार्ङ्गधरसंहिता में इस प्रकार के योग नहीं हैं।

शार्ङ्गधरसंहिता तीन खण्डों में है। पहले खण्ड में परिभाषा, औषध लेने का समय, नाड़ी परीक्षा, दीपन-पाचनाध्याय, कल्कादि विचार, सृष्टिक्रम और रोग-गणना के सात अध्याय हैं। मध्यम खण्ड में स्वास, क्वाथ, फांट, हिम, कल्क, चूर्ण, गुग्गुलु, अवलेह, स्नेह, आसव, धातुओंका शोधन-मारण, रसशोधन-मारण, और रसयोग हैं। इस खण्ड में एक प्रकार से औषध-निर्माण प्रक्रिया सम्पूर्ण आ जाती है, साथ ही सब प्रसिद्ध योगों का संग्रह है। शार्ङ्गधर के तीसरे खण्ड में स्नेहपान विधि, स्वेद विधि, वमन विधि, विरेचनाध्याय, बस्ति, निरूह बस्ति, उत्तर बस्ति, नस्य, गण्डूष, कवल, धूमपान, लेप, अभ्यंग, रक्तस्राव विधि और नेत्रकर्म विधि की व्याख्या है।

ग्रन्थकर्ता ने स्वयं ग्रन्थसमाप्ति में कहा है कि आयुर्वेद में जो बहुत-सी संहिताएँ हैं, उनमें से थोड़ा सार लेकर अल्पबुद्धि एवं थोड़ी आयुवालों के लिए यह रचना की है। इसमें आयुर्वेद का सार भाग जरूरी, अंश पूर्णतः आ गया है। कुछ नवीन विचार भी हैं, जैसे—नाभि में स्थित प्राणवायु हृदयकमल के मध्य भाग को स्पर्श करते हुए विष्णुपदामृत को पीने के लिए कण्ठ से बाहर आता है। विष्णुपदामृत को पीकर पुनः जल्दी से पीछे चला जाता है (प्रथम खण्ड ४८।४९)। आयु का लक्षण शरीर और प्राणवायु का संयोग कहा है (चरक का लक्षण—"शरीरेन्द्रियसत्त्वात्म-संयोगो जीवितम्" सू. अ. १।४२ है)। शार्ङ्गधर का लक्षण बहुत सरल है।

शार्ङ्गधर संहिता के ऊपर दो टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं। ये टीकाएँ संस्कृत में हैं। इनमें एक आढमल्ल की बनायी दीपिका है, जो रचयिता के नाम से (आढमल्ल नाम से) प्रसिद्ध है। दूसरी टीका काशीराम वैद्य रचित 'गूढार्थदीपिका' है।

इनमें आढमल्ल गौरपुर के श्रीवास्तव्य (संभवतः श्रीवास्तव) कुल के वैद्य

"मस्तकीं दरदं तुत्थं रजनीं च पृथक्-पृथक्" ११८।१३)। इसके साथ अहिफेन, संखिये का उपयोग कई स्थानों पर आता है ("दरदः पारदश्चैव सितमल्लश्च तालकः"—५९।४०)।

बृहद्योगतरंगिणी में अपने समय के सब ग्रन्थों का उपयोग मिलता है। तीसट से लेकर शार्ङ्गधर संहिता तक इसमें संगृहीत हैं। इस समय तक जो भी रसग्रन्थ प्रसिद्ध थे उनसे भी संग्रह किया गया। इसलिए इसमें रसयोगों का संग्रह बहुत अच्छी तरह मिलता है। रत्नगर्भपोटली रस, राजमृगांक आदि योग इसमें हैं।

इसमें एक सौ अड़तालीस तरंग हैं। प्रथम तरंग में चिकित्सा सम्बन्धी तथा रोग सम्बन्धी सामान्य सूचनाएँ हैं। दूसरे तरंग में गर्भरचना, शरीरविज्ञान, तीसरे में मान-परिभाषा, चौथे में औषधियों की आवश्यक जानकारी, परिभाषा है। इसके आगे स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, वस्ति, नस्य, धूमपान, रक्तमोक्षण पृथक्-पृथक् तरंगों में कहे हैं, तेरहवें तरंग में पाकशाला—भोजन सम्बन्धी विवेचन है। इसके आगे रसोइयों और पाकशाला के अध्यक्ष का वर्णन है। पन्द्रहवें में ऋतुचर्या, सोलहवें में सिद्धान्नादि का गुण कहा गया है। इसमें रोटी, पूरी, बड़ी आदि वस्तुओं का भी उल्लेख है। इसके आगे दिनचर्या, नस्य, अंजन, स्नान तथा भिन्न-भिन्न पात्रों का वर्णन है। अठारहवें में रात्रिचर्या है। उन्नीसवें से प्रारम्भ करके चालीसवें तरंग तक निघण्टु का विषय है। इसमें रस, वीर्य, विपाक की विवेचना करने के साथ-साथ प्रत्येक वस्तु के गुण-दोष का वर्णन किया गया है। इकतालीसवें तरंग में इस शास्त्र का विषय धातुओं का जारण-मारण आता है। बयालीस में पारद के संस्कार, यंत्र विचार, मुद्राएँ हैं। तेतालीसवें में उप-रसों का उल्लेख है। चौवालीसवें में अरिष्ट ज्ञान है। पैंतालीस से तिरपन तक रोगी की परीक्षा विधि है; इसमें नाड़ी, जिह्वा, स्वप्न, दूत, शकुन, वर्ण, स्वर आदि का विचार है। चौवनवें में साध्यासाध्य और पचपनवें में भैषज्य ग्रहण विधि है। छप्पन से लेकर एक सौ सैंतालीस तक रोगों के निदान और उनकी चिकित्सा है। इसके आगे अन्तिम तरंग में सर्व रोग चिकित्सा और ग्रन्थ-प्रशस्ति है।

इस ग्रन्थ के कर्त्ता 'त्रिमल्ल भट्ट' हैं। ये तैलंग ब्राह्मण थे, इन्होंने अपने रहने का स्थान 'त्रिपुरान्तक' का नगर बताया है ("तैलङ्गस्त्रिपुरान्तकस्य नगरे योगैस्त्रिमल्लो द्विजः")। अपने ग्रन्थ के सम्बन्ध में स्वयं इन्होंने कहा है—

'अत्र ग्रन्थे भूरिसन्नातसारे सद्भिर्दत्तं दूषणं भूषणं नः।
छिन्नं दग्धं घृष्टमष्टापदं हि च्छायामच्छामृच्छति स्वेच्छयैव॥'

त्रिमल्ल भट्ट का समय शार्ङ्गधर के पीछे और भावप्रकाश के कर्त्ता भावमिश्र से

पूर्व होना चाहिए। भावमिश्र के वर्णित फिरंग रोग का पृथक् उल्लेख इसमें नहीं है; परन्तु उपदंश रोग के लिए कहे गये 'उपदंशान्ध सूर्यरस' की फलश्रुति में फिरंग रोग का नाम (११७।३७) आता है। साथ ही 'मस्तकी' का उल्लेख जो कि पहले ग्रन्थों में नहीं है, इसमें मिलता है ('विडङ्गं मस्तकीं चैव'—११७।३३)। मस्तकी रूमी मस्तकी है; जो कि यूनानी औषधि है। भावमिश्र ने फिरंग रोग का वर्णन विस्तार से किया है। फिरंगी शब्द पुर्तगाल से आये व्यक्तियों के लिए प्रथम प्रचलित हुआ। इनका आने का सबसे प्रथम समय १४९७ ई० है, जब कि वास्कोदगामा कालीकट के किनारे पहुँचा। भावप्रकाश के कर्त्ता के समय यह फिरंग रोग विशेष रूप से प्रसारित हुआ था; इसी से उसने इसे पृथक् लिखा। त्रिमल्ल भट्ट के समय इसको उपदंश का ही एक रूप समझा जाता था इसलिए पृथक् उल्लेख नहीं किया। इससे भावमिश्र के समय से पचास साठ वर्ष पूर्व इसका समय रख सकते हैं, जो पन्द्रहवीं शती के अन्त का या सोलहवीं शती के प्रारम्भ का है। इस ग्रन्थ की एक प्राचीन प्रति १७३३ शकाब्द की लिखी मिली है। जोली ने लिखा है कि त्रिमल्ल के एक ग्रन्थ की प्रति १४९८ की मिली है (पृ० २)। इसलिए इसका समय सोलहवीं शती के प्रारम्भ का मानना उचित है।

इस ग्रन्थ में वाग्भट, चरक, सुश्रुत, वृन्द, तीसट, शार्ङ्गधर, रसरत्नप्रदीप, राज-मार्त्तण्ड, रसमंजरी, रसेन्द्रचिन्तामणि, सारसंग्रह आदि ग्रन्थों से उद्धरण दिये गये हैं। श्री दुर्गाशंकर शास्त्री जी का कहना है कि शंखद्राव का वर्णन इसी में प्रथम मिलता है। इसमें भावप्रकाश का नाम नहीं है, नाम चक्रदत्त का भी नहीं है। इसका कारण यही है कि ठेठ दक्षिण में बंगाल की पुस्तकों का प्रचार नहीं हुआ था। चक्रदत्त का काम वृन्द के सिद्ध योग से हो गया होगा। इसलिए नाम का इतना महत्त्व नहीं; जितना कि फिरंग रोग तथा शंखद्राव के उल्लेख का है।

ज्वरसमुच्चय और ज्वरतिमिरभास्कर

ज्वरसमुच्चय नाम के ग्रन्थ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ नेपाल के राजगुरु स्वर्गीय श्री हेमराज शर्मा के संग्रह में हैं; ऐसा उन्होंने काश्यपसंहिता के उपोद्घात में लिखा है। इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि इनमें एक प्राचीन अक्षरों में लिखित, परन्तु अपूर्ण पुस्तक है। इसके अन्त में नेपाली संवत् ४४ दिया है। दूसरी प्रति नेवार अक्षरों में लिखी है; लिपि के अनुसार इसका समय भी ८०० वर्ष होना चाहिए। इसमें आश्विन, भारद्वाज, कश्यप, चरक, सुश्रुत, भेड, हारीत, यांत्र, जतूकर्ण, कपिलबल आचार्यों के ज्वर सम्बन्धी वचन उनके नाम के साथ संगृहीत हैं। इसमें ज्वर सम्बन्धी

काश्यप के बहुत से वचन उद्धृत हैं। काश्यपसंहिता के उपोद्घात में ये वचन इसमें से उद्धृत हैं। इससे इतना स्पष्ट है कि प्राचीन काल से पृथक्-पृथक् रोगविषयक ग्रन्थ बनने लगे थे (शार्ङ्गधर के नाम से 'त्रिशती वैद्यक' नाम का एक ग्रन्थ केवल ज्वर से ही सम्बन्धित है, यह बहुत पीछे का है)।

ज्वरतिमिरभास्कर नामक ग्रन्थ भी ज्वरसमुच्चय की भाँति ज्वर से ही सम्बन्धित है। इसके रचयिता का नाम चामुण्डा है। चामुण्डा का ग्रन्थ पीछे का होने से इसमें सन्निपातों का वर्णन है; जिसका उल्लेख पुराने ग्रन्थों में होना सम्भव नहीं। बीकानेर में ज्वरतिमिरभास्कर की हस्तलिखित एक प्रति है; जो १४८९ की लिखी है (जोली की मैडिसिन, पृष्ठ ४)। रससंकेतकलिका भी चामुण्डा की लिखी होनी चाहिए; क्योंकि एक हस्तलिखित प्रति में संवत् १५३१ (१४७५ ईसवी) लिखा है।

त्रिशती

इसी शतक में, सम्भवतः १५वीं शती में वैद्य देवराज के पुत्र शार्ङ्गधर ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें केवल ज्वर का निदान और चिकित्सा ही लिखी है। क्योंकि सब रोगों का राजा ज्वर है, इसलिए उसी का ज्ञान कराने के लिए इसे बनाया है। इसमें पशु पक्षी-वनस्पतियों में होनेवाले ज्वर के नामों का उल्लेख किया हुआ है। ज्वर तीसरे दिन, चौथे दिन क्यों आता है, इसका सुश्रुत के अनुसार वर्णन किया गया है। दोष जिस-जिस प्रकार से आमाशय में पहुँचते हैं, उसी क्रम से ज्वर होते हैं (२११-२१४)। सन्निपात ज्वर की चिकित्सा विशेष रूप से है।

शार्ङ्गधर नागर ब्राह्मणों के वंश में उत्पन्न हुए थे। यह इसी लिए सम्भवतः गुजरात के रहनेवाले थे। इन्होंने कविता का रस देने के साथ-साथ (कवित्वश्रुति-कौतुकात्) ज्वर की चिकित्सा कही है। इसकी संस्कृत टीका वैद्य वल्लभ भट्ट ने की है। टीका का नाम भी 'वैद्यवल्लभा' रखा है। यह ग्रन्थ बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

वीरसिंहावलोक

आयुर्वेद में पुनर्जन्म तथा पूर्व कर्म को माना गया है। इसलिए कुछ व्याधियाँ कर्मजन्य मानी गयी हैं ("निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत् पौर्वदैहिकम्। हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते। न हि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते। क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्॥" चरक. शा. अ. १।११६-१७)। प्राचीन ग्रन्थों में इस पर विशेष लेख नहीं मिलता। पीछे से ज्योतिषशास्त्र और वैद्यक के विचार मिलाकर कर्मविपाक सम्बन्धी ग्रन्थ बने।

ज्योतिष और आयुर्वेद का समन्वय अष्टांगसंग्रह के समय प्रारम्भ हो गया था। ("आधानजन्मनिधनप्रत्यवराख्य विपत्करे। नक्षत्रे व्याधिरुत्पन्नः क्लेशाय मरणाय वा॥ ज्वरस्तु जातः षड्रात्रादश्विनीषु निवर्त्तते। भरणीषु च पञ्चाहात् सप्ताहात् कृत्तिकासु च॥" इत्यादि सर्वरोग निदान १।२१-३२)। पीछे से हारीत संहिता और वीरसिंहावलोक में विस्तार से इसकी चर्चा मिलती है।[1]

वीरसिंहावलोक में ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से भिन्न-भिन्न रोगों के कारण तथा उपाय लिखित हैं। इस ग्रन्थ के लेखक तोमर वंश के वीरसिंह हैं। इनका समय १३८३ ईसवी है। इसी प्रकार का दूसरा ग्रन्थ 'सारग्राहक कर्मविपाक' है; जिसकी हस्तलिखित प्रति मिली है। जोली के अनुसार इसका समय १३८४ ई० है (पृष्ठ ५)। वीरसिंहावलोक के सम्बन्ध में लेखक ने स्वयं कहा है—

'दैवज्ञागमधर्मशास्त्रनिगमायुर्वेददुग्धोदधी—
नामथ्य स्फुरदात्मबुद्धिगिरिणा विश्वोपकारोज्ज्वलम्।
आलोकामृतमातनोति विबुधैरासेव्यमत्यद्भुतं
श्रीमंतोमरदेववर्मतनयः श्रीवीरसिंहो नृपः॥'

मोहमन विलास

शार्ङ्गधर के समय से पूर्व मुसलमानों का असर वैद्यक-शास्त्र पर आ गया था; इसी से अफीम आदि का उल्लेख मिलता है। महमूद शाह के समय में (१४११ ई०)

---

१. उपलब्ध हारीतसंहिता बहुत ही अर्वाचीन समय की है। इसमें कर्मजन्य रोगों के लिए विस्तार से लिखा गया है, यथा—

'कर्मजा व्याधयो ये च तान्वद त्वं महामते! आत्रेय उवाच—
कर्मजा व्याधयः सर्वे भवन्ति हि शरीरिणाम्।
सर्वे नरककल्पाः स्युः साध्यासाध्या भवन्त्यमी॥ (२।१।५.)
ब्रह्मघ्नो जायते पाण्डुः कुष्ठी गोवधकारकः।
राजघ्नो राजयक्ष्मी स्यादतिसारोपघातकः॥
स्वाम्यङ्गनाभिगमने मेहा रोगा भवन्ति हि।
गुरुजायाप्रसङ्गेन मूत्ररोगोऽश्मरीगदः॥
स्वकुलजाप्रसंगाच्च जायते च भगन्दरः॥' (२।१।१३-१५.)

इनकी चिकित्सा दान, पुण्य, प्रायश्चित्त से बतायी गयी है।

कालपी के मोहमन विलास नामक मुसलिम ने एक ग्रन्थ लिखा था, जिसका विषय वाजीकरण और स्त्री-बालकों की चिकित्सा था (जोली मेडिसिन—५ पृष्ठ)।

शिशु रक्षारत्न

पृथ्वीमल्ल ने बालकों की चिकित्सा पर पृथक् ग्रन्थ लिखा था। इसमें मदनपाल-निघण्टु का उल्लेख है। इसलिए जोली इसका समय १४००ई० से पीछे का मानता है।

शिशुरोग पर कल्याण का बालतंत्र नामक एक ग्रन्थ हैं। यह काशी में १५८८ ईसवी (१६४४ विक्रमी) में बना है। इसके कर्त्ता वैद्य कल्याण का मूल स्थान गुजरात था। ये प्रश्नोरा ब्राह्मण थे। तीसरा ग्रन्थ रावणकृत 'कुमारतंत्र' है; जिसका समय ज्ञात नहीं है। यह ग्रन्थ भाषाटीका के साथ खेमराज श्रीकृष्णदास के यहाँ बम्बई में छपा है।

स्त्री-विलास

सोलहवीं शती के अन्त में या सत्रहवीं शती के अन्दर गुजरात के श्रीगौड़ जाति के वैद्य देवेश्वर ने स्त्री-विलास नाम का एक ग्रन्थ लिखा था; इसमें स्त्री-रोग-चिकित्सा का वर्णन है।

काश्यप संहिता

इस नाम से विष-चिकित्सा सम्बन्धी एक ग्रन्थ १९३३ में मैसूर में छपा है; इसका समय निश्चत नहीं।

भावप्रकाश

शार्ङ्गधर, वंगसेन और बृहद्योग तरंगिणी के पीछे भावप्रकाश ही हेतु-लिंग-औषध रूप में सम्पूर्ण चिकित्सा का ग्रन्थ है। लघुत्रयी में इसका स्थान होने से इसका प्रचार भी बहुत हुआ। भावप्रकाश के कर्त्ता भावमिश्रने अपने पिता का नाम श्री मिश्र-लटकतनय कहा है। इससे अधिक अपना परिचय नहीं दिया। जोली इसको बनारस का रहनेवाला बताते हैं (जोली मेडिसिन पृ० २)। श्री गणनाथ सेन इसे कान्य-कुब्ज (कन्नौज) का कहते हैं। भाव प्रकाश में फिरंग रोग, चोपचीनी, शीतला आदि का उल्लेख मिलता है। फिरंगी-पोर्चगीज इस देश में पन्द्रहवीं शती में आये अवश्य, परन्तु उत्तर भारत से इनका सम्बन्ध सोलहवीं शती में हुआ, जब इन्होंने बंगाल में व्यापार करना प्रारम्भ किया। व्यापार के सम्बन्ध में इनका भारतीयों के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध हुआ। जिसके कारण यहाँ जो नया रोग उत्पन्न हुआ, उसका नाम

भावमिश्र ने फिरंग रखा। इसलिए इसका समय सोलहवीं शती से पहले नहीं आता। जोली का कहना है कि टुवीन्जन में भावप्रकाश की एक प्रति १५५८ ईसवी की है, इसलिए इससे पीछे का यह नहीं।

भावमिश्र ने शारीर वर्णन सुश्रुत-चरक में से गतानुगतिक रूप से उद्धृत किया है (प्रत्यक्ष शारीर)। चरक शब्द के अर्थ में मिथ्यावाद इसी से प्रारम्भ हुआ है; जिसमें इनको शेषनाग का अवतार बताकर भ्रम उत्पन्न किया गया है।[1]

वाग्भट के पीछे बने सर्वांग-चिकित्सावाले ग्रन्थों में योगतरंगिणी (बृहत्) के बाद यही आता है। शल्य-शालाक्य की विवेचना में उसका ज्ञान बहुत ही संक्षिप्त है। नये प्रचलित योगों का सार लिखा गया है। चोपचीनी का फिरंग रोग में उल्लेख भावमिश्र ने ही किया है। लोक में प्रसिद्ध शीतला का वर्णन इसी ने किया है। शीतलास्तोत्र इन्हीं का प्रथम आविष्कार है अथवा कहीं से उद्धृत किया है, यह पता नहीं। इतना ठीक है कि उस समय के विचारों का प्रतिबिम्ब इस ग्रन्थ में पूर्णरूप से मिलता है। आम्रपाक, मदनमंजरी वटी आदि नये योग भी इसमें हैं।

भावप्रकाश के पूर्व खण्ड, मध्यम खण्ड और उत्तर खण्ड ये तीन खण्ड हैं। उत्तर खण्ड बिलकुल छोटा है। पूर्व खण्ड और मध्यम खण्ड प्रथम भाग और द्वितीय भागों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में अश्विनीकुमार और आयुर्वेद के आचार्यों की उत्पत्ति से प्रारम्भ करके सृष्टिक्रम, गर्भ प्रकरण, दोष और धातु वर्णन, दिनचर्या, ऋतुचर्या आदि विषय देकर पीछे निघण्टु दिया है। इसमें प्रतिनिधि द्रव्यों का भी उल्लेख है। पक्वान्न का भी उल्लेख इसमें है। निघण्टु क्रम राजनिघण्टु आदि के अनुसार ही है। पूर्व खण्ड के दूसरे भाग में मान परिभाषा, धातुओं का जारण-मारण, पंच कर्म विधि है। मध्यम खण्ड में ज्वर आदि रोगों की चिकित्सा है। इस चिकित्साक्रम में शोढल की भाँति शल्य-शालाक्यादि क्रम नहीं अपनाया। अन्तिम उत्तर खण्ड में वाजीकरण अधिकार है। इस प्रकार से अपने समय की चिकित्सा पद्धति का अनुसरण किया गया

---

१. चरक एक प्रकार के शिष्य होते थे, जो कि गुरु के पास अपना अध्ययन समाप्त करके देश-देशान्तरो में घूमकर ज्ञान प्राप्त करते थे (जैसे पाणिनि)। पाणिनि ने 'माणवचरकाभ्यां खञ्' (५।१।११) सूत्र में माणव के साथ चरक का उल्लेख किया है। वैशम्पायन का नाम भी चरक पड़ गया था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर ज्ञान प्राप्त करने या देनेवालों के लिए चरक शब्द था (फारसी में चरक चक्र को कहते हैं)।

है। मुसलमानों के तीन सौ वर्ष के शासन में भी प्रचलित यूनानी वैद्यक के वैद्यों की आँखों के सामने होने पर भी उसका असर इन पर नहीं हुआ। सका सबूत यह भावप्रकाश है। दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि हममें उदारता की कमी रही और हमने दूसरों से कुछ भी सीखा नहीं; अपने तक ही सीमित रहे।

भावमिश्र की बनायी 'गुणरत्नमाला' नाम की हस्तलिखित एक पुस्तक इंडिया आफिस के पुस्तकालय में है, ऐसा जोली का कहना है (जोली मेडिसिन पृ. ३)।

टोडरानन्द

सोलहवीं शती का दूसरा ग्रन्थ टोडरानन्द है, इसे अकबर के मंत्री टोडरमल का लिखा कहा जाता है। अकबरी दरबार में टोडरमल की विद्वत्ता के सम्बन्ध में लिखा गया है—"इनकी विद्या सम्बन्धी योग्यता केवल इतनी ही जान पड़ती है कि अपने दफ्तर के लेख आदि भली भाँति पढ़-लिख लेते थे। लेकिन इनकी तबीयत नियम आदि बनाने और सिद्धान्त निश्चित करने में इतनी अच्छी थी कि उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती।" (भाग ३, पृष्ठ १३९)

इसी में आगे चलकर लिखा है कि "राजा साहब ने हिसाब-किताब के सम्बन्ध में एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी। उसी के गुर याद करके बनिये और महाजन दुकानों में और देशी हिसाब जाननेवाले घरों और दफ्तरों के कामों में बड़े-बड़े अद्भुत कार्य करते हैं।" (भाग ३, पृष्ठ १४२)

इससे अनुमान होता है कि इनके आश्रित या प्रशंसक किसी विद्वान् ने इनके नाम से यह पुस्तक लिख दी है। टोडरमल खत्री थे। इनका जन्म पंजाब में हुआ था। एशिया सोसायटी के अनुसार इनका जन्म-स्थान अवध प्रान्त का लहरपुर नामक स्थान है। विधवा माता ने अपने इस होनहार पुत्र को बहुत ही दरिद्रता की अवस्था में पाला था।

योगचिन्तामणि

सोलहवीं अथवा सत्रहवीं शताब्दी में जैन हर्षकीर्त्ति सूरि का लिखा योगचिन्तामणि ग्रन्थ है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति १६६६ की प्राप्त हुई है (जोली मेडिसिन पृ० ३)। इसमें फिरंग रोग का वर्णन है; इस दृष्टि से यह भावप्रकाश के पीछे बना प्रतीत होता है।

वैद्यजीवन

सत्रहवीं शताब्दी में बना, संक्षिप्त परन्तु चमत्कारमय सुन्दर काव्य वैद्यजीवन है। इसके लेखक कवि लोलिम्बराज हैं। यह ग्रन्थ संक्षिप्त तथा सुन्दर, मनोहर-ललित

भाषा में लिखा होने से लोक में बहुत प्रिय हुआ है। इसकी बहुत-सी टीकाएँ हुई हैं, अनेक भाषाओं में अनुवाद किये गये हैं। इसकी एक हस्तलिखित प्रति १६०८ ईसवी की मिली है। लोलिम्बराज के पिता का नाम दिवाकर भट्ट था। लोलिम्बराज ने वैद्यावतंस नाम का एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखा है।

वाग्भट के समय जो छंदालंकार-प्रियता हमको मिलती है, उसी की झलक इतने सालों पीछे सोलहवीं शती में वैद्यजीवन में मिलती है। लोलिम्बराज ने ग्रन्थ के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—

'गदभञ्जनाय चतुरैश्चरकाद्यैर्मुनिभिर्नृणां करुणया यत्कथितम्।
अखिलं लिखामि खलु तस्य स्वकपोलकल्पितभिदास्ति न किञ्चित् ॥'

लोलिम्बराज की कविता शृङ्गार रसप्रधान है—

'पित्तज्वरे किं रसफाण्टलेपैः किं वा कषायैरमृतेन किं वा।
पेयं प्रियाया मुखमेकमेव लोलिम्बराजेन सदानुभूतम् ॥'

ग्रन्थकर्ता की काव्यरचना-चातुरी के लिए निम्न पद्य पर्याप्त है—

'भिन्दन्ति के कुञ्जरकर्णपालिं किमव्ययं व्यक्ति रते नवोढा।
सम्बोधनं किं नृः रक्तपित्तं निहन्ति वामोरु वद त्वमेव ॥'

"सिरा; न-नः; सिंहानन"—अडूसा रक्तपित्त को शान्त करता है। वैद्यजीवन में अपनी पत्नी को सम्बोधन करते हुए कवि ने बहुत-से योग कहे हैं।

वैद्यजीवन के सिवाय सत्रहवीं शती में अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। उदाहरण के लिए जगन्नाथ का योगसंग्रह १६१६ में, सुखबोध १६४५ में, कवि चन्द्र का चिकित्सा-रत्नावलि १६६१ ई० में, रघुनाथ पण्डित का वैद्यविलास १६९७ ई० में और विद्यापति का वैद्यरहस्य १६९८ ई० में लिखा गया है।

चिन्तामणि वैद्य का प्रयोगामृत और नारायण का वैद्यामृत अठारहवीं शती में लिखे गये हैं (जोली)। इसी शताब्दी में माधव ने आयुर्वेदप्रकाश नामक रस-ग्रन्थ की रचना की है। माधव ने भावप्रकाश का उल्लेख किया है। इसकी हस्तलिखित प्रति इण्डिया आफिस में है, जिसका समय १७८६ विक्रमी (१७१३ ईसवी) है।

माधव के नाम से पाकावली नाम का एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। गोंडल के ठाकुर साहब द्वारा लिखित इतिहास में जय कवि के लिखे ज्वरपराजय काव्य का उल्लेख है, इसका समय १७९४ ईसवी है।

योगरत्नाकर

वैद्यों में अतिशय बरता जानेवाला ग्रन्थ योगरत्नाकर भी अठारहवीं शती का बना

हुआ है। योगरत्नाकर का प्रचार तथा इसकी औषधियाँ महाराष्ट्र में अधिक बरती जाती हैं। इसके ग्रन्थकर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं, परन्तु इसकी एक हस्तलिखित प्रति १६६८ शकाब्द की आनन्दाश्रम के पास है। इसलिए १७४६ ई० से पूर्व यह ग्रन्थ लिखा जा चुका है, इसमें सन्देह नहीं है।

योगरत्नाकर में चोपचीनी का नाम तथा इससे बननेवाली औषधियाँ भावप्रकाश से अधिक आयी हैं। चोपचीनी पाक, चोपचीनी चूर्ण इसमें है (उपदंश चिकित्सा)। फिरंगरोग-निदान जो भावप्रकाश में आता है, वह इसमें नहीं, परन्तु लिंगार्श, लिंगवर्ति रोगों का उल्लेख है।

इसमें बिरोजा ('कम्पिल्लकं विरोजा सिन्दूरः सौरकं तथा'—उपदंशचिकित्सा), कबाब चीनी के लिए कबाब ('कबाब गौरी गद तुत्थ बीज'—कुष्ठरोगचिकित्सा) नाम आये हैं, जो बहुत आधुनिक एवं यूनानी नाम हैं। तम्बाकू के गुण-दोष इसमें वर्णित हैं। सम्भवतः यह पहला ग्रन्थ है, जिसमें तम्बाकू के नाम और हुक्के का उल्लेख है। हुक्के के लिए धूमयंत्र प्रकाशक शब्द आया है। तम्बाकू को दाँत की पीड़ा का शामक कहा गया है ('दन्तरुक्शमनं चैव कृमिकण्डूविनाशनम्')। इसके लिए लिखा है—

'मदपित्तभ्रमकरं वमनं रेचनं स्मृतम्।
दृष्टिमान्द्यकरं चैव तीक्ष्णशुक्रकरं तथा॥
तस्यैव धूमपानं तु विशेषाद्हृदि शुक्रहृत्।
वमनस्य प्रभावेण वृश्चिकादिविषं हरेत्॥'

आयुर्वेदोक्त कामकला का वर्णन तथा इस विषय का उल्लेख इस ग्रन्थ में विस्तार से दिया गया है। इस विषय में विस्तार से लिखनेवाला यही प्रथम ग्रन्थ है। इसमें रायपुरी शर्करा का उल्लेख है, सम्भवतः यह शर्करा रायपुर (सम्भवतः मध्य भारत का रायपुर हो) में बनती होगी (आज भी कालपी मिश्री, मुलतानी मिश्री नाम से बढ़िया मिश्री मोटी साफ मिश्री मिलती है)।[1] इसमें कूट श्लोक भी आते हैं—

'पानीयं पानीयं शरदि वसन्ते पानीयम्।
नादेयं नादेयं शरदि वसन्ते नादेयम्॥'

शरद् ऋतु में पानी पीना चाहिए, वसन्त में पानी कम पीना चाहिए। शरद् ऋतु में नदी का जल पीने योग्य नहीं होता ऐसी बात नहीं, अपितु पीने योग्य होता है।

---

१. इसी से मैं अनुमान करता हूँ कि लेखक विदर्भ का रहनेवाला है। महाराष्ट्र में इसका प्रचार इस अनुमान की पुष्टि करता है।

वसन्त ऋतु में नदी का जल नहीं पीना चाहिए। इसमें नये रस भी आते हैं। यथा—सुवर्णभूपति रस राजयक्ष्मा रोग के लिए कहा गया है, इस योग का महाराष्ट्र में बहुत प्रचार है।

योगरत्नाकर, बृहद्योगतरंगिणी की भाँति का एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें चक्रपाणि के द्रव्यगुणसंग्रह का प्रसिद्ध श्लोक शाकों के सम्बन्ध में उद्धृत है ('शाकेषु सर्वेषु वसन्ति रोगाः सहेतवो देहविनाशनाय। तस्माद् बुधः शाकविवर्जनं हि कुर्यात्तथाम्लेषु स नैव दोषः ॥')। इससे स्पष्ट है कि द्रव्यगुणसंग्रह को ग्रन्थकर्ता ने देखा है।

योगरत्नाकर का क्रम प्रायः बृहद्योगतरंगिणी के समान है, उसी के अनुसार रोगपरीक्षा, द्रव्यगुण, निघण्टु और रोग वर्णन है। यह वर्णन उसकी अपेक्षा विस्तृत है। इसमें भी अन्य ग्रन्थों से उद्धृत पाठ तथा योग आये हैं। स्थान-स्थान पर लेखक ने नाम निर्देश भी किया है। वैद्यजीवन के शृंगार की झलक भी इसमें मिलती है ('सारं भोजनसारं सारं सारङ्गलोचनाधरतः। पिब खलु वारं वारं नो चेन्मुधा भवति संसारः ॥')। भरता—जो कि बैंगन को आग में भूनकर फिर छीलकर सिल पर पीसकर बनाया जाता है; इस व्यंजनविशेष का भी उल्लेख है ('लवणमरिचचूर्णेनाऽऽवृतं रामठाढ्यं दहनवदनपक्वं निम्बुतोयेन युक्तम्। हरति पवनसंघं श्लेष्महन्तृ प्रसिद्धं जठरभरणयोग्यं चारुभोज्यं भरित्यम् ॥')। इस प्रकार से नये-नये व्यंजनों का उल्लेख भी इसमें मिलता है।

ज्वर चिकित्सा में विदेह, वाग्भट, वृद्ध वाग्भट (अष्टांगसंग्रह के लिए), चक्रदत्त के नामों का उल्लेख स्पष्ट मिलता है (बृहद्योगतरंगिणी में वृन्द का नाम है, चक्रपाणि का नाम नहीं है)। योगरत्नाकर में रोगों की पथ्यापथ्य विधि दी गयी है। इससे पहले ग्रन्थों में पथ्यापथ्य सम्बन्धी विचार नहीं हुआ है। इसी से कर्त्ता ने कहा है—("आलोक्य वैद्यतन्त्राणि यत्नादेष निबध्यते। व्याधितानां चिकित्सार्थं पथ्यापथ्यविनिश्चयः॥ निदानौषधपथ्यानि त्रीणि यत्नेन चिन्तयेत्। तेनैव रोगाः क्षीयन्ते शुष्के नीर इवाङ्कुराः॥")। इस समय तक के संग्रह-ग्रन्थों में यही ग्रन्थ अन्तिम और प्रामाणिक है, ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं।

तेरहवीं शताब्दी से प्रारम्भ करके अठारहवीं शताब्दी तक बने ग्रन्थों का संक्षिप्त उल्लेख आ गया है। इससे इन छः सौ वर्षों में बने आयुर्वेद ग्रन्थों का सामान्य परिचय मिल जाता है। इस समय में जो भी प्रसिद्ध ग्रन्थ बने, वे प्रायः संग्रह-ग्रन्थ हैं और इनमें से कोई भी अकेला ग्रन्थ चिकित्सा का ज्ञान करा सकता है। इनमें हेतु, लिंग और औषध

रूप से चिकित्सा कही गयी है। इसी समय योगसंग्रह-ग्रन्थ बने, जिनसे चिकित्सा सरल हो गयी, एवं बहुत-सी पुस्तकों की जरूरत कम हो गयी।

इस समय के सब ग्रन्थों का उल्लेख यहाँ नहीं हुआ, क्योंकि बहुत-से ग्रन्थ नष्ट हो गये हैं और बहुत-से अभी अप्रकाशित हैं। बहुतों का नामोल्लेख भी अभी सूचियों में नहीं आया। जोली या दूसरे लेखकों ने तिथिक्रम से पुस्तकों का जो उल्लेख किया है, उसी के आधार पर यहाँ लिखा गया है। इसमें जो प्रकाशित एवं अप्रकाशित ग्रन्थ नहीं आये, उनका उल्लेख यहाँ पर किया गया है। उसमें कुछ ग्रन्थ आधुनिक भी हैं, परन्तु इनकी रचना पुराने ढंग की है।[1]

प्रकीर्ण ग्रन्थ

अंजननिदान—अंजनाचार्य कृत रोगविनिश्चय विषयक संक्षिप्त ग्रन्थ है। इसको खेमराज श्रीकृष्णदास ने बम्बई से प्रकाशित किया है। श्री राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा तथा निर्णयसागर प्रेस में शार्ङ्गधरसंहिता मूल के साथ प्रकाशित है। अंजननिदान का कर्त्ता अग्निवेस को कहा है। यह अग्निवेश आत्रेय के शिष्य अग्निवेश से भिन्न हैं। इसमें सुश्रुत तथा माधवनिदान के पाठ आये हैं।

अभ्रककल्प—इसका उल्लेख गोंडल ठाकुर साहब के लिखे इतिहास में है।

अजीर्णामृतमंजरी—काशिराज कृत निघण्टुरत्नाकर की दूसरी आवृत्ति के प्रथम भाग में प्रकाशित हुई है।

अनुपानतरंगिणी—गुजराती भाषा के साथ महादेव रामचन्द्र जागुष्टे ने प्रकाशित की है।

अनुपानदर्पण—भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

आयुर्वेद-सुषेणसंहिता—भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

अर्कप्रकाश—रावण कृत, भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

आरोग्यचिन्तामणि—पण्डित दामोदर कृत।

कल्याणकारक—उग्रादित्य रचित, १९४० में सोलापुर से प्रकाशित।

---

१. ग्रन्थों की सूची श्री दुर्गाशंकर केवलराम जी शास्त्री के 'आयुर्वेद का इतिहास' गुजराती से ली गयी है। शास्त्री जी ने यह सूची रसयोगसागर में दी पुस्तकों की सूची, गोंडल के ठाकुर साहब के इतिहास में दी हुई तथा वनौषधिदर्पण के आधार पर तैयार की है।

कामरत्न—कर्त्ता का नाम रसयोगसागर में नहीं है। वेंकटेश्वर प्रेस में छपा है, इसमें कर्त्ता का नाम योगेश्वर नित्यनाथ है।

कालज्ञान—भाषा टीका के साथ, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

कूट मुद्गर—माधव का बनाया संक्षिप्त चिकित्सा ग्रन्थ है। वेंकटेश्वर प्रेस में भाषा टीका के साथ छपा है।

गोरक्षसंहिता—इसके कर्त्ता गोरखनाथ हैं, अप्रकाशित।

गौरीकांचलिका—चिकित्सा ग्रन्थ, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित। इसमें मंत्र-तंत्र, ज्योतिष और चिकित्सा है।

चमत्कारचिन्तामणि—गोविन्दराज कृत—गोंडल के इतिहास में इसका नाम है।

चिकित्साकर्म-कल्पवल्ली—काशीराम चतुर्वेदी संकलित, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

चिकित्सांजन—वन्द्योपाध्याय कृत, अप्रकाशित।

चिकित्सारत्नाभरण—सदानन्द दाधीच विरचित।

चिकित्सारहस्यम्—हारीत मुनि विरचित।

चिकित्सासार—गोपालदास कृत, अप्रकाशित।

द्रव्यगुणशतक—त्रिमल्ल भट्ट कृत, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

धात्री मंजरी—कर्त्ता का नाम अज्ञात है। गोंडल के इतिहास में है।

नरपतिजयचर्या—संवत् १२३२ में धारा के आम्रदेव के पुत्र नरपति द्वारा अणहिलवाड़ा में लिखा ग्रन्थ है। यह शकुनशास्त्र का ग्रन्थ है। संस्कृत टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस में छपा है।

नामसागर—इन्द्रदेव का बनाया, अप्रकाशित।

नारायणविलास—नारायण भूपति का बनाया हुआ।

पथ्यापथ्य—महामहोपाध्याय विश्वनाथ कविराज कृत; भाषा टीका के साथ छपा है। ये उड़ीसा के महाराज प्रतापरुद्र गजपति के चिकित्सक थे।

पथ्यापथ्यनिघण्टु—कवि श्रीमुख कृत, गोंडल के इतिहास में इसका उल्लेख है।

परिभाषावृत्तिप्रदीप—गोविन्दसेन कृत।

पारदयोगशास्त्र—शिवराम योगीन्द्र कृत।

प्रयोगचिन्तामणि—राममाणिक्य सेन विरचित, कलकत्ता से प्रकाशित। गोंडल के इतिहास में इसका लेखक माधव लिखा है।

प्रयोगसार—गोंडल के इतिहास में नाम है, कर्त्ता का नाम नहीं है।

बालचिकित्सा पटल—कर्त्ता अज्ञात है, अप्रकाशित।

बालबोधोदय—श्री काशीनाथ चतुर्वेदी विरचित भाषानुवाद के साथ प्रकाशित।

बालबोध—वामाचार्य कृत, अप्रकाशित।

भैषज्यसारामृत संहिता—उपेन्द्र विरचित।

मधुमती—द्रविड़ देशवासी नीलकान्त भट्ट के पुत्र, रामकृष्ण भट्ट के शिष्य, नरसिंह कविराज का बनाया हुआ द्रव्यगुण तथा चिकित्सा सम्बन्धी अप्रकाशित ग्रन्थ।

योगचन्द्रिका—लक्ष्मण विरचित, गोंडल के इतिहास में इसके लिखने का समय १६३३ लिखा है।

योगदीपिका—गुजरात के नागर रणकेशरी का लिखा, तीन सौ नब्बे श्लोकों का संक्षिप्त संग्रह ग्रन्थ है। यह योगसंग्रह पुराना है। वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य के पास है।

योगमहार्णव—रामनाथ विद्वान् ने बनाया।

योगमहोदधि—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित।

योग रत्नमाला—गंगाधर यतीन्द्र द्वारा १५७४ संवत् में अहमदाबाद में हाथ से लिखी प्रति इंडिया आफिस के पुस्तकालय में है।

योगरत्नाकर—नयनशेखर कृत। चौपाइयों में लिखा गया। इसका समय १६८० ईसवी है।

योगशतक—श्री कण्ठदास रचित, इसके ऊपर वररुचि की अभिधानचिन्तामणि नाम की टीका है।

योगसंग्रह—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित।

योगसमुच्चय—गुजराती श्रीगौड़ ब्राह्मण हरिराम के पुत्र माधव का लिखा छोटा ग्रन्थ है।

योगसमुच्चय—गणपति व्यास द्वारा प्रणीत, जीवराम कालिदास द्वारा प्रकाशित।

रत्नाकरौषधयोग—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित।

रसकंकालीय—कंकाल योगी विरचित, प्रकाशित।

रसकल्पलता—मन्नीराम विरचित।

रसकामधेनु—वैद्य श्री चूड़ामणि द्वारा संगृहीत; प्रकाशित।

रसकिन्नर—कर्त्ता अज्ञात।

रसकौमुदी—शक्तिवल्लभ विरचित।

रसकौमुदी—ज्ञानचन्द्र विरचित। लाहौर में यह ग्रन्थ छपा है।

रसकौमुदी—माधव विरचित।

रसज्ञानम्—ज्ञानज्योति विरचित।

रसचंडांशु—दत्तात्रेय संगृहीत, प्रकाशित।

रसचिन्तामणि—अनन्तदेव विरचित, भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस में छपा।

रसतरंगमालिका—जनार्दन भट्ट कृत।

रसपारिजात—वैद्य शिरोमणि कृत, रस योग सागर में नाम नहीं लिखा।

रसप्रदीप—प्राणनाथ वैद्य रचित। गोंडल के इतिहास में कर्त्ता का नाम बीसलदेव और संवत् १४८३ लिखा है। भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

रसबोधचन्द्रोदय—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित।

रसमंजरी—शालिनाथ विरचित, भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

रसरत्नकौमुदी—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित।

रसरत्नप्रदीप—रामराज विरचित, श्री भानुदत्त विद्यालंकार ने लाहौर से प्रकाशित किया है।

रसरत्नमणिमाला—वैद्य बाबाभाई अचलजी संगृहीत, अप्रकाशित।

रसराजशंकर—रामकृष्ण विरचित।

रसराजशिरोमणि—परशुराम विरचित।

रसराजसुन्दर—दत्तराम संगृहीत, प्रकाशित।

रससंग्रहसिद्धान्त—गोविन्दराम विरचित।

रससारसंग्रह—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित।

रसाध्याय—काशी संस्कृत सीरीज़ में १९३० में छपा।

रसामृत—वैद्येन्द्र पण्डित कृत, १४९५ में बना।

रसायनपरीक्षा—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित।

रसालंकार—भट्ट रामेश्वर विरचित, अमुद्रित।

रसावतार—माणिक्यचन्द्र जैन विरचित, वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य के पास है।

रसायनप्रकरण—मेरुतुंग नाम के जैन साधु ने १३८७ ईसवी में बनाया।

रसायनकल्पद्रुम—रामकृष्ण भट्ट विरचित।

रसेन्द्ररत्नकोश—देवेन्द्र उपाध्याय विरचित।

रामविनोद—पद्मरंग कृत, रसग्रन्थ।

रोगनिदान—धन्वन्तरि कृत, अप्रकाशित।

लोहपद्धति—सुरेश्वर विरचित, आयुर्वेद ग्रन्थमाला में प्रकाशित।

वाणीकरी—वाणीक विरचित।

विषोद्धार—ग्रन्थकार अज्ञात, अप्रकाशित, विविध विष-विषयक ग्रन्थ।

वैद्यकल्पद्रुम—रघुनाथप्रसाद कृत, प्रकाशित।

वैद्यकौस्तुभ—श्री मेवाराम विरचित, १९२८ में प्रकाशित हुआ है।

वैद्यचिन्तामणि—कर्त्ता अज्ञात।

वैद्यचिन्तामणि—वैद्य चिन्तामणि (लघु)—दोनों का कर्त्ता अज्ञात।

वैद्यदर्पण—कल्याण भट्ट के पुत्र प्राणनाथ वैद्य द्वारा बनाया गया, अप्रकाशित।

वैद्यरत्न—केदारभट्ट संगृहीत, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

वैद्यवल्लभ—हस्तिरुचि कृत भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस में छपा है, १६७० ईसवी में लिखा गया, कर्त्ता का नाम गोंडल के इतिहास में इतिहाससूरि है।

वैद्यवृन्द—नारायण कृत, अप्रकाशित।

वैद्योत्तंस—श्री राजसुन्दर वैद्य विरचित, सीलोन में छपा है।

शतयोग—कर्त्ता अज्ञात।

सर्वविजयी तंत्र—कर्त्ता अज्ञात।

सिद्धान्तमंजरी—अप्रकाशित, वनौषधिदर्पण की उपक्रमणिका में इसका कर्त्ता बोपदेव लिखा है।

सूतप्रदीपिका—कर्त्ता अज्ञात।

हंसराजनिदान—हंसराज कृत भाषा टीका सहित, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

हरिताल कल्प—

हितोपदेश—जैनाचार्य श्री कंठसूरि विरचित, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

हितोपदेश—परमेश्वराचार्य श्री कण्ठशिव पण्डित विरचित, अप्रकाशित।

(इनके सिवाय) **काकचण्डीश्वर तंत्र; बालतंत्र**—शिशु चिकित्सा ग्रन्थ, महीधर-पुत्र कल्याण वैद्य कृत, श्री वेंकटेश्वर प्रेस में छपा। **योगतरंगिणी**—श्री मल्लभट्ट कृत चिकित्सा ग्रन्थ। **नाड़ीप्रकाश**—शंकर सेन कृत, प्रकाशित। **नाड़ीपरीक्षा चिकित्सा कथन**—संजीवेश्वर शर्मा के पुत्र रत्नपाणि शर्मा कृत, नाड़ीविज्ञान और चिकित्सा ग्रन्थ, अप्रकाशित। **रसेन्द्रकल्पद्रुम**—द्रविड़ देशवासी वैदिक ब्राह्मण नीलकान्त भट्ट के पुत्र महामहोपाध्याय रामकृष्ण भट्ट विरचित। **वैद्यरहस्य**—वंशीधर के पुत्र विद्यापति प्रणीत चिकित्सा ग्रन्थ, वेंकटेश्वर प्रेस में मुद्रित। **शरीरनिश्चया-धिकार**—गर्भावस्था में स्त्री को किस प्रकार का आहार-विहार करना चाहिए, इसका उल्लेख है। इसके कर्त्ता भवानीप्रसाद के शिष्य रामदास हैं, अप्रकाशित।

शतश्लोकी—बोपदेव कृत चूर्ण, गुटिका, लोह, घृत, तेल एवं क्वाथ विषयक वात-श्लेष्मकमय ग्रंथ—यह वेंकटेश्वर प्रेस में छपा है। **क्षेमकुतूहल**—कृष्णशर्मा कृत चिकित्सा ग्रन्थ—आयुर्वेद ग्रन्थमाला में प्रकाशित। **साध्यरोग रत्नावली**—श्यामलाल कृत चिकित्सा ग्रन्थ। **बालचिकित्सापटल**—ग्रन्थकार का पता नहीं, अप्रकाशित। **सारसंग्रह**—चक्रपाणि कृत चिकित्सा ग्रन्थ, अप्रकाशित। **निबन्ध, संग्रह**—वैद्यक पारिभाषिक शब्दार्थ विषयक ग्रन्थ, कर्त्ता का नाम अज्ञात, अप्रकाशित। **वैद्यामृतलहरी**—मथुरानाथ शुक्ल कृत, ज्वर चिकित्सा विषयक। **उपवनविनोदन**—शार्ङ्गधर कृत चिकित्सा ग्रन्थ, अप्रकाशित। **सन्निपातमंजरी**—भवदेव कृत चिकित्सा ग्रन्थ, अप्रकाशित। **रससंकेतकलिका**—चामुण्डा कृत। **रससारामृत**—रामसेन कृत रस ग्रन्थ, अप्रकाशित। **गूढबोधक**—हेरम्ब सेन कृत, कुछ रोगों के लक्षण और चिकित्सा लिखी है, अप्रकाशित। **रसरत्नाकर**—नित्यनाथ विरचित, बृहत् रस ग्रन्थ। **वैद्यामृत**—नारायण कृत रस ग्रन्थ। **वैद्यकल्पद्रुम**—शुकदेव कृत चिकित्सा ग्रन्थ, वेंकटेश्वर प्रेस में छपा। **वैद्यमन उत्सव, वैद्यसंजीवनी**—बम्बई से प्रकाशित। **प्रयोगचिन्तामणि**—राममाणिक्य सेन विरचित, चिकित्सासंग्रह, कलकत्ता से प्रकाशित। **रसराजलक्ष्मी**—बुक्कदेव राजा के राज्यवैद्य; सायणाचार्य के समकालीन विष्णुदेव पण्डित के पुत्र रामेश्वर भट्ट कृत।

तिथिक्रम से इस काल के प्रसिद्ध ग्रन्थकर्त्ता[1]

१३वीं शताब्दी में—

गोपालकृष्ण भट्ट—रसेन्द्रसारसंग्रह के कर्ता।

डल्हणाचार्य—सुश्रुत पर निबन्धसंग्रहटीका के लेखक।

नारायण भट्ट—कण्ठप्रकाश और वैद्यचिन्तामणि के कर्ता; श्रीकण्ठ कृत कुसुमवल्ली पर भी इन्होंने टिप्पणी लिखी थी।

शार्ङ्गधर—शार्ङ्गधरसंहिता के लेखक।

१३वीं-१४वीं शताब्दी में—

बोपदेव—केशव भिषक् के पुत्र, मुग्धबोध व्याकरण के कर्त्ता; इन्होंने वैद्यकशास्त्र पर बहुत से ग्रन्थ लिखे थे।

महादेव पण्डित—हिकमतप्रकाश कृत्, हाकिमि चिकित्साकार।

---

१. श्री गुलाब हुल्लबार शर्मा बी० एल० लिखित 'वृद्धत्रयी' से संकलित।

वाग्भट चतुर्थ—शब्दार्थचन्द्रिका गुप पाठ।

वाचस्पति वैद्य—आतंकदर्पण नामक निदान टीका कर्ता।

विश्वनाथ कविराज—पथ्यापथ्य निघण्टु तथा अलंकार में साहित्यदर्पण के कर्ता।

नित्यनाथ या सिद्धनाथ—रसरत्नाकर, रसरत्नमाला, कामरत्न, योगसार के कर्त्ता।

आशाधर—अष्टांगहृदय के टीकाकार।

त्रिविक्रमदेव भट्ट—लौहप्रदीप-कारक।

नरहरि पण्डित—राजनिघण्टु नामक वैद्यक कोष कार।

शार्ङ्गधर द्वितीय—वैद्यवल्लभ, ज्वरत्रिशती के कर्त्ता।

हेमाद्रि—अष्टांगहृदय पर आयुर्वेद रसायन टीका लिखी।

१४वीं शताब्दी—

काशीनाथ द्विवेदी—रसकल्पलता, चिकित्साक्रमवल्ली, अजीर्णमंजरी, शार्ङ्गधर-संहिता के ऊपर गूढ़ार्थदीपिका टीका इन्होंने लिखी।

जयदेव कविराज—रसकल्पद्रुम, रसामृत के कर्ता।

विष्णुदेव पण्डित के पुत्र रामेश्वर भट्ट ने रसराजलक्ष्मी ग्रन्थ बनाया था।

वीरसिंह—वीरसिंहावलोकन ग्रन्थ, दुर्गाभक्तितरंगिणी।

१४-१५वीं शताब्दी—

गंगादास सूरि—वैद्यसारसंग्रह के कर्त्ता, गोपालदास के पुत्र, कृष्णदास के भाई।

गोविन्दाचार्य—रससार, सन्निपातमंजरी के कर्त्ता।

नारायणदास कविराज—चिकित्सापरिभाषा, वैद्यवल्लभ के ऊपर सिद्धान्त-संचय तथा ज्वरत्रिशती नामक दो टीकाओं के कर्त्ता।

मदनपाल—मदनपाल निघण्टु के कर्त्ता, संगीत-शास्त्र में आनन्दसंजीवन ग्रन्थ भी लिखा है।

माधवाचार्य (द्वितीय)—सर्वदर्शनसंग्रह के प्रणेता, रसेश्वर दर्शन के कर्त्ता।

रुद्रधर भट्ट—सन्निपातकलिकाकृत्, शार्ङ्गधरसंहिता के ऊपर गूढ़ान्तदीपिका टीका इन्होंने लिखी (काशीनाथ की टीका का नाम गूढ़ार्थदीपिका है)।

विश्वनाथ सेन—उत्कल के राजा गजपति प्रतापरुद्र के सभापण्डित, पथ्यापथ्य-विनिश्चय के लेखक तथा चक्रपाणि के सर्वसारसंग्रह के ऊपर सारसंग्रह नामक टीका के लेखक।

१५वीं शताब्दी—

खरे, चिन्तामणि शास्त्री—ने रसरत्नसमुच्चय की सरलार्थप्रकाशनी नामक टीका लिखी।

ढुण्ढुकनाथ—रसेन्द्रचिन्तामणि नामक रसशास्त्र के प्रणेता।

रामकृष्ण भट्ट—रसेन्द्रकल्पद्रुम के कर्त्ता और उसी की वैद्यरत्नाकर टीका लिखनेवाले। यह सम्भावना है कि शृङ्गाररसोदय के प्रणेता रामकवि इनके पुत्र थे।

रामराजा या रामराय—विजयनगर के राजा सदाशिव से इसने सिंहासन लिया था। वैद्यकशास्त्र के रसरत्नप्रदीप, रसदीपिका और नाड़ीपरीक्षा नामक ग्रन्थ लिखे थे,

हेमाद्रि—ईश्वर सूरि के पुत्र, इन्होंने १४६८ ईसवी में लक्ष्मणप्रकाश नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें आयुर्वेद के प्रवर्त्तक बहुत से मुनियों के नाम थे।

१५वीं १६वीं शताब्दी—

मयनसिंह—माल भूमि के राजवैद्य, इन्होंने रसनक्षत्रमालिका नाम का रस-ग्रन्थ लिखा था; स्वच्छन्दभैरव रस की निर्माणपद्धति स्पष्ट की।

शिवदास सेन—मालविका के रहनेवाले, इनके बनाये बहुत से ग्रन्थ हैं; चरकतत्त्वप्रदीपिका, अष्टांगहृदय के ऊपर तत्त्वबोध टीका, चक्रदत्त के ऊपर तत्त्वचन्द्रिका टीका, द्रव्यगुणसंग्रह की द्रव्यगुणसंग्रह टीका, चरक पर टीका।

१६वीं शताब्दी—

टोडरमल—टोडरानन्द के कर्त्ता; टोडरमल-अकबर के सचिव थे।

भावमिश्र—भावप्रकाश और गुणरत्नमाला के कर्त्ता।

रामकृष्ण वैद्यराज—राजा कनकसिंह के सभापण्डित। कनकसिंह-प्रकाशन नामक वैद्यक ग्रन्थ के प्रणेता।

रामचन्द्रदास गुह—रसचिन्तामणि या रसेन्द्रचिन्तामणि, रसरत्नाकर और रसपारिजात के प्रणेता। बंगाल के आयुर्वेदजगत् में विशेष सम्मानित हैं। इनकी बहुत-सी टीकाएँ हैं। इनमें से १८वीं शताब्दी में मीरजाफर के वैद्य रामसेन कवीन्द्रमणि की बनायी विशेष प्रशंसनीय है। १३वीं शताब्दी में गोपालकृष्ण भट्ट के बनाये रसेन्द्रसारसंग्रह के समकक्ष रसेन्द्रचिन्तामणि है।

शुभचन्द्र—जीवक तंत्र के प्रणेता—इसमें बुद्ध कालीन जीवक का चरित वर्णित है।

१६वीं १७वीं शताब्दी

कवि कण्ठहर—इनका वास्तविक नाम राधाकान्त था; रत्नावली नामक वैद्यक ग्रन्थ के प्रणेता, त्रिलोचन के पुत्र। प्रयोगरत्नाकर नामक वैद्यक ग्रन्थ के प्रणेता।

त्रिमल्ल भट्ट—वल्लभ भट्ट के पुत्र और रसप्रदीप के प्रणेता, शंकरभट्ट के पिता। इन्होंने योगतरंगिणी, रसदर्पण, सुखलता कृत शतश्लोक की टीका, द्रव्यगुण शतश्लोकी, वैद्यक ग्रन्थ लिखे थे। योगतरंगिणी में लेखक का अपना परिचय तथा बहुत-से प्राचीन ग्रन्थों का संग्रह मिलता है।

लोलिम्बराज—वैद्यजीवन नामक वैद्यक ग्रन्थ के प्रणेता, इनकी उपाधि वैद्यराज थी।

१७वीं शताब्दी

राममाणिक्य सेन—प्रयोगचिन्तामणि नामक संग्रह ग्रन्थ के कर्त्ता। वैद्य समाज में यह ग्रन्थ सम्मानित है।

वंशीधर—वैद्यरहस्यपद्धति के कर्त्ता एवं वैद्यकुतूहल के प्रणेता विद्यापति के पिता; इनके पुत्र विद्यापति ने वैद्यकुतूहल से मिली वैद्यरहस्यपद्धति १६९८ संवत् में प्रकाशित की थी।

१७वीं १८वीं शताब्दी

जैन नारायण शेखर अथवा नारायण शेखर जैनाचार्य—१६७६ ईसवी में इन्होंने योगरत्नाकर नाम का ग्रन्थ लिखा था। इनके दूसरे ग्रन्थ—वैद्यवृन्द, वैद्यामृत, ज्वरनिर्णय, ज्वरत्रिशती की टीका आदि हैं।

भरतमल्लिक—रत्नकौमुदी, सारकौमुदी आदि वैद्यक ग्रन्थों के प्रणेता। यशश्चन्द्र इनकी उपाधि थी।

विद्यापति—वंशीधर के पुत्र, चिकित्साञ्जन के कर्त्ता। इन्होंने वंशीधर की बनायी वैद्यरहस्यपद्धति को अपने बनाये वैद्यकुतूहल से मिलाकर प्रकाशित किया था।

[illegible] उपाध्याय—आयुर्वेदप्रकाशादि के कर्त्ता।

१८वीं शताब्दी

आनन्द वर्मा—सारकौमुदी के कर्त्ता।

राजवल्लभ—रत्नमाला, राजवल्लभ पर्यायमाला, राजवल्लभ कृत द्रव्यगुण नामक तीन वैद्यक ग्रन्थ बनाये थे। ये तीनों द्रव्यगुण से सम्बन्ध रखते हैं। रावल्लभ कृत द्रव्यगुण के ऊपर नारायणदास ने टीका की है।

२१

रामसेन कवीन्द्रमणि—मीर जाफ़र के राजवैद्य। इन्होंने गोपालकृष्ण भट्ट के बनाये रसेन्द्रसारसंग्रह के ऊपर इसी नाम की टीका लिखी थी। रामचन्द्र गुह कृत रसेन्द्रचिन्तामणि के बहुत लोकप्रिय होने से इन्होंने उस पर भी अर्थबोधिका नाम की टीका लिखी थी।

देवदत्त—धातुरत्नमाला के प्रणेता।

१८वीं १९वीं शताब्दी

गंगाधर कविराज—इन्होंने चरक पर जल्पकल्पतरु टीका, योगरत्नावली, आग्नेय आयुर्वेदीय भाष्य आदि ग्रन्थ बनाये थे। १७९८ ईसवी में यशोहर ग्राम में उत्पन्न हुए और १८८५ में इनकी मृत्यु हुई। प्रसिद्ध चिकित्सक थे, इनकी शिष्य-परम्परा बहुत बड़ी थी। इन शिष्यों में स्वामी लक्ष्मीरामजी जयपुर, श्री योगीन्द्रनाथ सेन कलकत्ता तथा श्री हारायणचन्द्र चक्रवर्ती कलकत्तावाले प्रसिद्ध हैं।

धनपति—दिव्यरसेन्द्रसार नामक रसग्रन्थ कर्ता।

नारायणदास वैद्य—प्रयोगामृत के कर्त्ता चिन्तामणि के गुरु। इन्होंने राजवल्लभ कृत द्रव्यगुण पर टीका की थी। मधुमती नामक नाना औषधवाला वैद्यक ग्रन्थ लिखा था।[1]

कवितावली में क्षयरोग और मृगाङ्क

तुलसीदासजी का काल सत्रहवीं शती माना जाता है। इस समय तक रसयोगों का (पारा आदि का) उपयोग बहुत प्रचलित था। इसी प्रकार की मृगाङ्क औषध क्षयरोग के लिए आयुर्वेद में प्रसिद्ध है; यथा—

स्याद् रसेन समं हेम मौक्तिकं द्विगुणं ततः।
गन्धकञ्च समं तेन रसपादन्तु टंकणम्॥
सर्वं तद्गोलकं कृत्वा कांजिकेन च पेषयेत्।
भाण्डे लवणपूर्णाख्ये पचेद् यामचतुष्टयम्॥
मृगाङ्कसंज्ञः स ज्ञेयो रोगराजनिकृन्तनः॥

—आयुर्वेदसंग्रह, राजयक्ष्मारोगाधिकार।

---

१. इस सूची में श्री हालदार महोदय ने बंगाल से सम्बन्धित कविराजों-वैद्यों का ही नाम मुख्यतः दिया है। श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री जी ने गुजरात के वैद्यों की जानकारी अधिकतः दी है। शेष प्रान्तों में भी वैद्य थे, परन्तु उनके सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया।

मृगाङ्क से महामृगाङ्क, राजमृगाङ्क योग बनाये गये हैं। सम्भवतः प्रथम मृगाङ्क ही प्रचलित होगा, पीछे इसमें वृद्धि करके ये दोनों योग बनाये हों। तुलसीदासजी ने भी रावण को राजरोग बताया है। इस रोग की औषधि देवता, सिद्ध, मुनिगण ने बहुत की; परन्तु कुछ लाभ नहीं हुआ। तब रस-वैद्य हनुमानजी ने लंका के सोने और रत्नों को फूंककर मृगाङ्क बनाया—

रावनु सो राजरोगु बाढ़त विराट-उर,
दिनु दिनु बिकल, सकल सुख राँक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर, सिद्ध, मुनि,
होत न बिसोक, औत पावै न मनाक-सो॥
राम की रजाई तें रसाइनी समीर सुनु
उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो।
जातुधान-बुट पुटपाक लंक जातरूप
रतन जतन जारि कियो है मृगाङ्क सो॥

(कवितावली, सुन्दरकाण्ड २५)

(इस सम्बन्ध की सूचना डाक्टर जगन्नाथ शर्मा, रीडर हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने दी है; इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।)

दसवाँ अध्याय

दक्षिण भारत में आयुर्वेद

बसवराजीयम् और कल्याणकारकम्

अशोक की कलिंग और दक्षिण की विजय के पीछे उत्तर भारत का सम्बन्ध दक्षिण के साथ वाकाटक काल में मिलता है। भारशिव साम्राज्य गंगा-काँठे से नागपुर-बस्तर तक फैला हुआ था। भारशिव साम्राज्य की सब शक्ति धीरे-धीरे वाकाटकों के हाथ में चली गयी थी। वाकाटक वंश का आदि पुरुष विन्ध्यशक्ति था, जिसने २४८ से २८४ ई० तक राज्य किया। इसके उत्तराधिकारियों ने अब दक्षिण प्रान्त को जीतना आरम्भ किया। इस प्रकार से शातवाहन और आन्ध्र के इक्ष्वाकु राजवंश का अन्त हुआ। वीरकूर्च्च उर्फ कुमार विष्णु नामक एक सरदार ने, जो नाग सम्राट् का दामाद था, इस समय आन्ध्र देश जीता और तामिल देश पर चढ़ाई कर कांची को भी जीता (लगभग २५५-६५ ई०)। वीरकूर्च्च का वंश पल्लव वंश कहलाया। वाकाटक और पल्लव वंश में घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई पड़ता है।

वीरकूर्च्च के बेटे शिवस्कन्द वर्मा ने कांची पर अपना अधिकार दृढ़ किया (लगभग २८०-२९५ ई०)। इस पर भी तामिल राजाओं ने पल्लवों से अपना मुकाबला जारी रखा। शिवस्कन्द वर्मा के पोते विजयस्कन्द वर्मा को कांची फिर से जीतनी पड़ी (२९७-३३२ ई०)। दक्षिण-पूर्वी कर्णाटक में इस समय काण्व ब्राह्मणों का एक राजवंश पल्लवों के सामन्त रूप में गंग-वंश नाम से स्थापित हुआ।

खास कर्णाटक में मयूर शर्मा नामक व्यक्ति ने पल्लवों और वाकाटकों से स्वतंत्र होकर अपना राज्य स्थापित किया (लगभग ३२५ ई०)। मयूर शर्मा कादम्ब वंश का था, और अपने को चुटु शातवाहनों का अधिकारी मानता था। उसने अपरान्त (कोंकण) तक जीतना चाहा, परन्तु वाकाटकों ने महाराष्ट्र और कोंकण पर अपना अधिकार जमाये रखा और कादम्ब राज्य कर्णाटक या कुन्तल में ही रहा।

इसी समय मगध में भी नयी शक्ति उठ खड़ी हुई थी। २७७ ई० के करीब साकेत प्रदेश में गुप्त नामक एक राजा था। गुप्त का बेटा घटोत्कच हुआ। घटोत्कच का बेटा चन्द्रगुप्त था। चन्द्रगुप्त ने ३१९-२० में राज्य पाया। उसके वंशजों ने तब से गुप्त संवत् का आरम्भ माना। इसका बेटा समुद्रगुप्त ३४० में गद्दी पर आया।

दिग्विजयी समुद्रगुप्त ने सम्राट् प्रवर सेन के मरते ही वाकाटक राज्य पर हमला किया। तीन-चार चढ़ाइयों में वाकाटक राज्य को और एक चढ़ाई में गुजरात-काठियावाड़ को जीतकर इसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। इसके पीछे इसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने दक्षिण पर चढ़ाई की और उसके राजवंश को सदा के लिए मिटा दिया (३९० ई०)।[१] विष्णुपद पहाड़ पर उसकी इन विजयों की याद में एक लोहे का स्तम्भ खड़ा किया गया, जिसे ११वीं शती में राजा अनंगपाल दिल्ली उठवा ले आया था। वहाँ महरौली में उस लोहे की कीली पर उसकी कीर्ति अभी तक खुदी हुई है। इन विजयों के कारण उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की।

वाकाटक-नागवंश के समय जिस प्रकार उत्तर भारत में साहित्य और कला का विस्तार हुआ, उसी प्रकार दक्षिण में भी कला का विकास हुआ। आन्ध्र देश में इक्ष्वाकु राजाओं के समय अमरावती स्तूप को और भी सुन्दर किया गया। नागार्जुनी कोण्डा स्तूप का मूर्ति-चित्रों से अलंकृत जंगला बना। महाराष्ट्र की अजन्ता पहाड़ी में, जिसमें पिछले मौर्यों, शातवाहनों के समय के दो-एक गुहामन्दिर थे, वाकाटक राजाओं के समय वैसे अनेक नये और विशाल मन्दिर काटे गये। अजन्ता गुहाओं की दीवारों पर गुप्त युग में और बाद में चित्र भी लिखे गये, जिनमें से कुछ अब तक मौजूद हैं।

द्रविड़ देश में आयुर्वेद

दक्षिण में शंकराचार्य, सायण, माधव-जैसे विद्वान्, भारवि, राजशेखर-जैसे कवि हुए। उसी प्रकार से आयुर्वेद का सिद्ध सम्प्रदाय वहाँ विकसित हुआ। इस सिद्ध सम्प्रदाय का प्रारम्भ अगस्त्य से माना जाता है। दक्षिण में संस्कृति का विस्तार करनेवाले अगस्त्य ऋषि माने जाते हैं। पौराणिक कथा के अनुसार वे विन्ध्याचल पर्वत की ऊँचाई को रोकने के लिए उससे अपने वापस आने तक न बढ़ने का वचन लेकर दक्षिण में चले गये और तब से वहीं रह गये। वहाँ पर आत्रेय-सुश्रुत के सम्प्रदाय का कोई महत्त्व नहीं।

---

१. कालिदास ने रघुवंश में रघु की दक्षिण विजय का जो वर्णन किया है वह चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही है। इसने वहाँ के राजाओं को जीतकर पुनः उनका राज्य दे दिया था।

> 'दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
> तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥
> ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः।
> ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम्॥' (रघु. ४।४९-५०)

दक्षिण भारत की श्रुत-परम्परा के अनुसार अगस्त्य सम्प्रदाय का प्रथम महादेव ने पार्वती को उपदेश किया। इसके पीछे नन्दीश्वर को पार्वती ने, नन्दीश्वर ने धन्वन्तरि को, धन्वन्तरि ने अगस्त्य को उपदेश किया। अगस्त्य ने चुलस्त्य को, उसने तेरायर को उपदेश किया और उससे अठारह या बाईस सिद्धों को वैद्यक विद्या प्राप्त हुई। इस परम्परा में अगस्त्य का उपदेशक धन्वन्तरि है, जो कि उत्तर भारत की परम्परा से मिलती है। इससे स्पष्ट है कि उत्तर भारत के संस्कार दक्षिण में भी पहुँचे हैं, इनको ले जानेवाला चाहे अगस्त्य हो या काल; जिसने दोनों का मेल कराया।

अठारह या बाईस सिद्धों के पीछे इनके दो भेद हो गये—(१) बड़ सम्प्रदाय और (२) तेन सम्प्रदाय। जिन सिद्धों ने संस्कृत भाषा में ग्रन्थ बनाये अथवा संस्कृत ग्रन्थों का द्रविड़ भाषा में अनुवाद किया, उनको बड़ साम्प्रदायिक का कहते हैं और जिन्होंने द्रविड़ भाषा में ग्रन्थ लिखे हैं, उनको तेन साम्प्रदायिक कहते हैं।

अगस्त्य-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मुख्यतः रसकर्म का उपदेश है। इस रसकर्म में रसार्णव में वर्णित प्रक्रिया से भेद है। फिर भी इसमें रसकर्म का प्राधान्य है। इसका प्रारम्भ सिद्धों से है, इसलिए इसे सिद्ध सम्प्रदाय कहते हैं। रसविद्या के प्रचार के साथ ही वहाँ पर अगस्त्य-सम्प्रदाय का प्रचार हुआ है। दक्षिण भारत का यह सिद्ध सम्प्रदाय उत्तर भारत के रस-सम्प्रदाय से प्रक्रिया तथा अन्य बातों में भिन्न है। इसमें उत्तर भारत से पृथक् नये योग मिलते हैं। 'वसवराजीयम्' ग्रन्थ में, जो कि चिकित्सा का ग्रन्थ है, बहुत-से नये योग दिये हैं। इसको संस्कृत में नागपुर के वैद्य श्री गोवर्धन शर्मा छांगाणी जी ने प्रकाशित किया है। इसमें कुछ पाठ कल्याणकारक से उद्धृत किये गये हैं।

नाड़ीपरीक्षा-विधि वृद्धत्रयी—चरक, सुश्रुत, अष्टांगसंग्रह में नहीं है। पिछले ग्रन्थों में यह कहाँ से आयी इसका उचित उत्तर नहीं मिलता। द्रविड़ भाषा के पुराने गिने जानेवाले ग्रन्थों में नाड़ीज्ञान और मूत्रपरीक्षा-विधि दी हुई है, इसको देखने से यह सम्भावना की जा सकती है कि नाड़ीज्ञान दक्षिण से उत्तर में आया (अधिक सम्भावना यही है कि उत्तर में यह ज्ञान मुसलमानों या यवनों के सम्पर्क से आया)।

द्रविड़ प्रदेश से वैद्यक सिंहल द्वीप तक पहुंचा। आनन्दकन्द नामक ग्रन्थ का कर्ता मन्थानभैरव सिंहल द्वीप की राजसभा का वैद्य कहा जाता है। अनेक रसग्रन्थों को देखकर रसरत्नसमुच्चय की रचना करनेवाले लेखक ने जिस मन्थानभैरव का उल्लेख किया है, सम्भवतः यह वही है। तांत्रिक रसवैद्य दक्षिण में ठेठ सिंहल द्वीप तक फैले हुए थे। नागार्जुन कोंडा और श्रीपर्वत ये दोनों स्थान दक्षिण में ही हैं, इनका सिद्ध

सम्प्रदाय एवं तंत्रसिद्धि से बहुत सम्बन्ध है। सिद्ध सम्प्रदाय का विकास यहीं पर हुआ है। द्रविड़ रसविद्या और उत्तर की रसविद्या के मूलरूप तंत्र लगभग एक ही थे, ऐसी सम्भावना है।

सिंहल द्वीप के वैद्यक-साहित्य में ७-८ ग्रन्थों के नाम पं० डी० गोपालाचार्लु जी ने गिनाये हैं, इनमें भैषज्यमंजूषा पाली भाषा में लिखा हुआ ग्रन्थ है। इसमें अधिक भाग वनस्पतियों का है और थोड़ा भाग रसयोगों का है। सारसंक्षेप सिंहल भाषा में है, सारार्थसंग्रह, भेषजकल्प, योगशतक आदि ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं। योगशतक के ऊपर संस्कृत टीका भी है, इसमें योगों का संग्रह है। सिंहल द्वीप के वैद्य इसी के अनुसार चिकित्सा करते हैं। योगरत्नाकर नामक ग्रन्थ मयूरपाद भिक्षु के नाम से प्रसिद्ध वैद्य ने बनाया है, यह भी योगसंग्रह है।

केरल में आयुर्वेद

केरल यद्यपि द्रविड़ देश नहीं, तथापि दक्षिण भारत का अन्तिम सिरा है, यहाँ पर अष्टांगसंग्रह का बहुत प्रचार है। वास्तव में वृद्धत्रयी के अन्दर अष्टांगहृदय का ही पठन-पाठन चलता है। सामान्य लोगों के लिए तो इसके सिवाय दूसरा वैद्यक ग्रन्थ नहीं, ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं। परन्तु केरल के वैद्यक में कुछ विशेषता है। वहाँ पर स्नेह-स्वेदादि करके वमन-विरेचन आदि पंच कर्म करने की प्रथा है। वहाँ की चिकित्सा में इन कर्मों का विशेष महत्त्व है और इन कार्यों के लिए विशेष साधन बरते जाते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि केरल में कुछ वैद्य गीली और सूखी औषधियाँ बेचने का धंधा करते हैं और केरल में अगदतंत्र का बहुत प्रचार है। कई वैद्यकुटुम्ब पुरातन काल से विषवैद्य का काम करते हैं।

केरल में अष्टवैद्य नाम से प्रसिद्ध आठ वैद्यकुटुम्ब हैं। इनके मूल पुरुष परशुरामजी (अवतार) से अष्टांग आयुर्वेद के एक-एक अंग में पारंगत हुए थे, ऐसी दन्तकथा है। ये नम्बूदरी ब्राह्मण हैं और अच्छी स्थिति के हैं।[1]

यह सम्भावित है कि केरल के वैद्यक साहित्य में अष्टांग संग्रह की इन्दु द्वारा शशिकला टीका बनी हो। पीछे से भदन्त नागार्जुन लिखित रसवैशेषिक सूत्र नाम का ग्रन्थ तथा इसके ऊपर नरसिंह कृत भाष्य केरलदेश में लिखा गया है। इस रसवैशेषिक सूत्र में आरोग्य शास्त्र की मीमांसा है। रसवैशेषिक सूत्र का कर्त्ता भदन्त नागार्जुन

---

१. यह विषय तथा अगला विषय श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री जी के आयुर्वेद साहित्य से लिखा है।

दूसरे नागार्जुन से भिन्न है, यह केरल का बौद्ध संन्यासी था। इसके टीकाकार नरसिंह भी केरल के हैं। टीकाकार का समय श्रीशंकर मेनोन के अनुसार आठवीं शती और सूत्रकार का समय इससे पूर्व पाँचवीं से सातवीं शती के बीच का है। परन्तु इस समय को निश्चित करने में जो तर्क दिये गये हैं, वे सचोट नहीं हैं।

तंत्रयुक्ति-विचार नामक ग्रन्थ नीलमेघ वैद्य का बनाया हुआ है। नीलमेघ वैद्य का दूसरा नाम वैद्यनाथ था। इस ग्रन्थ के मंगलाध्याय में इन्दु और जैज्जट को पढ़ाते हुए वाहट का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि इसके कर्त्ता वाग्भट और जैज्जट के पीछे हुए हैं[1], कब हुए यह कहना कठिन है, परन्तु शंकर मेनोन नीलमेघ वैद्य को शंकराचार्य का समकालीन मानते हैं। फिर भी इसमें उनकी युक्तियाँ हृदयग्राही नहीं हैं। परन्तु अष्टांगहृदय की प्रियता, वाग्भट विषयक दन्तकथा और तन्त्रयुक्तिविचार जैसे ग्रन्थों की रचना केरल में उत्तर भारत के आयुर्वेदिक ग्रन्थों का दक्षिण में प्रचार बताती हैं।

रसोपनिषद नाम का पार्वती-परमेश्वर संवादरूप अठारह अध्यायों का एक ग्रन्थ त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज से प्रकाशित है। इसमें रसविद्या द्वारा धातु निकालने तथा कीमियागिरी की बातें रसहृदय आदि ग्रन्थों से भिन्न प्रकार की नहीं हैं, इसमें रसयोग नहीं हैं। सम्भवतः यह रसमहोदधि-जैसे किसी बड़े ग्रन्थ का एक भाग होगा। केरल के वैद्यवर कालिदास के नाम से वैद्यमनोरमा नाम का एक रसग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है।

इनके सिवाय धाराकल्प (स्वेदकर्मपद्धति के लिए उपयोगी), हरमेखला (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज में प्रकाशित), सहस्रयोग (बेंगलोर से प्रकाशित), आरोग्यकल्पद्रुम, सर्वरोगचिकित्सारत्न, चिकित्सामूल आदि ग्रन्थ केरल में प्रसिद्ध हैं।

कर्णाटक में आयुर्वेद

पूज्यपाद नाम के जैन आचार्य का पूज्यपादीय नामक संस्कृत ग्रन्थ कर्णाटक में प्राचीन गिना जाता है। परन्तु जैन वैद्य उग्रादित्याचार्य स्वयं कहते हैं कि वे राष्ट्रकूट

---

१. इसके सम्बन्ध में निम्न श्लोक प्रसिद्ध है—

'लम्बश्मश्रुकलापमम्बुजनिभच्छायाद्युति वैद्यका-
नन्तेवासिन इन्दुजेज्जटमुखानध्यापयन्तं सदा।
आगुल्फामलकञ्चुकाञ्चितवरालक्ष्योपवीतोज्ज्वलत्
कण्ठस्थामलसारमञ्जितदृशं ध्याये वृद्धं वाग्भटम् ॥'

राजा नृपतुंग के वैद्य थे। इस कारण से नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इनका समय है। परन्तु कर्णाटक में कन्नड़ भाषा में वैद्यक ग्रन्थ लिखनेवाले बहुत-से वैद्य हो गये हैं। इनमें जैन मंगल राज जो १३६० ई० में हुए हैं, उन्होंने विषचिकित्सा सम्बन्धी खगेन्द्र-मणिदर्पण नाम का बड़ा ग्रन्थ कन्नड़ में लिखा है, जिसमें स्थावर विष चिकित्सा का विषय पूज्यपादजी की पुस्तक में से लेने का स्वयं उल्लेख किया है। इसके पीछे ब्राह्मण अभिनवचन्द्र १४०० ईसवी में हुए हैं। इन्होंने चन्द्रराज के ग्रन्थों में से उदाहरण लेकर अश्ववैद्य नामक नवीन ग्रन्थ कन्नड़ भाषा में लिखा है। जैन देवेन्द्र मुनि ने बालग्रह-चिकित्सा नामक ग्रन्थ लिखा है।

रामचन्द्र, चन्द्रराज आदि ने अश्ववैद्यक, कीर्त्तिमान नामक चालुक्य राजा ने गौ-चिकित्सा और वीरभद्र ने पालकप्य के गजायुर्वेद के ऊपर कन्नड़ भाषा में टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त वाग्भटचिन्तामणि आदि ग्रन्थों के कन्नड़ भाषा में पुराने काल से भाषान्तर मिलते हैं।

आन्ध्र देश में आयुर्वेद

आन्ध्र देश के वैद्य चिन्तामणि और वसवराजीयम् नाम के दो संस्कृत ग्रन्थों का मुख्यतः उपयोग करते हैं। चिन्तामणि ग्रन्थ का कर्त्ता वल्लभेन्द्र नियोगी ब्राह्मण कुल का वैद्य था। इस ग्रन्थ में नाड़ी,. मूत्र आदि की परीक्षा के साथ ज्वरादि रोगों की निदानसहित चिकित्सा लिखी है। चिकित्सा में चूर्ण, गुटिका, अवलेह आदि के साथ रसयोग भी हैं।

इसी प्रकार का दूसरा अति प्रचलित ग्रन्थ वसवराजीयम् है। कर्णाटक में लिंगायत मत के मुख्य प्रचारक १२वीं शती के वसव का बनाया यह ग्रन्थ है। परन्तु इस ग्रन्थ में पूज्यपादीयग्रन्थ में से तथा नित्यनाथ के ग्रन्थ में से पाठ लिये गये हैं। रसयोग पुष्कल हैं, अफीम भी बरती गयी है; इस दृष्टि से यह ग्रन्थ १३ वीं शती से पुराना नहीं हो सकता। ज्वरादि रोगों की निदान-चिकित्सा वर्णन करनेवाला यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आन्ध्र देश में प्रसिद्ध कुछ योग भी मिलते हैं। कुछ योग आन्ध्र पद्य में हैं। आन्ध्र में मिलनेवाली कुछ औषधियाँ इसमें हैं।

इस ग्रन्थ में माधवनिदान के नाम से रसयोग दिये गये हैं। यह विचित्रता है। श्री गोवर्धन शर्मा छांगाणी जी का कहना है कि लिपिकरों का प्रमाद है, इसके स्थान पर माधव कल्प चाहिए (भूमिका वसवराजीयम् की)।

दक्षिण भारत के वैद्यक साहित्य का उल्लेख करते हुए पं० डी० गोपालाचार्लु जी ने

आयुर्वेदसूत्र का भी उल्लेख किया है। यह आयुर्वेदसूत्र ग्रन्थ योगानन्द भाष्य सहित मैसूर में १९२२ में छपा है। परन्तु जो सूत्र ग्रन्थ देखने में आता है, उससे प्राचीनता की प्रतीति नहीं होती। शिवतत्त्वरत्नाकर, जगन्नाथ सूरि के पुत्र मंगलगिरी की रस-प्रदीपिका आदि रस ग्रन्थ दक्षिण भारत में बड़ी संख्या में बने हैं।

इन रसग्रन्थों के अतिरिक्त दक्षिण में कुछ संग्रह ग्रन्थ भी बने हैं। उदाहरण के लिए—श्रीनाथ पण्डित की परहितसंहिता है, इसमें शल्य-शालाक्यादि आठ अंगों का वर्णन है। सम्भवतः भावप्रकाश की भाँति होगा (देखा नहीं)। आन्ध्र ब्राह्मण त्रिमल्ल भट्ट की बृहद्योगतरंगिणी, परम शैवाचार्य श्रीकण्ठ की बनायी योगरत्नावली, इसके पीछे भेषजसर्वस्व, धन्वन्तरिविलास, सन्निपातचन्द्रिका, योगशतक, धन्वन्तरिसारनिधि, राजमृगाङ्क, प्रश्नोत्तररत्नमाला, गद्यसंजीवनी, उमामहेश्वर-संवाद आदि ग्रन्थ दक्षिण भारत में बने हैं। इसके पीछे नाड़ीज्ञानविनिर्णय, षड्-विध नाड़ीतंत्र, नाड़ीनक्षत्रमाला, नाड़ीज्ञान आदि नाड़ीपरीक्षा के ग्रन्थ, श्री-कण्ठनिदान जैसे निदान ग्रन्थ तथा अभिधानरत्नमाला, आयुर्वेदमहोदधि, पदार्थ-चन्द्रिका, अभिधानचूड़ामणि, द्रव्यगुणचतुःश्लोकी, अष्टांगहृदय निघण्टु आदि ग्रन्थ-भी दक्षिण भारत में बने है।

स्वर्गीय पं० डा० गोपालाचार्लु के अकेले निबन्ध के आधार पर इस विषय का उल्लेख स्वर्गीय श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री जी ने किया है; उसी के आधार पर यहाँ लिखा है।

वसवराजीयम्

इस ग्रन्थ को संस्कृत में संशोधित करके स्वर्गीय श्री गोवर्धन शर्मा छांगाणी जी ने नागपुर से प्रकाशित किया है। इसकी भूमिका में इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में उन्होंने प्रकाश डाला है। यह ग्रन्थ रुद्र सम्प्रदाय से सम्बन्धित माना जाता है। भारतवर्ष में चिकित्सा के दो सम्प्रदाय थे, एक ब्राह्म सम्प्रदाय और दूसरा रुद्र सम्प्रदाय। ब्राह्म सम्प्रदाय में दक्ष, इन्द्र, धन्वन्तरि, भारद्वाज, काश्यपवाली परम्परा है; रुद्र सम्प्रदाय में पारद का उपदेश रसशास्त्र के रूप में हुआ। इसी शैव सम्प्रदाय में सिद्धों द्वारा रसशास्त्र का विस्तार हुआ। इन सिद्धों में मन्थानभैरव नाम का सिद्ध हुआ ('मन्थानभैरवश्चैव काक-चण्डीश्वरस्तथा'—रसरत्नसमुच्चय)।

('मन्थानभैरवो योगी सिद्धबुद्धश्च कन्थड़ी'—तंत्रान्तर)। इस प्रकार से दो धाराएँ चिकित्सा में चलीं। दक्षिण में रुद्र सम्प्रदाय के स्थान पर अगस्त्य सम्प्रदाय नाम का विस्तार हुआ। इसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध यह ग्रन्थ है।

इसमें पचीस प्रकरण हैं। इनमें नाड़ी परीक्षा, रस-भस्म-चूर्ण, गुटिका, कषाय, अवलेह आदि रूप में ज्वर आदि रोगों का निदान और चिकित्सा विस्तार से कही गयी है। इसके सब प्रयोग शास्त्रसम्मत तथा अनुभव-सिद्ध दीखते हैं। अनेक प्राचीन शास्त्रों की सहायता लेकर यह ग्रन्थ बनाया गया है।

वसवराज का समय—भारत में चालुक्यों का जैसा साम्राज्य था वैसा राष्ट्रकूटों का नहीं था। ५३९ विक्रमी में चालुक्य जयसिंह ने राष्ट्रकूटों से राज्य छीनकर वातापी (बागलकोट के समीप 'बादामी' नामक) नगरी बसायी। इसमें इसके उत्तराधिकारी ग्यारह पुरुषों ने राज्य किया। इनमें अन्तिम राजा कीर्त्तिवर्मा से राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने राज्य ले लिया था। इसने अपनी राजधानी मान्यखेट (हैदराबाद राज्य में 'मालखेड़' नाम का स्थान) बनायी। लगभग दो सौ वर्षों तक राष्ट्रकूटों का साम्राज्य बना रहा। परन्तु १०३० विक्रमी में पारस्कर गृह्यसूत्र के भाष्यकार कर्कराज राष्ट्रकूट को मारकर चालुक्य तैलप द्वितीय ने अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त किया था। इसी के वंशज सोमेश्वर ने अपनी राजधानी कल्याण में (निजाम राज्य में 'कल्याणी' नामक) बनायी। यहीं पर ११३३-११८३ में कश्मीरी कवि बिल्हण ने विक्रमांकदेवचरित और चौरपञ्चाशिका आदि काव्य लिखे थे। यहीं पर याज्ञवल्क्य-स्मृति की मिताक्षरा टीका विज्ञानेश्वर ने लिखी थी। इस टीका के अन्त में विज्ञानेश्वर ने कल्याण नगर और इसके राजा विक्रमादित्य का यशोगान किया है। इसी विक्रमादित्य का पौत्र जगदेकमल्ल था, जिसके सेनापति विज्जल ने अपने स्वामी तैलप तृतीय की सेना में विद्रोह उत्पन्न करके राज्य ले लिया था। विज्जल हैहयवंश (कलचुरी) का प्रतापी राजा हुआ। विज्जल जैन धर्मावलम्बी था। शैव और जैनों में परस्पर बहुत विवाद हुआ। इनमें वसव नाम के किसी ब्राह्मण ने जिन मत की तुलना में वीरशैव (लिंगायत) मत की स्थापना की।

कन्नड़ (कर्णाटकी) भाषा में लिखे वसवपुराण से स्पष्ट है कि विज्जल ने वसव को अपना मंत्री बनाया था। परन्तु जब वसव ने लिङ्गायत प्रचारकों को बहुत धन देना प्रारम्भ किया तब विज्जल ने क्रुद्ध होकर उपदेशकों के सहित इसे कल्याणी से निकाल दिया। इस समय भागते हुए वसव द्वारा भेजे हुए जयदेव लिंगायत ने राज-प्रासाद में घुसकर विज्जल को मार दिया।[1]

---

१. चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भी माना है कि—विज्ज्ल का प्रधान मंत्री वसव था; यह महा विद्वान्, तत्त्वज्ञानी ब्राह्मण था। इसने प्राचीन प्रणाली को तोड़कर

वसवराज का निवासस्थान आन्ध्र था, यह शिवलिंग का उपासक ('लिंगमूर्त्ति-महं भजे'—पृष्ठ २९०, ३९०, ३५०, ३७७) था, इसके गुरु का नाम जंगम था ('श्री जंगमेशपादाब्जभृङ्गम्'—पृष्ठ २२६)। यह वीर शैव मत को मानता था। इसके पिता आराध्य रामदेशिक के शिष्य थे, पिता का नाम नमः शिवाय था। ग्रन्थकर्ता अपने आप काव्य में कुशल, वैद्यशिरोमणि नीलकण्ठ वंश में उत्पन्न, कोट्टूर ग्राम का रहनेवाला था; यह स्वयं इसने ग्रन्थ के अन्त में लिखा है।"[1]

वसवराजीय की समीक्षा—ग्रन्थकर्त्ता ने इसके प्रारम्भ में जो भूमिका दी है, उससे स्पष्ट है कि इसके निर्माण में चरक, माधव कल्प, भैरव कल्प, वाग्भट, सिद्ध-रसार्णव, भेषजकल्प, देवीशास्त्र, ज्योतिष, काशीखण्ड, शरीरसूत्र, कर्मविपाक, रेवण कल्प आदि ग्रन्थ रत्नों को देखकर लोकोपकार के लिए इसे बनाया। ग्रन्थकर्त्ता को अपने पर बहुत अधिक विश्वास था, इसलिए उसने लिखा है—

कृते तु चरकः प्रोक्तस्त्रेतायां तु रसार्णवः।
द्वापरे सिद्धविद्या भूः कलौ वसवकः स्मृतः॥

सतयुग में चरक, त्रेता में रसार्णव, द्वापर में सिद्ध विद्या और कलियुग में वसव वैद्य अथवा इनके बनाये ग्रन्थ समादृत होंगे।

अपनी भगिनी प्रतिलोम विवाह से विज्जल को ब्याही थी। जैनों का कहना है कि इसकी भगिनी बिज्जल की उपपत्नी थी। वसव 'आराध्य' नामक मत का अनुयायी था। वीर शैवों के गुरु आराध्य और जंगम हैं। इनमें आराध्य ब्राह्मण हैं; शेष जंगम पहे जाते हैं। ये सब सिर में शिवलिंग को धारण करते हैं।

१. प्रत्येक प्रकरण के प्रारम्भिक के मंगल में कर्त्ता ने शिव की उपासना की है—

'कन्दर्पनागपञ्चास्यं गजदैत्यविनाशनम्।
महाताण्डवसल्लीनं लिङ्गमूर्तिमहं भजे॥
श्रीनीलकण्ठवंशाब्धिचन्द्रमा बसवाह्वयः।
वक्ष्यामि वृषराजीयमहं वैद्यकितार्थकम्॥' (प्रकरण २१)

अन्त में लिखा है—"इति श्रीनीलकण्ठचरणारविन्द-तीर्थप्रसादपारावारविहार-भोगपारीणनिखिलाभिज्ञभणितसत्सम्प्रदायकाराध्यरामदेशिकशिष्योत्तमनमःशिवायसत्पु-त्रपवित्रकविताचातुरीधुरीणवैद्यजनशिरोभूषणनीलकण्ठकोट्टूरुवसवराजनामधेयप्रणी-तश्रीवसवराजीये (आन्ध्रतात्पर्यसहिते) पंचविंशप्रकरणं समाप्तम्।"

वसवराजीय ग्रन्थ में जहाँ दूसरे आचार्यों के योगों का संग्रह है, वहाँ पर जैन श्री पूज्यपाद के योगों का भी समावेश है, उदाहरण के रूप में—

१. भ्रमणादि वात की चिकित्सा में गन्धक रसायन का पाठ देते हुए लिखा है—

'अशीतिं वातरोगांश्च ह्यर्शांस्यष्टविधानि च।
मनुष्याणां हितार्थाय पूज्यपादेन निर्मितः॥' (पृष्ठ ११०, प्र० ६)

२. कालाग्नि रुद्ररस या अग्नितुण्डी के पाठ में भी पूज्यपाद का नाम आया है—

'अशीतिवातजान् रोगान् गुल्मं च ग्रहणीगदान्।
रसः कालाग्निरुद्रोऽयं पूज्यपादविनिर्मितः॥' (पृष्ठ १०३, प्र० ६)

इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ पूज्यपाद के पीछे बना है। इसमें निदान और चिकित्सा साथ में है। इस चिकित्सा में रसयोग विशेष हैं। इसमें माधवनिदान शब्द कई रूप में आया है; उदाहरण के लिए—कुष्ठनिदान में (आयुर्वेद नाम से) जो वचन दिये हैं, वे माधवनिदान के हैं; इसी के अन्दर फिर (कुष्ठ रोगभेदाः माधवनिदाने) माधवनिदान के श्लोक दिये गये हैं। अजीर्णेषु पथ्यम् में (माधवनिदाने कहकर) जो वचन दिये हैं, वे उपलब्ध माधवनिदान के नहीं हैं।

'शंखद्रावकम्' का [illegible] ग्रन्थकर्त्ता का अपना है। ग्रन्थकर्त्ता ने ग्रन्थ में पाठ देने में सत्यता बरती है; जहाँ [illegible] वहाँ पर ग्रन्थ का नाम दे दिया है।

ग्रन्थ में आन्ध्र भाषा का भी प्रयोग है, यथा—

'मेट्टवास सरितावेटिमीश्चवीप मुंचवल वेक्कुनवियु गुर्गुचिमस्तियु।
चे सिवेमयुचे रिचिपूसनेनि कान्तावकुयोनिकुमौतपनमुकडगु॥' (पृ० ४१)

रोगों के कुछ नाम नये भी हैं, यथा—पुष्पावरोध निदान और इसकी चिकित्सा—

'वातोल्बणाच्च योनिस्थं पुष्पस्थानं बलं भवेत्।
पुष्परोधमित्युक्तं तन्नाम मुनिपुङ्गवैः॥'

यह नाम नष्ट पुष्प के लिए बनाया है। इसमें इस रोग का प्रसिद्ध योग भी दिया है (यथा—'तिलक्वाथे गुडं व्योषं तिलभार्ङ्गीयुतेऽपि वा। पाते रक्तस्रावे गुल्मे नष्टपुष्पे च पाययेत्॥' प्रसिद्ध योग में—तिलक्वाथ में—गुड़, व्योष, हिंगु, भार्ङ्गी और यवक्षार हैं')।

इस प्रकार से यह एक उत्तम संग्रह ग्रन्थ है। दक्षिण देश में इसका वही सम्मान

है, जो कि बंगाल में चक्रदत्त और रसेन्द्रसार संग्रह का है, महाराष्ट्र में योगरत्नाकर का तथा गुजरात में शार्ङ्गधर का।

कल्याणकारक

आयुर्वेद के जैनग्रन्थों में प्रकाशित यही एक ग्रन्थ मेरे देखने में आया है। इस अकेले ग्रन्थ से पता चलता है कि दूसरे भी जैन ग्रन्थ बने थे। जैनियों में दूसरे भी आयुर्वेद के अच्छे ज्ञाता हुए हैं, यथा—

'शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्र-
स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः।
काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनां
वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः॥' (अ. २०।८५)

पूज्यपाद आचार्य ने शालाक्य नामक ग्रन्थ बनाया, पात्रस्वामी ने शल्यतंत्र, सिंहसेन ने विष और ग्रहशान्ति सम्बन्धी, दशरथ गुरु और मेघनाद ने बालरोग चिकित्सा सम्बन्धी और सिंहनाद ने शरीर बलवर्द्धक ग्रन्थ का निर्माण किया।

समन्तभद्र ने अष्टांग नामक ग्रन्थ में जो विस्तार से कहा था, उसी का अनुसरण करके संक्षेप में उदयनादित्य ने इस कल्याणकारक को बनाया है ('अष्टांगमप्यखिल-मत्र समंतभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरमथो विभवैः विशेषात्। संक्षेपतो निगदितं तदिहात्म-शक्त्या कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम्॥')। सम्भवतः समन्तभद्र आचार्य का ग्रन्थ अष्टांगसंग्रह के ढंग का रहा होगा। आज यह साहित्य उपलब्ध नहीं। केवल गिने चुने ग्रन्थ ही प्रकाशित हुए हैं। इनमें प्रसिद्ध ग्रन्थ यही कल्याणकारक है।

कल्याणकारक का प्रकाशन शोलापुर के श्री सेठ गोविंदजी रावजी दोशी ने पं० वधर्मान पार्श्वनाथ शास्त्री से सम्पादन करवाकर किया है। इसकी भूमिका में जैन आयुर्वेद साहित्य तथा लेखक का परिचय दिया है। उसी से पता चलता है कि जैन आयुर्वेद साहित्य में 'पूज्यपाद' नाम के मुनि प्रसिद्ध आयुर्वेद ज्ञाता हुए हैं। इनके कुछ योग वसवराजीय में उद्धृत हैं (पृष्ठ १०३, १११)[१]। पूज्यपाद का उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ कल्याणकारक के अतिरिक्त अन्यत्र भी हैं, यथा—

---

१. वातादि रोग में—त्रिकटुकादि नस्य 'पूज्यपादकृतो योगो नराणां हित-काम्यया'—प्रकरण ६, पृष्ठ १११; ज्वरांकुश में—'पूज्यपादोपदिष्टोऽयं सर्वज्वर-गजांकुशः'—प्र० १, पृष्ठ ३०; चण्डभानुरसः—'नाम्नायं चण्डभानुः सकलगदहरो भाषितः पूज्यपादैः'—प्र० १; शोकमुद्गररस—'शोकमुद्गरनामायं पूज्यपादेन निर्मितः'।

'न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपादः
स्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितवचाः पूर्णदग्बोधवृत्तः ॥'

रसरत्नसमुच्चयकार ने भी "कणेरी पूज्यपादश्च" (कर्णाटक के पूज्यपाद) शब्द से इनका उल्लेख किया है। महर्षि चामुण्ड राय ने पूज्यपाद की प्रशंसा में कहा है—

'सुकविविप्रणुतर व्याकरण कर्त्तृ गल् गगनगमनसामर्थ्यरता।
किं क तिलकरेंवु पोगलवुबु सकलजनं पूज्यपादभट्टारकम् ॥'

इसी प्रकार पार्श्व पण्डित ने पूज्यपाद के लिए लिखा है कि सर्वजन पूज्य श्री पूज्यपाद ने अपने कल्याणकारक वैद्यक ग्रन्थ के द्वारा प्राणियों के देहज दोषों को, शब्दसाधक जैनेन्द्र के व्याकरण से वचन के दोषों को और तत्त्वार्थवृत्ति की रचना से मानसिक दोषों (मिथ्यात्व) को नष्ट किया (कल्याणकारक की प्रस्तावना)। इसकी तुलना पतंजलि के लिए लिखे विज्ञानभिक्षु के वचन से हो जाती है कि, योग से चित्त के मल को, व्याकरण रचना से वाणी के दोषों को और वैद्यक से शरीर के दोषों को जिस पतंजलि ने दूर किया, उसे मेरा नमस्कार है।

पूज्यपाद ने अपने ग्रन्थों में जैन प्रक्रिया का ही अनुसरण किया है। जैन प्रक्रिया कुछ भिन्न है, यथा—"सूतं केसरिगन्धकं मृगनवासारद्रुमम्"—यह रससिन्दूर तैयार करने का पाठ है। इसमें जैन तीर्थङ्करों के भिन्न-भिन्न चिह्न बताये हैं। केसरी—महावीर का चिह्न है; महावीर चौबीसवें तीर्थङ्कर थे; इसलिए केसरि शब्द से २४ संख्या समझनी चाहिए। मृग सोलहवें तीर्थङ्कर का चिह्न है; इसलिए मृग से १६ का अर्थ करना चाहिए। इसमें पारद २४ और गन्धक १६ भाग लेना चाहिए।

पूज्यपाद के योगों का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है, यह मरिचादि प्रक्रियाहै—

'मरिच मरिच मरिचं तिक्ततिक्तं च तिक्तम्।
कणकण कणमूलं कृष्णकृष्णं च कृष्णम् ॥'
'मेघं मेघं च मेघो रजरज रजनी यष्टी यष्टयाह्वयष्टी।
वज्रं वज्रं च वज्रं जल जल जलजं भृङ्गी भृङ्गी च भृङ्गम् ॥
शृङ्गं शृङ्गं च शृङ्गं हरहर हरही वालकं वालुकं वा।
कंटत्कंटत्कंकंटं शिवशिवशिवनीं नंदि नंदी च नन्दी ॥
हैमं हैमं च हैमं वृष वृष वृषभा अग्नि अग्नि च अग्निः।
वान्तिर्वातं च पैत्यं विष हरनिमिषं पूजितं पूज्यपादैः ॥'

इसी से इनका निघण्टु, शब्दकोश भी पृथक् बना। इसमें आचार्य अमृतनन्दि का कोश महत्त्वपूर्ण है। इस कोश में बाईस हजार शब्द हैं, किन्तु सकार पर जाकर अपूर्ण रह गया है। इसमें वनस्पतियों के नाम जैन पारिभाषिक रूप में आये हैं; जैसे—अभव्य—हंसपादी; अहिंसा—वृश्चिकाली; अनन्त—सुवर्ण; ऋषभ—पावठे की लता; ऋषभा—आमलक; मुनिखर्जुरिका—राजखर्जूर; वर्धमाना—मधुर मातुलुंग; वीतरागः—आम्र।

समन्तभद्र—पूज्यपाद के पहले समन्तभद्र प्रत्येक विषय के अद्वितीय विद्वान् हुए हैं। इन्होंने सिद्धान्तरसायनकल्प नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना अठारह हजार श्लोकों में की थी। अब कहीं-कहीं इसके श्लोक मिलते हैं। ग्रन्थ लुप्त हो गया है। इस ग्रन्थ में जैनमत की प्रक्रियाओं का उल्लेख था। यथा—'रत्नत्रयौषध' से वज्रादि रत्न न लेकर जैनशास्त्र में प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र इन तीन रत्नों का ग्रहण किया है। ये तीन रत्न जिस प्रकार से मिथ्यादर्शन, मिथ्या ज्ञान को नष्ट करते हैं; उसी प्रकार से पारस, गन्धक और पाषाण (माणिक्य आदि रत्न) ये तीन रत्न वात, पित्त, कफ तीनों को नष्ट करते हैं। इसलिए रसायन को रत्नत्रय कहते हैं।

समन्तभद्र से पूर्व भी वैद्यक ग्रन्थ बने थे। ये कारवाड जिला होन्नावर तालुका के गेरसप्पा के पास हाड़हिल में रहते थे (कन्नड़में हाड़ शब्द का अर्थ संगीत है, हिल शब्द का अर्थ ग्राम है; जिसे आजकल संगीतपुर कहते हैं)। हाड़हिल में इन्द्रगिरि और चन्द्रगिरि दो पर्वत हैं। वहाँ पर कुछ मुनि तपश्चर्या करते थे। उनकी शिष्य-परम्परा में वैद्यक ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। इसी से समन्तभद्र ने अपने ग्रन्थ में लिखा है—"श्रीमद्भल्लातकाद्रौ वसति जिनमुनिः सूतवादे रसाब्जम्"।

जैन धर्म अहिंसाप्रधान है, इसलिए आयुर्वेद ग्रन्थकारों ने वनस्पतियों को ही औषधों में स्थान दिया है। इन ग्रन्थों में मांस-मद्य का उल्लेख नहीं है। अहिंसा प्रधान होने से एकेन्द्रिय प्राणियों का भी संहार नहीं करना चाहिए। इसी लिए पुष्पायुर्वेद बनाया गया। इसमें अठारह हजार जाति के कुसुमरहित पुष्पों से ही रसायनौषधियों के प्रयोगों को लिखा है। इस पुष्पायुर्वेद की कर्णाटकी लिपि में लिखी प्रति उपलब्ध है।

समन्तभद्र का पीठ गेरसप्पा में था। पूज्यपाद के पीछे कई जैन ग्रन्थकार हुए हैं—गुम्मद देव मुनि, इन्होंने मेरुतन्त्र नामक वैद्यक ग्रन्थ बनाया है। प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में श्री पूज्यपाद स्वामी का बहुत आदरपूर्वक स्मरण किया है। इन्होंने पूज्यपाद के वैद्यामृत ग्रन्थ का उल्लेख किया है—

'सिद्धान्तस्य च वेदिनो जिनमते जैनेन्द्रपाणिन्य च।
कल्पव्याकरणाय ते भगवते देव्यालियाराधिपा ॥
श्री जैनेंद्रवचस्सुधारसवरैः वैद्यामृतो धार्यते।
श्रीपादास्य सदा नमोस्तुगुरवे श्रीपूज्यपादौ मुनेः ॥'

सिद्ध नागार्जुन—ये पूज्यपाद के भानजे कहे जाते हैं। नागार्जुनकल्प, नागार्जुन कक्षपुट आदि ग्रन्थ इन्होंने बनाये हैं। (सिद्ध नागार्जुन जिनका सम्बन्ध रसशास्त्र से है, बौद्ध थे; सम्भवतः उन्हीं के अनुसार जैनों ने इनको भी अपने यहाँ ले लिया है)। वज्रखेचर गुटिका—खेचरगुटिका इनके नाम से कही जाती है (यह गुटिका प्रसिद्ध बौद्ध नागार्जुन के नाम से रसग्रन्थों में प्रसिद्ध है, यथा—'अभ्रे चाष्टगुणे जीर्णे समबीजेन जारिते। षड्गुणे गन्धके जीर्णे गुटिका खेचरी भवेत् ॥'—रसकामधेनु)

कर्णाटक के जैन ग्रन्थकार वैद्य—कन्नड़ भाषा में अनेक विद्वानों ने वैद्यक ग्रन्थों की रचना की है। इनमें कीर्त्तिवर्म का गोवैद्य, मंगलराज का खगेन्द्रमणि दर्पण, अभिनवचन्द्र का हयशास्त्र, देवेन्द्रमुनि का बालग्रह चिकित्सा, अमृतनन्दि का वैद्यकनिघण्टु, जगदेव का महामंत्रवादि, श्रीधरदेव का २४ अधिकारों से युक्त वैद्यामृत, साल्व द्वारा लिखा रसरत्नाकर व वैद्यसांगत्य आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। जगदत्त सोमनाथ ने पूज्यपादाचार्य लिखित कल्याणकारक का कन्नड़ भाषा में अनुवाद किया है। यह ग्रन्थ आज भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें पीठिका प्रकरण, परिभाषा प्रकरण, षोडश ज्वर चिकित्सा निरूपण प्रकरण आदि अष्टांग चिकित्सा है। सोमनाथ कवि ने कल्याणकारक (कन्नड़) में लिखा है—

'सुकरं तानेने पूज्यपाद मुनिमल् मुंपेलद् कल्याणका-
रकमं वाहटसिद्धसार चरकाद्युत्कृष्टमं सद्गुणा—
धिकं वर्जित मद्यमांस मधुवं कर्णाटादि लोकरं
क्षपमा चित्रमदागे चित्रकवि सोमं पेलदनि तलितोषं ॥'

पूज्यपाद ने अपने ग्रन्थ में मद्य, मांस और मधु का बिलकुल प्रयोग नहीं किया था।

उग्रादित्याचार्य—उपलब्ध कल्याणकारक के रचयिता उग्रादित्याचार्य हैं। उग्रादित्याचार्य ने पूज्यपाद, समन्तभद्र, पात्र स्वामी, सिद्धसेन, दशरथ गुरु, मेघनाद और सिंहसेन आचार्यों का उल्लेख किया है। इससे उग्रादित्य इनके पीछे हुए हैं। कल्याणकारक की प्रस्तावना में इनका समय छठी शती से पूर्व माना गया है, जो कि इसलिए उचित नहीं जँचता कि रसयोगों की चिकित्सा का व्यापक प्रचार ११वीं शती के पीछे ही मिलता है; विशेष करके उत्तर भारत के ग्रन्थों में। यदि रसप्रयोग इतने व्यापक

रूप में प्रचलित होते तो वृन्द के सिद्धयोग-संग्रह एवं चक्रदत्त में इनका उल्लेख अवश्य होता। इसलिए ये ग्रन्थ जिनमें रस-योगों की विशेषता है, बारहवीं शती से पूर्व के नहीं। उग्रादित्य ने ग्रन्थ के अन्त में अपने समय के राजा का उल्लेख किया है —

"इत्यशेषविशेषविशिष्टदुष्टपिशिताशि वैद्यशास्त्रेषु मांसनिराकरणार्थमुग्रादित्याचार्येण नृपतुंगवल्लभेन्द्रसभायामुद्घोषितं प्रकरणम्।"

इसके समर्थन में इसके ऊपर का श्लोक है–'ख्यातश्रीनृपतुंगवल्लभमहाराजाधिराजस्थितिः' इत्यादि।

नृपतुंग अमोघवर्ष प्रथम का नाम है। प्रस्तावना-लेखक का कहना है कि अमोघवर्ष की ही वल्लभ और महाराजाधिराज उपाधियाँ थीं। नृपतुंग भी एक उपाधि थी। अमोघवर्ष प्रथम के राज्यारोहण का समय ७३६ शक (८१५ ईसवी) है। वह राजा प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेन का शिष्य था। पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना जिनसेन ने की थी। इसके एक सर्ग के अन्त में इन्होंने लिखा है —

"इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचिते मेघदूतवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णनं नाम चतुर्थसर्गः।"

अमोघवर्ष प्रथम राष्ट्रकूट था, जिसने जैनधर्म का प्रचार किया। इसी अमोघवर्ष के राज्यकाल में राद्धांत-ग्रन्थ की टीका जयधवल के द्वारा हुई थी (८३७ ई०, ७५९ शक)। अन्तिम वय में अमोघवर्ष राज्य छोड़कर वैराग्य धारण करके आत्मकल्याण में प्रवृत्त हुआ। उग्रादित्याचार्य ने जिस वल्लभ का उल्लेख किया है, वह अमोघवर्ष ही होना चाहिए। इससे उग्रादित्याचार्य अमोघवर्ष के समय में हुए थे, जो शक आठवीं एवं नवीं ईसवी शती आता है।

उग्रादित्याचार्य ने अपने गुरु का नाम श्रीनंदि कहा है। इनकी कृपा से उनका उद्धार हुआ था ('श्रीनंदिनंदितगुरुर्गुरुर्लजितोऽहम्'—२५।५१)।

उग्रादित्याचार्य ने अपना कोई भी परिचय नहीं दिया है, केवल इतना पता चलता है कि इनके गुरु का नाम नन्दि था। ग्रन्थ निर्माण का स्थान रामगिरि नामक पर्वत था[1]। रामगिरि-पर्वत वेंगि में था। वेंगि त्रिकलिंग देश में प्रधान स्थान है। कलिंग के तीन भाग हैं; उत्तर कलिंग, मध्य कलिंग और दक्षिण कलिंग। इन तीनों को मिलाकर त्रिकलिंग कहते हैं। इस त्रिकलिंग (वेंगि) के सुन्दर रामगिरि पर्वत

---

१. 'स्थानं रामगिरिर्गिरीन्द्रसदृशः सर्वार्थसिद्धिप्रदं,
श्रीनंदिप्रभवोऽखिलावनिनिधिः शिक्षाप्रदः सर्वदा ॥' २१।

के जिनालय में बैठकर उग्रादित्य ने इसकी रचना की थी। अन्तिम प्रकरण में आचार्य ने मद्य-मांस आदि निन्दित पदार्थों के सेवन का निषेध युक्तिपूर्वक किया है।

उग्रादित्याचार्य का समय नवीं शती ऊपर सिद्ध किया गया है। यह सम्भव हो सकता है; क्योंकि इसमें नाड़ी परीक्षा विधि नहीं है। रसयोग जो हैं, वे भी बहुत थोड़े और मामूली हैं। सम्भव है कि रसशास्त्र का प्रथम विकास रुद्र सम्प्रदाय के अन्दर दक्षिण में प्रथम हुआ हो। नागार्जुन का जितना सम्बन्ध दक्षिण से है, उतना उत्तर से नहीं। उत्तर में बंगाल के पाल राजा अवश्य बौद्ध थे, उन्होंने विक्रमशिला और नालन्दा विद्यापीठों की बहुत सहायता की थी। उस समय सम्भवतः नागार्जुन उत्तर में आये हों, जिससे उनके लिए वृन्द और चक्रदत्त ने लिखा है कि "नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके"—इस वार्त्ता को नागार्जुन ने पाटलिपुत्र के स्तम्भ पर, शिला पर लिख दिया है; जिससे लोग इसे देखें और लाभ उठायें। यह एक प्रकार से उस समय की सामान्य जनों को सूचना थी। रसविद्या का दक्षिण से उत्तर तक पूर्ण प्रवेश होने में दो सौ, तीन सौ वर्ष का समय लग गया होगा। क्योंकि अल्बेरुनी जो कि ११वीं शताब्दी में भारत में आया था, तब रस-विद्या का प्रचार उत्तर भारत में था। इसलिए दक्षिण में इस ग्रन्थ के नवीं शती में बनने की सम्भावना हो सकती है।

कल्याणकारक की समीक्षा—कल्याणकारक जैन ग्रन्थ है। इसलिए इसमें जैन सिद्धान्त की दृष्टि से ही विषयों का उल्लेख किया है। यथा—आत्मा अपने देह-परिमाण का है—

> **'न चाणुमात्रो न कणप्रमाणो नाप्येवमंगुष्ठसमप्रमाणः।**
> **न योजनात्मा नच लोकमात्रो देही सदा देहपरिप्रमाणः॥'** (७।५)

आत्मा का प्रमाण अणुमात्र भी नहीं है, एक कणमात्र भी नहीं, एक अंगुष्ठ समान प्रमाणवाला भी नहीं और न इसका प्रमाण योजन का है, न लोकव्यापी है। आत्मा सदा अपने देह के प्रमाणवाला है।

वैद्य और आयुर्वेद के लक्षण भी अपने शब्दों में कहे हैं। इसमें आयुर्वेद का लक्षण चरकादि-सम्मत है। परन्तु वैद्य शब्द नये रूप में सामने आता है—

"अच्छी तरह उत्पन्न केवल ज्ञानरूपी नेत्र को विद्या कहते हैं। उस विद्या से उत्पन्न उदात्त शास्त्र को 'वैद्य-शास्त्र', ऐसा व्याकरण को जाननेवाले विद्वान् कहते हैं। इस वैद्य-शास्त्र को जो लोग अच्छे प्रकार से मनन करके पढ़ते हैं, उनको भी वैद्य कहते हैं (१।१८)।"

"वैद्यशास्त्र को जाननेवाले इस शास्त्र को आयुर्वेद भी कहते हैं। वेद शब्द विद्

औषध भेद से चिकित्सा कही गयी है। औषध-चिकित्सा में बस्ति-चिकित्सा का उल्लेख है। व्रण-चिकित्सा में पट्टी बाँधने की विधि, नियम भी इसमें वर्णित हैं। पलितनाशक लेप, केश-कृष्णीकरण उपचार बताये गये हैं। रस-रसायन-कल्प अधिकार पीछे है। रस में पारद सम्बन्धी उल्लेख है, परन्तु बहुत संक्षेप में है। इसमें रसशास्त्र में वर्णित पारद के संस्कार आदि कुछ नहीं कहे गये हैं। यह विषय बहुत संक्षिप्त रूप में आया है —

'बीजाभ्रतीक्ष्णवरमाक्षिकधातुसत्त्वसंस्कारमत्र कथयामि यथाक्रमेण।
संक्षेपतः कनककृद् रसबन्धनार्थं योगो प्रधानपरमागमतः प्रगृह्य॥' (२४।१८)

इस प्रकार से आगे स्वर्ण बनाने का उल्लेख विस्तार से किया गया है।

ग्रन्थ के अन्त में मांस न खाने के सम्बन्ध में बहुत सरल तर्क दिये गये हैं। पृषद्-राजा ने गायों का वध किया था; चरक के इस कथन को (चर० चि० अ० १९ अतीसार रोग चिकित्सा, अतिसार रोग की उत्पत्ति में) कवि ने भी कहा है, उसकी मान्यता है कि तभी से पशुवध प्रारम्भ हुआ है—

'अवंतिषु तथोपेन्द्रपृषद्ध्रामा च भूपतिः।
विनयं समतिक्रम्य गोश्चकार वृथा वधम्॥
ततोऽविनयवृर्भूतं एतस्मिन्विहृते तथा।
विवस्वांश्च सुखे दिव्येऽभिर्भूतैस्समवाह्यत॥
उच्चचार ततोऽन्वक्षं सुक्रूरोऽवगमानुषे।
इतः प्रभृति भूतानि हन्यन्तेऽक्षसुखादिति॥'

उज्जयिनी में पृषद्वान् राजा ने विनय को छोड़कर गायों का वध प्रारम्भ किया। (कालिदास के मेघदूत में जिस चर्मण्वती का उल्लेख आता है; उसका इसी से प्रारम्भ कहा जाता है)। हिंसा का प्रचार इसी से प्रारम्भ हुआ। इसके पीछे लोग इन्द्रियों के सुख के लिए हिंसा करने लगे। इसके पीछे शान्ति-कर्म करनेवाले भूत-पिशाच आदि के नाम पर प्राणियों का वध करते हैं। परन्तु समझ में नहीं आता कि हिंसा के कारण उत्पन्न रोगों की हिंसा-जनित मांस से किस प्रकार शान्ति हो सकती है (रक्त से दूषित वस्त्र रक्त से धोने पर साफ नहीं हो सकता)। इसलिए कर्म से उत्पन्न रोगों की शान्ति हिंसा कर्म से किस प्रकार हो सकती है —

'पापजत्वात्त्रिदोषत्वान्मलधातुनिबन्धनात्।
आमयानां समानत्वान्मांसं न प्रतिकारकम्॥'

मांस न खाने के लिए युक्तियाँ बहुत सुन्दर और सरल हैं—

'मांसमत्स्यगुडमाषमोदकैः कुष्ठमावहति सेवितं पयः ।
शाकजांबवसुरासवैश्च तन्मारयत्यबुधमाशु सर्पवत् ।।
मांसादाः श्वापदाः सर्वे वत्सरांतरकामिनः ।
अवृष्यास्तत एव स्युरभक्ष्यपिशिताशिनः ।।'[1]

चरक-संहिता में वर्णित मांसभक्षण के विषय का निराकरण किया गया है। कन्द, मूल, लता आदि का भेद मांस से इस प्रकार बताया गया है :—

'मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम् ।
यद्वन्निम्बो वृक्षः वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ।।'

नीम वृक्ष है, परन्तु वृक्ष नीम नहीं। इसी प्रकार से मांस जीव-शरीर है, जीव-शरीर मांस नहीं। इस प्रकार से गुल्म, लता आदि जो अन्तःचेतनावाली वनस्पतियाँ हैं, वे मांस की कोटि में नहीं आतीं।

ग्रन्थ की भाषा, छन्द रचना सरल और मधुर है, छन्द भी सुन्दर हैं—

'केचिद् विचाररहिताः प्रथितप्रतापाः साक्षात् पिशाचसदृशाः प्रचरन्ति लोके ।
तैः किं यथाप्रकृतमेव मया प्रयोज्यं मात्सर्यमार्यगुणवर्यमिति प्रसिद्धम् ।।' (१।१६)

प्रशस्त औषधि का लक्षण—

'स्वल्पं सुरूपं सुरसं सुगन्धि, मृष्टं सुखं पथ्यतमं पवित्रम् ।
साक्षात्सदा दृष्टफलं प्रशस्तं, संप्रस्तुतार्थं परिसंगृहीतम् ।।'

कल्याणकारक एक प्रकार से अष्टांगसंग्रह है, जो अपने नये क्रम में लिखा गया है। आयुर्वेद के सिद्धान्त अपने जैन धर्म के अनुसार वर्णित हैं। इसमें कवि ने स्वयं कहा है—

'प्रोद्यज्जिनप्रवचनामृतसागरान्तः, प्रोक्ततरंगनिकुराल्पसुशीकरं वा ।
वक्ष्यामहे सकललोकहितैकधाम कल्याणकारकमिति प्रथितार्थमुक्तम् ।।
नैवात्मवाक्पटुतया न च काव्यदर्पान्नैवान्यशास्त्रमदभंजनहेतुना वा ।
किन्तु स्वकीयतप इत्यवधार्य वर्यमाचार्यमार्गमधिगम्य विधास्यते तत् ।।'

1. मांस न खाने की यह युक्ति यान्य-भैंस में लागू होती है, वे भी वर्ष में एक बार ही गर्भ धारण करती हैं। वस्तुतः पशुओं का नियंत्रण प्रकृति करती है।

भाग १

रसशास्त्र-निघण्टु

ग्यारहवाँ अध्याय

रसविद्या-रसशास्त्र

आयुवद में दो परम्पराओं का सामान्यतः उल्लेख है। वेद की परम्परा में रुद्र को प्रथम वैद्य कहा है—'प्रथमो दैव्यो भिषक्' (यजु १६।५); 'भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि' (ऋ. २।७।१६)। आयुर्वेद ग्रन्थों की परम्परा में ब्रह्मा आयुर्वेद का प्रथम उपदेष्टा है (चरक, सू०, अ० ४; सुश्रुत, सू० अ० १; संग्रह, सू० अ० १।६)। रसशास्त्र में शिव को उपदेष्टा कहा गया है। वेदों का सम्बन्ध भी ब्रह्मा से ही है, इसलिए मन्त्रों का सम्बन्ध ब्रह्मा से माना गया। रुद्र-शिव की जो कल्पना पुराणों में है, वह असुचित्वपूर्ण है (कुमारसंभव ५।६७–६९)। इसलिए अपवित्रता से सिद्ध होनेवाले तन्त्रों का सम्बन्ध शिव के साथ जोड़ा गया।

जहाँ तक सिद्धि-सफलता का प्रश्न है, वह मन्त्र और तंत्र से मिलती है। चरक में ऐश्वर्य आठ प्रकार का वर्णित है; 'आवेश—परशरीर-प्रवेश, परचित्त-ज्ञान, विषयों को इच्छानुसार प्रस्तुत करना, अतीन्द्रिय दर्शन, अतीन्द्रिय श्रवण, सब वस्तुओं का स्मरण, अमानुषी कान्ति, इच्छा होने पर अदृश्य होना—यह आठ प्रकार का ऐश्वर्य योगियों का है' (शा० अ० १।१४०–१४१)। योगशास्त्र में सिद्धि प्राप्त करने के साधनों में तप, ज्ञान, समाधि के साथ औषधि को भी कारण माना है (योगदर्शन–४।१)।

इनमें औषधि भी सिद्धि-सम्पत् देती है। इसी सम्पत् का सम्बन्ध तंत्र से है, शेष वस्तुओं से प्राप्त सम्पत् का सम्बन्ध मंत्र से है। गीता में सम्पत् दो प्रकार की कही गयी है; एक दैवी सम्पत् और दूसरी आसुरी सम्पत्। इनमें दैवी सम्पत् संसार के बन्धन से मुक्त कराने के लिए है, और आसुरी सम्पत् इसमें जकड़ने के लिए है (गीता १६।५)। लोक में दैव और आसुर दो स्वभाव हैं, इसलिए सिद्धि या सम्पत् भी दो प्रकार की है। यह सम्पत् दोनों प्रकार के मनुष्य प्राप्त करते हैं। इसलिए हिमालय पर तप करके ऋषियों ने जो सिद्धि या सम्पत् प्राप्त की थी—उसी प्रकार की सिद्धियाँ श्मशान में मुर्दे के ऊपर बैठकर तप करके भी प्राप्त करनेवाले

हुए हैं। इसलिए जहाँ तक सम्पत् या ऐश्वर्य का प्रश्न है, वहाँ तक दोनों ने सिद्धियाँ प्राप्त की हैं; भले ही उनके फल में भेद हो।

सिद्धि प्राप्त करने का भी रास्ता भिन्न है; मन्त्र सिद्ध करने के लिए स्त्री-मांस-मधु (मद्य) से पृथक् रहना चाहिए, मित-थोड़ा आहार करना चाहिए, मन-वचन-कर्म से पवित्र रहना आवश्यक है, कुश के बिस्तर पर सोना, देवता की उपासना सुगन्ध-माला-उपहार-बलि से करनी चाहिए, इसके लिए जप और होम करना चाहिए (सुश्रुत, क० अ० ५।११–१२)। तंत्र की प्रक्रिया इसके विपरीत है। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में 'सोमसिद्धान्त' नामक कापालिक का वर्णन है, वह मनुष्य की अस्थियों की माला धारण किये, श्मशान में वास करता था और नरकपाल में भोजन करता था। योगांजन से शुद्ध दृष्टि द्वारा वह कापालिक जगत् को परस्पर भिन्न देखते हुए भी ईश्वर (शिव) से अभिन्न देखा करता था।[1] इस नाटक की चन्द्रिका नामक व्याख्या में सोम-सिद्धान्त का अर्थ समझाया गया है। सोम का अर्थ है—उमा सहित (शिव)। जो व्यक्ति विश्वास करता है कि शिव जिस प्रकार नित्य उमा सहित कैलास में विहार करते हैं, उसी प्रकार कान्ता के साथ नित्य विहार करना ही मुक्ति है—वही सोम-सिद्धान्ती है ('सह उमयेति सोमः'—चक्रपाणि)।

इसी प्रकार राजशेखर विरचित कर्पूरमंजरी में भैरवानन्द नामक कापालिक की चर्चा है। ये अपने को कुल मार्ग-लग्न या कौल कहते थे। कर्पूरमंजरी के कापालिक ने बताया है कि कुलमार्ग के साधकों को न मंत्र की जरूरत है, न तंत्र की, न ज्ञान की और न ध्यान की। उसे गुरुप्रसाद की भी जरूरत नहीं। वे लोग मद्य आदि के सेवन से सहज ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।[2] (१, २२–२४)

---

१. नरास्थिमालाकृतचारुभूषणः श्मशानवासी नृकपालभूषणः।
पश्यामि योगाञ्जनशुद्धचक्षुषा जगन्मिथो भिन्नमभिन्नमीश्वरात्॥
(प्रबोधचन्द्रोदय, ३।१२)

आयुर्वेद में योगांजन—"कासीससामुद्ररसांजनानि जात्यास्तथा कोरकमेव चापि।
प्रक्लिन्नवर्त्मन्युपदिश्यते तु योगाञ्जनं तं मधुनाऽवघृष्टम्॥
(सुश्रुत, उत्तर० आ० ११।१५

२. मन्ताण तन्ताण ण किंपि जाणं झाणं च णो किं पि गुरुप्पसादा।
मज्जं पिआमो महिलं रमामो मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा॥
रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मांसं पिज्जरा खज्जरा।

इस प्रकार से तंत्र सिद्ध करनेवालों का रास्ता मंत्रद्रष्टा ऋषियों से भिन्न था। मंत्र का संबंध ब्रह्मा से है, तंत्र का सम्बन्ध-शिव से है। शाक्त मत के अनुसार चार प्रधान आचार हैं—वैदिक, वैष्णव, शैव और शाक्त। शाक्त आचार भी चार प्रकार के हैं—वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इनमें कौलाचार सबसे श्रेष्ठ है।

शाक्त आगम तीन प्रकार के हैं; सात्त्विक अधिकारियों के लिए कहे गये आगम तंत्र हैं, राजस अधिकारियों के लिए बने आगम यामल और तामस अधिकारियों के लिए बने आगम डामर हैं। (नाथसम्प्रदाय)

चरक में तन्त्र शब्द आयुर्वेद-विद्या-शाखा-सूत्र शब्दों के पर्याय रूप में आता है (सू० अ० ३०।३१); तंत्र शब्द शरीर धारण अर्थ में भी आता है ('निरुक्तं तंत्रणात् तंत्रम्'—सू० अ० ३०।७०)। यह नियमन या नियंत्रण अर्थ में भी आता है ('प्राणैस्तंत्रयते प्राणी न ह्यन्योऽस्य तंत्रकः' शा० अ० १।७७)। कापालिक भी अपने शरीर को नियमित नियंत्रित करते थे, इससे वे भी योगी, सिद्ध कहे जाते थे। यही सिद्धि है। यह जिनको प्राप्त हुई वे सिद्ध कहे गये[1]।

भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सज्जा कोलोधम्मो कस्सणो भोदि रम्मो ॥
मुत्तिं भणन्ति हरिब्रह्ममुहादि देवा झाणेण वेअपठणेण कदुक्किआए।
एक्केण केवल मुमादइएण दिट्ठो मोक्खो समं सुर अकेलि सुरारसेहिं ॥
(कर्पूरमंजरी. १।२२-२४)

१. मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतीर्जुह्वतां
वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा।
सद्यः कृत्तकठोरकंठविगलत्कीलालधारोज्ज्वलै—
रर्च्यो नः पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महाभैरवः ॥ (प्रबोधचन्द्रोदय)

मालतीमाधव में—"इदं च पुराण निम्बतैलाक्तपरिमृज्यमानरसोनकरसमन्धिभिश्चिताधूमैरधस्तात् विभावितस्य श्मशानवटस्य नेदीयः करालायतनम्। यत्र पर्यवसितमंत्रसाधनस्यास्मद्गुरोरघोरघण्टस्याज्ञया सविशेषमद्य मया पूजासम्भारः संनिधापनीयः। कथितं हि मे गुरुणा—वत्से कपालकुण्डले! भगवत्या करालया यन्मया प्रागुपयाचितं स्त्रीरत्नमुपहर्तव्यं, तदत्रैव नगरे विहितमास्ते।"—पांचवां अंक

माधव नरमांस का विक्रेता था। अघोरघंट और कापालिक शिव की ही पूजा करते मिलते हैं; यथा कापालिकी—"वन्दे नन्दितनीलकण्ठपरिषद्व्यक्तस्तव-

सिद्धसम्प्रदाय या नाथसम्प्रदाय

डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाथसम्प्रदाय' नाम से एक पुस्तक लिखी है। उसमें सिद्धों के विषय में विस्तार से उल्लेख किया गया है। जो सिद्ध हुए हैं वे नाथ सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे, वे इसी परम्परा में हुए हैं। रसशास्त्र का आद्य कर्ता जिस नागार्जुन को कहा जाता है, वह भी इन्हीं चौरासी सिद्धों में से एक था। इसलिए उसी के आधार पर सिद्धों की जानकारी दी गयी है। इससे रसशास्त्र का विकास तथा समय बहुत स्पष्ट हो जाता है। विशेषतः जब इसके साथ में अल्वेरूनी का कथन भी मिल जाता है। अल्वेरूनी ११वीं शताब्दी में भारत आया था; और यही समय सिद्धों का है, जैसा हम देखेंगे।

'हठयोगप्रदीपिका' की टीका में ब्रह्मानन्द ने लिखा है कि सब नाथों में प्रथम आदिनाथ हैं जो स्वयं शिव स्वरूप ही हैं। यही नाथसम्प्रदायवालों का विश्वास है। इससे अनुमान होता है कि ब्रह्मानन्द नाथसम्प्रदाय को जानते थे। इस सम्प्रदाय के लिए सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योगमार्ग, योगसम्प्रदाय, अवधूतमत और अवधूतसम्प्रदाय नाम भी आते हैं। इनके मत का अति प्रामाणिक ग्रन्थ 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' है, जिसे संक्षिप्त करके अठारहवीं शताब्दी में बलभद्र पण्डित ने 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' बनाया। इससे पता चलता है कि अति प्राचीन काल से इसे 'सिद्धमत' कहा जा रहा है। गोस्वामी तुलसीदास भी इस मत को सिद्धमत कहते थे। सिद्धमार्ग ही नाथमत है[1]।

आदिनाथ स्वयं शिव हैं और मूलतः समग्र नाथसम्प्रदाय शैव है। कापालिक मत भी नाथसम्प्रदाय से उत्पन्न हुआ है। क्योंकि शावर तंत्र में कापालिकों के बारह आचार्यों में प्रथम नाम आदिनाथ कहा गया है और बारह शिष्यों में कई नाथ-मार्ग के प्रधान आचार्य माने गये हैं। शाक्त मार्ग जो तंत्रानुसारी है, उसके उपदेष्टा

क्रीडितम् ॥" अघोरघंट—"चामुण्डे भगवति मंत्रसाधनवां बुद्धिष्ठामुपनिहितां भजस्व पूजाम् ॥"

पंचतंत्र में भी भैरवानन्द को विवर प्रवेश, शाकिनी साधन, श्मशान सेवन, महामांस विक्रय और साधक-वर्त्तिवाला बताया है (अपरीक्षित कारक)।

१. वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया
भाट्टाः कर्मफलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः।
अन्ये भेदरता विषादविकलास्ते तत्त्वतो वंचिता—
स्तस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत् ॥

भी नाथ ही हैं। नाथसम्प्रदाय की साक्षियों से स्पष्ट है कि तान्त्रिकों का कौलमार्ग और कापालिक मत नाथ-मतानुयायी हैं। भवभूति के मालतीमाधव में कापालिकों का जो वर्णन है, वह बहुत भयंकर है। वे लोग मनुष्य को बलि दिया करते थे। परन्तु इतना इस नाटक से स्पष्ट है कि उनका मत षट्चक्र और नाड़िकानिचय के काययोग से सम्बद्ध था (५-२)। यह काय-योग नाथपन्थियों की विशेषता है। चौरासी बौद्ध सिद्धों में एक सिद्ध कान्हूपाद या कृष्णपाद हुए हैं, इन्होंने अपने को कापालि या कापालिक कहा है। ये प्रसिद्ध सिद्ध जालंधर के शिष्य थे। जालंधर नाथ औघड़ थे; जब कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ कनफटा। जो लोग कानों को छिदवाकर कर्णकुण्डल पहनते हैं, उन्हें कनफटा कहते हैं। औघड़ों में बहुत से कान नहीं छिदवाते, इनका वेश भी विचित्र होता है।[1]

सम्प्रदाय के पुराने सिद्ध—हठयोगप्रदीपिका में नाथपंथ के सिद्ध योगियों के नाम दिये हैं। उनमें मंथानभैरव, काकचण्डीश्वर, भैरव, गोरखनाथ नाम भी। महार्णव-तन्त्र में दिये नौ नाथों में नागार्जुन का नाम है। वर्णरत्नाकर पुस्तक के कर्त्ता कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर हैं, जो मिथिला के राजा हरिसिंह देव (१३००-१३२१ ईसवी) के सभासद थे; इसमें चौरासी सिद्धों के नाम दिये हैं। वास्तव में नाम ७६ ही हैं, आठ नाम छूट गये हैं। परन्तु श्री राहुल सांकृत्यायन ने जो सूची दी है, उसमें चौरासी नाम हैं। दोनों सूचियों में अनेक सिद्ध उभय-साधारण हैं। राहुलजी की सूची वज्रयानियों (सहजयानी सिद्धों) की है। इनके नाम के पीछे 'पा' आता है।

समय—नाथ-सम्प्रदाय में गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ सम्बन्धी बहुत-सी कहानियाँ प्रचलित हैं। उन सबका निष्कर्ष निकालते हुए श्री द्विवेदीजी ने लिखा है—

---

१. **जोगी का वेश**—"तजा राज राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहें बियोगी ॥१॥
तन बिस भर मन बाऊर रहा। अरुझा पेम परी सिर जटा ॥२॥
चंद बदन औ चंदन देहा। भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा ॥३॥
मेखल सिंगी चक्र धंधारी। जोगौटा रुद्राख अधारी ॥४॥
कंथा पहिरि डंड कर गहा। सिद्धि होई गोरख कहा ॥५॥
मुंद्रा स्रवन कंठ जप माला। कर उदपान काँध बघछाला ॥६॥
पाँवरि पाँव लीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेष कैराता ॥७॥
(पद्मावत १२।१२६)

(१) मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के गुरु थे और जालन्धरनाथ कानुपा के गुरु थे। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा लिखित 'कौलज्ञाननिर्णय' के अनुसार इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व है। (२) अभिनवगुप्त आचार्य ने अपने तंत्रालोक में मच्छन्द विभु को नमस्कार किया है; ये मच्छन्द विभु मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं। अभिनवगुप्त का समय निश्चित है। इन्होंने सन् ९११ में ब्रह्मस्तोत्र की रचना तथा १०१५ में प्रत्यभिज्ञान की बृहती वृत्ति लिखी थी। इस प्रकार से अभिनवगुप्त दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में हुए थे।

(३) महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की सूची में मीनपा—जिनको मत्स्येन्द्रनाथ का पिता कहा गया है, वास्तव में मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्न हैं, तथा राजा देवपाल के राज्यकाल में (८०९ से ८४९ ई० तक) हुए हैं। इससे इनका समय नवीं शताब्दी निश्चित होता है।

इन प्रमाणों तथा अन्य 'प्रबन्धचिन्तामणि' आदि कथाओं के आधार पर मत्स्येन्द्रनाथ का समय नवीं शताब्दी के बीच का सिद्ध होता है।

अल्बेरूनी ११ वीं शताब्दी में भारत आया था, उसने अपने लेख में सिद्धों की कीमियागिरी का उल्लेख किया है[1]। इसने नागार्जुन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वह मुझसे एक सौ वर्ष पूर्व हुआ है। व्याडि का भी उल्लेख किया है। उसका कहना है—

"हिन्दू अलकैमी—कीमियागिरी पर पूरा ध्यान नहीं देते, परन्तु कोई भी जाति पूर्णतः इससे बची नहीं है। (इब्नबतूता ने भारतीय योगियों के वर्णन में लिखा है कि चमत्कार की शक्ति प्राप्त करने के लिए बहुत से मुसलमान इनके पीछे लगे फिरते हैं—नाथसम्प्रदाय, पृष्ठ १९।) किसी-किसी जाति का इसके प्रति अधिक झुकाव है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जिसका झुकाव इधर है, वह बुद्धिमान् है और जिसका झुकाव नहीं, वह मूर्ख है। क्योंकि हम देखते हैं कि बहुत-से बुद्धिमान् मनुष्य इस कीमियागिरी की ओर आँख भी नहीं उठाते। दूसरे मूर्ख व्यक्ति इसके पीछे पागल हुए घूमते हैं। जो बुद्धिमान् व्यक्ति इस पर काम कर रहे हैं, और विश्वास रखते हैं, उनको किसी प्रकार का दोष नहीं दिया जा सकता। वे केवल अपनी उत्सुकतावश भाग्य को सुधारने तथा दुर्भाग्य को दूर करने में लगे हुए हैं। एक दार्शनिक से पूछा गया कि विद्वान्

---

१. 'अल्बेरूनी ने रसविद्या और रसायन विद्या में अन्तर माना है और रसविद्या को इन्द्रजाल से भिन्न बताया है। उसने विक्रमादित्य और व्याडि की; राजा वल्लभ और रंक फलविक्रेता; धारानगरी के राजमहल में चाँदी के टुकड़े की कहानी देकर सोना-चाँदी बनाने का उल्लेख किया है। (अल्बेरूनी का भारत, भाग २. पृष्ठ ११०)

किस लिए धनियों के द्वार पर जाते हैं; जब कि धनी विद्वानों के द्वार की ओर झाँकते भी नहीं। तब उसने कहा कि विद्वान् जानते हैं कि धन का उपयोग किस प्रकार से करना चाहिए, परन्तु धनी यह नहीं जानते कि विद्या का उपयोग कैसे होता है।

ये लोग इस विद्या को छिपाकर रखते हैं और जो इन पर विश्वास या श्रद्धा नहीं रखता उसको नहीं सिखाते। (पूछने पर शिव ने बताया कि यह गुप्त रहस्य सबके सुनने योग्य नहीं है; चलो हम क्षीरसागर में रंग (=डोंगी) पर बैठकर इस ज्ञान के विषय में वार्तालाप करें—'नाथसम्प्रदाय', पृष्ठ ४५। 'रसार्णव' में शिव ने पार्वती को रस-विद्या समझायी थी; यह ज्ञान गुप्त रखा जाता था।) इसलिए मैं इस विद्या को हिन्दुओं से नहीं सीख सका। मुझे पता नहीं कि वे इसमें खनिज, प्राणिज या वानस्पतिक कौन द्रव्य काम में लाते हैं। मैंने उनको केवल प्रक्रिया के सम्बन्ध में ऊर्ध्वपातन (Sublimation), निक्षेपीकरण (Calcination), विश्लेषण (analysis), वसा-स्नेह का पतला करना (waxing of tole) कहते सुना है। इसको वे अपनी भाषा में 'तालक' कहते थे। इसलिए मैं समझता हूँ कि कीमियागरी की कोई खनिज प्रक्रिया होगी।

कीमियागरी से मिलती-जुलती इनकी कोई विशेष प्रकार की विद्या है, इसको ये 'रसायन' कहते हैं।[1] रस शब्द का अर्थ स्वर्ण है, (पारद से सोना बनता था—

---

१. पद्मावत में बहुत स्थानों पर रसायन विद्या का उल्लेख है, इसमें से कुछ वचन नीचे उद्धृत किये गये हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के संजीवन भाष्य में देखनी चाहिए।

१—धातु कमाई सिखं ते जोगी। अब कस अस निरधातु बियोगी ॥४॥
कहाँ सो खोए बीरौ लोना। जेहि तें होई रूप औ सोना ॥५॥
कस हरतार पार नहीं पावा। गंधक कहाँ कुरकुटा खावा ॥६॥ २७।२९३

२—पार न पाव जो गन्धक पिया। सो हरतार कहौ किमि जिया ॥४॥
सिद्धि गोटिका जा पहँ नाहीं। कौन धातु पूछहु तेहि पाहीं ॥५॥
अब तेहि बाजु राँग भा डोलौं। होइ सार तब बर कै बोलौं ॥६॥ २७।२९४

३—नवौ नाथ चलि आवहिं, और चौरासी सिद्ध।
आजु, महारन भा रथ, चले गगन गरुड़ औ गिद्ध ॥ २५।८।२६४

इसमें नौ नाथ और ८४ सिद्धों का उल्लेख है। शरीर का आयाम-व्याम भी ८४ अंगुल है ('केवलं पुनः शरीरमंगुलिपर्वाणि चतुरशीतिः। तदायामविस्तारसमं समुच्यते।' चरक. वि. अ. ८।११७)। आसन भी ८४ हैं; योनियाँ भी ८४ हैं।

इससे शायद अल्बेरूनी ने रस का अर्थ सोना समझा हो—लेखक।) इसका अर्थ यह है कि इसमें कुछ औषधियों का उपयोग विशेष रूप से होता है, ये औषधियाँ वृक्ष—वनस्पतियों से प्राप्त की जाती हैं। इस विद्या का उद्देश्य था—निराश रोगियों को स्वस्थ करना, वृद्धों को युवा करना, जिससे उनके बाल काले हो जायँ, उनमें पौरुष, यौवन पूर्व की भाँति आ जाय (यज्जराव्याधिविध्वंसि तद्रसायनमुच्यते)। मैंने पहले भी पतञ्जलि का वचन उद्धृत किया है कि इसके लिए रसायन ही एक मात्र उपाय है। इसको सत्य समझना चाहिए, यह मूर्खों की बात नहीं है। जो आदमी मुख में रखे भोजन को नहीं निगलता, उसी की भाँति वह मूर्ख है, जो इस विद्या का उपयोग अपनी भलाई के लिए नहीं करता। सोना बनाने के लिये मूर्ख हिन्दू राजाओं के लोभ की कोई सीमा नहीं यदि उनमें से किसी एक को सोना बनाने की इच्छा हो और उसे यह परामर्श दिया जाये कि इसके लिये कुछ छोटे-छोटे सुन्दर बालकों का वध करना आवश्यक है, तो वह राक्षस यह पाप करने से भी नहीं रुकेगा; वह उन्हें जलती आग में फेंक देगा। क्या ही अच्छा हो यदि इस बहुमूल्य रसायन विद्या-किमियागिरी को पृथ्वी की सबसे अन्तिम सीमाओं में निर्वासित कर दिया जाय, जहाँ कि इसे कोई प्राप्त न कर सकें।" (अल्बेरूनी का भारत, भाग २. पृष्ठ. ११६)

सोना बनाने के लिए सहस्रवेधी रस का जिकर (तीसरे उपाख्यान में) हरिभद्र सूरि ने अपने धूर्तोपाख्यान (भारतीभवन-बम्बई से प्रकाशित) में किया है। ये आठवीं शताब्दी में हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि इनसे पूर्व सातवीं शती में सोना पारे से बनने लगा था।

ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व नवीं और दसवीं शताब्दी के बने सिद्धयोग और चक्रदत्त में रसविद्या का और तत्सम्बन्धी मंत्र-तंत्र का उल्लेख मिलता है (वृन्द, रसायनाधिकार)। चक्रदत्त में स्वर्ण आदि धातुओं का शोधन-मारण लिखा है, परन्तु सामान्यतः लोह का उपयोग उसके पतले पतरे बनाकर, आग में तपाकर, काँजी या अन्य द्रव में बार-बार बुझाकर, कूटकर, वस्त्र में छानकर सूक्ष्म चूर्ण करके प्रयोग करने का उल्लेख है।

सोलहवीं सदी की पद्मावत में जायसी ने सिद्ध योगी के द्वारा सोना बनाने तथा अन्य रसायन क्रियाओं का उल्लेख बहुत स्पष्ट किया है। इसने सोना साफ़ करने की 'सलोनी' क्रिया का भी उल्लेख किया है—

चंपावती जो रूप उतिमाहाँ। पदुमावति कि जोति मन छाँहाँ ॥१॥

मैं चाहे असि कथा सलोनी। मेंटि न जाइ लिखी जस होनी ॥२॥ (३।५०.)

सलोनी—सोने से चाँदी की मिलावट साफ करने के लिए सोने को पीटकर पत्तर बना लेते हैं। इन पत्तरों पर कंडे की राख, ईंटों की बुकनी, साँभर नमक और कड़ुए

तेल की सलोनी (इसी मसाले का नाम सलोनी है) में डुबोकर कंडों की आँच में कई बार तपाते हैं, जिससे वह सलोनी चाँदी को खा लेती है और सोना शुद्ध हो जाता है। इसी को सोने की सलोनी करना कहते हैं। महाभारत में भी कहा है—

सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम्॥ उद्योग. ३९।६५.

जायसी से लगभग २०० वर्ष पूर्व लिखी हुई ठक्कुर फेरु कृत 'द्रव्यपरीक्षा' में सलोनी द्वारा सोना-चाँदी शुद्ध करने की विधि लिखी है—(संजीवन भाष्य-पद्मावत, पृष्ठ ५१)[1]

इससे स्पष्ट है कि रसविद्या—कीमियागरी का रूप सिद्धों से नवीं शताब्दी में प्रचलित हुआ और सोलहवीं शताब्दी तक पूर्ण उन्नत हो गया था।

सर्वदर्शनसंग्रह में रसेश्वरदर्शन संमिलित हुआ है। इसमें पारद और अभ्रक के संयोग से शरीर को सिद्ध करने का उल्लेख है। यह सिद्धि पारे के द्वारा ही मिल जाती है। पारे का सम्बन्ध शिव के साथ और अभ्रक का सम्बन्ध पार्वती के साथ बताया है। इन दोनों के संयोग से सृष्टिजन्म-सिद्धि मिलती है। यह सिद्धि इसी जन्म में प्राप्त करनी चाहिए। मरने के पीछे सिद्धि प्राप्त करने (मोक्ष प्राप्ति) का कोई अर्थ नहीं। इसलिए इस शरीर को दिव्य तनु बनाना चाहिए, जो कि बहुत वर्षों तक स्थिर रह सके। यह सफलता पारद से मिलती है, क्योंकि वह संसार के दुःखों से पार पहुँचाता है ('संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः')। महादेव के शरीर का रस होने से इसे रस कहा गया है। अकेला पारद ही सिद्ध होकर शरीर को अजर-अमर कर देता है। पारे की सिद्धि की परीक्षा धातुसिद्धि से होती थी—जब यह एक धातु को (हलकी सस्ती धातु ताम्र आदि को) दूसरी उच्च महँगी-सोना-चाँदी में बदल सकता था, तब इसको सिद्ध समझा जाता था। इसके पीछे इसका देहसिद्धि के लिए उपयोग होता था। अभ्रक और पारद के संयोग से मृत्यु और दारिद्रय दोनों नष्ट होते हैं, अर्थात् इस क्रिया से लोह-सिद्धि और देह सिद्धि दोनों मिलती हैं।[2] यह सिद्धियाँ जिनको प्राप्त थीं, वे ही सिद्ध

१—इन योगियों का योग से भी सम्बन्ध था—उसे भी पद्मावत में कहा है, इसमें चौपड़ खेल के रूप में योग का उल्लेख है—

बोलौं बचन नारि [illegible] सांचा। पुरुख क बोल सपत औ बाचा॥१॥
यह मन तोहि अस लावा भारी। दिन तोहि पास और निसि सारी॥२॥
पौ परि बारह बार मनावौं। सिर सौं खेलि पैंत जिऊ लावौं॥३॥ २७।३१३.

२. पारदो गदितो यस्मात्परार्थं साधकोत्तमैः।
सुप्तोऽयं मत्समो देवि मम प्रत्यंगसंभवः॥

कहे गये हैं। इन सिद्धों का सम्प्रदाय ही नाथसम्प्रदाय, कापालिक, औघड़, वामपंथी, कौलाचार कहा जाता है।

कौलमत में कुल का अर्थ शक्ति है और अकुल का अर्थ शिव है। कुल से अकुल का सम्बन्ध स्थापन ही कौलमार्ग है। शिव का कोई कुल-गोत्र नहीं, इसलिए वे अकुल हैं। शिव की सृष्टि करने की इच्छा का नाम शक्ति है। चन्द्रमा और चाँदनी का जो परस्पर सम्बन्ध है, वही शिव और शक्ति का सम्बन्ध है। इनके मत में अन्तिम सिद्धि मोक्ष ही है। इसको सर्वात्मता सिद्धि (समस्त जगत् के सब प्रपञ्चों के साथ अपने को अभिन्न समझना) कहते हैं। प्रपंच से अभिप्राय रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श से है।[1]

एक प्रकार से कौल के लिए सब इन्द्रियभोगों के प्रति निःस्पृह बनने का उपदेश दिया गया है; किसी भी इन्द्रियार्थ में उसे स्पृहयालु नहीं होना चाहिए। सब वर्णों के साथ वह एक समान बरते, भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करे। उसके लिए मेरा या दूसरे का भेद; बद्ध, और मुक्त का कोई भेद नहीं रहना चाहिए।

कौलसाधना का लक्ष्य कुण्डलिनी शक्ति को उद्बुद्ध करना है। इसके लिए शरीर के षट्चक्रों को जानकर इनको वश में करना होता था। इसी चक्रवर्ग के अन्तिम चक्र में सहस्र दल होने से उसे सहस्रार भी कहते हैं। यहीं पर शिव की स्थिति है। शिव का निवास होने से इसे कैलास भी कहते हैं ('कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति'—शिवसंहिता ५।१५१-२)। सहस्रार में स्थित शिव तक शक्ति का उत्थापन करके शिव के साथ इसे मिलाना ही कौल साधना का परम लक्ष्य है। यही मिलन आनन्दमय है। इस आनन्द प्राप्ति के बाद साधक के लिए कुछ करणीय नहीं रहता।

सात प्रकार के आचार हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इनमें कौलाचारियों में कोई नियम नहीं; इनके लिए कर्दम और चन्दन में, पुत्र और शत्रु में, श्मशान और गृह में, स्वर्ण और तृण में लेश मात्र भी भेदबुद्धि नहीं होती। ये सब प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्त होते हैं ('अथ किं बहुनोक्तेन सर्वद्वन्द्वविवर्जितः')। यही इनका चरम लक्ष्य है

तान्त्रिक प्रवृत्ति इस मार्ग में किस प्रकार प्रविष्ट हुई, इस सम्बन्ध में अनङ्गवज्र के वचनों से प्रकाश पड़ता है। उसका कहना है कि 'वासनाएँ दबाने से मरती नहीं, अपितु

---

१ 'जीवानन्दनम्' नाटक—आनन्दरायमखी प्रणीत; इस सम्बन्ध में उपयोगी है।

'कुल' शब्द के विशेष अर्थ के लिए नाथसम्प्रदाय की पुस्तक देखें।

और भी अन्तस्तल में जाकर छिप जाती हैं। अवसर मिलते ही वे फिर से उभड़ आती हैं, और साधक को दबोच लेती हैं। इसलिए इनको दबाना ठीक नहीं। उचित रास्ता यह है कि समस्त कामनाओं का उपभोग किया जाय, तभी शीघ्र चित्त का संक्षोभ दूर होगा और सच्ची सिद्धि प्राप्त होगी।' इस प्रकार की धारणा से कामोपभोग का साधना क्षेत्र में प्रवेश हुआ। इस साधना की पृष्ठ भूमि शून्यवाद था। समस्त भावों का स्वभाव शून्यता है (जैसे गुड़ का धर्म माधुर्य है)। शून्यता का मूर्त्त रूप ही वज्रसत्त्व है। शुक्र का नाम भी वज्र है, जिससे इसे वश में करते हैं, वह वज्रौली है। वज्र-सत्त्व, वज्रधर, वज्रपाणि इसी शून्य के नाम हैं। यही वज्रधर समस्त बुद्धों के गुरु हैं।

वज्रयान और नाथसम्प्रदाय की योगसाधना में बहुत समानता है (नाथसंप्रदाय, पृष्ठ. ९३-९४)। इन्होंने नाड़ी आदि वस्तुओं के नाम लोकसत्य और परमार्थ सत्य (आध्यात्मिक) दृष्टि से बनाये हैं, यथा—

नगरे बाहिरे डोम्बि तोहारि कुड़िआ।
छोइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िया॥
आलो डोम्बि तोए संग करिबे म साँग।
निघि घन कान्ह कापालि जोइ लाँग॥

एक सो पदमा चौषट्ठी पाखुडी।
तहि चढ़ीनाचअडोम्बि बापुड़ी॥
एक्क न किज्जइ मंत न तंत।
णिअ घरणी लेइ केलि करन्त॥

इन वचनों में आध्यात्मिक ज्ञान बताया गया है—अवधूती नाडी डोम्बिनी है, डोमिन है (शरीर में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना जो तीन नाड़ियाँ हैं, उन्हीं को इनके यहाँ ललना, रसना और अवधूती नाम दिया गया है। अवधूती नाड़ी सुषुम्ना ही है) और चंचल चित्त ही ब्राह्मण है (चंचल हि मनः कृष्ण)। डोमिन के छू जाने के डर से यह अभागा ब्राह्मण भागा-भागा फिरता है। विषयों का जंजाल एक नगर है, डोमिन इस शहर के बाहर रहती है। कृष्णपाद (कान्ह-कानपा) ने कहा कि डोमिन, तुम भले नगर के बाहर रहो, तुमको यह कापालिक कान्ह छोड़ेगा नहीं, वह तुम्हारे साथ ही संग करेगा—अर्थात् अवधूती वृत्ति को अपनायेगा। जब वे कहते हैं कि चौसठ पंखड़ियों के दल पर डोमिन नाच रही है, तो उनका मतलब उष्णीषकमल (Pons) से है। इसी प्रकार जब वे कहते हैं कि मंत्र-तंत्र करना बेकार है—केवल अपनी घरनी

को लेकर मौज करो, तो उनका मतलब इसी अवधूती के साथ विहार करने से होता है। यह साधना नाथमार्गियों से बहुत मिलती है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड—अत्रिपुत्र ने कहा है कि "यह पुरुष लोक के समान है; लोक में जितने भी मूर्त्तिमन्त भाव-विशेष हैं, उतने ही पुरुष में हैं और जितने पुरुष में हैं उतने ही लोक में हैं; इसी दृष्टि से बुद्धिमानों को दोनों को देखना चाहिए[1]। इसके आगे दोनों की तुलना दिखायी गयी है (चरक. शा. अ. ५)। नाथमार्ग में शिव और शक्ति इन दोनों में सामञ्जस्य स्थापित किया जाता है, क्योंकि ये दोनों एक ही वस्तु की दो अवस्थाएं हैं। इसी प्रकार पिण्ड अर्थात् काया का कुण्डलिनी में स्थित शिव के साथ सामंजस्य किया जाता है। काया सिद्धि का साधन होने से शक्तिरूप है। इसी से गोरखनाथ ने कहा है कि जो योगसिद्धि का अभिलाषी यह नहीं जानता कि उसके शरीर में छः चक्र क्या और कहाँ हैं, षोडश आधार कौन-कौन हैं, दो लक्ष्य क्या हैं? पाँच व्योम क्या वस्तु हैं? वह कैसे सिद्धि पा सकता है? फिर एक खम्भेवाले, नौ दरवाजेवाले, पाँच मालिकों के द्वारा अधिकृत इस शरीररूपी घर को जो नहीं जानता उससे योग की सिद्धि की क्या आशा की जा सकती है ('नाथसंप्रदाय')। इनको जाने बिना मोक्ष कहाँ मिल सकता है।[2] लोग नाना प्रकार से मोक्ष बताते हैं; कोई वेदपाठ से मोक्ष बताते हैं, कोई शुभ-अशुभ कर्मों के नाश से मोक्ष कहते हैं। कोई निरालम्बन को बहुमान देते हैं, कोई मद्य-मांस-सुरतादि से उत्पन्न आनन्द को मोक्ष कहते हैं। ये सब मूर्ख हैं। असल में मोक्ष वह है जब सहज समाधि के द्वारा मन से ही मन को देखा जाय। तब जो अवस्था होती है, असल में वही मोक्ष है ("यत्र सहजसमाधिक्रमेण

---

१. एवमयं लोकसंमितः पुरुषः। यावन्तो हि लोके मूर्त्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे। यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके इति; बुधास्त्वेवं द्रष्टुमिच्छन्ति॥ चरक. वि. अ. ४।१३

२. षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥
एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥ गोरक्षशतक

छः चक्र—आज्ञाचक्र, मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्धाख्य चक्र।

वेद में आठ चक्रों का उल्लेख है ('अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या'—अथर्व १०।२।३१), इनमें ललना चक्र और सहस्रार चक्र अधिक हैं।

मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः''—'अमरौघ शासनम्' पृष्ठ ८-९)। सहज समाधि का आधार पातंजल योग है। प्राणायाम से कुण्डलिनी का उद्‌बोधन किया जाता है।

नाथपंथ के चौरासी सिद्धों में से कई वज्रयानी परम्परा के सिद्ध हैं। सिद्धों में कुछ गोरखनाथ के पूर्ववर्त्ती हैं और कुछ परवर्त्ती। इनमें से दसवें नागार्जुन और चौवी-सवें चर्पटीनाथ का ही परिचय यहाँ उद्‌धृत किया गया है। इनके परिचय से उस समय की रसविद्या की झलक मिल जायगी।

नागार्जुन—महायान मतवाले नागार्जुन से इनको पृथक् माना गया है। अल्बेरूनी ने लिखा है कि एक नागार्जुन उससे एक सौ वर्ष पहले विद्यमान थे। 'साधनमाला' में ये कई साधनाओं के प्रवर्त्तक माने गये हैं।

'साधनमाला' में कृष्णाचार्य की कुरुकुल्ला साधना का उल्लेख है। कुरुकुल्ला को ध्यानी बुद्ध की अभिव्यक्ति से उद्‌भूत बताया जाता है। डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य का अनुमान है कि कुरुकुल्ला की उपासना के प्रथम प्रवर्त्तक शबरपाद नामक सिद्ध हैं, जिनका समय सप्तम शताब्दी (ईसवी) का मध्य भाग है। ये नागार्जुन के शिष्य थे। नागार्जुन ने भी एक विशेष देवी 'एकजटा' की उपासना प्रचलित की थी। साधनमाला में बताया गया है कि एकजटा देवी की साधना का नागार्जुनपाद ने भोट देश (तिब्बत) से उद्‌धार किया था। इसी देवी का एक नाम 'महाचीन-तारा' भी है। तारा की उपासना ब्राह्मण तंत्रों में विहित है। साधनमाला में भी कुरुकुल्ला की उपासना के बहुत से भेद वर्णित हैं, जिनमें एक तारोद्‌भवा कुरुकुल्ला है। इस प्रकार से एकजटा-तारा—कुरुकुल्ला की उपासना में कोई एक सम्बन्ध दीखता है। डा० विनयतोष भट्टा-चार्य का कहना है कि महाचीन-तारा ही आगे चलकर हिन्दुओं में चतुर्भुजी तारा (दस महाविद्याओं में) हो गयी। दस महाविद्याओं की छिन्नमस्ता को बौद्ध वज्रयोगिनी का समशील बताया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि कृष्णपाद या कृष्णाचार्य इस देवी के उपासक थे। कृष्णाचार्य की शिष्या मेखलापा तिब्बत में छिन्नमस्ता के रूप में पूजी जाती है।

'प्रबन्धचिन्तामणि' से पता चलता है कि नागार्जुन पादलिप्त सूरि के शिष्य थे और उनसे ही इन्होंने आकाश गमन की विद्या सीखी थी। समुद्र में पुराकाल में पार्श्व-नाथ की एक रत्न मूर्त्ति-द्वारका के पास डूब गयी थी, जिसका किसी सौदागर ने उद्‌धार किया था। गुरु से यह जानकर कि पार्श्वनाथ के पादमूल में बैठकर यदि कोई सर्व-लक्षणसमन्विता स्त्री पारे को घोटे तो कोटिवेधी रस सिद्ध होगा, नागार्जुन ने अपने

शिष्य राजा सातवाहन की रानी चन्द्रलेखा से पार्श्वनाथ की रत्नमूर्त्ति के सामने पारद मर्दन करवाया था। रानी के पुत्रों ने रस के लोभ से नागार्जुन को मार डाला था। इसमें कुछ असंगतियाँ हैं, परन्तु कुछ बातें स्पष्ट हैं; (१) नागार्जुन रसेश्वर-सिद्ध थे, (२) गोरखपंथियों की पारसनाथी शाखा के प्रवर्त्तक भी यही थे, (३) दक्षिण भारत के निवासी थे। नागार्जुन को परवर्त्ती योगियों ने 'नागा-अरजंद' कहा है। इनके सम्बन्ध में कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। नाथपन्थ के बारह आचार्यों में इनका नाम है।

चर्पटीनाथ—इन्होंने वेष को बहुत महत्त्व नहीं दिया, अपने को जोगी कहलाना ही बहुत माना है। इन्होंने बाह्याचार धारण करनेवाले दूसरे सम्प्रदायों की व्यर्थता बतलायी है।[1] एक पुस्तक में चर्पटीनाथ तथा गुरु नानकदेव की बातचीत का उल्लेख है।[2] इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि चर्पटीनाथ रसायन-सिद्धि के चक्कर में थे और इससे निराश हो चुके थे। इनके कहे पद का अर्थ ही यह है कि यदि मृत्यु पर विजय नहीं पायी तो इस वेश से क्या मतलब ? मृत्यु पर विजय केवल रसायन से ही मिल सकती है। सारी वार्त्ता रसायन से सम्बद्ध है।

वर्णरत्नाकर में चर्पटीनाथ का नाम आने से इतना स्पष्ट है कि चौदहवीं शताब्दी के पहले ये प्रादुर्भूत हो चुके थे। प्राणसंगली के वार्त्तालाप से भी मालूम होता है कि ये रसायन सिद्धि के अन्वेषक थे। इससे इतना ही समझा जाता है कि ये गोरखनाथ से थोड़े ही परवर्त्ती थे। संभवतः रसायनवादी बौद्ध सिद्धों के दल से निकलकर गोरक्षनाथ के प्रभाव में आये थे और अन्त तक बाह्यवेश के विरोधी रहे।

उनसठवें वज्रयानी सिद्ध का नाम चर्पटी है। तिब्बती परम्परा में इन्हें मीनपा का गुरु माना गया है। परन्तु नाथपरम्परा में इन्हें गोरखनाथ का शिष्य माना गया है।

वज्रयानी सिद्धों में सान्ति (शान्ति; सम्भवतः दसवीं शताब्दी में विक्रमशिला विहार के द्वाररक्षक पण्डित—शान्तिपाद) हुए हैं, ये बहुत विद्वान् थे। राहुलजी का कहना है कि वज्रयानी सिद्धों में इतना जबरदस्त पण्डित दूसरा नहीं हुआ। इसी तरह

---

१. इक सेतिपटा इक नीलिपटा इक तिल्क जनेऊ लंबि जटा।
इक फीए एक मौनी इक कानि फटा जब आवैगी काली घटा॥

२. सन्त संपूर्णसिंह ने तरनतारन से 'प्राणसंगली' छपायी है—
इक पीत पटा इक लंब जटा, इक सूत जनेऊ तिल्क ठटा।
इक जंगम कही अै भसम घटा, बउलइ नहीं चीनै उलटि घटा॥
तब चरपट समले स्वांग जटा॥—अध्याय ७६, पृ० ७९४

वज्रसिद्ध कुमारिपा, शृगालीपाद, कमलपा या कपालपा आदि सिद्ध वज्रयानियों में हुए हैं। ('नाथसम्प्रदाय' से)

इससे इतना स्पष्ट है कि रसायन या रसविद्या का प्रारम्भ सातवीं शताब्दी ईसवी से प्रारम्भ हो गया था। नवीं-दसवीं में उसका कुछ विकास हुआ (जैसा वृन्द के सिद्ध-योग और चक्रदत्त से स्पष्ट है) और १६ वीं शताब्दी (मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत काल) तक पूर्ण विकास हो चुका था।

इतिहास से यह भी स्पष्ट है कि बौद्धों और हिन्दुओं में धर्म के विषय में समय समय पर संकोच विकास होता रहता था। अशोक के समय यदि बुद्धधर्म का प्रचार था, तो पुष्यमित्र के समय यज्ञप्रधान हिन्दू धर्म का प्रचार हुआ। कनिष्क और मिलिन्द (मिनाण्डर) के समय बौद्ध धर्म का उत्थान हुआ तो भारशिवों के समय शिव की उपासना चली। भारशिव सिर पर शिव को धारण करते थे। गुप्त काल में दोनों धर्म शान्तिपूर्ण रूप से बढ़े।

इस उथल-पुथल में दोनों धर्मों में एक-दूसरे धर्म की विशेषताएँ सम्मिलित हो गयीं। परिणामस्वरूप बुद्ध भी हिन्दुओं के अवतारों में आ गये। बौद्धों की तारा देवी हिन्दुओं की चतुर्भुजी तारा बन गयी। इसी प्रकार बुद्ध की मूर्त्ति एवम् जैनियों की मूर्त्तियों की भाँति शिव की भी मूर्त्तियाँ बनायी गयीं। इसी मूर्त्तिनिर्माण में शिव और पार्वती की 'अर्धनारीश्वर' रूप में पूजा प्रारम्भ हुई। यही अर्धनारीश्वर-पूजा रसशास्त्र का मूल आधार है, क्योंकि पारा और अभ्रक या पारा और गन्धक के योग से ही दिव्य शरीर बनता है ('दिव्या तनुर्विधेया हरगौरीसृष्टिसंयोगात्'—सर्व-दर्शन संग्रह)।

यह पूजा शैव मत में किस प्रकार प्रारम्भ हुई; इस बात की विस्तृत जानकारी डाक्टर यदुवंशी ने अपनी पुस्तक 'शैव मत' (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्-पटना) में दी है; उसमें से संक्षिप्त जानकारी यहाँ दी गयी है। इससे पता चल जाता है कि बौद्धों का वज्रयान सम्प्रदाय जिस प्रकार से आगे चलकर सिद्धों में मिलकर एक हो गया—उसी प्रकार यह पूजा भी शैव-मत में आकर मिल गयी। दोनों की पूजा, दोनों के देवी-देवता प्रायः एक या एक समान हो गये। बौद्धों में बुद्ध के पुत्र राहुल का महत्त्व है, तो यहाँ शिव के पुत्र कार्त्तिकेय हैं।

शिव की पूजा का सबसे प्रथम रूप जो सामने आता है, वह लिंगपूजा है, शिव के रुद्र रूप की पूजा नहीं मिलती। शिव की पूजा का दूसरा प्रतीक शक्ति की पूजा है,

जिसको 'दुर्गा' के रूप में पूजा जाता है। शिवपूजा और शक्तिपूजा पृथक्-पृथक् चलीं। इसके पीछे इनको मिलाकर अर्धनारीश्वर रूप में दोनों की सम्मिलित उपासना चली, इसी का एक प्रकार शिव और पार्वती का सम्मिलित रूप है, जिसमें मूर्त्ति का दक्षिण पक्ष पुरुषाकार होता था, उसमें भगवान् के सिर पर जटाजूट, सर्प, हाथ में कमण्डलु या नरकपाल और त्रिशूल चित्रित रहते थे। वाम भाग में स्त्री-मूर्त्ति होती थी। सिर पर मुकुट, भुजा, कण्ठ में उपयुक्त आभूषण और स्त्रियोपयोगी वस्त्र। इन मूर्त्तियों को अर्धनारीश्वर–शिवपार्वती के रूप में पूजा जाता था। यही अर्ध-नारीश्वर-उपासना हरगौरी-सृष्टिसंयोग का उदाहरण है। कालिदास ने रघुवंश के मंगलाचरण में इसी रूप का स्मरण किया है।

खजुराहो शिलालेख सं० ५ में, जिसका समय १००० ईसवी है, भगवान् शिव को एकेश्वर माना गया है, विष्णु, बुद्ध तथा जिन को इन्हीं का अवतार कहा गया है। इसी शिलालेख में शिव की 'वैद्यनाथ' उपाधि भी मिलती है, जो उनके प्राचीन 'भिषक्' रूप की याद दिलाती है। (अष्टांगसंग्रह में तथा अन्य बौद्ध ग्रन्थों में भगवान् बुद्ध को भिषक्, महाभिषक् कहा है। सौन्दरानन्द में तो अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध को ही सच्चावैद्य कहा है—'अहं हि दष्टो हृदि मन्मथाग्निना विधत्स्व तस्मादगदं महाभिषक्'—सौन्द. अ. २.)।

शिव की पूजा कई रूप में चली। इनमें शैव, पाशुपत सम्प्रदायों का उल्लेख कृष्ण मिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में मिलता है। शिव के साथ शक्ति की स्थायी भाव से की गयी कल्पना ने ही पारे के साथ अभ्रक या गन्धक को जोड़ा है, इसी से कहा है—"गन्धकजारणरहितः संशुद्धोऽपि रसो योगेषु न योज्यः, गदहन्तृत्वशक्त्यनुदयात्। हेमादिजीर्णोऽपि अशुद्धस्तु कुत्रापि न योज्यः, वैगुण्यप्रदत्वात्"–आयुर्वेदप्रकाश)। इसलिए पारे के साथ गन्धक का भी स्थायी भाव किया गया है।

पाशुपतों का उल्लेख साहित्य तथा शिलालेखों में मिलता है। इन्ही का एक उप-सम्प्रदाय कापालिक था। इनमें एक कट्टरपंथी उप सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हो गया था, जिसके अनुयायी 'कालमुख' कहलाते थे। इनका प्रारम्भिक नाम 'कारुकसिद्धान्ती' था। वैष्णव संतों और रामानुज के समय (१२वीं शताब्दी) में इनका अस्तित्व था। ये लोग अपने कार्यों को सिद्धियाँ कहते थे, ये सिद्धियाँ छः थीं—(१) कपाल में भोजन करना, (२) शरीर में भस्म लगाना, (३) श्मशान में रहना, (४) लट्ठ लेकर चलना, (५) सुरापात्र रखना, (६) सुरापात्र में स्थित भैरव की पूजा करना।

सामान्यतः कापालिक और कालमुख एक ही हैं। यह सम्प्रदाय आठवीं शताब्दी में था (भवभूति के बनाये मालती माधव से स्पष्ट है)।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि बौद्धों का वज्रयान कापालिक मत में समा गया। कापालिक शिव की उपासना भैरव के रूप में करने लगे। शिव की उपासना भैरव के रूप में ही आयुर्वेद के रसग्रन्थों का आधार बनी। परन्तु इसमें वज्रयान सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक नागार्जुन को नहीं भुलाया गया। प्रारम्भ में नागार्जुन को इसका जन्मदाता मानकर सिद्धों की परम्परा में प्रचलित करते हुए (शैवमत के साँचे में ढालते हुए) शिव से पूर्णतः सम्बन्धित कर दिया गया।

रसेश्वरमत

हठयोग में प्राणायाम का बहुत महत्त्व है। शरीर में तीन वस्तुएँ बहुत चंचल हैं; प्राण, मन और शुक्र। प्राण और मन को वश में करने के लिए सबसे उत्तम वस्तु प्राणायाम है। प्राणायाम से प्राण और मन दोनों खिचते हैं—वश में आते हैं। योगदर्शन में मन और प्राण को वश में करने के लिए यम, नियम आदि साधन कहे हैं।

शुक्र का नाम बिन्दु है, इसे वज्र भी कहते हैं। इसकी अधोगति को कालाग्नि और ऊर्ध्वगति को कालाग्नि रुद्र कहते हैं। यौगिक क्रियाओं में बिन्दु को ऊर्ध्वगामी करने का विधान है (जिनमें एक वज्रोली भी है)। बिन्दु के ऊर्ध्वगामी करने से ही मनुष्य अजर-अमर होता है। यही अमरत्व हठयोग की एक साधना है। इसी का एक रूप है स्त्री के रज को आकर्षण करके बिन्दु के साथ मिलाकर उसका ऊर्ध्वगामी बनाना। यही वज्रोलिका मुद्रा कही जाती है।[1] यहाँ पर इतना समझ लेना आवश्यक है कि पुरुष और स्त्री दोनों पृथक्-पृथक् रूप में अपूर्ण हैं, परस्पर मिथुन होने पर ही ये पूर्ण होते हैं। पुरुष सौम्य—सोम तत्त्व का और स्त्री अग्नितत्त्व की प्रतिनिधि है।[1] क्योंकि यह सृष्टि

---

१. सन् १९४१ में लाहौर के आयुर्वेद महासम्मेलन के समय एक व्यक्ति ने अपनी जननेन्द्रिय द्वारा बीस तोला पारा मूत्राशय में खींचकर दिखाया था। इसको फिर उन्होंने कुछ घंटे शरीर में रखकर फिर बाहर निकाला था। उस समय लेखक भी उपस्थित था।

अग्नीषोमीय है, इसलिए जब तक दोनों तत्त्वों का मिथुनीभाव नहीं होता तब तक पूर्ण विकास या नयी वस्तु नहीं बनती। इस मिथुनीभाव में शुक्र को ऊर्ध्वगामी करना ही वज्रोलिका मुद्रा है, क्योंकि शुक्र शरीर का परम तेज है।[1] शुक्र तथा स्त्री के आग्नेय तत्त्व को शरीर में रखना ही कापालिकों का लक्ष्य होता था। इसी से स्त्री को पास में रखकर वे एकान्त में सिद्धियाँ प्राप्त करते थे। अपना आचार-विचार, कार्यकलाप वे इस प्रकार का रखते थे कि लोग उनसे पृथक् रहें, उनके प्रति आकर्षित न हों, उनका सिद्धि-क्रम निर्विघ्न चले।

पीछे इसी साधना का भौतिक रूप में विकास हुआ। पारा शिव का वीर्य है और अभ्रक पार्वती का रज है[2] रस-ग्रन्थों में गन्धक को भी पार्वती का रज कहा गया है (देखिए, गन्धक की उत्पत्ति, रसकामधेनु-पृष्ठ २७६)। मुक्ति को दिव्य तनु बनाकर ही प्राप्त करना चाहिए, चोला छूट जाने के पीछे मोक्ष मिला तो क्या हुआ। इसलिए जो मनुष्य इसी जीवन में दिव्य तनु प्राप्त कर लेते हैं, वे ही मुक्त हैं, समस्त मंत्रसमूह उनके दास हो जाते हैं। रसेश्वर सिद्धान्त में राजा सोमेश्वर, गोविन्द भगवत्पाद, गोविन्द नायक, चर्पटि, कपिल, व्यालि, कापालि, कन्दलायन तथा अन्य ऐतिहासिक पुरुष जीवन्मुक्त माने जाते हैं।

रसेश्वर मत का हठयोग से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिव ने देवी पार्वती से एक बार कहा था कि कर्मयोग से पिण्ड धारण किया जा सकता है। कर्मयोग दो प्रकार का है—१ रसमूलक और २ वायु या प्राणमूलक। रस में यह विशेषता है कि वह मूर्च्छित होने पर रोगों को दूर करता है, मृत होने पर जीवन देता है, बद्ध होने पर

---

१. शुक्र क्षरण के कारण—

रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा।
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा॥
तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात्।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव॥
हर्षात्तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि।
अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च॥
अष्टभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात् प्रसिच्यते। (चरक. चि. अ. १।४८)

२. अभ्रकस्तव बीजं तु मम बीजं तु पारदः।
अनयोर्मेलनं देवि दुःखदारिद्र्यनाशनम्॥

आकाश में उड़ने योग्य बना देता है।[1] रस ' रद का नाम है, क्योंकि यह साक्षात् शिव के शरीर का रस है।

रससिद्धि या रसचिकित्सा के प्रवर्त्तक ये सिद्ध ही हैं, ये लोग कई सौ वर्ष पहले पारदादि घटित चिकित्सा को बरतते थे। पारदादि का अन्तःप्रयोग इन्होंने प्रारम्भ किया। पारद से चतुर्वर्ग-फल लाभ होता है; इस प्रकार का एक दार्शनिक विचार 'रसेश्वर दर्शन' के रूप में उत्पन्न हुआ। इस दर्शन के उपदेष्टा आदिनाथ हैं। आदिनाथ, चन्द्रसेन, नित्यानन्द, गोरक्षनाथ, कपालि, भालुकि, माण्डव्य आदि योगियों ने योगबल से इसकी स्थापना की थी।

अनेक नाथपन्थियों के लिखे रसग्रन्थ आज भी वैद्यों में प्रचलित हैं। सिद्ध नागार्जुन का नागार्जुनतंत्र, नित्यनाथ का रसरत्नाकर, रसरत्नमाला, शालिनाथ की रसमंजरी, काकचण्डीश्वर का काकचण्डीश्वरमततंत्र, मन्थानभैरव का रसरत्न महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं; ये सब सिद्ध थे। चर्पटनाथ के रससिद्ध होने की बात पहले कही जा चुकी है।

गोरक्षनाथ को भी रसायन विद्या का आविष्कारक कहा जाता है। इस विषय पर इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। प्राणसंकली (प्राणों का कवच) में शरीर सम्बन्धी वर्णन ही है। सिद्धों की सबसे बड़ी देन रसेश्वर दर्शन—रसशास्त्र है।[2]

सिद्ध नागार्जुन

एक तरफ रसशास्त्र-रसायन सिद्धों की देन है, दूसरी ओर हिन्दी का उद्गम भी इन्हीं सिद्धों से हुआ है। 'सरहपा' का दोहाकोश अभी महापण्डित राहुलजी ने प्रकाशित किया है। सरहपा आठवीं शताब्दी के सिद्ध हैं। इसके आगे नवीं-दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक सिद्धों की देन हिन्दी को मिली है।

---

१. कर्मयोगेन देवेशि प्राप्यते पिण्डधारणम्।
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा स्मृतः॥
मूर्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां कुर्यात् रसो वायुश्च भैरवि॥ स. द. सं. पृष्ठ २०४

२. सिद्धों से ही हिन्दी का प्रारम्भ माना जाता है। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्धगान ओ दोहा' नाम से जो संग्रह प्रकाशित किया है, उसका एक भाग चर्याचर्य विनिश्चय है। इसमें चौबीस सिद्धों के रचित पद संगृहीत हैं। इनमें एक सिद्ध हैं—कान्हपा या कृष्णपाद। इनके रचित बारह पद उक्त संग्रह में पाये जाते हैं, सबसे अधिक पद इन्हीं के हैं।

सरहपा के लिखे कुछ ग्रन्थों का उल्लेख राहुलजी ने दोहाकोश में किया है, यथा—बुद्धकपाल तंत्रपंजिका, बुद्धकपाल साधना, बुद्धकपाल मण्डलविधि, त्रैलोक्यवंशकरावलोकितेश्वर साधन। इन नामों से स्पष्ट है कि ये वज्रयानी बौद्ध थे। वज्रयानी बौद्ध सिद्धों की संख्या परम्परा ८४ मानी जाती है, और इनमें मुख्य सरहपा, शबरपा, भूसुकपा, लुइपा, विरूपा, डोंविपा, कन्हपा हैं। इनका समय आठवीं-नवीं शताब्दी है। नवीं-दसवीं शताब्दी में ही गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा नाथसम्प्रदाय प्रवर्त्तित हुआ है। नाथ सम्प्रदाय का बौद्ध सिद्धों से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था।

शबरपा सरहपा के प्रधान शिष्य थे, इनको शवरेश्वर भी कहते थे। सरहपा के दूसरे शिष्यों में योगी नागार्जुन और सर्वभक्ष भी थे। यह नागार्जुन यदि कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे तो द्वितीय शताब्दी के माध्यमिक आचार्य नागार्जुन से भिन्न हैं। तिब्बती परम्परा में सरहपा छठे सिद्ध हैं, प्रथम सिद्ध लुईपा हैं। इस परम्परा में नागार्जुन सोलहवें सिद्ध हैं, यथा—लुईपा, लीलापा, विरूपा, डोम्बिपा, शूकरीपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चोरंगीपा, वीणापा, शान्तिपा, तन्तिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कराहपा। फलत: सिद्ध नागार्जुन का समय आठवीं या नवीं शताब्दी आता है, जब कि इनको सरहपा का शिष्य कहा गया है।

द्वितीय या प्रथम शताब्दी के नागार्जुन, जिनको कनिष्क का समकालीन कहा जाता है, वे इनसे भिन्न थे। उन्होंने बौद्धों में शून्यवाद या माध्यमिकवाद प्रचलित किया था।

इस मत के प्रधान संस्थापक नागार्जुन थे। ये ईसा की दूसरी या पहली शताब्दी में हुए थे।[1] बाण ने हर्षचरित में सातवाहन राजा के साथ नागार्जुन की मैत्री का उल्लेख किया है, इसको मोतियों की एक लड़ी माला नागार्जुन ने दी थी। यह समय ४४ ई० से ८ ई० पूर्व था। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने अपने इतिहासप्रवेश (पृष्ठ १३७) में लिखा है कि "नागार्जुन अश्वघोष का प्रशिष्य था, अश्वघोष कनिष्क की राजसभा का पण्डित था। नागार्जुन दर्शन के साथ-साथ विज्ञान का भी पण्डित था। उसने एक लोहशास्त्र लिखा और पारे के योग बनाने की विधि निकालकर रसायन के ज्ञान को आगे बढ़ाया। उसने सुश्रुत के ग्रन्थ का सम्पादन भी किया।" पारा सम्बन्धी बातें सिद्ध नागार्जुन से सम्बन्धित हैं, जो कि नवीं या दसवीं शताब्दी में हुआ था। इसमें लेखक को नामसादृश्य से भ्रान्ति हो गयी है। अश्वघोष का शिष्य नागार्जुन

---

१. माध्यमकारिका, युक्तिषष्टिक, शून्यतासप्तति, विग्रहव्यावर्त्तिनी, प्रज्ञापारमिताशास्त्र आदि ग्रन्थ इन्होंने बनाये थे।

शून्यवाद का प्रवर्तक है, जिसकी चर्चा बाण ने की है। लौहशास्त्र को जन्म देनेवाला सिद्ध नागार्जुन है, जो कि सरहपा का शिष्य एवं सिद्धों की परम्परा में है। काश्यपसंहिता के उपोद्घात में इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला गया है, यथा—

"नागार्जुन नाम के बहुत से विद्वान् हुए हैं। कक्षपुट, योगशतक, तत्त्वप्रकाश आदि बहुत से ग्रन्थों में कक्षपुट आदि कौतुक ग्रन्थों का प्रणेता सिद्ध नागार्जुन कहा गया है। वैद्यक सम्बन्धी योगशतक प्रकाशित हैं, इसका तिब्बती अनुवाद भी मिलता है। नागार्जुनकृत 'चितानन्दपटीयसी' नामक ताड़पत्र पर लिखी एक पुस्तक वैद्यक विषय की है, जो कि तिब्बत के गीममठ (गांवठ) में है; ऐसा सुना जाता है। तंत्र सम्बन्धी बौद्धाध्यात्म विषयक तत्त्वप्रकाश, परमरहस्यसुख, समयमुद्रा आदि ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। सातवीं शताब्दी में च्युआन शाङ नामक चीनी यात्री भारत में आया था। उसने अपने से सातवीं या आठवीं शताब्दी पूर्व के शान्तिदेव, अश्वघोष आदि बौद्ध विद्वानों की भाँति बौद्ध विद्वान् बोधिसत्त्व नागार्जुन का भी उल्लेख किया है, जो कि रसायन के द्वारा पत्थर को भी स्वर्ण बना देता था। यह सातवाहन का मित्र था। राजतरंगिणी में बुद्ध के १५० वर्ष पीछे नागार्जुन के होने का उल्लेख है। इस प्रकार से कई नागार्जुनों का उल्लेख होने से निश्चित रूप में कुछ कहना सम्भव नहीं। सातवाहन के लिए नागार्जुन के पत्र भेजने का उल्लेख अन्यत्र है। मेरे संग्रह में ताड़पत्र पर संस्कृत में लिखा शालिवाहन-चरित है। उसमें लिखा है कि "दृष्टसत्त्वो बोधिसत्त्वो महासत्त्वो महाराजगुरुः श्रीनागार्जुनाभिधानः शाक्यभिक्षुराजः—"। इस स्पष्ट उल्लेख से बोधिसत्त्वस्थानीय कुरुकुल्ल के उपदेश से तांत्रिक शाक्य भिक्षुराज नागार्जुन सातवाहन के समय के सिद्ध होते हैं। च्युआनशाङ ने भी नागार्जुन को बोधिसत्त्व तथा धातुविद्या का विद्वान् लिखा है। नागार्जुन ने सातवाहन राजा को रसायन गुटिका औषध दी थी; इसका भी उल्लेख है। राजतरंगिणी में उल्लिखित नागार्जुन बौद्ध होने पर सज्जन राजा के रूप में वर्णित है। माध्यमिक आदि नागार्जुन कभी भी राजा नहीं हुए; इसलिए राजतरंगिणी का नागार्जुन इनसे भिन्न है।"—काश्यपसंहिता, उपोद्घात पृष्ठ ६५

समीक्षा—पण्डित हेमराज शर्मा द्वारा प्रदर्शित नागार्जुन को रसायन विद्या का प्रवर्त्तक मानने में बाधा यही है कि ग्यारहवीं शताब्दी में रस विद्या का जो उल्लेख मिलता है, वह चरक, सुश्रुत, अष्टांग संग्रह, वृन्द, चक्रदत्त में नहीं है। विशेषतः जब हम देखते हैं कि चरक भी कनिष्क का राजवैद्य था। (इतिहास प्रवेश-पृष्ठ १२५)। यदि नागार्जुन इनके समकालीन थे, और यही नागार्जुन रसायन विद्या, पत्थर से स्वर्ण बनाने की विद्या के ज्ञाता थे, तो अवश्य चरक इनका उल्लेख करता। उल्लेख न करता तो

कम से कम प्रवाल, लोह, स्वर्ण आदि धातुओं की जो प्रयोग विधि बतायी है, वह वैसी होती, जैसी हम ग्यारहवी शताब्दी में पाते हैं। परन्तु समस्त चरक में पारे का उपयोग एक ही स्थान पर आया है—"सर्वव्याधिनिवर्हणमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम्"—चि. अ. ७।७१।

राजतरंगिणी में कल्हण ने रस-सिद्ध का उल्लेख किया है। यथा—

तेन कङ्कण वर्षस्य रससिद्धस्य सोदरः।
चङ्कुणो नाम भूः खारदेशानीतो गुणोन्नतः॥
स रसे न समातन्वन् कोशे बहुसुवर्णताम्।
पद्माकर इवाब्जस्य भूभृतोऽभूच्छुभावहः॥ २४६-७.
रुद्धः पञ्चनदे जातु दुस्तरैः सिन्धुसंगमैः।
तटैस्तम्भितसैन्योऽभूद् राजा चिन्तापर क्षणम्॥
ततोऽम्बुतरणोपायं तस्मिन् पृच्छति मंत्रिणः।
अगाधेऽम्भसि रोषस्यश्चङ्कुणो मणिमक्षिपत्॥
तत्प्रभावाद् द्विधाभूतं सरिन्नीरं ससैनिकः।
उत्तीर्णो नृपतिस्तूर्णं परंपारं समासवत्॥ श्लोक २४६-२५०.

राजा ललितादित्य ने भूःखार (आजकल का बुखारा) देश से कंकण वर्ष नामक महान् रासायनिक (रससिद्ध) के गुण सम्पन्न भ्राता चंकुण को बुलवाकर रखा था। (राजा सुयोग्य विद्वानों का संग्रह करता था)। वह रस प्रयोग से स्वर्ण निर्माण कर राजा के कोश को स्वर्ण से भरपूर रखता था। इसलिए कमल के लिए जिस प्रकार तड़ाग का पानी आवश्यक है, उसी प्रकार वह राजा के लिए बहुत उपयोगी था।[1]

---

१. चंकुण के विषय में राजतरंगिणी में और भी लिखा है—"तुःखार देशवासी चिकुण मंत्री ने चिकुण विहार बनवा कर श्री ललितादित्य के चित्त के समान उन्नत एक स्तूप बंधवाया और स्वर्ण की जिन मूर्तियां बनवाकर स्थापित कीं (जिन शब्द बौद्धों के लिए प्रथम आता है—'जिन-जिन सुत तारा भास्करराधनानि-संग्रह. चि. अ. २१)। चंकुण के श्यालक और ईशानचन्द्र नामक वैद्यने तक्षक नाग की कृपा द्वारा प्राप्त सम्पत्ति से एक भव्य विशाल विहार बनवाया। राजतरंगिणी चौथा तरंग २१६। ईशान का नाम—मधुकोष टीका के मंगलाचरण – श्लोकों में आता है (२). ईशानदेव ईश्वरसेन के पुत्र ११वीं-१२वीं शताब्दी में हुए हैं। इन्होंने चरक और अष्टांगहृदय पर टीका की थी (बृहत्त्रयी से)। ये इससे भिन्न हैं।

सेना सहित राजा पंचनद (पञ्ज्यनोर—कश्मीर की राजधानी श्रीनगरसे उत्तर में साढ़े तीन कोश दूरी पर त्रिग्राम, वितस्ता (जेहलम), सिन्ध, क्षीर भवानी और आञ्चार इन पांचनदियों के संगम से थोड़ी दूर है—श्री यादवजी महाराज को मिली सूचना के आधार पर) देशों में दुस्तर नदियों के संगमों से तीर पर रुक जाने से चिन्ता मग्न हो गया था। उसने मंत्रियों से पार जाने का उपाय पूछा। इस समय किनारे पर खड़े चंकुण ने उस अगाध जल में एक मणि डाल दी। उस मणि के प्रभाव से नदी का जल दो हिस्सों में बँट गया और वह राजा अपनी सेना समेत शीघ्र ही नदी के पार चला गया।

चंकुण ने फिर दूसरी मणि से उस मणि को नदी में से निकाल लिया। मणि के निकलते ही नदियों का जल पूर्ववत् हो गया। राजा ने उन रत्नों के ऐश्वर्यकारी प्रभाव को देखकर प्रेम के साथ चंकुण से उन दोनों रत्नों को मांगा (मणीनां धारणीयानां कर्म यद् विविधात्मकम्। तत्प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते॥ चरक सू. अ. २६।७० मणियों का प्रभाव अचित्य है)। अन्त में चंकुण ने राजा से मगध से प्राप्त भगवान् बुद्ध की प्रतिमा लेकर उसके बदले में वे मणियां राजा को दे दी। चंकुण ने इस मूर्त्ति को अपने विहार में स्थापित किया; इस प्रतिमा का रंग गेरूआ और चमकीला था।

इस प्रकार रस सिद्धों का उल्लेख आठवीं शताब्दी में मिलता है। आठवीं शताब्दी में ही 'सरहपा' सिद्ध हुए हैं; जिनका 'नागार्जुन' भी एक शिष्य था। नाथ सम्प्रदाय के मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ का भी यही समय है। इस प्रकार से रससिद्धि का प्रारम्भिक समय आठवीं शताब्दी निश्चित होती है। रससिद्धों में जिस नागार्जुन का उल्लेख है, वह इसी शताब्दी का है। बौद्ध दार्शनिक, शून्यवाद के प्रवर्त्तक नागार्जुन प्रथम या दूसरी शताब्दी के हैं। संभव है कि वह भी हैमवती विद्या—स्वर्ण बनाना जानते हों। परन्तु चमत्कार या किमीयागिरी-चिकित्सा में पारा और धातुओं का उपयोग आठवीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हुआ—जब से इनको सिद्धों का आश्रय मिला—या सिद्धों ने अपनाया। सिद्ध इस विद्या को लोगों को चमत्कार, अलौकिक सिद्धियाँ दिखाने के रूप में काम में लाते थे; जिससे जनता इनके मत की ओर आकर्षित हो; इन सिद्धियों को दिखाने से ही ये सिद्ध कहे जाते थे। इस प्रकार जनता में रसशास्त्र के प्रवर्त्तक यही सिद्ध हैं; इनमें एक नागार्जुन भी थे। चूंकि इसी नाम के एक नागार्जुन प्रथम-द्वितीय शताब्दी में हुए हैं; उनके पास भी स्वर्ण बनाने की विद्या थी, इसलिए रस-सिद्धि, पारा-सिद्धि को इनके साथ जोड़ दिया गया। वास्तव में दोनों भिन्न हैं—जिनमें छः सौ या सात सौ वर्ष का अन्तर है।

नागार्जुन के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी डा० प्रफुल्लचन्द्रराय ने 'हिस्ट्री औफ़ हिन्दू कैमिस्ट्री' (भाग २—पृष्ठ. १३ से २६) में दी है। उसमें भी रसशास्त्र से सम्बन्धित नागार्जुन को आठवीं-नवीं से पहले का नहीं माना।

धातुओं से परिचय

ताम्रयुग—स्वर्ण, लोह, ताम्र आदि धातुओं से हमारा परिचय वैदिक काल से था। प्रागैतिहासिक भारत में धातुयुग पाषाणयुग के बाद आता है। पाषाण युग के बाद दक्षिण भारत में लोहयुग और उत्तर भारत में ताम्रयुग का आविर्भाव हुआ। भारतवर्ष में लोहयुग से पूर्व कांस्ययुग का क्रमिक विकास नहीं पाया जाता। सिन्ध प्रान्त इसका अपवाद है। काँसा या फूल नौ भर ताँबा और एक भर रांगा मिलाकर बनाया जाता है। (सौ सत्ताईस काँसा नहीं तो सन्यासा—सौ भर ताँबे में सत्ताईस भर रांगा मिलाने से अच्छा कांसा बनता है। अच्छे काँसे के लिए ९६ भर ताम्बा २७ भर रांगा और २ भर चांदी होनी चाहिए)। दक्षिण भारत की प्राचीन समाधियों में प्राप्त काँसे की वस्तुओं में प्याले या कटोरे-जैसी नफ़ीस चीजें भी मिली हैं, जो या तो बाद की हैं या अन्यत्र से वहाँ लायी गयी थीं। ताँबे के हथियारों का जखीरा मध्य भारत में गुंगेरिया नामक गाँव में पाया गया है। इसमें ४२४ ताँबे के औज़ार थे, जो आयरलैंड में मिले हुए औजारों से बहुत मिलते हैं, और २००० ईसा पूर्व के समझे जाते हैं। इस निधि में १०२ चांदी के गोल टुकड़े और एक बैल का सिगैल सिर भी था। चांदी इस देश में कम थी और सम्भवतः वह विदेश से आती थी, पर ताँबा भारत में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वर्णित लोह-अयस् से उसकी एकरूपता मानी जाती है। गुंगेरिया से प्राप्त ताम्रिक अस्त्रों के अलावा ताँबे के ही बने हुए बारीक औज़ार, मछली मारने के बरछे, तलवार और भाले के अग्रभाग कानपुर, फतेहगढ़, मैनपुरी और मथुरा जिलों में पायें गये हैं। उनका विस्तार प्रायः सारे उत्तर भारत में हुगली से सिन्धु नदी तक और हिमालय की तराई से कानपुर जिले तक पाया गया है।

लोहे का प्रयोग—दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर में लोहा पहले व्यवहार में आया; जैसे कि मिस्र की अपेक्षा बावेरू में उसका प्रयोग पहले शुरू हुआ। अथर्ववेद में इसका उल्लेख है; जो कि २५०० ई० पू० से बाद का नहीं कहा जा सकता। हीरोदत्त का कथन है कि जो भारतीय सिपाही ईरानी सम्राट् स्पयार्ष (ज़रकसीज़) की कमान में यूनान के विरुद्ध ३२५ ई० पू. लड़े थे, उन्होंने अपने धनुष के साथ लोहे की नोक लगे हुए बेंत के बाणों का प्रयोग किया था। बाद में जब सिकन्दर के साथ

भारत में युद्ध हुआ तबसे यूनानी लेखकों के अनुसार भारतवासी लोहे और फौलाद के काम में यूनानियों-जैसा ही कमाल रखते थे। उनका कहना है कि पंजाब के किन्हीं शासकों ने सिकन्दर को सौ टैलेन्ट (एक यूनानी तौल, लगभग २८ सेर या ५७ पौण्ड) बढ़िया भारतीय फौलाद भेंट दी थी (हिन्दू सभ्यता-१५ पृष्ठ।[1])

सिन्धु सभ्यता के युग में चाँदी, सोना, ताँबा, राँगा, सीसा इन धातुओं का लोगों को परिचय था; किन्तु लोहा बिलकुल अज्ञात था। वहाँ के सोने में विशेष प्रकार के चाँदी के अंश की मिलावट है, जो कि अवश्य ही व्यापार के द्वारा दक्षिण भारत की कोलार और अनन्तपुर की खानों से लाया गया होगा; क्योंकि वहीं ऐसा सोना मिलता है। सोने से भाँति-भाँति के गहने बनाये जाते थे। ताँबा और सीसा राजपूताना, बलोचिस्तान या ईरान से, जहाँ वे आस-पास होते थे, लाये जाते थे। इस समय पत्थर का स्थान ताँबे ने ले लिया था, जिससे भाले का अग्रभाग, छुरी, चाकू, कुल्हाड़ी, रुखानी आदि औज़ार और हथियार एवं कड़े, कानों की बाली आदि आभूषण बनने लगे थे। ताँबा भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से निकाला जाने लगा था और काम में आने लगा था। गुंगेरिया से प्राप्त ताँबे के बने ४२४ पिटवाँ औजारों से यह ज्ञात होता है।

राँगा अलग से काम में न लाया जाता था, बल्कि ६ से १३ प्रतिशत भाग को ताँबे में मिलाकर काँसा बनाते थे। ताँबे की अपेक्षा काँसा तेज धार या सफाई के विचार से बढ़िया माना जाता था। सबसे नीचे के स्तर से यह अनुमान है कि ३००० ई० पू० से पहले वह प्रयोग में आ चुका था। सिन्ध के लिए राँगा भारत के बाहर उत्तरी ईरान और पश्चिमी अफगानिस्तान से बोलन दर्रे से लाया जाता था। भारत में केवल हजारी-बाग जिले में वह मिलता है, किन्तु इतनी दूर से सिन्ध निवासियों के लिए उसका ले जाना सम्भव नहीं था। (हिन्दू सभ्यता-१९ पृष्ठ)

पत्थर—घर बनाने के लिए अनेक पत्थर काम में आते थे। मोरियों पर ढकने के लिए सक्खर का सफेद खड़िया पत्थर (लाइम स्टोन) काम में आता था। गिलास कटोरी बनाने के लिए सेलखड़ी, घाट और बट्टे बनाने के लिए चकमक पत्थर काम में

---

१. मालव लोगों ने सिकन्दर को जो भेंट दी थी उसमें उन्होंने ३०० घुड़सवार, १०३० रथ, जिनको चार घोड़े खींचते थे, १००० ढालें, बहुत बड़ी मात्रा में बारीक मलमल, १०० टैलेन्ट लोहा, कुछ बहुत ऊँचे सिंह, व्याघ्र और बड़े चीतों की खालें और कछुए का आवरण बड़ी मात्रा में दिया था—'एज आफ दी नन्द और मौर्य' (पृष्ठ ७३)

आता था। हारों के मनके और जड़ाऊ गहनों के काम में अनेक प्रकार के संग काम में आते थे; जैसे स्फटिक, धाऊ, अकीक, संग अजूबा; यशब, संग सुलेमानी। एक विशेष प्रकार का सुन्दर हरे रंग का भीष्मक पत्थर (Amazone Stone) नीलगिरि पर्वत के दुद्दा-बित्ता की खानों से, जो भारत में उसका एकमात्र स्रोत है, आता था। संग-कठैला दक्षिण के पठार से आता था। लाजवर्द और राजावर्त्त बन्दकशों से, ईरोज़ा खुरासान से, कड़े पत्थर का मरगज (संग मसार या अश्मसार) पामीर, पूर्वी तुर्किस्तान या तिब्व से आता था (हिन्दू सभ्यता)।

वैदिक काल में धातुओं का उपयोग—ऋग्वेद में सुदास का दस राजाओं के साथ युद्ध होने का उल्लेख है (७।३।३७)। ये दस राजा यज्ञ न करनेवाले, इन्द्र की सत्ता को न स्वीकार करनेवाले एवं झूठे देवों को माननेवाले थे। ये अनार्य थे। इनके दुर्गों का वर्णन करते हुए लिखा है कि ये लोहे के बने थे (आयसी—२।५८।८), पत्थर के (अश्ममयी—४।३०।२०), लम्बे चौड़े (पृथ्वी), विस्तृत (उर्वी) और गौओं से भरे (गोमती-अथर्व ८।६।२३) थे।

ऋग्वेदकालीन शिल्पों में धातु का काम करनेवाले कर्मार कहलाते थे (१०।७२।२), ये धातु को आग में गलाते थे (अधमत्-१०।७२।२; ५।९।५ उपध्माता इव धमति)। चिड़ियों के पंखों की धौंकनी (पर्णेभिः शकुनानाम्) और सूखी लकड़ियों से धातु को गलाकर उसके बरतन बनाये जाते थे (अयस्मय घर्म—५।३०।१५)। लोहे को पीटकर भी बरतन बनाये जाते थे (अयोहत् ९।१।२)। सुनार (हिरण्यकार) सोने का आभूषण गढ़ता था (१।१२२।२)। सोना सिन्धु जैसी नदियों से, जिन्हें 'हिरण्यवर्त्तिनी' कहा गया है (६।६१।७) और भूमि से (निखातस्वम्-१।११७।५) प्राप्त किया जाता था। (स्वर्ण का एक नाम कलधौत या जलधौत है, जिससे स्पष्ट है कि वह पानी से प्राप्त होता था, रेती में मिला होने से पानी से धोकर प्राप्त होता था)। यजुर्वेद में सोना, ताम्र, लोहा, सीसा, त्रपु. (रांगा) सबका नाम मिलता है (१८।१३), अथर्ववेद में चांदी का नाम रजत आता है (५।२८।१)[१]।

युद्ध में जो हथियार काम में आते थे, उनमें धनुष (८।७२।४) और बाण (७।६।५।१७ होते थे। तरकस निषंग कहलाता था (५।५७।२—सधन्वान इषुमन्तो निषंगिणः—

अर्थात् धनुष, बाण और तरकश से सज्जित योद्धा)। कवच (वर्म) धातु के कई टुकड़ों को एक साथ सीने से बनता था (स्यूत–१।३१।१५, १०।१०१।८)। वह अत्क भी कहलाता था, जो बुना जाता था (व्युत) और खूब कसकर बैठता था (सुरभि-१।१२२।२; ६।२९।३)। हाथ का दस्ताना, जो प्रत्यंचा की रगड़ से हाथ को बचाता था (६।७५।१४); झिलमटोप (शिप्र) यह लोहे या तांबे का बनता था (अयःशिप्राः ४।३७।४) या सोने का (२।३४।३–हिरण्यशिप्राः)। शिरस्त्राण पहने योद्धा 'शिप्रिन्' कहलाता था (१।२९।२)।

अन्य हथियार थे असि और उसकी म्यान (असिधार), परशु (वाल १।१६२।२०); सृक्ति या भाला (७।१८।१७); बल्लम (सृक् १।३२।१२); दिद्यु या फेंककर चलाया जानेवाला अस्त्र (१।७१।५); आद्रि (१।५१।३) या अशनि (६।६।५) अर्थात् गोफने में रखकर फेंकने के गोले-गोलियाँ।

इसके सिवाय सोने के आभूषण स्त्री और पुरुष पहनते थे। जैसे कानों में कर्णशोभन (८।७८।३), गले में निष्कग्रीव (२।३३।१०); हाथों में कड़े और पैरों में खँडुवे (खादि; १।१६६।९; ५।५४।११ पत्सु खादयः); छाती पर सुनहले पदक (वक्षः सुरुक्मा) धारण करते थे। गले में मणियाँ पहनी जाती थीं (मणिग्रीव–१।१२२।१४)। सोने का उपयोग बर्तन बनाने में होता था (हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्–यजु० ४०।१७)।

अंजन—वेद में अंजन को यातु और यातुधानी (कृमि और कृमियों का उत्पत्ति-स्थान अथवा कृमियों का नाशक) लिखा है—

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि।
यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत् सर्वाश्च यातुधान्यः॥ (अथर्व ४।९।९.)

हिमालय पर, त्रिककुद पर्वत पर जब उत्पन्न अंजन हुआ, सब यातु कृमियों को तथा सब नारी कृमियों को अथवा उनके उत्पत्तिस्थान को नष्ट करता है।[1]

अंजन दो प्रकार का है, एक त्रिककुद पर्वत से आनेवाला और दूसरा यामुन–यमुना से उत्पन्न।

अथर्ववेद में अंजन के लिए बहुत-से शब्द आये हैं; यथा–त्रायमाणम् (४।९।१), जीवम् (४।९।१); यातुजम्भनम् (४।९।३); जीवभोजनम्; हरितभोजनम्

---

१. त्रिककुद पर्वत का स्पष्टीकरण—'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' देखिए।

(४।९।३); त्रैककुदम् (४।९।१०), यामुनम् (४।९।१०), परिपाणम् (४।९।३); मैत्रायणी संहिता में त्रैककुभम् (३।६।३); आयुषः प्रतरणम् (अथर्व–१९।४४।१; विप्रम् (अ. १९।४४।१); सिन्धोः गर्भः (अ. १९।४४।५); विद्युतां पुष्पम् (१९।४४।५); देवाञ्जनम् (१९।४४।६); अमीवचातन (१९।४४।७); पर्वतीयम् (१९।४५।३) आर्घ (१९।४५।४)।

अंजन अश्व, गौ और पुरुषों के लिए लाभकारी है (अथर्व. ४।९।२) इसके सेवन से आयु बढ़ती है। शपथ, कृत्या, अभिशोचन, विष्कन्ध (४।९।५), असन्मन्त्र, दुष्प्वप्न्य, दुष्कृत, शमल, दुहार्द, घोरचक्षु (अ. ४।९।६), तन्त्रा (ज्वर), बलास, आदहिः (दाद रोग) (४।९।८), हरिमा, अंगभेद, जायान्य (राजयक्ष्मा), विसल्पक (१९।४४।२) नष्ट होते हैं।

सेवन प्रकार—कष्ट निवारण के लिए इसका चार प्रकार से उपयोग किया जाता था—नेत्र में आँजकर; मणिरूप में धारण कर; शरीर पर बाँधकर तथा लेप और भक्षण करके (अ. १९।४५।५; ४।९।३)। अन्य संहिताओं में भी अंजन का उल्लेख है।

यथा—

यस्यांजन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः।
ततो यक्ष्मं विबाधस उग्रो मध्यमशीरिव॥ (अथर्व. ४।९।४.)

हे अंजन! जिस पुरुष के अंग-अंग और जोड़-जोड़ में तू पहुँचता है, वहाँ तू यक्ष्म-रोग नष्ट कर देता है। मध्यस्थ वीर पुरुष, जैसे शत्रुओं को अथवा मध्यलोक में स्थित वायु, जैसे बादलों को नष्ट करता है।

त्रयो दासा आंजनस्य तक्मा बलास आदहिः।
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता॥ ४।९।८.

तक्मा-रोग, बलास-कफ रोग, दाह रोग ये तीनों अंजन से नष्ट होते हैं। हे अंजन! पर्वतों में श्रेष्ठ त्रिककुद् पर्वत तेरा पिता है।

आंजनं पृथिव्यां जातं भद्रं पुरुषजीवनम्।
कृणोत्वप्रमायुकं रथजूतिमनागसम्॥ (अथर्व. १९।४४।३.)

अंजन पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ है, पुरुषों को जीवन देनेवाला है, वह तुझे न मारने-वाला, रथ के वेगवाला दोष से रहित बनाये।

अपामूर्ज ओजसो वावृधानमग्नेर्जातमधि जातवेदसः।
चतुर्वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करदिच्छिवास्ते॥ १९।४५।३.

हे रोगी! जलों का बल, ओज का बढ़ानेवाला, जातवेदस-अग्नि से उत्पन्न, पर्वत से उत्पन्न, यह चतुर्वीर अंजन तेरे लिए दिशाओं और प्रदिशाओं को कल्याणकारी बनाये।

आक्ष्वैकं मणिमेकं कृणुष्व स्नाह्येकेनापिबैकमेषाम्।
चतुर्वीरं नैर्ऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या बन्धेभ्यः परिपात्वस्मान्॥ १९।४५।५.

हे पुरुष! एक अंजन को नेत्र में धारण कर, एक को मणिरूप में बांध, एक अंजन से स्नान कर, एक को पी। यह चतुर्वीर अंजन ग्राही (पकड़नेवाला या बहते हुए रक्त को बन्द करनेवाला) हो।

संग्रह (सूत्र. अ. ८।९२–१०१) जैसा अंजन का उल्लेख प्राचीन संहिताओं में नहीं मिलता। रसग्रन्थों में या निघण्टु में भी इसका विस्तृत उल्लेख इस रूप में नहीं है। चरक तथा दूसरे आयुर्वेद ग्रन्थों में आँखों की निर्मलता के लिए इसका उपयोग करने का उल्लेख है। कुष्ठ रोग में अंजन का लेप बताया गया है—"भल्लातकं गैरिकमञ्जनं च" (चरकः सू. अ. ३।५)। पाण्डुरोग में मुक्ताविद्रुमांजन योग सुश्रुत में है—"प्रवाल-मुक्ताञ्जनशंखचूर्णं लिह्यात्तथा काञ्चनगैरिकोत्थम्" (उत्तर. अ. ४४।२१)।

सीसा—सीसा भी कृमिनाशक है—

सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदङ्ग यातु चातनम्। (अथर्व. १।१६।२–३.)

सीसे को मुझे इन्द्र ने दिया। हे अंग! वह सीसा यातु, कृमियों का हनन करनेवाला है। यह सीसा विष्कन्ध रोग को दबाता है; यह अत्रि कृमियों को नष्ट करता है; इस सीसे से सबको दबा लेता हूँ। कच्चा मांस खानेवाले सब कृमि इससे नष्ट होते हैं।

मणि—मणि का उपयोग रक्षोघ्न तथा विषप्रतिकार में बताया गया है। चरक-संहिता में मणिधारण का विधान स्वास्थ्य के लिए (सूत्रः अ. ५।९७ में) तथा बच्चों को ग्रहों से बचाने के लिए (मणयश्च धारणीयाः कुमारस्य, शा. अ. ८।६२,) और विष-प्रतिकार के लिए है। इसी लाभ के लिए वेद में भी मणिधारण का उल्लेख है। ये मणियाँ क्या थीं, इसका स्पष्टीकरण नहीं है। शंख के लिए कहा है—

शंखेन हत्वा रक्षांस्यत्रिणो विषहामहे। (अ. ४।१०।३.)

राक्षसों को, अत्रि कृमियों को हम शंख से हनन करके दबा देते हैं।

मणियाँ औषधियों से भी बनती थीं। मणि से ही सम्भवतः माणिक्य-मनका शब्द बना है, मनका गोल होता है। औषधियों में से गोल (वर्त्तुल) चक्के काटकर इनमें छेद करके धारण करते थे। इसी से आयुर्वेद में प्रशस्त ओषधियों के धारण का विधान है (शिरसा धारयेत्—सू. अ. १९।।२९)। इसी से अथर्ववेद में कई ओषधियों

को मणि तुल्य धारणीय कहा है। इनमें औदुम्बर मणि, जंगिड़मणि, पर्णमणि, दर्भमणि और फालमणि का उल्लेख है (वेद में आयुर्वेद, पृष्ठ २५६-२६६)।

शंख का वर्णन जैमिनीयोपनिषद् ३।७।४।१; ४।९।२।७; शतपथ ब्राह्मण १।४।५।४।९ तथा गोपथब्राह्मण १।२।८। में भी आता है।

स्वर्ण धारण करने से आयु, वर्चस् बल, बढ़ता है (अथर्व. १।३५)। इसको धारण करनेवाले को पिशाच तथा अन्य राक्षस कृमि हानि नहीं पहुँचाते (सद्वृत्त में—भोजन करने के विधान में सुवर्णादि रत्न धारण की आज्ञा है—नारत्नपाणिर्नास्नातः अन्न-माददीत—चरक. सू. अ. ८।२०; न सज्जते हेमपाङ्गे विषं पद्मदलेऽम्बुवत्। (चरक. चि. अ. २३।२४०)

वाजसनेयी संहिता में छः धातुओं के नाम आये हैं—हिरण्य, अयस्, लोहा (ताम्र), श्याम, सीसा और त्रपु (१८।१३)। स्वर्ण का पता ऋग्वेदकाल से ही था या स्वर्ण धातु (ore) से निकाला जाता था। रजत का उपयोग आभूषण (रुक्म) तथा पात्र और मुद्रा (निष्क) रूप में होता था। ऋग्वेद में अयस् का उल्लेख है। धातुएँ ध्मापन से प्राप्त की जाती थीं। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि उस समय ध्मापन क्रिया का ज्ञान था (६।३।४)। लोह शब्द लुह् धातु से बनता है, जिसका अर्थ खींचना है। सुवर्ण आदि अपनी मूल धातुओं से क्रियाविशेष द्वारा खींचकर निकाले जाते हैं, अतः उनको लोह नाम दिया गया है। लुह् धातु पाणिनि के धातुपाठ में नहीं है। धातु शब्द का अर्थ है सुवर्ण आदि लोह को धारण करनेवाला खनिज द्रव्य (धारणाद् धातवः—इसलिए ओर ore के लिए धातु शब्द है)।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में धातुओं का उल्लेख—अर्थशास्त्र में जिन मूल द्रव्यों से सोना-चाँदी आदि गलाकर निकाले जाते थे उनके लिए धातु शब्द का प्रयोग किया है। यथा—जिससे स्वर्ण निकलता था, उसे स्वर्ण-धातु, इसी प्रकार जिससे चाँदी निकलती थी उसे रूप्य-धातु कहा है। इसी प्रकार ताम्र-धातु सीसक-धातु, लोह-धातु थीं। ये शब्द खनिज (ore) को बताते हैं। आकराध्यक्ष का कर्त्तव्य था कि वह शुल्व-शास्त्र (जिसमें ताँबा-सोना आदि बनाने की विधि कही हो) धातु-शास्त्र, (धातु निकालने का ज्ञान), रस पाक, मणि राग (मणियों के रंग) आदि का अच्छी प्रकार ज्ञान प्राप्त करे। इसके साथ किट्ट, मूषा, अंगार, भस्म आदि की परीक्षा से पुरानी खान का पता लगाये। भूमि, पत्थर, धातु के वर्ण, गौरव, गन्ध से रस की परीक्षा करनी चाहिए।

राज्य के आय के साधनों में धातुओं की खान को भी कहा है (२।६।४)। कहाँ पर कौन-सी खान है, कौन-सी धातु कहाँ मिलेगी, इसकी पहचान विस्तार से बतायी

है (२।१२।२–६)। जिस धातु (ore) में भारीपन अधिक हो उसमें से धातु अधिक निकलती है (सर्वधातूनां गौरववृद्धौ सत्त्ववृद्धिः), निकली हुई धातुओं को साफ करने की सम्पूर्ण विधि आदि लिखी है। शोधनकार्य में तीक्ष्ण मूत्र, तीक्ष्ण क्षार, अमलतास, बरगद, गोपित्त, महिष-खर-ऊँट के मूत्र-पुरीष आदि का उपयोग बताया है। शुद्ध धातु की पहचान भी बतलायी है।

विशिखा—स्वर्ण का व्यापार जिस बाजार में होता हो उसका नाम विशिखा है[1]। इस स्थान में होनेवाले स्वर्ण के व्यापार, शोधन, बनावट, चोरी आदि सब वस्तुओं का उल्लेख इस प्रकरण में (२।१३।३१) किया गया है।

सुवर्ण के उत्पत्तिस्थान तीन हैं—जातरूप (स्वयं शुद्ध सुवर्णरूप में प्राप्त), रसविद्धम् (पारे के द्वारा बनाया), आकरोद्‌भव (खान से मूल धातु के रूप में निकला) (२।१३।३१।३)। इस प्रसंग में वर्ण शब्द आधुनिक 'कैरेट' का सूचक है; कितनी मिलावट ताम्र या अन्य धातु की है, इसे 'वर्ण' शब्द से कहते हैं। इस प्रकार से पाँच वर्ण स्वर्ण के हैं—जाम्बूनद, शातकुम्भ, हाटक, वैणव और शृंगशुक्तिज। मिलावट होने से सोना टूटता है, फटता है, कठोर हो जाता है। सोलह वर्ण का सोना शुद्ध होता था।

सुवर्ण में चालबाजी करने का भी उल्लेख है (जातिहिंगुलकेन पुष्पकासीसेन वा गोमूत्रभावितेन दिग्धेनाग्रहस्तेन स्पष्टं सुवर्णं श्वेतीभवति—२।१३।३१।२३)। यह चमत्कार-धोखाबाजी उस समय भी बरती जाती थी। सोने की परीक्षा के लिए कसौटी ही थी—कसौटी पर केसर के समान रेखा होनी चाहिए।

सुवर्णकार किस-किस प्रकार से सोना चुराते हैं इसका भी उल्लेख है (मूकमूषा, पूतिकिट्ट, करटकमुख, नाली सदंश, जोंगिनी, सुवर्चिका लवणम्। तदेव सुवर्णमित्यपसरणमार्गाः—२।१४।२७)। लोहे के भेद—कालायस, ताम्रवृत्त, कांस्य, सीस, त्रपु, वैकृन्तक और आरकूट बताये हैं (२।१७।३५।१५)।

---

१. डाक्टर अग्रवाल की मान्यता है कि कादम्बरी तथा मेघदूत में जो वर्णन सराफे का आया है, वह केवल इसी लिए है कि सब बाजारों में सराफा, सोने चाँदी का बाजार ही मुख्य था। उस एक के वर्णन से दूसरे बाजारों के वैभव का पता चल सकता है। इसी लिए कादम्बरी में उज्जयिनी के वर्णन में बाण ने सराफे को ही चुना। कालिदास ने भी पूर्वमेघ में इसी बाजार का वर्णन किया (३४ में)। आयुर्वेद—सुश्रुत में 'विशिखानुप्रवेशनीय अध्याय' में—विशिखा का अर्थ बाजार किया जाये तो असंगत नहीं, अपितु उचित जँचता है।

पारद-हिंगुल का उल्लेख—अर्थशास्त्र में पारद को धातुओं के साथ नहीं गिना। रसशास्त्र में भी पारद का वर्णन स्वतन्त्र रूप से है। कौटिल्य के समय पारद और हिंगुल का ज्ञान था। इससे सोना भी बनता था (जो रसविद्धम् शब्द से स्पष्ट है)। हिंगुल से पारा निकालने का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। हिंगुल का उपयोग स्वर्ण आदि के कार्य में होता था (घनसुषिरे वा रूपे सुवर्णमृन्वालुकाहिंगुलकल्को वा तप्तोऽवतिष्ठते —२।१४।४०)। सोने या चाँदी के ठोस या पोले कड़ों पर सुवर्ण मिट्टी; सुवर्ण भा (बा) लुका और हिंगुल-शिंगरफ का कल्क लगाकर आग में गरम करें तो जितना सोना या चाँदी इनमें होगी—उतनी निकल आयेगी। सोना चुराने के लिए सुनार वस्त्र पर हरताल, मैनसिल, हिंगुल इनमें से किसी एक के चूर्ण को कुरुविन्द (जिससे शाण बनायी जाती है) के चूर्ण के साथ मिलाकर लेप कर लेते हैं, फिर इससे आभूषण को रगड़ते हैं। इस प्रकार से चुराये गये सोने को परिमर्दन कहते हैं (२।१४।५४)।

पारे का उपयोग समरांगणसूत्रधार में वायुयान (व्योमयान) बनाने के लिए आया है।[1] पारा या हिंगुल जिन स्थानों से निकलता था, उनका नाम पारद और दरद था। कौटिल्य ने 'दारद' विष का उल्लेख किया है (२।१७।१२)।

---

१. समरांगणसूत्रधार में—राजा भोज ने दो प्रकार के व्योमयानों का उल्लेख किया है—

(१) लघु दारुमयं महाविहङ्गं दृढसुश्लिष्टतनुं विधाय तस्य।
उदरे रसयंत्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्य चाग्निपूर्णम्॥
तत्रारूढः पुरुषस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालप्रोज्झितेनानिलेन।
सुप्तस्यान्तः पारदस्यास्य शक्त्या चित्रं कुर्वन्नम्बरे याति दूरम्॥

(२) इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्यं सञ्चलत्यलघु दारुविमानम्।
आदधीत विधिना चतुरोऽन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान्॥
अयःकपालाहितमन्दवह्नि—प्रतप्ततत्कुम्भभवागुणेन।
व्योम्नो झगित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगर्जद्रसराजशक्त्या॥
वृत्तसन्धितमायसयन्त्रं तद्विधाय रस पूरितमन्तः।
उच्चदेशविनिधापिततप्तं सिंहनादमुरजं विदधाति॥

गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, भाग १, पृष्ठ १७५-१७७.

सत्यार्थप्रकाश में श्री स्वामी दयानन्दजी ने भी इस प्रकार के व्योमगामी यंत्र का उल्लेख किया है।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में रत्नों की भी अच्छी पहचान दी है। मोती की परीक्षा, मोती कहाँ से आते हैं, कहाँ पर उत्पन्न होते हैं इत्यादि बातों का स्पष्ट उल्लेख किया है। शंख, शुक्ति और प्रकीर्ण (गजमुक्ता, साँप की मणि आदि) ये तीन मोती के उत्पत्ति-स्थान कहे हैं। इनसे बनी मालाओं का उल्लेख किया है। इसी प्रसंग में मणियों का भी उल्लेख हुआ है।

सिकन्दर के समय धातु—भारतवर्ष में लोह निर्माण के कार्य में उस समय पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। लोहे पर पायना (पानी चढ़ाना Temper) विशेष क्रिया थी। निर्याकस के अनुसार राजा पौरुष ने जो मूल्यवान् भेंट दी थी—वह ३० पौंड उत्तम लोहा था। मिस्टर शो की मान्यता है कि प्राचीन मिस्र में जो सबसे अधिक कठोर लोहा मिला है; जैसे बरमा—जिससे कि 'अकीक' में छेद होता था वह भारतीय लोहे से ही बनता था। वराहमिहिर ने पायना करने की निम्न विधि बतायी है[1]—अर्क दूध, भेड़ के सींग की राख, चूहे और कबूतर का पुरीष इनका पहले लोहे पर लेप करना चाहिए। इसको गरम करके तेल में बुझाना चाहिए। इस प्रकार से बनाया हुआ शस्त्र पत्थर पर भी कुण्ठित नहीं होता। तलवार या शस्त्र को केले के क्षार और तक्र से लिप्त करके रात भर रखकर बुझायें तो यह शस्त्र दूसरे शस्त्रों से भी कुण्ठित नहीं होता।[2]

---

१. तेषां पायनस्त्रिविधः क्षारोदकतैलेषु, तत्र क्षारपायितं शरशल्यास्थिच्छेदनेषु, उदकपायितं मांसच्छेदनभेदनपाटनेषु, तैलपायितं सिराव्यधनस्नायुच्छेदनेषु। (सुश्रुत सू. अ. ८।१२।)

२. तैलपायना—पिप्पली सैन्धवं कुष्ठं गोमूत्रेण तु पेषयेत्।
अतिशीतमनाविद्धं पीतं नष्टं तथौषधम्॥
अनेन लेपयेच्छस्त्रं लिप्तं चाग्नौ प्रतापयेत्।
ततो निर्वापितं तैले लौहं तत्र विशिष्यते॥
उदकपायना—पंचभिर्लवणैः पिष्टं मधुसिक्तं ससर्षपैः।
एभिः प्रलेपयेच्छस्त्रं लिप्तं चाग्नौ प्रतापयेत्॥
शिखिग्रीवासुवर्णाभं तप्तपीतं यथौषधम्।
ततस्तु विमलं तोयं पाययेच्छस्त्रमुत्तमम्॥

सम्भवतः नैपाली ताम्र का प्राप्ति-स्थान होने से नेपाल नाम देते हैं; सुमात्रा से लगा पालेमबेंग के सामने बंका द्वीप है, बंका की राँगे की खान प्रसिद्ध हैं। वंग का नाम राँगा भी है, सम्भव है, यह स्थान इस धातु का उद्गम स्थल हो—(सार्थवाह, पृष्ठ १३४)। इसी प्रकार नागा प्रदेश सीसक का, वंग राँगे का, किरात ताम्र का उत्पत्ति-स्थान हो सकता है।)

गुप्तकाल—इस समय में लोहे की पूर्ण उन्नति थी। इसकी साक्षी दिल्ली में कुतुबमीनार के पास बनी लोहे की लाट या कीली है, जिसे चन्द्रगुप्त द्वितीय निर्मित कहा जाता है। यह लौहस्तम्भ ढलवाँ लोहे का बना है, जिसकी लम्बाई २४ फुट से कम नहीं। भूमि से यह लगभग २२ फुट बाहर है, इसके ऊपरी सिरे पर कलात्मक रचना है, जिस पर चौथी शताब्दी का संस्कृत लेख खुदा है। इसके लोहे का विश्लेषण हैडफिल्ड ने किया था। उसकी राय में यह उत्तम प्रकार का ढला हुआ है, जो सम्भवतः कोयले के मेल से बनाया गया है (एट्रिटाइज ओन कैमिस्ट्री—१; मैटल्स पृष्ठ ११६२—६३)।

मिसेज स्पीयर ने हिन्दुओं द्वारा लोहा बनाने की विधि का उल्लेख किया है। उसके अनुसार वे लोहे को पिघलाते थे। पिघलाते समय वे इसमें हरे पत्ते और लकड़ी डाल देते थे। इसको बन्द मूषा (क्रुसीबल) में गरम करते थे। यही विधि ग्लासगो और शेफील्ड में बरती जाती है। श्री हैथ का कहना है कि भारत के आदिवासी दो-अढ़ाई घंटे में खनिज धातु से लोहा निकाल लेते हैं; शेफील्ड में इस कार्य में चार घंटे लगते हैं (सम एस्पैक्टस औन इण्डियन सिविलीजेशन—लेखक-गिरिजाप्रसन्न मजूमदार)।

वृद्धत्रयी में धातु—प्रागैतिहासिक काल से लेकर आठवीं शताब्दी तक के प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि धातु-ज्ञान इस देश में पर्याप्त था। पारे से सोना बनाने की विद्या भी ज्ञात थी। सम्भवतः प्रथम या द्वितीय शताब्दी का नागार्जुन इस विद्या में विशेष निपुण रहा हो। परन्तु चिकित्सा में या शरीर को अजर-अमर करने के लिए पारद-सिद्धि विषयक ज्ञान उस समय उन्नत नहीं हुआ था। यह बात वृद्धत्रयी से स्पष्ट है। चरक और सुश्रुत में पारद का उल्लेख एक-एक बार ही आया है।[१] धातुओं का जो भी

---

१. चरक. चि. अ. ७।७१; २—सुश्रुत [क] "तारः सुतारः ससुरेन्द्रगोपः सर्वैश्च तुल्यो कुरुविन्दभागः—क. अ. ३।१४ ॥ [ख]—रक्तं श्वेतं चन्दनं पारदञ्च काकोल्यादि क्षीरपिष्टश्च वर्गः ॥ चि. अ. २५।३९. इसके पाठान्तर में भी पारद ही है—

उपयोग आया है, वह चूर्ण रूप में अयस्कृति बनाकर आया है। आँखों के अंजन में प्रायः सब धातु–मुक्ता, प्रवाल, वैडूर्य, स्फटिक, तुत्थ, कासीस का उल्लेख सुश्रुत में बहुत ही स्पष्ट है। यह सब उल्लेख ११वीं शताब्दी में होनेवाले धातुप्रयोग से सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार चरक में लोहे, तुत्थ, कासीस का प्रयोग, मंडूर का उपयोग मिलता है; परन्तु यह प्रक्रिया सर्वथा अलग है। वृन्द, चक्रदत्त तक धातुओं के प्रयोग का यही रूप मिलता है। इसलिए यह निश्चित है कि आठवीं-नवीं शताब्दी तक चिकित्सा में धातुओं का प्रयोग एक दूसरे प्रकार का था। इस समय या इससे पूर्व स्वर्ण भले ही पारे के योग से बनता हो, परन्तु पारद का उपयोग देहसिद्धि के लिए नहीं था। सिद्धि या चिकित्सा में उसका उपयोग नवीं-दसवीं सदी में आरम्भ हुआ था।

चरक संहिता में धातुओं का उल्लेख—इस संहिता में तीन प्रकार के द्रव्य बताते हुए पार्थिव द्रव्यों में धातुओं का उल्लेख किया है। यहाँ पर छः ही धातु गिनी हैं (सुवर्ण समलाः पञ्च लोहाः ससिकता सुधा। मनःशिलाले मणयो लवणं गैरिकाञ्जने॥ सू० अ० १।७०)। ये छः धातु—सुवर्ण, ताम्र, रजत, त्रपु, सीसक, लोह हैं। मल शब्द से शिलाजतु लिया गया है। शिलाजतु भी धातुओं से निकलता है। इनके अतिरिक्त रेत, सुधा-चूना (तथा मिट्टी), मनःशिला, हरताल, मणियाँ, लवण, गैरिक, अंजन आदि भी इसी वर्ग में माने गये हैं।

यहाँ ध्यान देना आवश्यक है कि सुश्रुत में मोती को भी पार्थिव कहा है—(पार्थिवाः सुवर्णरजतमणिमुक्तामनःशिलामृत्कपालादयः—सूत्र अ० १।३२)। यहाँ पर मुक्ता को पार्थिव कहना इसके खर आदि पार्थिव गुणों की दृष्टि से है, न कि उत्पत्ति की दृष्टि से। इसी प्रकार शंख आदि मणियों को पार्थिव समझना चाहिए।

सुधा से चूने के साथ सौराष्ट्री, कांक्षी, कासीस आदि तथा मल से मण्डूर, किट्ट आदि वस्तुओं को भी समझना चाहिए। इसके आगे बहुत से उपरसों का उल्लेख है। ये उपरस-खनिज द्रव्य बाह्य और अन्तः दोनों प्रयोगों में आते हैं। धातुओं का उल्लेख बहुत नियमित रूप में है। इनका प्रयोग उस समय आधुनिक प्रयोग से सर्वथा भिन्न रूप में होता था। यथा—

त्रिफला के रस में (या क्वाथ में), गोमूत्र में, गोदुग्ध में, लवण के पानी में,

---

[illegible]कुङ्कुमगैरिकाणि मिश्रयं पारदचन्दने च॥ सुतार शब्द से टीकाकारों ने पारा अर्थ किया है, परन्तु पारे के पर्यायों में सुतार शब्द नहीं है। (सुश्रुत—चि. अ. २५)

इंगुदी के क्षार में और किंशुकक्षार में तीक्ष्ण लोह के पत्रों को अग्नि में लाल करके क्रमशः निर्वापित करे। लोहे के पत्र चार अंगुल लम्बे और तिल के बराबर पतले होने चाहिए। उपर्युक्त द्रव्यों में निर्वापित करने पर जब वे अंजन के (सुरमे के) समान बारीक हो जायें तब उनको आँवले के रस और मधु में चाटन की भाँति मिला-कर घी से भावित घड़े में रखकर एक साल तक जौ के ढेर में रख छोड़े। एक साल हो जाने पर इनका प्रयोग घी और मधु के साथ करना चाहिए। एक वर्ष के बीच में प्रति मास अच्छी प्रकार आलोडन (मन्थन) करते रहना चाहिए। सब प्रकार के लोहों की यह प्रयोगविधि है (चरक० चि० अ० १।३।१५—२०)।

इसी प्रकार एक दूसरे योग में त्रपु, सीस, ताम्र, रूप, कृष्णलोह और सुवर्ण इनको वच, मधु, घृत, विडंग, पिप्पली, त्रिफला और लवण के साथ एक वर्ष तक रसायन फल के लिए प्रयोग करना बताया है (चि० अ० १।३।४६—४७)। इसमें भी इनका सूक्ष्म चूर्ण करके प्रयोग विधेय है। यह चूर्ण अग्नि के द्वारा ही किया जाता था, परन्तु उसकी प्रक्रिया रसशास्त्र की प्रक्रिया से भिन्न थी।

चरकसंहिता में धातुओं के बारीक चूर्णों के लिए 'रजस्' शब्द का प्रयोग आता है (नवायोरजसो भागः—चि० अ० १६।७०); भस्म नहीं। मण्डूर का भी सुरमे के समान बारीक चूर्ण का ही उल्लेख है (मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाच्छुद्धमंजनसन्निभम्; चि० अ० १६।७४)। ताम्र का भी सूक्ष्म चूर्ण कहा है (दद्यात्ताम्ररजस्तस्मै सक्षौद्रं-हृद्विशोधनम्—चि० अ० २३।२३९)। स्वर्ण का भी सूक्ष्म चूर्ण बतलाया है (शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत्—चि० अ० २३।२३९)।

धातुओं के साथ स्वर्णमाक्षिक (ताप्याद्रिजतुरूप्यायोमलाः पञ्च पलाः पृथक्—चि० अ० १६।७८), रजतमाक्षिक (तथा रूप्यं मलस्य च—चि० अ० १६।८१), प्रवालचूर्ण (प्रवालचूर्णं कफमूत्रकृच्छ्रे—चि० अ० २६।५६) का भी उपयोग है। चरक में मुक्ताद्यचूर्ण नाम से एक योग है, यथा—

> मुक्ता प्रवाल वैडूर्य शंख स्फटिक मञ्जनम्।
> ससार गन्धक काचार्क सूक्ष्मैला लवणत्रयम्॥
> ताम्रायोरजसी रूप्यं ससौगन्धिक सीसकम्।
> जातीफलं शणाद्बीजमपामार्गस्य तण्डुला॥
> एषां पाणितलं चूर्णं तुल्यानां क्षौद्र सर्पिषा।
> हिक्कां श्वासं च कासं च लीढमाशु नियच्छति॥ (चि. अ. १८।१२५-१२७.)

मुक्ता, प्रवाल, वैडूर्य (बिल्लोर), शंख, स्फटिक, अंजन, ससार (स्फटिक भेद), गन्धक, काच, अर्क, सूक्ष्मैला, सैन्धव और सौवर्चल नमक, ताम्र और लोह का चूर्ण, चाँदी का चूर्ण, सौगन्ध्य (माणिक्य भेदचक्रपाणि), सीसक, जातीफल, सन के बीज, अपामार्गतण्डुल—इन सबका चूर्ण एक कर्ष मात्रा में मधु और घी के साथ खाने से हिक्का, श्वास, कास नष्ट होते हैं।

इस योग में धातुओं तथा दूसरे खनिज द्रव्यों का प्रयोग चूर्णरूप में ही हुआ है। यह चूर्ण अंजन-सुरमे के समान होना चाहिए, तभी शरीर में इसकी क्रियासम्भव है। पारद का उपयोग कुष्ठरोग में कहा है। वहाँ मारे हुए या बन्धीभूत रसके सेवन का उल्लेख है। पारे का यह बन्धन गन्धक या सुवर्णमाक्षिक के प्रयोग से कहा है—

> श्रेष्ठं गन्धकयोगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगाद् वा ।
> सर्वव्याधिनिबर्हणमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम् ॥ (चि० अ० ७।७१)

चरक संहिता के इस श्लोक की टीका में चक्रपाणि ने कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं दिया। पारद की गन्धक के साथ मिश्रणक्रिया की जाती है, परन्तु सुवर्णमाक्षिक के साथ पारद का कोई संस्कार रसशास्त्र में देखने में नहीं आया। चक्रपाणि ने इस प्रसंग में जो व्याख्या छोड़ दी है, इससे प्रतीत होता है कि उसके समय तक इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण नहीं था। रसशास्त्र की प्रक्रिया उन्नत नहीं थी। चक्रपाणि ने 'लेलीत (ह) क' को स्पष्ट करने के लिए निघण्टु का प्रमाण दिया है। रसशास्त्र में गन्धक का पर्याय लेलीतक मिलता है—

> गन्धे लेलीतको लेली गन्धमादनको बलिः ।
> सौगन्धो गन्धपाषाणः वसाकारो वसावटः ॥
> गन्धकः शुकपिच्छाभः सौगन्धिकनिकृन्तको ॥ (रसकामधेनु—२।४।१६)

चक्रपाणि ने लेलीतक का अर्थ गन्धक न करके 'पाषाणभेद औत्तरपथिक' कहा है, इसमें निघण्टु का प्रमाण भी लिखा है, जिससे यह वसा स्पष्ट होती है। रसकामधेनु में गन्धक के पर्यायों में वसाकार; वसावट शब्द आये हैं। इससे स्पष्ट है कि लेलीतक वसा है, उसी का नाम गन्धक है। चक्रपाणि जैसा विद्वान् सीधा अर्थ गन्धक न देकर 'पाषाणभेद औत्तरपथिक' अर्थ करता है, तब इससे स्पष्ट है कि उस समय यह शब्द स्पष्ट नहीं था; जिसका अर्थ है कि रसशास्त्र का अभी विकास नहीं हुआ था। चक्रपाणिदत्त का समय १०वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

धातुओं के साथ दूसरे उपरसों का उपयोग चरकसंहिता में बाह्य प्रयोग या धूमरूप में मिलता है। धूमप्रयोग में इन वस्तुओं के साथ सदा घी का उपयोग

बतलाया है, क्योंकि ये वस्तुएँ शुष्क होने से मस्तिष्क में रूक्षता (खालीपन–शून्यता) लाती हैं (चि० अ० १७।७७–७८)। मन:शिला को अन्य वस्तुओं के साथ घृत में सिद्ध करने को कहा है। इस घृत को भी श्वास रोग में बरतने का विधान किया है (चि० अ० १७।१४५–१४६)। मन:शिला घृत में घुलती नहीं; सम्भवत: उसका कुछ संस्कार आता होगा, यह मात्रा अवश्य बहुत न्यून होती होगी। मन:शिला का प्रसिद्ध रसशास्त्र, कथित योग रसमाणिक्य उस समय ज्ञात नहीं था।

कासीस, मन:शिला, हरताल, तुत्थ, गैरिक, अंजन इनको कुष्ठ रोग में बाहर बरतने का उल्लेख है (सूत्र० अ० ३)। ये वस्तुएँ उस समय भी ज्ञात थीं। हरताल, अंजन, मन:शिला का उल्लेख कालिदास ने भी किया है। ये मांगलिक मानी जाती थी (कु० सं० ७–२३, ५९; एवं प्राचीन भारत के प्रसाधन)।

इसी प्रसंग में गोरोचना का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। मनुष्य के शरीर में अश्मरी किस प्रकार बनती है, इसको समझाने के लिए अत्रिपुत्र ने कहा है, कि जिस प्रकार गाय के पित्ताशय में पित्त संचित होकर गोरोचन बनता है, उसी प्रकार मनुष्य में भी अश्मरी बनती है; इसको वायु सुखाती है (यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गो:॥ चि० अ० २६।३६)। गोरोचन गाय के पित्ताशय से मिलता है; इसका उस समय ज्ञान था। परन्तु मनुष्य के पित्ताशय में बननेवाली अश्मरी का उल्लेख आयुर्वेदसंहिताओं में नहीं मिलता, केवल वस्तिगत अश्मरी का ही उल्लेख है। पित्ताशय की अश्मरी का स्पष्ट ज्ञान यदि मनुष्य के सम्बन्ध में होता तो अवश्य उसका संक्षेप में निर्देश मिलता।

चरकसंहिता के समय धातु और खनिज वस्तुओं की जानकारी थी, इनका उपयोग भी चिकित्सा में होता था। परन्तु रसशास्त्रोक्त रूप से पृथक् ही इनका व्यवहार था। इसकी कुछ झलक यूनानी चिकित्सा में मिलती है। उनके यहाँ भी भस्मों (कुश्तों) का उपयोग है, परन्तु बहुत ही सरल रूप में वे इनको बनाते हैं। श्वेत अभ्रक, जिसे आयुर्वेद में निन्दित बताया है, वह चिकित्सा में बरती जाती है। वरक के रूप में सोना चाँदी खिलाने का उनका सरल रास्ता है। मोती, नीलम, पुखराज आदि मणियों की भस्म न करके वे इनको गुलाब या केवड़े के अर्क में पिसवाकर सुरमे के समान बनाकर काम में लाते हैं। यही रूप चरकसंहिता के समय प्रथम शताब्दी से नवीं शताब्दी तक प्रचलित था। इसी प्रकार के चूर्ण या रज का चरक में उल्लेख है—(वैडूर्यमुक्तामणिगैरिकाणां मृच्छंखहेमामलकोदकानाम्—चि० अ० ४।७९)।

सुश्रुत संहिता में धातु प्रयोग—चरक संहिता की अपेक्षा सुश्रुत में धातुओं का

प्रयोग अधिक स्थानों पर है तथा कुछ नये रूप में भी है। धातुओं से अतिरिक्त अन्य उपरसों का प्रयोग भी इसमें मिलता है, यथा अंजन का अन्तः उपयोग सुश्रुत में हुआ है (उत्तर०अ० ४४।२१)। मण्डूर को जलाने के लिए विशेष (बहेड़े की) लकड़ी का उल्लेख है (उत्तर० अ० ४४।३२)। इसमें सुवर्ण आदि धातु तथा मुक्ता, मणि, मनःशिला, मिट्टी आदि वस्तुओं को पार्थिव (पृथ्वी के गुणवाली) माना है। शरीर में सुवर्ण, चाँदी, ताम्र, पीतल (यह मिश्रित धातु है; चरक में इसका उल्लेख नहीं), त्रपु और सीसा इनके शल्य पित्त की गरमी से लीन हो जाते हैं (सूत्र०अ०२६। २०)। लोहा तीक्ष्ण और काल लोह भेद से दो प्रकार का कहा गया है।

सुश्रुत में यंत्र और शस्त्रों के निर्माण में लोहे का ही उपयोग बतलाया है, इसके लिए शब्द 'सुलोहानि' प्रयोग किया है (सू० अ० ८।८), अर्थात् अच्छे लोहे जो कि टूटें नहीं, जिनकी धार गिरे नहीं। (शस्त्रों में वक्र, कुण्ठ, खण्ड आदि दोष बताये हैं)। शस्त्रों को होशियार, काम को जाननेवाले लुहार द्वारा शुद्ध उत्तम लोहे से बनवाना चाहिए। (सू० अ० ८।१९)

लोह आदि धातुओं का शरीर में अन्तःप्रयोग भी होता था। इसी से इनका द्रव्यसंग्रहणीय अध्याय में उल्लेख किया है (त्रपुसीसताम्ररजतसुवर्णकृष्णलोहानि लोहमलांश्चेति—सू० अ० ३८६३)। ये वस्तुएँ कृमि, पिपासा, विष, हृदय रोग, पाण्डु, मेह को नष्ट करती हैं। लोहमल का अर्थ यहाँ शिलाजीत है (शिलाजीत सिन्धु-घाटी की खुदाई में मोहन्जोदड़ो में भी मिला है—वैदिक एज)। स्वर्ण, चाँदी, त्रपु, ताम्र, लोह, सीस के गुण निघंटु की दृष्टि से कहे हैं। (सूत्र० अ० ४६)

अयस्कृति—सुश्रुत की यह विधि लगभग वही है जो चरक में धातुओं का सूक्ष्म चूर्ण करने के लिए बतायी है। अन्तर इतना है कि इसमें एक वर्ष तक रखने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे—

तीक्ष्ण लोह के पतले पत्रों पर सैन्धव और सौवर्चल का लेप करके कंडों की आग में गरम करे। फिर इनको त्रिफला और शालसारादि गण के क्वाथ में बुझाये। इस प्रकार सोलह बार करे। फिर खैर की लकड़ी के कोयलों पर गरम करे। जब ये ठण्डे हो जायें तब कूटकर सूक्ष्म चूर्ण बना ले। फिर महीन वस्त्र में छानकर शक्ति के अनुसार घी और मधु के साथ खाये। इस प्रकार कम से कम एक तुला (१०० पल, आधुनिक दृष्टि से ४०० तोला, ५ सेर तक) खाये। (चि० अ० १०।११)

सुश्रुत की यह अयस्कृति इसी रूप में सिद्धयोग और चक्रदत्त में (परिणामशूला-

धिकार) मिलती है, जिससे स्पष्ट है कि लोह का सूक्ष्म चूर्ण करने के लिए १०वीं शती तक यही उपाय बरता जाता था। इसमें चरक की विधि से समय कम लगता है। लोहे की भाँति दूसरी धातुओं की भी अयस्कृति बनती थी। लोह, त्रपु और सीसक की चादरें भी बनती थीं, जिनके खण्डों से शरीर के स्वस्थ स्थान को घेरकर रुग्ण स्थान पर क्षार, अग्नि, शस्त्र की क्रिया की जाती थी[1]।

अंजन—सुश्रुत में सिन्धु देश में उत्पन्न स्रोतांजन उत्तम बताया है (चि० अ० २४।१८)। चरक संहिता में सौवीराञ्जन का उल्लेख है (सू० अ० ५।१५)। सिन्धु और सौवीर—ये दोनों नाम एक साथ आते हैं; जैसे कुरु पंचाल। सिन्धु और सौवीर परस्पर सटे हुए दो जनपद थे। सिन्धु नदी के पूर्व में सिन्धसागर दुआब का पुराना नाम सिंधु था। इस नदी या इस देश में उत्पन्न अंजन को सुश्रुत में उत्तम कहा है। सिन्धु नदी के निचले काँठे का नाम सौवीर जनपद था। इसकी राजधानी रौरव (वर्त्तमान रोड़ी) थी। इस स्थान पर उत्पन्न अंजन सौवीरांजन है। वास्तव में दोनों अंजन सिन्धु नदी या सिन्ध प्रदेश से आते हैं। सम्भवतः इनमें कुछ अन्तर भूमि की विशेषता से हो। परन्तु नाम भेद का कारण स्थानों की दृष्टि से ही है।

वेद में जिस त्रिककुद् अंजन का उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय अंजनगिरि पर्वत से ही दीखता है। अफगानिस्तान में सुलेमान पर्वत की शृंखला है। इसमें टोबा, काकड़ और शीनगर के साथ उसकी तीन वाहियाँ हैं। त्रिककुद् पर्वत यही तीन वाहियों के रूप में था, जिसका अंजन पंजाब में जाता था। पाणिनि का अंजन-गिरि यही है।[2] इससे स्पष्ट है कि अंजन का मुख्य आयात सिन्ध की तरफ से होता था। आज भी मुलतान, डेरा गाजी खाँ, कश्मीर में अंजन का जितना प्रचार है, उतना पूर्व या दक्षिण भारत में नहीं है। चरक में भी दैनिक कार्यों का प्रारम्भ अंजन लगाने से बतलाया है, इसका महत्त्व उस देश में अधिक था।

सुश्रुत में अंजन का उपयोग आँख में आँजने के सिवाय रक्तस्तम्भक रूप में तथा

---

१. यदल्पमूले त्रपुताम्रसीसपट्टैः समावेष्ट्य तदायसैर्वा।
क्षाराग्निशस्त्राण्यसकृद् विदध्यात् प्राणार्नाहिंसन् भिषगप्रमत्तः॥
(चि. अ. १८।१८।१९)

२. 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' से

व्रणों की चिकित्सा में भी बताया है (सू० अ० ३८। ४२)। रक्तपित्त चिकित्सा में भी अंजन का उपयोग मिलता है (उत्तर० ४५।३१; अ० ४५–३३)।

सुवर्ण का उपयोग तो रसायन, मेधा और आयु बढ़ाने के लिए बहुत ही उदारतापूर्वक किया गया है। बच्चा उत्पन्न होते हुए उसे स्वर्ण चटाने का उल्लेख है (शा० अ० १०।६८)। इसमें भी सुकृत चूर्ण—अच्छी प्रकार से चूर्ण बनाकर देने को ही लिखा है। मेधायुष्कामीय रसायन में (चि० अ० ३८) सुवर्ण का उपयोग मधु और घृत के साथ तथा अन्य द्रव्यों के साथ चाटने के लिए पाँच सात स्थानों पर आया है (१०, १४, १५, १७, २०, २१, २२, २३)। इससे स्पष्ट है कि सुवर्णचूर्ण का उस समय सामान्य रूप में व्यवहार होता था। यह अयस्कृति रूप से ही बनता होगा, क्योंकि इस समय तक इसको सूक्ष्म करने की यही प्रक्रिया ज्ञात थी।

अक्षिरोगों में धातुओं का व्यवहार—सुश्रुत में धातुओं का उपयोग अंजन के रूप में भी बताया है। इस चूर्ण का सुरमे के समान महीन होना आवश्यक है, मोटा सुरमा आँखों में टिकता नहीं। इसलिए अंजन के रूप में इनका बारीक चूर्ण अयस्कृति से बनता था या इसकी कोई दूसरी विधि थी, यह कहना सम्भव नहीं। भस्म से अंजन में धातु का प्रभाव होगा यह सन्दिग्ध बात है। धातुओं का महीन चूर्ण ही यह गुण कर सकता है—

वैडूर्यं यत् स्फटिकं वैद्रुमं च मौक्तं शाङ्खं राजतं शातकुम्भम्।
चूर्णं सूक्ष्मं शर्कराक्षौद्रयुक्तं शुक्तिं हन्यादञ्जनं पैत्तिकानाम् ॥ (उ. अ. १०।१५)

लोहचूर्णानि सर्वाणि धातवो लवणानि च।
रत्नानि दन्ताः शृङ्गाणि गणश्चाप्यवसादनः ॥
कुक्कुटाण्डकपालानि लशुनं कटुकत्रयम्।
करंजबीजमेला च लेख्याञ्जनमिदं स्मृतम् ॥ (उ. अ. १२।२४।२५)

शंखं समुद्रफेनं च मण्डूकीं च समुद्रजाम्।
स्फटिकं कुरुविन्दं च प्रवालाश्मन्तकं तथा ॥
वैडूर्यं पुलकं मुक्तामयस्ताम्ररजांसि च।
समभागानि संपिष्य सार्धं स्रोतोञ्जनेन तु ॥
चूर्णाञ्जनं कारयित्वा भाजने मेषशृङ्गजे।
अर्माणि पिडका हन्यात् सिराजालानि तेन वै ॥ (उ. १५।२५-२७)

[illegible] वा कनककरोद्भवं सुचूर्णितं भेषजमुशन्ति तद्विदः ॥ (उ. अ. १७।३९.

वैडूर्य (बिल्लौर), स्फटिक, प्रवाल, मुक्ति, शंख, चाँदी, स्वर्ण इनका बारीक चूर्ण करके शर्करा और मधु के साथ अंजन करने से शुक्ति रोग नष्ट होता है। लोह समेत सब धातुओं का चूर्ण (स्वर्ण, चाँदी, त्रपु, ताम्र और सीस), सब लवण, रत्न, दाँत, सींग, मिश्रक अध्याय में कहा अवसादक गण, मुर्गे के अण्डे के छिलके, लहसुन, त्रिकटु, करंज के बीज, इलायची इनका बना अंजन लेखन कार्य के लिए उत्तम है। शंख, समुद्रफेन, मोती की सीप, स्फटिक, कुरुविन्द (जिससे शाण बनती है), प्रवाल, अश्मन्तक, वैडूर्य, पुलक (?), मोती, लोह, ताम्रचूर्ण इनको स्रोतांजन के साथ पीसकर अंजन बनाये। इसे मेष (मेढ़े) के सींग में रखे। इसके लगाने से अर्म, पीड़िका, सिराजाल नष्ट होते हैं। सोने की खान से उत्पन्न (तुत्थ) को रसांजन के साथ मिलाकर अंजन करना चाहिए।

धातुओं के सिवाय स्वर्णमाक्षिक (धातु नदीजं जतु शैलजं वा—उत्तर अ० ४४। ३१), मण्डूर (३४) का उपयोग भी लिखा है। लोहे के चूर्ण को बहुत समय तक गोमूत्र में रखकर बरतने का विधान है (उत्तर० अ० ४४।२१)। स्वर्णगैरिक का, प्रवाल, मुक्ता, अंजन, शंख मिलाकर उपयोग पाण्डुरोग में लिखा है (अ० ४४।२१)। एक प्रकार से लोह का या लोहवाले द्रव्यों का मुख्य उपयोग आयुर्वेद की संहिताओं में पाण्डुरोग में मिलता है। इसी रोग में तथा रक्त-पित्त में अंजन का उपयोग है। इसलिए इतना तो स्पष्ट है कि रक्त से सम्बन्धित रोगों में लोह और अंजन का उपयोग ईसा की दूसरी शती में इस देश में चलता था। इस प्रयोग में क्या सिद्धान्त था, यह कहना सम्भव नहीं। अंजन का उपयोग कालाजार में बीसवीं सदी में हुआ है।

पारद का उपयोग सुश्रुत में दो ही स्थानों पर आया है, वह भी बाह्य प्रयोग में (चि० अ० २५।३९)। अन्तः प्रयोग में पारा या गन्धक का उपयोग नहीं है।[१] इसलिए इतना स्पष्ट है कि पारद का उपयोग चिकित्सा में नहीं था। उसकी सामान्य जानकारी थी। इसे धातु नहीं माना, न इसकी गणना किसी वर्ग में की है। मैनशिल का 'नैपालजाता'—नाम सुश्रुत में प्रथम मिलता है (उत्तर० अ० २१।१६)। इसीप्रकार सैन्धव के लिए 'नादेयमग्रयम्' (अ० २१।१६) नाम बतलाता है कि यह सिन्ध

---

१. तारः सुतारः ससुरेन्द्रगोपः सचक्र तुल्यः कुरुविन्दभागः—क. अ. ३।१४. में सुतार से पारा, सुरेन्द्रगोप से सुवर्ण लिया है। इनका व्रणों पर लेप करना चाहिए।

प्रदेश में होता है (नादेयमग्रयं शब्द से स्रोतांजन-सुरमा लेना अधिक उचित होगा, पुराने टीकाकारों ने सैन्धव लिया है)।

सुश्रुत में चरक की अपेक्षा खनिज द्रव्य तथा धातुओं का विशद उपयोग है, इनके प्रयोग की प्रक्रिया सरल है। अन्तःप्रयोग के सिवाय बाह्य उपचार में भी इनका व्यवहार हुआ है।

अष्टांग संग्रह और हृदय में धातुओं का व्यवहार—वाग्भट ने सुश्रुत की भाँति धातुओं के रस, वीर्य, विपाक का वर्णन किया है (संग्रह, सू० अ० १२।१२।२८)। इसमें भी कृष्ण लोह और तीक्ष्ण लोह पृथक् कहे हैं। धातुओं के साथ में पद्मराग, महानील, पुष्पराग, मुक्ता, विद्रुम आदि के भी गुण धर्म लिखे हैं। काच का उल्लेख इसमें ही हुआ है। यह स्पष्ट नहीं है कि काच से नमक, शीशा या काच-निर्माण की मिट्टी क्या अभिप्रेत है। नमक तो इसलिए सम्भावित नहीं कि दूसरे नमक यहाँ नहीं कहे। शंख, समुद्रफेन, तुत्थ, गेरू, मैनसिल, हरताल, अंजन, रसांजन, शिलाजतु इन सबका उल्लेख इस स्थान में एक साथ हो गया है। संग्रह ही पहला ग्रन्थ है, जिसमें वंशलोचन और तुगाक्षीरी दोनों को अलग बताया है। सामान्यतः तुगा या तुगाक्षीरी से आयुर्वेद में वंशलोचन ही बरता जाता है। यूनानी हकीम दोनों को अलग मानते हैं।

संग्रह की चिकित्सा में धातुओं का उपयोग प्रायः चरक और सुश्रुत की ही भाँति है। अयस्कृति तथा अन्य प्रक्रियाओं में थोड़ा भेद मिलता है। धातुओं की अयस्कृति बनाने के लिए कहा गया है—

त्रिवृत, श्यामा, अग्निमन्थ, सप्तला, केबुक, शंखिनी, तिल्वक, त्रिफला, पलाश और शीशम इनका रस या क्वाथ लेकर पलाश (ढाक) की द्रोणी में डालकर, लोहे के पतले पत्रों को खैर के कोयलों में लाल करके इस रस में इक्कीस बार बुझायें। फिर रस को लोहधातु की थाली में रखकर कंडों की आग पर पकायें। जब यह गाढ़ा हो जाय, तब इसमें पिप्पलीचूर्ण एक भाग, मधु और घृत के दो-दो भाग मिला दे। जब पक जाय तब इस लोह पात्र को सुरक्षित रख दे। यह अयस्कृति दुःसाध्य कुष्ठ और प्रमेह को भी नष्ट कर देती है।

आँख के रोगों में वैदूर्य, स्फटिक, शंख, मुक्ता, विद्रुम के साथ चाँदी, लोह, त्रपु, ताम्र, सीसा, हरताल, मैनसिल, कुक्कुटाण्डत्वक्, समुद्रफेन, रसाञ्जन, सैन्धव इनको बकरी के दूध में पीसकर वर्त्ती बनाने का उल्लेख किया है (उत्तर अ० १४)।

सोना, चाँदी, लोह इनके चूर्ण के साथ त्रिफला मिलाकर मधु और घृत से खाने का उल्लेख है (उत्तर० अ० २६)। स्वर्णमाक्षिक, त्रिफला, लोह इनको मधु और पुरातन घृत के साथ नेत्ररोग में उपयोगी कहा है (उत्तर० अ० २६)।

रसायन अध्याय (उत्तर० अ० ४९) में स्वर्ण का उपयोग विस्तार से मिलता है। इसमें केवल सुवर्ण का ही नहीं, अपितु लोहों का भी उपयोग मधु, तवाक्षीर, पिप्पली, सैन्धव नमक के साथ करने को कहा है। चरक की भाँति लोहे के चार अंगुल, तिल के समान पत्तरों को अग्नि में तपाकर आँवले के रस में इक्कीस बार बुझाकर इनको ढाक की थाली में रखकर ऊपर से आँवले का रस डालकर एक वर्ष तक भस्मराशि में रखने को कहा गया है। बीच-बीच में प्रति मास दण्ड से इनको घोटता जाय। आँवले का रस सूख जाय तो और रस डाल देना चाहिए। इस प्रकार से एक वर्ष में ये द्रवरूप हो जाते हैं। इसके पीछे इनका उपयोग करना चाहिए।

आयुष्य के लिए सुवर्ण को शंखपुष्पी के साथ, बुद्धि बढ़ाने के लिए वच के साथ, लक्ष्मी की चाह के लिए कमलगट्टे की गिरी (पद्मकिञ्जल्क) के साथ, वृष्यता के लिए विदारी के साथ खाना चाहिए।

संग्रह में सुवर्णमाक्षिक का भी रसायन रूप से उपयोग लिखा है। इसके उत्पत्ति-स्थान तापी, किरात, चीन और यवन प्रदेश कहे हैं। तापी से उत्पन्न होने के कारण इसको 'ताप्य' कहते हैं। स्वर्णमाक्षिक और रजतमाक्षिक का भेद स्पष्ट किया गया है (मधुरः काञ्चनाभासः साम्लो रजतसन्निभः—जिसमें मधुरता हो और स्वर्ण की झलक हो वह ताप्य स्वर्णमाक्षिक और जिसमें अम्लता, चाँदी की सफेद झलक हो वह रजतमाक्षिक है)। ताप्य शब्द दोनों माक्षिकों के लिए आता है। दोनों ही माक्षिक कुछ कषाय, शीत वीर्य, विपाक में कटु और लघु हैं। इनके उपयोग में भी शिलाजतु के समान परहेज पालना चाहिए। इनका उपयोग रसायन गुण करता है—बुढ़ापा नहीं आता, विषों का प्रभाव नहीं होता, पाण्डु, प्रमेह, ज्वर आदि रोग नहीं होते। माक्षिक धातु के चूर्ण को मधु, घृत, त्रिफला मिलाकर खाने से बुढ़ापा नष्ट हो जाता है; जिस प्रकार अरण्यवास, गुफा में रहने से संसार का बन्धन छूट जाता है (शनैः शनैर्याति जरा विनाशं प्रत्यन्तवासादिव लोकयात्रा)।

पारे का उल्लेख—हृदय में आँख के रोगों में पारे का अंजन लगाना कहा है। पारद, सीसा समान भाग, दोनों के बराबर अंजन और थोड़ा-सा कपूर मिलाकर अंजन करने से तिमिर नष्ट होता है।

रसेन्द्रभुजगौ तुल्यौ तयोस्तुल्यमथाञ्जनम् ।
ईषत्कर्पूरसंयुक्तमञ्जनं तिमिरापहम् ॥ (उत्तर० अ० १३।३६)

आँख के रोगों में ताम्र का उपयोग (उत्तर० अ० १६।३४–३५) और ताम्र, चाँदी, लोह, स्वर्ण का उपयोग (अ० १३।२०) में आया है ।[1]

विष नाश के लिए चरक की भाँति ताम्र रज से हृदय शुद्ध होने पर स्वर्ण का सेवन लिखा है । इसमें सुवर्णमाक्षिक और सुवर्ण का चूर्ण शर्करा और मधु के साथ सेवन करना भी बताया है (अ० ३५।५५–५६) ।

एक प्रकार से संग्रह और हृदय में पारद और धातुओं का उपयोग सीमित है, प्राचीन वर्णन ही है । धातुओं का उपयोग चूर्ण रूप में था । पारद का रसचिकित्सा रूप में अन्तःप्रयोग नहीं था । गन्धक का उपयोग भी बाह्य प्रयोग तक ही सीमित था । धातु, उपधातु, रस (पारद) की जानकारी थी, परन्तु विस्तृत उपयोग नहीं था, पृथक् चिकित्सा नहीं आरम्भ हुई थी । यह समय लगभग चौथी, पाँचवीं शताब्दी का है ।

सातवीं शताब्दी में धातुओं का उपयोग—इस समय की जानकारी बाण के काव्यों से मिल जाती है । बाण ने अपने साथियों का परिचय देते हुए लिखा है—

जाङ्गुलिको मयूरकः, भिषक्पुत्रो मन्दारकः, मन्त्रसाधकः करालः, असुरविवर-व्यसनी लोहिताक्षः, धातुवादविद् विहङ्गमः—(हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास) ।

जांगुलिक (विषवैद्य या गारुड़ी) मयूरक, भिषक्पुत्र मन्दारक, मन्त्रसाधक कराल, पाताल में घुसने की विद्या जाननेवाला लोहिताक्ष, धातुवाद (कीमियागरी) को जाननेवाला विहङ्गम; बाण के साथी थे ।

इससे स्पष्ट है कि उस समय धातुवाद चिकित्सा से पृथक् था । रसशास्त्र और नागार्जुन के समय के विषय में सन्देह तभी होता है जब हम धातुवाद (कीमियागरी Alchemy रसायन) को चिकित्सा से सम्बद्ध करते हैं । धातुवाद कौटिल्य अर्थ-शास्त्र (३२५ ईसा पूर्व) में भी मिलता है, परन्तु रसचिकित्सा—जो आज प्रचलित

है, उसका उल्लेख नहीं है। इन दोनों वस्तुओं को यदि पृथक् रखा जाय तो कुछ भी अड़चन नहीं होती।

धातुवाद—एक धातु को दूसरी धातु में बदलना यह पृथक् विज्ञान था, इसका चिकित्सा से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह विज्ञान स्वतंत्र रूप से भारत में उन्नत हुआ था। इसी से बाण ने भिषक्पुत्र मन्दारक और धातुवादविद् विहङ्गम का पृथक् उल्लेख किया है। चिकित्सा में धातु का प्रयोग प्राचीन संहिताओं में अवश्य है, परन्तु वह सीमित तथा अन्य प्रक्रिया से है। पारद का अन्तः प्रयोग नहीं के बराबर ही है। इसलिए सातवीं शती तक रसशास्त्र का विकास नहीं पाया जाता।[1] बाण ने कादम्बरी में (द्रविड़ साधु के वर्णन में) कच्चा पारा खाने से काल ज्वर, पारे से सोना बनाने (धातुवाद-कीमियागरी) और श्रीपर्वत का उल्लेख किया है।

दसवीं शताब्दी में धातुओं का उपयोग—नवीं शताब्दी के वृन्दरचित सिद्धयोग-संग्रह तथा दसवीं शताब्दी के चक्रपाणिदत्त कृत चक्रदत्त में रसचिकित्सा—धातुओं का उपयोग प्राचीन संहिताओं से अधिक मिलता है। परंतु पारद का उल्लेख नहीं के बराबर है। चक्रदत्त में धातुओं का शोधन-मारण लिखा है।

वृन्द ने नेत्रवर्ती के सम्बन्ध मे लिखा है कि इसको नागार्जुन ने पाटलिपुत्र के शिलास्तम्भ पर लिखा दिया है। चक्रपाणि ने भी इसे इसी रूप में उद्धृत किया है। प्राचीन काल में राजाज्ञाएँ या सूचनाएँ पत्थर पर उत्कीर्ण कर सर्वसामान्य की जानकारी के लिए स्थायी कर दी जाती थीं। नागार्जुन ने भी इसीलिए उसे पाटलि-पुत्र के स्तम्भ पर खुदवा दिया था।

बस, इस उल्लेख से तथा रसेन्द्रमंगल-ग्रन्थकर्ता के नाम एवं अन्य दन्तकथाओं के आधार पर नागार्जुन का सम्बन्ध रसविद्या से जोड़कर जिस-जिस समय पर नागा-र्जुन का अस्तित्व मिला, वहाँ तक रसशास्त्र के विकास की खींचातानी की गयी। वास्तव में ८४ सिद्धों की श्रेणी के अन्तर्गत सरहपा के शिष्य नागार्जुन (आठवीं और नवीं शती के मध्यकाल के लगभग) का ही रसशास्त्र से सम्बन्ध है। वृन्द और चक्रपाणि ने जिस नागार्जुन का उल्लेख किया है, वह यही सिद्ध नागार्जुन सम्भावित है।

---

१. बाण ने हर्षचरित में "रसायन" नामक वैद्य का भी उल्लेख किया है। यह नाम सम्भवतः उसका छोटी आयु (१८ वर्ष की आयु) में ही आयुर्वेद के आठों अंगों में निपुण होने से पड़ा हो; क्योंकि रसायन सेवन से मेधा और आयु की वृद्धि होती है।

सिद्धों से पहले धातुवाद प्रचलित था। सिद्धों ने प्राचीन धातुप्रयोग को चिकित्सा में देखकर धातुवाद के साथ इस चिकित्सा को मिलाया। इस क्रिया में पारद का बहुत उपयोग हुआ, वही इसका आधार था। इसलिए इसका नाम रस-चिकित्सा चल पड़ा। प्रथम यह चिकित्सा बौद्ध सिद्धों से चली, पीछे से शैव सम्प्रदाय के सिद्धों ने भी इसे अपनाया। सिद्धों में बौद्ध, शैव दोनों हुए हैं; कापालिक मत भी सिद्धों का ही रूपान्तर है। इसलिए इसमें शिव, भैरव आदि की उपासना के साथ जहाँ पारद का सम्बन्ध मिलता है, वहाँ बौद्ध धर्म के देवी-देवताओं का भी समावेश शैव धर्म में आ गया। पीछे यह रसविधान की परम्परा एक हो गयी—जिसका साक्षी सर्वदर्शनसंग्रह का 'रसेश्वर दर्शन' है, जो कि ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास गठित हो सकता है। इस समय धातुवाद और रसचिकित्सा एक हो गये थे। धातुवाद का उपयोग शरीर को अजर-अमर बनाने में होने लगा था। पारद के योग से यह सफलता मिलती थी, इसी लिए इसको 'रसायन' नाम दिया गया। यह रास्ता सरल और संक्षिप्त था।

चरक-संहिता की कुटी-प्रावेशिक विधि कठिन और लम्बी थी। दूसरी वातातपिक विधि भी लम्बी और बहुत बन्धनोंवाली थी। सामान्य व्यक्ति इनमें से एक भी विधि नहीं बरत सकता था (तपसा ब्रह्मचर्येण ध्यानेन प्रशमेन च। रसायनविधानेन कालयुक्तेन चायुषा॥ स्थिता महर्षयः पूर्वं नहि किंचिद् रसायनम्। विधूय मानसान् दोषान् मैत्रीं भूतेषु चिन्तयन्। कृतक्षणम्। आदि नियमों की रुकावटें इसमें हैं)। इसलिए इन सब बाधाओं से रहित, सरल, सब अवस्थाओं में सेवन करने योग्य रसायन का आविष्कार इन सिद्धों ने पारद से किया[1]। फलस्वरूप शरीर को निरोगी, स्थायी बनाने के लिए उन्होंने धातुवाद को चिकित्सा से मिला दिया। यहीं से रसशास्त्र का पृथक् रूप बना, जिसका समय दसवीं शताब्दी है। नवीं-दसवीं

---

१. इसे ही आसुरी सम्पत् कहा है, इसमें मन के दोष तम रज बने रहते हैं, मानसिक दोष रहने से मन शुद्ध नहीं होता, परन्तु रसप्रयोग शरीर को अजर-अमर कर देता है। इसी से कहा है—

आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थकाममोक्षाणाम्।
श्रेयः परं किमन्यत् शरीरमजरामरं विहायैकम्॥

(रस हृदय तंत्र)

शताब्दी में वृन्द ने इसका सिद्धयोगसंग्रह में उल्लेख किया, दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में चक्रपाणिदत्त ने चक्रदत्त में इसे अधिक परिष्कृत कर दिया।[1]

श्री शंकराचार्य का जन्म ७८८ ईसवी में हुआ था। इनके गुरु भगवद्गोविन्दपाद, जिन्होंने रसहृदय बनाया, उनका समय भी सातवीं आठवीं शताब्दी संभव है। उक्त ग्रन्थ में रसशास्त्र का महत्त्व शरीर को अजर-अमर करने में बताया है। इससे भी प्रकट है कि इस समय या इसके आस-पास रस का प्रयोग इस कार्य में निश्चित होने लग गया था।

ग्यारहवीं शताब्दी में रस-धातु प्रयोग—इस समय का एक मात्र ग्रन्थ चक्रपाणि रचित चक्रदत्त है, दूसरा अल्बेरूनी का वर्णन है, जो कि महमूद के साथ (१०१७ ई० के आसपास) भारत में आया था। उसने पेशावर और मुलतान के पण्डितों से संस्कृत पढ़ी थी। वह भारत में १०१७ से १०३० ईसवी तक रहा था। अल्बेरूनी ने जिन पुस्तकों का अनुवाद अल्वसाईद खलीफा प्रथम के समय किया था, वे 'इण्डिया' 'ब्रह्मसिद्धान्त' नामक पुस्तकें लिखते समय उसके पुस्तकालय में थीं। इन पुस्तकों में अली इब्न जैन का किया चरक का अनुवाद, पंचतंत्र, कलीला और दीम्मा थे। शिक्षित सभ्य अरब के घर में चरक का पहुँचना इस बात का प्रमाण है कि भारतीय चिकित्सा वहाँ भी पहुँच गयी थी (हिस्ट्री और हिन्दू कैमिस्ट्री—पृष्ठ ६७)।

चक्रदत्त में आये 'महाबोधि प्रदेश' (मगध के लिए), 'बोधिसत्त्वेन भाषितम्', सुखावतीवर्त्तिः सौगतमंजनम्' आदि शब्द इस शास्त्र पर बौद्धों का प्रभाव स्पष्ट करते

---

१. **सिद्धयोग में रसप्रयोग**—

(१) **रसेन्द्रेण समायुक्तो रसो धत्तूरपत्रजः।**
ताम्बूलपत्रजो वाथ लेपनं यौकनाशनम्॥

(२) **त्रिफलाव्योषसिन्धूत्थयष्टीतुत्थरसांजनम्।**
प्रपौण्डरीकं जन्तुघ्नं लोध्रं ताम्रचतुर्दश॥
द्रव्याण्येतानि संचूर्ण्य वर्त्तिः कार्या नभोऽम्बुना।
नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके॥

(३) **रसगन्धकताम्राणां चूर्णं कृत्वा समाक्षिकम्।**
पुटपाकविधौ पक्त्वा मधुनालोड्य संलिहेत्॥ (रसायनाधिकार)

(४) **कर्षद्वयं गन्धकस्य तदर्द्धं पारदस्य च।**
विडालपदमात्रं तु लिह्यात् तन्मधुसर्पिषा॥ (अम्लपित्ताधिकार)

हैं। चक्रपाणिदत्त स्वयं ब्राह्मण परम्परा को माननेवाले थे। वृन्द और चक्रपाणि दोनों पर तंत्रों का प्रभाव दीख पड़ता है। इसी लिए अपने योगों में इन्होंने गुण-वृद्धि के लिए तंत्र का प्रयोग किया है।[1]

हर्षचरित के वर्णन तथा ह्युआन स्वांग के उल्लेख से आठवीं शताब्दी के उत्तरीय भारत का चित्र स्पष्ट हो जाता है। ग्यारहवीं शताब्दी तक बौद्धधर्म भारत में प्रभावशाली रहा। हिन्दू धर्म के प्रति वह सहिष्णु भी था, इस विषय में मदनपाल का ताम्रपत्र महत्त्वपूर्ण है। सब पालवंशी राजा बौद्ध थे। ताम्रपत्र में एक ब्राह्मण को दी गयी दक्षिणा का उल्लेख है; जो कि उसे अन्तःपुर में रानी को महाभारत सुनाने के उपलक्ष में दी गयी थी। इससे स्पष्ट है कि बुद्धधर्म और हिन्दूधर्म एक साथ मिले हुए विकसित हो रहे थे। हर्ष भी शैव और बौद्ध दोनों धर्मों का पालन करता था।

तंत्रों में बौद्ध तथा ब्राह्मणधर्म सम्बन्धी दोनों परम्पराएँ मिलती हैं। दोनों ही तंत्र एक समान बढ़ रहे थे। ब्राह्मण तंत्र शिव और पार्वती को तथा बौद्ध तंत्र तथागत या अवलोकितेश्वर को लक्ष्य करके बनाये गये थे। कुछ तंत्र दोनों से सम्बन्धित थे; जसे कि महाकालतंत्र, रसरत्नाकर। रसरत्नाकर का लेखक नागार्जुन कहा जाता है। रसार्णव भी इसी प्रकार का ग्रन्थ है। रसायन का सम्बन्ध शिव सम्बन्धी तन्त्रों के साथ अधिक है। क्योंकि रस, पारद का सम्बन्ध शिव के साथ ही है।

रसशास्त्र का प्रयोजन धातुवाद (अल्केमी) ही नहीं था; इसका उद्देश्य देहवेध के द्वारा मुक्ति प्राप्त करना था।[2] रसार्णव सम्भवतः १२वीं सदी में लिखा गया है। क्योंकि सर्वदर्शनसंग्रह के लेखक माधवाचार्य विजयनगर के प्रथम 'बुक्क' राजा के

---

१. गोविन्दाचार्य के रसहृदय तंत्र में तथा रसामृत में बौद्धों का उल्लेख मिलता है, यथा—"एवं बौद्धा विजानन्ति मोक्षमेकं निर्वाणिनः"—रस हृदयतंत्र। "बौद्धमतं तथा ज्ञात्वा रससारः कृतो मया"—रसामृत.

२. न च रसशास्त्रं धातुवादार्थमेवेति मन्तव्यं, देहवेधद्वारा मुक्तेरेव परमप्रयोजनत्वात्। तदुक्तं रसार्णवे—

लोहवेधस्त्वया देव यद्दत्तः परमः शिवः।
तं देहवेधमाचक्ष्व येन स्यात् खेचरी गतिः॥
यथा लोहे तथा देहे कर्तव्यः सूतकः सदा।
समानं कुरुते देवि प्रत्ययं देहलोहयोः॥

प्रधान मंत्री थे, इनका समय १३३१ ईसवी है। इसमें एक 'रसेश्वरदर्शन' भी है; जिसके उद्धरण रसार्णव से लिये गये हैं।

इससे पूर्व अमरकोश में (१००० ईसवी) पारद के चपल, रस और सूत पर्याय मिलते हैं। महेश्वर के विश्वकोश में (११८८ ईसवी) में हरबीज पर्याय भी जोड़ा गया है। इससे इतना स्पष्ट है कि तंत्रों में पारद-गन्धक का उल्लेख ११वीं १२वीं शताब्दी में होने लगा था (डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय)। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में (५८७ ईसवी) लोह, पारद का उपयोग वृष्य, वाजीकरण के लिए हुआ है।[1]

रसार्णव—जो कि १२वीं शताब्दी में माधव द्वारा लिखा गया है; एक प्रकार का संग्रह ग्रन्थ है। इसमें बहुत-से उद्धरण दिये गये हैं। रसार्णव में इसके उपदेष्टा शिव हैं। नागार्जुन का बनाया रसरत्नाकर भी तंत्र रूप में है।

चौदहवीं शताब्दी में रस धातु प्रयोग—इस काल में (१३६३ ईसवी) शार्ङ्गधर-संहिता की रचना हुई है। इसमें पारद और धातुओं का उल्लेख है। शार्ङ्गधर के पिता का नाम दामोदर था, जो कि राघवदेव का पितामह था। चौहान राजा हम्मीर राघवदेव को बहुत मानते थे। हम्मीर की सभा में सौगतसिंह नाम का एक दूसरा चिकित्सक भी था (एषा सौम्यतसिंहभिषजा लोके प्रकाशीकृता। हम्मीराय महीभुजे ......संभोजभाजे भृशम्॥—हिस्ट्री आफ हिन्दू कैमिस्ट्री, २रा भाग)।

रसतंत्र का विकास आठवीं सदी से प्रारम्भ हुआ और ११-१२ वीं सदी में अपनी पूर्णता को पहुँच गया था। इसके आगे रसतंत्र या रसचिकित्सा केवल रोगनिवृत्ति तक ही रह गयी। रसेन्द्रसारसंग्रह (गोपालकृष्ण भट्ट कृत) एवं शार्ङ्गधरसंहिता जो कि १३-१४ वीं शताब्दी में बने हैं, इनका क्षेत्र रोगनिवृत्ति तक ही है। रसेन्द्रसार-संग्रह में रसचिकित्सा का प्रयोजन बताते हुए लिखा है—"रसौषध की मात्रा बहुत थोड़ी होती है, इसके सेवन से जी मिचलाना, अरुचि आदि शिकायतें नहीं होतीं, जल्दी आरोग्य मिलता है, इसलिए औषधियों की अपेक्षा रसों का अधिक महत्त्व है।" इससे स्पष्ट है कि इस समय पारद का उपयोग रोग निवृत्ति तक ही सीमित हो गया। पारद की लोहसिद्धि सम्बन्धी प्रक्रिया समाप्त हो गयी। रोगनिवृत्ति तक जितने संस्कार

---

१. रसग्रन्थों में पारद के बहुत-से योग भिन्न-भिन्न कार्यों में लिखे हैं—यथा:-स्तम्भकर (रसकामधेनु—पृष्ठ ५००); वीर्यरोधनी गुटिका (५०१), रसायन-वीर्यायु के लिए (पृष्ठ ५०३), वज्रसुन्दरी, हेमसुन्दरी, वज्रखेचरी आदि प्रयोग बतलाये गये हैं।

पारद के उपयोगी थे, उनका ही प्रचार रह गया। अन्य संस्कार लोहवेध, देहवेध कार्यों में उपयोगी थे। सत्रहवीं सदी में तुलसीदासजी ने राजयक्ष्मा रोग में मृगांक रस का उपयोग लिखा है (कवितावली, सुन्दरकाण्ड–२५)। इससे स्पष्ट है कि उस समय क्षयरोग में मृगाङ्क आदि रसों का प्रचार सामान्य हो गया था।

डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय के विचार—नागार्जुन और तंत्र सम्बन्धी—हिस्ट्री और हिन्दू कैमिस्ट्री (भाग२) में डाक्टर राय ने नागार्जुन को 'सर्वं शून्यम्'—माध्यमिक सिद्धान्त का संस्थापक कहा है। शून्यवाद माध्यमिक वाद का मुख्य भाग है। च्युआन श्वांग ने नागार्जुन को देव, अश्वघोष और कुमारिल भट्ट के साथ संसार के चार सूर्य बतलाया है। ४०१-४०९ ईसवी में किया गया, नागार्जुन बोधिसत्त्व की जीवनी का चीनी भाषा में अनुवाद मिलता है। तारानाथ ने लिखा है कि तिब्बती भाषा में इसका उल्लेख हुआ है। नागार्जुन की जीवन सम्बन्धी सूचनाएँ तारानाथ द्वारा संगृहीत तिब्बती संग्रह के ऊपर आश्रित हैं, जो कि बौद्धधर्म के इतिहास में उन्होंने संकलित की हैं।

विदर्भ के एक धनिक ने जिसके कोई पुत्र नहीं था, एक दिन स्वप्न देखा कि यदि वह एक सौ ब्राह्मणों को भोजन कराये तो उसके पुत्र उत्पन्न हो जायगा। ऐसा करने पर दस मास के बाद उसकी पत्नी को पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्योतिषियों से उसने उसका भविष्य पूछा। उन्होंने कहा कि यह सात दिन से अधिक नहीं जीयेगा। उन्होंने कहा कि यदि एक सौ ब्राह्मणों को भोजन कराया गया तो सात वर्ष तक जी सकता है, इससे आगे नहीं। सात वर्ष पीछे माता-पिता चिन्तित हुए और उसे कुछ आदमियों के साथ एकान्त में छोड़ दिया। वहाँ उसकी भेंट महाबोधि अवलोकितेश्वर से हुई, उन्होंने उसे नालन्दा जाने को कहा। नालन्दा में उस समय महास्थविर श्री सरहभद्र थे। उन्होंने उसे वहाँ रख लिया। क्रमशः उन्नति कर सरहभद्र के पीछे नागार्जुन नालन्दा में कुलपति हो गये। इनके समय में अकाल पड़ा। उस समय ये अश्वत्थ पत्र की सहायता से जम्बूद्वीप गये। वहाँ पर एक सन्त से स्वर्ण बनाने की कला सीखकर भारत में लौटे। यहाँ आकर इन्होंने अकाल का सामना किया।

नागार्जुन उत्तर कुरु भी गये थे (कौरैन इसका अपभ्रंश रूप है, जिसकी पहचान लूलान से की जाती है—सार्थवाह–११ पृष्ठ)। वहाँ से लौटकर इन्होंने चैत्य और मन्दिर बनवाये थे। नागार्जुन को दक्षिण भारत के राजा दी चैय (शंकर) का मित्र कहा जाता है, जिसको उन्होंने बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था।

नागार्जुन सम्बन्धी सूचनाओं का आधार च्युआन श्वांग का लिखा यात्रावृत्तान्त है; जो कि सातवीं सदी का है। इसलिए इस सम्बन्ध की सब सूचनाएँ इसी समय तक

की माननी चाहिए; जो कि सम्भवत: कनिष्क कालीन नागार्जुन से सम्बन्धित हैं। नागार्जुन का सातवाहन के प्रति लिखा 'सुहृल्लेख' अभी सुरक्षित है। सातवाहन दक्षिण भारत का विद्वान् राजा हुआ है। दक्षिण में सातवाहनों का राज्य ७३ ईसवी पूर्व से २१८ ईसवी तक, लगभग ३०० साल रहा था।[1] हेमचन्द्र ने इनके शालिवाहन, शाल्न, हाल और कुन्तल नाम दिये हैं।

सुहृल्लेख का सम्बन्ध यज्ञ-श्री शातकर्णि के साथ माना जाता है, जिसने सन् १७२-२०२ तक राज्य किया था। गन्धार के असंग ने "योगाचारभूमिसार" पतंजलि के योगदर्शन के आधार पर लिखी थी। यह ४०० ईसवी के लगभग जीवित थे। असंग का छोटा भाई वसुबन्धु था, जिसका सम्बन्ध नालन्दा से था। तिब्बती प्रमाणों से ज्ञात होता है कि दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे, जो कि ३७१ ईसवी में थे।

महायान में परिवर्त्तन प्रारम्भ हुआ, योगदर्शन तंत्र में बदलना प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत में बौद्धधर्म में से शैवधर्म प्रारम्भ होने लगा, जिसमें बौद्धों के तंत्रों की प्रधानता रही। शिव का रूप बुद्ध को और शक्ति का रूप तारा को माना जाने लगा।

फाहियान जो कि पांचवी शताब्दी में आया था, उसने लिखा है कि महायान सम्प्रदाय यद्यपि बढ़ा हुआ था, तथापि हीनयान के लोग भी थे। मथुरा और पाटलिपुत्र में दोनों पास-पास रहते थे। सुरंगम सूत्र में हिन्दू और बौद्ध देवताओं के नाम आये हैं; जिनकी कि उस समय पूजा होती थी। इनमें धारिणी, बुद्ध, विरोचन, अक्षोभ, अमिताभ नाम हैं।

महायान में हुए इस परिवर्त्तन से जो रूप बुद्धधर्म का बना उसे वैपुल्यवाद (वैपुल्य सूत्र) नाम से जाना जाता है। इसमें धारिणी मुख्य देवता है। सद्धर्मपुण्डरीक, ललित-विस्तर, प्रज्ञापारमिता आदि ग्रन्थ इस सम्बन्ध में लिखे गये।

बौद्धों के तंत्रों का विकास पांचवीं-छठी शती से पहले सम्भावित नहीं है। तंत्रों का विकास चीन में हुआ। अमोघवर्ग नाम का भिक्षु ७४६–७७१ ईसवी में चीन में था; यह जाति से ब्राह्मण था। इसी के प्रभाव से चमत्कारवाले तंत्रों का निर्माण हुआ। इसके बाद आठवीं से ११ वीं शताब्दी तक तंत्रों का बहुत विकास हुआ, कुछ तंत्र भारत से चीन में भी गये। इनमें से कुछ तंत्रों का सम्बन्ध रसायन विद्या (अल्केमी) से था। रसायन सम्बन्धी तंत्रों से पता चलता है कि रसायन का जन्मदाता नागार्जुन है। इस

---

१. कर्तर्या कुन्तलः शातकर्णिः शातवाहनो महादेवीं मलयवतीं जघान—वात्स्यायनकामसूत्र।

सम्बन्ध में रसरत्नाकर ग्रन्थ देखा जा सकता है। यह महायान से सम्बन्धित है, इसमें प्रज्ञापारमिता का भी नाम आया है।[1]

रसरत्नाकर में रसायन सम्बन्धी बातचीत नागार्जुन और शालिवाहन; रत्नघोष और मांडव्य के बीच हुई है। पिछले दोनों नामों का महत्त्व भी नागार्जुन के समान है। रसशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ यही है, रसार्णव में इसके बहुत से वचन उद्धृत हैं। इसमें महायान के बहुत से सिद्धान्त मिलते हैं। इसलिए इसको सातवीं या आठवीं शताब्दी से पूर्व नहीं रख सकते। पाँचवीं शती से ग्यारहवीं शती तक पाटलिपुत्र, नालन्दा, विक्रमशिला बौद्धों के शिक्षा के बड़े केन्द्र थे। इनमें रसायनविद्या भी सिखाई जाती थी।

महाराज नेपाल के पुस्तकालय की छानबीन करते समय श्री हरिप्रसाद शास्त्री और प्रोफेसर लेवी को कुब्जिकातंत्र मिला। यह तंत्र गुप्तकालीन लिपि में लिखा हुआ था, इसका समय ६०० ईसवी है। यह महायान सम्प्रदाय का है। कुब्जिका तंत्र निश्चित रूप में भारत से बाहर लिखा गया है, सम्भवतः नेपाल में।[2] इसमें एक स्थान में शिव स्वयं पारद के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि गन्धक से छः बार मारित होने पर इसमें गुणवृद्धि हो जाती है। पारद की सहायता से ताम्र स्वर्ण में बदल जाता है।[3] रस-रत्नाकर, रसार्णव आदि तांत्रिक ग्रन्थों में बहुत सी रासायनिक विधियाँ दी हुई हैं।

आठवीं सदी में विक्रमशिला तंत्रविद्या का बहुत बड़ा केन्द्र था। गौड़ में पाल राजाओं का राज्य ८०० से १०५० ईसवी तक रहा। ये राजा बौद्ध थे। उत्तर भारत

---

१. प्रणिपत्य सर्वबुद्धान्। ओं नमः श्रीसर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः। नमः प्रत्येकबुद्ध आर्यश्रावकानाम् बोधिसत्त्वानाम्। नमो भगवत्या आर्यप्रज्ञापारमितायै।

२. दक्षिणे देवयानं तु पितृयानं तथोत्तरे। मध्यमे तु महायानं शिवसंज्ञा प्रकाश्यते ॥
गच्छ त्वं भारते वर्षे अधिकाराय सर्वतः ॥
गन्धवीर्यः पारद यद्वं पतितः स्फुटितं मणिः। गन्धवीर्येण प्रसूतास्ते ताम्राभ्यां भूनके वहि। तिष्ठन्ति संस्कृताः सन्तः भस्मा षड् विप्रजारणम्।—नेपाल राज्य पुस्तकालय की ताड़पत्र पुस्तक ('हिस्ट्री आफ हिन्दू केमिस्ट्री'—भाग २ से)

३. पत्रेन विहितो वेधः किं व्यञ्जतो न विध्यते।
रसविद्धं यथा ताम्रं न भूयस्ताम्रतां व्रजेत् ॥

कुब्जिकातंत्र रसविद्या का ग्रन्थ नहीं है। इस तंत्र का सम्बन्ध महायान से होना सम्भव है। यह सम्भवतः छठी शती में लिखा गया है।

में पाल राजाओं के पीछे सेन राजाओं का राज्य हुआ। ये यद्यपि हिन्दू थे, तो भी बौद्ध धर्म के प्रति उदार थे। बारहवीं सदी (१२०० ईसवी) में जब मुसलमानों का आक्रमण हुआ तब विक्रमशिला तथा दूसरे केन्द्र नष्ट हो गये। साधु मार दिये गये या दूसरे देशों में चले गये। इनमें कुछ नेपाल, तिब्बत गये और कुछ दक्षिण भारत में चले गये। वहाँ विजयनगर, कलिंग, कोंकण में विद्यापीठ स्थापित किये गये।

व्याडि—रससिद्धों में एक नाम व्याडि का भी है। इनका नाम व्याकरण में बहुत प्रसिद्ध है। आचार्य शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में व्याडि के अनेक मत उद्धृत किये हैं (२।२३।२८; ६।४३, १३।३१।३७)। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में उनका चार स्थानों पर उल्लेख किया है (६।३।६१; ७।१।७४; २।३।९९; ८।४।६७)। महाभाष्य में (६।२।३६) 'आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः' प्रयोग मिलता है। इसमें इनके अन्तेवासियों के नाम भी लिखे हैं।

"संग्रहकार व्याडि का एक नाम दाक्षायण भी है। इसके अनुसार वे पाणिनि के ममेरे भाई होंगे; परन्तु काशिका (६।२।६९) के 'कुमारीदाक्षाः' उदाहरण में दाक्षायण को ही दाक्षि नाम से स्मरण किया है। हमारा भी यही विचार है कि जैसे पाणिनि के पाणिन और पाणिनि दो नाम थे; वैसे ही व्याडि के दाक्षि और दाक्षायण दो नाम थे। इस अवस्था में दाक्षि या दाक्षायण पाणिनि की माता का भाई और पाणिनि का मामा होगा। व्याडि पद क्रौडयादि गण में पढ़ा है, तदनुसार व्याडि की भगिनी का नाम व्याड्या होता है।" (संस्कृत व्याकरण का इतिहास—पृष्ठ १३१)[1]

---

१. पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने व्याडि के सम्बन्ध में महाराज समुद्रगुप्त के कृष्ण-चरित की प्रस्तावना से निम्न पद्य उद्धृत किया है—

"रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः।
दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः॥
बलचरितं कृत्वा यो जिगाय भारतं व्यासं च।
महाकाव्यविनिर्माणे तन्मार्गस्य प्रदीपमिव॥"

रसरत्नसमुच्चय में सिद्धों में व्याडि का उल्लेख है (इन्द्रदो गोमुखश्चैव कम्बलि-र्व्याडिरेव च॥ १।३)—संस्कृत व्याकरण का इतिहास, १९९

अल्बेरूनी ने राजा विक्रमादित्य और व्याडि की कथा विस्तार से दी है, जो कि एक प्रसिद्ध रसाचार्य था। (अल्बेरूनी का भारत—भाग २ पृष्ठ १११ पर)

इस प्रकार नाम से काल निर्णय में कठिनाई है। जिस सिद्ध-परम्परा में हुए नागार्जुन का सम्बन्ध रसतन्त्र से है, उसी सिद्ध-परम्परा में व्याडि भी रसशास्त्र के सिद्ध हैं। व्याकरणवाले व्याडि तथा कनिष्क के समय के नागार्जुन दोनों का सम्बन्ध उपलब्ध रसग्रन्थों से नहीं है। रसरत्नाकर के वादिखण्ड उपदेश १, श्लोक ६६-७० में २७ सिद्ध आचार्यों के नामों में सबसे प्रथम नाम 'व्यालाचार्य' लिखा है। ड-ल का भेद न मानकर मीमांसकजी इसको व्याडाचार्य मानते हैं। रसरत्नप्रदीप में भी व्याडि का नाम है (पृष्ठ १९९)। इन सब बातों को एक सूत्र में रखकर वे व्याडि का समय भी बुद्ध के पीछे २००-३०० वर्ष मानते हैं, जो कि अभी तक मान्य नहीं। क्योंकि काव्यरचना में अश्वघोष या कालिदास ही प्रथम माने जाते हैं। केवल नाम-साम्य से सबको एक मानना योग्य नहीं। कुछ श्लोक किंवदन्ती, दन्त-कथाओं पर भी प्रचलित हो जाते हैं।

रसविद्या के ग्रन्थ

"न रोगाणां न दोषाणां न दूष्याणां परीक्षणम्।
न देशस्य न कालस्य कार्यं रसचिकित्सिते॥"

रसरत्नाकर या रसेन्द्रमंगल—रस विद्या का प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थ, जिसे नागार्जुन का बनाया कहा जाता है, वह रसरत्नाकर या रसेन्द्रमंगल है। श्री प्रफुल्लचन्द्र राय का मत है कि यह ग्रन्थ सातवीं या आठवीं शती में लिखा गया है। श्री दुर्गाशंकर शास्त्री इसे अधिक अर्वाचीन मानते हैं।

श्री प्रफुल्लचन्द्र राय की संग्रहस्थ हस्तलिखित प्रति के अन्त में "नागार्जुनविरचित रसरत्नाकर" ये शब्द हैं। जब कि स्वर्गीय तनसुखराम म० त्रिपाठी के पास वाली हस्तलिखित प्रति के अन्त में "नागार्जुनविरचित रसेन्द्रमंगल" यह नाम है। (रसेन्द्रमंगल सन् १९२४ में श्री जीवराम कालिदास ने गोंडल से प्रकाशित किया है।)

रसरत्नाकर का जितना भाग डाक्टर राय ने प्रकाशित किया है, उसे रसेन्द्रमंगल के साथ मिलाने पर ज्ञात होता है कि दोनों ग्रन्थ एक ही हैं। डाक्टर राय की छपी पुस्तक के अन्त में "इति रसेन्द्रमंगलं समाप्तम्" ये शब्द लिखे हैं (भाग २ पृष्ठ १७)। श्री जीवराम कालिदास भी दोनों को एक ही मानते हैं। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में आठ अध्याय होने का उल्लेख है, परन्तु प्राप्त पुस्तकों में चार ही अध्याय थे। ग्रन्थ खण्डित और अव्यवस्थित है। पारद के स्वेदनादि अठारह संस्कार, हलकी धातु से सोना बनाने की कीमियागरी, रस, उपरस और लौह का शोधन, सब लोहों का मारण, अभ्रक, माक्षिक आदि का सत्त्वपातन, अभ्रक की द्रुति आदि रसतंत्र सम्बन्धी विषयों

के साथ मन्थानभैरव, दशमूलक्वाथ आदि रोगनाशक योग इसमें हैं। इन सब बातों को देखने से यह ग्रन्थ ग्यारहवीं शती से पहले का प्रतीत नहीं होता। तंत्र ग्रन्थों में रस-रत्नाकर मुख्य ग्रन्थ है, जिसमें रसायन योगों का समावेश है। यह ग्रन्थ महायान सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इसमें स्थान स्थान पर 'प्रणिपत्य सर्वबुद्धान्' शब्द आये हैं।

रसरत्नाकर में रासायनिक विधियों का वर्णन नागार्जुन, मांडव्य, वटयक्षिणी, शालि-वाहन तथा रत्नघोष के संवाद रूप में किया है। इसके द्वितीय अधिकार के अन्त में लिखा है—"इति नागार्जुनविरचितरसरत्नाकरे वज्रमारणसत्त्वपातन-अभ्रकादि-द्रुति-द्रावण-वज्रलोहमारणाधिकारो नाम द्वितीयः।"

इसमें शोधनविधि दी हुई है, यथा—

राजावर्त शोधन—

> किमत्र चित्रं यदि राजवर्त्तकं शिरीषपुष्पाग्ररसेन भावितम्।
> सितं सुवर्णं तरुणार्कसन्निभं करोति गुञ्जाशतमेकगुञ्जया॥

गन्धक शोधन—

> किमत्र चित्रं यदि पीतगन्धकः पलाशनिर्यासरसेन शोधितः।
> आरण्यकैरुत्पलकैस्तु पाचितः करोति तारं त्रिपुटेन काञ्चनम्॥

दरद शोधन—

> किमत्र चित्रं दरदः सुभावितः पयेन मेष्या बहुशोऽम्लवर्गैः।
> सितं सुवर्णं बहुधर्म्मभावितं करोति साक्षाद् वरकुंकुमप्रभम्॥

माक्षिक से ताम्र बनाना—

> किमत्र चित्रं कदलीरसेन सुपाचितं सूरणकन्दसंस्थम्।
> वातारितैलेन घृतेन ताप्यं पुटेन दग्धं वरशुल्बमेति॥

माक्षिक और ताप्य से ताम्र प्राप्त करना—

(१) क्षौद्रं गन्धर्वतैलं सघृतमभिनवं मोरसं मूत्रकञ्च
भूयो वातारितैलं कदलीरसयुतं भावितं कान्तितप्तम्।
मूषां कृत्वाग्निवर्णामरुणकरनिभां प्रक्षिपेन्माक्षिकेन्द्रम्
सत्त्वं नागेन्द्रतुल्यं पतति च सहसा सूर्यवैश्वानराभम्॥

(२) कदलीरसशतभावितं घृतमध्वेरण्डतैलपरिपक्वम्।
ताप्यं मुञ्चति सत्त्वं रसकञ्चैव निसंघाते॥

इसी में रसक (Calamine) से यशद (जस्त) धातु बनाना, दरद से पारा निकालना आदि लिखा है। धातुओं का मारण अन्य धातुओं की सहायता से भली प्रकार बतलाया है। यथा—

तालेन वंगं दरदेन तीक्ष्णं नागेन हेमं शिलया च नागम्।
गन्धाश्मना चैव निहन्ति शुल्वं तारञ्च माक्षीकरसेन हन्यात्॥

पारे का नाम रस है; पारे से एमलगम (सरस) बनाने की विधि नागार्जुन के नाम से दी है, यथा—

जम्बीररसेन नवसारघनाम्लवर्गैः क्षाराणि पंचलवणानि कटुत्रयं च।
शिग्रूद्रकं सुरभिसूरणकन्द एभिः संमर्दितो रसनृपश्चरतेष्टलोहान्॥ ३।१

पारे को निम्बू के रस, नवसार, अम्ल, क्षार, पंचलवण, त्रिकटु, शिग्रु के रस और सूरण के साथ मर्दन करने पर धातुओं का बन्ध होता है।

पारद और स्वर्ण के योग से दिव्य देह प्राप्त करने की विधि भी दी गयी है—

रसं हेम समं मर्द्यं पीठिका गिरिगन्धकम्।
द्विपदी रजनी रम्भा मर्दयेत् टंकणान्विताम्।
नष्टपिष्टं च मूकं च अन्धमूष्यां निधापयेत्।
तुषाग्निपुटं दत्वा यावद् भस्मत्वमागतः।
भक्षणात् साधकेन्द्रस्तु दिव्यदेहमवाप्नुयात्॥ ३।३०-३२

इसमें नागार्जुन-विरचित कक्षपुट का खण्ड भी है। उसकी प्रति पृथक् उपलब्ध है। यह प्रति बम्बई की रायल एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में है (नं० ८११)। इस प्रति में १०६ पृष्ठ हैं, बीस पटल हैं तथा अग्निस्तम्भन, मत्स्यादिस्तम्भन, सेनास्तम्भन, अशनिस्तम्भन, मोहन, उच्चाटन, मारण, विद्वेषण, इन्द्रजाल-विधान आदि विषय हैं।

नागार्जुन लिखित एक दूसरा ग्रन्थ आश्चर्ययोगमाला है, इसके ऊपर जैन श्वेताम्बरसाधु गुणाकर की टीका है (१२३९ ईसवी)। इसका उल्लेख पीटर्स की तीसरी रिपोर्ट में है। इस ग्रन्थ में भी कक्षपुट से मिलते हुए वशीकरण, विद्वेषण, उच्चाटन, चित्रकरण, मनुष्यान्तर्धान, कुतूहल, अग्निस्तम्भन, जलस्तम्भन, उन्मादकरण, रोमशातन, विषप्रयोग विधान, भूतनाशन आदि विषय हैं[1]। इन तंत्रग्रन्थों में रोम-

---

१. पितृवनमर्दितमसकृत्कन्यारक्तं मनःशिलायुक्तम्।
त्रिभुवनमपि निपूहति तिलकक्रियया ललाटतटे॥

शातन-जैसी सामान्य बातों के साथ चमत्कार भी वर्णित हैं, इनका विचित्र प्रयोग भी लिखा है।

नागार्जुन के नाम से कीमियागरी, वशीकरण, मारणादि प्रयोग और वैद्यक एवं योग सब कुछ लिखा गया; परन्तु इन स्थानों पर इसका ऐतिहासिक महत्त्व कुछ नहीं है। अल्बेरूनी ने नागार्जुन की एक पुस्तक का उल्लेख किया है।

रसहृदयतंत्र—रसेन्द्रमंगल की अपेक्षा यह ग्रन्थ अधिक व्यवस्थित और संपूर्ण है। यह आयुर्वेद ग्रन्थमाला में श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने प्रथम छपाया था, पुनः लाहौर से श्री जयदेव विद्यालंकार की देखरेख में प्रकाशित हुआ था। 'तंत्र' नाम से कहा जानेवाला वास्तविक यही प्रथम ग्रन्थ है। सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने रसहृदयतंत्र का नाम लिखकर इसमें से प्रमाण उद्धृत किये हैं। सर्वदर्शनसंग्रह से पहले तेरहवीं शती के रसरत्नसमुच्चय में रससिद्धों की गणना के साथ गोविन्द का नाम आता है। यह गोविन्द इसी ग्रन्थ का कर्त्ता होना चाहिए (खण्डः कापालिका ब्रह्मा गोविन्दो लमपाको हरिः—रसरत्नसमुच्चय)। रसरत्नसमुच्चय में इस ग्रन्थ से पाठ भी उद्धृत किये हैं। इसलिए इस ग्रन्थ का कर्त्ता तेरहवीं शती से पहले हुआ है; परन्तु समय निश्चित करना कठिन है। इस ग्रन्थ के प्रकरणों का अवबोध नाम है। प्रकरणों की समाप्ति में ग्रन्थकर्त्ता को "परमहंस परिव्राजकाचार्य गोविन्द भगवत्पाद" कहा है। दूसरी ओर आद्य शंकराचार्य ने अपने को 'गोविन्द भगवत्पाद का शिष्य' कहा है। इस नाम से रसहृदयतंत्र के सम्पादनकर्त्ता श्री त्र्यंबक गुरुनाथ काले, शंकराचार्य के गुरु गोविन्दभगवत्पाद को ही इस ग्रन्थ का कर्त्ता मानते हैं। परन्तु इन्होंने केवलाद्वैतवाद विषयक कोई ग्रन्थ लिखा नहीं और किसी तंत्रग्रन्थ का कर्त्ता वेदान्ताचार्य का गुरु हो; यह कल्पना थोड़ी कठिन है।

साथ ही दूसरी कठिनाई यह है कि रसहृदयतंत्र का समय यदि ८वीं शती मानें तो ११वीं शती में होनेवाले चक्रपाणिदत्त तथा १०वीं शती के वृन्द ने अपने सिद्धयोग-संग्रह में इस विद्या का उल्लेख क्यों नहीं किया? इसलिए रसरत्नाकर या रसेन्द्रमंगल

ऐसे चमत्कारिक प्रयोग कौटिल्य-अर्थशास्त्र में भी हैं (१४।३।१७८।१३-१६)।

मंत्रभैषज्यसंयुक्ता योगा मायाकृताश्च ये।
उपहन्यादमित्रांस्तैः स्वजनं चाभि-पालयेत्॥

कौटिल्य० १४।३।९६

जिस प्रकार ११ वीं शती के हैं, उसी प्रकार रसहृदयतंत्र भी ग्यारहवीं शती के आस-पास का ही होना चाहिए।

रसहृदयतंत्र के कर्त्ता ने अपना परिचय देते हुए; हैहयकुल के किरात नृपति मदन देव से, जो स्वयं रसविद्या का ज्ञाता था, सम्मान प्राप्त करने का उल्लेख किया है। श्री काले का कहना है कि किरात देश विन्ध्याचल के पास का प्रदेश है और मदनदेव कनिंघम की दी हुई हैहय-वंशावली में आठवीं शती में हुए राजा कामदेव हैं। परन्तु कनिंघम की पुस्तक में दी हुई वंशावली भाट-चारणों द्वारा कथित है, जो कि ८५७ ई० से प्रारम्भ होती है। इसमें वर्षों का उल्लेख नहीं है। वास्तव में सिक्कों तथा उत्कीर्ण लेखों से हैहयवंश की जो वंशावली निश्चित हुई है, उसमें कामदेव का नाम नहीं है। यह वंशावली ८५७ ईसवी से प्रारम्भ होती है; इसलिए हैहयराजा के नाम से ग्रन्थ का निर्णय करना उचित नहीं।[1]

रसहृदयतंत्र में १९ अवबोध हैं। इसमें प्रथम अवबोध में रसप्रशंसा है, मनुष्य को धन शरीरादि अनित्य जानकर मुक्ति के लिए यत्न करना चाहिए। मुक्ति ज्ञान से मिलती है, ज्ञान अभ्यास से होता है और अभ्यास तभी सम्भव है, जब कि शरीर स्थिर हो। शरीर को स्थिर, अजर-अमर अकेला रसराज ही कर सकता है। रसहृदयकार को वैयक्तिक मुक्ति से संतोष नहीं; उसका तो कहना है कि रससिद्ध होकर मैं पृथ्वी से वृद्धावस्था और मृत्यु को दूर कर दूँगा। (यही महायान का विचार है कि अकेले बुद्ध-बोधिसत्त्व होने की अपेक्षा दूसरों को, जगत को बुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। "सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दारिद्र्यमिदं जगत्।"[2])

ग्रन्थकर्त्ता की भावना उन्नत है; इसी से वशीकरण, शुक्रस्तम्भन, वाजीकरण आदि योगों की ओर लेखक का ध्यान नहीं गया। यह वाम तांत्रिक मार्ग से भिन्न है (रसेन्द्रमंगल में वाम तंत्र-आचार पर्याप्त हैं)। इसका दक्षिण मार्ग योगवाद है। इसी योगवाद के कारण सर्वदर्शनसंग्रह में रसहृदय को आधार मानकर रसेश्वर दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। बनारस की हस्तलिखित प्रति में पुस्तक के अन्त में 'तथागतः श्रेयसे भूयात्' वाक्य है।[2] इससे डा० राय लेखक को बौद्ध मानते हैं।

---

१ "अस्ति श्रीमदनदेवः किरातनाथो रसाचार्यः"—इसमें किरात शब्द से कनिंघम राय ने भूटान देश लिया है, लेखक का समय ग्यारहवीं सदी ही माना है।

२. नष्टशरीरविवर्णा हीनाङ्गा कुष्ठिनो गुणाद् यस्य।
अभिनवलोमैस्वरतामापुरपि पुनर्नवैरङ्गैः॥

परन्तु इसी लेखक ने यह भी लिखा है कि "वेदाध्ययन से और यज्ञ से अत्यन्त श्रेय मिलता है। ऐसा लिखनेवाला बौद्ध नहीं हो सकता।[1]

दूसरे अवबोध में पारद के अठारह संस्कारों के नाम देकर स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन, रोधन, नियमन और दीपन इन आठ संस्कारों की विधि दी है। तीसरे अवबोध में अभ्रक ग्रास की प्रक्रिया है, चौथे में अभ्रक के भेद और अभ्रक सत्त्वपातन का विधान है। पाँचवें में गर्भ-द्रुति का विधान, छठे में जारण-विधान, सातवें में विड विधान, आठवें में रस रंजन, नवें में बीज विधान, दसवें में वैक्रान्तादि में से सत्त्व पातन, ग्यारहवें में बीज निर्वाहण, बारहवें में द्वन्द्वाधिकार, तेरहवें में संकर बीज विधान, चौदहवें में संकरबीज जारण, पन्द्रहवें में बाह्यद्रुति, सोलहवें में सारण, सत्रहवें में क्रामण, अठारहवें में वेध विधान और अन्तिम उन्नीसवें अवबोध में शरीर शुद्ध करके रसायन रूप से सेवन करनेवाले योग दिये हैं। अन्त में कुछ खेचर गुटिका-जैसे योगों के लिए आश्चर्यपूर्ण फलश्रुति कही है।

संक्षेप में रसविद्या का विकास होने के बाद लिखे गये एवं इस समय उपलब्ध रस-ग्रन्थों में सबसे प्रथम अतिशय व्यवस्थित रूप से लिखा गया यही ग्रन्थ है। रसायन के रूप में रस-पारद का उपयोग करने के लिए इसमें अभ्रक-स्वर्ण का जारण करने की आवश्यकता हुई। पारद की रसायन-महिमा बनी रहने पर भी आगे चलकर रोगनाशक रूप में

तस्मात् किरातनृपतेर्बहुमानमवाप्य रससुकर्म्मरतः।
रसहृदयाख्यं तंत्रं विरचितवान् भिक्षुगोविन्दः॥
नत्वा मंगलविष्णोः सुमनोविष्णोः सुतेन तन्त्रोऽयम्।
श्रीगोविन्देन कृतः तथागतः श्रेयसे भूयात्॥
शीतांशुवंशसंभवहैहयकुलजन्मजनितगुणमहिमा।
स जयति श्रीमदनश्च किरातनाथो रसाचार्यः॥ १९।७८

१. रसबन्धश्च स धन्यः प्रारम्भे यस्य सततमिव करुणा।
सिद्धे रसे करिष्ये महीमहं निर्जरामरणाम्॥ १।६
अमृतत्वं हि भजन्ते हरमूर्त्तौ योगिनो यथा लीनाः।
तद्वत्कवलितगगने रसराजे हेमलोहाद्याः॥ १।१४
परमात्मनीव नियतं भवति लयो यत्र सर्वसत्त्वानाम्।
एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते॥ १।१३ (रसहृदयतंत्र)

पारद, अभ्रकादिरस, महारस, गन्धकादि उपरस, काम्पिल्यादि साधारण रस, रत्न सुवर्ण आदि धातुओं का उपयोग चिकित्सा में होने लगा। रसहृदयतंत्र का विषय पारद तक ही सीमित है, पारद के विषय में व्यवस्थित ज्ञान इससे मिलता है। एक प्रकार से वास्तव में रसेश्वरदर्शन इसी एक ग्रन्थ के ऊपर निर्भर है।

रसार्णव—माधव ने सर्वदर्शनसंग्रह में रसार्णव का वर्णन किया है। रसार्णव बारहवीं सदी का ग्रन्थ है। रसार्णव तंत्र सामान्य रूप से पार्वती-परमेश्वर का संवाद है। इसके विभागों का नाम पटल है। चौथे पटल में रस कर्म के उपयोगी एवं उपरस, लोह में काम आनेवाले काँजी, विड़, धमनी (धोंकनी), लोह यंत्र, खल्व, पत्थर का खरल, कोष्टिका, वक्रनाल, गोमय, ठोस इन्धन, मिट्टी के यंत्र, मूसल, ऊखल, सँडसी, मृत्पात्र, लोहपात्र, तराजू-बाट, कैंची, कसौटी, वंशनाल, लोहनाल, मूषा, स्नेह, अम्ल, लवण, विष, उपविष सब सम्भार लेकर कार्य प्रारम्भ करने को कहा है। इस सम्भार से यह स्पष्ट है कि इस देश में रससिद्ध अपने सब साधन पास में रखता था।

भिन्न-भिन्न प्रकार की मूषाएँ (क्रुसीबल) बतायी हैं; प्रत्येक धातु की ज्वाला का रंग भिन्न-भिन्न होता है, इसका उल्लेख है। सत्त्वपातन का उल्लेख इसमें है, सत्त्वपातन से अभिप्राय शुद्ध धातु प्राप्त करना है।[1]

रसेन्द्रचूड़ामणि—इस ग्रन्थ का कर्त्ता सोमदेव है। रसरत्नसमुच्चय का पूर्व भाग प्रायः इसी ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है। सोमदेव भगवद् गोविन्दपाद के पीछे और रसरत्नसमुच्चय के कर्त्ता से पहले हुआ है। इसमें मन्थानभैरव, नन्दी, भानुकी, भास्कर, श्रीकण्ठ, भगवद् गोविन्दपाद के मत इनके नामोल्लेख सहित दिखाये गये हैं।

---

१. क्षार—[illegible] यवक्षारश्च सर्जिका ।
तिलापामार्गकदली-पलाश-शिग्रुमोचकाः ॥
मूलकार्द्रकचिञ्चाश्वत्था वृक्षक्षाराः प्रकीर्त्तिताः ॥
महारस—माक्षिकं विमलं शैलञ्चपलो रसकस्तथा ।
सस्यको दरदश्चैव स्रोतोऽञ्जनमथाष्टकम् ॥
धातुओं की संख्या—सुवर्णं रजतं ताम्रं तीक्ष्णवंगभुजङ्गमाः ।
लोहकं षड्विधं तच्च यथापूर्वं तदक्षयम् ॥
रसजं क्षेत्रजं चैव लोहसंकरजं तथा ।
त्रिविधं जायते हेम चतुर्थं नोपलभ्यते ॥
नास्ति [illegible] यथा गन्धककेसरी ।
निहन्याद् [illegible] यथा माक्षिककेसरी ॥

सोमदेव पुरवर महावीर वंश का था[1]। इसलिए सोमदेव का समय १२–१३वीं सदी के बीच का होना चाहिए। सोमदेव ने नन्दी के सिवाय नागार्जुन, दण्डी, ब्रह्मज्योति और शम्भु का भी उल्लेख किया है।

इस ग्रन्थ में रसपूजन, रसशाला-निर्माण प्रकार, रसशाला संग्राहण, परिभाषा, मूषापुट यंत्र, दिव्यौषधि, रसौषधि, ओषधिगण, महारस, उपरस, साधारण रस, रत्न, धातु, इनके रसायन योग, पारद के अठारह संस्कार भली प्रकार कहे हैं।[2]

रसेन्द्रचूडामणि लाहौर से १९८९ संवत् में प्रकाशित हुआ है। इसके प्रकाशन में श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा पुस्तकों की सहायता प्राप्त हुई थी।

रसप्रकाश सुधाकर—यह ग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थमाला में छपा था। इसके कर्ता श्री यशोधर हैं। यशोधर जूनागढ़ (सौराष्ट्र) के रहनेवाले श्रीगौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पद्मनाभ था, जो कि वैष्णव धर्म पालते थे[3]।

---

१. वक्ति व्यक्तं रसपरिकरं वैद्यविद्याविनोदी।
श्रीमान् सोमः पुरवरमहावीरवंशावतंसः॥ २।१

२. तं पारदं सर्वमहाब्धिपारदं दिव्याष्टसिद्धिप्रदकौलिकेश्वरम्।
कल्पायुरारोग्यविधानदक्षिणं सदेहमुक्तिप्रदमेकमाश्रये॥
गोमांसभक्षामरसीधुपानान्विध्वस्ततापानतिमुक्तपापान्।
तान्कौलिकान्नौमि सदेहमुक्तान् विदेहमुक्तान्हसतः सदैव॥
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु।
चान्द्रः स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी॥
तत्पानं द्वारशब्देन देहसिद्धिं करोति हि।
एवंव खेचरी मुद्रा चिराभ्यासेन सिध्यति॥ १।६-१०
प्रकृत्यादिधरान्तो यश्चतुर्विंशतिको गणः।
तत्कुलं तेन दीप्येत यो जीवः स हि कौलिकः॥

३. श्रीगौडान्वयपद्मनाभसुधियस्तस्यात्मजेनाप्यहम्।
सद्वैद्येन यशोधरेण कविना विद्वज्जनानंदकृद्
ग्रन्थोऽयं ग्रथितः करोतु सततं सौख्यं सतां मानसे॥ १३।१६

रसरत्नसमुच्चय में बहुत-से विषय इसमें से लिये हैं। डाक्टर श्री प्रफुल्लचन्द्र राय की मान्यता है कि रसरत्नसमुच्चय के मंगल चरण के सत्ताईस रससिद्धों के नामों में यशोधन के स्थान पर यशोधर होना चाहिए। यशोधर ने नागार्जुन, देवीशास्त्र (सम्भवतः रसार्णव), नन्दी, सोमदेव, स्वच्छन्दभैरव, मन्थानभैरव का उल्लेख किया है। यशोधर ने सोमदेव का नाम लिखा है, इसलिए यह इसके बाद सम्भवतः एक सौ वर्ष पीछे होना चाहिए, अतएव इसका समय १३०० ईसवी सम्भावित है।

रसरत्नसमुच्चय से पहले के ग्रन्थों में यह बहुत व्यवस्थित है, इसमें पारद के अठारह संस्कार, रस बन्ध, रस भस्म विधि—जिसमें रसकर्पूर की भी विधि है, स्वर्णादि धातु, महारस, उपरस, रत्न आदि का लक्षण, गुण, शोधन, मारण तथा एक सौ रसप्रयोग, यंत्र, मूषा, पुटों का विवरण, वाजीकरण प्रयोग आदि रसशास्त्र के सब विषय हैं। इसके साथ कीमिया की बातें, जिनको यह रसकौतुक कहता है, इसमें हैं। ग्रन्थकार ने कहा है कि मैंने थोड़ा अनुभव किया है, शेष अधिक भाग सुना हुआ है।

रसराजलक्ष्मी—इस पुस्तक की प्रधानता इसलिए है कि इसमें पिछले ग्रन्थों (तंत्रों) के लेखकों का उल्लेख है, विशेषतः रसार्णव, काकचण्डीश्वर, नागार्जुन, व्याडि, स्वच्छन्द, दामोदर, वासुदेव, भगवद्गोविन्दपाद। रसराजलक्ष्मी का कर्त्ता

इसमें मस्तकी, अफीम, अम्बर का उल्लेख है—

श्रीवासमस्तकी नागकेसरं च लवंगकम्।
कंकोलं तुलसीबीजं खुरासान्यहिफेनकम्॥ १३।१
पोस्तकं पलमेकं यैं शुण्ठीकर्षः सिता पलैका च।
कर्षमिता त्वक् पयसा पीतं रेतो ध्रुवं धत्ते॥ १३।१५

अम्बर—समुद्रेणाग्निनक्रस्य जरायुर्बहिरुज्झितः।
रवितापेन संशुष्कः सोग्निजार (अम्बर) इति स्मृतः॥
त्रिदोषशमनो ग्राही धनुर्वातहरः परः।
वर्धनो रसवीर्यस्य जारणः परमः स्मृतः॥ ६।८५-८६

बोद्दार—भवेद् गुर्जरके देशे सदलं पीतवर्णकम्।
अर्बुदस्य गिरेः पार्श्वे नाम्ना बोद्दारशृंगकम्॥
नागसत्त्वं लिंगदोषहरं श्लेष्मविकारनुत्।
रसबन्धकरं सम्यक् श्मश्रूरंजनकं परम्॥ ६।८९-९०

विष्णुदेव राजा बुक्क का राजवैद्य था, बुक्क का समय १३५४–१३७१ ईसवी है। इसलिए यह ग्रन्थ चौदहवीं शती का होना चाहिए।

रसेन्द्रसारसंग्रह—यह ग्रन्थ महामहोपाध्याय गोपाल भट्ट का बनाया हुआ है। यह बहुत-सी पुस्तकों के आधार पर संगृहीत है। इसमें रसमंजरी और चन्द्रिका इन दो का ही नाम लिखित है। यह ग्रन्थ १३वीं सदी का होना चाहिए। इसमें रस-कर्पूर की बनावट लिखी है। रसकर्पूर के पाठ को रसप्रकाशसुधाकर और भावप्रकाश के पाठ से मिलाने पर यह ग्रन्थ रसप्रकाशसुधाकर से पीछे और भावप्रकाश से पूर्व बना प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में पारद का शोधन, पातन, बोधन, मूर्च्छन आदि, गन्धक शोधन, वैक्रान्त, अभ्रक, ताल, मैनसिल आदि का शोधन, मारण आदि दिया गया है। ज्वरादि रोगों के ऊपर रसयोग भी लिखे हैं। इसमें रसविद्या का विषय रसरत्नसमुच्चय की भाँति अधिक व्यवस्थित नहीं है। इस ग्रन्थ के बहुत-से योग पिछले ग्रन्थों में लिये गये हैं। ग्रन्थकर्त्ता ने संक्षिप्त टिप्पणी ग्रन्थ पर लिखी है।

इसके बहुत से योग रसेन्द्रचिन्तामणि से मिलते हैं। इससे अनुमान है कि दोनों ने एक ही स्थान से संग्रह किया है। दोनों ग्रन्थ एक ही समय बने प्रतीत होते हैं, इसलिए एक-दूसरे से लेने का प्रश्न नहीं। बंगाल में इस ग्रन्थ का बहुत प्रचलन है।

रसकल्प—रसकल्प में गोविन्द, स्वच्छन्दभैरव आदि आचार्यों का उल्लेख है। इस छोटे ग्रन्थ में धातुओं का शोधन-मारण ही है। डाक्टर राय इसका समय तेरहवीं शती के आस-पास मानते हैं। लेखक ने पुस्तक के अन्त में कहा है कि इसमें लिखी सब प्रक्रियाएँ मेरी अनुभूत हैं; किसी दूसरे से सुनकर नहीं लिखी।

रससार—गोविन्दाचार्य के इस रससार में पारद के अठारह संस्कार आदि प्रसिद्ध विषय हैं। ग्रन्थकर्त्ता ने लिखा है कि इस पद्धति को भोट-देशी लोग जानते हैं और बौद्ध मत जानकर मैंने रससार लिखा है। १२–१३वीं शती तक रसविद्या बौद्धों में अच्छी तरह प्रचलित थी, विशेषतः तिब्बत के बौद्ध इसको भली प्रकार जानते थे।[1]

इस ग्रन्थ में अफीम का उपयोग है; यद्यपि इसे पता नहीं कि अफीम क्या है।

---

१. एवं बौद्धा विजानन्ति भोटदेशनिवासिनः।
बौद्धं मतं तथा ज्ञात्वा रससारः कृतो मया॥

इसका कहना है कि समुद्र में तैरती हुई विषैली मछली से अफीम निकलती है।[१] डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय अफीम का उपयोग तेरहवीं शती में मानते हैं।

रसेन्द्रचिन्तामणि—इसकी बहुत सी प्रतियों में लेखक का नाम कालनाथ के शिष्य ढूंढीनाथ मिलता है। कुछ प्रतियों में गुहुकुल-संभव रामचन्द्र नाम है। प्रकाशित पुस्तकों में भी यह भेद मिलता है। यह ग्रन्थ पहले कलकत्ता में छपा था, १९९१ संवत् में वैद्य मणिशर्मा ने भी अपनी संस्कृत टीका के साथ रामगढ़ (जयपुर) से प्रकाशित कराया है। डाक्टर राय इसकी रचना १३–१४वीं शती में मानते हैं। इसमें रसार्णव, नागार्जुन, गोविन्द, नित्यनाथ, सिद्ध लक्ष्मीश्वर, त्रिविक्रम भट्ट और चक्रपाणि का उल्लेख है। इस ग्रन्थ के विषय में लेखक ने लिखा है कि उसने स्वयं अनुभव करके इसमें प्रक्रियाएँ लिखी हैं।[२] ग्रन्थ में ज्वरादि रोगों की रसचिकित्सा दी गयी है।

रसरत्नाकर—पार्वतीपुत्र नित्यनाथ सिद्ध विरचित यह विशाल ग्रन्थ रस खण्ड, रसेन्द्र खण्ड, वादि खण्ड, रसायन खण्ड और मंत्र खण्ड इन पाँच खण्डों में बना है। ये पाँचों खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। वादि खण्ड और मंत्र खण्ड गोंडल से श्री जीवराम कालिदास द्वारा तथा रस और रसेन्द्र खण्ड कलकत्ता से प्रकाशित हैं। रसायन खण्ड का प्रकाशन बम्बई की आयुर्वेद ग्रन्थमाला में हुआ है। इनमें से वादिखण्ड और मंत्र खण्ड को छोड़कर तीनों खण्डों का सम्बन्ध वैद्यक से है। रसरत्नसमुच्चय में नित्यनाथ का नाम आने से स्पष्ट सिद्ध है कि यह नित्यनाथ रसरत्नसमुच्चय से पहले हो चुके हैं। इस में आये हुए बालुका मीन का 'समकउल सेदा रेगमाही' नाम से यूनानी में प्रसिद्ध प्रयोग है। इससे स्पष्ट है कि इस देश में यूनानी चिकित्सा प्रचलित थी; इसलिए नित्यनाथ का समय तेरहवीं शती होना चाहिए।

---

१. समुद्रे चैव जायन्ते विषमत्स्याश्चतुर्विधाः।
तेभ्यः फेनं समुत्पन्नम् अहिफेनं विषं स्मृतम्।
केचिद् वदन्ति सर्पाणां फेनं स्यादहिफेनकम्॥

अहिफेन (संस्कृत) शब्द अरबी के 'अफयून' का रूपान्तर है। शार्ङ्गधर की आढमल् टीका में खाखजः (खाखजः) क्षीरविशेष :—लिखा है, इससे स्पष्ट है कि उस समय इसकी उत्पत्ति का ठीक ज्ञान था।

२. आस्वाद्य बहुविबुधां मुखादपश्यं शास्त्रेषु स्थितमकृतं न तल्लिखामि।
यत्कर्म व्यरचयमग्रतो गुरूणां प्रौढानां तदिह वदामि विस्तरेण॥
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा मतः॥

इस ग्रन्थ में शोधन, मारण आदि रसविद्या के विषय रसखण्ड के प्रारम्भ में बतला-कर ज्वरादि रोगों की चिकित्सा विस्तार से लिखी है। इसमें औषधियोग भी हैं, परन्तु रसयोग विशेष रूप में हैं।

रसरत्नाकर को देखने से स्पष्ट है कि इस समय तक रसविद्या का प्रचार और विकास पर्याप्त हो चुका था। क्योंकि इतने समय में अकेले एक व्यक्ति के हाथ से रस-रत्नाकर जैसा ग्रन्थ तैयार होना सम्भव नहीं। रसरत्नाकर में तान्त्रिक मंत्रों का स्थान-स्थान पर उल्लेख है। चक्रपाणि और रसेन्द्रचूड़ामणि का भी उल्लेख है।[1]

रसेन्द्रकल्पद्रुम—इसमें मुख्यतः धातुओं और खनिजों का उल्लेख है। यह एक संग्रह ग्रन्थ है, जो रसार्णव, रसमंगल, रसरत्नाकर, रसामृत और रसरत्नसमुच्चय से संगृहीत है।

धातुरत्नमाला—इसमें धातु और रत्न आदि की मारण विधि है। इसमें स्वर्ण, रजत, ताम्र, सीसक, त्रपु और लोह छः धातुओं का प्राचीन पुस्तकों से उल्लेख हुआ है। पीछे से खर्पर का भी उल्लेख मिलना आश्चर्यपूर्ण है। यह कैलेमिन का समास है, जिसे जस्ता या यशद का समास समझा जाता है। इसका लेखक देवदत्त है, जो कि गुजरात का निवासी था। यह ग्रन्थ चौदहवीं शती से पहले का नहीं है (हि० हि० कै०)।

रसरत्नसमुच्चय—इसका कर्त्ता वाग्भट है। अष्टांगसंग्रह के कर्त्ता वाग्भट के समान इसके पिता का नाम भी सिंहगुप्त है। इसी नामसाम्य से पुराने वैद्य सबको एक मानकर तीनों ग्रथों का कर्त्ता एक ही मानते हैं। परन्तु रसरत्नसमुच्चय का कर्त्ता वाग्भट बहुत पीछे का है। रसरत्नसमुच्चय में चर्पटी और सिंघली राजा का उल्लेख है।

---

१. यदुक्तं शम्भुना पूर्वं रसखण्डे रसार्णवे।
रसस्य वन्दनार्थे च दीपिका रसमंगले॥
व्याधितानां हितार्थाय प्रोक्तं नागार्जुनेन यत्।
उक्तं चर्पटिसिद्धेन स्मर्द्धवैद्यकपालिके॥
अनेक रसशास्त्रेषु संहितास्वागमेषु च।
यदुक्तं वाग्भटे तंत्रे सुश्रुते वैद्यसागरे॥
अन्यैश्च बहुभिः सिद्धैर्यदुक्तं च विलोक्य तत्।
तत्सर्वं परित्यज्य सारभूतं समुद्धृतम्॥
यदन्यत्र तदत्रास्ति यदत्रास्ति न तत् क्वचित्।
रसरत्नाकरः सोऽयं नित्यनाथेन निर्मितः॥

इस दृष्टि से तथा अगले-पिछले सम्बन्धों से डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय इसको १३वीं शती की रचना मानते हैं।[1] श्री गणनाथ सेन की मान्यता है कि समुच्चय के कर्त्ता वाग्भट के पिता का नाम संघगुप्त है, किसी पण्डित ने उसे सिंहगुप्त लिख दिया है।

वाग्भट नाम के और भी विद्वान् हुए हैं; ये सब संग्रह और हृदय के कर्त्ता वाग्भट से अर्वाचीन हैं, यथा—

१. वाग्भट—मालवेन्द्र का अमात्य, देवेश्वर का पिता, कविकल्पलता का कर्त्ता; २. वाग्भट—नेमिकुमार का पुत्र, जिन-धर्मानुयायी, छन्दोनुशासन, काव्यानुशासन आदि का कर्त्ता; ३. वाग्भट—वाग्भट-कोश कर्त्ता; ४. वाग्भट—रसरत्नसमुच्चय का कर्त्ता; ५. वाग्भट—वाग्भटालंकार, शृंगारतिलक आदि का कर्त्ता, सोम का पुत्र, जैन, जयसिंह का अमात्य; ६. वाग्भट—नेमिनिर्वाण काव्य का कर्त्ता; ७. वाग्भट—लघु जातक कर्त्ता; ८. वाग्भट—प्राकृत पिंगलसूत्र का कर्त्ता।

(श्री हरिशास्त्री पराड़कर)

रसरत्नसमुच्चय के प्रथम ग्यारह अध्यायों में रसोत्पत्ति, महारसों का शोधन आदि विषय, उपरस, साधारण रसों आदि का शोधन ये रसशास्त्र सम्बन्धी विषय हैं। शेष भाग में ज्वर आदि रोगों के ऊपर रसयोग-प्रधान औषधियाँ हैं। रसशाला निर्माण का निर्देश करते हुए इसमें कहा गया है—

---

१. इस सम्बन्ध में श्री हरिशास्त्री पराड़कर ने अपनी भूमिका (अष्टांगहृदय, निर्णयसागर से प्रकाशित) में विस्तृत सूचना दी है। वाग्भट के संग्रह और हृदय में रसरत्नसमुच्चय का उल्लेख नहीं है। दोनों की रचना में बहुत अन्तर है। रसरत्नसमुच्चय में कुछ अपाणिनीय प्रयोग हैं, जो कि संग्रह या हृदय में नहीं हैं। सातवीं शती-पूर्व भारत में रसविद्या नहीं थी।

संग्रह और हृदय में जिन रोगों का उल्लेख है, उनसे भिन्न नये नाम रक्तवात, शीतवात, सोम रोग आदि रसरत्नसमुच्चय में मिलते हैं। रसरत्नसमुच्चय प्रायः चिकित्सा ग्रन्थ है। यदि दोनों का कर्त्ता एक ही होता तो कम सबमें एक ही रहता, केवल रसौषधियों का उल्लेख होता। रसरत्नसमुच्चय में रोगों के कुछ अर्वाचीन नाम भी हैं, संग्रह और हृदय में वर्णित श्वित्र और किलास के लिए समुच्चय में श्वेत कुष्ठ शब्द आया है। संग्रह-हृदय में अठारह कुष्ठ कहे हैं, समुच्चय में शवगन्धि आदि अधिक नाम भी आये हैं, वातव्याधि में अपतानक नामक मुख्य रोग नहीं कहा। संग्रह और हृदय में गौरीपाषाण और अहिफेन का उल्लेख नहीं, समुच्चय में है।

सब प्रकार की बाधा-आपत्तियों से रहित, धर्मराज्य में, मनोरम स्थान में, शिव और पार्वती की जहाँ उपासना होती है, ऐसे समृद्ध नगर में धन-धान्य से पूर्ण रसशाला बनाये। इस रसशाला के चारों ओर सुन्दर बगीचा बनाये, इसके चार द्वार बनाये। यह शाला अच्छी बड़ी-चौड़ी, सुन्दर होनी चाहिए। इसमें वायु के आने-जाने का अच्छा प्रबन्ध होना चाहिए। इसमें दिव्य चित्र भित्तियों पर चित्रित होने चाहिए। इसमें शिवलिंग बनाकर उसकी पूजा करे। यह शिवलिंग स्वर्ण और पारद से बनाना चाहिए।[1]

उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि मूल महायान बौद्ध तांत्रिकों के पास से शैव और शाक्त तान्त्रिकों के पास यह विद्या आयी है और उन्होंने इसे गुप्त रखने के लिए कहा है।[2]

रसरत्नसमुच्चय के अनुसार रसशास्त्र में खनिजों को पाँच भागों में विभक्त किया गया है, यथा—रस, उपरस, साधारण रस, रत्न और लोह। रस शब्द मुख्यतः पारे का वाचक है, परन्तु रसशास्त्र में अभ्रक आदि के साथ रस शब्द प्रचलित होने से पारे को रसेन्द्र कहा जाता है ['रसनात्सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते']। महारस आठ हैं—अभ्रक, वैक्रान्त, माक्षिक, विमल, शिलाजतु, सस्यक, चपल और रसक। उपरस भी आठ हैं—गन्धक, गैरिक, कासीस, तुवरी, हरताल, मैनसिल, अंजन, कंकुष्ठ। साधारण रस आठ हैं—कम्पिल्ल, गौरी पाषाण, नवसार, कपर्द, अग्निजार, गिरिसिन्दूर, हिंगुल, मद्दारशृंग। रत्न बारह हैं—वैक्रान्त, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, हीरा, मोती, राजावर्त्त, पुष्पराग, गरुडोद्गार, प्रवाल, गोमेद, वैडूर्य और नीलम। लोह (धातु) आठ हैं—सुवर्ण, रजत, लोह, नाग, वंग, पित्तल, कांस्य, वर्त्त लोह। पित्तल, कांस्य और वर्त्त लोह

---

१. निष्कत्रयं हेमपत्रं रसेन्द्रं नवनिष्ककम्।
अम्लेन मर्दयेद्यामं तेन लिंगं तु कारयेत्॥

२. रसविद्या शिवेनोक्ता दातव्या साधकाय वै।
यथोक्तेन विधानेन गुरुणा मुदितात्मना॥

सप्तविंशतिसंख्याका रससिद्धिप्रदायकाः।
वन्द्याः पूज्याः प्रयत्नेन ततः कुर्याद् रसार्चनम्॥
हर्षयेद् द्विजदेवानां तर्पयेदिष्टदेवताः।
कुमारीयोगिनीयोगीश्वरान् म्लेच्छकसाधकान्॥

को मिश्रित धातु कहा है। काँसा और वर्त्त लोह किन धातुओं का मेल है, यह भी कहा है।[1]

रसरत्नसमुच्चय के पीछे रसयोग के बहुत से संग्रह ग्रन्थ बनाये गये। इनमें रस के संस्कार, धातु, उपधातु, महारस, उपरस, रत्न, उपरत्न आदि का परिचय, शोधन, मारण मुख्य रूप से है; साथ में थोड़े से रसयोग भी दिये हैं। उदाहरण के लिए 'रस-पद्धति' ग्रन्थ है; यह ग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थमाला में बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका लेखक भिषग्वर विन्दु है। टीका के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि रसरत्नाकर, रस-राजलक्ष्मी, रसरत्नसमुच्चय के पीछे इसकी रचना हुई है। इसमें से आयुर्वेदप्रकाश और रसकामधेनु में पर्याप्त वचन उद्धृत किये गये हैं। श्री यादवजी की सूचना

---

१. अष्टभागेन ताम्रेण द्विभागकुटिलेन च।
विद्रुतेन भवेत्कांस्यम् ॥
कांस्यार्करीतिलोहादिजातं तद् वर्त्तलोहकम्।
तदेव पञ्चलोहाख्यं लोहविद्भिरुदाहृतम् ॥
शुद्धं लोहं कनकरजतं भानुलोहाश्मसारं
पूतिलोहं द्वितीयमुदितं नागवङ्गाभिधानम्।
मिश्रं लोहं त्रितयमुदितं पित्तलं कांस्यवर्त्तम्
धातुर्लोहे लुह इति मतः सोऽप्यनेकार्थवाची ॥

(सोऽप्यनेकार्थवाची के स्थान पर सोऽपिकर्षार्थवाची भी पाठ है—रसेन्द्रचूड़ामणि अ. १४। श्लो. १)

महारस, उपरस, साधारण रस संज्ञाओं के सम्बन्ध में रसतंत्रों में एकता नहीं है। रसपद्धतिकार ने वैक्रान्त, अभ्रक, शिलाजतु, चपल, ताप्य और तुत्थ को महारस कहा है। गन्धक, हरताल, मैनसिल इन तीनों को उपरस कहा है। आयुर्वेदप्रकाश में गन्धक, हिंगुल, अभ्रक, हरताल, मैनसिल, अंजन, टंकण, लाजावर्त्त, चुम्बक, फिटकरी, शंख, मिट्टी, गेरू, कासीस, खड़िया, कौड़ी, बालू, बोल, कंकुष्ट इन सबको उपरस कहा है। रसशास्त्र में प्रयुक्त द्रव्यों के वर्गीकरण में बहुत मतभेद है। श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने द्रव्यगुणविज्ञान-परिभाषा खण्ड (पृष्ठ ९२-९३-९४) तथा रसामृत के उपोद्घात में इस विषय पर सयुक्ति विवेचना की है। उसको वहाँ पर देखना चाहिए, उसकी सूचना के अनुसार नये रूप से इनका वर्गीकरण करना उत्तम है।

के अनुसार इसका लेखक महाराष्ट्रदेशीय है। इसका समय सत्रहवीं शती से पहले का है।[१]

इनके सिवाय मालवा के राजा वैद्य मथनसिंह की **रसनक्षत्र-मालिका** (इसमें अफीम का उपयोग है), **रसकौमुदी**—जिसके कर्त्ता ज्ञानचन्द्र शर्मा, (प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास हैं,) रामराज विरचित **रसरत्नप्रदीप** (ठाकुरदत्त शास्त्री—गुमटी बाजार लाहौर); **लौहसर्वस्व** (कर्त्ता—सुरेश्वर; प्रकाशक—आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला बम्बई) माधव विरचित **आयुर्वेदप्रकाश** आदि बहुत से ग्रन्थ बने। शार्ङ्गधरसंहिता का उल्लेख पहले आ चुका है। उसमें भी पारद-रसविद्या का विषय, धातुओं का जारण-मारण है। यह चौदहवीं शती का ग्रन्थ है।

रसरत्नसमुच्चय के पीछे शनैः शनैः रसशास्त्र में शोधवृत्ति कम होती गयी। रसरत्नसमुच्चय में काँसे के सम्बन्ध की जानकारी है। यह किसमें से बनता है, यह भी लिखा है। तुत्थ में से ताम्र निकलता है, यह रसरत्नसमुच्चय में लिखा है। भावप्रकाश में तुत्थ को ताम्र का उपधातु कहा है। शंखद्राव का उल्लेख बहुत पीछे का है। अकबर के समय से सुनार तेजाब का उपयोग करने लगे थे।

इस प्रकार से सत्रहवीं, अठारहवीं शती (आयुर्वेदप्रकाश) तक रसशास्त्र परम्परा की शृंखला मिलती है। इसका प्रारम्भ नवीं-दसवीं शती में हुआ, बारहवीं-तेरहवीं में पूर्ण विकास हुआ। इसके आगे यह स्थायी रूप में १६वीं शती तक आयी। इसके पीछे यथाश्रुत रही।

रसतंत्र में धातुवाद और चिकित्सा दो विषय हैं। धातु ज्ञान बहुत पहले से देश में प्रचलित था। यह गुप्तकाल में बने दिल्ली के लोहस्तम्भ से सिद्ध है। पीछे से तंत्र सम्बन्धी ज्ञान ने इसे अपने में समाविष्ट कर लिया, और इसको गुप्त रखकर सिद्धों के नाम से जनता में फैलाया। दसवीं शताब्दी के लगभग इसमें चिकित्सा भी मिलने लगी। इसलिए ये रसग्रन्थ चिकित्सा में भी उपयोगी हुए।

सिद्धों में रहने से तथा वाममार्ग और कापालिक सम्बन्ध के कारण स्त्रीद्रावण, वशीकरण, वीर्यस्तम्भन, जलौका उपयोग, शुक्रस्तम्भन योग आदि का उल्लेख रसमंगल में तथा अन्य रसग्रन्थों में बहुत मिलता है। कोई भी रसग्रन्थ ऐसा नहीं, जिसमें

---

१. रसपद्धति में मोती आठ स्थानों से उत्पन्न कहे गये हैं—"अष्टौ मौक्तिकभूमयः करिकिरित्वक्सारमत्स्याम्बुमुक्कम्बूरोगतिशुक्तयोऽत्र वरमोत्पन्नं पुनर्विश्रुतम् ॥" हाथी, शूकर, वंश, मत्स्य, मेघ, कम्बू, सर्प, शुक्ति।

२—चोपचीनीभवं चूर्णं शाणमानं समाक्षिकम् ।
फिरंगव्याधिनाशाय भक्षयेत् लवणं त्यजेत् ।।

रसप्रदीप में शंखद्रावक बनाने की विधि है, यह एक खनिजाम्ल है—फिटकरी, नौसादर, शोरा, गन्धक मिलाकर मिट्टी के पात्र में गरम करके बनाया जाता है। इसको अग्नि पर चढ़ाकर तिर्यक् यंत्र से रस चुआ लेना चाहिए। हमारे देश में सल्फ्यूरिक एसिड (गन्धक का तेजाब), शोरे का तेजाब और नमक का तेजाब कई शताब्दी से बनाया जाता था।

धातुक्रिया—यह ग्रन्थ भी लगभग इसी समय का है और रुद्रयामल तंत्र के अन्तर्गत मिलता है। इस ग्रन्थ में फिरंग देश और रूम देश का उल्लेख है, यथा—ताम्र की उत्पत्ति में—

ताम्रोत्पत्तिश्च महता सुखेनैव प्रजायते ।
तेषां स्थानानि वक्ष्येऽहं याथातथ्येन च शृणु ।
नेपाले कामरूपे च वंगले मवनेश्वरे ।
गंगाद्वारे मलाद्रौ च म्लेच्छदेशे तथैव च ।
पावकाद्रौ जीर्णदुर्गे रूमदेशे फिरङ्गके ।।
एतान्युदितस्थानानि सर्वपर्वतके सदा ।। (१४३-१४५)

धातुक्रिया में सल्फ्यूरिक एसिड के लिए 'दाहजल' शब्द आया है, जो ताम्र को तूतिया में बदलता है (७०)।

ताम्र और खर्पर के योग से पित्तल, और वंग तथा ताम्र के योग से कांस्य बनाना लिखा है (६३, ६५)। खर्पर शब्द जस्ते के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जस्ते के अन्य पर्याय जासत्व, जरातीत, राजत, यशद, रूप्यभ्राता, चर्मक, खर्पर, रसक, रसवर्धक आदि हैं (५०–५१)।

यह ग्रन्थ शिव-पार्वतीसंवाद के रूप में है। इसमें शिवजी पार्वती से एक स्थान पर कहते हैं कि मनुष्य कलियुग में स्वर्ण के लिए व्याकुल रहेंगे (१२३)। वे पारद और गन्धक से नकली सोना बनाने लगेंगे (१२८)। सुवर्णसाधिनी विद्या जानकर लोग प्राकृतिक स्वर्ण को पूछेंगे ही नहीं।

सुवर्णतन्त्र ग्रन्थ में भी सोना बनाने के योग मिलते हैं। इसमें शंखद्राव के समान बहुत-से द्राव बतलाये हैं—लोह द्राव, ताम्र द्राव, शंख द्राव, हन्ताल, दन्त द्राव। लोह द्राव में लोहा डालने पर शीघ्र घुल जाता है; अन्य द्रावों में नहीं।

उद्योग धंधों में रसायन परम्परा—शुक्रनीति में नालिका और द्राव चूर्ण का उल्लेख

है (१०२८–१०३७)। इसमें शोरा और गन्धक से बारूद बनाना बतलाया है। इसका अग्निचूर्ण नाम दिया है। बारूद बनाने के लिए अंगार (कोयला), गन्धक, सुवर्चिका, मनःशिला, हरताल, सीसमल-हिंगुल, कान्तरज, खर्पर, जतु, नील, सरल, गोंद इनको भिन्न-भिन्न मात्रा में मिलाया जाता है (१०३९–१०४२)।

सोने की सबसे प्राचीन रत्नपेटिका (कास्कैट) जो बौद्धकालीन है, इन्डिया आफिस लाइब्रेरी में सुरक्षित है। यह १८४० सन् के लगभग मैसन महोदय को काबुल उपत्यका में जलालाबाद के पास मिली थी। यह पेटिका ईसा से ५० वर्ष पूर्व की बनी मानी जाती है। इसके सिवाय सुराहियाँ, प्रतिमाएँ, पेटिकाएँ, जिनमें सोने-चाँदी का काम होता था, बनती थीं। कुफ्त और बीदरी का काम, एनेमेल या मीना, अस्त्र-शस्त्र और इस्पात का काम बहुत प्राचीन काल से इस देश में होता था। राजसी ठाठ के सामानों में धातुओं का उपयोग बहुत प्राचीन है। बार्थ (Borth) ने लिखा है कि अरबवासियों के सम्पर्क से भारत में तन्त्र और रसायन को प्रोत्साहन मिला (रिलीजन्स हिस्ट्री आफ इण्डिया, पष्ठ २१०)।

चिकित्सा में धातुओं का उपयोग सातवीं-आठवीं शती के बाद से ही प्रारम्भ हुआ। मौर्यकाल में धातुओं को विशेष संवर्धन मिलने लग गया था। ग्रीक या दूसरों के संसर्ग में आने पर जिस प्रकार प्रस्तर एवं स्थापत्य कला का विकास हुआ, उसी प्रकार इस कला में भी विकास हुआ। परन्तु चिकित्सा में उपयोग नवीं शती के आसपास प्रारम्भ हुआ।

पारद के अष्टादश संस्कार

पारद के संस्कार अठारह हैं, यथा—स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन, रोधन, नियमन, दीपन, ग्रास मान, चारणा, गर्भद्रुति, बाह्यद्रुति, जारण, रंजन, सारण, क्रामण, वेधन और भक्षण। इनमें पहले आठ संस्कार ही सामान्य रूप से रसग्रन्थों में वर्णित हैं। अठारह संस्कार स्वर्ण या धातु निर्माण में तथा देह सिद्धि के लिए उपयोगी हैं। आठ संस्कार रसायन गुण के लिए उत्तम हैं। रोग चिकित्सा में सामान्यतः मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन संस्कार ही किये जाते हैं। स्वेदन क्रिया से पारद के दोष द्रवीभूत होकर ढीले हो जाते हैं, जिससे वे सुगमता से निकल सकते हैं।

मर्दन और मूर्च्छन दोनों संस्कारों में पारे को द्रव्यों के साथ घोटा जाता है। मर्दन के पीछे मूर्च्छन में घोटने पर पारे के छोटे-छोटे कण बन जाते हैं। यह एक प्रकार से वस्तु में छिप जाता है। मर्दन में यह स्थिति नहीं होती। इसमें पारा समूह रूप में ही रहता है और स्पष्ट दीखता है।

उत्थापन क्रिया में पारे को फिर एक समान रूप में लाते हैं, जिससे वह एकत्र हो जाता है। पातन क्रिया में ऊर्ध्वपातन, अधःपातन या तिर्यक् पातन क्रियाएँ अभि-प्रेत हैं। इससे पारे के दोष निकलते हैं। बोधन संस्कार से उसमें दीप्ति, तेज, चंचलता उत्पन्न की जाती है। पातन आदि क्रिया से पारा थक जाता है, जिससे मन्दवीर्य-सुस्त हो जाता है। बोधन संस्कार से उत्पन्न चांचल्य को नियंत्रित करने के लिए नियमन संस्कार किया जाता है। नियमित पारद कासीस, सैन्धव आदि विड़ तथा धातुओं को ग्रास करने के लिए तैयार हो जाय; अतः उसमें बुभुक्षा उत्पन्न करने के लिए दीपन संस्कार करते हैं।

ग्रासमान—पारद इतने परिपाण में स्वर्ण आदि का ग्रास कर सकेगा, इसका निश्चय करना ग्रासमान है। चारणा—पारद में स्वर्ण आदि धातु मिलाने का नाम चारणा है। चारणा दो प्रकार की है; समुखा और निर्मुखा। समुखा चारणा में शुद्ध स्वर्ण या चाँदी को पारद में मिलाया जाता है। इनका चौंसठवाँ भाग मिलाने पर पारद अभ्रकसत्त्व आदि कठिन सत्त्वों को खाने लगता है। निर्मुखा चारणा में पारद में मुख बिना किये ही दिव्यौषधियों की सहायता से सत्त्वों या लोहे को खिला दिया जाता है। गर्भद्रुति—पारद में से ग्रसित किये हुए अभ्रक आदि को द्रवीभूत करना गर्भद्रुति है। बाह्यद्रुति—अभ्रकसत्त्व आदि को प्रथम द्रव बनाकर फिर पारद में ग्रास देना बाह्य द्रुति है (भोजन पचने के लिए जिस प्रकार उसका द्रवीभूत होना आव-श्यक है, उसी प्रकार पारद में अभ्रक सत्त्व आदि के जीर्ण होने के लिए इसका भी द्रव होना आवश्यक है)।

जारण—ग्रास दिये हुए और द्रवीभूत अभ्रकसत्त्व आदि को विड़ आदि की सहायता से जीर्ण करना जारण है। (जिस प्रकार खाये हुए भोजन को सोडा बाई कार्ब या अन्य क्षार-नमक-अग्निवर्धक औषधियों के साथ पचाते हैं।)

रञ्जन—विशिष्ट संस्कारों से सिद्ध किये गये बीज को पारद में जारित करके उसमें पीले, लाल आदि रंग उत्पन्न करने की क्रिया को रञ्जन संस्कार कहते हैं।

सारण—सारणयंत्र में विशेष क्रिया से बनाया सारणतैल तथा रंजित पारा डालकर उसमें स्वर्ण आदि मिलाकर जो संस्कार किया जाता है, वह सारण है। सारण से पारद में लोहे को वेध करने की शक्ति बढ़ जाती है।

क्रामण—सारण पर्यन्त संस्कारित पारद क्रामण क्रिया के बिना धातुओं को अन्दर से नहीं रंग पाता। क्रामण से वह प्रत्येक अणु में पहुँच जाता है।

वेध—सारण पर्यन्त संस्कार किये गये पारद को व्यापनशील-क्रामण औषधियों

के साथ मिलाकर ताम्र-वंग आदि दूसरी धातुओं में डालने की क्रिया को बेध संस्कार कहते हैं।

पारद के ये संस्कार जिस प्रकार लोह सिद्धि के लिए हैं; उसी प्रकार देह सिद्धि के लिए भी आवश्यक हैं। भगवद् गोविन्दपाद ने रसहृदय तंत्र में इन्हीं रीतियों से संस्कार किये गये पारद से शरीर को अजर-अमर बनाने का विधान बताया है, जो कि रसेश्वर दर्शन का चरम लक्ष्य था।[1]

रत्न

हीरा, प्रवाल, मोती, पन्ना, लहसुनिया, गोमेद, माणिक्य, नीलम, पुखराज---ये रत्न हैं। तृरमुरी, सूर्यकान्त, स्फटिक, चन्द्रकान्त, लाजावर्द, फिरोजा, अकीक, कहरुबा, जहरमोहरा, संगयशब ये दस उपरत्न हैं। कुछ आचार्य कांच को भी उपरत्न मानते हैं।

आयुर्वेद में मुख्यतः कुछ रत्न, उपरत्न ही काम में आते हैं। इनमें हीरा, प्रवाल, मोती का उपयोग औषध रूप में मिलता है। रत्नों के धारण करने का उल्लेख चरकसंहिता में है। इनके धारण से होनेवाले प्रभाव को अचिन्त्य कहा है।

इनके सिवाय 'सुराष्ट्रजा' सौराष्ट्र की मिट्टी का भी उल्लेख प्राचीन काल से आयुर्वेद ग्रन्थों में मिलता है। यह क्या वस्तु है, इसे निश्चित रूप में कहना कठिन है। सम्भवतः इसमें कुछ विशेषता थी, इसी से इसका उल्लेख हुआ है।

क्षार

क्षार से आजकल 'अलकली' लिया जाता है। परन्तु आयुर्वेद का क्षार अम्ल से भिन्न है। क्षार का उल्लेख चरकसंहिता में है। इसके अधिक सेवन का निषेध है। परन्तु सुश्रुत तथा रसग्रन्थों में जिस क्षार का उपयोग है, वह सम्भवतः तीव्र क्षार होता था, जो जलाने या रस के शोधन में बरता जाता था।

क्षार बनाने की विधि---जिस वृक्ष से क्षार निकालना हो उसका पंचांग लाकर उसको सुखाकर साफ की हुई लोहे की कड़ाही में जलाकर भस्म कर लें। फिर इसको मिट्टी के पात्र में डालकर छः गुने जल के साथ हाथ से खूब मसलकर तथा पात्र को ढांककर रात भर रहने दें। दूसरे दिन स्वच्छ जल को दूसरे पात्र में नियारकर इक्कीस

---

१ द्रव्यगुण विज्ञान, उत्तरार्ध-परिभाषा खण्ड (श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य) से उद्धृत। विस्तार के लिए लेखक का 'रसशास्त्र' देखें।

बार गाढ़े स्वच्छ वस्त्र से छान लें। छानते समय प्रति वार वस्त्र को धो लेना चाहिए। इस जल को मिट्टी के या भीतर से एनामल किये लोहे के पात्र में मंदी आँच पर पकायें। पकाते समय जल को हिलाते रहें। जब जल सूख जाय तब पात्र को नीचे उतारकर ठंडा करें। ठंडा होने पर क्षार को खुरचकर निकालना चाहिए। इसे काँच की भरनी में मुख बन्द कर रख देना चाहिए। (द्रव्यगुणविज्ञान से)

यह क्षार शुद्ध अलकली होगा; यह निश्चित नहीं। 'क्षरणात् क्षारः', क्षरण का अर्थ हिंसन है, यह कर्म जिसमें रहता है, वह क्षार है। सुश्रुत में क्षारचिकित्सा अर्श आदि रोगों में कही है। उसी दृष्टि से रस या धातुओं के शोधन-मारण में क्षार का उपयोग है। क्षार का उपयोग अन्तःप्रयोग में भी है; इसमें सर्जक्षार, यवक्षार, टंकणक्षार, ये तीन ही प्रायः व्यवहार में आते हैं। बाह्य प्रयोग में तीव्र क्षार का उपयोग होता है। अष्टांगसंग्रह में तथा सुश्रुत में क्षार निर्माण तथा उनको रखने के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी गयी है।

बारहवाँ अध्याय

निघण्टु और भैषज्य कल्पना

औषधीय द्रव्यों की गुणविवेचना चरक-सुश्रुत काल से ही प्रचलित थी। उस समय मुख्यतः यह ज्ञान एक विशेष रूप में था। इसका विभागीकरण भी एक नये क्रम से था। चरक सुश्रुत से प्राचीन है, इसलिए सुश्रुत में यह क्रम सरल और विस्तृत है। उदाहरण के लिए—मांस वर्ग में कोशस्थ, पादिन, मत्स्य के दो भेद आदि विवेचना विस्तार से है। संहिता ग्रन्थों में गुण-दोष की विवेचना मुख्यतः अन्न-पानीय विषय तक ही सीमित रही है। औषध द्रव्यों के लिए कोई विशेष उल्लेख पृथक् रूप में नहीं है। गुण-दृष्टि से वर्गीकरण हुआ है। इसलिए इस विषय में विशेष स्पष्टीकरण नहीं है।

इसी प्रकार वस्तु के स्वरूपज्ञान का निर्देश केवल प्रत्यक्ष ज्ञान, आँख से देखकर या कान से सुनकर जानने के सिवाय और नहीं मिलता। इसलिए इस ज्ञान का विशेष विकास संहिताकाल में नहीं हुआ। चरक के महाकषायों और सुश्रुत के द्रव्यसंग्रहणीय में कहे गये गणों को वाग्भट ने अष्टांगसंग्रह में बहुत ललित छन्द-रचना में बदल दिया जिससे सुगमतापूर्वक याद हो सकें। इससे आगे यह विषय नहीं बढ़ा। निघण्टु का प्रारम्भ अष्टांगसंग्रह से होता है। यह गुप्त काल था।

जिस प्रकार से एक ही शब्द के बहुत से अपभ्रंश थे अथवा एक ही वस्तु के लिए जिस प्रकार कई शब्द प्रयुक्त होते थे, उसी प्रकार से वैद्यक शास्त्र में भी एक ही वस्तु स्थान-भेद से भिन्न-भिन्न नामों से कही जाती है। चरकसंहिता में प्रायः अन्तर्वेद और हिमालय की वनस्पतियों का उल्लेख है। सुश्रुत में वनस्पतियों का ज्ञान थोड़ा अधिक मिलता है, संग्रह में और भी अधिक हुआ। संग्रह के रसायन प्रकरण में रसोन, पलाण्डु का गुण कथन छोड़कर कई नये द्रव्यों का (यथा कंचुकी, कुक्कटी आदि), नयी कल्पनाओं का (शिलाजतु का शिवागुटिका रूप से प्रयोग, कुष्ठ का रसायन रूप में प्रयोग) उल्लेख मिलता है। परन्तु अधिक विस्तार नहीं है। स्वर्णादि धातुओं का गुण कथन, औषधियों का उल्लेख सूत्र. अ. १२ में किया है। सुश्रुत में भी स्वर्ण आदि का उल्लेख है। संग्रह में इसी को विस्तृत किया गया है।

इस विषय में विशेष कार्य गुप्त काल में चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय बने **अमरकोश** म मिलता है। एक प्रकार से सबसे पहली बानगी निघण्टु के रूप में इसी में है। इसमें वनौषधि वर्ग के अन्दर औषधियों का समावेश हुआ है। इसके पीछे दूसरे निघण्टु बने हैं। अमरकोश का समय चौथी-पाँचवीं शताब्दी का मध्य है।

निघण्टु का कोई निश्चित क्रम नहीं। चरक-सुश्रुत-संग्रह में अन्न-पान सम्बन्धी एक क्रम है। चरक में द्रव्यों का भेद तीन प्रकार से किया है; जांगम, औद्भिद और पार्थिव। औषधियों का ज्ञान केवल नाम और रूप से ही जान लेना पर्याप्त नहीं; इनका प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति एवं रोग की अपेक्षा से जानना भी जरूरी है। जो वैद्य इनके रूप के साथ-साथ प्रयोग विधि को भी जानता है, वही तत्त्ववित् है (चरक. सु. अ. १।१२०-१२५)। सुश्रुत ने द्रव्यों का उल्लेख गणों के रूप में किया है, इसमें एक प्रकार का गुण करनेवाली औषधियाँ एक वर्ग में गिनकर समूह रूप में गुण कह दिया है। यह वर्गक्रम चरक संहिता में भी महाकषायों के रूप में है। इन कषायों में पाँच सौ के लगभग औषधियाँ हैं। कुछ औषधियाँ कई कषायों में बार-बार आती हैं। परन्तु जिस प्रकार एक व्यक्ति कई भिन्न-भिन्न कार्यों से भिन्न-भिन्न नाम धारण कर लेता है, उसी प्रकार एक ही औषध अनेक काम करती हुई कई गणों में गिनी गयी है। इसलिए औषधि के भिन्न-भिन्न कार्य तथा उसके भिन्न-भिन्न नामों का निघण्टु में उल्लेख है। यह नामों का संख्यान-पर्य्यायकथन सबसे प्रथम अमरकोश में क्रमबद्ध रूप में मिलता है।

निघण्टु क्रम से द्रव्यों का उल्लेख उपलब्ध निघंटुओं में सबसे प्रथम **धन्वन्तरीय निघण्टु** में मिलता है। धन्वन्तरि आयुर्वेद के उपदेष्टा हैं, इसी से उनके नाम पर यह निघण्टु बनाया गया। इसमें मंगलाचरण के रूप में धन्वन्तरि को नमस्कार किया गया है, इसके सिवाय इस ग्रन्थ का धन्वन्तरि के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

वैद्यक निघण्टुओं में चक्रपाणिदत्त का बनाया '**द्रव्यगुणसंग्रह**' सबसे प्राचीन है। चरक-सुश्रुत की भाँति इसमें धान्यवर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, लवणादि वर्ग, फलवर्ग, जल वर्ग, क्षीर वर्ग, तैल वर्ग, इक्षुविकृति वर्ग, मद्य वर्ग, कृतान्न वर्ग, आहार-विधि वर्ग और अनुपान वर्ग का उल्लेख है। औषधि द्रव्यों का वर्णन नहीं है।[1] चक्रपाणिदत्त के द्रव्यगुणसंग्रह की टीका शिवदास सेन ने की है, जो कि बहुत प्राञ्जल, विद्वत्तापूर्ण है।

---

१ आहार द्रव्य और औषध द्रव्य में भेद—"वीर्यप्रधानमौषधद्रव्यं तथा रस-प्रधानमाहारद्रव्यम्।"—चक्रपाणि

द्रव्य-गुणसंग्रह नित्य प्रति काम में आनेवाले आहार द्रव्यों तक ही सीमित है। रोगी प्रायः चिकित्सक से आहार-विहार संबंधी जानकारी चाहता है, उसमें सहायता करने के लिए यह ग्रन्थ बनाया गया; जिससे सुगमता से द्रव्यों के गुण स्मरण रहें। चक्रदत्त का द्रव्यगुणसंग्रह अधिकतः सुश्रुत संहिता का अनुकरण करता है।

धन्वन्तरिनिघण्टु के कर्त्ता को भी चरक-सुश्रुत की स्फूर्ति थी। दोनों में से गुणों का आधा या सम्पूर्ण श्लोक लेकर धन्वन्तरिनिघण्टु में उद्धृत किया गया है। इसका वर्गीकरण दोनों से भिन्न है। उदाहरण के लिए सुश्रुत और चरक में अनार को फलवर्ग में लिखा है, चक्रपाणि ने भी इसको फलवर्ग में ही गिना है। परन्तु धन्वन्तरिनिघण्टु में अनार को आम्रादि फलवर्ग में न लिखकर शतपुष्पादि वर्ग में लिखा है। इसी प्रकार केला को करवीरादि वर्ग में लिखा है। इन विशेषताओं के कारण धन्वन्तरिनिघण्टु चक्रदत्त के पीछे बना हो, ऐसी कल्पना की जाती है। इसका समय लगभग बारहवीं शती होगा।

धन्वन्तरिनिघण्टु के प्रकरणों को द्रव्यावलि (द्रव्यों की पंक्ति) कहा गया है, इसमें गुडूच्यादि, शतपुष्पादि, चन्दनादि, करवीरादि, आम्रादि और सुवर्णादि छः वर्गों में ३७३ द्रव्यों का उल्लेख किया है। परन्तु प्रतियों में पाठभेद है; इसलिए इस संख्या में भी भेद है। कहीं-कहीं पर ३७० औषधियों का उल्लेख है।[1]

आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में प्रकाशित धन्वन्तरिनिघण्टु में मिश्रकादि वर्ग है, जो सम्भवतः पीछे से जोड़ा गया प्रतीत होता है। इस निघण्टु में पहले गुडूच्यादि वर्ग की औषधियाँ हैं। इस वर्णन में सुश्रुत-वाग्भट की गुण-वर्णनपद्धति की झलक मिलती है। औषधियों के पर्याय दिये हैं, गुण संक्षेप में कहे हैं; यही इस निघंटु की विशेषता है। ग्रन्थकर्त्ता ने अपने ग्रन्थ का स्वयं परिचय देते हुए कहा है—

> अनेकदेशान्तरभाषितेषु सर्वेष्वपि प्राकृतसंस्कृतेषु।
> मूढेष्वमूढेषु च नास्ति संख्या द्रव्याभिधानेषु तथौषधीषु।
> एकं तु नाम प्रथितं बहूनामेकस्य नामानि तथा बहूनि।
> द्रव्यस्य जात्याकृतिवर्णवीर्यरसप्रभावादिगुणैर्भवन्ति ॥
> नाम श्रुतं केनचिदेकमेव तेनैव जानाति स भेषजं तु।

---

१. द्रव्यावलिः समाविष्टा धन्वन्तरिमुखोद्गता ॥
शतत्रयं च द्रव्याणां त्रिसप्तत्यधिकोत्तरम्।
हितार्थं वैद्यविदुषां द्रव्यावल्यां प्रकाशितम् ॥

अन्यस्तथाऽन्येन तु वेत्ति नाम्ना तदेव चान्योऽथ परेण कश्चित् ॥
द्रव्यावलिं विना वैद्यास्ते वैद्या हास्यभाजनम् ।
द्रव्यावल्यभिधानानां तृतीयमपि लोचनम् ॥

औषधियों का ठीक ज्ञान वनेचरों से होता है, ज्ञान के लिए उनके प्राकृत शब्दों को लेने में दोष नहीं है।[1]

पर्यायरत्नमाला अथवा रत्नमाला—इसके लेखक माधवकर हैं। इसका एक उत्तम संस्करण १९४६ में डा० तारापद चौधरी द्वारा 'पटना विश्वविद्यालय पत्रिका' (भाग २) में प्रकाशित हुआ है। पर्यायरत्नमाला या रत्नमाला का उल्लेख सर्वानन्द वन्द घातीय (११५९ ई०) ने अमरकोश की टीका में किया है। इसके लेखक एवं टीकाकार दोनों का उल्लेख मेदिनी कोश (१३०० ई०), रायमुकुट (१४३० ई०) और भानुजी दीक्षित (१६५० ई०) ने किया है। रत्नमाला के लेखक माधवकर इन्दुकर के पुत्र हैं, जो कि प्रसिद्ध ग्रन्थ रुग्विनिश्चय (निदान) के लेखक हैं। इनकी जन्मभूमि शिलाह्लद है।[2]

सिद्धयोग के लेखक वृन्द ने 'रुग्विनिश्चय' के रोगक्रम को स्वीकार किया है। इस सिद्धयोग का उल्लेख चक्रपाणिदत्त ने चक्रदत्त में किया है। चक्रपाणिदत्त का समय १०४० ईसवी है। माधव ने बहुत से वचन वाग्भट से उद्धृत किये हैं। कविराज श्री गणनाथ सेन ने 'प्रत्यक्षशारीरम्' के उपोद्घात में लिखा है कि आठवीं शती में हारून्

---

१. किरातगोपालकतापसाद्या वनेचरास्तत्कुशलास्तथाऽन्ये ।
विदन्ति नानाविधभेषजानां प्रमाणवर्णाकृतिनामजातीः ॥
प्रायो जनाः सन्ति वनेचरास्ते गोपादयः प्राकृतनामसंज्ञाः ।
प्रयोजनार्थां वचनप्रवृत्तिर्यस्मात्ततः प्राकृतमित्यदोषः ॥
गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः ।
मूलजाताश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते ॥

२. पर्यायमुक्तावली की भूमिका में—"पूर्वलोकहिताय माधवकराभिख्यो भिषक् केवलं कोषान्वेषणतत्परः प्रवर्तितायुर्वेदरत्नाकरात् मालां रत्नमयीं चकार.....। मेदिनी में—हारावल्यभिधानं त्रिकाण्डशेषञ्च रत्नमालाञ्च—३ श्लोक; वाग्भट-माधववाचस्पतिव्याडितारपालाख्यान्—४था श्लोक ।
भिषजा माधवेनैषा शिलाह्लदनिवासिना ।
यत्नेन रचिता रत्नमालेन्दुकरसूनुना ॥

उल रसीद के समय निदान का पारसी भाषा में अनुवाद हुआ था। इसलिए माधव का समय सातवीं शती या इसके कुछ पीछे होना चाहिए। जौली ने माधव का समय आठवीं या नवीं शती माना है।

'रत्नमाला' एक निघंटु है, जिसमें औषधियों के पर्याय दिये हैं। इसके अतिरिक्त मान, परिभाषा-शब्दों की व्याख्या भी इसमें दी है। इस निघंटु में अपना नया क्रम स्वीकार किया है; १३ से २१६ तक पर्याय श्लोकों में हैं, २१७ से ५७८ तक अर्ध श्लोकों में, ५८० से १४२४ तक पदों में, १४२५-१४७२ तक पदार्ध में नाम कहे हैं। १४७४ से १६४१ तक शब्द तीन प्रकार से कहे हैं; १—जिनमें 'अपि' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसमें एक अर्थ है (१४७४-१५०४ तक); २—एक शब्द जिसके दो अर्थ होते हैं (१५०५–१५८६ तक); ३—वे शब्द जिसके बहुत अर्थ होते हैं (१५८७–१६४१ तक)। सबसे अन्त में परिभाषा और मान दिया गया है (१६४२–१७५४)।

रत्नमाला की रचना बहुत संक्षिप्त, सूत्र रूप की है। पुस्तक में सर्वत्र अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है, इसलिए सरल है। पादशब्दावली में सम्पूर्ण पर्याय आ जाते हैं।

निघण्टुक्रम—इस समय प्राप्त होनेवाले निघंटु बहुत थोड़े हैं, इनमें मुख्य ये हैं—(१) धन्वन्तरीय निघंटु—इसे क्षीरस्वामी ने अमरकोश से प्राचीन माना है, मंख ने इसका उपयोग किया है (११५० में); (२) पर्यायरत्नमाला (७०० ईसवी); (३) चक्रपाणि दत्त की शब्दचन्द्रिका (१०४० ई०); (४) सूरेश्वर या सूरपाल का शब्दप्रदीप; (५) हेमचन्द्र का निघंटु शेष (१०८८-११७२); (५) मल्लिनाथ की अभिधानरत्नमाला या सदृश निघंटु; (७) मदनपाल का मदनविनोद (१३७४ ई०); (८) नरहरि का राजनिघंटु (१४०० ई०); (९) शिवदत्त का शिव-प्रकाश (१६७७); (१०) कैयदेव का पथ्यापथ्यविबोधक (१७१० में पाण्डुलिपि मिली); (११) हेमचन्द्र सेन की पर्यायमुक्तावली; (१२) वैंकटेश्वर का दक्षिणा-मूर्त्ति निघंटु; (१३) द्रव्यमुक्तावली; (१४) नीलकण्ठ मिश्र का पर्यायार्णव। पिछले चार की तिथि ज्ञात नहीं। १, ७, ८, १० और १३ में नामों के साथ चिकित्सा सम्बन्धी गुण भी कहे हैं। धन्वन्तरीय निघंटु को छोड़कर शेष सबमें रत्नमाला प्राचीन है।

शोढल का निघंटु—धन्वन्तरिनिघंटु के बाद यह महत्त्वपूर्ण निघंटु है। वैद्य शोढल का समय बारहवीं शताब्दी है। इसने धन्वन्तरिनिघंटु का अनुकरण किया है। इसने विस्तार से लिखा है और वनस्पतियों की पहचान भी बतलायी है।

उदाहरण के लिए वैद्य रणनाथजी इन्द्रजी ने लिखा है कि धन्वन्तरिनिघंटु में यास एक ही लिखा है, परन्तु शोढल ने दो यास लिखे हैं; एक दुरालभा और दूसरा जवासा। इसी प्रकार खदिर दो लिखे हैं; एक खदिर और दूसरा विट्खदिर (एक प्रकार का खैर जिसकी लकड़ी में से बदबू आती है, जलाने पर भी इस लड़की में से विशेष प्रकार की गन्ध आती है—हरिद्वार के पास जंगल में मिलता है)। नीम भी दो लिखे हैं; एक सामान्य नीम और दूसरा बकायन।

सिद्धमंत्र—यह वैद्यवर केशव का बनाया हुआ ग्रन्थ है, जो कि बम्बई से १९६५ विक्रमी में श्री मुरारजी वैद्य ने प्रकाशित किया था। इसका क्रम सब निघंटुओं से भिन्न है। इसमें 'वातघ्न, वातघ्न पित्तल, वातघ्न श्लेष्मल' आदि सत्तावन गुणभेद बताकर इनमें से प्रत्येक के द्रव्यों का उल्लेख इनके वर्गों में किया है। चरक में एक द्रव्य को वातल कहा हो और सुश्रुत में उसे वातघ्न कहा हो तो उसका निर्णय इस ग्रन्थ के अनुसार करना चाहिए—ऐसा लेखक का कहना है। यही इस ग्रन्थ की विशेषता है। ग्रन्थ के ऊपर ग्रन्थकर्त्ता के पुत्र बोपदेव की टीका है। ग्रन्थकर्त्ता देवगिरि के यादव राजा महादेव और रामचन्द्र के मंत्री हेमाद्रि की राजसभा का पण्डित था, इसलिए इसका समय १२७१ से १३०९ ईसवी है। केशव के पुत्र बोपदेव ने सौ श्लोकों का चन्द्रकला नामक वैद्यक ग्रन्थ भी लिखा है, यह गुजराती लिपि में छप चुका है (आयुर्वेद का इतिहास, —श्री दुर्गाशंकर भाई)।

मदनविनोद निघंटु—डाक्टर भण्डारकर ने मदनपाल के मदनविनोद निघंटु के लिए १४वीं शती (१३७५ ई०) में बनने का अनुमान किया है। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र और पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ इस निघण्टु के कर्त्ता मदनपाल को कन्नौज के गहड़वार वंश का राजा मानते हैं (१०९८ से ११०९ ई० तक)। कन्नौज में गहड़वार वंश का राज्य ११०० से ११९४ ई० तक रहा। चन्द्र गहड़वार का पोता गोविन्दचन्द्र (१११४ से ११५४ ई०), इसका पुत्र विजयचन्द्र और विजयचन्द्र का पुत्र जयचन्द्र हुआ। जयचन्द्र ११९४ में महमूद के साथ युद्ध करते समय मारा गया था (इतिहासप्रवेश)। इसलिए इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। मदनपाल के पूर्वजों के नाम कन्नौज के मदनपाल के नामों से भिन्न हैं। निघंटुकार ने लिखा है कि मदनपाल काच्छ का राजा था, काच्छ प्रदेश यमुना के किनारे, दिल्ली के उत्तर में था। काच्छ के टक्क वंश के राजाओं में मदनपाल के कथनानुसार पहले रत्नपाल हुआ, फिर भरणपाल, हरिश्चन्द्र, साधारण, सहजपाल और उसका भाई मदनपाल हुआ। (मिश्रक वर्ग १३।९२–९९)

मदनपाल निघंटु की रचना धन्वन्तरि निघंटु से मिलती है, इसमें द्रव्यों की संख्या अधिक है। अन्तिम मिश्रकाध्याय में दिनचर्या और ऋतुचर्या भी कही है। कृतान्न-वर्ग का भी उल्लेख है। मदनपाल ने अनेकों निघंटु देखे थे, इसी से कहा है—

केचित्सन्ति निघण्टवोऽतिलघवः केचिन्महान्तः परे
केचिद् दुर्गमनामकाः कतिपये भावाः स्वभावोज्झिताः।
तस्मान्नातिलघुर्न चातिविपुलः ख्यातार्थनाम्ना सतां
प्रीत्यै द्रव्यगुणान्वितोऽयमधुना ग्रन्थो मया रच्यते ॥

मदनपाल कृष्णभक्त थे। प्रत्येक वर्ग के प्रारम्भ में मधुर पदों में कृष्ण की स्तुति की गयी है—

मृद् भक्षितानेन रुषेति वक्त्रे प्रसारिते वीक्ष्य ततो जगन्ति।
सविस्मयं सादरमीक्ष्यमाणं यशोदया नन्दसुतं नमामि ॥
गोपालबालैः सह मल्लविद्याविनोदवक्षं धृतकाकपक्षम्।
उपास्महे वाङ्मनसातिदूरं महः परं नीलमचिन्तनीयम् ॥

निघंटु का महत्त्व—**अनामवित्मोहमुपैति वैद्यो न वेत्ति पश्यन्नपि भेषजानि।**
क्रियाक्रमो भेषजमूलमेव तद् भेषजं चापि निघण्टुमूलम् ॥
(धन्वन्तरिनिघंटु के प्रारम्भ के वचन)

राजनिघंटु या अभिधानचिन्तामणि—इसके कर्त्ता नरहरि ने अपने को स्वतः कश्मीर देशवासी कहा है (काश्मीरेण कपर्दिपादकमलद्वन्द्वार्चनोपार्जितः)। नरहरि अमृतेशानन्द के शिष्य और शिवभक्त थे। ग्रन्थकर्त्ता ने स्वयं कहा है कि धन्वन्तरि, मदन, हलायुध, विश्वप्रकाश, अमरकोश आदि कोशों को देखकर यह निघंटुराज बनाया है—

धन्वन्तरीयमदनादिहलायुधादीन् विश्वप्रकाशामरकोशराजौ।
आलोच्य लोकविदितांश्च विचिन्त्य शब्दान्द्रव्याभिधानगुणसंग्रह एष सृष्टः ॥

हलायुध का समय ११वीं शताब्दी है, विश्वप्रकाश १२वीं और मदनपाल १४वीं शती में बने हैं। इसलिए राजनिघंटु १५वीं शती से पहले नहीं बना होगा।

ग्रन्थकर्त्ता ने यद्यपि सब कोशों को देखा है, तथापि मुख्यतः धन्वन्तरिनिघंटु का अनुसरण किया है, दोनों के पाठ बहुत मिलते हैं।

राजनिघंटु में पहले निघंटु की अपेक्षा द्रव्यों की संख्या अधिक है। वर्ग भी अधिक हैं; कुल २३ वर्ग हैं। इनमें पण्यवर्ग (बाजार में बिकनेवाले द्रव्यों का वर्ग), अनेकार्थ नाम वर्ग, रोगनामों का अर्थ आदि वैद्यों के लिए उपयोगी बहुत-से वर्ग हैं। परन्तु यह

सब नियमित नहीं; वनस्पतियों के नामों की अधिकता होने से इनके निर्णय में कठिनाई होती है। सम्भवतः इस विषय में ग्रन्थकर्त्ता की रचनाशैली कारण है—जिसमें कर्नाटकी, महाराष्ट्री भाषा में प्रचलित नाम भी इसमें आ गये हैं। ये नाम संभवतः सुनकर या पूछकर लिखे गये हैं, क्योंकि लेखक स्वतः कश्मीर का था—

अप्रसिद्धाभिधं चात्र यदौषधमुदीरितम् ।
तस्याभिधाविवेकः स्यादेकार्थादिविनिर्णये ॥
व्यक्तीकृताऽत्र कार्णाटकमहाराष्ट्रीयभाषया ।
आन्ध्रलाटादिभाषास्तु ज्ञातव्यास्तद्‌वृद्याश्रयाः ॥

राजवल्लभ—राजवल्लभकृत द्रव्यगुणसंग्रह है। प्रभातादि आह्निक कृत्यों की चर्चा इसके पाँच अध्यायों में कही गयी है। छठे अध्याय में औषधगुण अतिशय संक्षिप्त और स्थूल रूप में बतलाये हैं। इसके पठन से विशेष लाभ नहीं। वनौषधिदर्पणकार श्री विरजाचरण गुप्त की मान्यता है कि राजवल्लभ राढ देश का निवासी था (अर्थात् बंगाली, क्योंकि इस कृति में मछलियों के भेद लिखे गये हैं)। मांस, विशेषतः मछली खाने का रिवाज कान्यकुब्जों में भी है, वे भी इस भेद को जानते हैं। नाम भी कान्य-कुब्जों-जैसा है, इसलिए इनका पूर्वी उत्तर प्रदेश में भी होना सम्भव है। बंगालियों के विचार में यह एक धारणा मिलती है कि वे प्रत्येक अच्छे वैद्य की कृति को और उस वैद्य को अपने देश का सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

भावप्रकाशान्तर्गत द्रव्यगुणसंग्रह—भावप्रकाश में वर्णित द्रव्यगुणसंग्रह चिकित्सा-दृष्टि से विशेष महत्त्व का न होने पर भी उसी का पठन-पाठन अधिक प्रचलित है। इसका कारण आज की शिक्षा है; जो पाठ्यक्रम में एक बार चढ़ गया वही आगे गतानु-गतिक प्रथा से चलता है। इसमें कुछ नयी औषधियों का भी समावेश है (यथा चोप-चीनी)। भावप्रकाश के समय इस देश में रसचिकित्सा का प्रचार हो गया था। इसी लिए रससिन्दूर, हिंगुल, रसकर्पूर आदि योग, फिटकरी, नवसार, खर्पर, मनः-शिला आदि का शोधन विधिपूर्वक लिखा है। राजनिघंटु की अपेक्षा यह उपादेय है।

भावप्रकाश में द्रव्यों का वर्गीकरण विशेष प्रकार से किया है। इस वर्गीकरण का क्या आधार है, इसका कुछ भी पता नहीं। भाव मिश्र सोलहवीं शती में हुए हैं।

शिवकोश—इसके रचयिता तथा इसकी व्याख्या करनेवाले शिवदत्त मिश्र ही हैं। ग्रन्थकर्त्ता ने स्वयं इसे लिखकर इसकी व्याख्या की है। शिवदत्त के पिता का नाम चतुर्भुज था। इनका सम्बन्ध कर्पूर वंश से था। शिवदत्त के विषय में बहुत कम जान-

कारी है।[1] प्रो० गोड़े ने इनका समय १६२५ से १७०० ई० के लगभग माना है, ये भट्टोजी दीक्षित के बाद के हैं। कर्पूर वंश, जिसका कि शिवदत्त से सम्बन्ध है, वह आयुर्वेदिक चिकित्सकों का वंश था। शिवदत्त ने आयुर्वेद अपने पिता से सीखा था। चतुर्भुज का नाम रसकल्पधर्म तथा रसहृदय तंत्र की व्याख्या से सम्बद्ध है। शिवदत्त के पुत्र कृष्णदत्त ने भी त्रिमल्ल लिखित द्रव्यगुण शतश्लोकी की व्याख्या की थी। शिवदत्त ने अपनी व्याख्या में लगभग १०७ पुस्तकों का उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट है कि यह अच्छा विद्वान् था। लगभग १२ ग्रन्थकर्त्ताओं का नाम लिखा है। यह केवल वैद्य ही नहीं था, अपितु संस्कृत साहित्य का भी विद्वान् था,स्थान-स्थान पर कालिदास, भवभूति एवं दूसरे कवियों के उद्धरण दिये गये हैं। प्रोफेसर गोड़े ने शिवदत्त को भी बनारस के उन पण्डितों की सूची में गिना है जिन्होंने शाहजहाँ से तीर्थयात्रा-कर मुक्त करने की प्रार्थना की थी। इससे स्पष्ट है कि इस समय वह बनारस में रहता था।

शिवकोश की रचना लेखक ने नये क्रम से की है, यह क्रम हेमचन्द्र ने अपनाया था। साथ ही निघंटुओं के पूर्व-प्रचलित वर्गों का उल्लेख नहीं किया। इसको अकारादि क्रम के साथ मुख्य शब्दों के भाषा सम्बन्धी विचार से लिखा गया था—

त्रिष्विति पदं त्रिलिङ्ग्यां मिथुने तु पदं द्वयोरिदं बोध्यम्।
शेषे निषिद्धलिङ्गं त्वन्तायादीनपूर्वकं भजतः ॥३॥
नानार्थः प्रथमान्तोऽत्र सर्वत्रादौ प्रकीर्त्तितः।
सप्तम्यन्ताभिधेयेषु वर्त्तमानः सुनिश्चितः ॥४॥
प्राङ्‌ नानार्थान्न तल्लिङ्गं द्वयोर्द्वन्द्वेन चैकता।
शब्दावृत्तिर्न लिङ्गैक्ये सप्तमी न विशेषणे ॥५॥
लिङ्गं रूपादपि व्यक्तं लिपिभ्रांतिच्छिदं क्वचित्।
स्त्रियां नपुंसके पुंसीत्याद्यैः पुनरिहोच्यते ॥६॥
एकद्वित्रिचतुःपञ्चषड्वर्णानुक्रमात्कृतः।
स्वरकाद्यादिकाद्यन्तवर्गैर्नानार्थसंग्रहः ॥७॥

शिवकोश वृक्ष, वनस्पति, लता-गुल्म आदि तक ही सीमित है, इसमें भी जो वस्तुएँ चिकित्सा में काम आती हैं, उन्हीं को लिखा है। इसमें २८६० मुख्य वनस्पतियाँ हैं और लगभग ४८६० शब्द इनका अर्थ स्पष्ट करने के लिए आये हैं। इस दृष्टि से यह

---

१. शिवकोश १९५२ में पूना से प्रकाशित हुआ है। प्रोफेसर गोड़े ने 'कर्पूरीय शिवदत्त और इसका आयुर्वेदीय कार्य सम्बन्धी लेख' पूना की 'प्राच्यविद्या पत्रिका', भाग ७, नम्बर १-२, पृष्ठ ६६-७० में लिखा है। यह जानकारी उसी से ली गयी है।

धन्वन्तरीय और राजनिघण्टु दोनों से अधिक विस्तृत है। पक्षियों, पशुओं, मच्छर आदि (Insects) पतंगों, सरीसृपों का भी उल्लेख इसमें हुआ है। ऋतु के अनुसार भी कई वनस्पतियों के नाम मिलते हैं, यथा वार्षिकी, वासन्ती, ग्रैष्मिकी, वर्षाभू, शारद, शिशिर। जीवन से सम्बन्धित नामों में—जाति-वर्ण के नाम पर भी वनस्पतियों का उल्लेख है, यथा ब्राह्मणी, भिक्षुक, ब्रह्मचारिणी, तपस्विनी, वानप्रस्थ, प्रव्रजिता आदि। राजा एवं राजसभा के नाम पर नृप, राजपत्नी, राजादन, प्रजाहित, लेख्यपत्र, राष्ट्रीक, वीर आदि; समाज के नामों पर नट, कुटन्नट, नर्त्तक, नर्त्तकी, नृत्यकुण्डा, वारुणी, सुरा, कामुक, ताम्बूल, धूर्त्त, कितव आदि; धार्मिक मान्यताओं के ऊपर रक्षोघ्न, भूतकेशी, भूतवृक्ष आदि।

कर्त्ता की व्याख्या कोश की अपेक्षा अधिक महत्त्व की है। व्याख्या में दूसरे वचनों का उल्लेख करके अपने वचन को पूर्णतः पुष्ट किया गया है।

शिवकोश में इस बात की भी जानकारी है कि कुछ औषधियाँ कहाँ से आती थीं; इसे स्वतंत्र रूप में या उद्धरणों से स्पष्ट किया है। हिमालय वनस्पतियों की प्राप्ति का मुख्य साधन जरूर रहा, परन्तु पीछे भारत के कोने-कोने से तथा बाहर से भी वनस्पतियाँ आती थीं, उदाहरण के लिए—

देश का नाम	वस्तु का नाम
अवंति	अवन्तिसोम, धान्याम्ल
अनूप (हैहेय, माहिष्मती)	अर्जुन, पार्थ
असुरदेश (असूर्या)	असुरलवण, असुरी
उत्तरापथ (कश्मीर-नेपाल)	नालिका, नति, विद्रुमलता
कलिंग (उड़ीसा)	लांगल, कुटज, राजकर्कटी
कामरूप	अम्लिकाकन्द
कश्मीर	श्रीपर्णी गम्भारी, कट्फल, हीरा, अतिविषा, पुष्करमूल, कुंकुम, कुष्ठ,
कुरु	कुरुविन्द, हिंगुल, काच लवण
कुरुक्षेत्र	विदारी-शृगालिका
कैरात (दक्षिण विन्ध्याचल तापी घाटीतक)	स्वर्णमाक्षिक
कोंकण (दमन से गोवा तक)	अर्जुन-श्वेतवाही
क्षीराब्धि (अरब समुद्र और फारस की खाड़ी)	गन्धक-लेलीतक समुद्र लवण

देश का नाम	वस्तु का नाम
गंगाघाटी	गाङ्गी
पर्वतीय श्रेणी (गिरिराज)	टिंटुक, अरलु, धातु—स्वर्ण-रौप्य आदि
गुर्जर	मेषशृंगी
गौड़ (बंगाल)	रक्तवास्तुक, वाणपुष्प
चीन	कृतकर्पूर, चीनक (चीना धान्य), दालचीनी, शीतल चीनी
ताप्ती तीर	स्वर्णमाक्षिक, मधुमाक्षिक
तार्क्ष्य शैल (त्रिककुद पर्वत)	शिलापुष्प
तुरुष्क (पूर्वी तुर्की)	सिल्ह (पिण्डित), मुखमण्डनिका
दरद (दरदिस्तान)	पारद, हिंगुल
दाक्षिणात्य	स्पृक्का, मलयावती, लज्जा
द्रविड़ (तामिल)	सूक्ष्मैला, कर्चूर
नेपाल	ताम्र, मनःशिला, निवारी
पवनदेश-शकदेश (मध्य एशिया का तुर्की स्थान)	सरल, बोल, कुन्दरू श्रीवास
पर्शिया (ईरान)	यवानी, हिंगु
पश्चिमार्णव	तुवरक
पाश्चात्य	गन्धमार्जारी, अम्बष्ठा, विषाणिका
प्राच्य	निशा, आर्द्रक
बर्बर (अनार्य प्रदेश)	कवरी, भार्गी, तैलपर्णी
बल्ख (बैक्ट्रीया-काबुल-खुरासान-बुखारा)	कुंकुम, हींग (रामठ)
भोट (तिब्बत)	ताम्बूलवल्ली, पीपलमूल, वराही
मरु (मारवाड़)	बला, महाबला, सहदेवी
मरुकन्दिशिका (संभवतः मरुकन्दर)	टंकण (धातुद्रव), क्षार
मलय (दक्षिण भारत)	चन्दन
म्लेच्छ (मुस्लिम देश, भारत के बाहर)	पलाण्डु, रसोन, मुख-मण्डन, स्वर्णमाक्षिक, गोधूमक, मरिच

देश का नाम	वस्तु का नाम
यवन	ऊपर कही वस्तुएँ
वृन्दावन	वीरतरु, मधुस्रव
विन्ध्य	पाषाणभेद
वृन्दारण्य या वृन्दावन	शेफाली, वरुण
विदेह (तिरहुत और मिथिला)	मागधी, पिप्पली, सोंठ
शकस्थान (कैस्पियन समुद्र के उत्तर में)	श्रीवास, तगर, नख
साबरदेश (विन्ध्य पर्वत का क्षेत्र)	अक्षिभैषज्य, वाराही कन्द
शाकम्भरी देश (साम्भर)	रोमक-शाकम्भरी लवण
शूकरक्षेत्र या वराहक्षेत्र (बुलन्दशहर के पास)	वराही कन्द
श्वेत द्वीप (सम्भवतः आरमेनिया)	गन्धक
सर्वदेश	त्रपुस (आठ प्रकार का खरबूजा)
सौराष्ट्र (काठियावाड़)	ताम्बूलवल्ली, तुवरी, सुजाता—हेम–शोधनी, पांशुक्षार
हिमालय क्षेत्र——	जम्बीरकन्द, आम्रात, कंकुष्ठ, शिलाजतु, हेमक्षीरी, मुरा

वैदिक निघंटु—वेद में २६० वनस्पतियों का उल्लेख है; इसमें १३० वनस्पतियों का तो आयुर्वेद की वनस्पतियों के नाम से पूर्ण समन्वय है। आयुर्वेद में वर्णित ये ही वनस्पतियाँ हैं। सुश्रुत में वनस्पतियों की संख्या ३८५ है। चरक में कहने के लिए ५०० हैं परन्तु गणना में ये कुछ कम हैं। कौटिल्य-अर्थशास्त्र में वनस्पतियों की संख्या ३३० है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र वेद और साहित्यिक आयुर्वेद की कड़ी है। हार्नले ने बाबर पाण्डुलिपि में वनस्पति संख्या ४०० कही है, डाक्टर फिलोजैट ने 'फ्रैकमन्ड डी टैक्सट कोटूचीन' में वनस्पतियों की संख्या १५० लिखी है। पर्यायों को छोड़कर धन्वन्तरीय निघंटु में ३२४ आयुर्वेदिक वनस्पतियों का उल्लेख है। आयुर्वेदिक द्रव्यगुण में काम करनेवाली प्राथमिक वनस्पतियों की गणना ६६६ से अधिक नहीं।

वेद में वृक्ष और वनस्पति सम्बन्धी पर्याप्त शब्द आते हैं; उदाहरण के लिए—वृक्ष-वनस्पति सात श्रेणियों में विभक्त हैं; १. प्रस्तरणी—फैलनेवाली, २. स्तम्भनी, ३. एकशुंगी, ४. प्रतानवती, ५. अंशुमती, ६. कण्डिनी, ७. विशाखा; जिसकी शाखा न हो। इनका और भी विभाग किया है, यथा—फलिनी, अफला, अपुष्पा,

पुष्पिनी, प्रसूवरी। वृक्ष के विभिन्न अंगों के नाम हैं—मूल, तूल, काण्ड, पुष्प, फल, त्वक्, वल्कल, तुष, निर्यास आदि। वीरुध, ओषधि, वनस्पति और वृक्ष में भेद किया गया है। संक्षेप में ऋग्वेद के ओषधिसूक्त (१०।९७) में वनस्पतियों की उत्पत्ति, कार्य और चिकित्सा में उपयोग का उल्लेख मिल जाता है।[1]

वेदों में आहार द्रव्यों के नाम, अन्नों के नाम, घास, वृक्ष, खाने योग्य वस्तु, नरसर (Reeds) के भेद और नामों का उल्लेख मिलता है।[2]

वैदिक वनस्पति नामों की असीरियन नामों से तुलना—विद्वान् आर. कैम्पबेल टामसन ने अपनी पुस्तक डिक्शनरी ऑव् असेरियन बौटनी (१९४९) में २५० वनस्पतियों का उल्लेख किया है। इनमें से लगभग एक दर्जन नाम संस्कृत नामों से मिलते हैं। असीरिया में चिकित्सा पद्धति बहुत प्राचीन (३००० वर्ष ईसा पूर्व की) है; कम से कम ईसा से ७ वीं शताब्दी पूर्व इसकी अन्तिम सीमा हो सकती है। असीरिया का राजा असुरवनीपाल (६८१ से ६६८ ई० पूर्व) था। इसका जो पुस्तकालय खुदाई में प्राप्त हुआ था उसमें २२,००० मिट्टी की प्लेटें थीं। इसमें अधिक पुस्तकें चिकित्सा से सम्बन्धित हैं, जो कि प्राचीन पुस्तकों से अनूदित थीं। इनमें लगभग २५० में से ८० नाम वृक्षों के ऐसे थे, जो कि भारतीय वृक्षों के नामों से मिलते थे। उदाहरण के लिए अलाबु (अथर्व. ८.१०।२९-३०; मैत्रेय संहिता का अलापु ४।२।१३) शब्द असीरियन में अलापु है। इसी प्रकार असीरियन का रूबु या रूबुक है, जो कि संस्कृत नाम एरण्ड से मिलता है; जिसके लिए 'वर्धमान' पर्याय है। रूबु का अर्थ ही बढ़ना है (एरण्ड का नाम संस्कृत में रूबु है)। इसी प्रकार का एक नाम कुस्तुम्बुरू (धनिया) है। सुमेरियन भाषा में बुरू का अर्थ वृक्ष है, कुस्तु का अर्थ अन्न है; इसलिए कुस्तुम्बुरू का अर्थ अनाज का वृक्ष है, (तुलना कीजिए धाना या धान्यक संस्कृत नाम से; मराठी में कोथमरी)। सुमेरियन का सामकुंगु या सामगंगु संस्कृत का कंगू है। सुमेरियन में केले के लिए कलवी; संस्कृत में कदली, आझा घास की जड़ के लिए नरद; संस्कृत में नरद या नलद, सुमेरियन का सिन्दु, जो कि मकान में लकड़ी के काम में आता था; संस्कृत का स्यन्दन तरु है, सलिया सुमेरियन शब्द संस्कृत के शालि (चावल) शब्द से मिलता है। सुमेरियन का ट्री और संस्कृत का तरु प्रायः एक ही है। सुमेरियन का अनिमेद संस्कृत

---

१. इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य—डाक्टर फिलोजत (Dr. Fillizat) का La Doctrine-classique–पृष्ठ १०९.

२. शिवकोश की भूमिका इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण है।

का इरिमेद है। सुमेरियन और संस्कृत में नीम एक ही है। सुमेरियन गव्वर संस्कृत में कर्पूर है।[1]

जौली ने संस्कृत नाम पिप्पली, पिप्पलीमूल, कुष्ठ, शृंगवेर, कर्दम, त्वक्, वच, गुग्गुल, मुस्तक, तिल, शर्करा का ग्रीक अनुवाद देखकर, भारतीय द्रव्यगुण का मूल विकास ईसा की पहली शताब्दी में माना है (इन्डियन मेडिसिन-पृष्ठ २७-२८ केर्सीकर का अनुवाद)।

कैयदेवनिघंटु—यह निघंटु लाहौर से प्रकाशित हुआ था, इसका विशेष प्रचार नहीं। इसको 'पथ्यापथ्य ग्रन्थ' भी कहते हैं।

इसके अतिरिक्त चन्द्रनन्दन-कृत गणनिघंटु, शेषराजनिघंटु, मुद्गल-कृत द्रव्यरत्नाकरनिघंटु, विश्वनाथ सेन कृत पथ्यापथ्यनिघंटु, त्रिमल्लभट्ट कृत द्रव्यगुणशतश्लोकी आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

राजनिघंटु के पश्चात् प्रसिद्ध बड़ा निघंटु भावप्रकाश ही है। इसके बाद १६८१ ई० (शक १६०३) में अहमदनगर-निवासी माणिक्य भट्ट के पुत्र वैद्य मोरेश्वर का बनाया वैद्यामृत तथा काशी के वैद्य बलराम का लिखा आतंकतिमिरभास्कर ग्रन्थ हैं। आतंकतिमिरभास्कर पिछले सौ वर्ष का बना हुआ होने से आधुनिक है।

क्षेमकुतूहल—वैद्यवर श्री क्षेम शर्मा का बनाया हुआ है, बम्बई से श्री यादवजी त्रिकमजी ने आयुर्वेद ग्रन्थमाला में इसे प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ १६०५ विक्रमी संवत् में प्रकट हुआ है, ऐसा ग्रन्थकर्त्ता नें स्वयं अन्त में कहा है।

इस ग्रन्थ में कुल बारह अध्याय (उत्सव) हैं। इन उत्सवों में द्रव्यपाक की परिभाषा, भोजन गृह, पकाने के पात्र, पाकशाला के उपयोगी साधन, सविष अन्न की परीक्षा, राजाओं को कैसे वैद्य को रसोईघर या पाकशाला का निरीक्षक बनाना चाहिए, वैद्य को भोजन के सम्बन्ध में राजा की देख-रेख किस प्रकार करनी चाहिए, रसोइये की प्रशंसा, ऋतुभेद तथा इससे सम्बन्धित सामान्य बातें, दिनचर्या, भोजन प्रकार, भोजन पर निगाह न पड़े इसकी देख-रेख, भिन्न-भिन्न घी के गुण, खिचड़ी, कचौड़ी, मूली, पटोल, आर्द्रक आदि के गुण, भिन्न-भिन्न मांस पकाने की विधि, मछली, भोज्य, शाक के प्रकार, खाने की वस्तु बिगड़े नहीं इस प्रकार सुरक्षित रखने की विधि, हलुवा, पोली, घेवर, लड्डू, दूध की बनी वस्तुएँ, जलेबी, भूख लगानेवाली वस्तुएँ आदि बहुत सी बनावटों का वर्णन है।

क्षेमशर्मा ने अपने वंश का वर्णन ग्रन्थ के आरम्भ में किया है। इसके अनुसार इनके प्रपितामह ने दिल्ली-शकेश्वर सुलतान की सेवा करके ग्यारह गाँव प्राप्त किये

थे। इनकी माता पति के पीछे सती हुई थी। क्षेमशर्मा ने स्वयं विक्रमसेन राजा की सेवा करके प्राप्त किये गाँव में एक बावली बनवायी थी। विक्रमसेन कहाँ का राजा था, यह कुछ पता नहीं।

क्षेमशर्मा ने कुछ ग्रन्थ देखने का उल्लेख किया है, उनमें भीम और रवि के कौन से ग्रन्थ थे, इसका कुछ पता नहीं चलता। इसमें नलपाक का नाम नहीं लिखा (नलपाक दर्पण ग्रन्थ काशी चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ में प्रकाशित हुआ है)। इसके बाद इन्होंने 'भोजनकुतूहल' नाम का भी एक ग्रन्थ लिखा है। तदनन्तर लिखा गया सिद्धभैषज्यमणिमाला ग्रन्थ आधुनिक काल का है, इसमें वर्त्तमान काल की प्रचलित बनावटें हैं।

महाभारत के नलोपाख्यान में नल की पाककुशलता का उल्लेख है, उसी के कारण नल के नाम से बहुत-से पाकशास्त्र के ग्रन्थ बने हैं।[1] इसी प्रकार भीम के भोजन की मात्रा अधिक थी, इसलिए उसके नाम पर भी ग्रन्थ बन गया।

प्राचीन काल में भोजन की विविध बनावटें होती थीं, यह बात चरक के कृतान्नवर्ग से सरलतापूर्वक समझ में आ जाती है। पीछे धन्वन्तरीय निघंटु आदि में शास्त्रीय वर्गीकरण के कारण इसको छोड़ दिया गया। परन्तु बहुत समय से राजाओं के स्वास्थ्य और भोजन पर विशेष ध्यान रखा जाता था। सुश्रुत में और कौटिल्य अर्थशास्त्र में इस सम्बन्ध में पर्याप्त सूचनाएँ हैं। अष्टांगसंग्रह में इस विषय को विस्तार से कहा गया है, उसमें राजाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि "ऐश्वर्यशाली, धनी एवं विशेष कर राजाओं के शत्रु, मित्रों की अपेक्षा अधिक होते हैं। इसलिए इनके द्वारा प्रयुक्त विष को समीपवर्ती लोग खान-पान में दे देते हैं। स्त्रियाँ शत्रुओं के गुप्तचरों द्वारा प्रयुक्त विष को, वस्तु को, सौभाग्य के लोभ से अथवा अज्ञान के कारण दे देती हैं। इसलिए राजा को चाहिए कि कुलीन, स्नेही, विद्वान्, आस्तिक, आर्य, चतुर, दक्षिण, निश्छल, पवित्र, नम्र, आलस्यरहित, व्यसनरहित, अभिमान शून्य, क्रोधरहित, साहसिक कामों को न करनेवाले, वाक्य के अर्थ को समझने में कुशल, आयुर्वेद के अष्टांग में निपुण, शास्त्रानुसार आयुर्वेद में योग-क्षेम जिसने प्राप्त किया हो, जिसके पास सदा अगद-विष प्रतिकार औषध तैयार रहे, ऐसे सब प्रकार के सात्म्य को समझनेवाले प्राणाचार्य को नियुक्त करे।

फलतः रसोई तथा दूसरी बातों का (अभ्यंग, परिषेक, अनुलेपन, वस्त्र, माला आदि का) उत्तरदातृत्व वैद्य को दिया जाता था। इस सम्बन्ध की जानकारी प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। भोजन की विविध बनावटों की चर्चा रोगी के हित की दृष्टि से

---

१. महाभारत—नलोपाख्यान पर्व (वनपर्व)

की जाती है। क्योंकि एक ही वस्तु पाक-क्रिया से गुणों में परिवर्तन होने पर रोगी के लिए हितकारी-अहितकारी हो सकती है। इसलिए कृतान्नवर्ग का गुण-दोष रोगी के पथ्य-अपथ्य विचार से किया गया है। चक्रपाणिदत्त का द्रव्यगुणसंग्रह तथा कैयदेव का पथ्यापथ्यनिघंटु भी इसी के लिए हैं।

सम्पूर्ण निघंटु रचना को देखने से इतना तो स्पष्ट है कि धन्वन्तरीय निघंटु में जो मार्ग अपनाया गया था, इसके पीछे होनेवाले दूसरे निघंटु-लेखकों ने उसी को अपनाया। इसमें कुछ भी परिवर्तन या सुधार मुश्किल से हुआ है। पिछले लेखकों ने द्रव्यों के नामों का संग्रह करना ही अपना लक्ष्य समझा। वैद्यामृत के कर्त्ता ने ईसबगोल का भी उल्लेख किया है।

परन्तु द्रव्यों का परिज्ञान-विषयक कोई भी यत्न किसी निघंटुकर्ता ने नहीं किया। सम्भवतः इसका कारण यही माना गया कि यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान पर ही निर्भर है, इसको लिपिबद्ध नहीं कर सकते। गुड़ की मिठास जिह्वागम्य ही है, इसे वाणी से या लिखकर नहीं बताया जा सकता। इसी प्रकार इस ज्ञान को समझा गया होगा। शिवदत्त-जैसे किसी एक निघंटु में परिचय कहीं पर मिल जाता है, परन्तु यह बहुत अपर्याप्त है। निघंटुओं में दी हुई संज्ञाएँ (नाम) तथा टीकाकारों के दिये हुए यत्र-कुत्रचित् परिचय से आजकल के संशोधकों के सामने एक विचित्र उलझन आती है। क्योंकि ये संज्ञाएँ और परिचय एक नहीं, फिर एक ही नाम बहुत सी वनस्पतियों के लिए बरता गया है। साथ ही इसमें एक लाभ भी है, कि कई बार संज्ञा से वस्तु के आयात तथा दूसरी बातों का भी पता चल जाता है (यथा—काली मिर्च के लिए १—'खर्जूर्या मारिचं चाथो यवनेष्टं च सीसके'; २—'गुडः फाणौ गुडा हारहूरायां वज्रकण्टके' (१४६)— इसमें हारहूरा शब्द द्राक्षा के लिए आया है; क्योंकि यह हारहूर से आती थी)। अभी तक बहुत से द्रव्य सन्दिग्ध हैं।

द्रव्यों के गुण-धर्म के विषय में भी इन निघंटुओं से पूर्ण, सच्ची जानकारी नहीं मिलती; इस त्रुटि पर भी इस वर्णनशैली में पीछे से कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। संभवतः गुणकथन में वैयक्तिक अनुभव या सुना हुआ ज्ञान ही आधार रहा होगा; परन्तु यह इतना कम है कि दूसरे वर्णन के अन्दर छिप जाता है। साथ ही बाहर से आये हुए नये द्रव्यों के वर्णन में अनुभव की झाँकी मिल जाती है, जैसे चोपचीनी रक्तशोधक है; इसी लिए उपदंश चिकित्सा में, भावप्रकाश में लिखी गयी है।

एक प्रकार से प्राचीन निघंटु आधुनिक ज्ञान के सामने बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं ठहरते, क्योंकि वनस्पतियों का परिचय इनसे ठीक ज्ञात नहीं होता। इनका उपयोग

नाम-संज्ञा ज्ञान तक ही सीमित है; इसमें भी एक ही नाम कई द्रव्यों के लिए होने से असुविधा होती है।

भैषज्यकल्पना

कल्पना का अर्थ योजना है (कल्पनं योजनमित्यर्थः—अरुणदत्त; कल्पनमुपयोगार्थं प्रकल्पनं संस्करणमिति-चक्रपाणि)। औषध रोगी को किस योजना से दी जाय इसके ज्ञान का नाम 'भैषज्यकल्पना' है। कल्पना का लाभ—

अल्पस्यापि महार्थत्वं प्रभूतस्याल्पकर्मताम्।
कुर्यात् संश्लेषविश्लेषकालसंस्कारयुक्तिभिः॥ (हृदय, कल्प. २।६१)

थोड़ी औषध भी बहुत काम कर सकती है, और मात्रा में अधिक वस्तु भी थोड़ा काम करती है। यह काम संयोग, विघटन, काल और संस्कार से होता है। इसके लिए कल्पना-ज्ञान पृथक् रूप में पीछे (लगभग चौथी या पाँचवीं शती में) उन्नत हुआ। अष्टांगसंग्रह में इस सम्बन्ध के वचन एक स्थान पर संगृहीत हैं। चूर्ण का प्रचार इससे पूर्व भी था। परन्तु चूर्णकल्पना का उल्लेख सबसे प्रथम संग्रह में आया है।[1]

संग्रह के पीछे भैषज्यकल्पना की विस्तृत जानकारी शार्ङ्गधरसंहिता में मिलती है। शार्ङ्गधर के सिवाय दूसरे ग्रन्थों में एक स्थान पर इस प्रकार की विशेष जानकारी नहीं है। फिर भी कल्पना का सूत्र चरक, सुश्रुत में यत्र-तत्र मिलता है। चरक के कल्पस्थान में वमन-विरेचन द्रव्यों की नाना प्रकार की कल्पनाएँ आयी हैं। ये कल्पनाएँ रोगी की प्रकृति-दोष-काल-बल का विचार करके लिखी हैं। इसी से जीवक वैद्य द्वारा भगवान् बुद्ध को पुष्प सुंघाकर तीस विरेचन देने का उल्लेख महावग्ग में मिलता है।

कल्पना के अन्दर औषध और भूमि का विचार करने के साथ-साथ इनको सुरक्षित रखने, इनके मान-परिमाण का भी उल्लेख है। पाणिनि के अनुसार मान-परिभाषा में बाटों का प्रारम्भ नन्द से हुआ है (नन्दोपक्रमाणि मानानि (२।४।२१), इसका उदाहरण नन्दोपक्रमणं द्रोणः)। पाणिनिसूत्रों में कंस (५।१।२५), शूर्प (५।१।२६), खारी (५।१।३३) शब्द आये हैं—इससे कंसक, शौर्पिक, खारिक रूप बनाये गये हैं। एवं 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः' (७।३।१७) में दो निष्कों से खरीदी वस्तु को

---

१. शुष्कपिष्टः सूक्ष्मतान्तवपटच्युतश्चूर्णः। तस्य समस्तद्रव्यापरित्यागादाप्लुतोपयोगाच्च कल्कादभेदः—संग्रह, कल्प अ० ८

द्वैनिष्क्यम् कहा है; 'खार्याः प्राचाम्' (५।४।१००) में खारी मान दिया है। 'शूर्पाद-न्यतरस्याम्' (५।१।२६) में पतञ्जलि ने द्विशूर्प, त्रिशूर्प उदाहरण दिये हैं। चरक के अनुसार दो द्रोण का एक शूर्प होता था, दो शूर्प की एक गोणी (लगभग ढ़ाई मन तोल) होती थी।

पाणिनिसूत्रों में कषाय और अभिषव शब्द भी आते हैं—पाणिनि के अनुसार कषाय कई प्रकार के होते थे। आयुर्वेद में कषाय शब्द क्वाथ अर्थ में ही सीमित नहीं (कषायसंज्ञेयं भेषजत्वेन व्याप्रियमाणेषु रसेष्वाचार्येण निवेशिता—चक्रपाणि)।

अभिषव—आसुति या अभिषव के स्थान में मद्य बनाने के लिए विविध औष-धियों को पहले उठाया जाता (संधान किया जाता) था (फर्मेन्टेशन किया जाता था)। जब वे पूरी तरह उठ (संधानित हो) आती थीं तब उनको आसाव्य (३।१। १२६) कहते थे। अर्थात् जो ऐसी स्थिति में आ गयी हों कि उनका अभिषव या चुआना अत्यन्त आवश्यक हो। चुआने के बाद जो फोक बचता था उसे फेंकने योग्य कहते थे (३।१।११७)। कौटिल्य ने लिखा है कि चुआने के बाद बचे हुए सुराकिण्व या फोक को हटाने के लिए स्त्री या बच्चों को लगाना चाहिए (२।३९)। मधुपान से सम्बन्धित भाषा के एक विशेष प्रयोग का पाणिनि ने (१।४।६६) उल्लेख किया है—'कणे हत्य पिबति'—जिसका अर्थ है तलछट तक पी गया फिर भी मन नहीं भरा (श्रद्धाप्रतिघात)।

मद्य चुआने की भट्ठी आसुति (५।२।११२), उसका स्वामी आसुतीवल, भभका शुण्डिक (४।३।७६) तथा भभके से मद्य खींचनेवाला व्यक्ति शौण्डिक (४।३।७६) कहलाता था। मैरेय और कापिशायन ये दो मद्य के नाम पाणिनिकाल में मिलते हैं। बुद्ध के समय में मैरेय पीने का प्रचार बहुत बढ़ गया था। बुद्ध को विशेष रूप में इसे बन्द करने की आवश्यकता हुई (मद्यमैरेयसुरास्थानाद् विरमामि)। 'अङ्गानि मैरेये' (६।२।७०) से ज्ञात होता है कि पाणिनि को यह पता था कि मैरेय किन-किन द्रव्यों से बनता है। चरक में लिखा है कि धान्य, फल, मूलसार, पुष्प, काण्ड, पत्र और बल्कल से मद्य बनता है (सू. अ. २५।४९)। कौटिल्य ने मैरेय, प्रसन्ना, आसव, अरिष्ट, मेदक और मधु छः प्रकार की सुरा कही है।

इस प्रकार से पाणिनि-काल में भैषज्य कल्पना का उल्लेख स्पष्ट मिलता है। चरक-सुश्रुत में भूमि के सम्बन्ध में, औषध लाने के सम्बन्ध में तथा इनके बनाने के संबन्ध में जानकारी दी है। यथा—

भूमि तीन प्रकार की है, जांगल, साधारण और आनूप। इनमें जांगल या साधारण

देश वह है जहाँ ठीक समय पर शिशिर (ठंड), धूप, वायु, पानी रहता हो; जिस समान, पवित्र भूमि के समीप में जलाशय हो; श्मशान, चैत्य, देवस्थान—देवताओं के होम-स्थान, सभास्थान (राजा के निवास), गड्ढा-वल्मीक-ऊषर (बंजर भूमि) से हटी हुई,; कुशा-रोहिष घास जहाँ पर अधिक हो; मिट्टी चिकनी, पीली-मधुर-सुगन्धित हो; जिस भूमि में हल न चला हो; जहाँ पर औषधि के समीप में दूसरे बड़े वृक्ष न हों; ऐसी भूमि में उत्पन्न औषधियाँ उत्तम होती हैं (संग्रह—क. अ. १)।

इसी से जनपदोध्वंस अध्याय में अत्रिपुत्र ने अग्निवेश से कहा कि 'भूमि के विरस होने से पूर्व ही औषधियों का संग्रह कर लेना चाहिए (चरक. वि. अ. ३।४)। भूमि की परीक्षा पृथ्वी-अप-तेज-वायु और आकाश तत्त्वों की दृष्टि से भी बतायी है।

भेषजपरीक्षा—जो औषधियाँ समय पर उत्पन्न हुई हों; जिनके रस-वीर्य आदि पूर्ण हो गये हों; जो समय-धूप-अग्नि-जल-वायु-शस्त्र-जन्तु (कीड़े आदि से) से नष्ट नहीं हो; जिनकी गन्ध-वर्ण-रस-स्पर्श-प्रभाव ठीक बने हों; जड़ें गहरी हों; जो पूर्व या उत्तर दिशा में स्थित हों (भारतवर्ष में इन दो दिशाओं में सूर्य का प्रकाश 'उष्णिमा' ठीक आती है); उनका संग्रह करे। इन वनस्पतियों के शाखा-पत्ते जो देर के उत्पन्न न हुए हों उनका वर्षा और वसन्त में संग्रह करना चाहिए। ग्रीष्म में जड़ों को या शिशिर में जब पुराने पत्ते गिरकर नये पत्ते निकल आते हों तब मूलों का संग्रह करना चाहिए। छाल, कन्द और दूध शरद काल में; सार हेमन्त में और पुष्प तथा फल समय के अनुसार संग्रह करने चाहिए।

कुछ आचार्यों का मत है कि सौम्य औषधियों का सौम्य ऋतुओं में (शरद्-हेमन्त-शिशिर में) और आग्नेय औषधियों का आग्नेय ऋतुओं में (वसन्त, ग्रीष्म में) संग्रह करना चाहिए।

औषधिसंग्रह की सूचना—मंगल आचार, कल्याण बरताव, व्यवहार पवित्र, श्वेत वस्त्र धारण किये, देवता, अश्विनौ, गौ, ब्राह्मण की पूजा करके, उपवास रखकर पूर्व या उत्तर दिशा की वनस्पति का संग्रह करे। इसको लाकर योग्य गुण-शाली पात्रों में (जैसे—शृंगे निदध्याद् मधुसंयुतानि—अगद के विषय में) रखे। इनको संग्रह करने के मकानों के द्वार उत्तर मुख होने चाहिए। वहाँ पर सीधी वायु न आये, परन्तु वायु का आना-जाना होता रहे। सदा पुष्प-उपहार-बलिकर्म (सफाई-धूप आदि देना) करे; वहाँ पर अग्नि-जल-सील-धूम-धूली, चूहे, पशु न जा सकें। इनको भली प्रकार ढांप देना चाहिए। इनको छींकों में लटकाकर रखना चाहिए। (संग्रह, सू. अ. ३९)

कषायकल्पना—यह पाँच प्रकार की है—स्वरस (गीले पत्तों आदि को कूट-निचोड़कर जो रस प्राप्त होता है); कल्क (पत्थर पर वस्तु को पीसकर चटनी बनाना); शृत (पानी में वस्तु को उबालकर उसका रस प्राप्त करना); शीत (ठण्डे पानी में वस्तु को भिगोकर रस लेना) और फाण्ट (गरम पानी में वस्तु को कुछ समय रखकर रस प्राप्त करना) । इन पाँचों में ही चूर्ण, वटी, रसक्रिया, अर्क, शर्बत, आसव आदि कल्पनाओं का बीज निहित है ।

कषायों का उत्पत्ति-स्थान रस है, इसमें लवण-रस को कषाययोनि नहीं माना, क्योंकि इससे स्वरस, कल्क, क्वाथ, शृत, फाण्ट कोई अन्य कल्पना नहीं की जाती । लवण रस सब अवस्थाओं में लवण ही रहेगा। शेष पाँच रस मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु और कषायवाले द्रव्यों से अन्य कल्पनाएँ हो जाती हैं ।

आयुर्वेद में द्रव्य, रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव पर ही समस्त चिकित्साशास्त्र स्थिर है, ये वस्तुएँ ही भारतीय चिकित्साशास्त्र की रीढ़ हैं । इनमें किसकी प्रधानता है; यह निश्चित नहीं कहा जा सकता । कहीं पर रस से कार्य होता है (नीम का तिक्त रस मुख का शोधन करता है; मातुलुंग का अम्ल रस मुख में दीप्ति, तेजी लाता है); कहीं पर द्रव्य से काम होता है (अफीम अपने रूप में काम करती है); कहीं पर प्रभाव से काम होता है (मणि-मुक्ता के धारण से विष का नाश होना); कहीं पर वीर्य से काम होता है (पिप्पली कटुरस होने पर भी जो वृष्य गुण करती है, वह इसका वीर्य ही है) । इस प्रकार से रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव की विशेष चर्चा आयुर्वेद ग्रन्थों में मिलती है (चरक. सूत्र. अ. २५, सुश्रुत. अ. सू. ४०) ।

भैषज्य कल्पना की सब प्रक्रियाओं को अत्रिपुत्र ने एक 'संस्कार' शब्द से कह दिया है, संस्कार का अर्थ वस्तु में दूसरे गुण का आधान करना है । इस प्रक्रिया से वस्तु में गुण परिवर्तन, गुण वृद्धि होती है । गुणों के आधान की क्रिया जल, अग्नि सन्निकर्ष, शुचित्व, मन्थन, देश, काल, पात्र, भावना आदि से होती है। यथा शुचित्व—जल-सन्निकर्ष से—अच्छी प्रकार धोये-निथारे-उबाले हुए गरम चावल (भात) लघु होते हैं; अग्निसन्निकर्ष—आटे को गूँधने के बाद पानी में उबालकर रोटी बनाने से हलकी बनती है; शुचित्व कार्य से—पानी में एक सौ बार धोने पर घी में अधिक शीतलता आ जाती है; मन्थन से—दही शोथ करता है, परन्तु मथा हुआ मट्ठा शोथनाशक है; देश—कुछ औषधियों को धान्यराशि या भस्म में रखने का विधान है; काल से संस्कार—कोई औषधि बनने के पन्द्रह दिन बाद पीनी चाहिए। वासन—लोहे के पात्र में रखने का या सींग के पात्र में रखने का संस्कार है; भावना से संस्कार—आँवले के चूर्ण को

आँवले के रस की भावना देने से गुण बढ़ता है। वासन से गुणाधान---पानी को कमल से सुगन्धित करना, जैसे शर्बत या मिठाई में केवड़े आदि की सुगन्ध डाली जाती है।

ये सब प्रक्रियाएँ भैषज्य निर्माण में महत्त्व की हैं। इनके द्वारा वस्तु का गुणान्तर होता है; यद्यपि वस्तु का स्वाभाविक धर्म जाति में रहता है, संस्कार से उसे बदल सकते हैं। ठण्डे पानी के गुण गरम पानी के गुण से पृथक् होते हैं। यह कार्य संस्कार हैं। इसी संस्कार से वस्तु के गुणों एवं रूपों में, बनावटों में अन्तर करने से आयुर्वेद के कल्प बने हैं, इनके ज्ञान के लिए ही कल्पस्थान का (चरक, अष्टांगसंग्रह में) उपदेश किया गया है।

औषध की कौन-सी क़ल्पना रोगी के अनुकूल है; उसको क्या देना आवश्यक है; इसी के लिए संस्कार, कल्पना का विस्तार किया गया है।

मात्रा विचार---आयुर्वेद में मात्रा को सामान्य रूप से निश्चित नहीं किया गया। इसे चिकित्सक के ज्ञान पर ही छोड़ दिया है, वह स्वयं रोगी के कोष्ठ, बल, वय, देश, काल का विचार करके मात्रा और कल्पना का निश्चय करे। फिर भी सामान्य रूप से मार्ग-दर्शन के लिए संग्रह में मात्रा का उल्लेख किया गया है।

आयुर्वेद चिकित्सा में स्नेह,पाक, घृत और तैल की कल्पना का प्रयोग पर्याप्त है। इनको सिद्ध करने के नियमों का उल्लेख किया गया है। घृत और स्नेह कल्पना में औषध के गुण अधिक समय तक सुरक्षित रहते हैं, इनकी मात्रा कम है, ये पौष्टिक, बलवर्द्धक होते हैं। इसलिए औषधियों के गुणों को घी में लाने की यह प्रक्रिया है। घी की श्रेष्ठता ही यह कही है कि वह संस्कार का अनुकरण करता है (नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारमनुवर्त्तते। यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम्॥ चरक. नि. १।४०)।

आसव-अरिष्ट कल्पना---औषधियों के गुणों को चिरकाल तक सुरक्षित रखने के लिए यह मद्य की कल्पना की गयी है। इसमें मद्य का परिमाण बहुत कम रहता है, औषधियों का रस-वीर्य मद्य में आ जाता है। इसका सुरा से भिन्न 'आसव-अरिष्ट' नाम इसलिए रखा गया कि यह अन्न से तैयार नहीं होती। इसमें स्मृतिशास्त्र-कथित दोष न आये, इसलिए नाम बदल दिया गया। सुरा चुआयी जाती थी, आसव चुआये नहीं जाते। इनमें द्रव्यसंयोग और संस्कार से गुणों की अधिकता रहती है। अरिष्ट-आसव का प्रयोग औषध रूप में ही होता है, मादक असर के लिए नहीं।

क्षार कल्पना---आयुर्वेद में दुष्ट व्रण आदि को जलाने के लिए क्षार का उपयोग होता था। क्षार बनाने के लिए विशेष विधान बतलाया है। क्षार दो प्रकार का

होता है; बाह्य प्रयोग में आनेवाला प्रतिसारणीय या बहि:परिमार्जक, और अन्दर प्रयोग में आनेवाला पानीय या अन्त:परिमार्जक। इसमें बहि:परिमार्जक क्षार मृदु, मध्य और तीक्ष्ण भेद से तीन प्रकार का है। यह क्षार कालमुष्कक, कुटज, पलाश आदि वृक्षों की राख से बनाया जाता था। राख को पानी में घोलकर या मूत्र में घोलकर (क्षार एक भाग, पानी या मूत्र छै भाग) इक्कीस बार छान लेना चाहिए। इसको फिर पकाना चाहिए, जब यह स्वच्छ, लाल, तीक्ष्ण, पिच्छल हो जाय, तब इसे पुन: छानकर दूसरे पात्र में रखकर अग्नि पर पकाये। जब बहुत गाढ़ा और बहुत पतला न हो तब इसे उतार लेना चाहिए।

क्षार के अन्त:प्रयोग करने की एक कल्पना शंखद्राव है।[1] यह प्लीहा या यकृत के रोगों में दिया जाता था। यह तीक्ष्ण, लवण, क्षारीय द्रव्यों से बनता है, इसमें डालने पर शंख भी गल जाते हैं। यह कल्पना दक्षिण भारत के सिद्ध सम्प्रदाय में प्रचलित थी (द्रव्यगुणविज्ञान)। यूनानी वैद्यक में इसको तेजाब कहते हैं।

मुरब्बे या शर्बत की कल्पना पीछे की है। इस कल्पना में रोगी को चीनी विशेष रूप से दी जाती है, जिससे उसे हानि न हो। इसका बीज चरक में मिलता है—जो बच्चा स्वाद के कारण मिट्टी खाना न छोड़े, उसको दोषनाशक औषधियों से मिलाकर मिट्टी खाने को दे (चि. अ. १६।१२२)। इस प्रकार से आँवले के मुरब्बे में चीनी प्रमेहरोगियों को देने का विकास हुआ।

उपनाह, प्रलेप—लेप का भी उल्लेख आयुर्वेद में है। लेप के विषय में कहा है कि सब शोफों में यह सामान्य है और मुख्य है। यह प्रलेप, प्रदेह और आलेप भेद से तीन प्रकार का है। प्रलेप शीतल, पतला, न सूखनेवाला या थोड़ा सूखनेवाला होता है।

---

१. लवण, फिटकरी, सोरा, नौसादर, कसीस, सुहागा, जौखार, सज्जीखार आदि लवण और क्षार द्रव्यों को काँच के नलिकायंत्र में रख तिर्यक् पातन विधि से गरम करके टपके हुए जल को द्रावकाम्ल शीशी में एकत्रित करना चाहिए। इसका नाम शंखद्राव है। (द्रव्यगुणविज्ञान, परिभाषा खण्ड, पृष्ठ ६७)
अर्कस्नुही तथा चिञ्चा तिला रग्वधचित्रकम्। अपामार्गसमं भस्म वस्त्रपूतं जल हरेत्।।
मृद्वग्निना पचेत् तत्तु यावल्लवणतां गतम्। लवणेन समौ ग्राह्यौ द्वौ क्षारौ टंकणं तथा।।
समुद्रफेनं गोदन्त्या कासीसं सोरकं तथा। द्विगुणं पञ्चलवणं मातुलुंगरसेन च ।।
काचकूप्यान्तु सप्ताहं वासयेदम्लयोगतः। शंखचूर्णपलं दत्त्वा वारुणीयंत्रमुद्धरेत् ।।
सर्वधातून् हरेत् शीघ्रं वराटिकाशंखकादिकान्। उदरादिकरोगाणां सद्यो नाशकरं परम्।।

प्रदेह उष्ण या शीत, घट्ट-सूखनेवाला होता है। आलेप दोनों के बीच का होता है (सुश्रुत. सू. अ. १८।६)।

लेप सम्बन्धी नियम—चन्दन का घट्टलेप भी शरीर में दाह करता है और अगरु का पतला लेप भी शीतलता देता है। क्योंकि घट्टलेप से शरीर की उष्णिमा रुक जाती है (चरक. चि. अ. ३९)। कभी भी पहले बरते हुए लेप को फिर से नहीं लगाना चाहिए। एक रात का बासी लेप या लेप के ऊपर दूसरा लेप नहीं करना चाहिए। सूख जाने पर उसे वहीं पर लगा नहीं देना चाहिए (सुश्रुत. सू. १८।१४–१५)। बहुत पतला या बहुत चिकना लेप नहीं लगाना चाहिए। लेप बहुत पतला नहीं करना चाहिए। पट्टी या वस्त्र के ऊपर लगाकर लेप नहीं करना चाहिए, न लेप को वस्त्र से ढाँपना चाहिए (चरक. चि. अ. २१।९३–९८)।

धूमवर्ती कल्पना—धूमवर्ती पीने का उल्लेख कादम्बरी तथा दूसरे ग्रन्थों में भी है (मृदुधौतधूपिताम्बरमग्राम्यं मण्डनं च बिभ्राणा। परिपीतधूमवर्तिः स्थास्यसि रमणान्तिके सुतनु॥ कुट्टनीमतम्)। चरक में नित्यप्रति धूमपान करने को कहा है, यह एक दैनिक कार्य था। धूमवर्ती को बनाने की विधि सम्पूर्ण रूप में बतायी है (सूत्र. अ. ५।२०–२४)। प्रायोगिक, स्नैहिक और वैरेचनिक भेद से यह तीन प्रकार की होती थी। धूमवर्ती किस समय पीनी चाहिए, किस प्रकार पीनी चाहिए, किनको नहीं पीनी चाहिए, इन सबकी सूचना इसमें विस्तार से है। धूमपान की हानियों से बचने के लिए धूमयंत्र की विशेषता भी बतायी है (दूराद् विनिर्गतः पर्वच्छिन्नो नाड़ी-तनूकृतः। नेन्द्रियं वाधते धूमो मात्राकालनिषेवितः॥ सू. अ. ५।५१)। यह धूम-वर्ती सुगन्धित होती थी।

तौल—आयुर्वेद में तौल के लिए जो शब्द आये हैं, वे प्राचीन हैं। तौल के शब्द प्रायः धान्य वस्तुओं से बनाये गये हैं। चरक में जो यह लिखा है कि कलिंग से मागध मान श्रेष्ठ है, इस पाठ को चक्रपाणि ने अनार्ष माना है। वास्तव में मागध और कलिंग दो मान देश में प्रचलित थे। कलिंग मान का सम्बन्ध सम्भवतः रत्न आदि तोलने में होता था, मागध मान सामान्यतः सब कार्यों में बरता जाता था। इनमें जो भेद है, वह छोटे वजन में ही है, आगे बड़े वजन में दोनों एक हो जाते हैं।

'नन्दोपक्रमाणि मानानि' (२।४।२१; ६।२।१४ काशिका) का अभिप्राय यह है कि माप-तौल के बटखरे प्रथम नन्द राजाओं ने निश्चित किये। तभी से मागध मान प्रारम्भ हुआ। उस समय कलिंग जनपद स्वतन्त्र था, इसलिए कलिंग मान की परम्परा अलग चलती रही। मान निश्चित होने पर आढ़क (ढाई सेर), द्रोण

(दस सेर), खारी (चार मन) इत्यादि शब्द बिल्कुल सही नाप-तौल के लिए बरते जाने लगे।[1]

चरक संहिता या दूसरे ग्रन्थों से इनके रूप का पता नहीं चलता कि ये किस वस्तु के थे; पत्थर या धातु के होंगे। चरक संहिता से पहले अर्थशास्त्र में इनका उल्लेख आता है, यथा—'तोलने के सभी बाट लोहे के बनाये जायँ। मगध, मेकल देश में उत्पन्न होनेवाले पत्थर के बनें, अथवा ऐसी वस्तुओं के बनें जो पानी या किसी लेप की वस्तु के लगने से वजन में न बढ़ें या गरमी पहुँचने से कम न हो जायँ (२।१९।११)[2]।

प्राचीन तौलों से चरक-सुश्रुत के मान में बहुत कम अन्तर आता है। यह अन्तर कुछ तो सोना-चाँदी की तौल और अन्य वस्तुओं की तौल की भिन्नता से है, यथा—'माषक' तौल में पाँच रत्ती ताँबें का और दो रत्ती चाँदी का होता था (मनु ८।१३५; अर्थशास्त्र २।१२)। निष्पाव तीन रत्ती का; गुंजा १ रत्ती; काकिणी १ १/४ रत्ती; माषक पाँच रत्ती का था। शाण चरक के अनुसार २० रत्ती का था (महाभारत में शाण को शतमान का आठवाँ भाग कहा हैं; जो १२ १/२ रत्ती का होता है—वनपर्व १३४।१४)।

चरक और अर्थशास्त्र के आढ़क मान में कुछ भेद है, यथा—

चरक का मान	कौटिल्य अर्थशास्त्र का मान
४ कर्ष = १ पल	१ कुड़व =१२ १/२ तोला=२ १/२ छटाँक
२ पल = १ प्रसृति=८ तोला	४ कुड़व = १ प्रस्थ=५० तो. २ १/२ पाव
२ प्रसृति = १ अंजलि या कुड़व = १६ तोला	४ प्रस्थ = १ आढक=५० पल, २०० तोला
२ कुड़व = १ प्रस्थ=२५६ तोला	४ आढ़क = १ द्रोण=२०० पल =८०० तोला
४ प्रस्थ = १ आढ़क	१६ द्रोण = १ खारी=१६० सेर=४ मन
४ आढ़क = १ द्रोण, कलश, घट	२० द्रोण = १ कुम्भ=५ मन
	१० कुम्भ = १ वह=५० मन

कंस का तौल चरक के अनुसार आठ प्रस्थ या दो आढ़क या ६ २/५ सेर है; अर्थ-

---

१. 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष'

२. प्रतिमानान्ययोमयानि मागधमेकलशैलमयानि यानि वा नोदकप्रदेहाभ्यां वृद्धिं गच्छेयुरुष्णेन वा ह्रासम्॥ अर्थशास्त्र

शास्त्र के अनुसार पाँच सेर है। संस्कृत का शब्द द्रंक्षण, ग्रीक शब्द द्रम, यूनानी शब्द दिरम, लैटिन का शब्द ड्राम एक ही हैं।

लम्बाई के माप में अंगुली का उल्लेख चरक में है। इसके अनुसार ही उत्सेध, विस्तार, आयाम, परिणाह को नापा जाता है (वि. अ. ८।११७)। इसके अतिरिक्त 'व्याम' का भी उल्लेख है (सूत्र अ. १४।४३)। व्याम का माप ८४ अंगुल था (शरीरमङ्गुलिपर्वाणि चतुरशीतिः—चरक. वि. अ. ८।,१७)। अंगुल का माप मध्यम आकार के आठ यवमध्य के बराबर था, यह आजकल पौन इंच के बराबर है।

खान-पान

अन्न-पान सम्बन्धी जानकारी के लिए चरकसंहिता में शूक-धान्यवर्ग, शमी-धान्यवर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, फलवर्ग, हरितवर्ग, मद्यवर्ग, जलवर्ग, गोरसवर्ग, इक्षुवर्ग, कृतान्नवर्ग और आहार-उपयोगी; ये बारह वर्ग बनाकर इनमें आहार का रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव कहा गया है। सुश्रुत में द्रव वस्तुओं का पृथक् अध्याय में वर्णन किया है; इसमें जलवर्ग, क्षीरवर्ग, दधिवर्ग, तक्रवर्ग, घृत-तैल-मधु-इक्षुवर्ग, मद्यवर्ग और मूत्रवर्ग हैं। इसमें आगे अन्न-पानविभाग चरक की अपेक्षा अधिक विस्तृत है; शालिवर्ग, कुधान्य-वर्ग, मांसवर्ग, फलवर्ग, शाकवर्ग, लवणवर्ग, कृतान्नवर्ग, भक्ष्यवर्ग, अनुपानवर्ग, आहार-विधि; इतनी बातों की विस्तृत जानकारी दी गयी है। सुश्रुत का वर्गीकरण अधिक विस्तृत है। मांसवर्ग में कोशस्थ, प्लव, मछलियों के समुद्र और नदी के पानी से भेद आदि विशेष कहे गये हैं।[1] लवण वर्ग में स्वर्ण, चाँदी, ताम्र, त्रपु धातुओं तथा रत्नों के गुण-दोषों की विवेचना की गयी है। सुश्रुत में चरक की अपेक्षा भक्ष्य वस्तुओं के बहुत से नये नाम मिलते हैं; यथा—मधुमस्तक, संयाव, सट्टक, विष्यन्द, फेनक आदि[2]

---

१. जांगल मांस आठ प्रकार का है—जंघाल, विष्किर, प्रतुद, गुहाशय, प्रसह, पर्णमृग, बिलेशय, ग्राम्य। आनूप मांस पाँच प्रकार का है—कूलचर, प्लव, कोषस्थ, पादिन और मत्स्य। मत्स्य भी नदी (मीठे पानी) और समुद्र (नमकीन पानी) के भेद से दो प्रकार के हैं—दोनों में पृथक्-पृथक् विटामिन होते हैं।

२. घृतपूर—मर्दिता समिता क्षीरनारिकेलसितादिभिः।
अवगाह्य घृते पक्वो घृतपूरोऽयमुच्यते॥
संयाव—समितां मधुदुग्धेन माधुर्यत्वात् शुभाननः।
पचेद् घृतोत्तरे भाण्डे क्षिपेद् भाण्डे नवे ततः॥
संयावोऽसौ युतश्चूर्णैः खण्डैलामरिचार्द्रकैः॥

संग्रह में सुश्रुत की भाँति द्रव वस्तुओं का पृथक् उल्लेख किया है, अन्न-स्वरूप के वर्णन में चरक का अनुसरण किया है, परन्तु क्रम बदल दिया है; शूकवर्ग, शमीवर्ग, कृतान्नवर्ग मांसवर्ग, शाकवर्ग, फलवर्ग रूप में वर्णन है। इसमें भी 'दकलावणिक' आदि नये व्यंजन मिलते हैं।

इसमें शूकवर्ग के अन्तर्गत शालिवर्ग में शालि, व्रीहि और कुधान्य ये तीन मुख्य भेद हैं। शालि और व्रीहि में इतना अन्तर है कि शालिधान्य हेमन्त में (दिवाली के आस-पास) पकते हैं, इनको प्रथम बोकर और पुनः उखाड़कर लगाया जाता है। व्रीहि धान्य शालि से मोटा होता है और खेत में छींटकर बोया जाता है, इसे एक स्थान से उखाड़कर फिर नहीं लगाना होता है, यह थोड़ा जल्दी पकता है। व्रीहि की भाँति साठी (षष्टिक) है, यह साठ दिन में पकता है, इसका चावल लाली लिये होता है। कुधान्य में साँवक, कँगनी, कोदों आदि हैं, जो कि कम बोये जाते हैं, ये मोटे और देखने में सुन्दर नहीं होते। इनको मलकर या सामान्य कूटकर निकाला जाता है।

इन सबमें शालि धान्य उत्तम है, क्योंकि इसकी पौध लगती है। जो धान्य एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाये जाते हैं, वे बहुत हलके और गुणशाली होते हैं। चरक में शालि के पन्द्रह भेद दिये हैं। इनमें बहुत से नाम स्पष्ट हैं, यथा—रक्त-शालि (लालमती—सहारनपुर जिले में), कलम, प्रमोद (कुमुद—बम्बई में), दीर्घशूक (हंसराज या बासमती का भेद)। इनमें महाशालि के लिए कहा जाता है कि चीनी यात्री श्युआन् च्युआङ के चरितलेखक हुई ली ने लिखा है कि जब वह नालन्दा विश्वविद्यालय में ठहरा था, तो उसे महाशाली चावल खाने को दिया गया। स्वयं चीनी यात्री को यह बढ़िया सौंधा चावल भूला नहीं। उसने लिखा है—'यहाँ मगध में एक अद्भुत जाति का चावल होता है, जिसके दाने बड़े सुगन्धित और खाने में अति स्वादिष्ठ होते हैं। यह बहुत चमकता है। इसे धनिकों का चावल कहते हैं।' संभवतः यह सुगन्धिका या महाशालि चावल था। (डाक्टर अग्रवाल)

यवक, हायन, पांसु, वाप्य और नैषध ये चावल भी शालि के समान गुण करते हैं।

सट्टक—लवंगव्योषखण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम्।
दाडिमं बीजसंयुक्तं चन्द्रचूर्णावचूर्णितम्॥
सट्टकं सुप्रमोदाख्यं नलादिभिरुदाहृतम्॥

विष्यन्द—आमं गोधूमचूर्णं च सर्पिःक्षीरगुडान्वितम्।
नातिसान्द्रो नातिघनो विष्यन्दो नाम नामतः॥

इनमें हायन, यवक का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है। हायन, यवक का सम्भवतः अधिक उपयोग था, इसी से इनका अति प्रयोग रक्तपित्त और प्रमेह रोग का कारण कहा है (चरक, नि. अ. ४)। पद्मावत में जायसी ने सत्ताईस प्रकार के चावल गिनाये हैं; उनमें मुख्य राजभोग, रौदा, दाऊदखानी, कपूरकान्ति, मधुकान्त, घिर्त्तकांदौ, सगुनी, गडहन, रायहंस हैं। लोक में प्रसिद्ध है कि पान और धान अनगिनत हैं।

वनारस में गंगा का पानी उतर जाने पर उस जमीन में धान बो दिया जाता है, यह फाल्गुन-चैत्र में पकता है, यह मोटा होता है, इसे साठी कहते हैं। इसके बहुत से भेद हैं, इनमें कुछ श्वेत और कुछ काले होते हैं। वरक, उद्दालक, चीन कुधान्य हैं। साठी चावल पश्चिमी उत्तर प्रदेश में बरसात में ही पकता है; "साठी पके साठी दिना, देव बरीसे रात दिना"—यह कहावत इसी लिए है। यह धान्य बहुत पौष्टिक है।

नीवार (तिन्नी धान्य), साँवक, गवेधुक (मौर्वी में रेती के अन्दर देखा था, इसे भूनकर खाते हैं), प्रशान्तिक, लौहित्य, प्रियंगु (कंगनी धान्य), मुकुन्द, वरक, वरुक आदि छोटे धान्य हैं। ये स्वयं जंगल में भी उत्पन्न होते हैं और घरों में भी लोग इनको बोते हैं। मँड़वा आदि इसी प्रकार के धान्य हैं।

चरक कथित नाम पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अब भी मिलने चाहिए। देहरादून के भाग में तथा ऊपर पहाड़ में आज भी चावलों के चालीस से ऊपर भेद मिलते हैं। अकेले बासमती (शालि) और रामजवायन (व्रीहि) के दस-पन्द्रह भेद हैं। इनकी पहचान इनके शूक (नोक), छिलके, लम्बाई, मोटाई से की जाती है। इसी वर्ग में गेहूँ का उल्लेख है, गेहूँ के भी नान्दीमुखी, मधूली ये भेद हैं। सुश्रुत में इसी प्रसंग में वेणुयव का भी नाम आया है। ये मूत्र कम करते हैं, इसी से चरक में इनका उल्लेख है (चि. अ. ६।२४)। बाँस में फल आने पर बाँस नष्ट हो जाता है, वेणुयव बाँस के जौ (बीज) होते हैं।

फलं वे कदलीं हन्ति फलं वेलुं फलं नलं।
सक्कारो पुरिसं हन्ति गब्भो अस्सतरिं यथा ॥ संयुतनिकाय भाग २

फल आने से केला समाप्त हो जाता है, बाँस और नड़सर भी फल आने से नष्ट हो जाते हैं, पुरुष को सत्कार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार गर्भ खच्चर को मार देता है। यह फल एक जाति के सब बाँसों में आता है, यह प्रायः तभी आता है, जब अकाल पड़ता है। (सरस्वती पत्रिका)

शमी धान्यवर्ग में दालों का, शिम्बी-फलियों में से निकलने वाली वस्तुओं का उल्लेख है। इनमें राजमाष के लिए सुश्रुत में 'अलसान्द्र' नाम है (कुछ विद्वान् इस

शब्द का सम्बन्ध यूनानी या शक काल से जोड़ते हैं) । इस वर्ग का भी सुश्रुत ने अधिक विस्तार से वर्णन किया है ।

मांसवर्ग में पशु-पक्षियों का विभाग उनकी प्रकृति, रहन-सहन के अनुसार किया है। मुरगा खाने से पूर्व पैर से वस्तु को बखेरता है, इसलिए उसे विष्किर, तोता ठोंग मारता है, इसलिए उसे प्रतुद और गोह साँप की भाँति बिल में रहती है, इसलिए उसे बिलेशय कहा है । इस प्रकार से मांस के गुण इनकी रहन-सहन के अनुसार निश्चित किये हैं । जो पशु-पक्षी आलसी नहीं, सदा चुस्त रहते हैं, उनको हलका कहा है, और दूसरों को भारी । इसमें कुछ तो जाने हुए हैं और कुछ ऐसे हैं जिनकी जानकारी नहीं, जैसे—मणितुण्डक, मृणालकण्ठ, मद्गु, राम (मृग), कोट्टकारक आदि । बकरी और भेड़ जांगल और आनूप दोनों देशों में रहती हैं, इसलिए इनको किसी एक स्थान पर सीमित नहीं कर सकते । मांसवर्ग में गाय का भी उल्लेख है । स्वस्थ व्यक्ति के लिए इसका सेवन मृगमांसों में सबसे अपथ्यतम कहा है (सू. अ २५) ।

शाकवर्ग में भी बहुत से अपरिचित नाम मिलते हैं; यथा—कुमारजीव, लोट्टाक, चिल्ली आदि । फलवर्ग में फलों का उल्लेख है, परतु चिकित्सा में अनार को छोड़कर दूसरों का उपयोग नहीं है, कदली का उपयोग भी एक दो स्थान पर है । आजकल जो फलों का महत्त्व स्वास्थ्य के लिए मान्य है, उतना उस समय नहीं प्रतीत होता । पियाल, तिन्दुक, इंगुदी आदि जंगल के फलों का उल्लेख मिलता है । मद्यवर्ग में सुरा, जगल, मदिरा, शीत रसिक, मैरेय आदि भेद से वर्णन है ।[1] सुश्रुत में 'कोहल' मद्य का उल्लेख है जो कि जौ के सत्तू से बनती थी (सू. अ. ४५।१८०) ।. क्या यही 'कोहल' शब्द आज प्रसिद्ध अलकोहल में तो नहीं आ गया ? बहेड़े, जामुन, खर्जूर की मद्यों का भी उल्लेख सुश्रुत में है ।

जलवर्ग में पानी में भिन्न-भिन्न गुण-दोष उत्पन्न होने का कारण बताया है (चि. अ. २७।१९७)। इसमें हिमालय की नदियों के पानी के लिए जो बात कही है, वह महत्त्व की है, इन नदियों का पानी पत्थरों की थपेड़ों से टूटने पर बहुत पथ्य होता है । जिन नदियों में पत्थर (बड़े बड़े पत्थर) और रेती रहती है, उनका पानी निर्मल और पथ्य

---

१. परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः। सुरामण्डः प्रसन्ना स्यात् ततः कादम्बरी घना ।।
तदधो जगलो ज्ञेयो मेदको जगलाद् घनः। बक्वसो हृतसारः स्यात् सुराबीजं च किण्वकम् ।।
ज्ञेयः शीतरसः सीधुरपक्वमधुरद्रवैः । सिद्धः पक्वरसः सीधुः संपक्वमधुरद्रवैः ।।
या तालखर्जूररसैरासुता सा हि वारुणी ।। —द्रव्यगुणविज्ञान, परिभाषाखण्ड

होता है। जिन नदियों का पानी मन्दवेग रहता है, उन प्रदेशों में श्लीपद, कण्ठरोग, शिरोरोग, हृदयरोग होते हैं।

इसके आगे गोरसवर्ग है, गाय के दूध में अनेक गुण बतलाये हैं, यथा—स्वादु, शीतल, मृदु, मधुर, स्निग्ध, बहल, पिच्छिल, गुरु, मन्द और प्रसन्न ये दस गुण गाय के दूध में हैं। ओज में भी यही दस गुण हैं, इसलिए गाय का दूध ओज को बढ़ाता है। विष और मद्य के गुण इससे विपरीत हैं, यथा—विष के दस गुण—लघु, रूक्ष, आशुकारी, विशद, व्यवायी, तीक्ष्ण, विकासी, सूक्ष्म, उष्ण, अनिर्देश्यरस। मद्य लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण, अम्ल, व्यवायी, आशुकारी, सूक्ष्म, विकासी, विशद, उष्ण इन दस गुणों वाला है। इसलिए विष और मद्य शरीर को हानि पहुँचाते हैं। मद्य में ये दस गुण कम मात्रा में रहते हैं, इसलिए यह तत्काल नहीं मारता, विष में अधिक मात्रा में रहते हैं, इसलिए उससे तात्कालिक मृत्यु होती है (चि. अ. २५)। मदात्यय में गाय का दूध बहुत लाभप्रद है। आगे इसमें भैंस, ऊँटनी, घोड़ी, हस्तिनी, औरत के दूध का भी गुण-दोष कहा गया है। इसी के साथ दही, घी, छेना, मस्तु, पनीर, फटे दूध आदि के गुणों का भी उल्लेख है। पीयूष (खीस) तुरन्त व्यायी गाय का दूध, मोरट दूसरे तीसरे दिन का अथवा सात आठ दिन का जब तक वह शुद्ध नहीं होता और किलाट फटा हुआ दूध है।

इक्षुवर्ग के अन्तर्गत चरक में पौण्ड्र (पौंड़ा) और वंशक (बाँस-गन्ना) का उल्लेख है, सुश्रुत में गन्ने के कई भेदों का उल्लेख है—पौण्ड्रक, भीरुक, वंशक, श्वेतपोरक, कान्तार, तापसेक्षु, काष्ठेक्षु, सूचिपत्रक, नैपाल, दीर्घपत्र, नीलपोर, कोशकृत; ये भेद इनकी मोटाई के अनुसार हैं। इसी में गुड़, मत्स्यण्डिका, खण्ड, शर्करा, फाणित, गुडशर्करा, यासशर्करा, मधुशर्करा का उल्लेख है। मत्स्यण्डिका (राब), खण्ड (खाँड), शर्करा (मिश्री) यह इनका क्रम है, इसमें उत्तरोत्तर निर्मलता होती है। इसी वर्ग में मधु का भी वर्णन है। चरक में मधु चार प्रकार का कहा है, सुश्रुत में आठ भेद बताये हैं। ये भेद मक्खियों की विभिन्नता से माने गये हैं। मधु नाना द्रव्यों से उत्पन्न होने के कारण योगवाही है।

आगे कृतान्नवर्ग है, इसका प्रारम्भ पेया से हुआ है। पेया, विलेपी, यवागू और मण्ड ये वस्तुएँ पानी की मात्रा की भिन्नता से बनती हैं। ओदन, कुल्माष का उल्लेख है। ओदन (भात) राँधने की भिन्नता से भारी और हलका हो जाता है।[1] यूष

---

१. ओदन, यवागू, यवक, पिष्टक, संयाव, अपूप, मन्थ, कुल्माष, पलल आदि शब्दों का बहुत अच्छा स्पष्टीकरण डाक्टर अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में किया है; इनको वहीं पर देखना चाहिए।

भी कृत और अकृत भेद से दो प्रकार का है; जिस यूष में स्नेह, लवण, मसाला नहीं डाला जाता वह अकृत यूष है, जिसमें यह डाला जाता है वह कृत यूष है। सत्तू, अपूप, यावक, वाट्य (सुकण्डितैस्तथा भृष्टैर्वाट्यमण्डो यवैर्भवेत्—इसे बार्लीवाटर कह सकते हैं), यवमण्ड (बिना सेके जौ से बना मण्ड) और अंकुरित धान्यों का उल्लेख है। इसी में मधुक्रोड़, पूर, पूपलिका, पिण्डक आदि भिन्न-भिन्न बनावटों का उल्लेख है।

भोजन में रुचि पैदा करनेवाला हरित वर्ग है, इस वर्ग की औषधियाँ हरी (कच्ची) ही खायी जाती हैं; जैसे—मूली, अदरक, पुदीना, अजवायन, धनियाँ, गाजर, प्याज, सौंफ आदि।

अन्तिम वर्ग आहार-उपयोगी वर्ग है, इसमें तैल का उल्लेख है, इसके लिए कहा है कि इसके प्रयोग से दैत्य लोग अजर-जरारहित, रोगरहित, कभी न थकने वाले, अति बलवान् बन गये थे। संयोग संस्कार से तैल सब रोगों को नष्ट करता है। सोंठ, पिप्पली, हींग, सैन्धव आदि नमक, यवक्षार, जीरा आदि भोजन में उपयोगी वस्तुओं का उल्लेख किया गया है। इस वर्णन से उस समय उपयोग में आनेवाले अन्न-पान की जानकारी मिल जाती है। सुश्रुत में इसका विस्तार है, संग्रह में सुश्रुत से कम है, परन्तु नाम अधिक स्पष्ट हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार से पकाने का भी उल्लेख संग्रह में है। अन्त में कह दिया है कि सब वस्तुओं का विस्तार से उल्लेख करना सम्भव नहीं (संग्रह, सू. अ. ७।२११–१२)।

देशभेद से खान-पान—भिन्न-भिन्न देशों में जो खान-पान रुचिकर थे, उनका उल्लेख चरकसंहिता में आता है, यथा—बाह्लीक (बलख), पह्लव (पहलव-काबुल), चीन, शूलीक (काशगर), यवन तथा शक देशों में पुरुषों को मांस, गेहूँ, माध्वीक (प्रसिद्ध मद्य कापिशायिनी या हारहूरा सुरा), शस्त्र और आग से सिद्ध किये खान-पान अधिक सात्म्य हैं।[1] पूर्व देशवालों को मत्स्य सात्म्य है (गौड़-राढ़ देश में)। सैन्धव सिन्धु देशवालों को सात्म्य है। अश्मक (पैठन—दक्षिण हैदराबाद प्रान्त), अवन्तिका (उज्जैन) देशवासियों को तैल और अम्ल सात्म्य हैं। मलयाचल में रहनेवालों को कन्द, मूल, फल सात्म्य हैं। दक्षिण देशवालों को पेया और उत्तर पश्चिम के देश में मन्थ-सत्तू सात्म्य है। मध्य देशवालों का जौ, गेहूँ, दूध भोजन है।

---

१. "शस्त्र-वैश्वानरोचिताः" का अर्थ संभवतः शूलकृत मांस तथा अंगार पर सेके मांस है; काशिका में इस प्रकार के भोजन के उदाहरण आते हैं।

काशिका में इस सम्बन्ध में चार उदाहरण आये हैं—"क्षीरपाणा उशीनराः, सुरापाणाः प्राच्याः, सौवीरपाणा वाह्लीकाः, कषायपाणा गान्धाराः।" क्षीरपाणा उशीनराः से ज्ञात होता है कि पंजाब में शिबि–उशीनर के लोग दूध पीने के शौकीन थे। चरक के अनुसार प्राच्य जनपद में मत्स्य भोजन और सिन्धु जनपद में क्षीर भोजन सात्म्य था। शिवि-उशीनर चिनाव नदी के निचले काँठे का पुराना नाम था। अव यही झंग, मघियाना, मुलतान का इलाका है। यहाँ की साहीवाल गायें आज भी प्रसिद्ध हैं। सिन्ध और कच्छ की देशाण गाय—जिनके कान लम्बे होते हैं, आज भी सिन्ध, काठियावाड़ में प्रसिद्ध हैं।

मन्थ के विषय में डाक्टर अग्रवाल ने स्पष्ट किया है कि भुने हुए धान या भुजिया का सत्तू मन्थ कहा जाता था (कात्यायन सूत्र ५।८।१२)। इसे दूध या केवल पानी में घोलकर खाते थे। पानी के सत्तू को उदमन्थ या उदकमन्थ कहा जाता था। सम्भवतः दूध में घुला हुआ सत्तू मन्थ होता था। अथर्ववेद की पारिक्षिती गाथा के प्रसंग में पत्नी पति से पूछती है–"आपके लिए क्या लाऊँ, दही या दूधिया सत्तू (मन्थ) या जौ से चुआया हुआ रस।" सुश्रुत ने मन्थ का तीसरा रूप यह दिया है—"सत्तू को थोड़ा सा घी और ठण्डा जल मिलाकर मथानी से मथने से मन्थ बनता है। मन्थ में जल का परिमाण इतना लेना चाहिए कि जिससे वह न बहुत पतला और न बहुत गाढ़ा वने।" चरक ने मन्थ को संतर्पण कहा है, इसके कई योग दिये हैं। इनमें जौ या लाजा का सत्तू प्रधान द्रव्य है। मट्ठे में भी घोलकर सत्तू खाया जाता था, जो मद्र देश का प्रिय भोजन था।

खान-पान सम्बन्धी सूचनाएँ—शरीर धारण करनेवाली तीन वस्तुओं (आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य) में आहार एक मुख्य वस्तु है। इसका सम्वन्ध शरीर और मन दोनों से है—इच्छित, मन के अनुकूल वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श वाला, विधिपूर्वक वनाया गया तथा विधिपूर्वक खाया हुआ आहार प्राणियों का प्राण है (चरक, सू. अ. ८; सुश्रुत, सू. अ. ४६)। इसी अन्नरूपी इन्धन से अन्दर की अग्नि स्थित रहती है। अन्न सत्त्व (मन) को वल देता है। अन्न से ही शरीर के सव धातु, बल, वर्ण, इन्द्रियों की प्रसन्नता होती है। यह तव होता है, जव इसका ठीक प्रकार से सेवन किया जाता है, विपरीत सेवन से अहित होता है।

आहार सेवन में इन आठ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—प्रकृति (वस्तु का स्वभावविचार, गुरु-लघु ज्ञान), करण (संस्कार, वनाने का ढंग), संयोग (मिलाना, कई बार दो निर्दोष द्रव्य भी मिलने पर विरोधी बन जाते हैं, जैसे दूध और

मछली), राशि (वस्तु का परिमाण—अग्नि, बल के अनुसार मात्रा में भोजन करना), देश और काल का विचार (समय पर और उचित स्थान पर भोजन करना), उपयोग नियम (भोजन के जीर्ण होने पर, बिना बोले, बिना हँसे, भोजन की निन्दा न करते हुए भोजन करना) और सात्म्य (अपने लिए अनुकूलता)।

भोजन करने की विधि—भोजन का स्थान साफ-सुथरा, एकान्त स्थान में होना चाहिए। भोजन परसते समय घी लोहे के तथा पेया चाँदी के पात्र में, फल तथा सब भक्ष्य पत्तों पर, दही आदि से लिप्त पदार्थों को सुवर्ण के, द्रव-रसों को चाँदी के, खट्टी वस्तु को पत्थर के पात्र में, शीतल जल ताम्रपात्र में, पानक, मद्य मिट्टी के पात्रों में, राग (रायता), सट्टक, षाड़व इनको बिल्लौर, काच, स्फटिक के पात्रों में रखना चाहिए। विमल, चौड़े, देखने में सुन्दर पात्रों में दाल-शाक देने चाहिए। फल, सब भक्ष्य (चबाने योग्य) और शुष्क वस्तु (मेवा आदि) इनको खानेवाले के दक्षिण ओर रखना चाहिए। द्रव वस्तु को खानेवाले के वाम भाग में रखना चाहिए (इनको वाम हाथ से उठाकर पीना चाहिए, दक्षिण हाथ से पात्रों के बाहर चिकनाई लगने का भय है)। गुड़ की वस्तुएँ मिष्टान्न तथा राग-षाड़व-सट्टक आदि स्वादिष्ठ खट्टी वस्तुएँ खानेवाले के सामने परसनी चाहिए।

भोजन का स्थान एकान्त में, सुन्दर, बाधारहित, खुला, विस्तृत, पवित्र, देखने में प्रिय तथा सुगन्ध और फूलों से सजाया, समान—एक जैसा होना चाहिए। आगे के प्रकरण में भोजन की विधि बतायी है कि कौन वस्तु किस क्रम से खानी चाहिए, भोजन समाप्त करके किस प्रकार से आराम करना चाहिए, इत्यादि। समय पर भोजन न करने से क्या हानियाँ होती हैं; इनको भी बताया गया है (सुश्रुत, सूत्र.अ. ४६।४६०–५००)।

आयुर्वेद में भोजनद्रव्य चार प्रकार के माने हैं; अशित, खादित, पेय और लेह्य। अशित और खादित में वही अन्तर है जो मिठाई-लड्डू आदि खाने और चना आदि चबाने में है। दाँत न रहने पर लड्डू-मिठाई खायी जा सकती है, परन्तु चने चबाये नहीं जा सकते। लीढ का अर्थ अँगुली से चाटना है, जैसे शहद या लपसी का चाटना, पेय से अभिप्राय द्रव भोजन से है। यही चार रूप उस समय प्रचलित थे। पाणिनि ने भी 'भोज्यं भक्ष्ये' सूत्र से चारों रूप कहे हैं। आहार का उपयोग चार प्रकार से ही होता है—पान, अशन, भक्ष्य और लेह्य रूप में (चरक. सू. अ. २५।३६)।

विरोधी खानपान—आयुर्वेद में इसकी विस्तृत जानकारी दी हुई है कि विरोधी आहार किन-किन कारणों से होता है, तथा इसके खाने से कौन-कौन विकार होते हैं और उनका प्रतिकार क्या है। उनका परस्पर विरोध इस प्रकार है—द्रव्यों के

या मात्रा में थोड़ा होने अथवा व्यक्ति की अग्नि प्रबल होने पर अथवा व्यायाम से बलवान् बने हुए स्निग्ध व्यक्ति के लिए विष व्यर्थ हो जाता है।

आहारविधि को आयुर्वेद के ग्रन्थों ने बहुत महत्त्व दिया है, इसकी उपमा पवित्र होमविधि से की है, उसी की भाँति दो समय भोजन करने का उल्लेख किया है। अन्न के सम्बन्ध में कहा है—

हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तराग्निं समाहितः।
अन्नपानसमिद्भिर्ना मात्राकालौ विचारयन्॥
आहिताग्निः सदा पथ्यमन्तराग्नौ जुहोति यः।
दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च॥ चरक, सू० २७।२८

पशु-पक्षी

जिस प्रकार से चरक-सुश्रुत में चावलों तथा इक्षु के बहुत से नाम गिनाये हैं, उसी प्रकार मांसवर्ग में बहुत से पशु-पक्षी गिनाये गये हैं। उनमें से अनेकों का स्पष्टीकरण जामनगर से प्रकाशित चरकसंहिता के छठे भाग में चित्र सहित दिया गया है। चरक-सुश्रुत में पशु-पक्षियों का विभाग उनकी रहन-सहन के अनुसार है, इसलिए उसे जानने में सुगमता होती है। परन्तु नामों का उल्लेख अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता, टीकाकारों ने भी इस पर विशेष विवेचन नहीं किया, जिससे इनके सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिल सके। बिलेशयों में श्वेत, श्याम, चित्रपृष्ठ और कालक ये चार भेद काकुली मृग के हैं; यह काकुली मृग का मालायु सर्प अर्थ चक्रपाणि ने किया है। मूल में ऐसा कोई निर्देश नहीं, जिससे इनको इसके भेद माना जाय। मृग शब्द से इतना ज्ञात होता है कि यह चौपाया है। सम्भवतः यह गोह का भेद है, गोह की जीभ भी साँप की भाँति लप-लपाती है। मछलियों के भेद चरक में कम हैं, सुश्रुत में इससे अधिक मिलते हैं।[1]

---

१. जायसी ने पद्मावत के अन्दर कुछ मांस तथा चावलों का उल्लेख किया था। डाक्टर अग्रवाल ने उनका स्पष्टीकरण किया है—उसको विशेष रूप में उनकी पद्मावत-टीका संजीवनी में देखा जा सकता है; यहाँ पर कुछ का उल्लेख किया जाता है। इस विषय में श्री कुँवर सुरेशसिंह की 'हमारी चिड़ियाँ' पुस्तक भी महत्त्व की है, परन्तु उसमें संस्कृत नाम न होने से एवं संस्कृत नामों से पशु-पक्षियों का ठीक परिचय न मिलने से विषय स्पष्ट नहीं हुआ।

मानसोल्लास में वराह, सारंग, हरिण, अवि, अज, मत्स्य, शकुनि, रुरु, सम्बर इतने मांसों का राजा के लिए उल्लेख किया है। जायसी की भी सूची लगभग यही है—इसमें आये हुए नाम, छागर-बकरा, रोझ-नील गाय (ऋश्य), लवा-पाढ़ा

सुश्रुत में एण और हरिण में भेद बतलाया है, काला मृग एण है, लाल मृग हरिण कह-लाता है, जो न काला हो न लाल, वह कुरंग है। सू. अ. (४६।५७)

पशु-पक्षियों के नाम गिनाकर इनमें जो पशु-पक्षी प्रायः व्यवहार में आते थे, उनके गुणों का उल्लेख कर दिया गया है। कई पक्षियों का नाम उनकी आदतों से रखा गया है, यथा भ्याहला; दोनों पैर और चोंच से आक्रमण करने के कारण यह नाम दिया गया है। कंक पक्षी प्रसिद्ध है; परन्तु इसकी ठीक पहचान क्या है, यह निश्चित नहीं। इस पक्षी के नाम पर यंत्र (औजार) का नामकरण किया गया है, यह सब यंत्रों में उत्तम है, क्योंकि इसकी पकड़ मजबूत है। शशघ्नी को जामनगर के चरक में 'गोल्डन ईगल' कहा है। इस पक्षी का मुख्य आहार खरगोश है, इसलिए इसका शशघ्नी नाम है। सुश्रुत में इस विषय का स्पष्टीकरण चरक की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है।

हिरन (अं-हौग डीयर), चीतर-चित्तल, गौन-बारहसिंगा इसे गौंढ़ भी कहते हैं, झांख-साम्भर, बटई-बटेर, लवा बटेर से छोटा होता है (अं-बटनक्वेल), कूँज—कुंज-क्रौञ्च-कुलंग पक्षी, खेहा-तीतर की जाति का पक्षी—केहा (अं-क्याहपार्टी), गुडरू-बटेर जाति का पक्षी (अं-कौमन बस्टर्ड क्वेल), हारील (हारीत)—वृक्षों पर रहनेवाला पक्षी जो बहुत कम नीचे उतरता है, चरज-चरत, कॅब-जलबोदरी (बत्तख और मुर्गी के बीच की चिड़िया), पिदारे—पिद्दे, नकटा—एक प्रकार की बत्तख, लेदी—छोटी बत्तख, सोन—कलहंस (बड़ी बत्तख)। मछलियाँ—पाठीन—पढ़िन, रोहित—रोहू, शिलीन्ध्र—सिलन्द, भृंगी—सींगी, मद्गुर—मंगुरी, चन्द्रिका—बाम, भंगिका—बांगुर।

चावलों के नाम—रायभोग—राजभोग, काजररानी—मिथिला में काजलरानी; मुजफ्फरपुर में कुमोद कहलाता है, झिनवा—सफेद मुख पर काला, रौदा—रुदवा, दाऊद-खानी, कपुरकान्त—कपूरकान्त—उजले रंग का होता है, चावल भी सफेद आता है।

डाक्टर अग्रवाल ने चावलों के नामों का उल्लेख किया है, परन्तु पश्चिम उत्तर प्रदेश में दूसरे नाम हैं—लालमती, बासमती, रामजवायन, राममुनिया, हंसराज आदि; चावलों के नाम अनगिनत हैं। (पद्मावत—बादशाह भोजन खण्ड)

अमरकोश में कुछ पशु-पक्षियों के नाम दिये हैं, परन्तु उनमें आयुर्वेदसंहिताओं में आये नाम बहुत कम हैं, यथा—दात्यूहः कालकण्ठकः शरारिराटिराडिश्च। परन्तु इससे उनके रूप का परिचय नहीं होता। औषध, वनस्पति, पशु-पक्षी के रूप की पहचान का उल्लेख इन ग्रन्थों में नहीं है; ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं। नाम से ही रूप का, स्वभाव का जो वर्णन मिले वही सूत्र है।

चौदहवाँ अध्याय

आयुर्वेद परम्परा

आयुर्वेद की परम्परा सामान्यतः ब्रह्मा से प्रारम्भ होती है। ब्रह्मा का नाम 'स्वयंभू' है, अर्थात् उसे किसी ने नहीं बनाया अपितु उसने सबको बनाया। इसलिए यह आयुर्वेद भी शाश्वत होने से उसी के साथ पैदा हुआ (सुश्रुत. सूत्र. १।६)। पैदा करने का अर्थ यह नहीं कि नया तैयार किया, अपितु उसको प्रकट किया। आयुर्वेदिक ज्ञान का उपदेश किया, यही अर्थ पैदा करने का है (चरक. सू. ३०।२७)।[1]

इस परम्परा में कुछ दूर तक (इन्द्र तक) क्रम एक समान चलता है। इन्द्र के आगे प्रत्येक संहिता में अपना-अपना क्रम है। ब्रह्मा ने आयुर्वेद दक्ष प्रजापति को दिया, दक्ष ने अश्विनौ को सिखाया, अश्विनौ ने इन्द्र को सिखाया। यहाँ तक क्रम एक समान है। चरक संहिता के रसायन अध्याय में ब्रह्मा और इन्द्र के नाम से रसायनों का उल्लेख है, अश्विनौ के नाम पर च्यवनप्राश की प्रसिद्धि है। ऋषि लोग इन्द्र के पास अपने शरीर की अवस्था सुधारने के सम्बन्ध में गये, उनको इन्द्र ने दिव्य औषधियाँ सेवन करने को कहा था। दक्ष प्रजापति के नाम पर कोई रसायन चरकसंहिता में नहीं है।[2] इसके साथ ही राजयक्ष्मा के प्रसंग में हम देखते हैं कि दक्ष प्रजापति के जामाता चन्द्रमा को क्षय होने का कारण दक्ष का ही शाप है, जिसकी चिकित्सा प्रजापति ने स्वयं न करके अश्विनौ से करा दी थी। (चरक. चि. अ. ८।७-९)

प्रजापति शब्द ब्रह्मा के लिए भी आता है, (चरक. सू. अ. २५।२४)। सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मा से, स्थिति विष्णु से और संहार शिव से माना जाता है। परन्तु सब संहिताओं में आयुर्वेदक्रम एक ही है। पुराणपरम्परा में भी ब्रह्मा और दक्ष दो भिन्न व्यक्ति हैं। काश्यप संहिता में प्रजापति दक्ष का उल्लेख नहीं, उसके अनुसार

---

१. स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रजाः सिसृक्षुः प्रजानां परिपालनार्थमायुर्वेदमग्रेऽसृजत् सर्ववित्; ततो विश्वानि भूतानि।—काश्यप संहिता

२. दक्ष के नाम पर नहीं परन्तु प्रजापति के नाम पर महारास्नादि क्वाथ को गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने लिखा है।

ब्रह्मा से सीधा अश्विनौ ने सीखा; अश्विनौ से इन्द्र ने। ब्रह्मा और अश्विनौ के बीच में दक्ष प्रजापति का नामोल्लेख सम्भवतः ज्ञान और प्रजा-उत्पत्ति दोनों का पार्थक्य दिखाने के लिए है। ज्ञानोत्पत्ति का सम्बन्ध ब्रह्मा से तथा अपत्योत्पादन प्रजापति दक्ष से सम्बन्ध रखता है। इसी भेदकल्पना में ज्ञान का अवतरण किया गया है। कामसूत्र में ब्रह्मा-प्रजापति द्वारा प्रजा उत्पन्न करने के पश्चात् त्रिवर्ग के साधन धर्म-अर्थ-काम का उपदेश करना कहा है। आयुर्वेद में प्रजा उत्पन्न करने से पूर्व आयुर्वेद का ज्ञान उत्पन्न करना लिखा है, अर्थात् ज्ञान पहले उत्पन्न हुआ और प्रजा पीछे उत्पन्न हुई। इसमें ज्ञान का सम्बन्ध ब्रह्मा से और प्रजा उत्पत्ति का सम्बन्ध दक्ष प्रजापति से है। इसलिए ब्रह्मा ने ज्ञान का प्रथम उपदेश दक्ष प्रजापति को किया (सु. सू. अ. १।२०; चरक सू. अ. १।४-५)। दक्ष को ब्रह्मा का मानस पुत्र कहा जाता है।

इस परम्परा से भिन्न परम्परा भी पुराणों में मिलती है, उसमें आयुर्वेद की उत्पत्ति प्रजापति से है। प्रजापति ने ऋग्-यजु-साम और अथर्ववेद का विचार करके आयुर्वेद को बनाया। यह पाँचवाँ वेद उसने भास्कर को दिया। भास्कर ने स्वतंत्र संहिता बनाकर इसे अपने शिष्यों को पढ़ाया। इन शिष्यों में धन्वन्तरि, दिवोदास, काशिराज, अश्विनौ, नकुल, सहदेव, अर्की, च्यवन, जनक, बुध, जाबाल, जाजलि, पैल, करथ तथा अगस्त्य थे। ये सोलहों शिष्य वेद-वेदाङ्ग को जाननेवाले और रोगों का नाश करने में निपुण थे। इन्होंने अपने-अपने तंत्र बनाये, धन्वन्तरि ने चिकित्सा-तत्त्वविज्ञान; दिवोदास ने चिकित्सादर्शन; काशिराज ने चिकित्साकौमुदी; अश्विनौ ने चिकित्सासार तंत्र और भ्रमघ्न; नकुल ने वैद्यकसर्वस्व, सहदेव ने व्याधिसिन्धु-विमर्दन; यम ने ज्ञानार्णव; च्यवन ने जीवदान; जनक ने वैद्यसन्देह भंजन; चन्द्रमा के पुत्र बुध ने सर्वसार; जाबाल ने तंत्रसार; जाजलि ने वेदाङ्गसार; पैल ने निदान; करथ ने सर्वधर; अगस्त्य ने द्वैधनिर्णय तंत्र बनाये। ये सोलह तंत्र ही चिकित्सा के बीज, रोगों को नष्ट करनेवाले और बल देनेवाले हैं (ब्रह्मवैवर्त्त पुराण-ब्रह्मखण्ड-अ. १६)।

सूर्य के नाम से कुछ योग आयुर्वेद में बहुत प्रसिद्ध हैं, यथा—१. भास्कर लवण (लवणं भास्करं नाम भास्करेण विनिर्मितम्); २. भास्कर चूर्ण (सर्वलोकहितार्थाय भास्करेणोदितं पुरा); ३. उदर्की रस (भास्करेण कथितो रसेश्वरः सोमरोगकुल-नाशनोऽपि सः)। "आरोग्यं भास्करादिच्छेत्"—यह वचन प्रसिद्ध है।

आयुर्वेदसंहिताओं की उपदेशपरम्परा में सूर्य का उल्लेख नहीं मिलता। उसमें ब्रह्मा, दक्ष प्रजापति, अश्विनौ और इन्द्र चार का ही उल्लेख है। ये चारों वैदिक देवता हैं, इनके विषय में वैदिक जानकारी इस प्रकार है—

ब्रह्मा—सृष्टि में ज्ञान का प्रसार करनेवाला है, चारों वेद इसी से उत्पन्न हुए। भारतीय संस्कृति में सब ज्ञान की उत्पत्ति ब्रह्मा से ही मानी जाती है। वेदों के उपदेष्टा को कुछ विद्वान् ऐतिहासिक मानते हैं, वे इसी को आयुर्वेद का प्रथम उपदेष्टा मानते हैं (आयुर्वेद का इतिहास—सूरमचन्द्र)। चरकसंहिता में (सूत्र.१।२३), जज्जट टीका (सिद्धि ३।३०।३१) में 'पैतामहा:' शब्द मिलता है। चरक में 'स्रष्टा त्वमितसंकल्पो ब्रह्मापत्यं प्रजापतिः'—इस वचन से ब्रह्मा को प्रजापति माना है। इसको देवता ही माना गया है।

दक्ष प्रजापति—ब्रह्मा के मानस पुत्रों में एक है। इसका एक नाम प्राचेतस भी है (आदिपर्व ७०।४)। आयुर्वेदपरम्परा में प्राचेतस दक्ष का उल्लेख है (ज्वरस्तु स्थाणुशापात् प्राचेतसत्वमुपागतस्य प्रजापतेः क्रतौ.....निश्चचार। संग्रह्. नि. अ. १.)। चरक संहिता में ज्वर के सम्बन्ध में दक्ष का उल्लेख है।

अश्विनौ—इनकी स्तुति चिकित्सा के सम्बन्ध में महाभारत में मिलती है। जब उपमन्यु आक के पत्ते खाकर अन्धा हो गया तब आचार्य ने उसे इनकी स्तुति करने को कहा (आदि. ३।५६)। अश्विनौ के सम्बन्ध में जो स्तुति उपमन्यु ने की उसमें इनके नाना रूप मिलते हैं, यथा—हे अश्विनीकुमारो! आप दोनों सृष्टि से पूर्व विद्यमान थे, आप ही पूर्वज हैं, आप ही चित्रभानु हैं, दिव्य स्वरूप हैं, सुन्दर पंखवाले दो पक्षियों की भाँति सदा साथ रहते हैं, रजोगुण और अभिमान से शून्य हैं। आप सूर्य के पुत्र हैं, दिन-रात, वर्ष को आप ही बनाते हैं—

षष्टिश्च गावस्त्रिशताश्च धेनव एकं वत्सं सुवते तं दुहन्ति।
नानागोष्ठा विहिता एकदोहनास्तावश्विनौ दुहतो घर्ममुक्थ्यम्॥
एकां नाभिं सप्तशता अराः श्रिताः प्रधिष्वन्या विंशतिरपरा अराः।
अनेमि चक्रं परिवर्ततेऽजरं मायाश्विनौ समनक्ति चर्षणी॥
एकं चक्रं वर्तते द्वादशारं षण्णाभिमेकाक्षरममृतस्य धारणम्।
यस्मिन् देवा अधिविश्वे विषक्तास्तावश्विनौ मुञ्चतं मा विषीदतम्॥
(आदि. अ. ३।६१-६३)

अश्विनीकुमार इस प्रकार उसकी स्तुति से प्रसन्न हुए और उन्होंने उपमन्यु को पुआ दिया। परन्तु उसने बिना गुरु को दिये उसका उपभोग करने से मना किया (तुलना करें—"मदर्पणेन मत्प्रधानेन मदधीनेन मत्प्रियहितानुवर्तिना च शश्वद् भवितव्यम्। पूर्वं गुर्वर्थोपाहारेण यथाशक्ति प्रयतितव्यम्"—चरक. वि. अ. ८।१३)। अश्विनीकुमार उपमन्यु के इस व्यवहार से प्रसन्न हुए। इसके कारण उन्होंने उपाध्याय

के दाँत काले लोहे के समान तथा उपमन्यु के दाँत सुवर्णमय होने का वर दिया। उपमन्यु की आँखें भी ठीक हो गयीं।

इस कथानक से भी अश्विनौ देवताओं के वैद्य स्पष्ट होते हैं। वेद में अश्विनौ को देवतारूप में वर्णित किया है।

ये जुड़वाँ भाई हैं, सदा युवा रहते हैं, चमकदार हैं, सुनहरी चमक, सौन्दर्य और कमल की मालाओं से सदा भूषित रहते हैं। ये दृढांग, स्फूर्तिशील, गरुड़ के समान वेगगामी हैं, इनको दस्र और नासत्य नाम से भी स्मरण किया जाता है। ये मधु-प्रेमी हैं। इनका रथ शहद के अंकुश से हाँका जाता है। ये सोमरस का पान करते हैं (इसी से युवा हैं)। इनका सुनहरा रथ सूर्य के समान चमकता है, उसके तीन पहिये और पंखोंवाले घोड़े लगे हैं। कभी-कभी रथ में भैंसे और गदहे भी जुड़ते हैं। यह रथ पाँचों लोकों (आकाश, भूलोक, द्युलोक, सूर्य और चन्द्र लोक) को पार करता है। इनके प्रकट होने का समय उषा के उदय होने के पीछे और सूर्योदय के बीच का है। ये अन्धेरे, हानिकारक वस्तु और भूत-प्रेत को भगा देते हैं। ये विवस्वान् तथा त्वष्टा की पुत्री सरण्यु की संतान हैं। सरण्यु अति रूपवती है। सरण्यु का अर्थ सूर्य और उषा का उदयकाल है। अश्विनीकुमारों का पुत्र पूषा है, उषा उसकी बहन है, सूर्या के साथ इनका सम्बन्ध होता है; सूर्या के दोनों पति हैं। ये अपने भक्तों की रक्षा करते हैं, स्वर्ग के वैद्य हैं। नवीन आँखें और नवीन अंग देना, बीमारियाँ दूर करना, इनका कार्य है, इनकी अनेक गाथाएँ हैं, जिनमें देवताओं को युवत्व प्रदान किया गया है। यास्क ने अश्विन् शब्द के कई अर्थ करते हुए अश्विनौ को न सुलझनेवाली समस्या कहा है। वास्तव में ये दो तारे हैं, जिनमें एक प्रातःकाल उदय होता है और दूसरा सायंकाल उदय होता है। सूर्य इन तारों के साथ दोनों समय में अलग-अलग शादी करता है। ज्योतिष के अनुसार अश्विनौ तारों का समुदाय है, जो मनुष्यों के शुभ-अशुभ देखता है। हठयोग के अनुसार वाम और दक्षिण नासापुटों को अश्विनीकुमार कहते हैं। इनको इड़ा-पिंगला भी कहते हैं। शीघ्र गमन करने से पवन भी अश्विनौ कहा जाता है। महाभारत-शान्तिपर्व में इनको शूद्र कहा है (२०१।२३)। उग्र तप करने पर भी ये शूद्र ही रहे, इनको यज्ञभाग नहीं मिला, पीछे च्यवन ऋषि ने इनको यज्ञभाग दिलवाया। अश्विनौ के नाम से आश्विन संहिता, नाड़ीपरीक्षा, धातुरत्नमाला ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।[1]

इन्द्र—यह राष्ट्रीय देवता है, इसके विषय में काल्पनिक पौराणिक गाथाएँ बहुत

---

१. हिस्ट्री आफ इण्डियन मेडिसिन—लेखक गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

हैं। प्रारम्भ में इन्द्र को विद्युत् का देवता माना जाता था जो वर्षा को रोकनेवाले दैत्यों का संहार करता था। यह युद्ध का भी देवता और आर्यों का रक्षक है, सोमपान आदि कार्यों से मनुष्य के समान लगता है। मनुष्यों की तरह इसके दाढ़ी भी है। इन्द्र वज्र को धारण करता है जिसे त्वष्टा ने बनाया था। इसका रथ सुनहला है, घोड़े हरे रंग के हैं। इन्द्र का पिता द्यौ है, अग्नि और पूषा भाई हैं, इन्द्राणी स्त्री है। मरुत् इसके सहायक हैं, यह वृत्रासुर का वध करता है। वृत्रासुर वर्षा को रोकता है। वृत्रासुर और इन्द्र के युद्ध में द्युलोक और पृथ्वीलोक कांप उठते हैं, पहाड़ टूटते हैं, झरने बहने लगते हैं। वेद में विद्युत् और मेघगर्जन को वज्र शब्द से कहा है। बादलों को पहाड़ और वर्षा को नदियों के बहने का रूप कहा है। इन्द्र अपने उपासकों का रक्षक, सहायक, मित्र है; इनको धन-धान्य से भरता है। पौराणिक कथाओं के अनुसार इन्द्र को एक बार कैद किया गया था। इन्द्र कार्य करने में शक्तिशाली आर लड़नेवाला है। निरुक्त में कहा है—"या च का च बलकृतिः इन्द्रकर्मैव तत्।"

चरक में इसके नाम से इन्द्रोक्त रसायन (चि. १. १।४।६) एवं दूसरी इन्द्रोक्त रसायन (१।४।१३-२६) मिलती है, इसमें स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोह, प्रवाल, वैडूर्य, मुक्ता, शंख, स्फटिक का भी उपयोग होता है।

इन्द्र के बाद आयुर्वेदपरम्परा मर्त्यलोक में तीन रूपों में प्रचलित हुई—
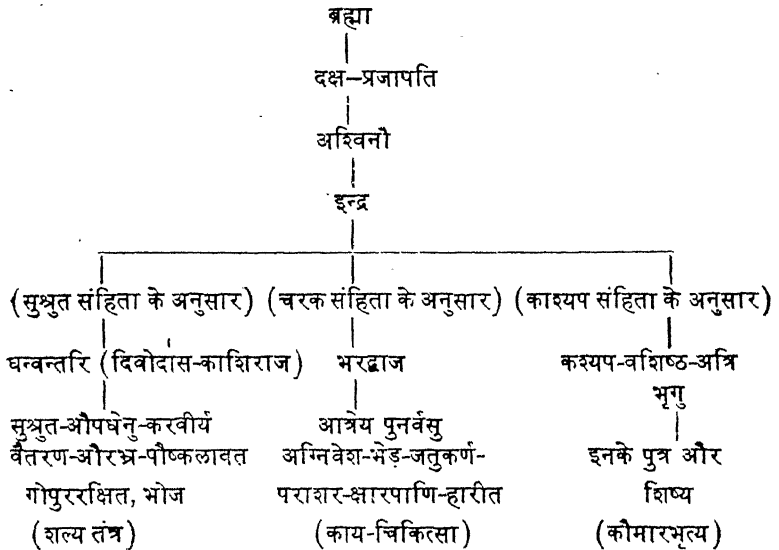
इन्द्र के पास से जिस ऋषि ने आयुर्वेद का जो ज्ञान प्राप्त करना चाहा वही उसे इन्द्र ने सिखाया, धन्वन्तरि ने आठों अंगों का ज्ञान प्राप्त किया था (सू.अ. १।२१)। भरद्वाज इन्द्र के पास दीर्घजीवन की इच्छा से गये थे (सू. अ. १।३)। इन्द्र ने भरद्वाज को यही विषय सिखाया, जिससे उन्होंने दीर्घायु प्राप्त की (सू. अ. १।२६)। इसी से भरद्वाज का एक नाम दीर्घजीवित भी है (ऐतरेय आरण्यक १।२।२)। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार (३।१०।११) इन्द्र ने तृतीय पुरुषायुष की समाप्ति पर भरद्वाज को वेद की अनन्तता का उपदेश किया था।

भरद्वाज—चरक संहिता में भरद्वाज (सू. अ. १), कुमारशिरा भरद्वाज (सू. अ. १२; सू. अ. २६; शा. अ. ६), भरद्वाज (सू. अ. २५; शा. अ. ३) आता है। भरद्वाज नाम व्याकरण शास्त्र में भी मिलता है। ये आचार्य बृहस्पति के पुत्र हैं। श्री सूरमचन्द्र का कहना है कि दीर्घजीवन की इच्छा जिस भरद्वाज ने की थी, वे यही हैं। यही भरद्वाज आयुर्वेद के उपदेष्टा माने गये हैं। गंगाधर कविराज इन भरद्वाज को कपिष्ठल मानते हैं।

दूसरे भरद्वाज कुमारशिरा हैं, इनका मुख्य नाम कुमारशिरा है; भरद्वाज पद औपचारिक, सम्भवतः उपनाम के रूप में है (चरक. सू. अ. २६।४)।

तीसरे भरद्वाज एक और हैं, श्री सूरमचन्द्र इनको बाष्कलि भरद्वाज मानते हैं। ये आत्रेय के गुरु भरद्वाज से पृथक् हैं, क्योंकि इनके मत की समीक्षा पुनर्वसु आत्रेय के साथ की गयी है। चरक में कई स्थलों पर आत्रेय ने भरद्वाज के मत को स्वीकार न करके उसका खण्डन किया है, इसलिए ये भरद्वाज, आत्रेय के गुरु से पृथक् हैं।

कविराज सूरमचन्द्र ने भरद्वाज के सम्बन्ध में हरिवंश का यह वचन उद्धृत किया है—

> बृहस्पतेराङ्गिरसः पुत्रो राजन् महामुनिः।
> संक्रामितो भरद्वाजः मरुद्भिः क्रतुभिर्विभुः ॥ १।३२।१४

हे राजन्! आंगिरस बृहस्पति का पुत्र महामुनि भरद्वाज मरुद्गणों द्वारा सम्राट् भरत को दिया गया। इस कथानक को आधार मानकर उन्होंने एक वंशावली भी दी है। उसमें भरद्वाज के नर, गर्ग, पायु और द्रोण पुत्र बतलाये हैं।[1] मत्स्यपुराण के एक श्लोक के अनुसार भी वे बार्हस्पत्य भरद्वाज को ही सम्राट् भरत द्वारा गोद लिया हुआ मानते हैं। इसके सबूत में वे भरद्वाज का नाम 'द्वयामुष्यायण' उपस्थित करते हैं। भरद्वाज को द्वयामुष्यायण इसलिए कहते हैं कि उनके दो पिता थे; एक बृहस्पति और दूसरे भरत। उसकी संतान ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों हुए (मत्स्य. ४९।३३)।

---

१. आयुर्वेद का इतिहास—सूरमचन्द्र कृत, पृष्ठ १४३-१४४ देखिए

काश्यप संहिता में कृष्ण भरद्वाज का उल्लेख है (सूत्र. अ. २७।३. पृष्ट. २६)। भरद्वाज के साथ कृष्ण विशेषण आत्रेय के कृष्ण विशेषण को स्मरण कराता है, जिससे स्पष्ट है कि इन दोनों का कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध था। कृष्ण यजुर्वेद का सम्बन्ध वैशम्पायन से है, जो याज्ञवल्क्य के गुरु कहे जाते हैं। काश्यप संहिता में भरद्वाज के स्थान पर भारद्वाज पाठ है; चरक में भरद्वाज ही है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' (पृष्ठ २१९) में भारद्वाज का उल्लेख किया है।

भारद्वाज शब्द गोत्र में होनेवाले व्यक्तियों के लिए मानना ठीक है, न कि भरद्वाज के लिए। भारद्वाज और भरद्वाज दोनों पृथक् हैं। काश्यप संहिता के कृष्ण भरद्वाज आत्रेय की शाखा से सम्बन्ध रखते हैं और चरकसंहिता के भरद्वाज इनसे पृथक् हैं। भरद्वाज अनेक हैं; कुछ नामों के साथ विशेषण है और कुछ के साथ नहीं, इसलिए कुछ नाम गोत्रवाची हैं। परन्तु आत्रेय के गुरु, इन्द्र से आयुर्वेद सीखनेवाले, दीर्घजीवी भरद्वाज सबसे पृथक् हैं। ये न तो काश्यप संहिता के भारद्वाज हैं न कुमारशिरा, और न शरीरस्थान (चरकसंहिता) के भरद्वाज हैं।

भरद्वाज को बहु सन्ततिवाला और दीर्घजीवी कहा है। उसके मंत्रद्रष्टा पुत्रों तथा रात्रि नाम्नी मंत्रद्रष्ट्री पुत्री का उल्लेख मिलता है (ऋ. सं. ६।५२)।

सूरमचन्द्रजी ने भरद्वाज का समय भारतयुद्ध से लगभग २०० वर्ष पूर्व माना है और इसके प्रमाण में महाभारत का यह वचन दिया है—

ततो व्यतीते पृषते स राजा द्रुपदोऽभवत्।
पञ्चालेषु महाबाहुरुत्तरेषु नरेश्वरः॥
भरद्वाजोऽपि भगवानारुरोह दिवं तदा॥ अ. १३०

यज्ञसेन—द्रुपद के पिता राजा पृषत् के दिवंगत होने के समय अर्थात् भारतयुद्ध से लगभग २०० वर्ष पूर्व भरद्वाज भी परलोक सिधारे। यह समय अभी विद्वानों की विचारकोटि में है, इसलिए इनका काल अनिर्णीत है। भरद्वाज दीर्घायु थे—यह सत्य है। भरद्वाज शब्द गोत्र में भी व्यवहृत होता है; चरकसंहिता में गोत्र अर्थ में भी आ सकता है; काश्यप संहिता में शाखा विशेषण भी सम्भावित है।

आत्रेय—चरकसंहिता में पुनर्वसु आत्रेय, कृष्णात्रेय और भिक्षु आत्रेय ये तीन नाम आते हैं। इनके सिवाय अत्रि का नाम पृथक् है। इनमें पुनर्वसु आत्रेय और कृष्णात्रेय एक व्यक्ति हैं, और भिक्षु आत्रेय इनसे पृथक् हैं। आत्रेय के साथ पुनर्वसु विशेषण इनका पुनर्वसु नक्षत्र में जन्म होना सूचित करता है, और कृष्ण विशेषण इनको वैशम्पायन की शाखा—कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित बतलाता है। पुनर्वसु

आत्रेय ने भिक्षु आत्रेय के मत का प्रतिवाद किया है (सू. अ. २५), इसी से ये पृथक् गिने जाते हैं। सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय (८ और ९) में आत्रेय और भिक्षु आत्रेय दो पृथक् गिने गये हैं। इससे स्पष्ट है कि ये दो व्यक्ति हैं।

आत्रेय को अत्रिपुत्र कहा जाता है, यह कथन पुनर्वसु आत्रेय—अग्निवेश के गुरु के लिए ही आया है (अत्रिसुतः, चि. २२।३; अत्रिजः, चि. २०।३, सू. ११।३; अत्र्यात्मजः, चि. १२।३ और ४; अत्रिजः, चि. ३०।७)। अत्रि ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। अत्रि ने चिकित्साशास्त्र नहीं बनाया, परन्तु इनके पुत्र ने इसका उपदेश किया (चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद।—बुद्धचरित १।४३)।

इसी आत्रेय के लिए चान्द्रभागी शब्द भी चरकसंहिता में एक स्थान पर (सू. अ. १३।१००) तथा भेलसंहिता में दो स्थान पर (पृष्ठ ३०; पृष्ठ ३९) आया है। चान्द्रभागी का अर्थ चक्रपाणि ने पुनर्वसु किया है। पं० हेमराज पुनर्वसु आत्रेय की माता का नाम चन्द्रभागा मानते हैं (उपोद्‌घात, काश्यप संहिता पृष्ठ ७७)। नदी का भी नाम चन्द्रभागा आता है, मनुस्मृति में नदी के नामवाली कन्या से विवाह करना निषिद्ध माना है (३।९)। इसलिए चान्द्रभागी का पुत्र मानने की अपेक्षा चन्द्रभागा प्रदेश में उत्पन्न होने से चन्द्रभागा नाम होना अधिक समीचीन लगता है।[1]

आत्रेय अनेक हैं—बौधायन श्रौत्रसूत्र के "अत्रीन् व्याख्यास्याम :—अत्रयो भूरयः—कृष्णात्रेया गौरात्रेया अरुणात्रेया नीलात्रेयाः श्वेतात्रेयाः श्यामात्रेया महात्रेया आत्रेयाः" वचन से स्पष्ट है कि ये सब अत्रि के वंशज थे, इनमें कृष्णात्रेय ही पुनर्वसु आत्रेय थे।[2] चक्रदत्त में कृष्ण अत्रिपुत्र नाम आता है (अतिसाराधिकार)। इसलिए श्री योगीन्द्रनाथ सेन कृष्णात्रेय को कृष्ण अत्रि का पुत्र मानते हैं।

---

१. कविराज सूरमचन्द्र ने भी अपने इतिहास (पृष्ठ १७२) में यही कल्पना मानी है; परन्तु थोड़ी बदलकर—"सम्भवतः किसी समय चन्द्रभागा नदी इस प्रदेश (आत्रेय प्रदेश) के निकट बहती थी। अतः चन्द्रभागा नदी के तटवर्ती प्रदेश में रहने के कारण पुनर्वसु का एक विशेषण चान्द्रभागी हो सकता है। संस्कृत वाङ्मय में ऐसे विशेषणों का प्रयोग प्रायः पाया जाता है।" पृष्ठ १२२

२. "त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता"—चरक. सू. ११।६५; "अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम्"—चि. २८।१५७; "कृष्णात्रेयेण गुरुणा भाषितं वैद्यपूजितम्"—चि. २८।१६४; "नागराद्यमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण पूजितम्"—चि. १५।१३२ (इसकी व्याख्या में चक्रपाणि ने लिखा है—कृष्णात्रेयः पुनर्वसोर-

भिक्षु आत्रेय इनसे पृथक् हैं; इनके साथ लगा हुआ विशेषण इनको तापस भिक्षु—संन्यासी बतलाता है। भिक्षु साधुओं का एक सम्प्रदाय था। इसी का पालि रूप 'भिक्खू' बना, जो कि श्रमण—बौद्ध भिक्षुओं के लिए चल पड़ा। भिक्षु संन्यासी होते थे, इनके लिए यज्ञ–होम का विधान नहीं था, यथा—भिक्षु पंचशिख, भिक्षु याज्ञवल्क्य आदि। कृष्णात्रेय या पुनर्वसु को तो चरक में होम करता हुआ पाते हैं (चि. १४।३; चि. १९।३; चि. २९।३)। इसलिए संभवतः भिक्षु आत्रेय संन्यास-आश्रमी रहे होंगे तथा कृष्णात्रेय वानप्रस्थ होंगे। वानप्रस्थ के लिए होम का विधान है (कौटिल्य १।३।११)।

यही वानप्रस्थ कृष्णात्रेय, अग्निवेश के सहपाठी भेल के गुरु थे। इसी से भेल-संहिता में भी चरक संहिता की भाँति नाम मिलते हैं (भेलसंहिता, पृष्ठ १५, २२, २६, ९८)। अष्टांगसंग्रह के टीकाकार इन्दु ने भी कृष्णात्रेय के मत को चरक का मत माना है, इसलिए कृष्णात्रेय ही पुनर्वसु आत्रेय हैं।[1]

महाभारत में भी कृष्णात्रेय का नाम चिकित्सा के प्रसंग में पाया जाता है (शा. २१२।३३)। इससे स्पष्ट है कि कृष्णात्रेय का सम्बन्ध चिकित्सा—काय-चिकित्सा से ही था।

प्राचीन काल में शाखा या चरण के रूप में विद्यापीठ चलते थे। शाखा या चरण का नाम ऋषि के नाम पर होता था। जिस शाखा या चरण में जो ग्रन्थ बनते थे वे सब उसी शाखा या चरण के अन्तर्गत होते थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों के ग्रन्थ एक ही शाखा या चरण में हो सकते थे। एक ऐसी ही शाखा कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध रखती थी। कृष्ण यजुर्वेद का सम्बन्ध वैशम्पायन से है। वैशम्पायन के शिष्य चरक कहलाते थे ("चरक इति वैशम्पायनस्य आख्या, तत्सम्बन्धेन सर्वे-

---

भिन्न एवेति वृद्धाः।) सिद्धयोगसंग्रह की टीका कुसुमावलि में श्रीकण्ठ ने भी "कृष्णात्रेयः पुनर्वसुः" (द्वितीय भाग पृष्ठ ८४) कहा है। चरकसंहिता, सूत्रस्थान अध्याय ११ का प्रारम्भ "इति ह स्माह भगवानात्रेयः" से होता है, परन्तु समाप्ति कृष्णात्रेय के नाम से होती है।

१. कृष्णात्रेयमतं वाहटेनाङ्गीकृतं यतश्चरकस्यैष एव पक्षः। कृष्णात्रेयमतानुसारेणैव द्रव्याणां फलमित्युक्तम्। तदेव च चरकस्याभिमतमेवेत्यत्र पटोलमूलाद्यं वत्सकबीजं च ज्ञापकम्। कृष्णात्रेयपरिभाषाप्रदर्शितश्चार्थश्चरकस्याप्यनुमत एवेत्यनुमीमहे।

सदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यन्ते"—काशिका)। इस शाखा या चरण में आयुर्वेद का विशेष अध्ययन होता था।

प्राचीन शिक्षाप्रणाली में चरणों का बहुत संमान होता था, विद्यार्थी अपने-अपने चरण एवं गुरु का नाम सम्मान से लेते थे। इन चरणों के अपने ग्रन्थ होते थे। इसी से चिकित्सा के आठ अंगों में भी इनके प्रत्यंग का पृथक् विकास हुआ था (तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ। वैद्यानां कृतयोग्यानां व्यधनशोधनरोपणे—चरक. चि. ५।४४)। जो शस्त्रचिकित्सा सीखते थे उनको धन्वन्तरीय सम्प्रदाय या शाखा में गिना जाता था, यह बहुवचन से स्पष्ट है।[1]

वैशम्पायन के विद्यापीठ, शाखा अथवा चरण में चिकित्सा का भी विकास हुआ था। इस शाखा का शिष्य होने से अत्रिपुत्र को कृष्णात्रेय कहा गया। यही कृष्णात्रेय भरद्वाजपरम्परा से प्राप्त आयुर्वेद के उपदेष्टा हैं। ये साक्षात् भरद्वाज के शिष्य नहीं। भरद्वाज ने इन्द्र से प्राप्त ज्ञान ऋषियों को सम्पूर्ण रूप में प्रदान किया था। उनमें से परम्पराप्राप्त ज्ञान आत्रेय पुनर्वसु ने आगे शिष्यक्रम से अग्निवेश आदि छः शिष्यों को दिया। इसे भरद्वाज से आत्रेय ने सीधा नहीं सीखा, ऋषियों द्वारा उनको प्राप्त हुआ था। ऐसी ही परम्परा का अभिप्राय चरण या शाखा है। वैशम्पायन के विद्यापीठ के अन्तर्गत आयुर्वेद ज्ञान को आत्रेय ने प्राप्त करके अग्निवेश आदि को दिया था।

बौद्ध काल में भी भिक्षु आत्रेय या आत्रेय का उल्लेख मिलता है, जो कि तक्षशिला में अध्यापक थे।[2] महावग्ग में जीवक के गुरु का नाम नहीं आया, परन्तु दूसरे ग्रन्थों में वहाँ अध्यापन करनेवाले आचार्य का नाम 'आत्रेय' मिलता है। सम्भवतः यह अध्यापक इसी प्रकार अत्रिशाखा या चरण-विद्यापीठ से सम्बद्ध रहे हों। एक चरण या विद्यापीठ कई विद्याओं का अध्ययनक्षेत्र होता था, इसमें केवल एक ही विषय नहीं पढ़ाया जाता था। इसी से एक ही ऋषि के नाम पर भिन्न भिन्न विषयों के जो ग्रन्थ मिलते हैं, वे इसी बात के प्रमाण हैं कि उस शाखा या चरण में भिन्न-भिन्न विद्याएँ पढ़ायी जाती थीं। चरक संहिता का निम्न वचन भी इस विषय को स्पष्ट करता है—

"विप्रतिवादास्त्वत्र बहुविधाः सूत्रकृतामृषीणां सन्ति, तानपि निबोधोच्यमानान् ॥" चरक० शा० अ० ६।२१

इसी प्रकार चरकसंहिता में अस्थिगणना याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार है, जो

---

१. अन्य स्थानों पर धन्वन्तरि एक वचन में आता है (चरक. शा. ६।२१)

२. देखिए भेलसंहिता की भूमिका, श्री आशुतोष मजूमदार लिखित

एक पुष्ट प्रमाण है कि चरक संहिता का सम्बन्ध यजुर्वेद से है। याज्ञवल्क्य वैशम्पायन के शिष्य एवं शुक्ल यजुर्वेद के संग्राहक हैं। शाखा क्रम के कारण चरक, सूत्रस्थान के पच्चीस और छब्बीस अध्यायों में ऋषियों के साथ जो कथा मिलती है, वह भिन्न-भिन्न विचारों की द्योतक है। ये विचार भिन्न-भिन्न शाखा या चरणों से ही मिले हैं। ऐसी कथाओं में बातचीत करने तथा ज्ञानवृद्धि के लिए विमानस्थान में आवश्यक सूचना दी है। एक गुरु के या एक शाखा के विद्यार्थी दूसरे वर्ग के विद्यार्थी से शास्त्रार्थ कर बैठते थे, इसलिए इसका भी ज्ञान कराया जाता था।

उपलब्ध चरक संहिता, जिसके उपदेष्टा पुनर्वसु आत्रेय हैं, वह वैशम्पायन की शाखा या चरण में बनी है, इसी परम्परा में इसका संस्कार हुआ है।

समय—आत्रेय के समय के विषय में कोई निश्चित सूत्र नहीं है। बौद्धकाल में तक्षशिला के अध्यापक आत्रेय का चरक संहिता के आत्रेय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं।[1] यह केवल इतना स्पष्ट करता है कि उस समय आत्रेय-शाखा या चरण के अन्दर आयुर्वेद का पठन होता था। उस शाखा में शिक्षित आत्रेय वहाँ अध्यापक थे। चरक संहिता के उपदेशक कृष्णात्रेय भ्रमणशील व्यक्ति थे, उनका क्षेत्र मुख्यतः बाहीक प्रदेश—पंजाब का पश्चिमोत्तर प्रान्त, हिमालय, कैलास, चैत्ररथ वन रहा। इस स्थान में ही उनका बाह्लीक भिषक् कांकायन के साथ विचार-विनिमय हुआ था। इसलिए इस सम्बन्ध में काल निर्णय करना कठिन है। परन्तु इतना निश्चित है कि कनिष्क के समय (ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी) तक चरक की रचना हो चुकी थी, क्योंकि सम्राट् कनिष्क के राजवैद्य का नाम 'चरक' कहा जाता है।

---

१. पं० हेमराजजी ने काश्यप संहिता के उपोद्घात (पृष्ठ ७९) में लिखा है कि "तिब्बतीय कथा में तक्षशिलानिवासी आत्रेय से जीवक के अध्ययन करने का उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि यही बुद्धकालीन आत्रेय पुनर्वसु आत्रेय हैं। परन्तु जीवक के अध्ययन के सम्बन्ध में महावग्ग के वर्णन में जीवक के गुरु का नाम नहीं। सिंहल देश की कथा में जीवक के गुरु का नाम कपलक्ष्य (कपिलाक्ष) आया है। ब्रह्मदेश की कथा में जीवक का विद्याध्ययन बनारस में बताया गया है। इस प्रकार अनेक वचनों से कथाओं के आधार पर निर्णय न करके महावग्ग को प्रामाणिक मानना ठीक है। चरकसंहिता में 'तक्षशिला' का उल्लेख नहीं है। इसलिए चरकसंहिता के उपदेष्टा आत्रेय इससे भिन्न हैं; सम्भवतः गोत्रसाम्य से नामसाम्य हो। विशेष स्पष्टीकरण के लिए काश्यपसंहिता का उपोद्घात पृष्ठ ८०-८२ देखें।

श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने 'हिस्ट्री आफ इण्डियन मेडिसिन' में आत्रेय पुनर्वसु के नाम से सात योग और कृष्णात्रेय के नाम से बीस योग संग्रह किये हैं। चरकसहिता में बला तैल (चि. २८।१४८—१५६) तथा अमृताद्य तैल (चि. २८। १५७—१६४) ये अन्य दो तैल आये हैं। हारीतसंहिता के अनुसार च्यवनप्राश भी कृष्णात्रेय का ही कहा हुआ है। अन्य आत्रेय के नाम से कोई योग नहीं मिलता।

आत्रेयसंहिता नाम से पृथक् ग्रन्थ भी है। इस संहिता की कई प्रतियाँ मिली हैं, ये सब एक हैं या भिन्न, इस सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण नहीं हो सका, केवल नाम निर्देश मिला है।[1]

अग्निवेश आदि शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश देनेवाले पुनर्वसु आत्रेय का समय निश्चित करने का सबसे बड़ा साधन उनका अपना उपदेश है। चरकसंहिता में 'काम्पिल्य' नगर को 'द्विजातिवराध्युषित' कहा है। चक्रपाणि ने द्विजातिवराध्युषित का अर्थ 'महाजन सेवित' किया है। शतपथ ब्राह्मण में काम्पिल्य का जो उल्लेख मिलता है, उससे इसकी सत्यता स्पष्ट है, यथा—

"यहाँ पर वैदिक संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि, शिष्टाचार के आदर्श, संस्कृत भाषा के उत्तम वक्ता (शतपथ ३।२।३।१५), यज्ञों में विधिपूर्वक यजन करनेवाले

---

१. आत्रेयसंहिता का उल्लेख श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने अपनी पुस्तक "हिस्ट्री आफ इन्डियन मेडिसिन" भाग २ पृष्ठ ४३१-४३३ पर तथा प्रथम भाग ३४०-३४२ पर किया है। इसके अतिरिक्त बड़ोदा पुस्तकालय की सूची संख्या ११४; प्रवेश संख्या ५८२६ के अन्तर्गत आत्रेयसंहिता का उल्लेख है।

श्री सूरमचन्द्र ने अपने आयुर्वेद-इतिहास में आत्रेय देश भी ढूँढ़ने का यत्न किया है; और इस देश में रहने के कारण आत्रेय नाम हुआ, इस प्रकार की कल्पना भी की है (पृष्ठ १८४)।

अष्टांगसंग्रह में पुनर्वसु को आगे करके धन्वन्तरि, भरद्वाज, निमि, काश्यप, कश्यप आदि ऋषि आयुर्वेद पढ़ने के लिए इन्द्र के पास गये—ऐसा उल्लेख किया है (सूत्र. अ. १।७-८)। नावनीतक के लशुनकल्प में आत्रेय, हारीत, पाराशर, भेल, गर्ग, शाम्बव्य, सुश्रुत आदि का एक साथ उल्लेख है। इस प्रकार के वचनों से आत्रेय का समय निश्चित नहीं हो सकता, क्योंकि ये परस्पर विरोधी हैं। इनका अभिप्राय मेरी दृष्टि में केवल आयुर्वेद के आचार्यों का नाम कीर्त्तन है। एक समय में इनका होना केवल नामकीर्त्तन से उचित प्रतीत नहीं होता।

लोग रहते थे। उन्हीं में सर्वोत्तम राजा थे और सर्वश्रेष्ठ परिषद् भी कुरु-पंचाल में ही थी। और भी कितनी ही बातों में वे अग्रणी थे। कुरु-पंचाल राज्य दीर्घकाल तक समृद्धि के साथ बढ़ता रहा। उसकी राजधानी काम्पिल्य, कौशाम्बी और परिचक्रा नामक मुख्य नगरों से उसका भौगोलिक विस्तार सूचित होता है।" (हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ ९४–९५)

उपनिषद् में कुरु-पञ्चाल का उल्लेख है—"जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे। तत्र कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुः"—बृहदा० ३।१।१। यजुर्वेद में काम्पिल्य का नाम आता है—'सुभद्रिकां काम्पिल्यवासिनीम्'—यजु. २३।१८।

उव्वट ने इसकी टीका में कहा है—"काम्पिल्यवासिनीम्—काम्पिल्यनगरे हि सुभगाः सुरूपा विदग्धाः स्त्रियो भवन्ति।"

इससे स्पष्ट है कि एक समय काम्पिल्य नगर और पंचाल जनपद अति प्रतिष्ठित था। यह समय गौतम बुद्ध से पूर्व का था जो कि उपनिषदों का समय है। बुद्ध के समय काम्पिल्य की महत्ता समाप्त हो गयी थी। उस समय तक्षशिला और काशी विद्या-केन्द्र थे। आत्रेय, जो कि बाह्लीक भिषक् कांकायन से मिलते हैं, उन्होंने तक्षशिला का उल्लेख नहीं किया। पाणिनि ने तक्षशिला का उल्लेख किया है (४।३।९३)। उनका समय लगभग ४७६ ई० पू० माना जाता है। सिकन्दर के समय तक्षशिला की प्रसिद्धि थी। बुद्ध के समय भी तक्षशिला की प्रसिद्धि थी। परन्तु आत्रेय के समय तक्षशिला का अस्तित्व सुनाई नहीं देता। इससे स्पष्ट है कि काम्पिल्य की प्रसिद्धि तथा तक्षशिला के अस्तित्व में आने से पूर्व का समय पुनर्वसु आत्रेय का है, जो कि बुद्ध से पूर्व एवं उपनिषदों का अन्तिम समय है। यह समय ७०० या ७५० ईसा पूर्व आता है, उपनिषदों के बनने का भी लगभग यही समय है।

चरक में बाह्लीक, पह्लव, चीन, शूलीक, यवन, शक इन सब देशों का उल्लेख है, तक्षशिला का नहीं है। उस समय तक्षशिला प्रसिद्ध नहीं होगी। बुद्ध के समय तक विद्यापीठ बनने में तक्षशिला को कम से कम पचास वर्ष जरूर लगे होंगे। इसलिए इससे पूर्व आत्रेय को मानना उत्तम है।

अग्निवेश—कृष्णात्रेय के शिष्यों की संख्या छः है; अग्निवेश, हारीत, भेल, जतुकर्ण, पराशर और क्षारपाणि। इन सबने अपनी-अपनी संहिताएँ बनायी थीं। इनमें अग्नि-वेश की संहिता का रूप ही वर्त्तमान उपलब्ध चरकसंहिता मानी जाती है। परन्तु इससे पृथक् भी अग्निवेश की संहिता है; ऐसा कहा जाता है।

अग्निवेशसंहिता (चरकसंहिता) में तक्षशिला का उल्लेख नहीं है; परन्तु पाणिनि के सूत्र (४।३।९३) में तक्षशिला का उल्लेख है। पाणिनि ने गर्गादि गण में

जतूकर्ण, पराशर, अग्निवेश शब्दों का उल्लेख किया है (गर्गादिभ्यो यञ्—४।१।१०५)। इसलिए पाणिनि से पूर्व अग्निवेश का समय मानना उचित है; यह विचार पं० हेमराज का है (उपोद्घात, पृष्ठ ८२)। गर्गादि गण में इनका नाम भेषजचिकित्सा के सम्बन्ध में आया है।

पं० हेमराज ने काश्यप संहिता के उपोद्घात में (पृष्ठ २३) अपने संग्रह से हेमाद्रि के लक्षणप्रकाश के कुछ वचन उद्धृत किये हैं। इनमें अग्निवेश, हारीत, क्षारपाणि, आत्रेय आदि का नाम लिखा है और इन सबको आयुर्वेद का कर्त्ता कहा है। पालकाप्य-कृत हस्त्यायुर्वेद के चतुर्थ स्थान, चौथे अध्याय में स्नेहविशेष वर्णन में अग्निवेश का मत उल्लिखित है (पालकाप्य, पृ. ५८१)।

मज्झिम निकाय में गौतमबुद्ध के साथ आध्यात्मिक चर्चा प्रसंग में सच्चक (सत्यक) नामक निर्ग्रन्थनाथ पुत्र का नाम भी गोत्ररूप में अग्निवेश आया है (पृ. १३८)। आत्रेय मुख्य आचार्य थे और अग्निवेश आदि उनके शिष्य थे। अग्निवेश की संहिता ही चरकसंहिता है। अग्निवेश, जतुकर्ण, पराशर नाम उपनिषद् में आते हैं (आग्निवेश्याद् आग्निवेश्यः पाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्याज् जातूकर्ण्यः—बृहदा. २।६।२-३)।

अग्निवेश के लिए वह्निवेश (सू. १३।३), हुताशवेश (सू. १७।५) नाम भी आते हैं। माधवनिदान की मधुकोश टीका में श्रीकण्ठदत्त ने लिखा है—"चरके हुताशवेशशब्देनाग्निवेशोऽभिधीयते।"

महाभारत में अग्निवेश का भरद्वाज से आग्नेयास्त्र प्राप्त करने का भी उल्लेख है (आदि. १४०।४१)। इसलिए नाम सामान्य से अग्निवेश का काल निर्णय या उसकी सही जानकारी ढूंढ़ निकालना सम्भव नहीं।

अग्निवेश के साथी भेल और पराशर थे। भेल के बहुत से वचन उपलब्ध चरकसंहिता से मिलते हैं (यथा—चरकसंहिता महाचतुष्पाद अध्याय में मैत्रेय और आत्रेय-संवाद भेलसंहिता के १२५ पृष्ठ के वचनों से मिलता है। वहाँ पर मैत्रेय के स्थान पर भद्रशौनक नाम है, इतना ही अन्तर है)। इसी प्रकार पराशर का वचन आत्रेय के चरकसंहितास्थ वचन से मिलता है (सूरमचन्द्र-कृत आयुर्वेद का इतिहास, पृष्ठ. १९८)। इस प्रकार से ये अग्निवेश के सहपाठी सिद्ध किये गये हैं।

अग्निवेश-तन्त्र—आत्रेय के सब शिष्यों ने पृथक्-पृथक् तंत्र बनाये थे। सुश्रुत के उत्तरस्थान में कायचिकित्सा के छः तंत्रों का उल्लेख है (षट्सु कायचिकित्सासु ये चोक्ताः परमर्षिभिः॥ उत्तर. अ. १।६)। डल्हण ने इनसे अग्निवेश, जतुकर्ण, पराशर, क्षारपाणि, हारीत और भेल के बनाये तंत्रों का ग्रहण किया है। इसी से वर्तमान उप-

लब्ध संहिता में चरकसंहिता के बहुत से वचन मिलते हैं (चरकसंहिता का अनुशीलन, पृष्ठ ११३ की टिप्पणी)। उपलब्ध चरकसंहिता की पुष्पिका में स्पष्ट निर्देश "अग्निवेशकृते तंत्रे"——इस रूप में है। अग्निवेश की संहिता भले ही अलग हो, परन्तु उपलब्ध चरकसंहिता अग्निवेश तंत्र ही है।

जेज्जट ने अपनी टीका में अग्निवेश तंत्र के जो वचन कहीं-कहीं पर दिये हैं, वे उपलब्ध चरक में नहीं मिलते। इन वचनों की भाषा बहुत अर्वाचीन है, कुछ वचन तो माधवनिदान के श्लोकों से मिलते हैं। यवागू सिद्ध में प्रचलित परिभाषा का जो श्लोक टीका में अग्निवेशसंहिता के नाम से दिया गया है, वह पूर्णतः बहुत अर्वाचीन है। परिभाषा का उल्लेख शार्ङ्गधरसंहिता का है, जो कि चौदहवीं शती का ग्रन्थ है। ऐसा प्रतीत होता है कि अग्निवेश के नाम पर संहिता बाद में लिखी गयी है।[1]

---

१. चरकसंहिता पर जेज्जट की टीका लाहौर में छपी थी, उसी के निम्न उद्धरण हैं——

धातुमूत्रशकृद्वाहिस्रोतसां व्यापिनो मलाः।
तापयन्तस्तनुं सर्वां तुल्यदूष्यादिवर्धिताः॥
बलिनो गुरवः स्तब्धा विशेषेण रसाश्रिताः।
सन्ततं निष्प्रतिद्वन्द्वं ज्वरं कुर्युः सुदुःसहम्॥

तुलना करें चरक के "निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः" (चि. अ. ३।५६) से। इसी प्रकार "सर्वाकारं रसादीनां शुद्ध्याशुद्ध्यापि वा क्रमात्" की तुलना चरक के "स शुद्ध्या वाऽप्यशुद्ध्या वा रसादीनामशेषतः" (चि. अ. ३।५७) से; "वातपित्तकफैः सप्त दश द्वादश वासरान्। प्रायोऽनुयाति मर्यादां मोक्षाय च वधाय च॥" की तुलना चरक के "दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः। स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा" (चरक. चि. अ. ३।५५) से होती है (एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च——माधव, ज्वरनिदान से तुलना करें)।

चक्रपाणि ने अपनी टीका (चरक. चि. अ. ३।१९७) में अग्निवेश का वचन परिभाषा रूप में उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि चक्रपाणि के समय अग्निवेश-संहिता थी——"द्रव्यमापोथितं क्वाथ्यं दत्त्वा षोडशिकं जलम्। पादशेषं च कर्तव्यमेव क्वाथविधिः स्मृतः। चतुर्गुणेनाम्भसा वा द्वितीयः समुदाहृतः॥"

यहीं पर चक्रपाणि ने अपनी टीका में कृष्णात्रेय का वचन भी दिया है—"पातव्य-कषाये कृष्णात्रेयः——क्वाथ्यद्रव्यपले वारि ह्यष्टगुणमिष्यते।" यह वचन उपलब्ध

अग्निवेश के नाम पर अग्निवेशसंहिता के अतिरिक्त नाड़ीपरीक्षा (बड़ोदा पुस्तकालयस्थ हस्तलिखित पुस्तकों की सूची संख्या १२४, प्रवेश संख्या १५७९); हस्तिशास्त्र (मद्रास पुस्तकभण्डार की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची संख्या ३७९१) तथा अंजननिदान प्रचलित हैं। टीकाकारों ने अग्निवेश के नाम से जो वचन उद्धृत किये हैं वे उपलब्ध चरकसंहिता में नहीं हैं। इसलिए कविराज गणनाथ सेन की मान्यता है कि ११-१२वीं शती में त्रुटित या सम्पूर्ण अग्निवेशतंत्र संभवतः उपलब्ध रहा होगा।

चरक

चरकसंहिता के प्रतिसंस्कर्त्ता चरक हैं। चरक नाम बहुत प्राचीन है; कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा का नाम चरक है, इस शाखा के पढ़नेवाले शतपथ आदि में चरक कहे जाते हैं। ललितविस्तर में तपोवृत्ति भ्रमणशील संन्यासियों के लिए चरक शब्द आया है (अन्यतीर्थकश्रमणब्राह्मणचरकपरिव्राजकानाम्---१म अध्याय)। वराहमिहिर के बृहज्जातक में संन्यासियों के अर्थ में चरक शब्द मिलता है ("शाक्या-जीविकभिक्षुवृद्धचरका निर्ग्रन्थवन्याशनाः")। उस समय चक्र धारण करनेवालों ('चरकश्चक्रधरः'-भट्टोत्पल) और योगाभ्यासी व्यक्तियों को (चरका योगाभ्यास-कुशला मुद्राधारिणश्चिकित्सानिपुणपाखण्डभेदाः---रुद्र) भी चरक कहा जाता था। सायण ने चरक का अर्थ बाँस के ऊपर नृत्य करनेवाला नट किया है (काश्यपसंहिता उपोद्घात, पृष्ठ ८३)।

चरक शब्द उपनिषद् में भी आया है ('मद्रेषु चरका पर्यव्रजामः'—बृह० ३।३।१)। चरक शब्द वैशम्पायन और उनके शिष्यों के लिए भी प्रयुक्त होता था (काशिका)। चरक शब्द फारसी में जख्म-व्रण के लिए आता है। यह शब्द शिष्य अर्थ में भी आता है। जो शिष्य प्रथम गुरु के पास विद्या समाप्त करके ज्ञानोपार्जन के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते फिरते थे, वे चरक कहे जाते थे। इसी से अष्टाध्यायी में ('माणवचर-काभ्यां खञ्' ५।१।११ के द्वारा) चरक के लिए हितकारी; इस अर्थ में 'चारकीण' शब्द आया है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष–३००)। जातकों में तक्षशिला के विद्या-र्थियों के लिए "चारिकां चरन्ता" कहा गया है (सोनक जातक. ५।२।४७)। श्युआन्

चरकसंहिता का नहीं है, इसी से चक्रपाणि ने इसका प्रतीक नहीं दिया। इससे स्पष्ट है कि कृष्णात्रेय और अग्निवेश के नाम पर पीछे से पद्य बनाये गये हैं।

च्युआङ ने पाणिनि के विषय में लिखा है कि शब्दसामग्री की खोज में उन्होंने दीर्घ यात्रा की और विद्वानों से मिलकर पूछताछ की। यही उनका 'चरक' रूप था। भावप्रकाश में शेषनाग द्वारा लोकवृत्तान्त जानने की इच्छा से चर रूप में पृथ्वी पर आने के कारण उनको चरक कहा गया है।[१] यही चरकाचार्य हैं।

इस प्रकार चरक शब्द के बहुत अर्थ मिलते हैं। भ्रमणशील 'चरक' मनुष्यों का हित सम्पादन करनेवाले होते थे; इस अर्थ में वे लोगों की आधि और व्याधि दोनों दुःखों को दूर करते थे। इसलिए पीछे से वैद्यों के अर्थ में भी चरक शब्द व्यवहृत होने लगा। इनमें से कायचिकित्सा में निपुण किसी चरक ने अग्निवेश के तंत्र का प्रतिसंस्कार किया होगा। इसी से बृहज्जातक की व्याख्या में वैद्यविद्या के विद्वान्, लोकहित की दृष्टि से ग्राम-ग्राम घूमकर वैद्यविद्या का उपदेश और चिकित्सा करनेवालों को चरक कहा गया है। पीछे आयुर्वेद विद्या में निपुण व्यक्तियों के लिए भी चरकाचार्य नाम चल पड़ा (जैसे वाग्भट को चरकाचार्य कहते हैं)। जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी में आचार्य उनको कहा है जिन्होंने देश, काल, पुरुष, दशा भेद के अनुसार समस्त एवं व्यस्त पदार्थशक्ति का प्रत्यक्ष करके निश्चय कर लिया है।

याज्ञवल्क्य स्मृति की व्याख्या में विश्वरूपाचार्य ने "तथा च चरकाः पठन्ति" वाक्य लिखा है।[२] शुक्ल यजुःसंहिता में पुरुषमेध प्रकरण के अन्दर "दुष्कृताय चरकाचार्यम्" (अ. ३०।१८) यह मंत्र आया है। इसका अर्थ वैद्यविद्या के आचार्य किया जाता है। सायण ने 'वंश पर खेल करनेवाला नट' अर्थ किया है। स्वामी दयानन्दजी ने खानेवालों का आचार्य अर्थ किया है। प्रकरण को देखने से निम्न श्रेणी के व्यक्तियों के आचार्य के लिए यह शब्द है।

---

१. **अनन्तश्चिन्तयामास रोगोपशमकारणम्। सञ्चिन्त्य स स्वयं तत्र मुनेः पुत्रो बभूव ह॥ प्रसिद्धस्य विशुद्धस्य वेदवेदाङ्गवेदिनः। यतश्चर इवायातो न ज्ञातः केनचिद्यतः॥ तस्माच्चरकनाम्नाऽसौ ख्यातश्च क्षितिमण्डले। आत्रेयस्य मुनेः शिष्या अग्निवेशादयोऽभवन्॥** (भावप्रकाश)

२. **तथा च चरकाः पठन्ति; श्वेतकेतुं हारुणेयं ब्रह्मचर्यं किलासो जग्राह। तमश्विनावूचतुः। मधुमांसौ किल ते भैषज्यमिति। स ह वाच ब्रह्मचर्यमानी कथं मध्वश्नीयामिति। तौ होचतुः यदा चात्मनो पुरुषो जीवति अथान्यत्सुकृतं करोमीत्यात्मानं सर्वतो गोपायेत्। (याज्ञवल्क्य टीका बालक्रीडा १, २, ३२)**

चरक और पतंजलि—नागेश भट्ट[1] चक्रपाणि,[2] विज्ञानभिक्षु[3] तथा भावमिश्र के शेषावतार की कल्पना के आधार पर चरक और पतञ्जलि को एक सिद्ध करने का यत्न किया जाता है। पतञ्जलि पुष्यमित्र के समय हुए हैं, पुष्यमित्र ने मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को मारकर राज्य प्राप्त किया था। पुष्यमित्र बृहद्रथ का सेनापति तथा शुंगवंशी था, इसने १८४ ई० पू० में राज्य प्राप्त किया और लगभग ३६ वर्ष चलाया। इसके समय यवनों (शक-हूणों का) आक्रमण भारतवर्ष में हुआ था। उनके द्वारा माध्यमिका तथा साकेत का घेर लेने का संकेत महाभाष्य में मिलता है—

"अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्।"

पतञ्जलि ने महाभाष्य में अपने को 'गोनर्दीय' गोनर्द देशवासी कहा है। चरक में गोनर्द देश का कहीं भी उल्लेख नहीं है। यदि भाष्यकार और चरक-प्रतिसंस्कर्ता एक होते तो चरक में किसी स्थान पर गोनर्द देश का उल्लेख मिलना चाहिए था। चरक में काम्पिल्य, बाह्लीक, पह्लव, शूलिक, चीन, सिन्धु, सौवीर आदि देशों का उल्लेख है; परन्तु गोनर्द का नहीं है। महाभाष्य में भी चरक नाम नहीं है। इससे दोनों की भिन्नता स्पष्ट है।

जो पतञ्जलि व्याकरण पर बृहत् भाष्य लिखकर तथा योगसूत्र निर्माण करके अपनी प्रतिभा दिखा सकते हैं, वह चरक का प्रतिसंस्कार करके अपनी प्रतिभा को संकुचित रूप में क्यों दिखाते; नया ग्रन्थ भी लिख सकते थे। महाभाष्य में बीच-बीच में लोकोक्तियाँ, समास-व्यासोक्तियाँ बहुत मिलती हैं, परन्तु चरक में ऐसी कोई रचना नहीं। महाभाष्य में प्रतिपक्षी को जिस प्रकार से आड़े हाथ लिया गया है, वैसा चरक में नहीं मिलता।[4]

---

१. "तत्राप्तोपदेशः शब्दः प्रमाणम्। आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान् रागादिवशादपि नान्यथावादी यः स इति चरके पतञ्जलिः" वै. सि. मंजूषा। यह लक्षण चरकसंहिता के आप्तलक्षण से मिलता है (सू. अ. ११)।

२ पातंजल-महाभाष्य-चरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः॥ (चक्रपाणि)

३. योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि॥ (विज्ञानभिक्षु)

४. युधिष्ठिर मीमांसक ने किलास का अर्थ चरक किया है; वे चरक का अर्थ श्वेतकुष्ठ करते हैं, परन्तु चरक शब्द अरबी-फारसी में व्रण या जख्म के लिए आता है। देखिए—आयुर्वेद का इतिहास, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।

चरकसंहिता के ज्ञाता के लिए ऐसे संकोच का कोई प्रश्न ही नहीं था। 'ऋतूक्थादि' सूत्र (४।२।६०) के वार्त्तिक सम्बन्धी उदाहरणों में 'वायसविद्यिक:, सार्पविद्य:, आङ्गविद्य:, धार्मविद्य:, त्रैविद्य:' आदि उदाहरणों के साथ आयुर्वेद विद्या सम्बन्धी उदाहरण न देना स्पष्ट करता है कि पतञ्जलि चरक से भिन्न हैं। इसी प्रकार 'रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्' (३।३।१०८); 'रोगाच्चापनयने' (५।४।४९) इन सूत्रों का कोई भी उदाहरण महाभाष्य में नहीं दिया गया, जब कि काशिका में 'प्रवाहिकातः कुरु' उदाहरण देकर प्रवाहिका की चिकित्सा करो—यह स्पष्ट किया गया है।

जो नियम स्त्रियों को रजस्वलावस्था में पालन करने चाहिए उनकी सुश्रुत में सूचना दी है (शा० अ० २।२५)। यही बातें 'चतुर्थ्यर्थे बहुल छंदसि' (२।३।६२) सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने उदाहरण रूप से कही हैं।[1] चरक के जातिसूत्रीय अध्याय में (शा० अ० ८) इस प्रकार की सूचना नहीं है।

योगसूत्रों में वर्णित योगप्रक्रिया तथा चरकसंहिता के योगज्ञान में अन्तर है। चरक के योगसाधनानुसार रज और तम को दूर करने पर जब शुद्ध सत्त्व का उदय हो जाता है, तब मन के आत्मा में स्थिर हो जाने से योग पूर्ण होता है। योगदर्शन में चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा है। इस योग के लिए जो उपाय बताये गये हैं वे चरकसंहिता के उपायों से (शा० अ० ५) भिन्न हैं। चरकसंहिता का योग मोक्ष को देता है; योगदर्शन का योग समाधि में ईश्वर-साक्षात्कार कराता है।

योगसूत्रों तथा महाभाष्य के कर्त्ता एक ही पतञ्जलि हैं; यह भी निश्चित नहीं। जो भी हो, तात्पर्य यह है कि चरक और पतञ्जलि दोनों को भिन्न मानना ही उत्तम है।

चरक का समय—उपलब्ध चरकसंहिता में सांख्यदर्शन तथा न्यायदर्शन की अधिक छाया है; बौद्ध दर्शन की छाया भी एक दो स्थानों में है, जैसे क्षणिकवाद की छाया चरक के "हेतुसाम्यात् समस्तेषां स्वभावोपरमः सदा"—सू० अ० १६।२७ इस वाक्य में मिलती है। भिषग्जितीय अध्याय (वि० अ० ८) में न्यायदर्शन के निग्रहस्थान आदि विषयों का उल्लेख है। नागार्जुन ने 'उपायहृदय' नामक

---

१. 'स्त्रियाम्' (४।१।३) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार के अनुसार प्रसव पुरुषधर्म होने से 'पुमान् सूते' यह प्रयोग होता है, परन्तु पाणिनि के षूङ् प्राणिगर्भविमोचने धातुपाठ के अनुसार लोक में 'स्त्री सूते' 'माता सूते' प्रयोग होते हैं। भाष्यकार के मत से ये प्रयोग औपचारिक हैं। किसी शरीरविज्ञानी का ऐसा अभिप्राय संदेहास्पद होगा।

ग्रन्थ में तथा गौतम ने न्यायदर्शन में पक्ष-प्रतिपक्ष, जय-पराजय आदि विवादविषयों का उल्लेख किया है। आयुर्वेदग्रन्थों में केवल चरक में ही यह विषय वर्णित है।

त्रिपिटक के चीनी अनुवाद में कनिष्क के राजवैद्य का नाम चरक मिलता है। कनिष्क के समय में ही आर्य नागार्जुन की स्थिति मानी जाती है। चरक और 'उपाय-हृदय' दोनों में एक समान वाद-विषय का उल्लेख दोनों को समकालीन सिद्ध करता है। कनिष्क का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। इससे यह निश्चित नहीं होता कि नागार्जुन का समकालीन चरक ही अग्निवेशतंत्र का प्रतिसंस्कर्त्ता था। कनिष्क की सभा में अश्वघोष कवि भी था जिसे कनिष्क पाटलिपुत्र से लाया था। अश्वघोष की रचनाओं में चरकसंहिता की झलक, उपमाएँ, भाव प्रायः मिलते हैं। सम्भवतः उसी समय चरकसंहिता का प्रतिसंस्कार हुआ हो।

नागार्जुन ने उपायहृदय में सुश्रुत का नाम भैषज्य विषय में लिखा है, परन्तु अपने सामयिक कनिष्क के राजवैद्य चरक का नाम नहीं लिखा। नागार्जुन ने अग्निवेश का भी नाम नहीं लिखा। इसलिए इस संक्षिप्त भैषज्य विषय में चरक का नाम न आना इस बात को प्रमाणित नहीं करता कि चरक कनिष्क के समय नहीं था। अश्वघोष की रचनाओं से स्पष्ट है कि उसके समय उपलब्ध चरकसंहिता का अस्तित्व था। इसका प्रतिसंस्कार हो चुका था। संस्कार ईसा की प्रथम शताब्दी में या उससे पूर्व चरक द्वारा किया जा चुका था; तभी दोनों के भाव, उपमा आदि में समानता है। इसलिए चरक का समय ईसा की प्रथम शताब्दी पूर्व या यही मानना अधिक युक्तिसंगत है।[१]

शल्यचिकित्सा सम्प्रदाय

आयुर्वेद के आठ अंगों में सुश्रुतसंहिता के अनुसार शल्यचिकित्सा सबसे मुख्य है। क्योंकि इसमें इच्छानुकूल, आँख से देखते हुए कार्य किया जाता है, इसमें उपक्रम-चिकित्सा तुरन्त हो जाती है। यंत्र, शस्त्र, अग्नि, क्षार आदि इसके साधन हैं, अधिक वनस्पतियों का झमेला नहीं है। अन्य सब चिकित्सांगों को यह मान्य है, उनको भी इसकी जरूरत पड़ती है (सु० सूत्र० अ० १।१८)। इसके सिवाय इसी अंग का सब अंगों से प्रथम उपदेश हुआ है, क्योंकि देव-असुरसंग्राम में चोट आदि का संरोहण

---

१. अधिक जानकारी के लिए देखिए—लेखक का 'संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद'-ग्रन्थ; एवं 'सांस्कृतिक दृष्टि से चरक संहिता का अध्ययन'

तथा यज्ञ के सिर का संधान इसी अंग के द्वारा पूरा हुआ था। इसलिए अन्य सब अंगों में शल्य अंग ही सबसे मुख्य है।[१]

इस अंग के उपदेष्टा धन्वन्तरि हैं, जो कि वैद्यक शास्त्र के सबसे प्रथम देवता माने जाते हैं—जैसा कि निम्न पद्य में उनका कहना है—

अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम्।
शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतं प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम्॥
सु. सू. अ. १।२१

देवताओं के बुढ़ापे, रोग, मृत्यु को दूर करनेवाला आदिदेव धन्वन्तरि मैं हूँ, शल्य आदि दूसरे अंगों का उपदेश करने के लिए पुनः इस पृथ्वी पर आया हूँ। धन्वन्तरि का देवता होना चरकसंहितोक्त अध्ययन विधि से भी सिद्ध होता है। वहाँ ब्रह्मा, अग्नि, अश्विनौ, इन्द्र के साथ धन्वन्तरि का भी नाम लेकर आहुति देने का उल्लेख है (वि० अ० ८।११)। चरकसंहिता के समय धन्वन्तरि-सम्प्रदाय का विकास हो गया था; जो लोग दाहकर्म, शस्त्रकर्म करते थे उनके लिए धन्वन्तरि शब्द प्रयुक्त होता था (चरक०चि०५।४४)। चरक संहिता के समय शस्त्र, क्षार, अग्नि-चिकित्सा का प्रचार अधिक था; यह बात अर्शचिकित्सा में औषध प्रयोग का महत्त्व बतानेवाले वचन से स्पष्ट है।[२]

चरकसंहिता में दी हुई आयुर्वेदपरम्परा में धन्वन्तरि का नाम नहीं, एवं सुश्रुत की परम्परा में भरद्वाज या आत्रेय का नाम नहीं है। परन्तु उपलब्ध सुश्रुत में चरक-संहिता का गद्य तथा पद्य भाग कई स्थानों पर अविकल रूप से मिलता है। उत्तर तंत्र के "षट्सु कायचिकित्सासु ये चोक्ताः परमर्षिभिः"—वाक्य में छः संख्या आत्रेय के अग्निवेश, भेल, पराशर, क्षारपाणि, जतुकर्ण, हारीत; इनकी पद्धति के लिए ही कही

---

१. फिर भी कायचिकित्सा का क्षेत्र शल्यचिकित्सा से अधिक विस्तृत है; मनुष्य को जीवन में शल्यचिकित्सा की अपेक्षा कायचिकित्सा की ही अधिक आवश्यकता होती है। रसायन, वाजीकरण, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतंत्र—इनमें कायचिकित्सा ही प्रधान है।

२. **पुनर्विरोहो रूढानां क्लेदो भ्रंशो गुदस्य च।**
मरणं वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात्॥
यत्तु कर्म सुखोपायमल्पभ्रंशमदारुणम्।
तदर्शसां प्रवक्ष्यामि समूलानां निवृत्तये॥ चरक. चि. अ. १४।३३-३६

है। इससे स्पष्ट होता है कि वर्त्तमान उपलब्ध सुश्रुतसंहिता चरकसंहिता के पीछे बनी है। इस समय शल्य के लिए केवल सुश्रुत की पद्धति हमको उपलब्ध है। कायचिकित्सा के लिए वाग्भटरचित संग्रह और हृदय मिलते हैं, इनमें आत्रेय को ही उपदेष्टा मानकर व्याख्यान किया गया है। यद्यपि इनमें शल्यचिकित्सा सुश्रुत के आधार पर लिखी गयी है, परन्तु मुख्य भाग चरक के अनुसार ही है।

उपलब्ध सुश्रुतसंहिता में धन्वन्तरि का काशिराज और दिवोदास नामों से भी उल्लेख किया गया है। धन्वन्तरि शब्द का अर्थ शल्यशास्त्र के पार ले जानेवाला बतलाया गया है। शल्य का अर्थ हिंसा-पीड़ा देनेवाला है; इस दृष्टि से जहाँ वेणु, तृण, काष्ठ, लोह, गर्भ, पुरीष आदि शल्य हैं, वहाँ पर शोक भी शल्य है; अतः इसकी भी चिकित्सा वर्णित है (सूत्र० अ० २७।५)। शरीर में जिससे भी पीड़ा, दुःख हो, उस सबको शल्य कहा गया है। शल्य शास्त्र के उपदेष्टा धन्वन्तरि हैं, जो इन्द्र के शिष्य तथा सुश्रुत आदि के गुरु, काशि के राजा हैं। राजा होने से वचन में अभिमान (अहं हि धन्वन्तरिः) तथा दान देने का गौरव (मया तु प्रदेयमर्थिभ्यः) स्पष्ट दीखता है। इस दान का उद्देश्य प्रजाहित ही है।[1] परन्तु महाभारत में समुद्र मंथन के प्रसंग में धन्वन्तरि देव के आविर्भाव का उल्लेख है। पुराणों में भी इसी रूप में इनका उल्लेख है। परन्तु वेद में धन्वन्तरि का नाम नहीं। कौषीतकि ब्राह्मण में तथा कौषीतकी उपनिषद् में दैवोदासि-प्रतर्दन का उल्लेख है।[2] काठक संहिता में भी आरुणि समकालीन भीमसेन के पुत्र दिवोदास का नाम है।

हरिवंश पुराण के अनुसार ये काश राजा के वंश में उत्पन्न होने से काशिराज एवं धन्व राजा के पुत्र होने से धन्वन्तरि कहे जाते हैं। भरद्वाज से विद्या पढ़ने के कारण इनका आयुर्वेद से सम्बन्ध है। दिवोदास धन्वन्तरि की चौथी पीढ़ी में हुए हैं, परन्तु आयुर्वेद के विद्वान् होने से धन्वन्तरि का अवतार मानकर इनका 'धन्वन्तरि दिवोदास' यह नाम प्रचलित हो गया है। पं० हेमराजजी के कथनानुसार उनकी ताड़पत्र लिखित

---

१. काशिराज का उल्लेख बौद्ध जातकों में विशेष रूप से है, काशिराजकुमार तक्षशिला में विद्याध्ययन के लिए जाते थे।

२. अथ ह स्माह दैवोदासिः प्रतर्दनो नैमिषीयाणां सत्रमुपगम्योपास्य विचिकित्सां पप्रच्छ। (कौषातकि ब्राह्मण—२६-५)

प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम। (कौषीतक्युपनिषद्—३—१)

दिवोदासो भैमसेनिरारुणिमुवाच। (काठक संहिता ७।१।८)

सुश्रुत की प्रति में "इत्युवाच भगवान् धन्वन्तरिः" शब्द नहीं हैं। उनका कहना है कि दिवोदास के पास सुश्रुत आदि के जाने पर यह उल्लेख होना ठीक नहीं। परन्तु जब धन्वन्तरिरूप दिवोदास हैं, तब ऐसा कहने में कोई बाधा नहीं, यह मेरी मान्यता है; आज भी बोलचाल में हम कहते हैं कि यह तो साक्षात् धन्वन्तरि हैं।

बौद्ध जातकों तथा महावग्ग में काशी और वाराणसी दोनों शब्द आते हैं। इनमें वाराणसी नगर के लिए और काशी राज्य के लिए मिलता है। पाणिनि ने भी देश-जनपद-वाचक काशि शब्द प्रयुक्त किया है (४।१।११६)। जनपद का नाम काशि था, वाराणसी उसकी राजधानी थी।

वरणा और असी इन दो नदियों के बीच में स्थित देश की नगरी वाराणसी है। सुश्रुत में वाराणसी शब्द नहीं है, उपनिषदों में भी काशि शब्द मिलता है, परन्तु वाराणसी नहीं मिलता। पुराणों में काशी और वाराणसी दोनों मिलते हैं। इतिहास में वाराणसी की चर्चा है परन्तु धन्वन्तरि, दिवोदास, प्रतर्दन इन राजाओं की शृंखला नहीं मिलती। कात्यायन ने 'दिवश्च दासे' वार्तिक से दिवोदास शब्द सिद्ध किया है। महाभाष्य में 'दिवोदासाय गायते' यह प्रयोग मिलता है, ऋक्सर्वानुक्रम सूत्र में दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का उल्लेख है। इन सब स्थलों में दिवोदास का नाम देखने से पं० हेमराज के मतानुसार यह उपनिषदों के पूर्व या समकालीन सिद्ध होते हैं।

ऐतिहासिक विचारकों के अनुसार मोटे तौर पर सातवीं शती से चौथी शती ई० पू० तक के युग में पाणिनि के समय की सर्वसम्मत अवधि होती है। इसमें भी पाँचवीं शती ई० पू० के पक्ष में बहुमत है। इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से काशि और वाराणसी शब्द जहाँ प्राचीन हैं, वहाँ पर दिवोदास शब्द भी प्राचीन सिद्ध होता है। क्योंकि वार्तिककार कात्यायन पाणिनि के समकालिक थे।

मिलिन्दप्रश्न नामक पालिग्रन्थ (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी) में नागसेन-संवाद के अन्तर्गत धन्वन्तरि का नाम आता है।[1] अयोधर (अयोगृह) जातक में भी

---

१. भन्ते नागसेन! ये ते अहेसुं तिकिच्छकानं पुब्बका आचारिया नारदो, धन्वन्तरि, अंगिरसो, कपिलो कण्डरग्गिसामो, अतुलो, पुब्बकच्चायनो, सब्बे पेते आचारिया स किं येव रोगुप्पत्तिं च निदानं च सभावं च समुट्ठानं च तिकिच्छं च किरियं च सिद्धासिद्धं च सब्बान् तं निरवसेसं जानयित्वा इमस्मिन् काये एत्तका रोगा उपज्जिसन्तीति एकप्पहारेन कलापग्गाहं कारयित्वा सुत्तं बन्धिसु असब्बञ्ञुनो एते सब्बे॥

(मिलिन्द पन्ह)

धन्वन्तरि, वैतरण, भोज आदि चिकित्सकों की चर्चा करते हुए 'लोगों का उपकार करनेवाले धन्वन्तरि के समान विद्वान् भी काल के मुख में चले गये'—यह बतलाया है।[1] आर्यसूत्रीय जातक में केवल धन्वन्तरि का नाम आया है।[2]

'धन्वन्तरि' नाम चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के नवरत्नों की गणना में भी मिलता है (धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशंकु—वेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः)। सम्भवतः यह नाम उस सभा के राजवैद्य के लिए आया हो।

काश्यप संहिता के शिष्योपक्रमणीय अध्याय में आहुति देने के लिए 'धन्वन्तरये स्वाहा' कहा है, वहाँ पर आत्रेय या भरद्वाज का उल्लेख नहीं है (विमान० अ० १।३)। चरक संहिता के भी रोगभिषग्जितीय प्रकरण (वि० अ० ८) में धन्वन्तरि के लिए आहुति देना लिखा है, भरद्वाज के लिए नहीं। चरक संहिता में गर्भनिर्माण के संबंध में धन्वन्तरि के मत का उल्लेख मिलता है (शा० अ० ६।२१)। परन्तु सुश्रुत में इसी प्रसंग में शौनक, कृतवीर्य, पराशर, मार्कण्डेय, सुभूति तथा गौतम के मत दिये गये हैं; इनमें आत्रेय या भरद्वाज का मत नहीं है। सुश्रुत में धन्वन्तरि का जो मत इस सम्बन्ध में है (शा० अ० ३।३२) वही चरक संहिता में है। इसी मत को आत्रेय ने स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त चरक संहिता में जहाँ भी दाह या शल्य-चिकित्सा का प्रसंग आया है, वहाँ पर धन्वन्तरि सम्प्रदाय के वैद्यों का स्मरण किया गया है।[3] यही प्रकार काश्यप संहिता में भी मिलता है; द्विव्रणीय अध्याय में शल्यकर्म को 'परतंत्रसमय' कहकर जो वर्णन किया है, वह चरकसंहिता के वचनों से पूर्ण रूप में मिलता है, यथा—

---

१. आसीविसा कुपिता यं दसन्ति, टिकिच्छका होसंविसं वसन्ति।
नमुञ्चुनो दट्ठविसं हनन्ति तं मे मतिं होतिचरामि धम्मम्।
धम्मन्तरि वैतरिणि च भोजो विसानि हत्वा च भुजङ्गमानम्॥
(अयोघर जातक)

२. हत्वा विषाणि च तपोबलसिद्धमंत्रा व्याधीतृणामुपशम्य च वैद्यवर्याः।
धन्वन्तरिप्रभृतयोऽपि गता विनाशं धर्माय मे नमति (भवति)॥
(आर्यसूरीय जातक)

३. सर्वांगनिर्वृत्तिर्युगपदिति धन्वन्तरिः (चरक. शा. अ. ६); दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां बलम् (चि. अ ५।६४); इदं तु शल्यहर्तृणाम् (चि. १३।१८२); ताः शल्यविद्भिः कुशलैः चिकित्स्याः शस्त्रेण संशोधनरोपणैश्च (चि. अ. ६।५८)।

परतंत्रस्य समयं प्रब्रुवन्न न विस्तरम् ।
न शोभते सतां मध्ये लुब्धः काक इवार्चितः ।।

—काश्यप. द्विव्रणीय ५

तेषामभिव्यक्तिरभिप्रदिष्टा शालाक्यतंत्रेषु चिकित्सितं च ।
पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः ।।

चरक. चि. अ. २६।१३१

इसलिए इन बातों से स्पष्ट है कि धन्वन्तरि नाम आयुर्वेद से सम्बन्धित था और यह 'धन्वन्तरि' शब्द इसी अर्थ में उपलब्ध संहिताओं से बहुत प्राचीन था। यह नाम विशेष सम्प्रदाय के लोगों के लिए प्रचलित था, यह बात धन्वन्तरि शब्द के बहुवचन प्रयोग से स्पष्ट है। इस सम्प्रदाय का मुख्य सम्बन्ध आयुर्वेद के शल्य अंग से था, जिसमें दाह, अग्नि, शस्त्र कर्म होते थे। इस अंग का अभ्यास करनेवाले पृथक् रहते थे।

परंपरा

ब्रह्मा से इन्द्र तक आयुर्वेदपरम्परा चरक-सुश्रुत-काश्यप संहिता में एक समान है। इन्द्र से इसकी पृथक् शाखाएँ निकलती हैं। धन्वन्तरि ने इन्द्र से सम्पूर्ण आयुर्वेद सीखा, परन्तु उपदेश केवल शल्य अंग का ही किया है। इसलिए इस अंग का नाम धन्वन्तरि-सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुआ। (सामान्यतः सब प्रकार के चिकित्सकों के लिए 'धन्वन्तरि' शब्द लोक में चलता है।) धन्वन्तरि ने अपना उपदेश सुश्रुत को सम्बोधन करके दिया है। इसी से इसका सुश्रुतसंहिता नाम हो गया है। सुश्रुत-संहिता में धन्वन्तरि या दिवोदास और सुश्रुत (गुरु और शिष्य) ये ही दो नाम आते हैं; काश्यप और चरक की भाँति दूसरे किसी ऋषि का मत इसमें नहीं आता। दिवोदास उपदेष्टा और सुश्रुत श्रोता; यही दो व्यक्ति इस ग्रन्थ की पृष्ठभूमि हैं।

धन्वन्तरि दिवोदास—दिवोदास का नाम ऋग्वेद में (यद् यातं दिवोदासाय वर्त्ति भारद्वाजावश्विना हयन्त) सबसे प्रथम आता है। इसे सुदास का पिता और शम्बर का शत्रु कहा गया है। सुदास का दस राजाओं से युद्ध प्रसिद्ध है। परन्तु इस दिवोदास का काशिराज [illegible]रि से सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता; न इसके चिकित्सक होने का उल्लेख है। पुराणों में अनेक दिवोदासों का वर्णन मिलता है। हरिवंश, २९वें अध्याय में काश वंश की परम्परा का उल्लेख इस प्रकार है[1]—

---

१. श्री पं० हेमराज के उपोद्घात से

काश के पौत्र धन्व ने समुद्र मंथन से उत्पन्न अब्ज देवता की आराधना से अब्ज के अवतार धन्वन्तरि को पुत्र रूप में प्राप्त किया था। धन्वन्तरि ने भरद्वाज से आयुर्वेद सीखकर इसको आठ भागों में विभक्त किया। इसके प्रपौत्र दिवोदास ने वाराणसी नगरी बसायी। दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन था। दिवोदास के समय से उजड़ी हुई वाराणसी को प्रतर्दन के पौत्र काशिराज अलर्क ने फिर से बसाया था; यह बात हरिवंश से स्पष्ट है। दिवोदास द्वारा ही वाराणसी बसाने का उल्लेख महाभारत में भी है (अनुशा० अ० २९)।

महाभारत में चार स्थानों पर दिवोदास का नाम आता है।[1] इसके अनुसार भी दिवोदास का काशिपति होना, वाराणसी का बसाना, हैहयों द्वारा पराजित होकर भरद्वाज की शरण में जाना, उसके द्वारा किये पुत्रेष्टि यज्ञ से प्रतर्दन नामक पुत्र की उत्पत्ति आदि विषय मिलते हैं। अग्निपुराण और गरुड़पुराण में भी वैद्य धन्वन्तरि की चौथी पीढ़ी में दिवोदास का उल्लेख है।[2]

आदि धन्वन्तरि दिवोदास ही वर्त्तमान सुश्रुत संहिता के उपदेष्टा हैं; यह इससे स्पष्ट नहीं। धन्वन्तरि आयुर्वेद विद्या के सम्मानित देवता थे, इतना ही इन सन्दर्भों से स्पष्ट होता है। दिवोदास धन्वन्तरि की चौथी पीढ़ी में हुए, ये भी अच्छे आयुर्वेद-

---

१. उद्योगपर्व अ. ११७; अनुशासनपर्व, दानधर्म प्रकरण—अ. २९; राजधर्म प्रकरण—अ. ९६; और आदि पर्व।

२. अग्निपुराण अ. २७८; गरुड़पुराण अ. १३९।८-११। ये पुराण बहुत पीछे के हैं। इनमें माधवनिदान के श्लोकों का अवतरण मिलता है।

ज्ञाता थे, इसलिए इनको भी धन्वन्तरि नाम से कहा जाता था। दिवोदास काश राजा के वंशधर होने से काशिराज नाम से कहे जाते थे। काशिराज्य का वाराणसी नगर से क्या सम्बन्ध था; यह अस्पष्ट है, सम्भवत: वाराणसी इससे अलग हो। यह कोई बड़ा राज्य नहीं था, इसलिए कोशल या मगध दोनों पड़ोसी बड़े राज्यों में से किसी एक के साथ जुड़ा रहा होगा। इन राज्यों के अधीन दिवोदास सामन्त या अन्य छोटे राजा के रूप में रहे होंगे। इतिहास में इनका उल्लेख नहीं है, केवल पुराण, महाभारत में नाम सुनाई देता है।

उपलब्ध सुश्रुतसंहिता में सैनिक चिकित्सा का उल्लेख मिलने से यह स्पष्ट है कि इसका उपदेष्टा राजा था।[1] राजा की रक्षा किस प्रकार से करनी चाहिए, शत्रु किस प्रकार राजा को हानि पहुँचा सकते हैं, सैनिक आक्रमण के समय वैद्य का संनिवेश, उस पर लगा चिह्न, जिसे कि दूर से पहचाना जा सके आदि बातें इसके उपदेष्टा का राजा होना प्रमाणित करती हैं।[2] दिवोदास निश्चित रूप से वर्त्तमान सुश्रुतसंहिता के आधार पर भारशिवों के समकालीन (ईसा की दूसरी या तीसरी शती में) प्रमाणित होते हैं। सुश्रुत को वेदवादी ऋषियों तथा चरकसंहिता-सम्मत अस्थिगणना का ज्ञान था, इसलिए इस संहिता को शतपथब्राह्मण और चरक संहिता के पीछे की मानना ही उचित है। यह अस्थिगणना याज्ञवल्क्य स्मृति में भी है। इसमें सुश्रुत की गणना को महत्त्व नहीं दिया गया। याज्ञवल्क्य स्मृति ईसा की दूसरी शताब्दी में निर्मित

---

१. सैनिकचिकित्सा—

"नृपतेर्युक्तसेनस्य परानभिजिगीषतः। भिषजा रक्षणं कार्यं यथा तदुपदिश्यते॥
विजिगीषुः सदामात्यैर्यात्रायुक्तः प्रयत्नतः। रक्षितव्यो विशेषेण विषादेव नराधिपः॥
पन्थानमुदकं छायां भक्तं यवसमिन्धनम्। दूषयन्त्यरयस्तच्च जानीयाच्छोधयेत्तथा॥
सु. सू. अ. ३४।३-५.

२. स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम्। भवेत्संनिहितो वैद्यः सर्वोपकरणान्वितः॥
तत्रस्थमेनं ध्वजवद्यशःख्यातिसमुच्छ्रितम्। उपसर्पन्त्यमोहेन विषशल्यामयार्दिताः॥
सू. अ. ३४

इसी बात को कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी सांग्रामिक प्रकरण में कहा है—

"चिकित्सकाः शस्त्रयंत्रागदस्नेहवस्त्रहस्ताः स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्यः पुरुषाणामुद्-हर्षणीयाः पृष्ठतस्तिष्ठेयुः॥" चिकित्सक, शस्त्र, यंत्र, अगद, स्नेह, वस्त्र को सम्भालने वाले, खानपान की रक्षा करनेवाले एवं पुरुषों को प्रसन्न करनेवाली स्त्रियाँ युद्धभूमि में सेना के पीछे रखनी चाहिए।

मानी जाती है। इसलिए उपलब्ध सुश्रुतसंहिता का समय ही ऐसा था जब कि देश में ऐतिहासिक परपरा स्थापित न करनेवाले छोटे छोटे राज्य बहुत थे। इसी लिए इस समय का नाम डाक्टर जायसवाल ने "अन्धकारयुगीन भारत" रखा है। इन छोटे छोटे राज्यों में ही एक राज्य काशि का था, जिसका राजा दिवोदास था। इसका समय ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी हो सकता है। यही बात उपलब्ध सुश्रुत-संहिता में राम, कृष्ण और श्रीपर्वत के नाम से स्पष्ट है।

श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री का यह कथन सत्य है कि नामों के आधार पर समय का निर्णय न करके उपलब्ध ग्रन्थ के पौर्वापर्य तथा आन्तरिक विवेचन से करना सही होता है। इसी के आधार पर उपलब्ध सुश्रुतसंहिता का समय ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी आता है। डल्हण का कहना है कि यह संहिता प्रतिसंस्कार रूप में है; परन्तु चरकसंहिता की भाँति इसमें प्रतिसंस्कर्त्ता का नाम नहीं मिलता और न अन्दर का कोई प्रमाण इसका प्रतिसंस्कार ही सिद्ध करता है। भापा भी सामान्य संस्कृत है; महाभाष्य शैली या उपनिषद् शैली की अथवा अश्वघोष, कालिदास, संग्रह या हृदय की ललित भाषा से सर्वथा भिन्न है। इसलिए इसका समय ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी ही समीचीन प्रतीत होता है।

सुश्रुतसंहिता में चरक के निम्नलिखित वचन में विप्रतिपत्ति बतायी गयी है—दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा स्मृता"—चरक, चि० अ० २५।२२। इसके विषय में लिखा है—"आतुरमभिपश्येत् स्पृशेत् पृच्छेच्च त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदितव्या इत्येके। तत्तु न सम्यक् षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, तद्यथा—पंचभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति"—सूत्र० अ० १०।४ (सुश्रुत की उपर्युक्त परीक्षा सम्भवतः व्रण के सम्बन्ध में ही हो; परन्तु चरक में व्रणस्राव की गंध से भी परीक्षा करने की विधि है—चरक० चि० अ० २५)। इससे सुश्रुत की रचना चरक-संहिता के पीछे हुई है, इसमें सन्देह नहीं।

सुश्रुत—उपलब्ध सुश्रुतसंहिता में सम्बोधन सुश्रुत को किया गया है; इस सम्बन्ध में कहा है कि सुश्रुत के साथ समागत सब शिष्यों ने धन्वन्तरि दिवोदास से कहा कि "एक विचारवाले हम सबों के अभिप्राय को ध्यान में रखकर सुश्रुत आपसे प्रश्न पूछेगा और इसके प्रति किये गये उपदेश को हम सब सुनेंगे (सु० सू० अ० १।१२)। इसके बाद जो भी कहा गया वह सब सुश्रुत को सम्बोधन करके ही कहा है।

सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र कहा गया है (विश्वामित्रसुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति—उ० अ० ६६।४)। चक्रदत्त में भी सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र कहा है

(अथ परमकारुणिको विश्वामित्रसुतः सुश्रुतः शल्यप्रधानमायुर्वेदतंत्रं प्रणेतुमारब्धवान्)। पर विश्वामित्र कौन हैं, इसका कुछ स्पष्टीकरण नहीं। रामायण के प्रसिद्ध विश्वामित्र का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं। सत्य हरिश्चन्द्र की कथा या त्रिशंकु की कथा से सम्बन्धित विश्वामित्र का भी इससे सम्बन्ध नहीं जुड़ता। महाभारत के अनुशासन पर्व के चौथे अध्याय में विश्वामित्र के पुत्रों में सुश्रुत का नाम आता है। भावप्रकाश में विश्वामित्र द्वारा अपने पुत्र सुश्रुत को आयुर्वेद पढ़ने के लिए काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि के पास भेजने का जो उल्लेख है, वह इसी उपलब्ध सुश्रुत के आधार पर हैं।

आग्नेय पुराण में (२७९-२९२) नर, अश्व और गायों से सम्बन्धित आयुर्वेद का ज्ञान भी सुश्रुत और धन्वन्तरि के बीच शिष्य-गुरु रूप में वर्णित है। एक प्रकार से धन्वन्तरि और सुश्रुत का नियत सम्बन्ध आयुर्वेदविषय में दीखता है। धन्वन्तरि के समान सुश्रुत नाम भी पुराना है। पं० हेमराजजी अपने प्रमाणों से इनको भी पाणिनि से पूर्व उपनिषत्कालीन मानते हैं; उनका सारा आधार सुश्रुत नाम ही है। साथ ही उनका कहना है कि सुश्रुत में बौद्ध विचार नहीं हैं। परन्तु ऐसी बात है नहीं; सुश्रुत में 'भिक्षु संघाटी' शब्द आता है (उ० अ० ३३।६६)। इसमें डल्हण ने भिक्षु का शाक्य भिक्षु ही अर्थ किया है, संघाटी भिक्षुओं की दोहरी चादर होती है, जिसे वे ऊपर से ओढ़ते हैं। इसलिए इसका समय बौद्धकाल के अनन्तर ही निश्चित होता है। साथ ही इसमें राम और कृष्ण का नाम आता है (चि० अ० ३०)। इससे भी स्पष्ट है कि जिस समय अवतार रूप में देवतापूजा प्रारम्भ हो गयी थी, उस समय इसका निर्माण हुआ है। केवल नाम से निर्णय करने पर सही निश्चय नहीं होता। इसलिए धन्वन्तरि दिवोदास का समय ही सुश्रुत का समय है, जो कि ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी सम्भावित है। शालिहोत्र में सुश्रुत धन्वन्तरि से न पूछकर शालिहोत्र से प्रश्न करता है[1]। यद्यपि शिष्य के लिए भी पुत्र शब्द मिलता है, परन्तु सुश्रुत-संहिता में शालिहोत्र का नाम तथा शालिहोत्र-कृत अश्ववैद्यक में धन्वन्तरि का नाम

---

१. शालिहोत्रमृषिश्रेष्ठं सुश्रुतः परिपृच्छति। एवं पृष्टस्तु पुत्रेण शालिहोत्रोऽभ्यभाषत ॥
शालिहोत्रमपृच्छन्त पुत्राः सुश्रुतसंगताः। व्याख्यातं शालिहोत्रेण पुत्राय परिपृच्छते ॥
—शालिहोत्र

शालिहोत्रेण गर्गेण सुश्रुतेन च भाषितम्। तत्त्वं यद् वाजिशास्त्रस्य तत्सर्वमिह संस्थितम्॥
सिद्धोपदेशसंग्रह

न होने से स्पष्ट है कि उक्त ग्रंथ में आये हुए नाम इतिहास की दृष्टि से महत्त्व नहीं रखते।

नागार्जुन---डल्हण का कथन है कि सुश्रुत का प्रतिसंस्कार हुआ है और प्रतिसंस्कर्त्ता नागार्जुन है। सुश्रुत की भाँति नागार्जुन बहुत प्राचीन तो नहीं, परन्तु नागार्जुन कई हुए हैं। इनमें सिद्धों के वर्ग में होनेवाले नागार्जुन का समय ईसा की ८वीं या ९वीं शताब्दी है। सुश्रुत में रस-विषय की चर्चा न होने से इस नागार्जुन के सुश्रुत-संस्कर्त्ता होने के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं मिलता। माध्यमिक वृत्ति के कर्त्ता तथा शून्यवाद के प्रवर्त्तक नागार्जुन दार्शनिक हैं; वह वैद्य नहीं थे। शातवाहन राजा के समकालीन एक महाविद्वान् बोधिसत्त्व नागार्जुन का उल्लेख हर्षचरित में है। अल्बेरूनी ने लिखा है कि उससे एक सौ वर्ष पूर्व एक रासायनिक नागार्जुन हो गया है (अल्बेरूनी का समय ईसा की ११वीं शती है)। च्युआन् शाङ ने एक नागार्जुन का उल्लेख किया है। कनिष्क के समय एक नागार्जुन हुआ है। इस प्रकार से नागार्जुन कई हैं।

कविराज गणनाथ सेन एवं पं० हेमराजजी की मान्यता है कि सिद्ध नागार्जुन सुश्रुत का प्रतिसंस्कर्त्ता है। परन्तु इस विषय में न तो कोई बलवान् प्रमाण है और न यही कि इसका प्रतिसंस्कार हुआ है, या नागार्जुन ने प्रतिसंस्कार किया है। सिद्ध नागार्जुन को प्रतिसंस्कर्त्ता मानने में आपत्ति यह है कि फिर सुश्रुत का समय गुप्तकाल और वाग्भट के बाद छठी शती के अनन्तर आता है; जो असम्भव है। आठवीं शती तक भाषा बहुत विकसित हो चुकी थी---इसका स्पष्ट उदाहरण वाग्भट के अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय की रचना है। भाषा की दृष्टि से सुश्रुत बहुत निर्बल है, इसमें कोई भी अंश इस दृष्टि से उदाहरण के रूप में नहीं रखा जा सकता।

इन सब बातों का एक साथ विचार करने पर सुश्रुत को दूसरी या तीसरी शताब्दी से बाद का नहीं कह सकते, और प्रतिसंस्करण हुआ है; इसको भी महत्त्व नहीं दे सकते। किसी भी अन्य व्याख्याकार ने नागार्जुन के द्वारा सुश्रुत का प्रतिसंस्कार होना नहीं लिखा; न इसके साथ चरकसंहिता की भाँति प्रतिसंस्कृत शब्द लगा हुआ है। यदि प्रतिसंस्कार का आग्रह रखा ही जाय, जिसे नागार्जुन ने किया है, तो हर्नले के मतानुसार माध्यमिक वृत्ति का कर्त्ता और दन्तकथा के अनुसार कनिष्क का समकालीन नागार्जुन ही प्रतिसंस्कर्त्ता हो सकता है। पर यह मान्यता भी क्लिष्ट होगी---क्योंकि इस अवस्था में सुश्रुत का समय और भी पूर्व ले जाना होगा, जिसके लिए विशेष खींचतान करनी होगी। क्योंकि सुश्रुत में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र के लिए भिन्न-भिन्न शय्या एवं गृहविचार (शा० अ० १०) मिलते हैं। अध्यापन विधि में भी

जातिवाद स्पष्ट है। ऐसे आधारों के सहारे इसे शुंगकाल के समीप लाना पड़ेगा। इसके विपरीत शातवाहनकालीन नागार्जुन, जो धातुवाद का विद्वान् था, उसको प्रतिसंस्कर्त्ता मानना अधिक उपयुक्त होगा। शातवाहन अनेक आन्ध्रवंशीय राजाओं के नाम हैं। इनके शासन का प्रारम्भ ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में होता है।

इनमें प्रसिद्ध राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी ने १३० ई० तक राज्य किया था। लगभग इसी समय नागार्जुन की स्थिति मानना ठीक है। उत्तर भारत में इस समय भारशिवों की प्रधानता थी, जो पूर्णतः ब्राह्मणवाद के समर्थक थे, इन्होंने कई अश्वमेध काशी में किये थे। ईसा की दूसरी शती में ही सुश्रुत का ठीक समय आता है। श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री की भी यही मान्यता है कि ईसा की दूसरी शती से चौथी शती के मध्यकाल में सुश्रुत का सम्पादन हुआ है (आयुर्वेद का इतिहास, पृष्ठ ८२)। इसका प्रतिसंस्कार हुआ है, और वह नागार्जुन ने किया है; इस विषय में चाहे जो मत हो; परन्तु उपलब्ध संहिता ईसा की दूसरी और चौथी शती के बीच की है; इसका साक्षी इसका अन्तःप्रमाण है। हर्षचरित में शातवाहन के साथ नागार्जुन की मित्रता का जो उल्लेख है, वह भी इसी समय के शातवाहन राजा के साथ ठीक बैठता है। इसलिए प्रतिसंस्कर्त्ता यही नागार्जुन हो सकता है। सब नागार्जुन बौद्ध थे, यह भी निश्चित नहीं; सम्भवतः शातवाहन का मित्र नागार्जुन ब्राह्मण एवं वैदिक मत का अनुयायी रहा हो; उसी ने भिक्षुसंघाटी शब्द का उल्लेख किया हो। यह श्लोक काश्यप संहिता में भी इसी रूप में आता है, इसलिए इसका समय इससे पूर्व नहीं हो सकता।

कश्यप

(काश्यप संहिता अथवा वृद्ध जीवकतंत्र)

काश्यप संहिता अथवा वृद्धजीवकतंत्र नामक एक ग्रन्थ नेपाल के राजगुरु पं० हेमराज ने सन् १९३८ में श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य के साथ सम्पादित कर प्रकाशित किया है। इसमें २४० पृष्ठ का एक विस्तृत उपोद्घात है, इसमें आयुर्वेद सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी देने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ का मुख्य विषय कौमारभृत्य है। इसकी परम्परा भी चरक-सुश्रुत की भाँति ब्रह्मा से प्रारम्भ होती है और इन्द्र तक एक ही रूप में आती है। इन्द्र से कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि और भृगु चार ने आयुर्वेद सीखा (पृ० ४२)। इस संहिता के कर्त्ता कश्यप हैं। कश्यप के विषय में जानकारी इसी संहिता के कल्प-अध्याय (पृ० १९०) में मिलती है, उसके अनुसार

"दक्ष यज्ञ का विध्वंस होने से देवता लोग भय के कारण इधर-उधर भागने लगे, उनके भागने से दैहिक और मानसिक सब रोग उत्पन्न हुए। यह अवस्था सतयुग और त्रेता के सन्धिकाल की है। तब लोगों की हितकामना से महर्षि कश्यप ने अपने ज्ञान-चक्षुओं से एवं पितामह की आज्ञा द्वारा इस तंत्र को बनाया। सबसे प्रथम इस तंत्र को ऋचीक के पुत्र, जीवक नामक एक बाल मुनि ने ग्रहण किया और इसे एक संक्षिप्त रचना में बदल दिया। परन्तु बालक का वचन होने से ऋषियों ने इसका आदर नहीं किया। इसी समय उसने ऋषियों के सामने कनखल में गंगा के अन्दर डुबकी लगायी और क्षण भर में बली-पलित युक्त वृद्ध रूप में प्रकट हुआ। अब ऋषियों ने बालक का नाम वृद्ध जीवक रखा और इसके ग्रन्थ का अनुमोदन किया। इसके बाद कालक्रम से लुप्त इस तंत्र को भाग्यवश अनायास नामक किसी यक्ष ने प्राप्त किया तथा लोककल्याण के लिए इसकी रक्षा की। इसके बाद जीवक के ही वंश में उत्पन्न, वेद-वेदाङ्गज्ञाता एवं शिव तथा कश्यप के भक्त वात्स्य नामक विद्वान् ने अनायास को प्रसन्न करके इस तंत्र को प्राप्त किया। धर्म और लोक-कल्याण के लिए उक्त विद्वान् ने अपनी बुद्धि से प्रतिसंस्कार करके इसे प्रकाशित किया। जो विषय इसके आठ स्थानों में नहीं आये, उनको खिल स्थान में लिखा गया है (प्राचीन संहिताओं में उत्तर तंत्र या खिल स्थान परिशिष्ट रूप में था, चरक में भी था परन्तु वह अब मिलता नहीं; अन्य संहिताओं में उपलब्ध है)"।

कश्यप—वैदिक समय से लेकर चरक संहिता तक कश्यप और काश्यप दोनों नाम सुने जाते हैं। चरक संहिता में कश्यप नाम दो स्थानों पर (सू० अ० १ तथा चि० अ० १।४ पाद) आता है; इन स्थानों में यह अन्य ऋषियों के साथ में है। इसके साथ 'मारिचिः कश्यपः' तथा 'मारिचिकाश्यपौ' यह दो पाठभेद भी मिलते हैं (सू० स्थान अ० १; सू० अ० १२, शा० अ० ६)। पं० गंगाधर ने सू० अ० १ में 'कश्यपो भृगुः' के स्थान पर 'काश्यपो भृगुः' पाठ स्वीकार करके कश्यप-गोत्रोत्पन्न भृगु अर्थ किया है। इस प्रकार भरद्वाज आदि ऋषियों की भाँति कश्यप शब्द ऋषि और गोत्र दोनों अर्थों में बहुत प्राचीन काल से मिलता है। महाभारत में तक्षक को वापिस करने की कथा में कश्यप का नाम सुनाई देता है। धर्मसूत्रों और शतपथ ब्राह्मण में गोत्र अर्थ में कश्यप शब्द मिलता है (हरति कश्यपः, शिल्पः कश्यपः, नैध्रुविः कश्यपः)।

उपलब्ध काश्यप संहिता के प्रारम्भ और अन्त में "इति ह स्माह भगवान् कश्यपः" यह वाक्य लिखा है। बीच बीच में 'इत्याह कश्यपः, इति कश्यपः, कश्यपोऽब्रवीत्'

इत्यादि शब्दों में कश्यप का उल्लेख है।[1] कश्यप भी आत्रेय पुनर्वसु की भाँति अग्नि-होत्र करने से वानप्रस्थ ज्ञात होते हैं (क० अ० लशुनकल्प)। कहीं कहीं पर मारीच नाम का भी उल्लेख है, इसलिए मारीच और कश्यप में अभेद प्रतीत होता है। मारीच और कश्यप सर्वत्र एक वचन में आये हैं।

चरक संहिता में मारीच और वार्योविद का एक साथ उल्लेख है (सू० अ० १२)। काश्यप संहिता में भी दोनों का एक काल लिखा है। चरकसंहिता में गर्भ के अंग निर्माण में कश्यप का जो मत दिया है, वह मत इस संहिता में नहीं मिलता (चरक में 'परोक्षत्वादचिन्त्यमिति मारिचिः कश्यपः'—शा० अ० ६।२१; काश्यप संहिता में—'सर्वेन्द्रियाणि गर्भस्य सर्वाङ्गावयवास्तथा। तृतीये मासि युगपद् निवर्त्तन्ते यथाक्रमम्'॥ शा० पृष्ठ ४६। पं० हेमराजजी ने अपने उपोद्घात में जो यह लिखा है कि काश्यप का मत है कि गर्भ के सब अंग एक साथ बनते हैं; वह मत निर्णयसागर की चरकसंहिता में धन्वन्तरि का है, सुश्रुत में भी यही मत है। टिप्पणी में उन्होंने इस पाठभेद का उल्लेख भी किया है)।

चरक संहिता और काश्यप संहिता के कुछ वचन अवश्य समान रूप में मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'गर्भ के आठवें मास में ओज अस्थिर रहता है, इससे कभी तो माता हर्षित रहती है, और कभी नहीं रहती। इन कारणों से गर्भ के आठवें मास की गणना नहीं की जाती'; इस बात का उल्लेख दोनों ग्रंथों में एक समान शब्दावली द्वारा किया गया है (का० सं० अ० ३; चरक० शा० अ० ४।२४)। चरक में सत्त्व, रज, तम के लिए कल्याणांश, रोषांश तथा मोहांश शब्द क्रम से प्रयुक्त हुए हैं (शा० अ० ४।३६); काश्यप संहिता में भी यही तीन शब्द सत्त्व, रज, तम के लिए आते हैं (काश्यप, शा० गर्भ० ४)।[2] अन्य समानताओं के लिए काश्यप संहिता का

---

१. उपास्यमानमृषिभिः कश्यपं वृद्धजीवकः। पृ० ३३.

ततो हितार्थं लोकानां कश्यपेन महर्षिणा। तपसा निर्मितं तन्त्रमृषयः प्रतिपेदिरे॥

कल्प.

कश्यपं लोककर्त्तारं भार्गवः परिपृच्छति। खिल. अ. ३

२. काश्यप संहिता की भाषा में प्राचीनता की झलक मिलती है, यह भाषा-शैली चरक और सुश्रुत से भिन्न है—

"अथो स प्रजापतिरैक्षत, ततः क्षुदजायत, सा क्षुत् प्रजापतिमेवाविविशे, सोऽग्लासीत्, तस्मात् क्षुधितो ग्लायतीति। स ओषधीः क्षुत्प्रतिघातमपश्यत्, स ओषधीरादत्, स

उपोद्घात (१२५-१२६ पृष्ठ) देखा जा सकता है। महाभारत में काश्यप नाम आता है (आस्तीक पर्व, अ० ४६)। डल्हण ने काश्यप की चर्चा की है। मधुकोष टीका में भी काश्यप का एक वचन उद्धृत है। तंजौर के पुस्तकालय में उमा-महेश्वरप्रश्न रूप में विरचित एक चिकित्सा विषयक छोटी-सी (संख्या १०७८०) काश्यप संहिता है। इसमें नाना वातरोग, ज्वर, ग्रहणी, अतिसार, अर्श के निदान और पाप आदि की शान्ति के लिए औषध, शिव की आराधना प्रभृति उपाय संक्षेप में बतलाये हैं। इसके पूर्वार्ध के अन्त में बालरोग का उल्लेख है।[१] यह संहिता न सुसंस्कृत है, और न प्राचीन है। बालरोग की चिकित्सा भी विस्तार से नहीं है।

अष्टांगहृदय और अष्टांगसंग्रह में काश्यप के नाम से एक दो ही योग मिलते हैं। इनमें एक योग के साथ वृद्ध विशेषण है और दूसरे में नहीं है ('विविधानामयानेतद् वृद्धकाश्यपनिर्मितम्'--संग्रह, उत्तर० अ० २; हृदय, उत्तर २।४३; 'दशाङ्गः कश्यपोदितः'--संग्रह, उत्तर० अ० ४३; हृदय० ३७।२८)। काश्यप संहिता के पृष्ठ १३३ पर जो दशांग धूप लिखी है वह इस दशांग धूप से भिन्न है। काश्यप संहिता में कथित अभयघृत के साथ (पृष्ठ ४) संग्रह और हृदय में कथित यही घृत पूर्णतः मिलता है (हृदय में उत्तर० अ० १।४२; संग्रह में उत्तर० अ० १ में)। इस प्रकार से काश्यप का सम्बन्ध आयुर्वेद के साथ स्पष्ट होता है।

नावनीतक में आत्रेय, क्षारपाणि, जातुकर्ण, पराशर, भेड़, हारीत और सुश्रुत के साथ काश्यप एवं जीवक का नाम आता है। इसी के चौदहवें अध्याय में कौमारभृत्य

ओषधीरुषित्वा क्षुधा व्यत्यमुच्यत। तस्मात् प्राणिन ओषधीरशित्वा क्षुधो व्यतिमुच्यन्ते।
(काश्यप. रेवती कल्प ३)

१. कैलासशिखरे रम्ये पार्वतीपरमेश्वरौ। अन्योन्यसुखलीलायामेकान्तसुखगोष्ठीषु॥
पार्वती पतिमालोक्य कृताञ्जलिरभाषत।
किं पापं किंविधं (ो)रोगं (:) किंविधं नरकं पथ (वद)॥
नानापापवर्णनान्ते--ऋग्वेदस्योपवेदाङ्गं काश्यपं रचितं पुरा।
लक्षग्रन्थं महातेजः अमेयं मम दीयताम्॥
प्रारम्भ में--काश्यपं ते महात्मानमादित्यसमतेजसम्।
अभिवाद्याभिसङ्क्रम्य गौतमः पर्यपृच्छत॥
त्वं हि वेदविदां श्रेष्ठो ज्ञानानां परमो निधिः।
प्रजापतेरात्मभवो भूतभव्यविदुत्तमः॥

चिकित्सा के लिए काश्यप और जीवक के नाम से जो योग दिये हैं वे वाग्भट के योगों के ही भावानुवाद हैं। परन्तु नावनीतक में वाग्भट का नाम नहीं है। नावनीतक की रचना तीसरी या चौथी शताब्दी की है। इसलिए इस समय तक यह संहिता बन चुकी होगी।

प्राचीन रावणतंत्र में भी काश्यप और वृद्ध काश्यप का नाम है। पं० हेमराजजी ने ज्वरसमुच्चय नामक ग्रंथ का उल्लेख इस प्रस्तावना में किया है। उनके कथनानुसार उक्त ग्रंथ की प्रति सातवीं या आठवीं शती की है और इसके बहुत से श्लोक काश्यप संहिता से मिलते हैं। इसलिए इसकी रचना और प्राचीन है। परन्तु काश्यप या कश्यप नाम से काश्यप के सम-सामयिक होना कठिन है। उपलब्ध संहिता वत्स के द्वारा संशोधित हुई है, इसलिए इसमें बौद्ध और जैन समय के शब्द भी मिलते हैं (यथा भिक्षुसंघाटी, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, कृतयुग में मनुष्यों के शरीर का सात रात्रि तक गर्भवास, बिना अस्थि के सिर; आदि बातें मिलती हैं)। इसलिए उपलब्ध ग्रन्थ चरक और सुश्रुत के पीछे बना है। इसका रेवतीकल्प इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, इसमें जातहारिणी का उल्लेख है। ग्रह-उपासना और उनके सम्बन्ध की षष्ठीपूजा इसको तीसरी चौथी शती से पूर्व की सिद्ध नहीं करती। ऐतरेय ब्राह्मण-वर्णित काश्यप के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ना, वह भी केवल नाम सम्बन्ध से, उचित नहीं लगता। नामों का झमेला इस देश के इतिहास को कठिनाई में डालता रहा है, विशेषतः जब हम देखते हैं कि ऋषियों के नाम से गोत्र भी प्रचलित हैं और गोत्र नाम से भी ऋषियों का उल्लेख मिलता है।

जीवक—जीवक का नाम और इनकी कथा महावग्ग में आती है, जिससे स्पष्ट है कि ये बिम्बीसार के समय हुए हैं। इन्होंने गौतम बुद्ध की चिकित्सा की थी। किंतु इन जीवक से प्रस्तुत प्रसंगवाले जीवक का कोई भी सम्बन्ध नहीं। क्योंकि इसके द्वारा बौद्धों के प्रति अरुचि रखने तथा अग्निहोत्र करने का उल्लेख है। रेवतीकल्प में जात-हारिणी सम्बन्धी जो विचार हैं, वे बुद्ध की शिक्षा के साथ मेल नहीं खाते, जब कि प्रथम जीवक बुद्ध के प्रति आदर भाव रखते देखे जाते हैं (जीवक ने प्रद्योत से प्राप्त उत्तम शिवी वस्त्रों का जोड़ा भगवान् बुद्ध को भेंट किया था)। बुद्ध के समय में भी उरुबिल्व ग्राम में तीन कश्यप रहते थे, जिनके हजारों शिष्य थे। इनमें से बड़े कश्यप को बुद्ध ने अपने धर्म में दीक्षित किया था। इसको देखकर राजा बिम्बीसार भी बौद्ध धर्म की ओर झुका; यह बात महावग्ग में लिखी है। यह कश्यप दार्शनिक थे, वैद्य नहीं।

जीवक के साथ 'कुमारभच्च' विशेषण केवल यह सूचित करता है कि इसका पालन कुमार—राजकुमार ने किया था। इसका अर्थ कौमारभृत्य में कुशल नहीं है, क्योंकि

तैत्तिरीयारण्यक, रामायण आदि में आता है। पीछे से यह शब्द बौद्ध भिक्षुओं में सीमित हो गया। इसलिए श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि शब्दों के आधार पर किसी को भी बौद्ध काल के पीछे का मानना ठीक नहीं।

पं० हेमराज काश्यप संहिता के अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसारी वाक्य, देवताओं के लिए होम और भिन्न-भिन्न देशों तथा इक्ष्वाकु, सुबाहु, सगर आदि राजाओं का वर्णन मिलने से इसे बहुत प्राचीन मानते हैं। इसमें यह विचारणीय है कि चरकसंहिता में दक्षिण देशों का उल्लेख नहीं है, सुश्रुत में श्रीपर्वत, पारिभद्र, सह्याद्रि का उल्लेख पर्वत प्रकरण में आता है। देशों की विस्तृत जानकारी सिवाय इस संहिता के आयुर्वेद के ग्रन्थों में इतने विस्तार से नहीं मिलती, न ही इतनी जातियों का उल्लेख एक साथ मिलता है। इसी से यह संहिता गुप्तकाल के आसपास की प्रतीत होती है।

पं० हेमराजजी ने "दीप्ताग्नयो घस्मराः स्नेहनित्याः" (पृ० २०); "क्षीरं सात्म्यं क्षीरमाहुः पवित्रम्" (भोजन कल्प) वाक्यों से इस संहिता को प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किंतु यह शब्दावली अन्य शब्दों की भाँति चरकसंहिता से ली गयी है ('दीप्ताग्नयः खराहाराः कर्मनित्या महोदराः'—सू. अ. २७।३४४ की छाया; 'क्षीरमाहुः पवित्रम्' यह 'क्षीरमुक्तं रसायनम्'—सू० २७।२१८ की छाया है)। जातिसूत्रीय, उपकल्पनीय आदि प्रकरणों का नामकरण भी चरकसंहिता के आधार पर मिलता है। कश्यप का 'ज्वलनार्कतुल्यम्' (पृ० १६८) विशेषण अग्निवेश के विशेषण 'अग्निवर्चसम्' का प्रतिबिम्ब है। सुश्रुत में भी चरकसंहिता के बहुत से स्थल उद्धृत हैं, इसलिए यदि काश्यप संहिता में ये वचन मिलते हैं, तो यह आश्चर्य नहीं। इनके आधार पर इस संहिता को प्राचीन सिद्ध करना उत्तम नहीं। खिल भाग के देश-सात्म्य-अध्याय में मगध के साथ महाराष्ट्र का भी उल्लेख है। मगध देश तो प्राचीन है, महाभारत में भी इसका उल्लेख है, परन्तु 'महाराष्ट्र' शब्द अर्वाचीन है। पं० हेमराजजी का यह कहना कि महाराष्ट्र की उत्पत्ति नन्दों एवं मौर्यों के समय हुई, ठीक नहीं। महाराष्ट्र शब्द की उत्पत्ति अधिक से अधिक तीसरी शती की मानी जा सकती है, इतिहास तो इसे और भी पीछे का मानता है। उसके अनुसार अन्धकार-युगीय भारतवर्ष में वाकाटक साम्राज्य के समय महाराष्ट्र का निर्माण हुआ है। इसलिए इस संहिता का समय इसी के आस-पास तीसरी या चौथी शताब्दी होना चाहिए। यही समय वात्स्य का है।

वात्स्य शब्द गोत्रवाचक है; वत्स-गोत्र में उत्पन्न वात्स्य। कामसूत्र का कर्ता वात्स्यायन भी इसी गोत्र से सम्बन्ध रखता है। इसमें भी महाराष्ट्र का उल्लेख है

(मध्यमान्युभयभाञ्जि माहाराष्ट्रिकाणामिति—नखक्षत)। कामसूत्र का रचना-काल चौथी से छठी शताब्दी माना जाता है। देशों से परिचय, विशेषतः दक्षिण देशों की जानकारी, निकट सम्बन्ध वाकाटक-युग में ही हुआ है। अशोक के समय दक्षिण देश से विशेष परिचय तथा इतने प्रान्त या राज्यों की भिन्न-भिन्न जानकारी उपलब्ध नहीं होती। इसलिए उपलब्ध काश्यप संहिता तीसरी या चौथी शताब्दी से पूर्व की नहीं हो सकती। वात्स्य नाम गोत्रपरक है, जिसका सम्बन्ध वैदिक प्रक्रिया के साथ था। अतः वात्स्य वैदिक कर्मकाण्ड को माननेवाला था, इसमें कोई आपत्ति नहीं।

काश्यप संहिता में लशुनकल्प, नावनीतक में लशुन-महिमा, संग्रह में लशुन-सेवन पर जोर देना, ब्राह्मणों द्वारा इसके न सेवन का कारण—ये सब बातें भी इस समय को सिद्ध करने में सहायक हैं। चरक में तिलतैल को सब तैलों में प्रशस्त माना है, इसी से उसका उपयोग मिलता है। परन्तु कटु तैल (सरसों के तैल) का उपयोग लशुन के साथ इसी ग्रन्थ में मिलता है। लशुन का संस्कार कटु तैल में दूसरे तैलों की अपेक्षा अधिक सुन्दर होता है, क्योंकि यह भी उष्ण तीक्ष्ण उग्र है। काश्यप संहिता में इसके उपयोग का विधान भी उसके उक्त समय निर्धारण का समर्थक है।

अन्य ऋषि एवं आचार्य

चरकसंहिता में आयुर्वेद विद्या से सम्बन्धित निम्न ऋषियों का उल्लेख है—

सूत्रस्थान अ० २५—	सूत्रस्थान अ० २६—	सिद्धिस्थान अ० ११—
काशिपति वामक	आत्रेय	भृगु
मौद्गल्य	भद्रकाप्य	कौशिक
शरलोमा	शाकुन्तेय ब्राह्मण	काप्य
हिरण्याक्ष कुशिक	पूर्णाक्ष मौद्गल्य	शौनक
कौशिक (शौनक)	हिरण्याक्ष कौशिक	पुलस्त्य
भद्रकाप्य	कुमारशिरा भरद्वाज	असित
भरद्वाज (कुमारशिरा)	वार्योविद राजर्षि	गौतम
कांकायन	निमि वैदेह	वामक
भिक्षु आत्रेय	वडिश धामार्गव	वडिश
	कांकायन बाह्लीक भिषक्	भद्र शौनक

चि० अ० १।४—	शा० अ० ६—	सूत्र० अ० १२—
भृगु	कुमारशिरा भरद्वाज	कुश सांकृत्यायन
अंगिरा	कांकायन बाह्लीक भिषक्	कुमारशिरा भरद्वाज
अत्रि	भद्रकाप्य	कांकायन बाह्लीक
वसिष्ठ	भद्रशौनक	वड़िश धामार्गव
कश्यप	वडिश	वार्योविद राजर्षि
अगस्त्य	जनक वैदेह	मरीचि
पुलस्त्य	मारीचि कश्यप	काप्य
वामदेव	धन्वन्तरि	पुनर्वसु आत्रेय
असित		
गौतम आदि		

इन स्थानों के सिवाय मैत्रेय (सू. अ. १०) तथा भरद्वाज (शा. अ. ३) का नाम आता है। प्रथम अध्याय में हिमालय के पास एकत्र होनेवाले ऋषियों की एक बड़ी सूची दी है (सू.अ. १।८-१३)। इसमें से कुछ ऋषियों का उल्लेख संहिता में आगे आता है, बहुतों का नहीं आता।

सुश्रुतसंहिता में ऋषियों का नाम एक स्थान पर ही मिलता है; उत्तर तंत्र में 'विदेहाधिप' (अ. १।५) नाम है। इसका सम्बन्ध जनक से है या अन्य से, इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं। शारीरस्थान में गर्भरचना प्रसंग में ये नाम मिलते हैं—शौनक, कृतवीर्य, पाराशर्य, मार्कण्डेय, सुभूतिगौतम और धन्वन्तरि। चरकसंहिता में इस सम्बन्ध में जो मत प्रदर्शित हैं, उनमें शौनक और धन्वन्तरि का मत समान है, परन्तु भद्रशौनक और शौनक के मत में अन्तर है। चरकसंहिता में भद्रशौनक का कहना है कि "गर्भ का प्रथम निर्माण पक्वाशय गुदा से होता है; क्योंकि आहार का यही स्थान है (शा.अ. ६।२१)।" सुश्रुत में शौनक का कहना है कि "गर्भ का प्रथम सिर बनता है; क्योंकि यही सब इन्द्रियों में मुख्य है (शा. अ. ३।३२)।" चरक में यह मत कुमारशिरा भरद्वाज के नाम से लिखा है। धन्वन्तरि का मत दोनों संहिताओं में एक समान है, धन्वन्तरि के मत को आत्रेय ने भी स्वीकार किया है। इसलिए शौनक और भद्रशौनक दोनों को भिन्न मानना उचित है। जिस प्रकार आत्रेय और भिक्षु आत्रेय में भेद करने के लिए भिक्षु विशेषण है, उसी प्रकार शौनक और भद्र शौनक में भेद बताने के लिए भद्र विशेषण है। चरक में भद्र शौनक और शौनक नाम एक ही प्रकरण में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भी आये हैं (सि. अ. ११।५—और ९)।

काश्यप संहिता में भी कुछ नाम आये हैं, परन्तु यह प्रकरण त्रुटित होने से पूरी जानकारी नहीं। इसमें कौत्स, पाराशर्य, वृद्ध काश्यप, वैदेह जनक, वार्योविद और वात्स्य का नाम आता है (पृष्ठ ११६, वमन-विरेचनीय सिद्धि)। कुकूण चिकित्सा में (पृष्ठ २९३--श्लोक ८५) वार्योविद का नाम है; वहाँ पर महीपाय, महानृषि; विशेषण दिये हैं। इससे स्पष्ट है कि वार्योविद राजर्षि था, जिसका उल्लेख चरकसंहिता में मिलता है।

काश्यप संहिता में काश्यप के लिए मारीच शब्द भी आता है (मारीचमासीनमृषि पुराणम्---पृष्ठ १६८)। चरक संहिता में मारीचि और मारिचि कश्यप दोनों शब्द मिलते हैं। शब्दों की दृष्टि से ये दोनों एक प्रतीत होते हैं। परन्तु सूत्रस्थान में "मारीचकाश्यपौ" (अ. १।१२) यह पाठ मिलने से ये दो व्यक्ति प्रतीत होते हैं। इसी स्थान पर 'कश्यपो भृगुः'---इस पाठ में गंगाधर कविराज 'काश्यपो भृगुः' पाठ बदलकर कश्यप गोत्रोत्पन्न भृगु अर्थ मानते हैं, दूसरे लोग कश्यप और भृगु दो व्यक्ति मानते हैं।

काश्यप संहिता में भृगु का कश्यप से पूछना भी लिखा है (पृष्ठ १९२, खिल स्थान १।३)। भृगु से ही भार्गव शब्द बनता है, जो कि च्यवन के लिए आता है (भार्गव-श्च्यवनः कामी---चरक, चि. अ. १।४।४४)। इसलिए भृगु को कश्यपगोत्रोत्पन्न मानने की अपेक्षा दोनों को अलग मानना ही ठीक है; दोनों ऋषियों के नाम से पृथक् गोत्र चले हैं। कश्यप और भार्गव गोत्र आज भी मिलते हैं। ये नाम प्रारम्भ में ऋषियों के थे, परन्तु पीछे से गोत्र या शाखा-चरण रूप में प्रचलित होने लग गये। इस प्रकार की शाखा या चरण पृथक्-पृथक् परिषद् कहलाते थे, इसलिए इनके मत को परिषद् शब्द से प्रकट किया जाता था (यथा---अर्वागपि यदाहारविशेषादारोग्याच्च पूर्णो भवत इति परिषत्---काश्यप, पृष्ठ ५३; बृहदारण्यक में पाञ्चालों की परिषद् का उल्लेख मिलता है)। व्याकरण का विषय, पाणिनि ग्रन्थ का क्षेत्र किसी विशेष परिषद् तक सीमित नहीं था, इसी लिए इसको पतंजलि ने "सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्" (भा. २।१।५८) कहा है।

भिन्न-भिन्न चरणों की परिषदों में आयुर्वेद का भी विकास हुआ। इन भिन्न-भिन्न परिषदों के व्यक्तियों के साथ मिलकर जो वार्त्ता आयुर्वेद के सिद्धान्त या विषय के निर्णयार्थ हुई उसका उल्लेख चरक संहिता में मिलता है। इस प्रकार की गोष्ठी के लिए परिषद् शब्द चरक में आता है (परिषत्तु खलु द्विविधा---वि. अ. ८।२०)। इस परंपरा से एक ही ऋषि का नाम हमको भिन्न-भिन्न समय में सुनाई देता है। इस दृष्टि से समय का निर्धारण करने में नामों की उलझन मिट जाती है और चरक, सुश्रुत, काश्यप संहिताओं में मिलनेवाले नामों की संगति बैठ जाती है। इसका उदाहरण धन्वन्तरि नाम है, जो कि एक सम्प्रदाय या परिषद् को स्पष्ट करता है, जिसमें शल्य

अंग का विशेष अध्ययन किया जाता था। आत्रेय की जिस शाखा या चरण में आयुर्वेद का अध्ययन होता था, और जो घूम-घूमकर लोककल्याण करते थे,वे 'चरक' कहलाते थे (इसी से बृहदारण्यक में चरका बहुवचन आया है, क्षेमेन्द्र ने 'चरकश्चरकं न जनाति' लिखा है)। यही बात अन्य ऋषियों के सम्बन्ध में है। सुश्रुतसंहिता में गर्भनिर्माण के विषय में जो दूसरे मत प्रचलित थे, इनमें शौनक शाखा का जो मत उस समय था, उसको सुश्रुतमें दिखाया है। चरक में दिया हुआ शौनक का मत सम्भवतः भद्र शौनक का होगा। रामायण, बृहदारण्यक आदि में आये हुए जनकवैदेह नाम को चरक-संहिता में देखकर इसको उस समय की मानना उचित नहीं लगता। वैदेह शब्द एक तरफ जनक के लिए प्रचलित है, दूसरी ओर चरक संहिता में निमि के लिए भी आता है। काश्यप संहितामें 'वैदेहो निमिः' और सुश्रुत में 'विदेहाधिप' शब्द आता है। इन सबसे रामायण केजनक का ग्रहण करना उचित नहीं। यही बात पराशर के सम्बन्ध में है।

श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने आयुर्वेदसंहिताओं तथा उनकी टीकाओं से भिन्न भिन्न ऋषियों के बहुत से वचन अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ इन्डियन मैडिसिन' में उद्धृत किये हैं। इसके आधार पर इन सब ऋषियों की परम्परा श्री सूरमचन्द्रजी ने अपने 'आयुर्वेद का इतिहास' में जोड़ने का यत्न किया। पर उनकी जो दौड़ है, उसके साथ इतिहास नहीं चलता। मेरी मान्यता यही है कि ऋषियों के नाम से ये संहिताएँ दूसरों ने लिखीं, अथवा इनका सम्बन्ध उक्त चरण या शाखाओं से है। इसके अनुसार शालाक्य तंत्र का सम्बन्ध जनक विदेह, निमि कराल के साथ जो मिलता है, वह इसी शाखा या चरण को सूचित करता है, न कि शिष्य-परम्परा या पुत्र-परम्परा को। इसी से नेत्ररोगों के संख्या-कथन में अन्तर मिलता है; चरक संहिता में नेत्ररोग ९६ (चि. अ. २६।१३०) कहे हैं; सुश्रुत में नेत्ररोग ७६ (उत्तर-कल्प १।४३)। यह भेद शाखा-चरण भेद से ही है। इसी भेद से एक ही शाखा में भिन्न भिन्न विषयों के ग्रन्थ मिलते हैं, वे ग्रन्थ मूल ऋषि के नहीं अपितु उस शाखा के अन्तर्गत कई ऋषियों द्वारा बने हैं; ऐसा मानना ही उनकी संगति का समीचीन रास्ता है।

संहिताओं में पूर्वापर क्रम

आयुर्वेदसंहिताओं के अध्यायों में परस्पर समानता मिलती है। मनुष्य की आयु ज्योतिष के अनुसार एक सौ बीस वर्ष पाँच दिन मानी जाती है, यही आयु हाथियों की है ('समाः षष्टिर्द्विघ्ना मनुजकरिणां पंच च निशाः'--बृहत्संहिता)। इसी दृष्टि से आयुर्वेदसंहिताओं की अध्यायसंख्या भी १२० है, शेष विषयों के वर्णनार्थ उत्तर तन्त्र या खिलस्थान (प्रकरण) बनाये गये हैं।

स्थान	काश्यप०	चरक०	भेल०	सुश्रुत०	अष्टांग हृ०
सूत्रस्थान अध्याय	३०	३०	३०	४६	३०
निदानस्थान ,,	८	८	८	१६	१६
विमानस्थान ,,	८	८	८	—	—
शारीरस्थान ,,	८	८	८	१०	६
इन्द्रियस्थान ,,	१२	१२	१२	—	—
चिकित्सास्थान,,	३०	३०	३०	४०	२२
सिद्धिस्थान ,,	१२	१२	९(१२)	—	—
कल्प स्थान ,,	१२	१२	८(१२–१)	८	६
	१२०	१२०	१२०	१२०	८०
खिल या उत्तर तंत्र	८०	—	—	६६	४०
					१२०

चरकसंहिता में उत्तर तंत्र होने का उल्लेख मिलता है (तस्मादेताः प्रवक्ष्यन्ते विस्तरेणोत्तरे पुनः—सि. अ. १२।५०)। संग्रह में अध्यायों की संख्या कुछ अधिक है, इसमें एक सौ पचास अध्याय हैं (सू. अ. १।६६)।

उक्त अध्याय-समानता के अतिरिक्त काश्यप संहिता, भेल संहिता और चरक संहिता में अध्यायों के नामों में भी समानता मिलती है, यथा—

अध्याय नाम

चरक संहिता	भेल संहिता
नवेगान्धारणीय (न वेगान्धारयेद्धीरः)	न वेगान् धारयेद् धीमान्
मात्राशितीय (मात्राशी स्यात् आहार मात्र.)	मात्राशी स्यात्
आत्रेयभद्रकाप्यीय (आत्रेयो भद्रकाप्यश्च)	आत्रेयः खण्डकाप्यश्च
यस्यश्यावनिमित्तीयः (यस्य श्यावे परिध्वस्ते)	यस्य श्यावे उभे नेत्रे
अवाक्शिरसीयः (अवाक्शिरा वा जिह्वा वा)	अवाक्शिरा जिह्वा वा
थोड़े से भेद के साथ—	
व्याधितरूपीयम् (द्वौ पुरुषौ व्याधितरूपौ भवतः)	गुरुर्व्याधिनरः कश्चित्
शरीरविचयः (शरीरविचयशरीरोपकारार्थम्)	इह खल्वोजस्तेजः
शरीरसंख्या (शरीरसंख्यामवयवशः)	इह खलु शरीरे षट् त्वचः
पूर्वरूपीयम् (पूर्वरूपाण्यसाध्यानां)	अन्तर्लोहितकायस्तु
गोमयचूर्णीयम् (यस्य गोमयचूर्णाभं)	यस्य शिरसि यस्यैव

चरक संहिता	काश्यप संहिता
१३वां स्नेहाध्याय	२२वां स्नेहाध्याय
१४वां स्वेदाध्याय	२३वां स्वेदाध्याय
१५वां उपकल्पनीय	२४वां उपकल्पनीय
१६वां चिकित्सा प्रभृतीय	२५वां वेदनाध्याय
१७वां कियन्तः शिरसीय	२६वां चिकित्सा सम्पादनीय
१८वां त्रिशोथाध्याय	२७वां रोगाध्याय
१९वां अष्टोदरीय	
२०वां महारोगाध्याय	
२१वां अष्टौनिन्दित	

इस समानता के अतिरिक्त चरकसंहिता के वचन काश्यप संहिता, सुश्रुतसंहिता और भेलसंहिता में पूर्णतः मिलते हैं। इस समानता के लिए इनका पूर्वापर क्रम यहाँ पर उपस्थित किया गया है। प्रायः इस क्रम को श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री ने अपने 'आयुर्वेद के इतिहास' में भी माना है।

उपलब्ध आयुर्वेदसंहिताओं में सबसे प्रथम (दृढ़बल के भाग को छोड़कर) अग्नि-वेशसंहिता का निर्माण हुआ। इसके आसपास भेलसंहिता बनी, उसके अनन्तर सुश्रुतसंहिता की रचना हुई। फिर दृढ़बल ने चरकसंहिता को पूर्ण किया। इसके बाद वाग्भट ने संग्रह और हृदय बनाये। काश्यप संहिता की रचना को सुश्रुत के बाद और दृढ़बल द्वारा समावेशित भाग से पूर्व रख सकते हैं। क्योंकि काश्यप संहिता और चरकसंहिता के जिन वचनों में समानता मिलती है, वे उक्त भाग से पूर्व के हैं। ये सब रचनाएँ ईसवीय प्रथम शताब्दी के आस-पास प्रारम्भ होकर पांचवी-छठी शती तक पूर्ण हो गयी थीं।

श्री दुर्गाशंकर शास्त्री की मान्यता है कि प्रथम दृढ़बल के प्रतिसंस्कार द्वारा समावेशित भाग से रहित चरकसंहिता बनी, इसके बाद उत्तर-स्थान से रहित सुश्रुतसंहिता, तदनन्तर उसके उत्तरस्थान और भेलसंहिता की रचना हुई। इसके पश्चात् नावनीतक बना और अन्त में दृढ़बल ने चरकसंहिता पूर्ण की। दृढ़बल का समय ४०० ईसवी के आसपास है। इस प्रकार से देखने पर भेलसंहिता का प्रतिसंस्कार होना नहीं पाया जाता; परन्तु हरिप्रपन्नजी इसका भी प्रतिसंस्कार मानते हैं।

श्री यादवजी त्रिकमजी ने निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित मूल सुश्रुत के उपोद्घात में स्पष्ट किया है कि सुश्रुत का उत्तर तंत्र भी इसके आरम्भिक भागों के साथ ही बना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो वचन उद्धृत किया है, वह यह है—

"एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः।
केचित् प्राहुर्नैककल्पप्रकारं नैवेत्येवं काशिराजस्त्ववोचत्॥
उत्तर. अ. ४०।८

'काशिराजस्त्ववोचत्'—यह वाक्य इसे उसी सुश्रुत का भाग बताता है। इसलिए उत्तर-तंत्र सहित सुश्रुतसंहिता एक समय में बनी है।

दृढ़बल से समावेशित चरकसंहिता के भाग में और सुश्रुतसंहिता के वचनों में जो समानता है, उसमें यह सम्भावना है कि ये वचन दृढ़बल ने सुश्रुत से लिये होंगे। इनमें अधिक वचन उत्तर तंत्र के हैं, यथा—

चरक—आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यते चापि नासा।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुः जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन॥
चि. अ. २६।११४

मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च।
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक्॥ चि. अ. ३०

सुश्रुत—आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते शुष्यति चापि नासा।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुः जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन॥
उत्तर. अ. २२।६

मिथ्याचारेण याः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च।
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक्॥ उत्तर. अ. ३८।५.

चरकसंहिता में ये विषय ग्रन्थ के पूर्ण करने के लिए दृढ़बल को अन्य स्थानों से लेने पड़े, जैसा कि उसने स्वयं कहा है—"बहुत से तंत्रों में से शिलोञ्छ वृत्ति द्वारा वचनों को लेकर यह ग्रन्थ पूरा किया गया है" (सि. अ. १२।३९)। शिल वृत्ति में—अनाज की पूरी बाल उठायी जाती है। उञ्छ वृत्ति में—भूमि पर गिरा हुआ अनाज का एक एक दाना चुना जाता है। इस प्रकार से उसने कहीं तो सम्पूर्ण पद या श्लोक उद्धृत किया और कहीं पर वाक्यांश उद्धृत किया; यह स्पष्ट है। सुश्रुत में भी चरक के वचन उद्धृत हुए हैं; यह बात दोनों की भाषाभिन्नता से स्पष्ट है, यथा—

चरक में—"यान्यनुचिन्त्यमानानि विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः किं पुनरल्पबुद्धेः"—सू. अ. १५।५।

सुश्रुत में—"अन्ये विशेषाः सहस्रशो ये विचिन्त्यमाना विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धि-माकुलीकुर्युः किं पुनरल्पबुद्धेः"—सू. अ. ४।५ ।

सुश्रुत संहिता में इस प्रकार का पदलालित्य अन्य स्थान पर नहीं दीखता, इससे स्पष्ट है कि यह प्रवाह चरक से ही सुश्रुत में आया है ।

भेल संहिता का समय चरक–अग्निवेश के समकक्ष ही है, इसका पता दोनों की अत्यधिक शब्दसमानता से चलता है, यथा—

"एतच्छेषं शल्यहृता कर्त्तव्यं दृष्टकर्मणा"—भेल. चि. २९

"इदन्तु शल्यहर्तृणां कर्म स्याद् दृष्टकर्मणा"—चरक. चि. १३।१८२

इस प्रकार के दूसरे उदाहरण भी हैं, जिनसे दोनों का एक ही समय निश्चित होता है । भेलसंहिता का प्रचार अधिक नहीं था, यह बात वाग्भट के श्लोक से स्पष्ट है ।[1] इसी से सम्भवतः इसका प्रतिसंस्कार नहीं हुआ और आज जो भेलसंहिता उपलब्ध है, वह त्रुटित है । यदि इसका प्रचार होता तो इसका प्रतिसंस्कार भी किया जाता एवं इसके वचन भी संग्रह, हृदय या अन्य ग्रन्थों में मिलते । संग्रह में पराशर, हारीत, सुश्रुत के वचन उद्धृत हैं परन्तु भेल का कोई वचन नहीं है । इससे स्पष्ट है कि दीर्घकाल तक इसका पठन नहीं होता था ।

इस प्रकार आयुर्वेदसंहिताओं की अन्तिम सीमा ईसा की पाँचवीं शती ठहरती है । हरिश्चन्द्र आदि द्वारा टीका रचना का प्रारम्भ पाँचवीं शती में हुआ है । इसी के आस-पास संग्रहरूप में अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय जैसे ग्रन्थ बनने लगे ।

यह सम्भव है कि संहिताओं का कोई संक्षिप्त मूल ईसा से पाँचवीं-छठी शती पूर्व में अन्य रूप में होगा, सम्भवतः सूत्ररूप में हो, जैसा चि चरक के वचनों से स्पष्ट है ।[2] यह समय ब्राह्मण-रचना का है, शतपथ आदि ब्राह्मण इसी समय बने हैं । इनके अनु-शीलन से यह स्पष्ट है कि इस समय तक समस्त संहिताओं का संकलन हो चुका था । विंटरनित्ज की मान्यता है कि अथर्ववेद संहिता तथा यज्ञ-अनुष्ठानवाली संहिताओं का

---

१. ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम् ॥

हृदय, उ. अ. ४०।४८

२. सूत्रमनुक्रामन् पुनःपुनरावर्तयेत्—वि. अ. ८।७;
ऋषींश्च सूत्रकारानभिमन्त्रयमाणः—वि. अ. ८।११;
बहुविधाः सूत्रकृतामृषीणां सन्ति—शा. अ. ६।२१

संकलन इसी ब्राह्मण-साहित्य के समय हुआ है। इस दृष्टि से आयुर्वेद-साहित्य भी सूत्ररूप में इस समय बन चुका था। फलस्वरूप बुद्ध के समय योग्य चिकित्सक जीवक को हम देखते हैं, जिसने तक्षशिला में जाकर आयुर्वेद का अध्ययन सात वर्ष में किया था। इसलिए उस समय तक आयुर्वेद का पूर्ण विकास होना स्वीकार करना ही होगा। यह विकास सूत्ररूप में हुआ होगा जिसका उपदेश आत्रेय ने अग्निवेश आदि छः शिष्यों को तथा धन्वन्तरि दिवोदास ने सुश्रुत आदि को दिया। 'प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम्'—सुश्रुत का यह वचन इस बात को पुष्ट करता है कि उपदेश पुनः दिया गया है। चरक संहिता में भी भरद्वाज के बाद आयुर्वेदपरम्परा त्रुटित दीखती है। वाग्भट ने इस टूटी परम्परा को जोड़ने के लिए आत्रेय का सीधा सम्बन्ध इन्द्र से जोड़ दिया है, उसने भरद्वाज का इस सम्बन्ध में नाम नहीं लिया (वा. सू. अ. १)। सम्भव है कि जो परम्परा ब्रह्मा से चलकर भरद्वाज तक आयी थी, वह बीच में विशृंखलित हो गयी। उसी को पीछे अत्रिपुत्र ने प्रचलित किया। भरद्वाज से आत्रेय ने पढ़ा; यह कहीं पर भी चरक संहिता में नहीं लिखा। इससे बीच में खंडित परम्परा नये रूप में आगे चलती प्रतीत होती है। यह नयी परम्परा ईसा की सातवीं शती या इससे कुछ पूर्व प्रारम्भ होती है। इससे पूर्व काल की सूत्ररचना जो कि ब्राह्मणयुगीन थी, वह आजकल नहीं मिलती। उपलब्ध संहिता में से इस प्राचीन भाग को पृथक् करना सरल नहीं। क्योंकि सैकड़ों वर्षों तक प्रतिसंस्कार-शोधन आदि होने से वह मूल रूप अब लुप्त हो गया है।

चरक-सुश्रुत ग्रन्थों में प्रशस्त नक्षत्र, करण, मुहूर्त्त, तिथि, योग इन पंचांगों का उल्लेख मिलता है, परन्तु वार-दिनों के नाम नहीं मिलते हैं। परन्तु शंकर बालकृष्ण दीक्षित के भारतीय ज्योतिषशास्त्र (पृष्ठ १३९) में वारों के नामों का उल्लेख शक संवत् से एक हजार वर्ष पूर्व भारत में प्रचलित होने का उल्लेख है। इस दृष्टि से चरक संहिता का काल बहुत प्राचीन (३००० वर्ष) आता है, परन्तु श्री यादवजी त्रिकमजी स्वतः इस समय को स्वीकार नहीं करते (आयुर्वेद का इतिहास—श्री दुर्गाशंकर शास्त्री, पृष्ठ ८८)। संग्रह में भी वारों का उल्लेख नहीं है। दीक्षितजी की गणना का विषय सर्वमान्य भी नहीं है। इसलिए पुष्ट प्रमाणों के आधार पर उपर्युक्त निर्णय ही समीचीन है।

गौ, अश्व और हाथी का आयुर्वेद

इस देश में गौ और अश्व का महत्त्व वैदिक काल से चला आ रहा है। बैलों और घोड़ों का उपयोग खेती तथा वाहन में होता था, इसी से हम पढ़ते हैं—"दोग्ध्री

धेनुर्वोढानड्वानाशुःसप्तिजयिताम्"---यजुः। हाथी का उल्लेख भी ऋग्वेद में है (८।२।६)। सिन्धु घाटी में जिन पशुओं की मूर्त्तियाँ मिली हैं, उनमें हाथी, वराह, सिंह और गौ की भी मूर्त्तियाँ हैं (हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ ३३)।

हाथी का उपयोग राजा की सवारी में होता था। पीछे से घोड़े और हाथी का उपयोग सेनाकार्य में होने लगा। कौटिल्य-अर्थशास्त्र में गो-अध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष और हस्त्यध्यक्ष के कार्यों की विस्तृत चर्चा है, इनकी चिकित्सा तथा चिकित्सकों के कर्त्तव्य की भी जानकारी दी गयी है।[1]

इस ऐतिहासिक स्थिति में मनुष्यों के चिकित्सा-शास्त्र की भाँति पशु और वृक्षों तक की चिकित्सा का भी विकास हुआ। अश्ववैद्यक और गजवैद्यक के ऊपर जो साहित्य मिलता है, उसका मूल प्राचीन भाग भी आयुर्वेद के मूलग्रन्थ बनने के बाद तैयार हुआ है।[2] उसका विवरण इस प्रकार है---

अश्ववैद्यक---इस सम्बन्ध का ग्रन्थ हयघोष के पुत्र शालिहोत्र ने बनाया था जो अपूर्ण रूप में मिलता है। इसका सुश्रुत के प्रति उपदेश किया गया है। इसके आठ स्थानों में अष्टांग अश्ववैद्यक का वर्णन है। परन्तु जो ग्रन्थ मिलता है, उसमें प्रथम स्थान खण्डित है।[3]

इस ग्रन्थ का या अश्ववैद्यक सम्बन्धी किसी अन्य संस्कृत ग्रन्थ का 'कुब्रुत उलमुल्क' नाम से ईसवी १३८१ में फारसी में भाषान्तर हुआ है। ऐसी ही किसी पुस्तक का अनुवाद अरबी भाषा में शाहजहाँ के समय 'किताब उल वैतर्त्त' नाम से हुआ है। इसके जैसा ही एक अंग्रेजी भाषान्तर ईसवी १७८८ में कलकत्ता में छपा है। तिब्बती भाषा में भी ऐसे किसी ग्रन्थ का अनुवाद हुआ है।

शालिहोत्रीय अश्वशास्त्र नाम का संस्कृत ग्रन्थ मद्रास के राजकीय पुस्तकालय में है। गण-रचित अश्वायुर्वेद की हस्तलिखित प्रति का उल्लेख नेपाल के सूचीपत्र में

---

१. बालवृद्धव्याधितानां गोपालकाः प्रतिकुर्युः। कौटिल्य २।२९।१८

अश्वानां चिकित्सकाः शरीरह्रासवृद्धिप्रतीकारमृतुविभक्तं चाहारम्।

कौटिल्य २।३०।४९.

तेन खरोष्ट्रमहिषमजाविकं च व्याख्यातम्। कौटिल्य २।३०।५३-५५

२. हस्तिषु पाकलो गोषु खेरिको मत्स्यानामिन्द्रजालो विहंगानां भ्रामरकः।

---चक्रपाणि

३. श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री कृत आयुर्वेद के इतिहास के आधार पर

है। वर्धमान की योगमंजरी, दीपंकर का अश्ववैद्यकशास्त्र, भोज का १३८ श्लोकात्मक शालिहोत्र भी प्रसिद्ध है। कल्हण विरचित शालिहोत्रसमुच्चय की हस्तलिखित प्रति भी मिली है। जयदत्त के बनाये अश्ववैद्यक की प्रस्तावना में कविराज उमेशचन्द्र दत्त ने हयलीलावती ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अग्निपुराण में भी अश्ववैद्यक सम्बन्धी प्रकरण मिलता है।

इस विषय के दो ग्रन्थ बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी की ओर से प्रकाशित हुए हैं, जिनमें एक जयदत्त सूरि कृत अश्ववैद्यक है और दूसरा नलकृत अश्वचिकित्सा। महाभारत में नकुल ने विराट् को अपना परिचय देते हुए अश्वरक्षा म तथा सहदेव ने गायों के विषय में विशेष जानकार बताया था।[1] इसलिए नकुल के नाम से अश्वचिकित्सा ग्रन्थ किसी ने बनाया है।

अश्वचिकित्सा का प्रारम्भ सम्भवतः हस्तिचिकित्सा के साथ ईसा से तीसरी या चौथी शताब्दी पूर्व हुआ होगा। चरकसंहिता में पशुओं के लिए वस्तिविधान का वर्णन है (चरक. सि. अ. ११।१९)।

शालिहोत्र के समय-निर्धारण पर पंचतंत्र के उल्लेख से भी प्रकाश पड़ता है। घोड़े के दाह के ऊपर बन्दर की चरबी लगाने का उपदेश उसमें शालिहोत्र के नाम से आया है (५।७५)। इस समय इस विषय के जो दो ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें विजयदत्त के पुत्र महासामन्त जयदत्त सूरि कृत अश्ववैद्यक की हस्तलिखित प्रति १२२४ ईसवी की मिली है। इसमें अफीम का उपयोग है, इससे यह ग्रन्थ तेरहवीं शती का हो सकता है।

---

१. ग्रन्थिको नाम नाम्नाहं कर्मैतत् सुप्रियं मम।
कुशलोऽस्म्यश्वशिक्षायां तथैवाश्वचिकित्सिते॥
गोसंख्याता भविष्यामि विराटस्य महीपतेः।
प्रतिषेद्धा च दोग्धा च संख्याने कुशलो गवाम्॥
अरोगा बहुलाः पुष्टाः क्षीरवत्यो बहुप्रजाः।
निष्पन्नसत्त्वाः सुभृता व्यपेतज्वरकिल्विषाः॥
क्षिप्रं च गावो बहुला भवन्ति न तासु रोगो भवतीह कश्चन।
तैस्तैरुपायैर्विदितं ममैतदेतानि शिल्पानि मयि स्थितानि॥
अश्वानां प्रकृतिं वेद्मि विनयं चापि सर्वशः।
दुष्टानां प्रतिपत्तिं च कृत्स्नं चैव चिकित्सितम्॥
म. भा., विराट पर्व, अ. ३,१० १२

जयदत्त के अश्ववैद्यक में ६८ अध्याय हैं, नकुलकृत अश्वचिकित्सा में १८ अध्याय हैं। नकुल ने कहा है कि शालिहोत्रीय शास्त्र देखकर ग्रन्थ लिखा गया है, जयदत्त ने भी शालिहोत्र का उल्लेख किया है।

परन्तु जयदत्त ने नकुल का उल्लेख नहीं किया है। शार्ङ्गधरपद्धति में जयदेव के नाम से अश्ववैद्यक सम्बन्धी कुछ श्लोक हैं। इस जयदेव को गीतगोविन्द काव्य का रचयिता (१२वीं शती) मानने पर उक्त ग्रन्थ बारहवीं शती का सिद्ध होता है; यदि वह न हो तो जयदत्त सूरि का समय तेरहवीं शती के आस-पास संभव होता है। नकुल का ग्रन्थ भी इससे बहुत प्राचीन सिद्ध नहीं होता। यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं।

जयदत्त सूरि के ग्रन्थ में घोड़ों की पूर्ण चिकित्सा है। इसमें सामान्य पद्धति से निदान-चिकित्सा का उल्लेख है। औषधियाँ आयुर्वेदोक्त हैं, घोड़ों की जाति, वय, पहचान, खुराक, घोड़ों को होनेवाला श्वास रोग इसमें वर्णित हैं।

पालकाप्य का हस्त्यायुर्वेद—हस्त्यायुर्वेद के रचयिता पालकाप्य मुनि के सम्बन्ध में यह दन्तकथा प्रचलित है कि राजा दशरथ के समकालीन, अंगदेश-चम्पा (भागलपुर से २४ मील दूर) के राजा लोमपाद ने पालकाप्य मुनि को हाथी वश में करने की विद्या सीखने के लिए बुलाया था। पालकाप्य मुनि को हथिनी का पुत्र कहा गया है।

हस्त्यायुर्वेद एक विस्तृत ग्रन्थ है, पूना की आनन्दाश्रम सीरीज़ में छपा है। इस में हाथियों के लक्षण, रोग और चिकित्सा, हाथियों के वर्ण, पकड़ने की विद्या तथा पालने आदि का वर्णन है।

हस्त्यायुर्वेद में चार विभाग या स्थान हैं—१. महारोग स्थान, २. क्षुद्र रोग स्थान, ३. शल्य स्थान (इसमें हाथियों की शस्त्रचिकित्सा है, इसी में गर्भावक्रान्ति, शस्त्र, यंत्रों का वर्णन है), ४. उत्तर स्थान। इन चारों में १६० अध्याय और लगभग १८२ रोगों का वर्णन है।

'हस्त्यायुर्वेद' का समय निश्चित करने का कोई साधन नहीं, परन्तु इतना निश्चित है कि हाथियों के पालने का उल्लेख महाभारत में आता है। ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी के राजदूत मैगस्थनीज़ को भारत में हाथियों के पालने की जानकारी थी। इसके साथ उसे यह भी पता था कि हाथियों के आँख के रोग पर दूध का उपयोग तथा दूसरे रोग एवं व्रणों पर गरम पानी, कुत्ते का मांस, आसव और घी का उपयोग औषध रूप में किया जाता है। इसलिए हाथियों की चिकित्सा ईसा से चौथी शती पूर्व में प्रचलित थी। कौटिल्य ने भी

हस्तिचिकित्सकों का उल्लेख किया है। अशोक के शिलालेखों से भी स्पष्ट है कि उसने अपने राज्य में तथा पड़ौसी राज्यों में पशुचिकित्सा का प्रबन्ध किया था। ईसा से तीसरी शती पूर्व पशुचिकित्सा प्रचलित होने का यह प्रबल प्रमाण है।

ईसा की चौथी शताब्दी में सीलोन के राजा बुधदास ने अपनी सेना में मनुष्यों की चिकित्सा की भाँति हाथी और घोड़ों की चिकित्सा के लिए भी चिकित्सक रखे थे।

हस्त्यायुर्वेद की समग्र रचना चरक-सुश्रुत के अनुसार है, इसलिए इन संहिताओं के पूर्ण होने के पश्चात् दृढ़बल के पहले या पीछे यह ग्रन्थ बनना चाहिए।[1] अलबेरूनी ने हाथियों के वैद्यक सम्बन्धी किसी ग्रन्थ का उदाहरण दिया है। इसलिए जब तक दूसरे प्रमाण न मिलें तब तक ११वीं शती से पहले और अधिकतः चौथी या पाँचवीं शती तक हस्त्यायुर्वेद बन चुका था, यह मानने में कोई दोष नहीं। इसमें हाथियों के विशेष रोग (मदरोग आदि) का वर्णन और चिकित्सा भी लिखी है।

हस्त्यायुर्वेद के उपरान्त मातंगलीला नामक एक ग्रन्थ हाथियों की चिकित्सा से सम्बन्धित नारायण-विरचित है। यह त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज़ में छपा है। इसके कर्त्ता ने भी पालकाप्य मुनि को ही हस्त्यायुर्वेद का आदि आचार्य माना है। ग्रन्थ भाषादृष्टि से आधुनिक प्रतीत होता है।

अश्ववैद्यक और गजवैद्यक की भाँति गौओं की चिकित्सा सम्बन्धी कोई पुस्तक पृथक् नहीं मिलती। परन्तु १४वीं शती की शार्ङ्गधरपद्धति में बकरी, गाय आदि की चिकित्सा संक्षेप में लिखी है।

---

१. चरकसंहिता में हाथियों की चिकित्सा में वस्ति-विधान लिखा है—

"कलिङ्गकुष्ठे मधुकं च पिप्पली वचा शताह्वा मदनं रसाञ्जनम्।
हितानि सर्वेषु गुडः ससैन्धवो द्विपंचमूलं च विशल्यका त्रिवृत्॥
गजेऽधिकाऽश्वत्थवटाश्वकर्णकाः सखादिरप्रग्रहशालतालजाः।
तथा च पर्ण्यौ यवशिग्रुपाटलीमधूकसाराः सनिकुम्भचित्रकाः॥
पलाशभूतीकसुराह्वरोहिणीकषाय उक्तस्त्वधिको गवां हितः।
पलाशवन्तीसुरदारुकतृणध्वजस्य उक्तास्तुरगस्य चाधिकाः॥

सि. अ. ११।२३-२५

वृक्षायुर्वेद—भारतीय संस्कृति में वृक्षों को भी सचेतन माना है[1], इसलिए इनकी भी चिकित्सा की जाती है। शार्ङ्गधर पद्धति में वृक्षायुर्वेद अथवा उपवन-विनोद नाम का २३६ श्लोकों का एक प्रकरण मिलता है।[2] इस विषय में यह प्रकरण देखने योग्य है। इसके सिवाय राघव भट्ट का वृक्षायुर्वेद नामक पृथक् ग्रन्थ भी मिलता है।[3]

तिर्यग्योनि चिकित्सा—इसका उल्लेख यशोधर ने किया है। इसमें पशु-चिकित्सा भी वर्णित है।

---

१. तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥ मनु. १।४९

२. श्री गिरिजाप्रसन्न मजूमदार ने उपवनविनोद—वनस्पति सम्बन्धी पुस्तक लिखी है, यह कलकत्ते से प्रकाशित है।

३. आयुर्वेद का इतिहास—श्री दुर्गाशंकर शास्त्री लिखित के आधार पर

पन्द्रहवाँ अध्याय

आयुर्वेद का अध्ययन-अध्यापन

अध्ययन-अध्यापन क्रम के अन्तर्गत यास्क ने दो प्रकार की विद्या का उल्लेख किया है—एक जानपदीय विद्या और दूसरी भूयसी विद्या। उपनिषद् में इनको परा और अपरा नाम से कहा है।[1]

इनमें परा विद्या का सम्बन्ध ब्रह्मज्ञान से था और अपरा का जानपदीय विद्या से, जिसको बुद्धकाल में शिल्प कहा गया है। तक्षशिला में इन्हीं शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी (जातक, भाग ५ पृ० ३४७)। कुरु-पंचाल उस समय परा विद्या का केन्द्र होगा, ऐसा उपनिषद् से ज्ञात होता है। छान्दोग्य में पञ्चालों की समिति का उल्लेख है ("श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय"—५।३।१)। उपनिषदों के अध्ययन से पता चलता है कि एक गुरु के पास बहुत से छात्र रहते थे; ये छात्र उसी से सब विद्या पढ़ते थे। उस समय जो विद्याएँ पढ़ायी जाती थीं, उनका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में आया है; उसमें देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, तृण-वनस्पति, श्वापद, कीट, पतंग, पिपीलक—इनका ज्ञान भी कराया जाता था; इस ज्ञान का उसमें विज्ञान नाम दिया गया है।[2]

---

१. "जानपदीषु विद्यातः पुरुषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।" "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा–ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।" (मुण्डक ५)

२. विज्ञानं वाव ध्यानाद् भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथ्वीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवांश्च मनुष्यांश्च पशूंश्च वयांसि च तृणवनस्पतीन् श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति॥ छांदोग्य. ७।७।१

ज्ञान का उद्देश्य और आदर्श——प्राचीन काल में शिक्षा का उद्देश्य ईश्वरभक्ति, धर्मविश्वास, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, सामाजिक कर्त्तव्यों का निर्माण था। शिक्षा केवल पुस्तकों से ही सम्बन्धित नहीं थी; उसका ज्ञान क्रिया रूप में आवश्यक था। इसके लिए कहा जाता था कि जो मनुष्य केवल शास्त्र घोखता है; उसके अनुसार कार्य नहीं करता, वह मूर्ख है।[1] चरक संहिता के कथनानुसार शिष्य का उपनयन करके आचार्य जो शिक्षा देता था, उससे उस समय की शिक्षा का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है।

आयुर्वेदिक शिक्षा का उद्देश्य भी कर्त्तव्य की शिक्षा देना है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में यही पूर्णतः स्थान-स्थान पर वैद्य को याद कराया गया है कि उसका धर्म रोगी की सेवा करना है; उससे धन कमाना नहीं। रोगी को अपने पुत्र के समान समझना चाहिए, उसके प्रति लोभ-वृत्ति नहीं रखनी चाहिए (चरक. सूत्र. अ. १; चरक. चि. अ. १।४)। ज्ञान प्राप्त करने में सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। वैद्य की चार वृत्तियाँ बतलायी हैं; मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा (चरक. सू. अ. ९), यही योगदर्शन में भी कही हैं; इन वृत्तियों में रहकर उसे रोगियों के साथ बरतना चाहिए। वैद्य को सम्पूर्ण औषधियों का ज्ञाता होना चाहिए।[2] शास्त्र ज्योतिरूप हैं, बुद्धि आँख है; इन दोनों के अनुसार ठीक प्रकार से कार्य करने पर वैद्य गलती नहीं करता। इसी से कहा है कि इसके ज्ञान में अतिशय प्रयत्न करना चाहिए। रोग के कारण, लक्षण, रोग की शान्ति और उसका फिर से न होना, इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, सब क्रियाओं का स्वतः अनुभव करना चाहिए (चरक. सू. अ. ९।६-१८-१९-२१)। चरक में मानसिक पवित्रता के ऊपर बहुत जोर दिया है; अपनी शरण में आगत दुःखी रोगी के पास से विद्वान् का वेश धारण करनेवाला वैद्य किसी प्रकार का पैसा न ले; पैसा लेने

---

१. शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान्पुरुषः स एव।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां न नाममात्रेण करोत्यरोगम्॥

सु. र. भा. पृ. ४०।२१

२. यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषक् रक्षोहामीवचातनः॥ ऋ. १०।९७।६; इस मंत्र की तुलना कीजिए—"योगविस्त्वप्यरूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते। किं पुनर्यो विजानीयादौषधीः सर्वथा भिषक्॥ योगमासां तु यो विद्याद्देशकालोपपादितम्। पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तमः॥ चरक. सू. अ. १।१२३-१२३

की अपेक्षा सांप का विष या उबाला तांबा पी लेना अधिक उत्तम है (चरक. सू. अ. १।१३२–१३३)।

वैद्य को रुपया नहीं कमाना चाहिए, यह चरक का आशय नहीं; अपितु धन प्राप्ति के लिए ही इस विद्या को नहीं बरतना चाहिए। वैद्य के लिए अर्थप्राप्ति रोगी की इच्छा पर छोड़ी गयी है।[1]

वैद्य सब रोगियों को अपने पुत्रों की भाँति समझे। केवल धर्म प्राप्ति के लिए, रोगों से बचाने के लिए, धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए आयुर्वेद को साधन समझना चाहिए। इसी से चरक में आयुर्वेद का उपदेश 'सर्वभूतानुकम्पा' से और सुश्रुत में 'प्रजाहितकामना' से किया गया है। अतएव प्राणियों पर दया करने के भाव से जो वैद्य इसका उपयोग करता है वह सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक है। जो चिकित्सा को बाजारू वस्तु बनाकर बेचता है, वह सोने के टुकड़े के स्थान पर रेत की ढेरी प्राप्त करता है। दारुण रोगों से पीड़ित, यमराज के राज्य में जाते हुए रोगियों को यमपाशों से जो छुड़ाता है, उसके लिए और दूसरा कौन सा धर्म करना बाकी रहा? जीवन दान से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं, भूतदया ही सबसे बड़ा धर्म है; यह जानकर चिकित्सा करनी चाहिए, इसी से आत्यन्तिक सुख या मोक्ष मिलता है (च.चि.अ.१।४।५६-६२)।

आयुर्वेद विद्या के अधिकारी—चरक के अनुसार आयुर्वेद पढ़ने का सबको अधिकार है (सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वे—सू. अ. ३०।२९)। काश्यप संहिता में भी चारों वर्णों के लिए आयुर्वेद अध्ययन कहा है (केन चाध्येय इति, ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यशूद्रैरायुर्वेदोऽध्येयः—शिष्योपक्रमणीय)। सुश्रुत में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों को अध्ययन करने का अधिकारी कहा है। शूद्र को भी मन्त्रभाग छोड़कर आयुर्वेद पढ़ना चाहिए—यह एकपक्षीय सिद्धान्त के रूप में लिखा है (सू. अ. २)। इसमें ब्राह्मण का मुख्य उद्देश्य प्राणियों के कल्याण का, क्षत्रियों का अपनी रक्षा का और वैश्यों का वृत्ति-जीविकोपार्जन होना चाहिए। काश्यप संहिता के अनुसार शूद्रों को शुश्रूषा के लिए इस विद्या को सीखना चाहिए।

जाति परिवर्तन—आयुर्वेद पढ़ने से ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं, उस समय पाठक में

---

१. चिकित्सितस्तु संश्रुत्य यो वाऽसंश्रुत्य मानवः। नोपाकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः॥ चरक. चि. अ. १।४।५५; या पुनरीश्वराणां वसुमतां च सकाशात् सुखोपाहारनिमित्ता भवत्यर्थावाप्तिरारक्षणं च. या च स्वपरिगृहीतानां प्राणिनामातुर्यादारक्षा, सोऽस्यार्थः—सू. अ. ३०।२९)।

आयुर्वेद का अध्ययन-अध्यापन ५११

ब्राह्म या आर्ष सत्त्व (मन) उत्पन्न होता है, इसलिए उसे द्विज कहते हैं। जन्म से कोई वैद्य नहीं होता; विद्या समाप्ति पर यह वैद्य की दूसरी जाति बनती है। ज्ञान हो जाने पर उसका कर्त्तव्य है कि वह किसी से भी द्वेष न करे, न किसी की निन्दा करे और न किसी का अहित करे (चरक. चि. अ. १।४।५२-५४)।

शिक्षाकाल में शिष्य को तन-मन से ब्रह्मचर्य का पालन करना होता था। अध्ययन समाप्ति के उपरान्त गुरु की आज्ञा से ही विवाह कराया जाता था। विद्याध्ययन कष्ट-साध्य है, उसके लिए तप-साधना आवश्यक होती है।

अध्ययन-विधि—शिष्य स्वस्थ होने पर प्रातःकाल में उठे, कुछ रात्रि शेष रहते हुए शय्या छोड़ दे, आवश्यक कार्य करके स्नान करे, देवता-गौ-ब्राह्मण-गुरु-वृद्ध-सिद्धों को नमस्कार करके समान पवित्र स्थान पर सुभीते के अनुसार बैठकर और मन लगाकर वाणी से सूत्रों को दोहराये। इस प्रकार बार-बार करे; बुद्धि से सूत्र के तत्त्व को समझने का प्रयत्न करे, जिससे अपनी त्रुटि दूर हो जाय और दूसरों की अशुद्धियाँ पकड़ में आ सकें। इस प्रकार मध्याह्न, अपराह्‌ण और रात्रि में भी निरन्तर अपने पाठ का अभ्यास करना चाहिए (चरक. वि. अ. ८।७)। आयुर्वेद उन्हीं को पढ़ना चाहिए जिनके पास समय हो, जो इसमें पूरा समय लगा सकते हों। इसलिए शिष्य का ब्रह्मचारी होना आवश्यक है।

शिष्य के गुण—आचार्य का कर्त्तव्य है कि अध्ययनार्थी शिष्य की पहले परीक्षा कर ले। शिष्य में निम्न गुण होने पर ही उसे विद्या देनी चाहिए—

शान्त एवं आर्य प्रकृति, नीच या बुरे कामों से अरुचि, मुख और नासावंश सीधे, जिह्वा पतली, लाल और निर्मल (जिससे शुद्ध उच्चारण हो), दाँत और ओठ ठीक हों, आवाज तुतलाती या नासिकावाली न हो। वह धीर, अहंकार रहित, मेधावी, वितर्क बुद्धि से युक्त, उदारचेता और वैद्यक विद्या को जाननेवालों के कुल में उत्पन्न हुआ हो, तत्त्व समझने में मन लगाने की प्रवृत्ति हो, अंगों में कोई विकार न हो, कोई इन्द्रिय विकृत न हो, विनीत, उद्धत वेश को न धारण करनेवाला, क्रोध रहित, व्यसन से दूर, शील-शौच-आचार में प्रेम रखनेवाला हो, कर्मठ, आलस्यरहित, चतुर-समझदार-विवेकी, अध्ययन में रुचि रखनेवाला, सब प्राणियों के प्रति हित बुद्धि रखनेवाला हो, आचार्य की सब आज्ञाओं को माननेवाला, आचार्य में प्रेम रखने-वाला; ऐसा शिष्य पढ़ाने योग्य होता है।[1]

---

१. अथ शिष्यगुणाः—क्षान्तिर्दाक्ष्यं दाक्षिण्यमानुकूल्यं शौचं कुले जन्म धर्मसत्या-

आचार्य के गुण---जिसने विधिपूर्वक शास्त्र का अभ्यास गुरु से किया हो (श्रुतेः पर्यवदातत्व), कर्माभ्यास देखा हुआ (परिदृष्टकर्मा), सरलबुद्धि, चतुर, पवित्र, हस्तकौशल में निपुण (जितहस्त), साधनसम्पन्न, सब इन्द्रियों से युक्त, प्रकृति को समझनेवाला, प्रतिभाशाली, शास्त्रान्तर ज्ञान से विद्या को माँजे हुए, अहंकार रहित, निन्दा या ईर्ष्या से शून्य, क्रोध रहित, क्लेश-श्रम को सहनेवाला, शिष्यों से प्रेम रखनेवाला, पढ़ाने में योग्य---समझा सके; ऐसा आचार्य उत्तम है।[1]

शास्त्र की परीक्षा---बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि अपने कार्य में गुरु-लघु का विचार करके, कार्य-के फल, परिणाम तथा उसके भावी विचार को समझकर, देश और समय का विचार करके यदि वैद्य बनने का निश्चय हो, तब सबसे पहले शास्त्र की जाँच करे। लोक में वैद्यों के बहुत से ग्रन्थ प्रचलित हैं, इनमें से जो आयुर्वेद ग्रन्थ सुमहान्, यशस्वी-धीर पुरुषों से सम्मानित, अर्थबहुल, आप्त-विद्वानों से सेवित, तीव्र, मध्यम और मन्द तीनों प्रकार के शिष्यों की समझ में आ सके, पुनरुक्ति-दोष रहित, सूत्र-भाष्य-संग्रह (उपसंहार) क्रम से ठीक बना हो, अपने ही मौलिक आधार पर बना हो (जिसके लिए दूसरे ग्रन्थ देखने की जरूरत न हो), जिसमें शब्द छूटे हुए न हों, सरल-सीधी भाषा हो, जिसमें क्रमपूर्वक अर्थतत्त्व का निश्चय हुआ हो, प्रकरण---विषय विभाग स्पष्ट हो, पढ़ने से जल्दी समझ में आ जाय, जिसमें लक्षण और उदाहरण स्पष्ट हों; ऐसा शास्त्र चुनना चाहिए। इस प्रकार का शास्त्र सूर्य की भाँति अज्ञान को दूर करके सब विद्या को ठीक-ठीक प्रकाशित कर देता है।

उपनयन---इस विधि का अर्थ इतना ही है कि शिष्य गुरु के द्वारा अध्ययनार्थ स्वीकृत कर लिया जाता है। शिष्य का यह संस्कार प्राचीन काल में तुरन्त नहीं होता था। शिष्य को कुछ समय तक आचार्यकुल में रहना होता था, इस समय उसकी संज्ञा 'माणवक' होती थी, माणव सम्भवतः 'मानव' का ही रूप है। उसे दण्ड-माणव कहते थे; सम्भवतः आचार्य के गोधन की देखभाल, चराने का काम इस समय उसे

हिंसासामकल्याणज्ञानविज्ञानस्थितिविनिवेशः पाटवं यथोक्तकारित्वं ब्रह्मचर्यमनुत्सेको लोभेर्ष्याविवर्जनमिति। अतोऽन्यथा दोषैः स वर्ज्यः॥

१. अथ गुरुः---धर्मज्ञानविज्ञानोहापोहप्रतिपत्तिकुशलो गुणसंपन्नः सौम्यदर्शनः शुचिः शिष्यहितदर्शी चोपदेष्टा च भिषक्शास्त्रव्याख्याकुशलस्तीर्थागतज्ञानविज्ञानः कल्योऽनन्यकर्माऽव्यावृत्तः शिष्यगुणान्वितश्च। अतोऽन्यथा दोषैर्वर्ज्यः॥ (काश्यप संहिता---वि. शिष्योपक्रमणीय)

करना होता था। इसी समय गुरु उसके स्वभाव से परिचित हो जाता था। शिष्य को जब वह योग्य समझता था, तब उसका उपनयन होता था। अब उसकी संज्ञा 'अन्तेवासी' होनी थी। इस समय उसे गुरु के पास ही रहना होता था, उसकी आज्ञा को पूर्णतः पालन करना होता था, बिना उसकी जानकारी के कोई कार्य वह नहीं कर सकता था, जो कुछ भी भिक्षा या वस्तु लाता था, उसे पहले गुरु की सेवा में उपस्थित करता था, एक प्रकार से वह गुरु-अधीन होता था (चरक. वि. अ. ८।१३)। इसके पीछे विद्या समाप्त होने पर उसका समावर्त्तन होता था। इसके बाद भी जो निरन्तर विद्याभ्यास करने के लिए देश देशान्तरों में जाते थे, विशेष ज्ञान के लिए घूमते थे, उनकी संज्ञा चरक होती थी।[1]

इसी से अत्रिपुत्र ने कहा है कि आयुर्वेद ज्ञान का कोई छोर नहीं; बिना प्रमाद किये निरन्तर इसमें जुटे रहना चाहिए। इसके लिए स्वभाव में सज्जनता लाकर, बिना निन्दा या ईर्ष्या के दूसरों से भी इसको सीखना चाहिए। बुद्धिमान् व्यक्ति का सम्पूर्ण संसार गुरु होता है और मूर्ख का शत्रु। इसलिए बुद्धिमान् का यह धर्म है कि अपने शत्रुओं के भी मंगलकारी, यशस्वी, आयुष्य, पौष्टिक, लौकिक वचन को स्वीकार करे, और उसके अनुसार कार्य करे। इस समय शिष्य को जिन शब्दों में आचार्य अनुशासन–शिक्षा देता है; यही शब्द–अनुशासन आयुर्वेदचिकित्सा में व्यवहार करने योग्य सार है। उसे अपने जीवन में जिस प्रकार से दुनिया में बरतना है, उसकी यही शिक्षा होती है।[2] इस अनुशासन के समय शिष्य आचार्य के आदेशानुसार अग्नि को साक्षी मानकर प्रतिज्ञा करता है।[3]

उपनयनविधि वैदिक प्रक्रिया है, जिसमें प्रशस्त मुहूर्त्त में शिष्य सिर घुटवाकर उपवास रखता है, फिर स्नान करके काषाय वस्त्र धारण कर हाथों में सुगन्ध, समिधा,

---

१. पुनर्वसु आत्रेय इसी प्रकार के आचार्य थे—जो बराबर विचरण करके ज्ञान उपार्जन करते थे और जनता का मंगल-कल्याण करते थे; 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' के आधार पर।

२. तैत्तिरीयोपनिषद् में भी आचार्य शिष्य को समावर्त्तन के समय उपदेश देता है—वह उपदेश लगभग इसी प्रकार का है (११वाँ अनुवाक)। इसमें आचार्य कहता है—"यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥ ११।२

३. मत्प्रियहितेषु वर्त्तितव्यम् अतोऽन्यथा ते वर्त्तमानस्याधर्मो भवति अफला च विद्या, न च प्राकाम्यं प्राप्नोति। सु. सू. अ. २।७

अग्नि, घी तथा पूजा की अन्य सामग्री, दान-दक्षिणा साथ लेकर गुरु की सेवा में उपस्थित होता है। आचार्य यज्ञविधि से उसको दीक्षा प्रदान करता है। इसमें होम के साथ आयुर्वेद के उपदेष्टा ऋषियों के नाम से आहुतियाँ भी दी जाती हैं। हवन के पीछे परिक्रमा तथा वैद्यों की पूजा होती है। इस विधि के बाद ब्राह्मणों, वैद्यों और अग्नि के सामने गुरु शिष्य को अनुशासित करता है—व्यवहार की शिक्षा, कर्त्तव्यों का ज्ञान करता है। चरकसंहिता का यह उपदेश जीवन में दीपज्योति के समान महत्त्वपूर्ण है; इस ज्ञान की तुलना में उपनिषद् का ज्ञान ही ठहर सकता है। वैद्यों के व्यवहार की सब बातें इसमें कही हैं, वैद्य को आत्मप्रशंसा से सदा दूर रहना चाहिए, ज्ञानवान् होने पर भी अपने ज्ञान की दुहाई देते नहीं फिरना चाहिए (ज्ञानवतापि च नात्यर्थमात्मनो ज्ञाने विकत्थितव्यम्, आप्तादपि हि विकत्थमानादत्यर्थमुद्विजन्त्यनेके। वि. अ. ८।१३)।

छुट्टियाँ—विद्या-अध्ययन कुछ अवस्थाओं में बन्द भी रहता था, यथा—बिना ऋतु के जब बिजली चमकती हो, दिशाओं में आग लग रही हो, पास में आग लगी हो, भूकम्प होने पर, कोई बड़ा उत्सव (शरद् पूर्णिमा आदि) हो, उल्कापात होने पर, सूर्य चन्द्र ग्रहण होने पर, अमावास्या को विद्या का पाठ नहीं होता था। इसके अतिरिक्त सन्ध्याकाल में तथा बिना गुरु से पढ़े नहीं पढ़ा जाता था। अक्षर छोड़ते हुए, बहुत जल्दी, चिल्ला चिल्लाकर, बिना स्वर के पदों को उलटकर, रुक रुककर, मरी हुई आवाज से या बहुत धीमी आवाज से भी पढ़ने का नियम नहीं था। सुश्रुत में कृष्ण पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पंचदशी (अमावस), शुल्क पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा ये दिन भी विद्याध्ययन के लिए निषिद्ध हैं (सु.सू.अ. २।९)।

शिक्षा के स्थान—शिक्षा के उपयुक्त गुरुकुल जंगल में होते थे या नगर में; इस विषय की कोई जानकारी आयुर्वेदसंहिताओं में नहीं मिलती। इतना स्पष्ट है कि चरकसंहिता में ग्राम्यवास की अपेक्षा अरण्यवास को अधिक पसन्द किया और स्वास्थ्य के लिए उत्तम बताया है। शालीन (अचल) और यायावर (चल) ऋषियों ने जब अपने को दैनिक कार्यों में भी असमर्थ पाया तब उनको अनुभव हुआ कि यह दोष ग्राम्य वास का ही है। इन्द्र ने भी उनको समझाया कि ग्रामों में रहना अप्रशस्त व्यवहार का कारण है (ग्राम्यो हि वासो मूलमशस्तानाम्-चि. अ. १।४।४)। इसलिए शिक्षा का स्थान ग्राम से दूर शान्त-सुन्दर स्थान में होना होगा। चरकसंहिता में तो पुनर्वसु आत्रेय को सदा घूम घूमकर विद्या देते पाते हैं। सुश्रुत के उपदेष्टा धन्वन्तरि दिवोदास काशिराज होने से एक ही स्थान पर रहते थे। परन्तु चरक-

संहिता की अध्यापन विधि से अनुमान होता है कि यह अध्ययन एक स्थान पर रहकर नियमित रूप में किया जाता था। वनस्पति-ज्ञान के लिए जंगल पास में होता था। औषध ज्ञान के लिए गौ-बकरी चरानेवालों की सहायता ली जाती थी।

शुल्क---शिक्षा के लिए उस समय गुरुकुल-प्रणाली ही थी, जिसमें शिष्य को गुरु के पास ही रहना होता था। इससे उस पर आचार्य के चरित्र का प्रभाव पड़ता था, उसका गुरु से सतत संपर्क बना रहता था। गुरुकुल के इस जीवन की उपमा माता के गर्भवास से दी गयी है (आचार्यः उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः—अथर्व)। एक गुरु के पास बहुत शिष्य रहते थे। गुरु का बहुत कुछ चित्र ऊपर के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है। गुरु भी शिष्य के प्रति अपना उत्तर-दायित्व समझता था, इसी से वह भी प्रतिज्ञा करता था कि यदि तेरे ठीक प्रकार से बरतने पर भी मैं दोषदर्शी बनूं तो मेरी विद्या निष्फल हो जाय (अहं वा त्वयि सम्यग्वर्तमाने यद्यन्यथादर्शी स्यामेनोभाग्भवेयमफलविद्यश्च—सु. सू. अ. २।७)। गुरु का जीवन सरल और त्यागपूर्ण होता था। विद्या दान त्याग के रूप में था, इसमें उदात्त भावना थी। वैदिक काल में वह शिष्य से किसी प्रकार का शुल्क धन-रूप में नहीं लेता था। तक्षशिला के अध्यापन समय में इसमें परिवर्त्तन हुआ, परन्तु इसका रूप सुरक्षित रहा। वहाँ भी जो विद्यार्थी शुल्क नहीं दे सकते थे वे दिन में गुरु के घर सेवा कार्य करके विद्याध्ययन करते थे। यह शायद इसलिए था कि तक्षशिला में बड़ी आयु के छात्र विद्याध्ययन के लिए जाते थे। छोटी आयु के छात्र गुरु के यहाँ माणव रूप में सेवा कर चुके होते थे। गुरु के पास विद्या पढ़ने के लिए आनेवाले छात्रों का प्रवाह सतत बना रहता था, जिससे उनकी सेवा अविच्छिन्न रूप में चालू रहती थी। इसलिए शिक्षा की कोई फीस उस समय नहीं थी। गुरु या आचार्य का सम्बन्ध शिष्य के साथ पिता-पुत्र का होता था। गुरु शिष्य के चरित्र पर निरन्तर ध्यान रखता था; उसे किनसे मिलना चाहिए, कहाँ बैठना चाहिए, इसका उपदेश वह देता था। (चरक. वि. अ. ८; काश्यप. वि. शिष्योपक्रमणीय)

गुरु की आय का साधन क्या था, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, सम्भवतः धनी सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा ही इनका पोषण होता था (चरक. सू. अ. ३०।२९)। ये लोग आरोग्य सुख मिलने के बदले में या अन्य रूप से जो दान दक्षिणा देते थे उससे इनका व्यवहार चलता था। इतना होने पर भी उस समय के चिकित्सालय सम्पूर्ण साज-सज्जा से युक्त होते थे; यह बात चरक के उपकल्पनीय अध्याय से स्पष्ट है (सू. अ. १५।७)। उनका अपना जीवन शान्त होने पर भी वासस्थान सब

आवश्यक वस्तुओं से पूर्ण होता था। इसी से कहा गया है कि गुरु के पास शिक्षा के सब उपकरण-साधन होने चाहिए।

मनुष्य में प्राणैषणा के पीछे धन की चाह होनी चाहिए, जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं के बिना जिन्दगी व्यतीत करना सबसे बड़ा पाप है। इसलिए जीवन के हितार्थ आवश्यक साधनों को एकत्र करने का यत्न करें। इसके लिए कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य, राजसेवा आदि जो कार्य सज्जनों से निन्दित न हों, जिनसे जीविका चल सके उनको करना चाहिए (चरक. सू. अ. ११।५)। जीविका के लिए गुरु की आवश्यकताएँ कम होती थीं, जिनको राजा या समृद्ध व्यक्ति सम्भवतः पूरी कर देते थे, इससे गुरु एकाग्रता के साथ विद्याध्ययन करा सकते थे। उनकी आय का मुख्य साधन यही प्रतीत होता है।

अध्यापन कार्य प्रायः भिक्षु और वानप्रस्थ करते थे। नालन्दा और विक्रम-शिला में तो अध्यापन कार्य भिक्षु ही करते थे। इनके निर्वाह का प्रबन्ध विद्यालय की ओर से रहता था। विद्यालय की आय राजाओं द्वारा प्रदत्त दान से थी। यही परिपाटी सम्भवतः वैयक्तिक गुरु के विषय में भी थी। राजा विद्वानों को गाय एवं स्वर्ण का दान करते थे, यह बात जनक के दान से स्पष्ट है। शिष्य गुरुसेवा करने में अपना गौरव समझते थे। यह ऐसा कार्य था जिसको करते हुए कोई भी व्यक्ति विद्या पढ़ सकता था, इसके सहारे उसे निराश नहीं होना पड़ता था। गुरु अध्यापन करना आवश्यक समझता था—विना विद्या दान दिये वह गुरु-ऋण से मुक्त नहीं होता था (यो हि गुरुभ्यः सम्यगादाय विद्यां न प्रयच्छत्यन्तेवासिभ्यः स खल्वृणी गुरुजनस्य महदेनो विन्दति—चक्रपाणि, सूत्र. अ. १।४.५ की टीका में)। इसलिए उस समय विद्यादान गुरु का एक आवश्यक कर्त्तव्य था, जिसे वह विना लोभ के करता था। छात्र गुरु के घर का एक अंग होता था। गुरु शिष्य के खाने पीने की व्यवस्था, बीमारी में उसकी सेवा करता था। शिष्य का भी कर्त्तव्य था कि घूमते-फिरते गुरु के लिए अर्थसंग्रह करे। इससे स्पष्ट है कि उस समय गुरु शिष्यों को भेजकर अथवा शिष्य स्वतः जाकर गुरु के लिए धन संग्रह करते थे (अनुज्ञातेन चाननुज्ञातेन च प्रविचरता पूर्वं गुर्वर्थोपहरणे यथाशक्ति प्रयतितव्यम्—चरक, वि. अ. ८।१३)। भिक्षा से शिष्य को जीवन में विनय की शिक्षा मिलती है।

चरकसंहिता में शिक्षा या ज्ञान प्राप्त करने के तीन उपाय बताये हैं; अध्ययन, अध्यापन और तद्विद्यसम्भाषा। इनमें प्रत्येक उपाय की विस्तृत विवेचना भी की है (वि.अ.८।६)।

इनमें तद्विद्यसम्भाषा का उल्लेख करते हुए कहा है कि वैद्य वैद्य के साथ ही सम्भाषण करता है। उस विद्या को जाननेवाले व्यक्ति के साथ बातचीत करना ज्ञान को बढ़ाता है, दूसरे के वचनों का निराकरण करने की युक्ति देता है, बोलने की शक्ति आती है, यश को बढ़ाता है, पहले सुनी हुई बात में सन्देह रहने पर फिर से सुनने पर उस बात का सन्देह मिट जाता है, जो बात पहले सुनी है उसमें सन्देह होने पर भी फिर से सुनने मे दृढ़ निश्चय हो जाता है, जो बात पहले सुनने में नहीं आती, वह भी कभी भी सुनने में आ जाती है। गुरु जिस गुह्य बात को सेवा करनेवाले शिष्य के लिए बड़ी मुश्किल से बताता है; वह गुप्त बात भी दूसरे को जीतने की इच्छा से इस समय कही जाने से सरलतापूर्वक सुनने में आ जाती है। इसलिए विद्वान् लोग तद्विद्यसम्भाषा की प्रशंसा करते हैं।

यह सम्भाषा दो प्रकार की है; सन्धाय सम्भाषा और विगृह्य सम्भाषा। इसमें जो व्यक्ति ज्ञान, विज्ञान, प्रतिवचन (उत्तर देने की क्षमता) शक्तियुक्त हो, क्रोधी न हो, विद्या का जिसने अभ्यास किया हो, ईर्ष्या या निन्दा न करता हो, विनम्रता का आदर करता हो, दुःख उठा सकता हो, मधुर भाषी हो, उसके साथ सन्धाय सम्भाषा (मिलकर बातचीत) होती है। इस प्रकार के व्यक्ति के साथ बातचीत करते हुए विश्वास से कहना चाहिए, विश्वासपूर्वक पूछना भी चाहिए, यदि वह कुछ पूछे तो विश्वास के साथ स्पष्ट अर्थ कहना चाहिए, मैं हार जाऊँगा; इस भय से घबराना नहीं चाहिए। दूसरों में अपनी बड़ाई (डींग) नहीं करनी चाहिए, मोहवश हठी-आग्रही नहीं होना चाहिए, जो बात या वस्तु अज्ञात हो उसे कहना चाहिए। विनम्रता से भली प्रकार बरतना चाहिए; । यह अनुलोम सम्भाषा है।

अन्य व्यक्ति के साथ विगृह्य सम्भाषा करने में अपनी श्रेष्ठता होने पर ही वाद-विवाद करना चाहिए। वाद-विवाद से पूर्व ही विपक्षी के और अपने गुण-दोषों की परीक्षा, उपस्थित सभासदों की परीक्षा कर लेनी चाहिए"। ठीक प्रकार से की हुई परीक्षा ही बुद्धिमानों के कार्य में प्रवृत्ति या निवृत्ति का निश्चय करा देती है। इसकी परीक्षा करते समय अपने और विपक्षी के इन जल्प-गुणों की तथा दोषों की जाँच करनी चाहिए—श्रुत, (अध्ययन), विज्ञान (समझना), धारण (याददास्त), प्रतिभा (सूझ), वचनशक्ति (बोलने की शक्ति)। इन गुणों को श्रेयस्कर (जितानेवाले) कहा है। दोष— क्रोधी होना, अकुशलता, डरना (घबराना), याद न रखना, एकाग्रता का अभाव—इन गुणों की अपने में और विपक्षी में अधिक और कम की दृष्टि से तुलना करनी चाहिए। इस रीति से विपक्षी

तीन प्रकार का हो सकता है; (१) अपने से श्रेष्ठ, (२) अपने से कम, (३) अपने बराबर। यह विचार काल, शील आदि की दृष्टि से नहीं है। अपितु उपर्युक्त गुणों के विचार से है।

ज्ञानवृद्धि या अध्ययन का एक अंग होने से चरकसंहिता में ही इस विषय की विस्तृत विवेचना मिलती है; यह प्रथा आज भी किसी अंश में विद्यार्थियों में प्रचलित है।

शिक्षणसंस्थाओं का संघटन तथा अर्थ-व्यवस्था—प्रागैतिहासिक काल में १००० ईसापूर्व अध्ययन का क्षेत्र सम्भवतः परिवार होगा। पीछे से शिक्षा का क्रम पाठशाला के रूप में चला। एक पण्डित के पास बहुत से छात्र पढ़ते थे। यही एक पण्डित प्रायः सब विषयों को पढ़ाता था। राजकुमार को शिक्षा देने के लिए बहुत अध्यापक होते थे, जो कि भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा देते थे।

पाठशालाओं का यही रूप मठों और बौद्ध विहारों में बदल गया। जब विद्यार्थियों की संख्या बढ़ी तब उनके आचार, चारित्र्यनिर्माण की देखरेख का तथा अन्य प्रबन्ध का उत्तरदातृत्व आचार्य ने सँभाला और विद्या-अध्यापन का कार्य उपाध्याय के ऊपर पड़ा। चरकसंहिता में सर्वत्र आचार्य शब्द ही प्रयुक्त हुआ है; यज्ञकर्म में ऋत्विक् शब्द का व्यवहार है। सुश्रुतसंहिता में उपाध्याय शब्द आता है। सुश्रुत में ऋत्विक्-शब्द नहीं, इससे अनुमान होता है कि यज्ञकर्म या पूजाकर्म उस समय उपाध्याय करते थे। चरक के समय इस कर्म को ऋत्विक् करते थे। एक प्रकार से ऋत्विक्-उपाध्याय शब्द पहले कर्मकाण्ड के आचार्य से सम्बन्धित रहे होंगे, पीछे से अध्यापन कार्य में उपाध्याय शब्द प्रचलित हो गया, और आचार्य का पुराना अर्थ बना रहा, जिसमें उसके ऊपर आचरण निर्माण और अध्यापन दोनों कार्य थे (ऋग्यजुःसामाथर्ववेदाभिहितैरपरैश्चाशीर्विधानैरुपाध्यायः भिषजश्च सन्ध्ययो रक्षां कुर्युः—सु. सू. अ. १९।२७; यहाँ उपाध्याय को ऋत्विक् कार्य सौंपा है)।

स्वतंत्र अध्यापक—अपनी निजी पाठशालाएँ चलानेवाले स्वतंत्र अध्यापक सदा से भारतीय शिक्षाप्रणाली की रीढ़ रहे हैं। इन्हीं से शाखा और चरण की उत्पत्ति हुई है, जिसका विस्तार सारे भारत में फैला। एक शाखा या चरण में शिक्षित व्यक्ति जहाँ गये वहाँ उन्होंने उसी शाखा के अन्तर्गत अध्ययन क्रम चालू किया; उसी शाखा में भिन्न-भिन्न विषयों का विस्तार हुआ। इसमें अध्ययन क्रम मुख्यतः ब्राह्मण वर्ग के हाथ में रहा। यह वर्ग सब विद्याओं की शिक्षा अन्य वर्णों को देता था। इस वर्ग का पोषण क्षत्रिय और वैश्य करते थे। इस समय भिन्न-भिन्न शाखा के विद्वानों की जो सभा होती

थी, उसका नाम परिषद् था। तक्षशिला और काशी में विद्वानों का जो जमघट था, वह भी इसी रूप में पृथक्-पृथक् स्वतंत्र पाठशाला रूप में था (—डाक्टर अल्तेकर)।

यदि किसी आचार्य के पास शिष्यों की संख्या अधिक होती थी, तो वह प्रौढ़ विद्यार्थियों से अध्यापन का कार्य लेता था, प्रौढ़ विद्यार्थी नये या छोटे विद्यार्थियों को पाठ देते थे। अथवा किसी नौसिखुवे अध्यापक को अपने सहयोगी रूप में रखकर काम लिया जाता था। इससे आचार्य की पाठशाला में कोई अन्तर नहीं आता था।

शिक्षासंस्थाओं का जन्म—भारतवर्ष में शिक्षा संस्थाओं का जन्म मठों या बौद्ध-विहारों से हुआ है। महात्मा बुद्ध ने उपासकों की विधिवत् शिक्षा दीक्षा पर बहुत जोर दिया था। दस साल तक अध्ययन करने के बाद उनको प्रव्रज्या दी जाती थी। उनके विहार गुरुकुलों का ही रूप थे। विहारों का मुख्य आचार्य योग्य भिक्षु होता था। विहारों-मठों में भोजन तथा वस्त्र आदि का सुभीता शिष्य को मिलता था। विद्या समाप्ति पर गुरुदक्षिणा देना आचार माना जाता था। विद्या पढ़कर जो गुरुदक्षिणा नहीं चुकाते थे; समाज में वे हीन-दृष्टि से देखे जाते थे। 'मिलिन्द प्रश्न' से पता चलता है कि राजा मिलिन्द ने अपने गुरु नागसेन को जब बहुत दक्षिणा दी तो उसने उसे लेने से इन्कार कर दिया। तब मिलिन्द ने कहा कि यदि मैं आपको कुछ न दूं तो लोग मुझे क्या कहेंगे। भारतवर्ष में विद्या या चिकित्सा का विक्रय नहीं होता था।[1]

छात्रों की संख्या तथा अध्ययन का समय—छात्रों की कितनी संख्या एक गुरु के पास होती थी, इसका उल्लेख आयुर्वेदग्रन्थों में नहीं है। आत्रेय के छः शिष्य थे, सुश्रुत में धन्वन्तरि के सात शिष्यों का नाम हैं, शेष के लिए आदि शब्द दिया है। तक्षशिला में एक आचार्य के पास ५०० विद्यार्थी होने का उल्लेख है।[2] याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका में आयुर्वेद के अध्ययन का समय चार साल लिखा है (२। १८४)। परन्तु अध्ययन की कोई मर्यादा नहीं थी; जीवक ने तक्षशिला में सात वर्ष तक विद्याध्ययन किया, तब भी उसे इसका अन्त नहीं दीखा। अन्त में थककर उसने

---

१. कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्। ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुराशिमुपासते ॥ चिकित्सितस्तु संश्रुत्य यो वासंश्रुत्य मानवः। नोपकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः ॥ चरक, चि. १।४।५५–५९

२, श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'एन्शेंट इण्डियन एजुकेशन' (पृष्ठ ३६८) में एक संस्था का उल्लेख किया है जो कि १०२३ ईसवी में थी। इसमें ३४० विद्यार्थी, १० अध्यापक तथा ३०० एकड़ भूमि थी।

गुरु से इस ज्ञान की सीमा के विषय में पूछा। गुरु ने उसके ज्ञान की परीक्षा लेकर उसे जाने की आज्ञा दे दी। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान की सीमा नहीं (समुद्र इव गम्भीरं नैव शक्यं चिकित्सितम्। वक्तुं निरवशेषेण श्लोकानामयुतैरपि ॥ सु. उ. अ. १९।७)।[1] सामान्यतः गुरु के पास ८ से १६ वर्ष तक अध्ययन किया जाता था। इसके पीछे विशेष अध्ययन होता था। तक्षशिला प्रौढ़ विद्यार्थियों की शिक्षा का केन्द्र था, जहाँ पर सोलह वर्ष की आयु के पीछे विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए जाते थे। सामान्यतः २४ या २५ वर्ष में दूसरे आश्रम में प्रवेश कर लिया जाता था।

तक्षशिला---आयुर्वेद की शिक्षा का यही एक केन्द्र जातकों में वर्णित है। जातकों से पता लगता है कि बुद्ध के समय तक्षशिला की कीर्त्ति बहुत दूर तक फैली हुई थी।[2] इसी से काशी के राजा ब्रह्मदत्त ने अपने पुत्र को विद्याध्ययन के लिए तक्षशिला जाने को कहा था। उस समय बनारस में भी प्रसिद्ध विद्वान् रहे होंगे। घर पर शिक्षा समाप्त होने पर लोग अपने पुत्रों को आगे अध्ययन करने के लिए बाहर भेजते थे। राजा ने अपने सोलह वर्ष के पुत्र को पत्तों का छाता, एक तल्ले की चट्टी और एक हजार मुद्रा देकर तक्षशिला भेजा था। राजकुमार ने वहाँ गुरु को अपना उद्देश्य बताया और स्वर्णमुद्रा उनको दे दीं। इस विद्यापीठ में जो शिष्य फीस देकर पढ़ते थे उनके साथ घर के बड़े पुत्र के समान बर्त्ताव होता था, उसी प्रकार वे पढ़ते थे। इस गुरु ने भी अन्यों की भाँति इस राजकुमार को शिक्षा दी।

विद्या के केन्द्र के विषय में तक्षशिला की ख्याति बहुत दूर तक फैली हुई थी। बनारस, राजगृह, मिथिला, उज्जैन, मध्यदेश, कुरु, शिबि, उत्तरदेश से विद्यार्थी यहाँ पर विद्याध्ययन के लिए पहुँचते थे। तक्षशिला की ख्याति का कारण यहाँ का अध्यापक-समूह था; जिसके आकर्षण से खिचकर छात्र यहाँ पहुँचते थे। ये अपने विषय के पूर्ण ज्ञाता तथा शास्त्र में निपुण होते थे। एक अध्यापक के विषय में कहा जाता है कि समस्त भारत से उसके पास लड़ाकू और ब्राह्मण लोग कला सीखने आते थे।

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस प्रसंग में एक कथा आती है (३।१०।११।३); भरद्वाज नामक ब्राह्मण ने वेदों के पढ़ने में अपने तीन जन्म लगा दिये। इन्द्र को जब पता लगा कि वह अपना चौथा जन्म भी इसी वेदाध्ययन में लगायेगा, तो वह उसके सामने प्रकट हुआ और अनाज की ढेरी में से तीन मुट्ठी लेकर उसको दिखाते हुए कहा कि वेद तो अनन्त हैं; तुमने इन तीन वेदों का इतना ही ज्ञान प्राप्त किया, जितना अनाज मेरी मुट्ठी में है, शेष ज्ञान तो इस अनाज की ढेरी की भाँति बाकी है।

२. एन्शेन्ट इण्डियन एजुकेशन---श्री राधाकुमुद मुकर्जी के आधार पर

प्राचीनकाल में जब आवागमन के साधन आज की भाँति सरल नहीं थे, उस समय भारतवासियों के लिए अपनी सन्तान को इतनी दूर विद्याध्ययन के लिए भेजना उनके उत्कट विद्याप्रेम, ज्ञान प्राप्ति की लिप्सा को बताता है। तक्षशिला से जब बच्चा विद्या पढ़कर आता था तो वह कहते थे कि जीते जी मैंने पुत्र का मुख देख लिया "दिट्ठघे मे जीवमानेन पुत्तो दिट्ठों"।

तक्षशिला में सामान्यतः विद्यार्थी अपने शिक्षक की पूरी फीस विद्याध्ययन के प्रारम्भ में ही दे देते थे, जो फीस नहीं दे सकते थे वे दिन में गुरु के घर का काम करते थे और रात को विद्या पढ़ते थे। जातकों से पता लगता है कि एक गुरु के पास ५०० ब्राह्मण शिष्य थे, जो उसके लिए जंगल से लकड़ी आदि लाने का काम करते थे। जो शिष्य सेवा भी नहीं करना चाहते थे; अग्रिम फीस भी नहीं दे सकते थे, उन पर विश्वास करके गुरु उनको विद्या पढ़ाता था। विद्या समाप्ति पर वे भिक्षा माँगकर शुल्क चुकता कर देते थे। उस समय फीस स्वर्ण के रूप में चुकायी जाती थी; यह सात निष्क या कुछ औन्स सुवर्ण होता था (निष्क सुवर्ण का एक सिक्का था)। सामान्यतः ब्राह्मण-काल में विद्या समाप्ति पर स्नातक बनने के पीछे अध्यापक की फीस गुरुदक्षिणा के रूप में चुकाने की प्रथा थी।

भोजन—इसके लिए उस समय सामान्यतः गुरु ही प्रबन्ध करता था, परन्तु गृहस्थों से भोजन का निमन्त्रण भी मिला करता था। जातकों से पता लगता है कि पाँच सौ छात्रों को एक नागरिक ने भोजन के लिए आमंत्रित किया था। इसी प्रकार का निमन्त्रण एक ग्राम की ओर से भी मिला था।

राजकीय छात्रवृत्ति—कई अवसरों पर तक्षशिला में पढ़ने के लिए राज्य की ओर से छात्रवृत्ति दी जाती थी। इस प्रकार की छात्रवृत्तियाँ प्रायः राजकुमारों के साथियों को मिलती थीं। वाराणसी और राजगृह के राजकुमारों के जो साथी विद्याध्ययन के लिए उनके साथ तक्षशिला गये थे, उनको इस प्रकार की छात्रवृत्ति मिलने का उल्लेख जातकों में मिलता है। वहाँ के ब्राह्मण कुमार को तक्षशिला में धनुर्विद्या सीखने के लिए राजा ने छात्रवृत्ति दी थी; इसका भी उल्लेख है।

छात्र से जो फीस ली जाती थी, वह उसी के ऊपर व्यय होती थी, शिष्य गुरु के साथ ही रहता था। इसलिए उस युग में वास्तव में शिक्षा की फीस कोई नहीं थी। छात्र अपने अध्यापक के घर में उसके एक सदस्य के रूप में रहते थे। अनेक छात्र अपना अलग रहने का प्रबन्ध रखते थे। वाराणसी का राजकुमार जुन्ह स्वतंत्र रूप से पृथक्

रहता हुआ तक्षशिला में पढ़ता था। एक बार रात्रि में वह अध्ययन के अनन्तर अध्यापक के घर से अन्धेरे में अपने स्थान को गया था।

नियंत्रण—शिष्य पर पूर्णरूप से नियंत्रण रखा जाता था, वह कोई भी काम बिना गुरु को बताये नहीं कर सकता था; यहाँ तक कि वह नदी पर भी अकेला स्नान के लिए नहीं जा सकता था। यह कुछ अंशों में ठीक भी है, जिससे गुरु उसकी रक्षा आपत्काल में कर सके।

नित्य अध्ययन का प्रारम्भ—विद्यार्थी अपना अध्ययन उषःकाल या ब्राह्ममुहूर्त में ही प्रारम्भ कर देते थे (चरक. वि. अ. ८।७)। कहा जाता है कि वाराणसी में ५०० ब्राह्मणकुमारों ने एक मुरगा पाल रखा था, जो उनको प्रातःकाल में जगा देता था। सम्भवतः सब पाठशालाओं में एक मुरगा इसी लिए रहता होगा, जो कि बजनी घड़ी का काम देता होगा। यह भी उल्लेख है कि एक बार मुरगे के आधी रात में बोलने से एक ब्राह्मणकुमार आधी रात में जाग गया, जिससे नीद पूरी न आने से वह दिन में नहीं पढ़ सका। इससे क्रुद्ध होकर उसने उस मुरगे की गरदन मरोड़ दी। इससे स्पष्ट है कि प्रातःकाल का समय पढ़ने का होता था।

लिखित साधन द्वारा शिक्षा—चरकसंहिता में दी हुई शास्त्रपरीक्षा से स्पष्ट है कि उस समय अध्ययन पुस्तकों के द्वारा होता था। इसी से शिष्य को सूत्र, भाष्य, संग्रह क्रम से बने हुए शास्त्र को चुनने के लिए कहा गया है। यह जो उल्लेख है कि शास्त्र में पुनरुक्ति दोष नहीं होना चाहिए; इससे भी स्पष्ट होता है कि शिक्षा पुस्तकों के माध्यम से दी जाती थी (वि. अ. ८।३)। जातकों में प्रायः "सिप्पं वाचेति" यह वाक्य आता है, इससे स्पष्ट है कि उस समय लिखित अध्ययन चलता था। इसके सिवाय एक निर्णय में स्पष्ट लिखा है कि "इस पुस्तक को देखकर इस विवाद में यह निर्णय दिया जाता है।"

परन्तु चरकसंहिता का सम्पूर्ण उपदेश "उवाच" युक्त वाक्यों से दिया गया है, यह ज्ञान सम्भवतः शिष्यों के साथ घूमते हुए दिया गया है। वैसे पाठक्रम एक स्थान पर रहकर भी चलता होगा। चरकसंहिता का उपदेश उस समय का प्रतीत होता है, जब शिष्य अपना पठन समाप्त करके अधिक विद्या उपार्जन के लिए गुरु के साथ घूमते थे।

जातकों से यह भी पता चलता है कि उस समय लिखने का किस प्रकार अभ्यास कराया जाता था।

विविध पाठ्यक्रम—चरक संहिता से यह स्पष्ट है कि उस समय देश में भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम प्रचलित थे, शिष्य को अपनी सामर्थ्य तथा परिस्थितियाँ देखकर पाठ्यक्रम निश्चित करना होता था। उसे क्या सीखना है, इसका निश्चय वह स्वयं करता था।

जातकों से यह भी ज्ञात होता है कि १८ शिल्पों के साथ ही अथर्ववेद को छोड़कर तीनों वेदों का अध्यापन तक्षशिला में होता था। अथर्ववेद शिल्प में सम्मिलित था! तीनों वेदों की शिक्षा मुख से दी जाती थी, क्योंकि मन्त्रों का नाम श्रुति है, इनको मुख से सुनकर ही याद किया जाता था।

शिल्प और विज्ञान में क्या अन्तर था, यह स्पष्ट नहीं। मिलिन्दप्रश्न में उन्नीस शिल्प गिनाये गये हैं; जो कि उस समय प्रचलित थे। तक्षशिला में जो शिल्प सिखाये जाते थे, उनमें से कुछ के नाम ये हैं—हाथीसूत्र, ऐन्द्रजालिक, मृगया, पशु-पक्षियों की आवाज़ पहचानना, धनुर्विद्या, शकुन विचार, चिकित्सा, शरीर के लक्षणों का ज्ञान।

सिद्धान्त और क्रियात्मक शिक्षा—छात्र को क्रियात्मक तथा सिद्धान्त दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। एक ही अंग की शिक्षा का आयुर्वेद में निषेध है। विषय का सैद्धान्तिक पक्ष समझाने के बाद उसका क्रियात्मक ज्ञान कराया जाता था (सु. अ. ९।३)। तक्षशिला के चिकित्सा-अभ्यास क्रम से जाना जाता है कि चिकित्सोपयोगी वनस्पतियों का ज्ञान पूर्ण रूप से कराया जाता था। जीवक के ज्ञान की परीक्षा गुरु ने वनस्पति-ज्ञान से ही ली थी। कुछ विषयों का क्रियात्मक ज्ञान विद्यार्थी स्वयं अपना अध्ययन समाप्त करने के उपरान्त प्राप्त करते थे। उत्तर भारत का एक ब्राह्मण राजकुमार, जिसने तक्षशिला में धनुर्विद्या का अपना अभ्यासक्रम समाप्त कर लिया था, वह इस विद्या के क्रियात्मक ज्ञान के लिए दक्षिण आन्ध्र प्रान्त को गया था। इसी प्रकार मगध का राजकुमार अध्ययन समाप्त करके क्रियात्मक ज्ञान के लिए अपने राज्य के सब गाँवों में फिरा था।

चिकित्साविज्ञान में वनस्पतियों का क्रियात्मक ज्ञान कराने के अतिरिक्त प्रकृति का अध्ययन भी विशेष रूप से कराया जाता था। तक्षशिला के एक अध्यापक के पास एक मूढ़ छात्र आ गया था, उसने उसे सब तरह पढ़ाने का यत्न किया, परन्तु वह नहीं पढ़ सका। अन्त में उसने उसे स्वाभाविक रूप में ज्ञान देना प्रारम्भ किया, उसे जंगल से लकड़ियाँ लाने को कहा। वहाँ से आने पर उसने उससे पूछा कि तुमने जंगल में क्या क्या देखा। इस प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रश्नों से उसे शिक्षा दी।

तक्षशिला के अध्यापक जहाँ शान्ति के लिए प्रसिद्ध थे वहाँ युद्धशिक्षा के लिए भी ख्यात थे। वाराणसी का ज्योतिपाल नामक छात्र राजा के खर्च पर तक्षशिला में धनुर्विद्या सीखने के लिए भेजा गया था। जब वह विद्या समाप्त कर घर वापस जाने लगा तो गुरु ने उसे अपनी तलवार, धनुष-बाण, कवच और एक हीरा पुरस्कार में दिया। उससे कहा गया कि वह गुरु का स्थान लेकर ५०० विद्यार्थियों का शिक्षक बनकर

रहे, क्योंकि अब वह वृद्ध हो गया है और निवृत्त होना चाहता है। धनुर्वेद को भी वेद की भाँति गुप्त रखा जाता था।

शिक्षा का केन्द्र वाराणसी—तक्षशिला के बाद बनारस ही विद्या का केन्द्र था। इस केन्द्र का प्रारम्भ तक्षशिला से पढ़कर आये हुए स्नातकों ने किया था। यहाँ रहकर उन्होंने संस्कृत का विकास किया, जिससे सारे भारतवर्ष में ज्ञान का प्रसार हुआ। तक्षशिला में जिन विषयों का एकाधिपत्य था, वे विषय धीरे-धीरे यहाँ पर पढ़ाये जाने लगे। जातकों से पता लगता है कि तक्षशिला के स्नातकों ने बनारस में इन्द्रजाल सम्बधी तथा अभिचार आदि क्रियाओं का अध्यापन भी प्रारम्भ किया था। सामान्य अध्ययन के लिए बहुत सी पाठशालाएँ स्थापित हो गयी थीं। इस ढंग से बनारस विद्याकेन्द्र रूप में प्रसिद्ध हो गया था। एक करोड़पति का पुत्र यहीं शिक्षित हुआ था। यहाँ की प्रसिद्धि संगीत की शिक्षा के रूप में विशेष थी।

यह जो मान्यता है कि तक्षशिला में जीवक का गुरु आत्रेय तथा काशी में सुश्रुत का उपदेष्टा दिवोदास काशिराज था; वह इस दृष्टि से सही दीखती है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि सुश्रुत का निर्माण चरक के पीछे हुआ है।

उच्च शिक्षा का आदि स्थान हिमालय—चरकसंहिता के अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि जब ऋषियों को कुछ असुविधा हुई वे हिमालय पर पहुँचे। चरकसंहिता के प्रथम अध्याय में रोगों की शान्ति का उपाय ढूंढ़ने के लिए वे हिमालय के पार्श्व में एकत्र हुए थे। इसी प्रकार जब ग्राम्य आहार के कारण वे अपना कार्य करने में असमर्थ हो गये तब शालीन और यायावर ऋषि इन्द्र के पास हिमालय में ही पहुँचे। आत्रेय मुनि का विचरण भी हिमालय-कैलास पर ही विशेष रूप में मिलता है। हिमालय में एकान्त-शान्त जीवन व्यतीत करने से सत्य-ज्ञान की प्राप्ति होती थी। इन्हीं ऋषियों के निवास-स्थान धीरे-धीरे विद्या के केन्द्र बने। ये केन्द्र बाद में क्रमशः नीचे खिसकते हुए नगर या गाँवों के समीप पहुँच गये। इसमें दो लाभ थे—एक तो भिक्षा की सुविधा, दूसरा विद्यार्थियों के लिए आकर्षण। गाँव के पास में होने से शिष्य अधिक मिलते थे। इससे उनके ज्ञान का प्रसार अधिक होता था। जातक से पता चलता है कि सत्यकेतु, जो कि बनारस की पाठशाला में ५००छात्रों के बीच पढ़ता था, शिल्प सीखने के लिए तक्षशिला में गया। रास्ते में उसे एक गाँव में ५०० तपस्वी मिले, जिन्होंने उसके रहने आदि की व्यवस्था करके उसे सम्पूर्ण शिल्प-सिद्धान्त मूल तथा क्रियात्मक रूप में सिखा दिया था।[1]

---

१. तक्षशिला की स्थिति हिमालय के पार्श्व में ही है; हिमालय का जो महत्त्व था,

हिमालय में ही चैथरथ वन था, जैसा कि कादम्बरी में महाश्वेता के जन्म की कथा में लिखा है। इसी चैथरथ वन में आत्रेय ने दूसरे ऋषियों के साथ मिलकर कथा की थी। इससे स्पष्ट है कि उस स्थान के आस-पास बहुत से ऋषियों के अपने-अपने शिक्षाकेन्द्र चलते थे, जिनमें समय-समय पर एकत्रित होकर किसी विषय पर विचारविनिमय परस्पर होता था। यह तभी सम्भव है कि जब शिक्षासंस्थाएँ समीप में हों (जैसा आज भी बनारस या हरिद्वार में एक गुरु के शिष्य दूसरे गुरु के शिष्यों के साथ वाद-प्रतिवाद में उत्सुक रहते हैं। पण्डितों की इसी प्रवृत्ति को देखकर कवि ने कहा "विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय। खलस्य साधोर्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥")। यही प्रवृत्ति चरक में भी मिलती है (वने चैत्ररथे रम्ये समीयुर्विजिहीर्षवः —सू. अ. २६।६–जीतने की इच्छा से एकत्रित हुए)।

आयुर्वेद का ज्ञान

शरीर विज्ञान—आयुर्वेद का समग्र ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि शरीरशास्त्र का ज्ञान पूर्णतः प्राप्त किया जाय, बिना शरीर को समझे आयुर्वेद को नहीं समझ सकते (चरक. शा. अ. ६।१९)। शरीर का यह ज्ञान स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार से जानना आवश्यक था। स्थूल रूप में शरीर को आँखों से देखा जाता था, सूक्ष्म रूप में ज्ञानचक्षुवों से उसका प्रत्यक्ष होता था। सुश्रुत में शरीर का स्थूल रूप में परिचय कराने के लिए शवच्छेद विधि बतायी गयी है, जिसमें कि स्वस्थ व्यक्ति के मृत देह को पानी में गलाने के बाद उसके बाह्य और अन्दर के सब अंग-प्रत्यंगों का ज्ञान कराना चाहिए (सु. शा. अ. ५)। सही ज्ञान प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को चाहिए कि वह मृत शरीर को ठीक प्रकार से शुद्ध करके शरीर के सब अवयव देख ले। शरीर और शास्त्र दोनों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है; प्रत्यक्ष दर्शन से शास्त्र सम्बन्धी सन्देह को दूर करना चाहिए। प्रत्यक्ष ज्ञान और शास्त्रज्ञान से ही सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। कायचिकित्सा की अपेक्षा शस्त्रचिकित्सा में शरीरज्ञान विशेष रूप में होना चाहिए; यह स्वाभाविक है।

शरीर ज्ञान की आवश्यकता उस समय समझी जाती थी, परन्तु उस समय स्थूल दृष्टि से यह ज्ञान कितना विकसित था, यह निश्चित नहीं कह सकते। सुश्रुत ने मृत शरीर को पानी में गलाकर शरीरज्ञान करने की जो विधि बतायी है, उस पर कुछ

उसके लिए लेखक की पुस्तक 'चरक संहिता का अनुशीलन' देखनी चाहिए। सिद्धों का प्रसिद्ध कदलीवन भी हरिद्वार से लेकर बद्रीनाथ तक का प्रदेश ही है।

विद्वानों की राय है कि पानी में रहने से शरीर के बहुत से मृदु भाग नष्ट हो सकते हैं; स्थूल और कठिन भाग (अस्थियाँ) ही बचेंगे।

उपलब्ध शरीर वर्णन में अस्थियों का विवरण स्पष्ट रूप में मिलता है। इसके साथ प्लीहा, आंत्र, यकृत, मूत्राशय आदि अन्दर के अवयवों का नाम स्पष्ट रूप में लिखा है। कुछ अंगों का वर्णन अपनी भिन्न धारणानुसार किया गया है[1]। आज की भाँति शवच्छेद करके उस समय ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं था, सूक्ष्मदर्शक यन्त्र जैसे साधन तो उस समय उपलब्ध थे नहीं। एक प्रकार से स्थूल व्यावहारिक ज्ञान होता था, जिसमें भी पीछे से बहुत सन्दिग्धता बढ़ गयी (देखिए प्रत्यक्षशारीर का उपोद्घात)। बहुत सा वर्णन पूर्ण रूप में ग्रन्थों से नष्ट हो गया; कुछ शब्द बचे रह गये परन्तु उनका सही अर्थ समझ में नहीं आता (यथा—क्लोम)। एक शब्द का प्रयोग बहुत अर्थों में मिलता है (यथा—धमनी)। इससे आयुर्वेदिक शरीर ज्ञान के सम्बन्ध में बहुत गड़बड़ी हो गयी।

चरक में अस्थियों की संख्या ३६० और सुश्रुत में ३०० है, आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार यह २०६ है। हार्नले ने बहुत परिश्रम करके इस भेद को मिटाया; उसने प्राचीन संख्या की गिनती करने का एक भेद बताया है; वास्तव में दोनों में कोई अन्तर नहीं (देखिए-त्रिलोकीनाथ वर्मा की 'हमारे शरीर की रचना')। त्वचा की संख्या चरक में छः और सुश्रुत में सात कही हैं; आज भी त्वचा के ये पृथक् आवरण माने जाते हैं। स्नायुओं का जो उपयोग आज है, वही पहले भी माना जाता था।

वैदिक काल में शरीर-ज्ञान अच्छी तरह प्रचलित था, यह ज्ञान पीछे धीरे-धीरे लुप्त हो गया; इसमें विकास नहीं हुआ। यह सत्य है कि चरक का शरीर-ज्ञान अधिकतर आध्यात्मिक है, उसमें स्थूल शरीर का ज्ञान विशेष नहीं मिलता। स्थूल शरीर का ज्ञान जो आज अधिक-से-अधिक मिलता है, उसका मुख्य आधार सुश्रुत है; यही ग्रन्थ शल्य चिकित्सा से सम्बन्धित है। सुश्रुत का शरीर-ज्ञान अधिक व्यवस्थित है; शरीर-अंगों का विभागीकरण अधिक वैज्ञानिक है।

सुश्रुत के पीछे इस विषय में कुछ भी विकास नहीं हुआ, उलटा क्रमशः ह्रास होता चला गया—जिसका प्रमाण संग्रह और हृदय हैं। इनमें बहुत-सी बातें छोड़ दी गयीं।

---

१. प्लीहा और यकृत विशेषतः रक्त बनाने का कार्य करते हैं, इनके दूषित होने से शरीर में रक्तन्यूनता आती है; शायद इसी कारण इनको रक्तजन्य कहा हो। फेफड़ों का आकार बुलबुले की भाँति देखकर इनको रक्त के झाग से उत्पन्न माना है। उण्डुक, जिसे आज एपेण्डिक्स नाम दिया जाता है; इसमें मल रह जाता है, इसे मल से उत्पन्न कहा है, इसमें सूजन-पाक देखकर इसे रक्तजन्य भी माना है।

इन ग्रन्थों ने सुश्रुत में वर्णित शस्त्र, यंत्र तो लिये, परन्तु शरीरज्ञान नहीं लिया। इस समय में जो शरीर वर्णन लिखा गया वह पुस्तकों तक ही सीमित था।

शरीरक्रियाविज्ञान—आयुर्वेद में शरीरक्रिया-ज्ञान वैदिक प्रक्रिया के आधार पर है। इसमें अन्न मुख्य है, उसी से शरीर के सब धातुओं का निर्माण होता है। इसलिए अन्न के विषय में बहुत उच्च विचार मिलते हैं; अन्न को ब्रह्म कहा है; अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं; अन्न से ही जीते हैं। इसी अन्न से प्राणी का उत्पत्तिक्रम भी बहुत सुन्दर बतलाया है—"इस ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। इसलिए पुरुष अन्नमय है।" पुरुष की उत्पत्ति अन्न से है, इसी से सब प्राणियों में ज्येष्ठ अन्न है, उसको सब औषध रूप कहा जाता है। (तैत्तिरीय २,१)

जिस प्रकार बाह्य जगत् में अन्न का परिपाक अग्नि से होता है, उसी प्रकार शरीर में भी अन्न का परिपाक वैश्वानर नामक अग्नि से होता है (गीता. १५।१४)। शरीर की इस अग्नि के शान्त होने पर मनुष्य मर जाता है, अग्नि के स्वस्थ रहने पर मनुष्य बहुत समय तक निरोगी रहकर जीता है; विकृत होने पर मनुष्य भी रोगी हो जाता है। इसलिए आयुर्वेद में अग्नि को मूल माना जाता है (चरक. चि. १५।४; अग्निरग्रणीर्भवति)।

अग्नि से जब शरीरस्थ अन्न का परिपाक होता है, तब इसी से शरीर के धातु पुष्ट होते हैं। पाक होने पर आहार-रस और मलरूपी किट्ट दो भाग बनते हैं। इनमें आहार-रस से रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र धातु बढ़ते हैं; किट्ट से स्वेद, मूत्र, मल, वात, पित्त, कफ, कान-आँख-नासिका-रोमकूप के मल बढ़ते हैं। रस-रक्तादि शरीर को धारण करते हैं, इसलिए इनका नाम धातु है। मल-मूत्र-स्वेद आदि वस्तुएँ शरीर को मलिन करती हैं, इसलिए इनको मल कहते हैं। वात-पित्त-कफ ये रस, रक्त, मल, मूत्र आदि को दूषित करते हैं, इसलिए इनको दोष कहते हैं। इस प्रकार आयुर्वेद-शरीरक्रिया का मूल आधार दोष, धातु और मल ये तीन वस्तुएँ हैं (दोष-धातुमलमूलं हि शरीरम्—सु. सू. अ. १५।३)।

ओज—रस-रक्तादि धातुओं का जो सारभाग परम तेज है, वही ओज है। इस के दस गुण हैं, यथा—स्वादु, शीत, मृदु, स्निग्ध, बहल, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, गुरु, मन्द, प्रसन्न। गाय के दूध में भी ये गुण है, इसलिए वह ओज को बढ़ाता है। विष और मद्य के गुण इनसे विपरीत हैं, इसलिए ये वस्तुएँ ओज को कम कर मृत्यु का कारण होती हैं।

ओज धातुओं का सर्वश्रेष्ठ भाग है, इसके कम होने से मनुष्य में मानसिक डर, साहस-हीनता होती है। ओज के नष्ट होने पर मनुष्य मर जाता है।[1] यह ओज चेहरे पर तेज, बल, क्रोध, सहनशीलता, भय आदि की भाँति दीखने पर भी प्रयोगशाला में अदृश्य रहता है।

भुक्त आहार का शरीर की अग्नि से परिपाक होकर 'रस' बनता है। यह रस आगे अपनी उष्णिमा से परिपक्व होता हुआ यकृत-प्लीहा में आकर रक्त बन जाता है। जिस प्रकार आकाश से बरसा हुआ निर्मल जल देश, पात्र-भेद से बदल जाता है, उसी प्रकार पित्त की उष्णिमा से रस में रंग आ जाता है। रक्त वायु, अग्नि और जल के संयोग से अग्नि द्वारा परिपक्व होने पर मांस में बदल जाता है। इसी प्रकार अपने अपने धातु की अग्नि के परिपाक से प्रसादरस का जो सूक्ष्म भाग पकता है वह अगले धातु में परिवर्तित होता जाता है। अन्त में शुक्र धातु में पहुँचने पर शुक्र के, अग्नि के परि-पाक से स्थूल और सूक्ष्म दो ही भाग बनते हैं। इसमें सूक्ष्म भाग ओज होता है, और स्थूल भाग शुक्र।

जिस प्रकार दूध का सारभाग घी होता है, उसी प्रकार शरीर में ओज (बल या तेज) अन्न का परम सूक्ष्म सारभाग है। इसके नष्ट होने से मनुष्य का भी नाश हो जाता है।

सुश्रुत में आहाररस के सूक्ष्म भाग को रस कहा है, यह रस हृदय में रहता है; हृदय से धमनियों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में गति करता हुआ प्रति दिन इसको बढ़ाता है, तृप्त करता है, धारण करता है।

शरीर में आहाररस रक्त के रूप में ही आपाद मस्तक तक भ्रमण करता है, इसलिए प्रत्यक्ष दृष्टि से रक्त ही शरीर का मूल है, यही सब धातुओं में जाकर उनको पोषित करता है। इसी से रक्त का जीव—प्राण नाम भी है (सु. सू. अ. १४।४४)। इसी से कुछ आचार्यों ने शोथ के परिपाक में रक्त को भी कारण माना है (सु. सू. अ. १७।८)।

इस प्रसंग में हृदय शब्द से आयुर्वेद में छाती में स्थित स्थूल अवयव-पिंड का ही ग्रहण होता है। परन्तु चिन्तन, प्रेम, इच्छा आदि कार्यों के लिए भी हृदय शब्द का प्रयोग मिलता है। आत्मा का स्थान हृदय बताया गया है ('स वा एष आत्मा हृदि-'

---

१. प्रसन्नता का समाचार सुनने पर चेहरे पर जो खुशी की झलक आती है, वह ओज है; शोक की बात सुनकर चेहरे पर जो उदासी आती है, चेहरा पीला पड़ता है, वही ओज का नाश है। तेज, ओज, बल ये सब शब्द एक ही वस्तु को बताते हैं।

छांदोग्य. ८।३।३)। हृदय में तीन अक्षर हैं; जिससे (हृ) आहरण, (द) देना और (य) नियंत्रण तीनों कार्यों का पता चलता है। छाती का हृदय भी शरीर से रक्त लेता है, शरीर को रक्त देता है, और नियमित रखता है। यह क्रिया मस्तिष्क में स्थित हृदय (वेंट्रिकल) के लिए भी लागू होती है; वहाँ भी समाचार ज्ञान पहुँचता है, वहीं से क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं, और मस्तिष्क ही सारे शरीरको नियन्त्रित करता है। इसलिए हृदय शब्द से मस्तिष्कस्थित हृदय लेना या छाती का हृदय लेना—यह विवाद एक समय आयुर्वेदजगत् में खूब चला था। भेलसंहिता मस्तिष्कवाले हृदय के पक्ष में और सुश्रुत छातीवाले हृदय की समर्थक है। प्रसंग के अनुसार इनका अर्थ करना ही उचित है। अथर्ववेद में मस्तिष्क और हृदय दोनों भिन्न कहे हैं। रक्त का परिभ्रमण सारे शरीर में भेजना छाती के हृदय का कार्य है, और विचार करना, सोचना, आज्ञा देना मस्तिष्क का कार्य है; स्थिर बुद्धिवाले अथर्वा को चाहिए कि इन दोनों को एक करे, दोनों को अपने वश में रखे।

इस प्रकार से आयुर्वेद-शारीरक्रिया में आहार के पाचन, रक्तसंचरण का विचार आधुनिक दृष्टि से भिन्न रूप में मिलता है। मस्तिष्क की क्रियाओं का ज्ञान 'मन' के साथ सम्बन्धित होता है। मन पंच ज्ञानेन्द्रियों के विना भी विषय का ग्रहण कर लेता है, परन्तु इन्द्रियाँ मन के बिना विषय का ग्रहण नहीं कर सकतीं। आयुर्वेद में मन को अणु और एक माना है। यह मन सत्त्व, रज, तम भेद से तीन प्रकार का है। मन का आधार भी अन्न है। उपनिषद् में मन को अन्नमय कहा है (अन्नमयं हि सौम्य मनः—छान्दो. ६।४।४)। इस मन का विचार भी आयुर्वेदिक शरीरक्रिया में मिलता है।

शरीर की आयु का परिमाण एक सौ वर्ष मानकर इसके गुणों के विषय में सामान्य नियम यह बताया है—

बाल्य-वृद्धि-प्रभा-मेधा-त्वक्-शुक्राक्षि-श्रुतीन्द्रियम्।
दशकेषु क्रमाद्यान्ति मनः सर्वेन्द्रियाणि च॥ संग्रह ८।२५

मनुष्य की आयु के प्रथम दस वर्षों में बाल्यावस्था नष्ट होती है, अगले दस वर्षों में वृद्धि, फिर प्रभा-कमनीयता मिट जाती है, इसके आगे प्रत्येक दस वर्ष में मेधा, त्वचा की कान्ति, शुक्र, आँख की ज्योति, कानों से सुनना, मन से सोचना, विचारना, और अन्तिम दस वर्षों में सब इन्द्रियाँ जवाब दे देती हैं।

इस प्रकार से अन्नप्रक्रिया को आधार मानकर शरीर की क्रिया का विचार आयुर्वेद ग्रन्थों में हुआ है। इसका आधार पंच महाभूत हैं; जिनसे शरीर बनता है, रक्त के भी यही आधार हैं (विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा। भूम्यादीनां गुणा ह्येते

होता है (इसी से चरक. सू. अ. १२ में इनके कार्य वर्णित हैं)। वात-पित्त-कफ का शरीर में वही रूप है, जो प्रकृति में सत्त्व, रज, तम का है। यहाँ सत्त्व, रज, तम की सत्ता शरीर के बदले मन में मानी गयी है (चरक सू. अ. ८।५) और वात-पित्त-कफ का सम्बन्ध शरीर के साथ बताया है। मन के गुणों में कल्याण अंश होने से सत्त्वगुण निर्दोष है, शेष दोनों रज और तम दोषवाले हैं। शरीर के दोषों में वात-पित्त-कफ तीनों दोषवाले हैं (चरक. वि. अ. ६।५)। इसलिए शरीर में अधिक विकार होते हैं। मानसिक रोगी शारीरिक रोगियों की अपेक्षा कम मिलते हैं।

जिस प्रकार सांख्यदर्शन का आधार त्रिगुणात्मक प्रकृति है, उसी प्रकार आयुर्वेद का आधार त्रिदोषवाद है यह त्रिदोष-सिद्धान्त सांख्य और गीता के त्रिगुणात्मक सिद्धान्त की भाँति सर्वत्र व्याप्त है। जिस प्रकार अन्न, मन, बुद्धि, सुख, दुःख, ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, धृति ये सब सत्त्व-रज-तममय हैं; उसी प्रकार से सब औषध, अन्न पान, स्वर्ण आदि धातु आयुर्वेद में वात-पित्त-कफात्मक हैं। ये तीन एक प्रकार के वर्ग हैं; जो कि इस बहुत बड़े संसार को संक्षिप्त करने के लिए ऋषियों ने बनाये थे (चरक. वि. अ. ६।५)। वस्तुओं को उनके कार्यों के अनुसार इन विभागों में रख दिया गया है। इसलिए ये तत्त्व कोई दृश्यमान वस्तु नहीं। जिस प्रकार किसी कारण से मनुष्य के मन में क्रोध आता है और किसी को देखने से मन में राग-प्रीति उत्पन्न होती है, जिसकी झलक चेहरे पर देखकर उसके मन की स्थिति समझ लेते हैं। उसी प्रकार शरीर में खाये हुए आहार या चेष्टा आदि विहार से जो कार्य होता है, जिसकी झलक शरीर में दीखती है; उस झलक से हम दोष की स्थिति का अनुमान कर लेते हैं, और कहते हैं कि अमुक अन्न या अमुक चेष्टा अमुक दोष को बढ़ाती है, उत्पन्न करती है या कम करती है। ठण्ड से शरीर में कम्पन होता है, कम्पन गुण वायु का है, इसलिए शरीर में कम्पन देखकर हम कहते हैं कि वायु का कम्पन है। यह आयुर्वेद का त्रिदोषवाद है; प्रकृति में देखे हुए वायु-पित्त-कफ के कार्यों से शरीर में होनेवाले कार्यों की तुलना करने पर हम इनको शीघ्र और सरलता से पहचान सकते हैं। इनमें से किसी एक का बढ़ना अथवा घटना ही रोग है; यह इनकी विषमावस्था है।

तीनों दोषों का एक सीधी रेखा में, समान रूप में रहना कठिन है (चरक. वि. अ. ६।१३)। सत्त्व, रज, तम इनको भी एक सीधी रेखा में, एक मात्रा में रखना सरल नहीं। यह अवस्था योगी या ज्ञानी के लिए ही सम्भव है (गीता. २।५६)। इसलिए शरीर के दोष प्रकृति में जिस रूप में गर्भ से प्राक्तन कर्मों के कारण मिलते हैं, उनके बढ़ने या घटने की अवस्था सामान्यतः रोग शब्द से कही जाती है। जिस प्रकार कि विष के

कृमि को उसका विष हानि नहीं करता, इसी प्रकार जन्म की प्रकृति भी मनुष्य को बहुत कष्ट नहीं देती। जिस प्रकार कुछ मनुष्यों की प्रकृति जन्म से चिड़चिड़ी, चिन्ताशील, क्रोधी होती है; उसी प्रकार से कुछ मनुष्यों की प्रकृति वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक होती है। इस प्रकार से आयुर्वेद का त्रिदोषवाद सांख्य के त्रिगुणात्मक सिद्धान्त से पूर्ण रूप में समानता रखता है; एक को समझने पर दूसरा स्वयं स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि यह पुरुष लोक के तुल्य है ('पुरुषोऽयं लोकसंमितः'—चरक. शा. अ. ५।३)।

स्वस्थवृत्त और सद्वृत्त

आयुर्वेद शास्त्र के दो उद्देश्य हैं—जो व्यक्ति रोग से पीड़ित हैं उनको रोग से मुक्त करना और जो स्वस्थ हैं उनके स्वास्थ्य की रक्षा करना (प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च—चरक सू. अ. ३०।२६)। रोगों से मुक्त करने के लिए आचार्यों ने चिकित्सा का उपदेश किया और स्वास्थ्यरक्षा के लिए शरीर और मन के लिए हितकारी उपादेय कार्यों को बतलाया है। इनमें दैनिक कार्यों के साथ-साथ ऋतु सम्बन्धी रहन सहन, उसमें करणीय कर्मों एवं ऋतुचर्या की भी शिक्षा दी है। ऋतुचर्या पालन करने से ऋतुकालीन रोगों के विकारों से बचा जा सकता है।

दैनिक कार्यों में आँखों में अंजन, दातुन, स्नान, अभ्यंग, धूमपान, तैल, नस्य, जूता-छाता धारण, निर्मल वस्त्र धारण, व्यायाम आदि कार्यों का महत्त्व, इनके करने का लाभ बताया गया है। जिस प्रकार नगर का प्रशासक अपने नगर की देख-रेख, सफाई आदि का ध्यान रखता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि अपने दैनिक कार्यों में नित्य करणीय कर्मों का ध्यान रखे, इनमें चौकस रहे, इनकी उपेक्षा न करे।

सद्वृत्त का अर्थ सज्जनों का व्यवहार है; यह एक प्रकार की शिष्टता, तहजीब, लोकाचार, बर्ताव है, जिसको जानना एक नागरिक के लिए आवश्यक है। सद्वृत्त का पालन करनेवाला जीवन में और मरने के पीछे भी लोगों से यश प्राप्त करता है; वह निरोग रहकर पूरी आयु भोगता है; सब मनुष्यों से सौहार्द प्राप्त करता है।

सद्वृत्त के अंदर वैयक्तिक, सामाजिक, पारिवारिक सब प्रकार की शिक्षा संक्षेप में अत्रिपुत्र ने दी है; किस प्रकार से बड़ों के साथ व्यवहार करना चाहिए, सभा-समाज में कैसे बैठना, बोलना चाहिए, भोजन करने के क्या नियम हैं, स्त्री तथा परिवार के दूसरे लोगों के साथ कैसा सम्बन्ध रखना चाहिए, स्त्रियों का व्यवहार, नौकरों से बरतना, मन के स्वास्थ्य की सूचनाएँ, मानसिक प्रवृत्तियों के प्रति करणीय कार्य आदि बातों का उल्लेख इसमें है। एक प्रकार से आयुर्वेद शास्त्र की यह अपनी विशेषता है।

इस प्रकार की सूचना दूसरे चिकित्सा शास्त्रों में नहीं दी गयी। इस शास्त्र में शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा चारों के संयोग को आयु कहा है, इसलिए इन चारों को स्वस्थ रखने के सम्बन्ध में निर्देश किया गया है; यही विशेषता इस शास्त्र की है। चरक का सद्वृत्त-उपदेश अपने विषय में अनूठा है।[1]

इसके साथ आहार सम्बन्धी सूचनाएँ भी हैं; आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य ये तीनों शरीर का धारण करनेवाले हैं (वाग्भट ने संग्रह में ब्रह्मचर्य का अभिप्राय गृहस्थ व्यक्ति के लिए नियमित समागम बतलाया है—संग्रह अ. ९।७२)। इसलिए इनके सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी दी गयी है।

रोग के कारण तीन हैं; असात्म्य रूप से इन्द्रिय और विषयों का संयोग, प्रज्ञापराध (बुद्धिदोष) और परिणाम (काल-ऋतु)। इन तीन कारणों से ही सब रोग होते हैं। इसलिए **स्वस्थवृत्त** और सद्वृत्त ज्ञान में इन तीनों कारणों से बचने की शिक्षा दी गयी है। इसका परिणाम यह होता है—

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥
मतिर्वचःकर्म सुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुतपन्ति रोगाः॥

चरक. शा. अ. २।४६-४७

जो मनुष्य हितकारी आहार-विहार का सेवन करता है, सोच-विचार कर कर्म करता है, विषयों में नहीं फँसता, दान देता है; सबमें समबुद्धि रखता है, सत्यवादी, क्षमाशील, विद्वानों की उपासना करता है; वह निरोग रहता है। जो व्यक्ति बुद्धि, वाणी, कर्म से सुखदायक कार्यों को करता है, जिसका मन वश में है और बुद्धि निर्मल है, ज्ञान, तप तथा योग में जो लगा है; वह सदा स्वस्थ रहता है।

यह सत्य है कि आज की भाँति प्राचीन काल में बड़े-बड़े शहर तथा घनी आबादी नहीं थी, इसलिए आज की भाँति सामाजिक स्वस्थवृत्त का उल्लेख नहीं है। परन्तु वैयक्तिक स्वस्थवृत्त शरीर और मन दोनों की दृष्टि से विस्तार से समझाया गया है; इसमें इस जीवन की भावना के साथ-साथ परलोक की भावना तथा उसके सम्बन्ध की भी सूचनाएँ दी हैं (इसी से परलोकैषणा की व्याख्या की गयी है—चरक. सू. अ. ११)।

---

१. इस सम्बन्ध में सूचनाएँ—सुश्रुत. चि. अ. २४; चरक. सू. अ. ५, ६, ७, ८ अध्याय (स्वास्थ्यचतुष्क); संग्रह. सू. अ. ३, ४ और ९ में देखनी चाहिए।

निदान और चिकित्सा

आयुर्वेद का दूसरा प्रयोजन रोग से पीड़ित व्यक्ति को रोग से मुक्त करना है। यह प्रयोजन हेतु, लिंग और औषध रूप तीन स्तम्भों पर स्थित है; इसमें हेतु या रोग का कारण तीन प्रकार का है---१. इन्द्रियों का (पाँच ज्ञानेन्द्रियों का) विषय (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) के साथ अनुचित रूप में (मिथ्या, हीन और अधिक रूप में) संयुक्त होना; २. प्रज्ञा (धी, धृति, स्मृति) के विभ्रम (भ्रंश) से ठीक प्रकार का कार्य न करना; ३. परिणाम (काल-ऋतु आदि); कभी-कभी दैव भी कारण होता है---दैव शब्द से पूर्वजन्म-कृत कर्म लिया जाता है---"तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम्" चरक. शा. अ. २।४३। इन तीन कारणों से सब शारीरिक और मानसिक रोग होते हैं।

लिंग का अर्थ लक्षण है---रोगों की संख्या बहुत है, इसलिए इनके लक्षण भी बहुत होते हैं, एक एक रोग के लक्षण स्वतः बहुत अधिक हैं। इसलिए रोगों के लक्षणों को दोष के लक्षणों से पहचानना चाहिए। दोष तीन हैं; इसलिए सब रोगों के लक्षण इन तीन वर्गों के अन्दर आ जाते हैं। इनके लक्षणों से रोगों के लक्षणों को जानकर उन्हें पहचान सकते हैं। जो रोग मुख्यतः पूर्व समय में प्रचलित थे, उनका नाम और चिकित्सा ग्रन्थों में दे दी गयी है। परन्तु सब रोगों का नाम नहीं दिया जा सकता (न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः---चरक. सू. अ. १८।४४)। रोग अनित्य हैं; वात-पित्त-कफ दोष नित्य हैं; इनमें विकार आने का नाम ही रोग है। इसलिए बुद्धिमान् को चाहिए कि इनको पहचाने (चरक. सू. अ. १८।४८)। वात, पित्त, कफ की विकृति का नाम ही रोग है, इसलिए इनके लक्षणों से रोग को पहचानना चाहिए।

औषध का अभिप्राय चिकित्सा से है, जिस किसी भी क्रिया से शरीर के धातु अपनी साम्यावस्था में आते हैं, वह चिकित्सा है।

चिकित्सा भी रोग के कारणों के अनुसार तीन प्रकार की है---१. दैवव्यपाश्रय---इसके मंत्र, ओषधि, मणि, मंगल, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्तिवाचन, प्रणिपात आदि रूप हैं। २. युक्तिव्यपाश्रय---युक्ति से आहार और औषध द्रव्य की योजना करना। ३. सत्त्वावजय---अहित विषयों से मन को रोकना। इन तीन रूपों से निम्नोक्त तीन प्रकार के रोगों की चिकित्सा की जाती है---१. शरीर में उत्पन्न---निज। २. बाहर से आये---चोट आदि लगना, आगन्तुज। ३. मन के रोग। इन तीन तरह के रोगों की चिकित्सा भी तीन प्रकार की है। मानसिक रोगों के लिए धर्म, अर्थ, काम का बार बार विचार करना, इनको जाननेवालों के पास जाना तथा आत्मा-इन्द्रिय आदि को समझना चाहिए; यही इनकी चिकित्सा है (चरक. सू. अ. ११)।

रोगों का [illegible] सामान्य रूप से उनके नाम बतलाते हुए किया गया है। वात, पित्त, कफ क[illegible] रोगों की जो संख्या दी है, यह केवल दिग्दर्शन है; क्योंकि उसमें स्पष्ट [illegible] कि जहाँ पर वायु के लक्षण दिखाई दें, उसको वायु-विकार, जहाँ [illegible] दिखाई दें, उसे पित्तविकार और जहाँ पर कफ के लक्षण मिलें [illegible] विकार समझना चाहिए (चरक. सू. अ. १२, १५, [illegible])।

इसलिए [illegible] कि निदान और चिकित्सा का आधार वात, पित्त, कफ हैं। शरीर के नि[illegible] मानसिक रोगों के कारण यही हैं; इनके बिना कोई रोग नहीं होता। [illegible] अपने अपने लक्षणों से रोग पहचाना जाता है, और इन्हीं के प्रकृति में आने [illegible] शान्त होता है। (इसी से महात्मा बुद्ध किसी से मिलने पर कुशल-मंगल पूछने में "धातु-साम्यं" शब्द का प्रयोग करते—"तावुभौ न्यायतः पृष्ट्वा धातु साम्यं परस्परम्"—बु. च. १२।३)। वात, पित्त, कफ को उनकी प्रकृति में लाना ही चिकित्सा है। यह भी ज्ञान, विषय और काल के समयोग पर निर्भर है।[1]

दोषों से रोग किस प्रकार होते हैं; इसका क्रम भी वर्णित है। रोग सहसा उत्पन्न नहीं होता, वह धीरे-धीरे बढ़कर अपने पूर्वरूप या रूप के अन्दर सामने आता है। जिस प्रकार बीज से अंकुर फूटने तक कई परिवर्तन होते हैं, उसी प्रकार किसी कारण से रोग उत्पन्न होने तक कई अवस्थाएँ आती हैं। इनका वर्णन विस्तार से सुश्रुत में है, यथा—

संचय—वात आदि दोष किन्हीं कारणों से विकृत होकर किसी स्थान में या सम्पूर्ण शरीर में धीरे-धीरे एकत्र हो जाते हैं; यह इनकी प्रथम अवस्था है।

प्रकोप—संचित दोषों में दोष-प्रकोपक कारणों से (ऋतु-काल से भी) प्रकोप उत्पन्न होता है। स्थूल रूप में समझने के लिए जैसे आटे में खमीर उठकर फूलना प्रारम्भ होता है, वह अपनी सीमा को नहीं लाँघता, अन्दर ही अन्दर बढ़ता है। यह दूसरी अवस्था है।

प्रसार—फैलना—जब प्रकोप बहुत हो जाता है, तब वह पार्श्व में बढ़ने लगता है। जिस प्रकार कि विदाह होने पर आसव-अरिष्ट पात्र के बाहर बहने लगते हैं। उबलता दूध पहले कड़ाही में ही उबलता रहता है, परन्तु उबाल अधिक आने पर पात्र से बहता

---

१. प्रज्ञापराधो विषमास्तथार्था हेतुस्तृतीयः परिणामकालः।
सर्वामयानां त्रिविधा च शान्तिर्ज्ञानार्थकालाः समयोगयुक्ताः॥
चरक. शा. अ. २।४०

है, उसी प्रकार से इस दशा में दोष अपने स्थान से बाहर शरीर में फैलना प्रारम्भ करता है।

स्थानसंश्रय—फैला हुआ दोष शरीर के किसी स्थान में जाकर रुक जाता है। जिस प्रकार कि पृथ्वी पर गिरा हुआ दूध बहता हुआ, कहीं गड्ढे आदि में जाकर या कोई रुकावट आने से आगे न बढ़कर वहीं रुक जाता है; उसी प्रकार से फैलता हुआ दोष किसी उचित स्थान को या रुकावट को पाकर वहीं पर ठहर जाता है।

व्यक्तता—दोष जब किसी स्थान पर रुक जाता है, तब अपने लक्षण को स्पष्ट करता है। गिरा हुआ दूध जहाँ पर रुकता है, वहाँ अपना रंग या गन्ध छोड़ देता है, जिससे पता लग जाता है कि यहाँ दूध गिरा है। उसी प्रकार रुका हुआ दोष भी अपने चिह्न स्पष्ट करता है। यह एक प्रकार से पूर्वरूप अवस्था है।

भेद–स्पष्ट रूप—लक्षणों के स्पष्ट होने से रोग का भेद, उसका स्पष्ट रूप सामने आ जाता है। जिस प्रकार चेचक के दाने निकलने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह रोग चेचक है, या आधुनिक दृष्टि से रोगोत्पादक कृमि के मिलने से रोग का ठीक ज्ञान हो जाता है। इसी को आयुर्वेद में 'रूप' कहा जाता है।

जो वैद्य दोषों के संचय, प्रकोप, प्रश्रय, स्थानसंश्रय, व्यक्ति और भेद को ठीक प्रकार से पहचानता है, वह चिकित्सक है (सु. सू. अ. २१।३६)। क्योंकि रोग की प्रथम अवस्था में यदि प्रतिकार कर लिया जाय तो वह सरलता से नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कि छोटा वृक्ष थोड़े से परिश्रम से उखाड़ा जा सकता है। बाद में रोग बढ़ने पर वह कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है। इसलिए चिकित्सक को चाहिए कि आरम्भ में ही प्रतिकार करे।[1]

---

१. यह तो मानना पड़ेगा कि आधुनिक चिकित्सा में रोग के कारण जन्तुओं के पहचानने में सूक्ष्मदर्शक यंत्र की बड़ी उपयोगिता है, इससे रोग का निर्णय सही और जल्दी होता है। चरक में रोगोत्पादक सूक्ष्म कृमियों का उल्लेख नहीं है। सुश्रुत में शल्य चिकित्सा के सम्बन्ध में व्रण के रूप में निशाचर, राक्षस आदि जो शब्द आये हैं, वे मेरी दृष्टि में इस प्रकार के जन्तुओं के लिए ही हैं। अन्तःरोगोत्पादक (क्षयरोग जैसे रोगों के) कृमियों का उल्लेख सुश्रुत या अन्य आयुर्वेद ग्रन्थों में नहीं है; यह मानने में कुछ भी संकोच नहीं दीखता। आयुर्वेदिक चिकित्सा में मनुष्य की रोगप्रतिशोध शक्ति (इम्युनिटी—प्राकृतिक शक्ति) को उन्नत किया गया है, क्योंकि रोगोत्पादक कृमियों की संख्या अनन्त है। इसलिए शरीर को ही ऐसा स्वस्थ रखा जाता था कि इस पर कोई भी आक्रमण सफल न हो सके (जितेन्द्रियं नानुतपन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं

परीक्षा---रोगों की परीक्षा के साधन भी उस समय यह तीन ही थे---प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्रवचन या उपदेश। इनमें प्रत्यक्ष ज्ञान जिह्वा को छोड़कर शेष चारों इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया जाता था। जिह्वा विषयक ज्ञान को रोगी से पूछकर या अनुमान से जानते थे। सुश्रुत में दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न इन तीन परीक्षाओं पर विश्वास न करके पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से रोग जानने का आदेश है। यह सत्य है कि प्राचीन काल में इन इन्द्रियों की सहायता करनेवाले आधुनिक उपकरण नहीं थे (स्टैथस्कोप, थर्मामीटर, एक्स-रे, सूक्ष्मदर्शक यंत्र-माईक्रोस्कोप आदि)। परन्तु तो भी वे अपने अनुभव एवं इन्द्रियों की सहायता से रोग को जानने का यत्न करते थे और रोगपरीक्षा का महत्त्व समझते थे। बिना रोग की जानकारी किये उसमें वे हाथ नहीं डालते थे। जो रोग असाध्य होता था, उसकी चिकित्सा करने का निषेध भी किया गया है। इसलिए चिकित्सा से पूर्व रोग की परीक्षा पूर्ण रूप से करनी होती थी। रोगपरीक्षा के साधन ज्ञानेन्द्रियाँ, अनुमान और आप्तोपदेश तीनों से ठीक प्रकार की हुई परीक्षा पूर्ण एवं निश्चित समझी जाती थी। रोगी के विषय में एकदेशीय जानकारी प्राप्त करने से सम्पूर्ण रोग को नहीं जाना जा सकता, इसलिए जहाँ तक बन सके रोग के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। अपने ज्ञानप्रदीप की सहायता से रोगी के अन्दर पैठकर सब वस्तुओं को ठीक प्रकार से देखना-पहचानना-जानना चाहिए, परीक्षा में किसी प्रकार की कमी नहीं छोड़नी चाहिए (चरक. वि. अ. ५।१०)।[1]

परीक्षा करने के पश्चात् चिकित्सा का प्रश्न आता है। चिकित्सा में मुख्य आधार रोग को जड़ से शान्त करना रहता है, परन्तु कुछ रोग याप्य भी होते हैं; याप्य रोग मूल से नहीं जाता, परन्तु औषध या आहार सेवन से दबा रहता है। इन रोगों को तथा असाध्य रोगों को छोड़कर साध्य रोगों में जो उपाय या योग बरते जाते थे, वे इस प्रकार के होते थे, जो कि प्रस्तुत रोग को तो शान्त कर दें, परन्तु अन्य दूसरा कोई रोग या

यदि नास्ति दैवम्---चरक. शा. अ. २।४३)। इसलिए इसमें कृमियों का विचार न करके शरीर-मन की स्वस्थता पर बल दिया गया है।

१. इस परीक्षा में चौदहवीं शती में आकर नाड़ी, मल, मूत्र की परीक्षा भी जोड़ दी गयी। यह परीक्षा संभवतः मुसलमानों एवं यवनों के सम्पर्क से आयुर्वेद में आयी है। शार्ङ्गधरपद्धति में सबसे प्रथम इन सबका उल्लेख हुआ है। इससे रोगपरीक्षा में सौकर्य होता है। यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद में बाहर के ज्ञान का उपयोग भी किया जाता था।

शिकायत पैदा न करें। जो प्रयोग या उपाय एक व्याधि को दूर करके दूसरी खड़ी करता है, वह इस अर्थ में सच्ची चिकित्सा नहीं (चरक. नि. अ. ८।२३)।

रोगों की सामान्य चिकित्सा औषध एवं आहार विहार से होती थी। परन्तु हठीले रोगों की चिकित्सा के लिए 'पंचकर्म चिकित्सा' का उल्लेख मिलता है। इस चिकित्सा को करने से पूर्व रोगी के स्नेहन और स्वेदन कर्म किये जाते थे; इन कर्मों से दोष को शरीर में ढीला, शिथिल बनाते थे। दोषों के द्रव हो जाने पर वे वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचन इन पंच कर्मों द्वारा शरीर में से भली प्रकार बाहर निकल जाते हैं।

आयुर्वेद में पंचकर्म चिकित्सा अपना विशेष महत्त्व रखती है। यह रोगी की शारीरिक स्थिति एवं उसकी परिस्थितियों पर निर्भर है। सम्भवतः सबके लिए इसका उपयोग नहीं होता था (यथा—इह खलु राजानमन्यं वा बिपुलद्रव्यं वमनं विरेचनं वा पाययितुकामेन भिषजा—चरक. सू. अ. १५।४—वचन से स्पष्ट है)। निर्धन व्यक्ति को अत्रिपुत्र के कथनानुसार बड़ी बीमारी होती नहीं, और यदि उसे हो जाय तो उस समय जो भी साधन उपलब्ध हो उसी से काम चलाना चाहिए, क्योंकि सब मनुष्यों के पास सब साधन नहीं होते।[1] फलतः पंचकर्म चिकित्सा सामान्य जनता के लिए नहीं थी, उनके लिए सामान्य संशोधन, संशमन चिकित्सा ही साध्य थी। संशोधन और संशमन भेद से चिकित्सा दो प्रकार की है। कुछ अवस्थाओं में संशोधन चिकित्सा और कुछ में संशमन चिकित्सा होती है। इसका ही लंघन और बृंहण नाम सूत्रस्थान में आया है। इसमें रूक्षण, स्नेहन, स्तम्भन, स्वेदन, लंघन और बृंहण रूप से छः प्रकार की चिकित्सा कही है (चरक. सू. अ. अ. २२।४२-४३)।

आयुर्वेद के आठ अंग

आयुर्वेद शास्त्र भिन्न-भिन्न आठ अंगों में विभक्त है, यथा (१) शल्य, (२) शालाक्य, (३) काय, (४) भूतविद्या, (५) कौमारभृत्य, (६) अगदतंत्र, (७) रसायन और (८) वाजीकरण। परन्तु आयुर्वेद के किस अंग का विभाग कैसे हुआ यह ज्ञात नहीं। सुश्रुत संहिता से इतना स्पष्ट होता है कि सुश्रुत आदि शिष्यों ने शल्य अंग को ही सीखने की इच्छा प्रकट की थी, इसलिए काशीपति दिवोदास ने मुख्य रूप में इसी अंग का उपदेश किया; जो कि इसका मुख्य भाग है। इस उपदेश में नेत्र आदि के शालाक्य

---

१. न हि सर्वमनुष्याणां सन्ति सर्वे परिच्छदाः।
न च रोगा न बाधन्ते दरिद्रानपि दारुणाः॥—चरक सू. अ. १५।२०

विषय, ज्वर-अतिसार आदि कायचिकित्सा, उन्माद, अपस्मार, अमानुषोपसर्ग आदि भूतविद्या, योनि रोग, बाल रोग, कौमारभृत्य आदि का जो विषय आया उसे उत्तर-तंत्र में परिशिष्ट रूप से कह दिया है। यह भाग भी दिवोदास ने सुश्रुत को ही लक्ष्य करके कहा है (उत्तर. अ. ६६।३), इसलिए यह भी सुश्रुत का ही मौलिक भाग है।

चरकसंहिता में शल्य विषय का वर्णन जहाँ आता है, वहाँ उसका उपयोग शल्य शास्त्र के जाननेवालों के लिए ही है ऐसा स्पष्ट कर दिया है (च. ५।६३; चि. १३। १८४; चि. ६।५८)। शालाक्य विषय के लिए स्पष्ट रूप में 'पराधिकार' कहकर इसको केवल ग्रन्थ की पूर्णता के लिए रखा है (चि. अ. २६)। इसमें मुख्यतः काय-चिकित्सा का वर्णन है। व्रणचिकित्सा, कौमारभृत्य विषय आनुषङ्गिक रूप में आये हैं, परन्तु जो भी उल्लेख है, वह बहुत ही प्रांजल और विशद है।

अंगद तंत्र, रसायन और वाजीकरण अंगों का उपदेश दोनों संहिताओं में किया गया है। सुश्रुत में अगद तंत्र का विषय अधिक विस्तार से है, चरक में यह विषय एक ही अध्याय में समाप्त कर दिया है। इस प्रकार से चिकित्सा के दो मुख्य अंगों का सम्बन्ध दो संहिताओं से है, परन्तु दोनों में शेष विषय भी संक्षेप रूप में आ गये हैं।

वाग्भट ने इन दोनों संहिताओं को मिलाकर अष्टांग आयुर्वेद का ग्रन्थ बनाया। इसमें सुश्रुत से शल्य तथा चरक से काय-चिकित्सा का विषय लिया गया है। रसायन और वाजीकरण चिकित्सा के बहुत से नये विचार, नयी औषधियाँ इसमें सम्मिलित की गयी हैं। इसी प्रकार से कौमारभृत्य, भूतविद्या, विषतंत्र का पृथक् रूप में वर्णन किया है, जिससे यह वास्तव में अष्टांग आयुर्वेद का ग्रन्थ बन गया है। इसी से ग्रन्थकर्त्ता ने कहा है—

अष्टांगवैद्यकमहोदधिमन्थनेन योऽष्टांगसंग्रहमहामृतराशिराप्तः।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम् ॥

हृदय, उ. अ. ४०।८०

शल्यतंत्र—इसमें शस्त्र-वर्णन और शस्त्र-कर्म ये दो वस्तु मुख्य हैं। सुश्रुत में यंत्र और शस्त्रों की सामान्य गणना बतलायी है, परन्तु अन्त में कहा है कि शस्त्रकर्मों की संख्या अनगिनत होने से इनका निश्चय करना सम्भव नहीं, इसलिए अपनी आवश्य-कता के अनुसार शिल्पियों से इनको बनवा लेना चाहिए (सू. अ. ७।१८)।

सुश्रुत ने यंत्रों की संख्या १०१ बतायी है। इनमें हाथ को प्रधान यंत्र माना गया है, क्योंकि इसकी सहायता से ही सब काम होते हैं। शेष सौ यंत्रों का विभाग छः रूपों में किया है। इनमें स्वस्तिक यंत्र २४, संदंश यंत्र २, तालयंत्र २, नाड़ीयंत्र २०,

शलाका यंत्र २८, उपयंत्र २५---इस प्रकार से एक सौ एक यंत्र सामान्य रूप में उस समय काम में आते थे। यंत्रों के जो दोष होते थे, उनका भी उल्लेख इस स्थान पर है, यथा---यंत्र का मोटा होना, कच्चे लोहे का बना होना, बहुत लम्बा या बहुत छोटा होना, ठीक प्रकार से न पकड़ना, यंत्र का ढीला, ऊपर उठा होना, कील ढीली होना आदि दोष हैं; इनसे रहित यंत्र उत्तम हैं। यंत्र का अर्थ सामान्यतः चिमटी सँड़सी जैसे कुन्द औजार (Blunt instruments) है।

शस्त्र का अर्थ काटने, चीरने के तीक्ष्ण उपकरण (Cutting instruments) है। शस्त्रों की संख्या सामान्यतः बीस है। इनके नाम भी बतलाये हैं, जिनमें चाकू, सूई, कैंची, आरी आदि शस्त्र हैं। शस्त्रों की पायना (सिकली) का भी विचार किया है; धार का तेज होना आवश्यक है, उसे बनाये रखने के लिए शाल्मली-फलक के कोष होते थे। धार को तेज करने के लिए चिकनी, कोमल शिला का उपयोग किया जाता था। शस्त्र पकड़ने में सरल, अच्छे लोहे के, अच्छी धारवाले, देखने में सुन्दर, ठीक मुख के और बिना दाँतोंवाले होते थे। शस्त्र जब इतना तेज हो कि रोम को काट सके, तब उसका उपयोग करना चाहिए।

शस्त्रों के साथ अग्निदाह, जलौका प्रयोग, शृंग के उपयोग तथा क्षार प्रयोग की भी विस्तृत जानकारी लिखी है। अग्निकर्म कहाँ और कैसे करना चाहिए, जलौका की सविष-निर्विष परीक्षा, इनको लगाने तथा रखने की विधि, क्षार बनाना, क्षार के प्रतिसारणीय और पानीय भेद, इनके मृदु, मध्य और तीक्ष्ण भेद आदि की सब आवश्यक जानकारी बतलायी गयी है।

शस्त्रकर्म आठ बताये हैं; छेदन, भेदन, लेखन, वेधन, एषण, आहरण, स्रावण और सीवन। इन कर्मों के करने से पूर्व, कर्म करते समय और पीछे जो-जो सावधानियाँ रखी जाती हैं, उन सबका उल्लेख सूत्रस्थान में किया गया है।

यंत्र, शस्त्र-प्रयोग के अतिरिक्त व्रण सम्बन्धी जानकारी पूरी दी गयी है; व्रण के आकार, स्राव, वेदनाएँ, रोहण होने के लक्षण, शुद्ध व्रण की पहचान, और व्रण रोहण की परीक्षा भी दी है। व्रण की चिकित्सा ६० प्रकार की है, इसके प्रत्येक उपक्रम का वर्णन है (सू. चि. अ. १)। चरक में व्रण की चिकित्सा ३६ प्रकार की है (चरक. चि. २५)। व्रण किस लिए नहीं भरते, किनके जल्दी रोहण नहीं होते, इत्यादि जानकारी भी दी गयी है। चरक में इस सम्बन्ध में २४ कारण गिनाये हैं (चि. अ. २५।-३१-३४)।

शस्त्रकर्म करने से पूर्व रोगी को अच्छे प्रकार से नियंत्रित किया जाता था।

शस्त्रकर्म करने से पूर्व लघु भोजन दिया जाता था, मद्य पीनेवाले को मद्य पिला दी जाती थी (सु. सू. अ. १७।११-१२)। अन्न देने से रोगी को शस्त्रकर्म के साथ मूर्च्छा नहीं होती और मद्य पिलाने से शस्त्र की वेदना नहीं होती। इसलिए जिस कर्म में जैसी आवश्यकता हो, उसी के अनुसार रोगी को अन्न या मद्य देना चाहिए। सुश्रुत के समय रोगी को मूर्च्छित करने का साधन मद्य ही प्रतीत होता है। शस्त्रजन्य वेदना को शान्त करने के लिए मुलहठी के चूर्ण को घी में मिलाकर थोड़ा गरम करके खिला दिया जाता था (सू. अ. ५।४१)।

सुश्रुत में छोटे शल्यकर्मों के सिवाय अर्श, भगन्दर, अश्मरी, मूढगर्भ आदि के बड़े शल्यकर्म भी दिये हैं। इनको करने से पूर्व रोगी, उसके बान्धव तथा राजा की आज्ञा आवश्यक होती थी। आज्ञा प्राप्त करने के लिए रोग की वास्तविक जानकारी दे दी जाती थी (चि. अ. ७।२८-२९)। उदररोग में रोगी को सर्पविष देने से पूर्व इस प्रकार की सावधानी बरतने का चरक में उल्लेख है (चि. अ. १३)। यह स्पष्ट कहा गया है कि शस्त्रकर्म रोग का अन्तिम उपाय है। अर्शरोग चिकित्सा में शल्यकर्म की हानियाँ बतायी हैं (चि. अ. १४)।

इस प्रकार से सुश्रुत ने भी स्थान-स्थान पर उस समय के योग्य उपाय बताये हैं। यथा—अस्थि-छिद्र में प्रविष्ट या अस्थि में जोर से फँसे हुए शल्य को निकालने के लिए रोगी के पाँव थामकर यंत्र द्वारा निकालना चाहिए। यदि इस प्रकार शल्य बाहर न निकले तो रोगी को बलवान् पुरुषों द्वारा पकड़वाकर यंत्र द्वारा शल्य को पकड़े और इसको मौर्वी या ताँत से एक पार्श्व में पकड़कर पचाङ्गी बन्धन से बाँधे हुए घोड़े की लगाम में बाँध दे। अब घोड़े को चाबुक मारे, चाबुक मारने से घोड़ा मुख को ऊँचा उठायेगा, जिसके साथ में शल्य झटके से बाहर आ जायगा। यह उपाय ऊपर से देखने में भले ही सभ्य न हो परन्तु है स्वाभाविक। इसके लिए दूसरा भी उपाय है; वृक्ष की शाखा को झुकाकर उसमें शल्य को बाँधकर शाखा को छोड़ दे। इसके झटके से भी शल्य बाहर आ जाता है।

इसके अतिरिक्त लोहे के शल्य को निकालने के लिए अयस्कान्त (चुम्बक) का भी उल्लेख है। उस समय जिन साधनों का उपयोग होता था; पट्टी बाँधने के प्रकार, उनके विषय में सावधानी, व्रण चिकित्सा, शस्त्रकर्म की आवश्यक बातें सबका उल्लेख इस अंग में आया है।

शालाक्यतंत्र—इस चिकित्सा में प्रायः शलाका का उपयोग होता है, शायद इसी से यह शालाक्य कहलाता है। इसके अन्दर ग्रीवा से ऊपर के रोगों का; आँख,

कान, नाक, सिर के रोगों का विचार है। मुख रोग को सुश्रुत ने अलग रखा है, परन्तु संग्रह में आँख, कान, नाक, सिर के रोगों के साथ वर्णन किया है, जो ठीक भी है। इनमें आँख के रोग सबसे अधिक हैं। आँख के रोगों की संख्या सुश्रुत के अनुसार ७६ है, इनम वातजन्य १०, पित्तजन्य १०, कफजन्य १३, रक्तजन्य १६, सर्वजन्य २५, बाह्यज दो, इस प्रकार से ७६ रोग हैं। चरक के अनुसार ९६ नेत्ररोग हैं। कान के रोग २८, नासिकारोग ३१, शिरोरोग ११ और मुखरोग ६५ हैं। इनका इस तंत्र में उल्लेख है।

इन रोगों के लिए सामान्य चिकित्सा के अतिरिक्त शस्त्रकर्म भी वर्णित है। आँख की चिकित्सा में विशेष ध्यान देने योग्य वस्तु यकृत का उपयोग है; इसमें यकृत खाने के लिए कहा है (सु. उ. अ. १७।२४)। गोह के यकृत को चीरकर उसमें पिप्पली भरकर अग्नि में पकाना चाहिए। पकने पर यकृत को खाना चाहिए और पिप्पली से अंजन करना चाहिए। यही क्रिया प्लीहा से तथा बकरी के यकृत से भी कर सकते हैं। यकृत और प्लीहा प्रचुर विटामिन वाले हैं; परन्तु प्राचीन आचार्यों ने किस रूप से विचार करके इनका प्रयोग किया यह नहीं कह सकते।

आँख के रोगों में औषध विशेषत: त्रिफला का उपयोग सायंकाल करने का उल्लेख है। इस समय सूर्य का प्रकाश मन्द होता है, इसलिए इसका उपयोग करने को कहा है। आँखों में तीक्ष्ण अंजन सातवें-आठवें दिन लगाने का विधान है, सामान्य अंजन तो प्रति दिन करना चाहिए। अंजन के लिए भिन्न-भिन्न धातु की शलाका, अंजनदानी का उल्लेख आयुर्वेद ग्रन्थों में किया है।

आँख के उपचारों में आश्च्योतन, अंजन, तर्पण, पुटपाक, आँखों के बाहर लेप (बिडालक) बरता जाता था। इसमें उपवास का भी महत्त्व है। इन कार्यों के अतिरिक्त कुछ अक्षिरोगों में लेखन, छेदन आदि शस्त्रकर्म भी किये जाते थे। इनमें से अर्म (टैरिजियम) रोग में वर्णित शस्त्रकर्म (सु. उ. अ. १५।४-१०) आज के शस्त्र-कर्म के समान है। लिंगनाश (मोतिया) की चिकित्सा (कोचिंग) भी सुन्दरता से कही है (सु. उ. अ. १७।५७-६१)।

शिरोरोग में मस्तक के रोगों की चिकित्सा के लिए नस्य, प्रधमन, शिरोवस्ति का विशेष विधान है। नासारोग के लिए नस्य, धूम्रपान, कान के रोगों के लिए तैल, प्रधमन आदि उपचार बताये हैं। मुखरोगों में दाँतों के मसूड़ों, जिह्वा और ओष्ठ के रोगों का वर्णन किया है। दाँत उखाड़ने में सावधानी तथा ठीक प्रकार से न उखाड़ने के उपद्रवों का उल्लेख किया गया है। कृत्रिम दाँत लगाने का उल्लेख आयुर्वेद ग्रन्थों

में नहीं है। वेद में और चरक में अश्विनी के कार्यों में कृत्रिम दाँत लगाने का उल्लेख है (पूषा के दाँत गिर गये थे, उनको अश्विनी ने लगाया था—चरक. चि.अ. १।४।४२)। कन्नौज के राजा जयचन्द का भी कृत्रिम दाँत था—परन्तु आयुर्वेद की संहिताओं में इसका उल्लेख नहीं।

शालाक्य शास्त्र के विषय में निमि आदि के ग्रन्थ चलते रहे होंगे, परन्तु इस समय इस विषय का मुख्य आधार सुश्रुत ही है। चरक का वर्णन बहुत संक्षिप्त है, विस्तार से चिकित्सा सुश्रुत में ही है। इसी के आधार पर संग्रह में इस चिकित्सा का वर्णन है।

कायचिकित्सा—काय का अर्थ सम्पूर्ण शरीर है; आपाद-मस्तक होनेवाले रोगों की चिकित्सा इस अंग में वर्णित है। जिन रोगों से सारे शरीर पर प्रभाव पड़ता है, उनका इसमें उल्लेख है। जैसे ज्वर, अतिसार, रक्तपित्त, पाण्डु, उदर, अर्श, प्रमेह, राजयक्ष्मा आदि। इस चिकित्सा का प्रधान ग्रन्थ चरकसंहिता है, इसी को आधार मानकर संग्रहकार वाग्भट ने "इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः" कहा है। इस चिकित्सा में औषध-उपचार के साथ आहार-विहार एवं वस्ति पर बहुत जोर दिया गया है। वस्ति को आधी एवं सम्पूर्ण चिकित्सा कहा है; वस्ति आपाद मस्तक के दोषों को निकालती है।

रोगों के वर्णन में रोगों के कारण, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति इन पाँच बातों की विवेचना की जाती है। किन कारणों से रोग उत्पन्न होता है; उस रोग के कारण जो अस्पष्ट परिवर्तन होते हैं, वे एक प्रकार से पूर्वरूप हैं। यही परिवर्तन जब स्पष्ट होकर आँख से दृश्यमान हो जाते हैं, तब रूप या लक्षण कहलाते हैं। कई बार कारण, पूर्वरूप और रूप से रोग स्पष्ट नहीं होता, उस समय उपशय से मदद ली जाती है। उपशय का अर्थ सात्म्य या अनुकूलता है। यह अनुकूलता हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतु और व्याधि दोनों के विपरीत, हेतु के अर्थ को करनेवाली, व्याधि के अर्थ को करनेवाली तथा हेतु और व्याधि दोनों के अर्थ को करनेवाली होती है। जैसे शीत के कारण से उत्पन्न रोग में उष्ण उपचार हेतु-विपरीत है। हेतु के अर्थ को करनेवाला उपशय जले हुए को और जलाना है। उपशय का विपरीत अनुपशय है; शरीर के जो अनुकूल न आये वह अनुपशय है। इसी उपशय में देश और काल को भी समझना चाहिए।

पाँचवीं वस्तु सम्प्राप्ति है, सम्प्राप्ति का अर्थ शरीर में होनेवाला परिवर्तन है। एक ही कारण से कुपित वायु शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में भिन्न-भिन्न लक्षण उत्पन्न करती है; एक ही कारण से कुपित वायु भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न रोग उत्पन्न

करती है। कारण समान होने पर भी जो परिवर्तन शरीर में मिलते हैं, उनको समझना सम्प्राप्ति है। यह सम्प्राप्ति संख्या, विकल्प, बल, प्राधान्य और काल के भेद से भिन्न होती हैं। इस विषय में प्रमेहनिदान (चरक. नि. अ. ४-४) के प्रकरण में अत्रिपुत्र ने रोग की उत्पत्ति, उसके तीव्र, मध्यम, मृदु रूप एवं उत्पन्न न होने या देर में होने के कारण को सरलता से एक सूत्र में समझा दिया है। इसी प्रकार चिकित्सा को भी एक ही शब्द में कह दिया—"जिस क्रिया से शरीर के धातु समान होते हैं, वह चिकित्सा है; यही वैद्य का कर्म है।" चिकित्सा का अर्थ ही यह है कि विकृत हुए धातुओं को समान करना। यह आहार-विहार-औषध रूप में वर्णित है (अ. ४)।

भूतविद्या—इसका सम्बन्ध मानसिक रोगों से है। मन के दो दोष हैं; रज और तम। इनसे मनुष्य में उन्माद, अपस्मार, अमानुषोपसर्ग रोग होते हैं। अमानुषोपसर्ग से अभिप्राय देव-असुर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच आदि से मन का आक्रान्त होना है। अत्रिपुत्र का कहना है कि ये रोग वास्तव में प्रज्ञापराध के कारण (धी—स्मृति के विभ्रंश से) होते हैं और अपने कर्मों का फल हैं; इनके लिए देवता आदि को दोष नहीं देना चाहिए।[1]

मन-बुद्धि-संज्ञा-ज्ञान-स्मृति-भक्ति-शील-चेष्टा-आचार इनका विभ्रम होना (बदल जाना) उन्माद है।[2] स्मृति का अपगमन होना (दूर हो जाना) अपस्मार है। इनका सम्बन्ध मन के साथ है, अतएव ऐसे रोगों के लिए स्वस्तिवाचन, शान्तिकर्म, मणि-मंत्र-औषधिप्रयोग, प्रायश्चित्त, जप-होम आदि दैव-व्यपाश्रय चिकित्सा का आश्रय लिया जाता है।

ग्रहों का सम्बन्ध बच्चों के विषय में कहा है। काश्यप संहिता के रेवतीकल्प अध्याय में इस विषय में कई प्रकार की जातहारिणी, षष्ठीपूजा आदि बातों का उल्लेख मिलता है। संग्रह में भूतविज्ञानीय और भूतप्रतिषेध अध्याय पृथक् लिखे हैं; एक अध्याय में निदान है और दूसरे में चिकित्सा।

भूतविद्या का उल्लेख अथर्ववेद में भी है। इस वेद का सम्बन्ध दैवव्यपाश्रय चिकित्सा से है (चरक. सू. अ. ३०)। इसमें पिशाच नाम (पिशाचं मनमोहनं अहि

---

१. प्रज्ञापराधात् संभूते व्याधौ कर्मज आत्मनः।
नाभिशंसेद् बुधो देवान् न पितॄन् नापि राक्षसान्॥ —नि. अ. ८।२१

२. मदयन्त्युद्गता दोषा यस्मादुन्मार्गमाश्रिताः।
मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्त्तितः॥ सु. उ. अ. ६२।३

जातवेदः—५।२९।१०) आता है। गन्धर्व और अप्सरस् नाम भी अन्यत्र हैं (तै. सं. ३।४।८।४)। भूत नाम का प्रयोग अदृश्य वस्तु के लिए अथवा जिसके सम्बन्ध में उस समय कोई स्पष्टीकरण न हो ऐसे प्रसंग में होता था। इसको दैविक या अमानुषीय कार्य समझा जाता था। इस प्रकार के कार्यों की शमन-विद्या ही भूतविद्या थी।

इन कार्यों का उद्देश्य तीन प्रकार का था; हिंसा, रति और अभ्यर्चन (चरक. नि. अ. ७।१५)। इसलिए भूतविद्या-चिकित्सा में बलि, उपहार, होम, जप आदि कार्यों का विधान है। हिंसा प्रयोजन को निष्फल करने के लिए स्वस्तिवाचन, शान्ति-कर्म, दान आदि हैं।

कौमारभृत्य—इस शब्द का अर्थ बालकों के लालन-पालन से है, जैसा कि कालिदास के वचन से स्पष्ट है—

"कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि।" रघु. ३।१२

इस विद्या का क्षेत्र गर्भ से प्रारम्भ होकर उपनयन होने तक है। चरकसंहिता का जातिसूत्रीय अध्याय इसी विद्या से सम्बन्धित है (जाति—जन्म के सूत्र सम्बन्धी अध्याय)। इसमें कल्याणकारी संतति चाहनेवाले स्त्री-पुरुषों के लिए उपायों का वर्णन किया गया है (शा. अ. ८।३)। इसके अन्तर्गत गर्भ धारण क्रिया से प्रारम्भ होकर, सम्पूर्ण गर्भावस्था की देखरेख, प्रसवकालीन आवश्यक उपचार तथा उसके पीछे बच्चे की सम्पूर्ण देखरेख यह सब विषय आ जाता है। बच्चे का सम्बन्ध माता के साथ रहने से उसका भी उत्तरदातृत्व इसी विद्या के ऊपर रहता है। गर्भाधान क्रिया, गर्भ का पोषण, उसका रंग, उसको इच्छा के अनुसार बनाना, गर्भावस्था में देखरेख, गर्भकालीन व्यापद् की रक्षा, प्रसव का प्रबन्ध, प्रसवकालीन आवश्यक कार्य, बच्चे का जातकर्म, नामकरण आदि कार्य एवं उसके रखने-पालने की व्यवस्था, उसके वस्त्र, खिलौने आदि सभी बातों की जानकारी इसमें मिलती है (चरक. वि. अ. ८)।

जन्म के बाद होनेवाले रोगों की चिकित्सा यद्यपि कायचिकित्सा के समान ही है, तथापि कुछ रोग बच्चों में विशेष होते हैं, जैसे कुकूणक अक्षिरोग, अजगल्लिका आदि। इस सम्बन्ध की विवेचना विशेष रूप से काश्यप संहिता में है। इसमें बच्चों के दाँत निकलने के सम्बन्ध में महत्त्व की बातें बतायी गयी हैं (सू. अ. २०।५)। कन्याओं के दाँत निकलने में कम कष्ट होता है, क्योंकि इनके मसूड़े कोमल होते हैं, लड़कों के दाँत देर में और कष्ट के साथ निकलते हैं।

दाँतों के सिवाय ग्रह सम्बन्धी जानकारी भी काश्यप संहिता में विस्तार से है, ग्रहों की उत्पत्ति भी विस्तार से वर्णित हैं। इनके लक्षण श्री दुर्गाशंकर भाई के अनुसार

शारीरिक रोगों से ही मिलते हैं, इसलिए वही चिकित्सा इनमें करनी चाहिए। इसमें षष्ठी पूजा का उल्लेख भी है। बच्चों के रिकैट—अस्थिदौर्बल्य रोग (फक्क) का भी उल्लेख केवल इसी ग्रन्थ में मिलता है (पृष्ठ १००)। बच्चों के लालन-पालन की बहुत-सी बातें, काश्यप संहिता में हैं, परन्तु मुख्य विषय प्राचीन दृष्टि से चरक के जातिसूत्रीय अध्याय में आ जाता है। एक प्रकार से आधुनिक प्रसूति तंत्र का समावेश इसी में हुआ है।

योनि-व्यापत्तन्त्र (ग्यानोकोलोजी) भी इसी में आता है। चरक में बीस योनि-रोग कहे गये हैं, उनका उपचार भी वर्णित है। आर्त्तव सम्बन्धी रोगों का उल्लेख तथा मकल्ल आदि लक्षणों की चिकित्सा सुश्रुत के शारीरस्थान में कही है। प्रसव के समय उत्पन्न मूढगर्भ की अवस्था में शस्त्रकर्म का उल्लेख भी है, इसमें विशेष सावधानी से स्त्री को मूर्च्छित करके ही शल्यकर्म करने को कहा है, परन्तु किस प्रकार से उस समय मूर्च्छित करते थे; इसका उल्लेख नहीं (सम्भवतः मद्य पिलाते हों)। साथ ही आवश्यक होने पर गर्भपात करने का भी उल्लेख है (चि. अ. १५।११)।[1]

बच्चे के पालन के लिए जो धात्री होनी चाहिए, उसके सम्बन्ध में अत्रिपुत्र की सूचनाएँ बहुत ही मूल्यवान् हैं, आज दो हजार वर्ष बाद भी वे ताजी हैं—

"अथ ब्रूयात्—धात्रीमानय, समानवर्णाम् (समान वर्ण की); यौवनस्थाम् (युवती); निभृताम् (विनीत-नम्र); अनातुराम् (निरोगी); अव्यङ्गाम् (अच्छे सुन्दर अंगों-वाली); अव्यसनाम् (व्यसनों से रहित); अविरूपाम् (सुन्दर); अजुगुप्सिताम् (समाज में जिसकी निन्दा न हो); देशजातीयाम् (अपने देश, अपनी जाति की); अक्षुद्रकर्मिणीम् (नीच काम न करनेवाली); कुलेजाताम् (उत्तम कुल में उत्पन्न); वत्सलाम् (ममतावाली); अरोगाम् (स्वस्थ); जीवद्वत्साम् (जिसका बच्चा जीता हो); पुंवत्साम् (गोद में लड़का हो); दोग्ध्रीम् (प्रचुर दूधवाली); अप्रमत्ताम् (लापरवाह न हो); अनुच्चारशायिनीम् (गंदी आदत जिसकी न हो, सफाईपसन्द); अनन्त्यावसायिनीम् (जो अस्पृश्या न हो); कुशलोपचाराम् (बच्चे के पालने में होशियार); शुचिम् (पवित्र रहने की आदतवाली); अशुचिद्वेषिणीम् (गन्दगी से द्वेष रखनेवाली); स्तन्यसंपदुपेताम् (प्रशस्त दूधवाली धात्री को लाना चाहिए)।"

---

१. रामायण में भी मूढगर्भ के शस्त्रकर्म का उल्लेख है—
तस्मिन्नमागच्छति लोकनाथे गर्भस्थजन्तोरिव शल्यकृन्तः।
नूनं ममाङ्गान्यचिरादनार्यः शस्त्रैः शितैश्छेत्स्यति राक्षसेन्द्रः॥ वा.रा.सु. २८।६

सूतिका रोग—प्रसव के पीछे होनेवाली बीमारियाँ कष्टसाध्य होती हैं; इस बात का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, इसलिए इनसे बचाकर प्रसव कराना चाहिए। प्रसव में बलातैल या दूसरे तैलों का उपयोग बहुत सयुक्तिक है। इनके व्यवहार से जहाँ कृमि-संक्रमण से रक्षा होती है, वहाँ प्रसवकार्य सरल बनता है। इसी प्रकार गर्भिणी के आहार-विहार-दोहद की रक्षा सम्बन्धी सूचनाएँ दी गयी हैं।

सूतिकागार प्रकाश–धूमरहित तथा स्वच्छ बनाने का उपदेश है। जो स्त्रियाँ प्रसव कराने के लिए उपस्थित हों, वे बहुत बार की अभ्यस्त, नख कटाये हुए, साफ, कष्ट सहनेवाली, स्नेह रखने की प्रकृतिवाली होनी चाहिए।

एक प्रकार से कौमारभृत्य में मैटरनिटी, गायनोकोलाजी, स्त्रीरोग, बालरोग, शिशुपरिचर्या, शिशु का प्रबन्ध; सब विषय आ जाते हैं। ये विषय आयुर्वेदग्रन्थों में एक स्थान पर नहीं मिलते, भिन्न भिन्न स्थलों पर इनका उल्लेख हुआ है।

अगद तंत्र—इस अंग में स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के विषों की चिकित्सा कही है। चिकित्सावर्णन में विष किस किस रूप में दिया जा सकता है, इसका भी उल्लेख है। प्रायः राजाओं को विष का भय रहता है, यह विष खाने-पीने में, वस्त्र, आभूषण, माला, उपानह, स्नानजल, अनुलेप आदि द्वारा दिया जा सकता है। इसलिए रसोई, रसोई के अध्यक्ष और विषयुक्त अन्न की परीक्षा अग्नि एवं पशु-पक्षियों से बतायी गयी है। यह परीक्षा कौटिल्य-अर्थशास्त्रोक्त परीक्षा से मिलती है। अन्य तरीकों से दिये गये विष के लक्षण तथा उपाय भी सुश्रुत में कहे हैं।

सेना की रक्षा की दृष्टि से भी विष रक्षा कही है—शत्रु मार्ग, वायु, जल, घास, तृण आदि वस्तुओं को विष से दूषित कर देते हैं। इनको लक्षणों से पहचानकर शुद्ध करना चाहिए।[1]

स्थावर विषों के जो नाम गिनाये गये हैं वे अब ज्ञात नहीं। इनमें से एक-दो का ही ज्ञान है। विष के कारण शरीर में जो क्रमशः परिवर्तन होता है, उसे वेग (लहर) कहते हैं। सामान्यतः विष के सात वेग होते हैं; प्रत्येक वेग में विष गम्भीर होता जाता है और भीतरी धातुओं में उत्तरोत्तर पहुँचता हुआ असाध्य बन जाता है।

जंगम विष स्थावर विष से विपरीत होता है; स्थावर विष ऊर्ध्वगामी होता है,

---

१. राज्ञोऽरिदेशे रिपवस्तृणाम्बुमार्गान्नधूमश्वसनान् विषेण।
संदूषयन्त्येभिरभिप्रदुष्टान् विज्ञाय लिङ्गैरभिशोधयेत्तान्॥
सु. क. अ. ३।६

और जंगम विष अधोगामी रहता है, इसलिए एक दूसरे को नष्ट करता है। शिव के पुराणोक्त विषपान में यही कारण है कि मुख से पिया गया हलाहल गले में साँपों के लिपटे रहने से आगे नहीं जा सका। सिर पर गिरती हुई गंगा की धार विष की गरमी को दूर करती है; माथे पर स्थित चन्द्रमा अपनी द्युति से विष की कालिमा को मिटा देता है।

जंगम विष में सर्प मुख्य हैं, इसलिए उनकी जातियाँ, भेद, काटने के पृथक्-पृथक् लक्षण, उनकी चिकित्सा, प्रकृति; सब बातों की विवेचना की गयी है। साँपों के काटने से उत्पन्न वेग तथा होनेवाले लक्षण, मृत व्यक्ति की पहचान, इन सबके विषय में सूचनाएँ मिलती हैं। चिकित्सा में अरिष्ट, मंत्र प्रयोग के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न अगद बताये गये हैं। अगदों की फलश्रुति में यह भी कहा है कि इन औषधियों को नगाड़े आदि पर लगाकर बजाये, पताका आदि पर लगाकर मकान के ऊपर टाँगे। जहाँ तक नगाड़े की आवाज जाती है, वहाँ तक विष के रोगी स्वस्थ हो जाते हैं।[1]

सर्पविष के साथ मूषक, कीट, लूता के विष का भी उल्लेख है। पागल कुत्ते (अलर्क) के काटने के लक्षण और चिकित्सा भी बतायी है। इस चिकित्सा में धतूरे का उपयोग करके विष को पहले कुपित करने के लिए कहा है। अपने आप कुपित होने से पहले वैद्य को चाहिए कि वह इसे कुपित कर दे। विष वर्षा-ऋतु में क्यों प्रबल होता है; इस सम्बन्ध में गुड़ का दृष्टान्त महत्त्वपूर्ण है।[2]

विष क्यों मारक है; इसका भी कारण बतलाया है। विष के लघु, रूक्ष, आशु, विशद, व्यवायी, तीक्ष्ण, विकासी, सूक्ष्म, उष्ण तथा अनिर्देश्यरस ये दस गुण हैं जो कि ओज के दस गुणों से विपरीत होते हैं; इसलिए विष मारक होता है। सर्प विष के चौबीस उपाय बताये हैं (चरक० चि० २४।३५-३७)।

मूषकविष और अलर्कविष (जलत्रास की अवस्था—हाईड्रोफोबिया) का वर्णन विस्तार से किया है। रोगी में अलर्क—पागल जानवर के लक्षण उत्पन्न हो जाने पर रोग असाध्य हो जाता है। लूताविष के साथ सामान्य कीट, मक्खी आदि के काटने के भी लक्षण बतलाये गये हैं।

---

१. अनेन दुन्दुभिं लिम्पेत् पताकां तोरणानि च।
श्रवणाद् दर्शनात् स्पर्शात् विषात् संप्रतिमुच्यते ॥ सु. क. अ. ६।४

२. तद् वर्षास्वम्बुयोनित्वात् संक्लेदं गुडवद् गतम्।
सर्पत्यम्बुधरापाये तदगस्त्यो हिनस्ति च ॥
प्रयाति मन्दवीर्यत्वं विषं तस्माद् घनात्यये ॥ चरक. चि. अ. २३।७-८

विषचिकित्सा प्रकरण में टीका के अन्दर काश्यप या दूसरों के वचन भी मिलते हैं (चक्रपाणि, चरक में, अ० २३।३२)। इस समय तो सुश्रुत संहिता का कल्पस्थान और चरक संहिता का एक अध्याय ही उपलब्ध है। संग्रह से यह पता चलता है कि इस विषय में अवश्य ऊहापोह होता रहा है।[1]

रसायन—औषध दो प्रकार की हैं—स्वस्थ के लिए ऊर्ज-बल देनेवाली और रोगी के रोग को मिटानेवाली। इनमें प्रथम प्रकार की औषध जिससे स्वस्थ व्यक्ति को बल मिलता है, रसायन श्रेणी की है। ऐसी औषध से शरीर के रस आदि धातुओं, स्मृति आदि बुद्धिगुणों तथा मानसिक सत्त्वगुण में लाभ होता है, जिससे जरा और रोग नष्ट होते हैं। यही रसायन है (यज्जराव्याधिविध्वंसि तद् रसायनमुच्यते)।[2]

रसायन विधि दो प्रकार की है, एक कुटीप्रावेशिक और दूसरी वातातपिक। दोनों विधियों में कुछ बातें समान और आवश्यक हैं, बिना उनके रसायन का लाभ नहीं हो सकता। इनमें शरीर का शोधन करने के अतिरिक्त मानसिक दोष—रज और तम को दूर करना जरूरी है। बिना इनको दूर किये रसायनों का लाभ नहीं उठाया जा सकता, वैसे औषध अपना प्रभाव कुछ अंश तक अवश्य करती है (विधूय मानसान् दोषान् मैत्रीं भूतेषु चिन्तयन्—चरक० चि० अ० १।२२)। दूसरी वस्तु रसायन सेवन के लिए समय होना चाहिए; तुरन्त खाते ही लाभ नहीं होता, उसमें समय और धैर्य की जरूरत होती है।

इसके अतिरिक्त आचाररूपी रसायन का उपयोग इसमें आवश्यक है; इसके लिए सत्यवचन, क्रोध न करना, स्त्री सेवन और मद्य से अलग रहना, अहिंसा वृत्ति, किसी को पीड़ा न पहुँचाना, शान्त रहना, मीठा बोलना, जप करना, शरीर की शुद्धि, दान करना, तपस्वी जीवन, जागना-सोना समान रखना, दूध और घी का सेवन, देश-काल को समझना, गर्व न करना, देवता-आचार्य-पूजनीय व्यक्तियों का

---

१. सप्तमे मरणं वेग इति नग्नजितो मतम्; सप्तेति वेगा मूर्च्छाद्या विदेहपतिना स्मृताः; आश्रयाः सप्त सप्तानामित्यालम्बायनोऽब्रवीत्; धात्वन्तरेषु याः सप्त कलाः पूर्वं प्रकीर्त्तिताः। —संग्रह, उत्तर. अ. ४०

२. रसविद्या और रसायन विद्या ये दोनों भिन्न हैं। रसविद्या का विकास ९वीं शती का है, रसायन विद्या प्राचीन है। रसविद्या का उपयोग भी रसायन के लिए रसहृदय तंत्र में बताया है। रस और रसायन को पृथक् करके काल-निर्णय करना चाहिए।

सत्संग, उनके पास बैठना, उनका आदर करना, धर्म भाव रखना, अध्यात्म चिन्तन—इनको पालन करनेवाला व्यक्ति एक प्रकार से रसायन का ही सेवन करता है।

रसायन सेवन से दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, तरुण वय, प्रभा, वर्ण, स्वर आदि में औदार्य, देहबल, इन्द्रियबल, वाक्सिद्धि, लोकवन्दना और कान्ति मिलती है। दीर्घायु का अर्थ यही है कि मनुष्य को आयु पूरी प्राप्त हो। अधिक आयु का उल्लेख अतिशयोक्ति ही है; इसी से शबर ने कहा है कि रसायन की यह सामर्थ्य नहीं देखी गयी कि मनुष्य एक हज़ार वर्ष जिये।[1]

सुश्रुत में सोम आदि ओषधियों के सेवन से जो त्वचा का गिरना, कृमि आदि उत्पन्न होना, नये दाँत, नख आदि निकलना बतलाया है वह चरक संहिता में नहीं है। इन्द्र ने भी ऋषियों को रसायन ओषधि सेवन करने का उपदेश दिया है।

चरक का रसायन प्रकरण अधिक बुद्धिगम्य और सरल है। आँवले और दूध का उपयोग बहुत सुन्दर है (चि० अ० १।३।९-१३)। इसके सिवाय भिलावा, शिलाजीत, हरीतकी, त्रिफला आदि बहुत से रसायनों का उल्लेख है, इनमें जो जिसको अनुकूल पड़े, सुभीता हो, उसे बरतना चाहिए।

अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय में वाग्भट ने लशुन, पलाण्डु, विधारा, कुक्कुटी आदि वनस्पतियों का भी उपयोग रसायन रूप में बताया है। लशुनकल्प का उल्लेख काश्यप संहिता में भी है। बावची, बच आदि जानी हुई औषधियों के साथ कंचुकी, ताप्य, गुग्गुलु का उल्लेख इसमें हुआ है। सम्भवतः इन औषधियों से शरीर को स्वस्थता मिलती है। चरक की औषधियों में मानसिक पवित्रता का भी ध्यान रखा गया है, क्योंकि वे सात्त्विक हैं। संग्रह की औषधियाँ कम से कम लशुन और पलाण्डु तो सात्त्विक नहीं। चरक तो कहता है कि मद्य का सेवन रसायनसेवी को नहीं करना चाहिए, परन्तु इस निषेध का महत्त्व संग्रह की दृष्टि में नहीं है। संग्रह की रसायन-विधि सांसारिक व्यक्ति के लिए है, इसमें किसी प्रकार का परहेज नहीं।

वाजीकरण—इस अंग का अभिप्राय पुरुष में पुंस्त्व शक्ति को बढ़ाना है। यह अंग पुरुषों से ही सम्बन्धित है, स्त्रियों के लिए ऐसी औषध आयुर्वेद में नहीं मिलती। अत्रिपुत्र ने स्त्री को ही प्रधान वाजीकरण माना है, उसमें ज्ञानेन्द्रियों के सब विषय एक साथ स्थित हैं। स्त्री में प्रीति, सन्तान, धर्म, अर्थ, लक्ष्मी, लोक-परलोक सब स्थित हैं।

---

१. न रसायनानामेतत्सामर्थ्यं दृष्टं येन सहस्रसंवत्सरं जीवेयुः। —शाबरभाष्य

भारतीय संस्कृति में पुत्र न होना पाप है, संतान रहित मनुष्य की उपमा सूखे तालाब, चित्र में बने प्रदीप, एक शाखावाले वृक्ष तथा फल रहित विटप से दी गयी हैं। उसे मनुष्य न कहकर तिनकों का पुतला कहा है। इसके विपरीत बहुत संतानवाले की उपमा बहुत शाखा-प्रशाखावाले वृक्ष से दी है। पहले समय में जब जीवन के साधन खेती, पशुपालन, आखेट थे, यहसि द्धान्त महत्त्वपूर्ण था, परन्तु आज आबादी अधिक और भूमि कम होने से स्थिति बदल गयी है।

चरक संहिता में इस सम्बन्ध में प्राणिज द्रव्यों का उपयोग विशेप रूप से किया है, परन्तु इनसे रहित शुद्ध योग भी दिये हैं। पहली बार ब्यायी, चारों पुप्ट स्तनोंवाली, समान रंग की, जीवित बछड़ेवाली गाय को उरद के पत्ते या ईख के पत्ते खिलाये। जब इसका दूध गाढ़ा हो जाय तब उसे गरम या बिना गरम करके पीना चाहिए (चि० अ० २।३।३-५)।

शुक्र दोष, नपुंसकता के कारण और इनकी चिकित्सा का स्पप्ट वर्णन किया गया है। नपुंसकता जन्मजात तथा जन्मोत्तर काल-जन्य एवं ब्रह्मचर्य के कारण भी होती है। इसमें कुछ कारणों से सामयिक अस्थायी क्लीवता आती है। मनुष्य के शुक्र में आठ दोष हो सकते हैं (चरक० चि० अ० ३०।१३९-१४०)। इन दोषों की चिकित्सा विस्तार से कही गयी है। शुक्र जिन कारणों से शरीर में से अलग होता है, उनको बहुत ही सुन्दरता से लिखा है।[1]

सोलह वर्ष से पूर्व और सत्तर वर्ष की आयु के पश्चात् स्त्रीसेवन नहीं करना चाहिए। इन अवस्थाओं में स्त्रीसेवन से मनुष्य घुनी हुई लकड़ी के समान खोखला हो जाता है। कुछ कारण ऐसे हैं (जैसे—चिन्ता, रोग, स्त्री में दोप देखना, भय आदि) जिनसे शक्ति होने पर भी प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि शक्ति की प्रेरणा में प्रसन्नता मुख्य कारण है (चरक० चि० अ० २।४५)।

इस प्रकार शरीर और मन दोनों के स्वास्थ्य के लिए वाजीकरण है, इसका उपयोग शरीर का ध्यान रखकर ही करना चाहिए। वाजीकरण का उपदेश होने पर भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व बना ही हुआ है।[2]

---

१. हर्षात्तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि।
अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥ चरक. चि. अ. २।४।४८

२. धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयपरायणम्। अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम् ॥
हृदय. उ. अ. ४०

क्रियात्मक ज्ञान और आतुरालय (अस्पताल)

विद्यार्थी को क्रियात्मक शिक्षा देने के लिए चिकित्सालयों का भी उपयोग होता था; इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, परन्तु रोगी की चिकित्सा के लिए आतुरालय, व्रणितोपासना गृह होते थे। स्त्रियों के प्रसव के लिए सूतिकागार, बच्चों के लालन-पालन के लिए कुमारागार बनते थे। शिक्षा के समय क्रियात्मक ज्ञान के लिए शवच्छेद कार्य का महत्त्व था (सु० शा० अ० ३।४७-४८)।

इनके अतिरिक्त सामान्य शल्यकर्म के अंगों की शिक्षा के लिए भिन्न भिन्न उपकरण काम में लाये जाते थे (सु० सू० अ० ९।४)। इन उपकरणों पर विद्यार्थी 'जितहस्तता' प्राप्त करता था । चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान उसे व्रणितोपसना गृह में देखने को मिलता था।

व्रणितोपासनागृह—इस विषय में कहा गया है कि व्रणरोगी के लिए सबसे प्रथम रहने की व्यवस्था करनी चाहिए। यह व्यवस्था वास्तु आदि से सम्मानित स्थान पर होनी चाहिए। यह घर वास्तु के प्रशस्त लक्षणों से युक्त, पवित्र, सीधी वायु और धूप से सुरक्षित होना चाहिए। इसमें रोगी की शय्या कष्टरहित-सुखदायक, देखने में सुन्दर, पर्याप्त लम्बी चौड़ी होनी चाहिए। शय्या का सिरहाना पूर्व की ओर रखना चाहिए। रोगी डर जाता है, स्वप्न में कभी चौंक जाता है, इसलिए उसको बल देने के लिए शस्त्र रख देना चाहिए (गाँवों में आज भी प्रसूता के सिरहाने कैंची, चाकू या कोई लोहा रखने की प्रथा है)। यहाँ पर अनुकूल, प्रिय बोलनेवाले मित्रों को बुलाना चाहिए, जिससे उनके साथ बातचीत करते हुए व्रण की वेदना की ओर ध्यान न जाय। मित्र इसे बराबर सान्त्वना देते रहें। दिन में सोना नहीं चाहिए, उससे व्रण में कण्डू, शोथ, सुर्खी, वेदना और स्राव बढ़ता है, शरीर भारी हो जाता है। रोगी को उठना-बैठना, करवट बदलना, चलना-फिरना, जोर से बोलना बहुत सावधानी से करना चाहिए, व्रण पर जोर न पड़े इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए। स्त्रियों का दर्शन, उनसे बातचीत करना, उनका स्पर्श, समागम पूर्णतः छोड़ देना चाहिए, क्योंकि स्त्रीदर्शन से यदि शुक्रक्षय कभी हो जाय, तो बिना समागम के भी शुक्रनाश के दोषों को उत्पन्न कर देता है।

भोजन में हानिकारक वस्तु तथा तीव्र मद्यों का परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि मद्य व्रण को बिगाड़ देती है। वायु, धूप, धूल, धुआँ, ओस इनका अधिक सेवन, अति भोजन, अनिष्ट भोजन, क्रोध, भय, शोक, चिन्ता, रात्रि में जागना, विषमाशन, सीधा खड़ा होना, चलना, शीत, वायु, विरुद्ध भोजन आदि हानिकारक बातों से बचना

चाहिए। उपाध्याय ऋग्वेद आदि के मंत्रों से तथा वैद्य अपने धूम आदि कार्यों से सन्ध्याकाल में रोगी की रक्षा करें। प्रशस्त औषधियों को सिर पर धारण करना चाहिए (सु० सू० अ० २९)।

आतुरालय—चरकसंहिता में रोगों का सही उपचार करने के लिए जो जो वस्तु आवश्यक होती हैं, उनकी विस्तृत सूची दी है। इसमें रोगी के रहने के लिए सबसे प्रथम घर की व्यवस्था करनी चाहिए। यह घर मजबूत, सीधी वायु से बचा, एक पार्श्व से वायु प्रवेशवाला, सुविधापूर्वक जिसमें घूमा जा सके, किसी पार्श्ववर्त्ती मकान से न दबा हुआ, धुआँ, धूप, वर्षा, धूल से बचा हुआ, अनिच्छित शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध जहाँ पर न पहुँच सकें, पानी का प्रबन्ध हो, ऊखल-मूसल, स्नान के स्थान से युक्त, मल-मूत्र त्याग के लिए उचित प्रबन्धवाला, रसोई युक्त हो; ऐसा गृह शिल्प-विद्या जाननेवाले व्यक्ति द्वारा प्रशस्त रूप में बना होना चाहिए।

इस घर में शील-शौच-आचार-अनुराग-दाक्ष्य (चातुर्य) और प्रादक्षिण्य (सूक्ष्म) से युक्त, सेवाकार्य में कुशल, सब कार्यों को सीखे हुए, रसोई पकानेवाले, स्नान-संवाहन, उठाने-बैठाने, औषधि तैयार करनेवाले भृत्यों को, जो सब प्रकार के कार्यों को करने में किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट न करें, गाने-बजाने-स्तोत्र पाठ, श्लोक-गाथा-कथा-आख्यायिका, इतिहास-पुराण कहने में कुशल, अभिप्राय को समझने में चतुर, मन के अनुकूल, देश-काल को पहचाननेवाले मुसाहिबों को भी वहाँ रखे। बटेर, कपिञ्जल खरगोश, हरिण, एण, कालमृग आदि पशु एवं दुधारी, सीधी, निरोगी, बछड़ेवाली गाय का प्रबन्ध करे। भिन्न भिन्न पात्र—पानी के बड़े मटके, पीढ़े, कड़ाहे, थाली, लोटे, पानी निकालने का बर्त्तन, मथनी, करछुली आदि आवश्यक वस्तु इसमें इकट्ठी करनी चाहिए। शय्या-आसन आदि के पास करवा और पीकदान रखना चाहिए। शय्या और बैठने का पीढ़ा अच्छी प्रकार बिछे हुए, पीछे की तरफ सहारे—तकियेवाले होने चाहिए, जिससे उनके ऊपर बैठकर स्नेहन-स्वेदन, वमन-विरेचन, शिरोविरेचन आदि कार्य सुखपूर्वक किये जा सकें। अच्छी प्रकार धुले तथा तैयार किये पीसने के पत्थर, आवश्यक शस्त्र, धूम नेत्र, वस्ति नेत्र, तराजू, मापने के पात्र, घी, तैल, वसा, मज्जा, मधु. राब, नमक, ईंधन, सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मैरेय, मेदक, दही, मण्ड, शालि धान्य, मूँग, उरद, तिल, कुलत्थ, बेर, मृद्वीका, हरड़, बहेड़ा, आँवला आदि नाना प्रकार के स्नेह-स्वेद के उपयोगी द्रव्य तथा अन्य औषधियों का संग्रह करना चाहिए। इन वस्तुओं के अतिरिक्त जो भी आवश्यक प्रतीत हों, चिकित्सा कर्म में जिनकी संभावना हो, उन सब चीजों को पहले से इस घर में एकत्र रखना चाहिए।

आतुरालय में रहनेवाले रोगी को समझा देना चाहिए कि वह जोरसे नहीं बोले, उसे बहुत खाना, बहुत बैठना, बहुत घूमना, क्रोध-शोक-शीत-धूप-ओस-वायु-सवारी करना, स्त्री समागम, रात में जागना, दिन में सोना, विरुद्ध, अजीर्ण, असात्म्य, अकाल-प्रमित, अति हीन, गुरु, विषम भोजन छोड़ देना चाहिए। मल-मूत्र के वेगों को नहीं रोकना चाहिए। इन बातों का मन से भी विचार छोड़ देना चाहिए (चरक० सू० अ० १५)।

आतुरालय के प्रबन्ध की सामान्य जानकारी ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है।

सूतिकागार--प्रसव का नवाँ मास प्रारम्भ होने से पहले ही सूतिकागार बनाना चाहिए। यह ऐसे स्थान पर हो जहाँ हड्डी, शर्करा, ईंट, पत्थर, रोड़े तथा पुराने ठीकरे, टूटे मिट्टी के वर्त्तन न हों, जिस भूमि का दिखाव (रूप), जल (रस), गन्ध प्रशस्त हो। घर का मुख्य द्वार पूर्व या उत्तर दिशा में रखना चाहिए। इस घर को बिल्व, तिन्दुक, इंगुदी, भिलावा, वरणा, खैर इनमें से किसी की लकड़ी से बनाना चाहिए। इसमें मंजन, आलेपन, पहनने, ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र रखने चाहिए। अग्नि (रसोई), जल, स्नानगृह, मल-मूत्र त्याग की सुविधा, कूटने-पीसने की व्यवस्था, ऋतु-अनुकूल प्रबन्ध रहे ऐसा, मन के लिए अनुकूल घर बनाना चाहिए।

इसमें घी, तैल, मधु, सैन्धव, सौवर्चल, काला नमक, विड नमक, विडंग, पिप्पली, हींग, सरसों, लहसुन आदि उपयोगी वस्तु, दो पत्थर, दो मूसल (द्वार पर रखने के लिए--जिससे कोई सीधा घर में न आ सके), ऊखल, सूई और उसके खोल, शस्त्र, बिल्व के बने दो पलंग रखने चाहिए, अग्नि जलाने के लिए तिन्दुक और इंगुदी की लकड़ियाँ, बहुत वार प्रसव कार्य की हुई, स्नेह रखनेवाली, निरन्तर प्रेमभाव रखने-वाली, सेवाकार्य में कुशल, सूझवाली, स्वभाव से ही ममतावाली, शोक या घबराहट से दूर रहनेवाली, कष्ट सहने की अभ्यासी स्त्रियों को वहाँ पर रखना चाहिए। इसके सिवाय और जो कुछ भी ब्राह्मण तथा वृद्धा स्त्रियाँ बतायें, उन सबको एकत्र रखना चाहिए। सुश्रुत ने सूतिकागार की लम्बाई आठ हाथ और चौड़ाई चार हाथ बतायी है।

कुमारागार--भवन निर्माण में कुशल व्यक्ति प्रशस्त, सुन्दर, प्रकाशपूर्ण स्थान पर, सीधी वायु से बचा हुआ, पार्श्व से वायु प्रवेशवाला दृढ़ मकान बनाये। इस मकान में हिंसक पशु, चूहे, पतंग, मच्छर आदि का प्रवेश अवरुद्ध होना चाहिए। पानी का स्थान, कूटने-पीसने, मल-मूत्र त्याग का स्थान, स्नानगृह, रसोई आदि अलग अलग ऋतु अनुकूल बनाने चाहिए। ऋतुओं के अनुसार इसमें उठने-बैठने का, सोने तथा दूसरी वस्तुओं का प्रबन्ध करना चाहिए। मकान में बच्चे के आसपास जो व्यक्ति रहें

वे पवित्र, अनुभवी, वैद्य से प्रेम रखनेवाले तथा बच्चे से स्नेह भाव रखनेवाले होने चाहिए (शा० अ० ८।५९)।

बच्चे के बिछाने-ओढ़ने-पहनने के वस्त्र कोमल, हलके, साफ सुथरे, सुवासित होने चाहिए। जिन वस्त्रों में पसीना, मैल, जूँआ आदि हों, उनको हटा देना चाहिए, मल-मूत्र से बिगड़े वस्त्रों को तुरन्त पृथक् कर देना चाहिए। यदि दूसरे नये वस्त्र उपलब्ध न हों तो इन्हीं वस्त्रों को अच्छी प्रकार धोकर, धूप में सुखाकर, धूप देकर काम में लाना चाहिए।

वस्त्रों को धूप देने के लिए जौ, सरसों, अलसी, हींग, गुग्गुलु, वच, चोरक, हरीतकी, जटामांसी, अशोक, रोहिणी आदि द्रव्य और साँप की केंचुली को घी के साथ बरतना चाहिए।

बच्चे के खिलौने नाना प्रकार के, बजनेवाले, देखने में सुन्दर, हलके, आगे से नोक-रहित, मुख में न जा सकनेवाले, प्राणों को किसी प्रकार हानि न पहुँचानेवाले होने चाहिए।[1] बच्चे को कभी भी डराना नहीं चाहिए। बच्चा यदि रोता हो या भोजन न खाये तब उसे डराने के लिए राक्षस, पिशाच, पूतना आदि का नाम नहीं लेना चाहिए (शा० अ० ८।६८)।

आरोग्यशाला—स्कन्दपुराण में आरोग्यशाला बनाने का बहुत पुण्य बताया है; जो व्यक्ति सब साज-सज्जा से पूर्ण, वैद्य से युक्त आरोग्यशाला बनवाता है, उसके लिए दूसरा कोई धर्म करने को नहीं रहता, क्योंकि जीवनदान से बढ़कर दूसरा दान नहीं। सम्राट् अशोक ने अपने राज्य में तथा पड़ोसी राज्यों में पशु और मनुष्य दोनों के लिए चिकित्सा की सुविधा की थी। उसने अपने शिलालेख में घोषणा की है—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ने अपने विजित राज्य में तथा सीमान्त राज्यों में, जैसे चोल, पाण्डच, सत्पुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी, अन्तियोक नामक और जो दूसरे समीप

---

१. खिलौनों के लिए काश्यप संहिता में अधिक जानकारी दी है—

बालक्रीडनकानि पिष्टमयानि,—तद्यथा गोगजोष्ट्राश्वगर्दभमहिषमेषच्छाग-मृगवराहवानरशररुरुभर्सिहव्याघ्रकपितरक्षुवृककूर्ममीनशुकसारिकाकोकिलकलविङ्क-चक्रवाकहंसक्रौञ्चसारसमयूरकुकरचकोरकपिञ्जलचरणायुधवर्त्तकाकाराणि शैलकगृह-(क) रथकयानकस्यन्दनकशल्लिकाजिञ्झरिकाखैरिकेशीकातुम्बीदुष्प्रवाहकभद्रकसंचो-लक..... ....दुहितृकाकुमारकगोलगन्दुकान्यानि च स्त्रीकौतुकानीति।" काश्यप. खिल. १२।६

के राजा हैं; सब स्थानों पर दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबन्ध करा दिया है; मनुष्य चिकित्सा तथा पशु चिकित्सा।" (शिलालेख २)

जहाँ पर जो औषधियाँ नहीं होती थीं, उनको दूसरे स्थानों से मँगवाकर उन स्थानों पर मनुष्य और पशुओं के लाभ के लिए अशोक ने लगवाया था। ये आरोग्यशालाएँ आधुनिक अस्पतालों का प्राथमिक रूप थीं।

अशोक के पीछे पाँचवीं शती में (४०५ से ४११ ईसवी पश्चात्) चीनी यात्री फाहियान भारत में आया था। उस समय मगध की राजधानी पाटलीपुत्र में एक धर्मार्थ चिकित्सालय था। किसी भी रोग से पीड़ित, निराश्रित, गरीब रोगी सब इसमें आते थे। यहाँ उनकी पूरी देखरेख की जाती थी, आवश्यक आहार और अन्य वस्तुएँ दी जाती थीं। उनके आराम का पूरा प्रबन्ध किया जाता था। जब वे स्वस्थ हो जाते थे तब उनको वहाँ से जाने दिया जाता था।[1]

फाहियान कहता है कि दान कार्य में बड़ी स्पर्धा चलती थी, दानवीर बड़ी बड़ी धर्मशालाएँ, आरोग्यशालाएँ चलाते थे। इसके बाद सातवीं शती में आनेवाला चीनी यात्री च्युआन्-शाङ भी निःशुल्क चलनेवाले दवाखानों का उल्लेख करता है, जहाँ रोगियों को मुफ्त दवा दान दी जाती थी। हर्षवर्धन ने ऐसी पुण्यशालाएँ स्थान स्थान पर बनवायी थीं।

आरोग्यशाला सम्बन्धी गुप्तकालीन उल्लेखों के छः सौ वर्ष बाद का एक लेख मिला है; इसको चोल देश के वीर राजेन्द्रदेवुश ने १०६७ ईसवी में लगवाया है। यह विज्ञप्ति दक्षिण के चेंगुलपटु मण्डल के तिरुमकूडल गाँव के श्री वेंकटेश्वर मन्दिरस्थ गर्भगृह की दीवार में है। इसके अनुसार वेंकटेश्वर के नित्योत्सव आदि खर्च की व्यवस्था के साथ एक पाठशाला और विद्यार्थियों के आरोग्य के लिए स्थापित एक आरोग्यशाला के खर्च की भी व्यवस्था की गयी थी। आतुरालय की व्यवस्था का विवरण इस प्रकार है—

इस आतुरालय का नाम श्री वीर चोलेश्वर आतुरालय था, इसमें पन्द्रह रोगियों के रखने की व्यवस्था थी। चिकित्सा के लिए एक कायचिकित्सक, एक शल्य-चिकित्सक, दो पुरुष परिचारक, दो स्त्री परिचारिकाएँ, एक सेवक, एक द्वारपाल, एक धोबी और एक कुम्हार—इतने आदमियों के रखने का उल्लेख है। इनको जो वेतन उस समय मिलता था, वह भी इसमें दिया है; यह अन्न के रूप में मिलता था।

---

१. श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री लिखित 'आयुर्वेद के इतिहास" से उद्धृत

अन्न का नियत भाग पात्र द्वारा मापकर दिया जाता था। उस समय इस आतुरालय का कायचिकित्सक कोदण्डरायाश्वत्थाम था, उसको तीन कुरिणि जितना धान्य मिलता था (कुरिणि और नाड़ी अन्न मापने का द्रविड़ नाम है, इस प्रकार से अन्न के रूप में वेतन देने का रिवाज़ पुराना है)। शल्यक्रिया करनेवाले को एक कुरिणि धान्य मिलता था। परिचारक जो कि चिकित्सा के लिए आवश्यक औषधियाँ लाता था, औषधि पकाने के लिए जो लकड़ी लाता था तथा औषधियों को तैयार करने के लिए जो परिचारक थे; इनमें प्रत्येक को एक कुरिणि धान्य दिया जाता था। रोगी की सेवा तथा अन्य काम करने के लिए रखे गये तीसरे सेवक को एक नाड़ी जितना धान्य मिलता था। रोगियों को समय पर यथायोग्य दवा तथा पथ्य देने के लिए (संभवतः रसोई का काम भी इसको ही करना होता होगा) तथा परिचर्या के लिए दो स्त्री सेविका थीं; इनको चार नाड़ी जितना धान्य दिया जाता था। रोगियों के वस्त्र धोने के लिए एक धोबी, आतुरालय में जरूरत के अनुसार मिट्टी के पात्र देने के लिए एक कुम्हार था; इनको चार नाड़ी धान्य मिलता था। रोगियों की शय्या के लिए सात कट (चटाई या बिछौना अथवा चारपाई ?) और रात्रि में दिया जलाने के लिए ४५ नाड़ी जितना तेल प्रति वर्ष दिया जाता था। आतुरालय के लिए प्रति दिन काम में आनेवाली औषधियाँ तैयार करने तथा ये कितनी मात्रा में तैयार हों; इस सम्बन्ध की सूचना भी ऊपर के लेख में दी गयी है।

इसके अनन्तर सन् १२६२ का एक दूसरा लेख आन्ध्र प्रदेश के मलकापुरवाले शिलास्तम्भ से प्राप्त हुआ है। इसमें काकतीय रानी रुद्राम्मा तथा इसके पिता गणपति के गुरु विश्वेश्वर की प्रवृत्तियों का उल्लेख है। यह विश्वेश्वर गौड़ देश के दक्षिण राढ़ देश—बंगाल या उड़ीसा का रहनेवाला शैव आचार्य था। इसको काकतीय गणपति और रुद्राम्मा (सन् १२६१ से १२९६) ने कृष्णा नदी के दक्षिण तीरस्थ में आये कई गाँव दान दिये थे। विश्वेश्वर ने इनमें से दो गाँवों की आमदनी के तीन भाग करके एक भाग प्रसूतिशाला के खर्च के लिए नियत कर दिया था, एक भाग आरोग्यशाला के लिए और एक सत्रशाला के लिए रख दिया था। प्रसूतिशाला और आरोग्यशाला का निर्माण विश्वेश्वर ने स्वतः किया होगा या इसके पूर्व किसी आचार्य ने किया होगा; परन्तु स्थानिक शैव मन्दिर के साथ इनको सम्बन्धित कर दिया गया था।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि अंग्रेजों के आने पर जिस प्रकार की आरोग्यशाला या अस्पताल इस देश में बने हैं, उसी प्रकार से रोगियों को एक स्थान पर रखकर चिकित्सा

करने की प्रथा बहुत पहले से इस देश में प्रचलित थी। मन्दिरों के साथ धर्मशाला, आतुरालय, आरोग्यशाला होना सम्भव है। मन्दिर या मठ जहाँ विद्या दान के केन्द्र होते थे, वहाँ पर उनके साथ आरोग्य दान का भी प्रबन्ध होना सम्भव है। धर्मशास्त्र में महावैद्य युक्त आरोग्यशाला बनाने का बहुत पुण्य कहा गया है। धर्मशाला, पाठशाला इस देश में जितनी व्यापक थीं, उतनी आतुरशालाएँ व्यापक नहीं थीं; इसका कारण सम्भवतः इनका अधिक खर्चीला या अधिक व्ययसाध्य होना रहा होगा, अथवा पीछे योग्य चिकित्सकों का अभाव हो गया होगा।

सैनिक चिकित्सा

कौटिल्य अर्थशास्त्र में सेना के साथ चिकित्सक रखने का उल्लेख है, ये चिकित्सक मनुष्य, अश्व, हाथी आदि के लिए रखे जाते थे, यथा—(१०।३।६२) चिकित्सा करनेवाले शस्त्र-यंत्र-विषनाशक अगद, स्नेह, वस्त्र हाथ में लिये तथा खान-पान की रक्षा करनेवाली और पुरुषों को प्रसन्न रखनेवाली स्त्रियाँ सेना के पीछे रखनी चाहिए। महाभारत में भी उल्लेख है कि भीष्म के शरशय्या पर गिरने पर शल्य निकालने में कुशल चिकित्सक अपने सामान के साथ पहुँचे थे।

सुश्रुत में लिखा है कि शत्रु लोग युद्ध के समय अन्न, पान, मार्ग, घास, वायु, जल आदि वस्तुओं को दूषित कर देते थे। इन दूषित वस्तुओं को इनके लक्षणों से पहचानकर उपचार करना चाहिए। विष से दूषित जल पिच्छिल, झागदार, रेखाओं से युक्त होता है, इसमें मछली, मेंढ़क मर जाते हैं, पक्षी, किनारे पर रहनेवाले जन्तु पागल हो जाते हैं, हाथी, घोड़े आदि जो भी पशु इसमें स्नान करते हैं, उनको ज्वर, दाह, शोथ होता है। इसके लिए जल को शुद्ध करे।

जल शुद्ध करने के लिए धावड़ी, अश्वकर्ण, असन, पारिभद्र आदि की छाल जलाकर पानी में डाल देनी चाहिए। पीने के पानी में भी इस राख को डालना चाहिए।

विष से दूषित भूमि, शिलापृष्ठ, नदी के घाट, मैदान के ऊपर जब पशु या मनुष्य का स्पर्श होता है तब उनको जलन होती है, अंग सूज जाता है,नख टूटते हैं, बाल गिरते हैं। इसके लिए भूमि पर एलादि गुण की औषधियों को सुरा या दूध में पीसकर काली मिट्टी या वल्मीकमृत्तिका मिलाकर छिड़काव करे। धूम या वायु के विष से दूषित होने पर पक्षी थककर भूमि पर गिर जाते हैं, मनुष्यों को कास, प्रतिश्याय, शिरोवेदना तथा नेत्ररोग होते हैं। इसके लिए अग्नि में लाख, हल्दी, अतीस, मोथा, खस, कूट, प्रियंगु आदि सुगन्धित वस्तु जलानी चाहिए। घास-भूसा या अन्न विष से दूषित होने पर

जो इनको खाते हैं, उनको वमन, अतिसार, मूर्च्छा या मृत्यु होती है। उनकी चिकित्सा विषनाशक अगदों से करनी चाहिए।

इसी लिए वैद्य को सेना के साथ रखने की सूचना है (सु. सू. अ. ३४।३)। वैद्य का निवास छावनी में राजा के निवास की बगल में ही होता था। उसके निवास पर विशेष चिन्हित ध्वजा रहती थी, जो दूर से दिखाई देती थी। ध्वजा की पहचान से विष, शल्य और रोग से पीड़ित व्यक्ति सीधे वहाँ पहुँच सकते थे। इसमें रहनेवाला वैद्य अपने विषय में पूर्ण ज्ञाता होता था तथा अन्य विषयों की भी जानकारी रखता था। इस प्रकार का वैद्य राजा तथा वैद्यविद्या के जाननेवालों से पूजित होता था, उसका यश ध्वजा की भाँति चमकता था (सु. सू. अ. ३४।१२-१४)।[1]

कौटिल्य-अर्थशास्त्र में राजा के पास विषवैद्य-गारुड़ी रखने का भी उल्लेख है (१।२१।२४)। वैद्य औषधशाला से स्वयं परीक्षा की हुई औषधि लेकर, राजा के सामने उसमें से थोड़ी सी औषधि पकानेवाले तथा पीसनेवाले पुरुष को खिलाकर एवं यथावसर स्वयं भी खाकर फिर राजा को दे। इसी तरह औषधि के समान मद्य तथा जल के विषय में भी समझना चाहिए (अर्थ० १।२१।२५-२६)।

---

१. भिषजः प्राणबाधिकमनाख्यायोपक्रममाणस्य विपत्तौ पूर्वः साहसदण्डः।
कर्मापराधेन विपत्तौ मध्यमः। मर्मवधवैगुण्यकरणे दण्डपारुष्यं विद्यात्॥

यदि कोई वैद्य राजा को बिना सूचना दिये ऐसे रोगी की चिकित्सा करे जिसमें भय हो और चिकित्सा करते हुए रोगी मर भी जाय तो वैद्य को प्रथम साहसदण्ड दिया जाय। चिकित्सा के ही दोष से मृत्यु हो तो मध्यम साहसदण्ड दे। शरीर के किसी अंग का गलत आपरेशन करने से रोगी का अंग नष्ट हो या अन्य हानि हो तो उसे दण्डपारुष्य में कहा उचित दण्ड दे। (कौ० अ० ४।१।८३)

सत्रहवाँ अध्याय

अन्य देशों की चिकित्सा के साथ आयुर्वेद का संबंध

किसी देश से दूसरे देश का सम्बन्ध जानने में भाषा का महत्त्व बहुत अधिक है। इसकी विशेषता तब से अधिक बढ़ गयी, जब से भाषाविज्ञान का गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ हुआ। भाषाविज्ञान से बहुत सी गुत्थियाँ सुलझ गयी हैं। इसी से हमको आज पता चलता है कि यूरोप में बोली जानेवाली भाषा का सम्बन्ध पूर्वी ईरानी तथा संस्कृत भाषा से था, दोनों भाषाएँ एक ही परिवार की हैं, इनके बोलनेवाले व्यक्ति पहले एक ही भाषा बोलते थे।

इस भाषा को बोलनेवालोंका आदिम स्थान कैस्पियन सागर के उत्तर में माना जाता है, यहाँ के निवासी आर्य थे। इनकी दो शाखाएँ बनीं, एक शाखा पूर्व की ओर बढ़ी और दूसरी पश्चिम की ओर। पूर्व की ओर बढ़नेवाली शाखा ईरान होती हुई भारत में पहुँची और पश्चिम की ओर जानेवाली शाखा तुर्की, रूस होती हुई जर्मनी के आगे तक बढ़ी।

इनमें ईरान और भारत पहुँचनेवाली शाखा की भाषा अवेस्ता और वेदों की भाषा है, पश्चिम में बढ़नेवालों की भाषा लैटिन और जर्मन है। संस्कृत भाषा लैटिन या जर्मन भाषा में किस प्रकार बदली, इसे भाषाविज्ञान ने ढूँढ़ निकाला है। इस सम्बन्ध में ग्रासमन आदि ने कुछ सिद्धान्त बनाये हैं जिनसे स्पष्ट है कि इनका आदिस्रोत संस्कृत ही है। (यथा संस्कृत—पितर्, ग्रीक—पत्तर, लैटिन—पत्तर, अंग्रेजी—फादर। दन्त का टूथ, दुहिता का डॉटर, विधवा का विडो, माता का मदर, गौ से कौ, द्वि से टू, तनु से थिन।)

अवेस्ता की भाषा भी संस्कृत से बहुत मिलती है—जैसा कि गत प्रथम भाग में लिखा जा चुका है।

इससे स्पष्ट है कि एक ही जाति की ये दो शाखाएँ हैं। इस जाति की भाषा पहले एक थी, जो सम्भवतः संस्कृत थी। पीछे से वर्ण परिवर्त्तन होने पर धीरे-धीरे पूर्व और पश्चिम की दो शाखाएँ बन गयीं। इनमें पूर्व की शाखा में वेद का ज्ञान उत्पन्न

हुआ, यह ज्ञान कुछ अंशों में अवेस्ता के वचनों के साथ भी मिलता है। पीछे क्रमशः वैदिक ज्ञान बढ़ता गया, जिसमें ऋग्वेद का ज्ञान सबसे पहले हुआ और अथर्ववेद का ज्ञान सबसे पीछे।

अथर्ववेद में मंत्र और औषध रूप में दो प्रकार की चिकित्सा मिलती है। यह चिकित्सा जिस प्रकार से पूर्वी शाखा में मिलती है, उसी प्रकार पश्चिम शाखा में भी मिलती है। वहाँ भी मन्दिर के पुजारी रोगों या कष्टों को दूर करने के लिए मंत्र प्रयोग करते थे; उनके देवालय चिकित्सास्थान थे। कैल्टिक जाति में वैद्यक और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इनके धर्मगुरु डुइड् चिकित्सक भी थे। इनकी चिकित्सा-पद्धति अथर्ववेद-विहित मंत्र और औषध सम्बन्धी थी (काश्यप. उपो. पृ. १४९)।

अथर्ववेद में रोगोत्पत्ति के कारण यातुधान कहे हैं (अथर्व. १।७–१–७)। इसके सिवाय कृमि, देवग्रह विशेष, गुह स्कन्द आदि भी रोग के कारण बताये हैं (अथर्व २।३१।१–५)। इनको दूर करने के लिए मंत्र-उपचार और औषध-उपचार दोनों का भैषज्य रूप में अथर्ववेद के अन्दर उल्लेख है। धीरे-धीरे मंत्रोपचार कम होता गया और औषध-उपचार बढ़ता गया। आज भी हमको कुछ ग्रन्थों में मंत्र-चिकित्सा मिलती है (चरक. शा. अ. ८।३९; क. अ. १।१४)। सर्पविष-चिकित्सा में मंत्र-प्रयोग होता था (क. अ. ५।९)।

असीरिया-बेबीलोनिया देश में भी प्राचीन काल में भारतीयों के समान अपवित्र पुरुष के साथ बोलने, सहवास करने अथवा उच्छिष्ट भोजन करने से रोगोत्पत्ति मानी जाती थी। रोगों को भूत-प्रेत-पिशाच आदि से भी उत्पन्न मानते थे, इनकी भयानक कल्पना थी। रोगनिवृत्ति के लिए जल आदि विशेष औषध का पान, विशेष ओषधि का धारण, रोगी को पाउडर आदि से ढाँपना, वृक्ष आदि के पत्तों से रोगी को झाड़ना, रोगकारक दुष्ट देवता के लिए बकरे, सूअर आदि की बलि देना, तान्त्रिक पद्धति के समान शत्रु के केश, नख, पैर की धूलि आदि को अभिमंत्रित करके, उसकी प्रतिकृति बनाकर अपमार्जन करना, ऋग्वेद में मिलनेवाले भार्डूक देवता के समान मर्डूक देवता की उपासना से रोग परिहार आदि बहुत सी बातें, जो आथर्वण, तान्त्रिक आदि प्रयोगों के समान हैं, मिलती हैं। भोजन से पूर्व प्रातः औषध सेवन, विरेचन की महिमा, तैल से विरेचन, लशुन का उपयोग, उदर रोग और मेहरोग में मूत्रपरीक्षा, कीड़ों से दाँत के रोग होना आदि बहुत सी बातों की भारतीय मत के साथ उसमें समानता है।

बैबिलोनिया देश की चिकित्सा के विषय में दो विरोधी मत मिलते हैं, हैरोडोटस नामक विद्वान् का कहना है कि इस देश की चिकित्सा के लिए रोगियों को बाजार या

जनसमुदाय के बीच में ले जाने से प्रतीत होता है; इस देश में चिकित्सा की विशेष उन्नति नहीं थी। इसके विपरीत क्याथम्बल थोम्सन नामक विद्वान् ने ७०० ई० पू० के अर्दन नामक वैद्य का जो चित्र उपस्थित किया है, उससे पता चलता है कि बैबिलोनिया की चिकित्सा पर्याप्त उन्नत थी। हैमूवर्न नामक राजा के समय राजनियम था कि विपरीत चिकित्सा करनेवाले शल्यचिकित्सक दण्ड के भागी होते थे। इसी ने लिखा है कि नेत्रचिकित्सा में रोगी ७–८ दिन में स्वस्थ हो जाते हैं, नासिकाव्रण के उपचार में बाहर होनेवाले रक्तस्राव को बन्द करने के लिए अन्तःऔषध दी जाती थी।

मिस्र देश के प्राचीन पेपर्याख्य त्वक्पत्र में १५० रोगों का उल्लेख है, एवर्स नामक त्वकपत्र में ज्वर, उदर रोग, जलोदर, दन्तशोथ आदि १७० रोगों का उल्लेख मिलता है। इसी देश के बारहवें राजवंश के समय लिखी पुस्तक में किसी स्त्री के रजोविकार एवं अर्बुद आदि रोग तथा आजकल मिलनेवाले नेत्ररोगों के भेद लिखे हैं। नील नदी के आस-पास के प्रदेश को स्वास्थ्य के लिए उत्तम कहा गया है। असीरिया की तरह इस देश में भी भूत, पिशाच, प्रेत आदि सेरोगों की उत्पत्ति मानी जाती थी। जार्ज फौवर्ट ने लिखा है कि इस देश के चिकित्सा ग्रन्थों में मंत्रों की अधिकता थी तथा धार्मिक पुरोहित ही चिकित्सक होते थे।

कैल्टिक जाति की चिकित्सा का भी धर्म के साथ बहुत सम्बन्ध था, इस जाति का ड्रूईड नामक धर्मगुरु ही चिकित्सक था। अथर्ववेद की भाँति इसमें भी मान्त्रिक और औषध चिकित्सा चलती थी।[१]

प्रश्न इतना है कि यह चिकित्सा भारत से वहाँ गयी अथवा उन देशों में स्वतः विकसित हुई है। आर्यों के विकास के लिए भाषाविज्ञान का मत ऊपर लिखा गया है। जिस प्रकार से मनुष्य में भाषा का विकास हुआ, क्या उसी प्रकार चिकित्सा का विकास होना स्वाभाविक नहीं? भाषा के विकास के लिए भाषाशास्त्रियों ने कुछ कल्पनाएँ की हैं, यद्यपि वे एक निश्चय पर नहीं पहुँचातीं, तथापि इतना स्पष्ट करती हैं कि भाषा का विकास स्वतः हुआ है, इसे किसी ने किसी से नहीं लिया।

यही बात चिकित्सा के सम्बन्ध में भी है. प्रत्येक देश में चिकित्सा का प्रारम्भ स्वतः हुआ है; चूँकि उनकी कुछ अवस्थाएँ समान थीं, इसलिए कुछ अवस्थाओं में यह विकास समान रूप में हुआ है। बाद में परस्पर परिचय, सम्पर्क से इसमें सुधार या आदान-प्रदान भले ही हुआ हो। जैसा कि अत्रिपुत्र ने कहा है—

---

१. काश्यप संहिता, उपो. पृष्ठ १४७-१४९ के आधार पर

"सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वाद् भावस्वभावनित्यत्वाच्च । न हि नाभूत् कदाचिदायुषः सन्तानो बुद्धिसंतानो वा, शाश्वच्चायुषो वेदिता, अनादि च सुखदुःखं सद्रव्यहेतुलक्षणमपरापरयोगात् ।"

चरक. सू. अ. ३०।२७

आयुर्वेद को शाश्वत-नित्य कहा जाता है; अनादि होने से, स्वभाव से सिद्ध लक्षणों के कारण और पदार्थों के स्वभाव के नित्य होने से आयुर्वेद भी नित्य है । आयु की परम्परा या बुद्धि की परम्परा का नाश, उसकी शृंखला का टूटना कभी भी नहीं हुआ; आयु का ज्ञान सदा बना रहा; सुख (आरोग्य), दुःख (विकार) सदा बने रहे; द्रव्य-रोग के कारण--लक्षण की परम्परा-शृंखला सदा से मिलती है। इसलिए आयुर्वेदज्ञान---चिकित्साज्ञान नित्य है ।

इस दृष्टि से जिस प्रकार यह ज्ञान भारत में विकसित हुआ, उसी प्रकार से अन्य देशों में भी स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ । इसे भारत से अन्य देशों ने सीखा, यह नहीं कहा जा सकता । दोनों ज्ञानों में जो समता मिलती है, वह सामान्य है, क्योंकि भाषा-विज्ञान के अनुसार दोनों भाषापरिवार एक ही स्थान से प्रसरित हुए हैं । इसी से चीन की चिकित्सा में भी भारत की भाँति ज्वर के भेदों तथा आमाशय के भेदों का उल्लेख है (पं० हेमराजजी के अनुसार ज्वर के दस हजार भेद इस चिकित्सा में हैं; आयुर्वेद में तो ज्वर आठ प्रकार का ही है। इसलिए इसकी समानता मानना उचित नहीं) । चीन देश की चिकित्सा में आर्द्रक, दाडिममूल, वत्सनाभ, गन्धक, पारद आदि वस्तु, अनेक प्राणियों के मल मूत्र, असंख्य वृक्षों के पत्र, पुष्प, मूल आदि का उल्लेख होना इस बात को स्पष्ट करता है कि वहाँ पर चिकित्सा का विकास भारत की भाँति स्वतः हुआ है । दोनों में समानता देखकर इसे भारत से गया हुआ मानने का सिद्धान्त उसी समय तक था, जब तक कि भाषाविज्ञान का परिचय नहीं था । भाषा की भाँति चिकित्सा भी प्रत्येक देश में स्वतः विकसित हुई ।

भाषाविज्ञान के पण्डित ए. सी. ऊलनर ने कूच भाषा के शब्दों के साथ भारतीय चिकित्साशास्त्र के शब्दों की तुलना की है । इनमें कुछ शब्द तो अविकृत रूप में एक से हैं, और कुछ शब्दों में उच्चारण भेद से परिवर्तन मिलता है, यथा--

माञ्चष्ट (मंजिष्ठा), करञ्चपीच (करंजबीज), सारिप (शारिवा), भर्गी (भार्गी), किञ्चेल (किंजल्क), तकरू (तगर), पंक रच (भृंगराज), करुणसारि (कालानुसारि), शालवर्णी (शालपर्णी), किरोत (किरात या गिलोय), चिपक (जीवक), पिप्पाल (पिप्पली), अश्वकान्ता (अश्वगन्धा), तेचवती (तेजोवती),

मेत (मेदा), पितरी (विदारी), सूक्ष्मेल (सूक्ष्मैला), प्रियङ्कु (प्रियंगु), विरङ्ग (विडङ्ग), उपद्रव (उपद्रव), खादिर (खदिर), मोतर्स (अजमोदा), कोरोशा (गोरोचना), सुमां (सोम)।

ये शब्द कूच जाति में भारतीयों के सम्पर्क के बाद गये होंगे; जिस प्रकार कि भारत में अजवायन की एक जाति का नाम पारसीक यवानी है, जिसका अर्थ है ईरान की अजवायन। अजवायन का नाम संस्कृत में यवानी है, जो कि यवन शब्द का ही रूपान्तर है। चिकित्सा के द्रव्यों का एक देश से दूसरे देश में आदान-प्रदान होता था। किसी देश में कोई द्रव्य चिकित्सा में उपयोगी था, किसी देश में दूसरा द्रव्य बरता जाता था।

कूच या शक जाति का सम्बन्ध भारत के साथ बहुत प्राचीन है। चीन भारत का पड़ोसी देश है, शकों का आक्रमण ईसा पूर्व इधर से ही भारत में हुआ था। १६५-१६० ई० पूर्व में घुमक्कड़ जातियों में से युहुची जाति की शकों के साथ टक्कर हो गयी थी। शक सर दरिया के उत्तर में बसे हुए थे और इस टक्कर से टूटकर इनको दक्षिण की ओर बिखर जाना पड़ा। शकों ने अपनी शक्ति संग्रह करके ग्रीक सामन्तों के बसाये हुए राज्यों पर (वैक्ट्रिया और पार्थिया पर) आक्रमण किया। इस आक्रमण में वे काबुल तक पहुँचे। काबुल में आकर इनको रुकना पड़ा। वैक्ट्रिया से बल्ख और बल्ख से बाह्लीक राज्य बना, जहाँ के वैद्य का नाम कांकायन था। इस वैद्य को चरकसंहिता, नावनीतक और काश्यप संहिता में 'कांकायनो बाह्लीक भिषक्' नाम से स्मरण किया है। इसने चरकसंहिता म पुनर्वसु आत्रेय के साथ वार्त्ता-कथा में विचारविनिमय, पक्षस्थापन किया है; इसीके नाम से 'कांकायन गुटिका' प्रसिद्ध है। इस प्रकार से दोनों देशों में विचार परिवर्तन तथा औषध परिवर्त्तन होना स्वाभाविक था। परन्तु यह स्थिति बहुत पीछे की है। इससे पूर्व सिकन्दर का आक्रमण भारत पर हो चुका था, सैल्युकस का दूत मेगस्थनीज पाटलिपुत्र में कई वर्ष रह चुका था, उस समय विदेशियों का सम्पर्क स्थापित हो गया था। इसलिए इन शब्दों का महत्त्व आदि काल के संबंध में विशेष नहीं; जब हम देखते हैं कि अवेस्ता की भाषा तथा विचार ऋग्वेद से बहुत मिलते हैं, अवेस्ता में आये वेषज, भिजिष्क, मायु शब्द भेषज, भिषक्, मंत्र शब्दों के ही रूपान्तर हैं। ये शब्द भारत से वहाँ पहुँचे, इसकी अपेक्षा इनको भाषाविज्ञान के नियम से एक ही भाषाश्रेणी के शब्द मानना उचित है; ईरानी और संस्कृत दोनों भाषाएँ पूर्वी शाखा से सम्बद्ध हैं। चिकित्साज्ञान का लेन-देन होने से पूर्व भाषा का विनियम आवश्यक है। भाषाविज्ञान के विद्वान् इस विषय में किसी देश को किसी दूसरे का ऋणी

नहीं मानते। यह सम्भव है कि कुछ शब्द दूसरी भाषा के उस भाषा में आ गये हैं (जैसे हिन्दी में फ्रांसीसी के कनस्तर, मेज, टेबल; अरबी के सिफारिश आदि शब्द आ गये हैं)। इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह भाषा उस भाषा से विकसित हुई है। इसी प्रकार चिकित्साकर्म-विषयक समानता या कुछ औषधियों के नामों की समानता देखने से एक देश को दूसरे देश की चिकित्सा का ऋणी मानना तब तक उचित नहीं, जब तक कि इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण या आधार नहीं मिलता। जैसा कि ८वीं शती के अरब के खलीफा के समय भारतीय चिकित्सकों के अरब जाने से पता लगता है।

ग्रीक तथा भारत की चिकित्सा में समानता—यूनानी और भारतीय चिकित्सा में जो अत्यधिक समानता है, वह भी इसी बात को बताती है कि दोनों देशों में चिकित्सा का विकास भाषा के समान स्वतः हुआ है। दोनों देशों में त्रिदोषसिद्धान्त—वात, पित्त, कफ से रोगोत्पत्ति मानी गयी है। वात, पित्त, कफ का नाम वेद में भी है।[1] ग्रीक ग्रन्थकार डी ओस्कोर्डीस और उससे पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के औषधशास्त्र में भारतीय तत्त्व ढूंढे जा सकते हैं; उदाहरण के लिए—पिप्पली, पिप्पलामूल, कुष्ठ, इलायची, तज (त्वक्), सोंठ, वच, गुग्गुल, मोथा, तिल आदि भारतीय औषधियाँ ग्रीक देश के चिकित्साशास्त्र में बरती जाती थीं।

ग्रीक और प्राचीन आयुर्वेद के बीच में बहुत समानता है। परन्तु इस समानता का आधार क्या है, यह निश्चय करना कठिन है। इन दोनों देशों की चिकित्सा में जो समानता है, उसे डाक्टर जौली ने अपनी पुस्तक "इण्डियन मेडिसिन" में दिखाया है। हिपोक्रेट की प्रतिज्ञा, जो कि आज भी मेडिकल कालेजों में चिकित्सकों को दी जाती है, चरक संहिता के शिष्य-अनुशासन से बहुत अधिक मिलती है।[2] दोनों चिकित्साओं में दोषवाद, दोषों की विषमता से रोगोत्पत्ति; ज्वर की आम, पच्यमान और पक्व ऐसी तीन अवस्थाएँ; शोथ की तीन अवस्थाएँ; अपचार क्रम में शीत, उष्ण तथा रूक्ष और स्निग्ध, पिच्छिल आदि विभाग; रोगों के लिए इनसे विपरीत गुणवाले उपचारों को बरतना; साध्यासाध्य ज्ञान का महत्त्व; चिकित्सक के लक्षण; गुरु के पास शिष्य की प्रतिज्ञा; चिकित्सक के आचार का आदर्श, मद्य का सेवन धर्म में निषिद्ध

१. वात, पित्त, कफ के लिए वैदिक मंत्र—अथर्व. १०।२।१३; अथर्व. १८।३।५; अथर्व. ४।२४।१; अथर्व ४।९।८; अथर्व. ५।२२।११-१२; अथर्व. ६।१२७।१देखिए।

२. देखिए लेखक की क्लिनिकल मेडिसिन का प्रथम भाग ८।१८।२४

होने पर भी चिकित्सा में उसका व्यवहार; चातुर्थक, तृतीयक, अन्येद्युष्क आदि ज्वरों के भेद; क्षय रोग का वर्णन; हृदय के रोगों का वर्णन न होना (आयुर्वेद में पाँच हृदय-रोग कहे हैं, इनका उल्लेख चरक. सू. अ. १७।२७—२९ में है); मिट्टी खाने से पाण्डु-रोग का होना; गर्भावक्रान्ति का वर्णन, गर्भ में बच्चे के अंगों का एक साथ बनना, बीज के विभाग से जुड़वाँ सन्तान का पैदा होना; गर्भवती स्त्री के दक्षिण पार्श्व में उत्पन्न लक्षण पुरुषसन्तान तथा वाम पार्श्व के लक्षण कन्या के सूचक मानना; आठवें मास में उत्पन्न गर्भ का जीवित न रहना; मृत गर्भ को बाहर निकालने की विधि; अश्मरी में शस्त्र कर्म; अर्श चिकित्सा, शिरावेध; जलौका लगाने की विधि (जलौका वर्णन में यवन क्षेत्र का उल्लेख "तासां यवनपाण्ड्यसह्यपौतनादीनि क्षेत्राणि"—सु. सू. अ. १३।१३; इसमें पाण्ड्य और सह्य दक्षिणी देश हैं, यवन देश से कुछ लोग ग्रीक लेते हैं। सुश्रुत में यवन शब्द म्लेच्छ देश के लिए आया होगा); दाह क्रिया, यंत्र-शस्त्रों का रूप-आकार; आँख के ऊपर शस्त्रकर्म करते समय दक्षिण आँख के लिए वाम हाथ, वाम आँख के लिए दक्षिण हाथ का उपयोग आदि बहुत सी समानता दिखाई पड़ती हैं।

आयुर्वेद में त्रिदोषवाद का विकास साख्यशास्त्र के त्रिगुणवाद से हुआ है। वेद से इस विकास का सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं लगता। यदि वेद से इस सिद्धान्त का विकास भारत में माना जाय तो ग्रीस में इसे स्वतंत्र रूप में विकसित समझना चाहिए। ज्योतिष विद्या में जैसे यवनों-म्लेच्छों का ऋण स्वीकार किया गया है, ऐसा ऋण वाग्भट के सिवाय (जैसा कि संग्रह में पलाण्डु वर्णन में 'शकों के प्रिय' उल्लेख से स्पष्ट है) आयुर्वेद ग्रन्थों ने नहीं माना।[1] 'भारत में जैसे यह सिद्धान्त स्वतन्त्र विकसित हुआ उसी प्रकार ग्रीस में भी होना सम्भव है।

इतिहास यह भी बताता है कि टीसीयारस (४०० ई० पू०) और मेगस्थनीज (३०० ई० पू०) भारत में आये थे। मेगस्थनीज भारत में पर्याप्त समय तक रहा था, वह सैल्यूकस का राजदूत था और चन्द्रगुप्त के दरबार में रहता था। मेगस्थनीज से पूर्व सिकन्दर का आक्रमण भारत में हो चुका था। आक्रमण के समय होनेवाली चोटों और व्रणों की चिकित्सा भी उस समय ग्रीक में किसी रूप में होना स्वाभाविक है। विशेष कर जब हम देखते हैं कि साँप के काटे हुए व्यक्तियों की चिकित्सा में उन्होंने

---

१. म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्देववद् द्विजः॥ बृ. सं. २।१४

भारतीयों से मदद ली थी, साथ ही अपने चिकित्सकों को उसने उनसे विद्या सीखने के लिए कहा था (काश्यप. उपो. पृष्ठ १८७ की टिप्पणी)।

इससे इतना स्पष्ट है कि भारतीय चिकित्सा उस समय कुछ अंशों में ग्रीक की चिकित्सा से श्रेष्ठ थी, जिस प्रकार कि यहाँ लोहा बनाने की प्रक्रिया विशेष स्थान रखती थी। यह विकास परस्पर सम्पर्क का कारण है; जब दो जातियाँ, दो मनुष्य मिलते हैं, तब उनमें भाषा, विद्या, विचारों का परस्पर आदान-प्रदान होना स्वाभाविक है। इसमें कुछ बातें एक दूसरे से परस्पर सीखते हैं; इसका यह अभिप्राय कभी नहीं होता कि सम्पूर्ण विद्या का विकास-मूल उस देश से वहाँ पहुँचा। यह तो लेन-देन, परस्पर विनिमय ही है।

हिपोक्रिट्स—पाश्चात्य ग्रीक वैद्यक में प्रधान आचार्य के रूप में हिपोक्रिट्स का नाम मिलता है। उसका जन्म कास नामक स्थान में ४६० या ४५० ई० पू० में हुआ था। इसने अपने पिता तथा हिरोडिकस से विद्या पढ़ी थी। विद्याध्ययन के लिए यह दूर देशों में गया था। इसकी आयु के सम्बन्ध में मतभेद है, कुछ लोग ८५ वर्ष और कुछ एक सौ वर्ष की आयु मानते हैं। प्लेटो नामक विद्वान् (४२८–३४८ ई० पू०) ने हिपोक्रिट्स की भैषज्यविद्या का उल्लेख, उसके अध्यापन के सम्बन्ध में अपने प्रोटागोरस ग्रन्थ तथा दर्शन विषयक ग्रन्थ फेड्रस में दो बार किया है। टिमियस नामक इन्द्रिय-विज्ञान विषयक ग्रन्थ में उसने इसका नाम नहीं लिखा।[1]

हिपोक्रिट्स के नाम पर कई ग्रन्थ मिलते हैं, विद्वानों का उनके विषय में एक मत नहीं है, वे इन सबको हिपोक्रिट्स के लिखे नहीं मानते; क्योंकि इनमें से बहुतों में परस्पर विरोधी बातें बहुत हैं। ये ग्रन्थ छोटे तथा एक एक विषय का वर्णन करनेवाले हैं। ग्यालन ने (१३०–२०० ईसवी) हिपोक्रिट्स के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों का विवरण दिया है, उसको भी जो ग्रन्थ मिले वे भी हिपोक्रिट्स नाम के रूपान्तर ग्रन्थ ही थे। उपलब्ध ग्रन्थों में बहुत से एशियामाइनर में मिले हैं और एक या दो ग्रन्थ सिसली में मिले हैं, ग्रीस में कोई ग्रन्थ नहीं मिला।

ऐसा ज्ञात होता है कि हिपोक्रिट्स के सम्प्रदाय का प्रचार अपनी जन्मभूमि में विशेष नहीं हुआ, जो कि स्वाभाविक है। क्योंकि विद्वान् को आदर प्रायः अपने देश से दूर ही मिलता है; इसी से वहाँ के लोग भैषज्य विद्या सीखने के लिए मिस्र गये। हिपोक्रिट्स के पीछे ३८२–३६४ ई० पू० में यूडाक्सस नामक विद्वान् द्वारा मिस्र में

---

१. काश्यप संहिता, उपोद्घात—पृष्ठ १६१ के आधार से

जाकर १५ मास तक हेलियोपोलिस् नामक स्थान के एक भिषक् पुरोहित से भैषज्य विद्या के अध्ययन का वर्णन इतिहास में मिलता है।

हिपोक्रिट्स को कुछ कारणों से अपना जन्मस्थान स्नीड्स या मतान्तर में कास स्थान छोड़ना पड़ा था। इसके तीन कारण समझे जाते हैं; १. उसे स्वप्न में इलहाम हुआ कि उसे बाहर जाना चाहिए, २. ज्ञानवृद्धि की उसकी प्रबल चाह उसे अपने देश से बाहर ले गयी, ३. उस पर यह इलजाम लगा कि उसने निड़िया के पुस्तकालय को इसलिए जलाया कि कोई दूसरा इसका उपयोग करके विद्वान् न बन सके। उसे अपने स्थान में रहकर अपने प्रचार की सुविधा नहीं थी, जो कि स्वाभाविक है।

ग्रीक तथा भारत की चिकित्सा में समानता

दोनों चिकित्साओं में त्रिदोषवाद की समानता है, इसको देखकर कुछ विद्वान् वहाँ से भारत में इसका आना मानते हैं, जो कि पूर्णतः हास्यमय है। भारतीय वात-पित्त-कफ का रूप चन्द्रमा, सूर्य और वायु के विसर्ग, आदान और विक्षेप का रूपान्तर है।[1] इन तीनों का आधार सांख्य का त्रिगुणवाद है, जो कि भारत की अपनी उपज है। पाश्चात्य विद्वान् भी त्रिधातुवाद को ग्रीस की उपज न मानकर मिस्र देश के मेलू सम्प्रदाय की वस्तु मानते हैं।

पांचभौतिक और चातुर्भौतिक वाद दोनों का उल्लेख आयुर्वेद शास्त्र में मिलता है।[2] ग्रीस में भी ये दोनों वाद मिलते हैं। हिपोक्रिट्स ने चातुर्भौतिक वाद को एक-पक्षीय मानकर उसका खण्डन किया है। सबसे प्रथम एम्पिडोक्लिस ने चातुर्भौतिकवाद को जन्म दिया था (४९५-४३५ ई० पू०)। एम्पिडोक्लिस का ईरान, भारत आदि

---

१. विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद् देहं कफपित्तानिलास्तथा॥ सु. सू. अ. २१।८

२. अस्मिन् शास्त्रे पंचमहाभूतशरीरसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानम्। सु. सू. अ. १।२२

शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्।
पंचभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते॥ चरक. शा. अ. १

चातुर्भौतिकवाद—भूतैश्चतुर्भिः सहितः स सूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।
चरक. शा. अ. २।३१

चत्वारि तत्रात्मनि संश्रितानि स्थितस्तथाऽऽत्मा च चतुर्षु तेषु॥
चरक. शा. अ. २।३३

समीप के देशों में आना, वहाँ दार्शनिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना, ग्रीस में दार्शनिक विषयों का प्रचार करना सिद्ध होता है। हिपोक्रिट्स ने इस वाद का खण्डन किया है, उसके मस्तिष्क में उस समय पांचभौतिक वाद ही था। भारत का पांचभौतिक वाद भी सांख्यदर्शन पर आश्रित है। आकाश को छोड़कर शेष चार भूतों के द्वारा शरीर निर्माण की कल्पना भी भारतीय ही है। आकाश तत्त्व शेष चारों भूतों में व्याप्त रहता है, बहुत सूक्ष्म है, इसलिए उसको छोड़ भी दिया है।

आयुर्वेद में दन्तरोगों को पैत्तिक भी माना है (सु. भि. अ. १६।३४)। हिपोक्रिट्स ने दन्तशोथ और दन्तवेष्टन रोग को पित्त का दोष माना है।[1] हिपोक्रिट्स की मैटेरिया मेडिका (निघण्टु) में जतनमासी (जटामांसी), जिञ्जीबेर (शृंगवेर), पिपर निगुम (मरिच व पिप्पली), पेपरी (पिप्पली), पेपेरिस रिजा (पिप्पली मूल), कोस्तस (कुष्ठ), कर्दमोमोस (कर्दम), सकरून (शर्करा) आदि शब्द भारतीय नामों के स्पष्ट द्योतक हैं।

हिपोक्रास नामक योगौषधि (दीपक और हृद्य पेय—जिसमें दालचीनी, अदरक आदि मसाले और शर्करा एवं शराब है) में भारतीय औषधियों का मिश्रण रहता है। इसमें मद्य को यदि छोड़ दें तो यह ग्रीष्म ऋतु में उत्तर प्रदेश में दिया जानेवाला आम का पानक-पन्ना अथवा पंजाब का गुड़म्बा प्रतीत होता है। थियोफ्रेस्टस विद्वान् (३५०ई०पू०) ने फाईकस इण्डिका नामक औषधि में इण्डिका शब्द जोड़ा है, जिससे स्पष्ट है कि यह औषधि भारतीय है। भारत से बहुत-सी औषधियाँ ग्रीस में जाती थीं।

एम्पीडोक्लिस के ईरान जाने तथा भारत के पास तक पहुँचने का उल्लेख मिलता है, भारत में आने का उसका कोई भी प्रमाण नहीं। इसी प्रकार हिपोक्रिट्स के भारत में पहुँचने का कोई सबूत नहीं, यद्यपि गोंडल के राजा भगवत्सिंहजी ने अपने इतिहास के पृष्ठ १९० में कुछ विद्वानों की सम्मति में हिपोक्रिट्स के भारत पहुँचने का उल्लेख किया है।

प्रथम डेरियस नामक राजा के समय (५२१ ई० पू०) डेमोकिट्स नामक यूनानी चिकित्सक का ईरान देश में आने का उल्लेख मिलता है। उसका समय हिपोक्रिट्स

---

१. आयुर्वेद में पित्तजन्य दन्तरोगों का उल्लेख पृथक् रूप से अन्य रोगों की भाँति मुझे नहीं मिला; उपकुश रोग में जरूर पित्तदोष का उल्लेख है,—"यस्मिन्नुपकुशः स स्यात् पित्तरक्तकृतो गदः॥ सु. नि. अ. १६।२३। राजगुरुजी ने किस आधार पर लिखा यह स्पष्ट नहीं।

से पहले होने के कारण उसकी चिकित्सा पर इसका प्रभाव नहीं माना जा सकता। हिपोक्रिट्स के बाद टेरियस नामक व्यक्ति अर्दक्षीर मेनून राजा (४०४-३५९ ई० पू०) के पास ईरान में आया था। चतुर्थ शताब्दी (ईसा पूर्व) के उत्तरार्द्ध में मेगस्थनीज़ भारत आया था। मेगस्थनीज़ काफी समय तक भारत में रहा था। उसने भारतीय चिकित्सा की प्रशंसा तथा इसके द्वारा विदेशियों की चिकित्सा का उल्लेख किया है। इसने अपनी पुस्तक इण्डिका में भारत के सम्बन्ध में जहाँ यहाँ के जलवायु, पशु-पक्षी, रीति, रहन-सहन आदि का उल्लेख किया है, वहाँ भारतीय चिकित्सा के सम्बन्ध में यहाँ की वनस्पतियों का, शिरोरोग, दन्तरोग, नेत्ररोग, मुखव्रण, अस्थिव्रण का भी निर्देश किया है।

हिपोक्रिट्स से पूर्व ग्रीस में तीन चिकित्सा-सम्प्रदाय थे। इनमें पाइथागोरस के समकालीन डेमोकेडिस आदि विद्वान् वैद्य थे। ये सम्प्रदाय हिपोक्रिट्स से एक सौ वर्ष पूर्व थे। सूसा नगर के कारागार में दासों के साथ बन्दी हुए डेमोकेडिस द्वारा घोड़े से गिरने के कारण टूटी हुई ईरान के राजा की टाँग को बिना शस्त्र-उपचार के यथास्थान जोड़ देने का उदाहरण मिलता है। सम्भवतः यह सन्धिभ्रंश हुआ होगा, जिसे आज भी सामान्य जन देहातों में ठीक करते हैं, अथवा टूटी हुई अस्थि को भी बिना शस्त्रकर्म के बहुत से जोड़ देते हैं।[1]

मिस्र में भारतीय सभ्यता से मिलनेवाले बहुत चिह्न पाये गये हैं। मिस्र की सभ्यता भारतीय सभ्यता के समान प्राचीन समझी जाती है। इसलिए उस देश के ज्ञान की छाप ग्रीस पर पड़ना स्वाभाविक है। ग्रीस में चिकित्साविज्ञान मिस्र से गया है।

प्राचीन मूल आर्य शाखा की पश्चिम शाखा का प्रसार मिस्र की ओर और पूर्वी शाखा का ईरान की ओर हुआ था। यही पश्चिम शाखा मिस्र से ग्रीस में फैली। ग्रीस के प्राचीन महाकवि होमर ने अपने ओडिसी नामक ग्रन्थ में देव-बल से ही रोगों की उत्पत्ति तथा देवता की प्रसन्नता—जप, यज्ञ, मंत्र आदि से रोगों की निवृत्ति लिखी है। इसके ईलियड् नामक ग्रन्थ में शस्त्र चिकित्सा की थोड़ी सी झलक मिलती है। थ्रेमर के मतानुसार वह भी वहाँ बेबीलोनिया के प्रभाव से आयी प्रतीत होती है। इसके दोनों ग्रन्थों में रोगनिवृत्ति के लिए कहीं भी औषधियों के अन्तः प्रयोग का उल्लेख नहीं, रोगनिवृत्ति देवता के प्रसाद या मंत्र से ही लिखी है।

---

१. इससे चिकित्सा की उन्नति या अवनति का निश्चय नहीं किया जा सकता; ये बातें सब देशों में सामान्य बुद्धि से बरती जाती हैं।

दोरोथिया चैपलिन ने अपनी पुस्तक "सम एस्पैक्ट्स एंड हिन्दू मेडिकल ट्रीटमेन्ट" (पृ० ७–८) में लिखा है कि "हमें अपनी चिकित्सापद्धति अरब के द्वारा हिन्दुओं से मिली है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में ऐसे कोई नाम नहीं मिलते जो विदेशी भाषा से लिये प्रतीत हों। १७वीं सदी तक यूरोपीय चिकित्सा भारतीय चिकित्सापद्धति के ऊपर आधारित थी। भारतीय आयुर्वेदिक और यूरोपीय शरीर रचना विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है।"

तुलना कीजिए—शिरोब्रह्म के लिए सैरीब्रम; शिरोविलोम के लिए सैरीबेलम; हृत् या हृद् के लिए हार्ट; महाफल के लिए मैग्नावेला; महा के लिए मैग्ना। इसमें भारतीय शब्दों की छाया लैटिन के शब्दों पर है, परन्तु लैटिन के शब्दों की छाया भारत के चिकित्सा सम्बन्धी शब्दों पर नहीं मिलती।

पाइथागोरस नामक विद्वान् ५८२–४७० ई० पू० ग्रीस में हुआ था। पोकाक तथा स्रोडर आदि विद्वानों ने पाइथागोरस का भारत में आगमन तथा भारत से आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों का ग्रहण करना तथा ग्रीस में उनके प्रचार करने का उल्लेख किया है। पाइथागोरस के दर्शन और भारतीय दर्शन में बहुत कुछ समानता है। पाइथागोरस के सम्प्रदाय में रोग निवृत्ति के लिए औषधियों के प्रयोग की अपेक्षा पथ्य तथा आहार विहार के नियमों पर विशेष ध्यान दिया जाता था। यदि औषधियों का प्रयोग किया भी जाता था तो अन्तःप्रयोग की अपेक्षा यथाशक्ति लेप आदि बाह्य उपचारों को महत्त्व दिया जाता था। पाइथागोरस के कुछ खास शिष्यों ने, जो कि संख्या में तीन सौ के लगभग थे, एक प्रकार की प्रतिज्ञा से अपने को पाइथागोरस के साथ परस्पर दृढ़ सम्बन्ध से बाँध लिया था। इस सम्बन्ध के रूप में उन्होंने विशिष्ट आहार, कर्मकाण्ड और व्रत लिये थे। पाइथागोरस के समय मिस्र में चिकित्सा की इतनी उन्नति थी कि वह एक जिज्ञासु यात्री का ध्यान खींच सके। उसके सिद्धान्तों का श्रेणीकरण और विभाजन हो चुका था। चिकित्सा व्यवसाय के नियम निर्धारित हो गये थे। औषध विज्ञान और शल्य चिकित्सा में जब पाइथागोरस के शिष्य मिला का दामाद डेमोक्रेड्स प्रसिद्ध हो रहा था, तब पाइथागोरस क्रोटन में विद्यमान था। डेमोक्रेड्स को पाइथागोरस ने अपने शिष्य रूप में स्वीकार किया था। पाइथागोरस भैषज्य विज्ञान का आदर करनेवाला, ज्ञाता तथा प्रवर्तक प्रतीत होता है।

सिकन्दर के द्वारा भारतीय ज्ञान का प्रसार—सिकन्दर का आक्रमण भारत पर ३३० ई० पू० हुआ और वह भारत से ३२६ ई० पू० में वापस लौटा। इन चार सालों के समय में उसे यहाँ की सभ्यता, विज्ञान आदि बातों की अच्छी जानकारी मिल गयी

थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय तक्षशिला समृद्ध और विद्या का केन्द्र था, यहाँ पर दूर दूर से भारतीय एवं विदेशी विद्याभ्यास के लिए आते थे। एरियन का कहना है कि मूषिक देश के निवासी दीर्घजीवी (१३० वर्ष) होते थे। उनकी इस दीर्घायु का कारण उनका परिमित आहार था, अन्य विद्याओं की अपेक्षा वैद्यक विद्या में ये अधिक रुचि रखते थे।

सिकन्दर की सेना में यद्यपि अनेक कुशल चिकित्सक थे, परन्तु वे सर्पविष चिकित्सा करने में असमर्थ थे। नियार्किस के अनुसार सर्पविष की चिकित्सा के लिए सिकन्दर ने अपनी सेना में भारतीय चिकित्सक रखे थे और यह घोषणा कर दी थी कि सर्पविष की चिकित्सा उसकी सेना में होगी। ये चिकित्सक अन्य रोगों की चिकित्सा भी करते थे।

इसके बाद अशोक ने अपने राज्य तथा भारत के पड़ोसी यवन राजाओं के राज्य में मनुष्य और पशुओं की चिकित्साव्यवस्था की थी। इस प्रसंग में अन्तियोक यवनाधिपति, मग तथा अलीकसुन्दर आदि यवन राजाओं का भी नाम आया है। यवन शब्द ग्रीस वालों के लिए प्राचीन साहित्य में प्रचलित था।

ग्रीस तथा भारत का प्राचीन सम्बन्ध—सिकन्दर के समय से भारतीयों का सम्पर्क ग्रीस देशवासियों के साथ स्थापित हुआ—इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं। इससे पहले के विषय में सन्देह हो सकता है। यह सम्पर्क चिकित्सा के विषय में भी था—जैसा कि सिकन्दर की सेना में साँप काटने की चिकित्सा से स्पष्ट है। भारतीय वैद्यों द्वारा काम में लायी जानेवाली बहुत सी वस्तुओं का नाम हिपोक्रिट्स,डिओसकोराइड्स तथा ग्यालन के लेखों और पुस्तकों में मिलने से इस बात की पुष्टि होती है।[1]

---

१. नियार्किस ने लिखा है कि सर्पदंश की चिकित्सा यूनानी नहीं जानते थे। भारतीय वैद्य इसे अच्छी प्रकार जानते थे। एरियन ने लिखा है कि यूनानी लोग अस्वस्थ होने पर ब्राह्मणों से चिकित्सा कराते हैं और वे प्रत्येक साध्य रोग की अद्भुत और दैवीय विधि से चिकित्सा करते हैं।

डायसोइस (प्रथम शती ई० पू०) प्राचीन द्रव्यगुण-विज्ञान का सबसे प्रथम लेखक था। डा० रायल ने अपने निबन्ध में लिखा है कि यह भारतीय द्रव्यगुण-विज्ञान का अत्यधिक ऋणी था। थियोफ्रेस्टस (तीसरी शती ई० पू०) पर भी यह बात लागू होती है। क्लासियस (५वीं शती ई० पू०) के लेखों में भी भारतीय द्रव्यों का विवरण मिलता है। (काश्यप संहिता, उपो० पृष्ठ १९३ की टिप्पणी)

हिपोक्रिट्स ने अन्य देशों की प्रक्रियाओं तथा चिकित्सा सम्बन्धी विषयों का निरीक्षण किया, अपने विचारों तथा अनुभवों से उसे काट छाँटकर एक नये रूप में सिलसिलेवार उपस्थित किया। इसलिए वह पाश्चात्य चिकित्सा का पिता कहा जाता है। हिपोक्रिट्स के ग्रन्थों में जो विषय दिये गये हैं, वे सम्भवतः उसके परिष्कृत विचार हैं, उसकी अपनी सूझ है और शायद भारतीय विचारों की भित्ति पर खड़े हों; यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। परन्तु इतना अवश्य निश्चित है कि दोनों देशों के परस्पर सम्पर्क से विचारविनिमय होने पर भारतीय चिकित्सा का प्रभाव ग्रीस चिकित्सा पर भी पड़ा था।

हिपोक्रिट्स के ग्रन्थों में शारीरिक अन्तः-ज्ञान बहुत कम मिलता है, उसके लेखों से पता चलता है कि उसे शिरा, धमनी, अस्थि आदि का शरीररचना-सम्बन्धी ज्ञान नहीं था। जो थोड़ा बहुत ज्ञान मिलता है, उसका आधार मिस्र का ज्ञान माना जाता है। प्राचीन काल में शारीरशास्त्र का कोई ग्रन्थ नहीं था। ग्रीस में मृत शरीर को चीरकर देखने का निश्चित प्रमाण ईसवी पूर्व तीसरी शती में मिलता है, जब कि सिकन्दरिया के हिरोपीलोस तथा इरेसीस्ट्रेटोस सम्प्रदाय के लोगों ने इसे किया था। इसके साथ जीवित शरीर को भी चीरकर देखने का पूरा प्रमाण मिलता है। परन्तु हिपोक्रिट्स के समय शवच्छेद होने का प्रमाण नहीं मिलता। ४०० ईसवी पूर्व टीसियस भारत में आया था; और पाँचवीं-छठीं शती ईसवी पूर्व जो शारीरिक ज्ञान धान्वन्तर सम्प्रदाय के वैद्यों के पास होने का प्रमाण वैदिक (शतपथ ब्राह्मण) तथा अन्य साहित्य में मिलता है, और जिसकी पुष्टि चरक-सुश्रुत से होती है, उसे देखते हुए हार्नले की सम्मति से ग्रीस को भारतीय चिकित्साशास्त्र का ऋणी मानने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। साथ ही यह भी नहीं कह सकते कि हिपोक्रिट्स के अनुयायियों को शवच्छेद का परिचय बिल्कुल नहीं था, और यदि था, तो यह भी सम्भव है कि शरीर-शास्त्र-सम्बन्धी बहुत-सी समानताएँ मिल गयी हों। ग्रीस वैद्यकशास्त्र में आयुर्वेद की अस्थिगणना नहीं मिलती, इसलिए दोनों की तुलना करने का कोई साधन नहीं; यह भी हार्नले ही कहता है। हार्नले ने विस्तार से बताया है कि टेलमुद का जो शारीरज्ञान है, वही यदि ग्रीस में हिपोक्रिट्स सम्प्रदाय का शारीरज्ञान हो, तो आयुर्वेदीय और टेलमुद के ज्ञान में अस्थिगणना के अन्दर बहुत भेद है। परन्तु पहली शती ईसवी पूर्व की अस्थिगणना का उल्लेख करते हुए केल्सस ने पादकूर्चास्थि और पाणिकूर्चास्थि के विषय में कहा है कि इनमें अनिश्चित संख्या की बहुत-सी छोटी-छोटी अस्थियाँ होती हैं, परन्तु देखने में वे एक प्रतीत होती हैं। पैर की

अँगुलियों में पन्द्रह सन्धियाँ होने की बात टेलमुंद के ग्रीस शारीरज्ञान और सुश्रुत के शारीरज्ञान में एक समान है।[१]

गन्धार देश की मूर्त्तिकला में भारतीय मूर्तिकला से एक बहुत बड़ा अन्तर पाया जाता है। उसमें (जिसका कि विकास कनिष्क के समय ईसवी प्रथम शती के आस पास हुआ है) अंगों के सौष्ठव, मांसपेशी के विकास, उसकी नग्नता तथा उसके ऊपर बारीक वस्त्र की झाँकी मिलती है। अंग प्रत्यंगों का गठन, उनका सौन्दर्य जिस प्रकार से हमको इस कला में मिलता है, वैसा भारतीय प्रस्तरकला में नहीं दीखता। अंगों का सुन्दर विकास, मांसपेशियों को पृथक् दिखाना जहाँ बाह्य दिखाव से सम्भव हो सकता है, वहाँ उसके प्रारम्भिक ज्ञान में शरीर के अन्तःज्ञान का होना भी आवश्यक सिद्ध होता है।

प्राचीन मिस्र में चिकित्साविज्ञान—ग्रीस देश के चिकित्साज्ञान का स्रोत मिस्र देश की इस विद्या को माना जाता है। मिस्र में यह ज्ञान अपने आप अंकुरित हुआ अथवा किसी अन्य देश से अनुप्राणित हुआ, इस पर विचार करना है।

भारत और मिस्र का सम्बन्ध बहुत प्राचीन है, दक्षिण भारत में समुद्री मार्ग से विदेशी प्रभाव सदा छनकर आता रहा और शान्तिमय व्यापारिक सम्पर्क भी चलता रहा है। पहले मिस्र और बावेरू (बेबीलान) से, और बाद में रोम राज्य के साथ यह सम्पर्क था। कुछ भारतीय वस्तुएँ; जैसे नील, इमली की लकड़ी, मलमल, जिसमें ममी लपेटी जाती थी, मिस्र की समाधियों में मिली हैं। एक लूट के माल में, जिसे मिस्र के फरओह् जहाज़ में भरकर ले गये थे, हाथीदाँत, सोना, कीमती रत्न, चन्दन और बन्दर शामिल थे, वह भारत से गया था। कुछ विद्वानों के विचार से बाइबिल में भी भारत के साथ प्राचीन व्यापार के प्रमाण उन वस्तुओं के नामों के रूप में मिलते हैं, जो उस समय केवल भारत ही विदेशों को भेजता था। जैसे बहुमूल्य रत्न, सुवर्ण, हाथीदाँत, आबनूस की लकड़ी, मोर और मसाले, जो सुलेमान के जहाज़ पर लदे हुए व्यापारी माल का अंश था। भारतीय सागौन की लकड़ी उर नामक राजधानी के अवशेषों में मिली है, बावेरू की भाषा में मलमल का नाम 'सिन्धु' था। बावेरू जातक नामक पाली पुस्तक में (लगभग ५०० ई० पू०) भारतीय व्यापारियों द्वारा बावेरू के बाजारों में मोर ले जाने का उल्लेख है। चावल, मोर और चन्दन जैसी विशिष्ट भारतीय वस्तुओं का ज्ञान यूनानियों को उनके भारतीय अर्थात् तामिल नामों से था। क्योंकि भारत और

१. श्री दुर्गाशंकर केवलरामजी शास्त्री के 'आयुर्वेद का इतिहास' से उद्धृत

बावेरू के बीच का व्यापार ४८० ई० पू० में बन्द हो चुका था। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि ये वस्तुएँ उससे भी बहुत पहले भारत से बावेरू पहुँच चुकी थीं, जिसके फल-स्वरूप वे ४६० ई० पू० के लगभग यूनान में पहुँच सकीं और सोफोक्लीस (४९५-४०६ ई० पू०) के समय में, जिसने उनका उल्लेख किया है, एथेन्स नगरी में ये घरेलू वस्तुएँ बन गयी थीं। प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुसार इस समस्त प्राचीन व्यापार के मुख्य केन्द्र शूर्पारक (सोपारा) और भरुकच्छ (भरूच) नामक कोंकण तट के दो प्रसिद्ध पत्तन थे (हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ ४८–४९)।

मिस्र और भारत के कुछ शब्दों में बहुत समानता है; यह दोनों देशवासियों को एक शाखा का सिद्ध करने में बहुत सहायक है—

भारत	मिस्र	भारत	वैबिलोन (बावेरू)
सूर्य (हरि)	होरस	सत्यव्रत	हसिसद्र
शिव	सेव	अहिहन्	ईहन्
ईश्वर	ओसिरस्	वायु	विन
प्रकृति	पख्त	चन्द्र	सिन
श्वेत	सेत		
मातृ	मेतेर	मरुत्	मतु
सूर्यवंशी	सूरियस्	दिनेश	दियानिसु
अत्रि	अत्तिस्	अप्	अप्सु
मित्र	मिथु	पुरोहित	पटेसिस्
शरद्	सरदी	श्रेष्ठ	सेठ

(—काश्यपसंहिता—उपोद्घात)

भारत के समान मिस्र में लिंगपूजा, बैल का आदर और वैबिलोन में पृथ्वी की पूजा मिलती है।

ईरान के प्राचीन ग्रन्थ अवेस्ता में वेन्दिदाद नामक एक भाग है, इसमें भैषज्य सम्बन्धी विषय दिये हैं। इसमें सामा वंशोत्पन्न थ्रित नामक वैद्य का सर्वप्रथम नाम है। उसने रोगनिवृत्ति के लिए अपने अहुरोमज्दा नामक देवता की प्रार्थना करके सोम के साथ (चन्द्रमा के साथ) वृद्धि को प्राप्त करनेवाली दस हजार औषधियों को प्राप्त किया। ह ओम (सोम) वनस्पतियों का राजा था (तुलना कीजिए, १—पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः,—गीता—१५।१३; २—ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा। या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। ऋ. १०।९७।

१८–२२)। थ्रित नामक वैद्य, शश्रवैर्य तथा सहरवर से सिखाये गये रोगनिवृत्ति के उपायों तथा शस्त्रचिकित्सा द्वारा ज्वर, कास, क्षय आदि रोगों को दूर करने का भी उल्लेख मिलता है। अवेस्ता और वैदिक साहित्य के शब्दों में बहुत साम्य है।

इन समानताओं के कारण मिस्र और ईरान की दोनों शाखाएँ एक ही जाति की हैं, ऐसा भाषाविज्ञान के विद्वान् मानते हैं। इनमें जो ज्ञान की समानता है, वह परस्पर सम्पर्क से आयी है। कुछ देशों में भारत से ज्ञान गया है; इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु सम्पूर्ण चिकित्साज्ञान भारत की देन है; यह कहना थोड़ी अतिशयोक्ति होगी। अत्रिपुत्र के कथनानुसार चिकित्सा ज्ञान स्वाभाविक है; मानव जाति के साथ इसका उद्भव है।[1]

तिब्बत का वैद्यक ज्ञान—भारत का तिब्वत के साथ पुराना सम्बन्ध है। अज्ञात-मूल चार संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद आठवीं शती में तिब्बती भाषा में हुआ था। इसके पीछे बहुत से संस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद हुआ। तिब्बत के आयुर्वेद-ज्ञान का आधार भारतीय आयुर्वेदशास्त्र माना जाता है। शरीर में नौ छेद और नौ सौ नाड़ियाँ तिब्वती चिकित्सा में मानी गयी हैं (नव स्नायुशतानि, नव स्रोतांसि—सु. शा. अ. ५।६)। निदान में भी आयुर्वेद के त्रिदोषसिद्धान्त को माना गया है। औषधियों में त्रिफला, मरिच, उत्पल, प्याज, सोंठ, तज, कूठ आदि का उल्लेख है। तिब्बत में सींग के द्वारा रक्त मोक्षण करने की पद्धति, शस्त्र-यंत्रों का नाम पशुओं के नाम पर रखने का रिवाज, गर्भ की लिंगपरीक्षा पद्धति आदि बातें आयुर्वेद से मिलती हैं।

तिब्वती ग्रन्थों का मंगोल भाषा में भी अनुवाद हुआ है। हिमालय की लेप्चा आदि जातियाँ तिब्वती चिकित्सा का व्यवहार करती हैं।

तिब्वत में बौद्ध धर्म बहुत समय पूर्व फैल चुका था। इसके साथ आयुर्वेद का भी वहाँ पहुँचना सम्भव है। महावंश में सारथ्यसंग्रह नामक वैद्यक ग्रन्थ का उल्लेख है। इसको छोड़कर १३वीं शती का योगार्णव सबसे प्राचीन ग्रन्थ है।

सिंहली भाषा में जो आधुनिक वैद्यक ग्रन्थ छपे हैं एवं जो हस्तलिखित मिलते हैं, उनका आधार भी भारत के आयुर्वेद ग्रन्थ ही हैं।

---

१. संस्कृत काव्यों में तथा हिन्दी के कवियों की (बिहारी आदि की) कृतियों में आयुर्वेद सम्बन्धी कुछ छिटपुट उल्लेख मिल जाते हैं। इससे यह निर्णय करना कि ये कवि आयुर्वेद के पण्डित थे; ठीक नहीं है। इसी प्रकार से कुछ समानता या शब्दों के मिलने से ज्ञान का स्रोत इस स्थान से उस स्थान में गया; यह मानना ठीक नहीं।

बरमा—सुश्रुत की ख्याति ९०० ईसवी में कम्बोज़ तक पहुँच चुकी थी, परन्तु सुश्रुत, द्रव्यगुण आदि का इस देश में बरमी भाषान्तर १८ वीं सदी में हुआ है।

फारसी और अरबी सम्बन्ध—चरकसंहिता में बाह्लीक भिषक् के रूप में कांकायन का नाम आता है। सिद्धयोगसंग्रह में पारसीक यवानी का उल्लेख है, चरक-सुश्रुत में हींग का, सुश्रुत में नारंग का उल्लेख है। यह भारत का ईरान से सम्बन्ध बतलाते हैं। मध्य काल में धातुओं का उपयोग, अफीम का व्यवहार, नाडीपरीक्षा विधि अरब से भारत में आया; ऐसी मान्यता जौली की है, जो बहुत अंशों में सत्य है। हींग आज भी हमको ईरान-काबुल से ही मिलती है। मुसलमानों के समय मुस्लिम हकीम स्वतंत्र रूप में अपना धंधा करते रहे, उन्होंने भारतीय पद्धति को नहीं अपनाया; अपितु वैद्यों ने इनसे कुछ थोड़ा बहुत लिया ही, यथा—अनार का शर्बत आदि, अर्क-प्रक्रिया, मुरब्बे की कल्पना हकीमों से ली गयी। इस विधि का नाम यूनानी चिकित्सा भी है, जिससे इसका सम्बन्ध यूनान से स्पष्ट होता है।[1]

---

१. डाक्टर जौली तथा श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री की पुस्तक 'आयुर्वेद का इतिहास' के आधार पर

अठारहवाँ अध्याय

दो चीनी यात्रियों का विवरण

इत्सिङ्‌ का कथन

यह यात्री ज्ञान की खोज में तथा भगवान् बुद्ध के पावन स्थलों के दर्शनार्थ भारत में आया था और यह लगभग ६७३–९५ ईसवी तक रहा था। इसने भारतवर्ष के सम्बन्ध में प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण जानकारी लिखी है। यह सभी बड़े बड़े स्थानों को देखने गया था। कई वर्ष बौद्धों के विभिन्न विद्यापीठों में रहकर बौद्धधर्म और उसके आचार का गम्भीर अध्ययन इसने किया था। उन सबका विवरण तैयार किया था।

यह यात्री स्वयं चिकित्सक था, जैसा इसने अपने विषय में कहा है—"मैंने भैषज्य विद्या का भली भाँति अध्ययन किया था, परन्तु मेरा यह उचित व्यवसाय न होने के कारण मैंने अन्त को इसे छोड़ दिया।" इसलिए भारतीय चिकित्सा के सम्बन्ध में दिया हुआ इसका विवरण बहुत महत्त्वपूर्ण है।[1] तत्कालीन परिस्थिति के ज्ञानार्थ उसके विवरण से कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं।

पथ्यचर्या—"प्रत्येक प्राणी चार भूतों के शान्त कार्य अथवा दोष के अधीन है। आठ ऋतुओं के (वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट्, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर........) एक दूसरी के बाद आने से शारीरिक दशा में विकास और परिवर्त्तन कभी बन्द नहीं होता। जब किसी को कोई रोग हो जाय, तत्काल विश्राम और रक्षा करनी चाहिए। इसलिए लोकज्येष्ठ (बुद्ध) ने स्वयं चिकित्साशास्त्र पर एक सूत्र का उपदेश किया था, जिसमें उन्होंने कहा था—चार महाभूतों के स्वास्थ्य (शब्दार्थ–परिमितता) का दोष इस प्रकार है—

१. पृथ्वीतत्त्व के बढ़ने से शरीर को आलसी और भारी बनाना; २. जलतत्त्व के इकट्ठा हो जाने से आँख में मैल या मुँह में लार का अधिक आना; अग्नितत्त्व से

---

१. इत्सिङ्ग की भारत यात्रा—इंडियन प्रेस की सरस्वती सीरीज के आधार पर

उत्पन्न हुए अति प्रबल ताप के कारण सिर और छाती का ज्वरग्रस्त होना; ४. वायु-तत्त्व के जंगम प्रभाव के कारण श्वास का प्रचण्ड वेग।[1]

रोग का कारण मालूम करने के लिए प्रातःकाल अपनी जाँच करनी चाहिए। जाँच करने पर यदि चार महाभूतों में कोई दोष जान पड़े तब सबसे पहले उपवास करना चाहिए। भारी प्यास लगने पर भी शर्बत या जल नहीं पीना चाहिए, क्योंकि इस विद्या में इसका बड़ा निषेध है। उपवास कभी एक दो दिन तक, कभी-कभी चार-पाँच दिन तक जारी रखना होता है; जब तक कि रोग बिल्कुल शान्त न हो जाय। इससे रोग की निवृत्ति अवश्य हो जायगी। यदि मनुष्य यह अनुभव करे कि आमाशय में कुछ भोजन रह गया है, तो उसे पेट को नाभि पर दबाना या सहलाना चाहिए, जितना हो सके उतना गरम जल पीना चाहिए, वमन करने के लिए गले में अँगुली डालनी चाहिए।

यदि मनुष्य ठण्डा जल पिये तो भी कोई हानि नहीं (सम्भवतः पित्त या अग्नितत्त्व की प्रबलता में)। गरम जल में सोंठ मिलाकर पीना भी बहुत अच्छा है। कम-से-कम उपचार प्रारम्भ करने के दिन रोगी को अवश्य उपवास करना चाहिए। पहली बार दूसरे दिन सबेरे भोजन करना चाहिए। यदि यह कठिन हो तो अवस्था के अनुसार कोई और उपाय करना चाहिए। प्रचण्ड ज्वर की दशा में जल द्वारा ठण्डक पहुँचाने का निषेध है।

उपवास एक बड़ी गुणकारी चिकित्सा है। यह भेषजविद्या के साधारण नियम, अर्थात् किसी औषधि या क्वाथ के प्रयोग के बिना ही स्वास्थ्यप्रदायक है। कारण यह है कि जब आमाशय खाली होता है, तब प्रचण्ड ज्वर कम हो जाता है, जब भोजन का रस सूख जाता है, तब कफ के रोग निवृत्त हो जाते हैं। उपवास सरल और अद्-भुत औषधि है, क्योंकि निर्धन और धनवान् दोनों इसका समान रूप से अनुष्ठान कर सकते हैं। क्या यह महत्त्व की बात नहीं?

शेष सब रोगों में—जैसा कि मुहाँसा या किसी छोटे फोड़े का सहसा निकलना, रक्त के अकस्मात् वेग से ज्वर का होना, हाथों और पैरों में प्रचण्ड पीड़ा, आकाश के

---

१. सुश्रुत में भी पांचभौतिक प्रकृति (चरक में चतुर्भूतों) का वर्णन है—

"प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः।
स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान् शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः॥
सु. अ. ४।८०

"भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैः"; "भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि"—चरक, शा. २-३१, ३५

विकारों, वायु गुण या तलवार या बाण से शरीर को हानि पहुँचना, गिरने से घाव होना, तीव्र ज्वर या विसूचिका, आधे दिन की संग्रहणी, शिरःपीड़ा, हृदयव्याधि, नेत्ररोग या दन्तपीड़ा में—भोजन से बचना चाहिए। हरीतकी की छाल, सोंठ और चीनी लेकर तीनों को समान मात्रा में तैयार करो। पहली दो को पीसकर जल की कुछ बूँदों के साथ इसे चीनी में मिला लो और फिर गोलियाँ बना लो। प्रति दिन प्रातः कोई दस गोलियाँ एक मात्रा में खायी जा सकती हैं, फिर भोजन की जरूरत बिल्कुल नहीं रहती। अतिसार में नीरोग होने के लिए कोई दो तीन मात्राएँ पर्याप्त हैं। इन गोलियों का बड़ा लाभ है; इससे रोगी का सिर घूमना और अजीर्ण दूर हो जाता है, इसलिए मैंने इनका उल्लेख यहाँ किया है। यदि चीनी न हो तो लिस-लिसी मिठाई (गुड़ से शायद अभिप्राय है) या मधु से काम चल जाता है। यदि कोई मनुष्य प्रति दिन हरीतकी का टुकड़ा दाँतों से काटे और उसका रस निगले तो जीवन पर्यन्त उसे कोई रोग नहीं होता। ये बातें जिनसे भेषज-विद्या बनी है, शक देवेन्द्र से भारत की पाँच विद्याओं में से एक के रूप में चली आ रही हैं। इसमें सबसे महत्त्व का नियम उपवास है।

विषों की, जैसे साँप काटने की, चिकित्सा उपर्युक्त रीति से नहीं करनी चाहिए। उपवास की अवस्था में घूमना और काम करना बिल्कुल छोड़ देना चाहिए। जो मनुष्य लम्बी यात्रा कर रहा है, उसे उपवास में यात्रा करने में कोई हानि नहीं, परन्तु रोग की निवृत्ति और उपवास के पीछे विश्राम करना जरूरी है। उसे ताजा उबला भात (यवागू) खाना चाहिए, भली भाँति उबला मसूर का जल किसी मसाले के साथ मिलाकर पीना चाहिए। यदि कुछ ठण्ड मालूम पड़े तो बचे हुए जल में काली मिर्च, अदरख, पिप्पली मिलाकर पीना चाहिए। यदि जुकाम हो तो काशगरी प्याज (पलाण्डु) या जंगली राई लेनी चाहिए।

चिकित्सा शास्त्र में कहा है—सोंठ के सिवाय चरपरे या गरम स्वाद की कोई भी चीज सरदी को दूर करती है। जितने दिन उपवास किया हो उतने दिन शरीर को शान्त रखना और विश्राम देना चाहिए। ठण्डा जल नहीं पीना चाहिए, भोजन वैद्य के परामर्श से करना चाहिए। ठण्ड के रोग में खाने से कुछ हानि न होगी, ज्वर के लिए वैद्यक का क्वाथ वह है, जो कि कड़वे गिनसेङ्ग (Aralia quinqulfolia की जड़) को भली भाँति उबालने से तैयार होता है।

चाय भी बहुत अच्छी है, मुझे अपनी जन्मभूमि छोड़े बीस वर्ष से अधिक हो गये हैं और केवल यह चाय और गिनसेङ्ग का क्वाथ ही मेरे शरीर की औषध रही है, मुझे शायद ही कोई कभी घोर रोग हुआ हो।

पश्चिम भारत के लाट देश (मालवा-गुजरात के उत्तरी भाग) में जो लोग रोग-ग्रस्त होते हैं, वे कभी-कभी आधा मास और कभी-कभी पूरा मास उपवास करते हैं। जब तक उनका वह रोग जिससे वे कष्ट पा रहे हैं, पूर्णतः आराम नहीं हो जाता, वे कभी भोजन नहीं लेते। मध्य भारत में उपवास की दीर्घतम अवधि एक सप्ताह है, जब कि दक्षिण सागर के द्वीपों में दो या तीन दिन है। इसका कारण प्रदेश, रीति, शरीर की रचना का भेद है।

भारत में लोग प्याज नहीं खाते। मेरा मन ललच जाता था और मैं उसे कभी-कभी खा लेता था, परन्तु धार्मिक उपवास करते हुए वह दुःख देती और पेट को हानि पहुँचाती है। इसके अतिरिक्त वह नेत्र-दृष्टि को खराब करती है, रोग को बढ़ाती है, शरीर को दुर्बल करती है। इसी कारण भारतीय जनता उसे नहीं खाती।[1] बुद्धिमान् मेरी बात पर ध्यान दें, जो बात सदोष है उसे छोड़कर जो उपयोगी है, उसका पालन करें। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति वैद्य के उपदेशानुसार आचरण नहीं करता तो इसमें वैद्य का कोई दोष नहीं।

यदि उपर्युक्त पद्धति के अनुसार अनुष्ठान किया जाय तो इससे शरीर को सुख और धर्मकार्य की पूर्णता प्राप्त होगी, इस प्रकार अपना और दूसरों का उपकार होगा। यदि ऐसा नहीं करें तो इसका परिणाम शरीरदुर्बलता और ज्ञान का संकोच होगा; दूसरों की और अपनी सफलता पूर्णतः नष्ट हो जायगी।

शारीरिक रोग के लक्षणों पर उपचार—मनुष्य को अपनी क्षुधा के अनुसार थोड़ा भोजन करना चाहिए। यदि मनुष्य की भूख अच्छी हो तो साधारण भोजन करना चाहिए। यदि मनुष्य अस्वस्थ हो तो उसका कारण ढूंढ़ना चाहिए, जब रोग का कारण मालूम हो जाय तब विश्राम करना चाहिए। नीरोग होने पर मनुष्य को भूख लगेगी, उस समय उसे हलका भोजन करना चाहिए। उषःकाल प्रायः कफ का समय

---

१. संग्रह और काश्यप संहिता में लशुन-पलांडु का उपयोग करने के लिए बहुत ललचाया गया है—

"रसोनोनन्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम्।
साक्षादिव स्थितं यत्र शक्राधिपतिजीवितम्॥
अल्पाहारे शीलितो दीर्घरात्रं बल्यश्चक्षुष्यस्तर्पणः स्थैर्यकारी।
तैस्तैर्योगैर्योजितोऽयं पलाण्डुस्तांस्तानातंकान् मेहिनामुच्छिनत्ति॥—संग्रह

कहलाता है; जब कि रात के भोजन का रस अभी विलीन न होने के कारण छाती के गिर्द जमा रहता है। इस समय खाया हुआ कोई भी भोजन अनुकूल नहीं बैठता।[1]

साधारण भोजनों के सिवा हलके भोजनों की अनुज्ञा बुद्ध ने दी है, चाहे चावलों का पानी हो या चावल हों; भोजन अपनी भूख के अनुसार करना चाहिए (पेया, मण्ड, विलेपी के गुणों के लिए चरक. सू. अ. २७।२५०-५३ देखें)। धर्म का निर्वाह करते समय यदि कोई व्यक्ति केवल चावलों के पानी पर निर्वाह कर सके तो और कोई वस्तु नहीं खानी चाहिए। यदि मनुष्य के शरीर को पोषण के लिए चावलों की रोटियों की आवश्यकता हो तो उन्हें खाने में कोई दोष नहीं। वैद्य रोगी के कण्ठ, स्वर और मुखमण्डल को देखने के बाद चिकित्साशास्त्र के आठ प्रकरणों के अनुसार उसके लिए उपचार करता है। यदि वह इस विद्या को नहीं समझता तो उचित रीति से इच्छा करने पर भी भूल कर बैठता है।

आठ प्रकरण—चिकित्सा के आठ प्रकरणों में से पहले में सब प्रकार के व्रणों का वर्णन है; दूसरे में गले से ऊपर के प्रत्येक रोग के लिए शस्त्रक्रिया से इलाज करने का; तीसरे में शरीर के रोगों का; चौथे में भूतावेश का; पाँचवें में अगद औषध, छठे में बालकों के रोगों का; सातवें में आयु बढ़ानेवाले उपायों का तथा आठवें में शरीर के रोगों को नष्ट करने की रीतियों का वर्णन है (यही आयुर्वेद के आठ अंग हैं)।

१—व्रण दो प्रकार के होते हैं; भीतरी और बाहरी। २—गले से ऊपर का रोग वही है जो सिर और मुख पर होता है। ३—कण्ठ से नीचे का प्रत्येक रोग शारीरिक रोग कहलाता है। ४—भूतावेश आसुरी आत्माओं का आक्रमण है। ५—अगद विषों के प्रतिकार के लिए औषध है। ६—भ्रूणावस्था से लेकर सोलहवें वर्ष तक के रोग बालरोग हैं। ७—आयु को बढ़ाना—शरीर को बचाना, जिससे वह चिरकाल तक जीवित रहे। ८—शरीर और अंगों को पुष्ट करने का मतलब शरीर और अवयवों को दृढ़ और नीरोग रखना है।

---

१. प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति। दिवा प्रबुध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत् ॥
व्यायामाच्च विहाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः।न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः॥
अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमन्यत्तेषु न दुष्यति। अविदग्ध इव क्षीरे क्षीरमन्यद् विमिश्रितम् ॥
रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृत्तेष्वयनेषु च। यान्ति कोष्ठे परिक्लेदं संवृत्ते देहधातवः ॥
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्तं प्रदुष्यति। विदग्धेषुपयःस्वन्यत् पयस्तप्तमिवार्पितम् ॥
—चरक. चि. अ. १५।२३८-४२

ये आठ कलाएँ पहले आठ पुस्तकों में थीं, परन्तु पीछे एक मनुष्य ने इन्हें संक्षिप्त करके एक राशि में कर दिया। भारत के पाँच खण्डों के सभी वैद्य इस पुस्तक के अनुसार उपचार करते हैं (सम्भवतः यह वाग्भट का अष्टांगहृदय है—लेखक)। इसमें भली-भाँति निपुण प्रत्येक वैद्य को अवश्य ही सरकारी वेतन मिलने लगता है। इसलिए भारतीय जनता वैद्यों का बड़ा सम्मान और व्यापारियों ा बहुत आदर करती है, क्योंकि ये जीवहिंसा नहीं करते, वे दूसरों का उद्धार और साथ ही अपना उपकार करते हैं।

साधारणतः जो रोग शरीर में होता है, वह बहुत अधिक खाने से होता है। परन्तु कभी कभी यह अति परिश्रम या पहला भोजन पचने के पूर्व ही दुबारा खा लेने से उत्पन्न हो जाता है। जब रोग इस प्रकार का होता है, तब इसका परिणाम **विसूचिका** होता है।[1]

जो लोग रोग के कारण को जाने बिना रोगमुक्त होने की आशा करते हैं, वे ठीक उन लोगों के समान हैं, जो जलधारा को बन्द करने की इच्छा रखते हुए इसके स्रोत पर बाँध नहीं बाँधते, या उनके समान हैं जो वन को काट डालने की इच्छा रखते हुए वृक्षों को उनकी जड़ों से नहीं गिराते; किन्तु धारा या कोपलों को अधिक से अधिक बढ़ने देते हैं।

मैं चाहता हूँ कि एक पुराना रोग बहुत सी औषधियाँ सेवन किये बिना ही शान्त हो जाय और नया रोग रुक जाय, इस प्रकार वैद्य की आवश्यकता न हो; तब शरीर (चार भूतों) की स्वस्थता और रोग के अभाव की आशा की जा सकती है। यदि लोग चिकित्साशास्त्र के अध्ययन से दूसरों का और अपना हित कर सकें तो क्या यह उपकार की बात नहीं है? परन्तु विष खाना, मृत्यु, जन्म आदि प्रायः मनुष्य के पूर्व कर्मों का फल होते हैं। फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य उस दशा को दूर करने में या बढ़ाने में संकोच करे, जो दशा रोग को उत्पन्न करती है या उसे हटाती है।

भोजन संबंधी सूचनाएँ—भारत में भिक्षु लोग भोजन के पहले अपने हाथ-पाँव धोते और छोटी-छोटी कुर्सियों पर अलग अलग बैठते हैं। यह कुर्सी सात इंच ऊँची और एक वर्ग फुट आकार की होती है। उसका आसन बेत का बना होता है। ये लोग पालथी, आसन मारकर नहीं बैठते, एक दूसरे का स्पर्श नहीं करते। भोजन परोसते

---

१. न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः।
मूढास्तामजितात्मानो लभन्ते कलुषाशयाः॥ सु. उ. अ. ५६।५३

समय अँगूठे के परिमाण के अदरख के एक या दो टुकड़े प्रत्येक अतिथि को दिये जाते हैं और साथ ही एक पत्ते पर चम्मच भर नमक दे दिया जाता है।

भोजन में पवित्रता और अपवित्रता का ध्यान बहुत रखा जाता है, जिस भोजन में से एक भी ग्रास खा लिया जाता है, उसे अपवित्र समझा जाता है। जिन बर्त्तनों में भोजन खाया जाता है, उनका फिर उपयोग नहीं होता, भोजन समाप्त होने पर उन पात्रों को उठाकर एक कोने में रखा जाता है। यह रीति धनवान् और निर्धन दोनों में पायी जाती है। बचे हुए जूठे भोजन को रख छोड़ना—जैसा कि चीन में किया जाता है, भारतीय नियमों के विरुद्ध है।

भोजन कर चुकने के पीछे जीभ और दाँतों को ध्यानपूर्वक शुद्ध करते हैं। होठों को या तो मटर के आटे से या मिट्टी और पानी मिलाकर—उससे साफ़ किया जाता है, यहाँ तक कि चिकनाई का कोई धब्बा न रह जाय। इसके पीछे कुल्ला करने के लिए किसी साफ़ बर्त्तन से जल लिया जाता है। दो-तीन बार कुल्ला करने से मुख प्रायः साफ हो जाता है। ऐसा किये बिना मुख का पानी या थूक निगलने की आज्ञा नहीं। जब तक शुद्ध जल से कुल्ला न कर लिया जाय, मुख से थूक को बाहर फेंकते रहना चाहिए। मुख को साफ किये बिना हँसी, बकवाद में समय नष्ट करना उचित नहीं। यदि कोई ऐसा आलस्य करता है तो उसके दुःखों का अन्त नहीं रहता।

जल सम्बन्धी सूचनाएँ—धोने के लिए पवित्र जल छुए हुए जल से पृथक् रखा जाता है। प्रत्येक के लिए दो प्रकार के लोटे (कुण्डी और कलश—एक बड़ा बर्त्तन और एक छोटा लोटा) होते हैं। पवित्र जल के लिए मिट्टी के बर्त्तन का उपयोग किया जाता है, धोने के जल के लिए ताँबे अथवा लोहे का बर्त्तन होता है। पवित्र जल पीने के लिए और छुआ हुआ जल मल-मूत्र त्याग के पीछे शुद्धि के लिए हर समय तैयार रहता है। पवित्र लोटे को पवित्र हाथ में पकड़ना और पवित्र स्थान में रखना चाहिए और छुए हुए जल को छुए हुए अपवित्र हाथ से पलटना चाहिए।

जल की परीक्षा—प्रति दिन सवेरे पानी की परीक्षा करनी चाहिए। प्रातःकाल पहले ठिलिया के जल की परीक्षा करनी चाहिए। बाल की नोक के समान छोटे कीड़ों को भी बचाना चाहिए। यदि कोई कीड़ा दिखाई दे तो पड़ोस की किसी नदी अथवा पुष्करिणी के पास जाकर कीड़ोंवाला जल बाहर फेंक दो और ताजा छाना हुआ जल उसमें भर लो। यदि कुआँ हो तो उसके जल को सामान्य रीति से छानकर काम में लाओ।

पानी को छानने के लिए भारतीय लोग बारीक श्वेत वस्त्र का उपयोग करते हैं;

चीन में बारीक रेशमी कपड़े से, हलका-सा मोड़ देने के बाद यह काम लिया जा सकता है, क्योंकि कच्चे रेशम के छिद्रों में से छोटे-छोटे कीड़े सुगमता से चले जाते हैं।

कीड़ों को स्वतंत्र रखने के लिए एक पत्तल जैसे थाल का उपयोग किया जा सकता है, किन्तु रेशम की चालनी भी उपयोगी है। भारत में बुद्ध के बताये हुए नियमों के अनुसार थाल प्रायः ताँबे के बनते हैं।

दातुन का उपयोग—प्रति दिन सबेरे मनुष्य को दातुन से दाँतों को साफ़ करना चाहिए और जीभ का मैल उतार डालना चाहिए। दातुन कोई बारह अंगुल लम्बी बनायी जाती है, छोटी से छोटी भी आठ अंगुल से कम नहीं होती। इसका आकार कनीनिका जैसा होता है।

दातुन के अतिरिक्त लोहे या ताँबे की बनी दन्तखोदनी (खरका) का भी उपयोग किया जा सकता है, अथवा बाँस या लकड़ी की छोटी-सी छड़ी का जो कनीनिका के उपरि-भाग के समान चपटी और एक सिरे पर तीक्ष्ण हो, उपयोग किया जा सकता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मुख में कोई घाव न लग जाय। उपयोग करने के पीछे दातुन को धोकर फेंक देना चाहिए।

दातुन को नष्ट करने अथवा जल या थूक को बाहर फेंकने के पहले गले में तीन बार उँगलियाँ फेर लेनी चाहिए अथवा दो से अधिक बार खाँस लेना चाहिए। छोटे भिक्षु दातुन चबा सकते हैं, परन्तु बड़े भिक्षुओं को चाहिए कि वे इसे कूटकर कोमल बना लें। सबसे अच्छी दातुन वह है, जो स्वाद में कटु, संकोचक अथवा तीक्ष्ण हो या जो चबाने में रूई की तरह हो जाय।

च्युआङ शाङ का कथन

इस चीनी यात्री के अनुसार बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा 'सिद्धम् चंग' पुस्तक से प्रारम्भ की जाती थी। यह बच्चों को वर्ण-परिचय कराती थी। इस पुस्तक में 'सिद्धम्' लिखा रहता था, जिसका अर्थ था कि पढ़नेवाले को सिद्धि या सफलता मिले। बौद्ध-धर्मियों की प्रारम्भिक पुस्तकें 'सिद्धम्' कहलाती थीं और ब्राह्मणों की प्रारम्भिक पुस्तकें 'सिद्धिरस्तु' कहलाती थीं। इत्सिंग (इचिङ) के अनुसार छः वर्ष के बच्चे को सिद्धम् पुस्तक प्रारम्भ करायी जाती थी। उसके अध्ययन में छः महीने लगते थे।

सिद्धम् के बाद भारतीय बच्चों को पंच विद्या के शास्त्रों से विज्ञ कराया जाता था। पाँच विद्याएँ ये थीं—(१) व्याकरण या शब्दविद्या, (२) शिल्पस्थान विद्या, (३) चिकित्सा विद्या (आयुर्वेदशास्त्र), (४) हेतु विद्या (तर्क अथवा न्यायशास्त्र),

(५) अध्यात्म विद्या (इसमें त्रिपिटिक भी शामिल थे)। प्रत्येक बौद्धधर्म के आचार्य या पण्डित को इन पाँचों विद्याओं में निपुण होना आवश्यक था (हर्ष-शीलादित्य, पृ. ११८)।

नालन्दा विहार में अध्ययन के अन्य विषयों में हेतु विद्या, शब्द विद्या, चिकित्सा विद्या, तांत्रिक विद्या और सांख्य दर्शन आदि भी शामिल थे (वही, पृष्ठ १२३)।

च्युआङ्ग शाङ्ग ने नालन्दा विहार के आचार्यों का नाम लिखा है, परन्तु उनमें चिकित्सा विद्या के आचार्य का नाम स्पष्ट नहीं है। इनमें से कुछ आचार्य चीनी यात्री के पूर्व के थे। उनमें भी चिकित्सा विद्या के आचार्य का उल्लेख स्पष्ट नहीं हुआ है। इन आचार्यों में शीलभद्र प्रधान आचार्य थे, धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, जिनमित्र और जिनचन्द्र आदि उपाध्याय थे।

भाग ३

उन्नीसवाँ अध्याय

आधुनिक काल

(१८३५ ईसवी से १९५७ ईसवी तक)

आधुनिक काल का प्रारम्भ कहाँ से करना चाहिए, यह एक सामान्य परन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अंग्रेजों का आधिपत्य १८४६ ई० तक प्रायः समूचे भारत पर हो चुका था। इस समय पंजाब भी उनके काबू में आ गया था। इसी से १८४७ में जब डलहौजी हार्डिञ्ज का उत्तराधिकारी बनकर भारत में आया, तो उसने कहा कि मैं हिन्दुस्तान की जमीन को समतल कर दूंगा; और आते ही वह खँडहरों की सफाई में लग गया (इतिहासप्रवेश, पृ. ३२३)।

इस समय जो थोड़ी बहुत समस्याएँ बची थीं, वे उसने सुलझायीं। इसी सुलझाने की समस्या ने स्वाधीनता के विपुल युद्ध की आग भड़कायी जो कि १८५७ म फूट पड़ी। इसके विफल होने से कम्पनी का शासन समाप्त होकर सम्राज्ञी का शासन स्थापित हुआ (१८५८ में)।

कम्पनी के इस राज्यकाल में देश में जहाँ कंगाली बढ़ी, वहाँ कुछ बातों का विकास भी हुआ। नहरों और रेलपथ का काम प्रारम्भ हुआ '; स्टग्स के समय जमुना की पुरानी नहर का उद्धार फिर से किया गया। आकलैण्ड के समय गंगा नहर की खुदाई शुरू की गयी और गदर के समय तक उस पर काम जारी था। इसी प्रकार दक्षिण में कावेरी कोलरून की पुरानी नहरों की तरफ़ भी ध्यान गया। पंजाब जीतने के पीछे मुलतान-सिन्ध की पुरानी नहरों की भी रक्षा की गयी।

सन् १८१३-१४ में स्टिफिन्सन ने लोहे की पटरी पर दौड़नेवाला इञ्जिन बनाया, और १८२५-३० ई० में इंग्लैण्ड में पहली रेलगाड़ी चली। भारत में रेलपथ बनना १८४५ ई० में प्रारम्भ हुआ। ईस्ट इंडिया और ग्रेट इंडियन पैनिन्सुला रेल कम्पनियों ने सरकार की मदद से काम जारी किया।

इसी समय आम्पीयर नामक फ्रांसीसी ने बताया कि बिजली से चुम्बक शक्ति का काम लिया जा सकता है और इस आधार पर १८३६ ई० में मौर्स नामक अमेरिकन ने

तार लेखन (टेलीग्राफी) का आविष्कार किया। भाप से चलनेवाले जहाज (स्टीमर) फ्रांस और अमेरिका में उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही जारी थे।

इस समय समूचे भारत को लोहे के तारों और पटरियों से कसा जा रहा था। इसी समय भारत विषयक अध्ययन शुरू हुआ।

बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के बाद (१७८४ ई०) से यूरोपियनों का भारत विषयक अध्ययन तेजी से बढ़ा। सर विलियम जोन्स ने यह पहचाना कि संस्कृत, यूनानी और लातीनी भाषाएँ सगोत्र हैं। कोलब्रुक ने संस्कृत व्याकरण, गणित, ज्योतिष आदि की ओर तथा चार्ल्स विल्किन्स ने भारत के पुराने लेखों की ओर ध्यान दिया। भारतीय पण्डित अपने लेखों को पढ़ते न थे, परन्तु यदि कोशिश करते तो सातवीं शती से इधर के लेखों को पढ़ सकते थे। १७८५ में विल्किन्स ने बंगाल का एक पाल अभिलेख तथा राधाकान्त शर्मा ने अशोक की दिल्लीवाली लाट पर का बीसलदेव चौहान का लेख पढ़ डाला।

सन् १८०२ में नैपोलियन के एक अंग्रेज कैदी से श्लीगल नामक जर्मन ने पेरिस में संस्कृत सीखी। श्लीगल का समकालीन फ्रांसीसी फ्रांजवॉप था। इन दोनों ने ईरानी तथा यूरोपियन भाषाओं से संस्कृत की तुलना कर तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की नींव डाली। इन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से जाना गया कि इनको बोलने-वाली जातियों के धर्म, कर्म, देवगाथाओं, प्रथाओं में बहुत समानता थी और इस प्रकार से आर्य जाति का पता चला। यह उन्नीसवीं सदी की एक सबसे बड़ी खोज थी।

भारत में अंग्रेजी शिक्षापद्धति की नींव लार्ड मैकाले ने रखी। इस शिक्षापद्धति में उसका एक ही लक्ष्य था कि इस देश पर शासन करने का दिमाग तो इंग्लैंड से आयेगा, परन्तु उसके हाथों के रूप में आदमी यहाँ तैयार किये जायँ। इसलिए उसने यहाँ पाठ्य-क्रम इतना जटिल रखा, जिसे सर्वसामान्य व्यक्ति न पढ़ सकें; उसमें उत्तीर्ण होना कठिन बना दिया। शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा होने से यह शिक्षा और भी जटिल हो गयी। इसलिए शिक्षा का प्रसार अवरुद्ध रहा, जिससे देश में जागरूकता नहीं हो सकी। परन्तु इसमें भी कुछ स्वदेशप्रेमी सज्जनों में जाग्रति हुई। हार्डिञ्ज के समय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बंगाल में शिक्षा फैलाने की विशेष चेष्टा की। सन् १८५४ में कम्पनी के उच्च अधिकारियों ने भारत में विद्यापीठों (यूनीवर्सिटियों) की आवश्यकता का अनुभव किया। तदनुसार १८५७ में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में लन्दन के विद्यापीठ के नमूने पर विद्यापीठ बने।

इस काल में अपने देश एवं अपने राज्य की आवाज़ सुनानेवाले पहले व्यक्ति स्वामी दयानन्द हुए, जिन्होंने इस शिक्षापद्धति का विरोध किया। उन्होंने इस बात को पहचाना कि यह शिक्षा गुलामी की है। गुजरात के दयानन्द (१८२४–१८८३ ई०) धर्मसुधारक और समाज सुधारक थे; उनका अनेक सुधारों को प्रेरित करनेवाला भाव यही था कि अपना राष्ट्र शक्तिशाली बन सके। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—

"कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि होता है। अन्यथा प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं।"

गुजराती होते हुए भी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ हिन्दी में लिखे, क्योंकि उनके विचार में भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा और अलग-अलग व्यवहार का विरोध बिना छूटे.....अभिप्राय सिद्ध होना कठिन था। विज्ञान के प्रसार, शिल्प की उन्नति और स्वदेशी की ओर दयानन्द का विशेष ध्यान था।[१]

इसी समय राजा राममोहन राय और रामकृष्ण परमहंस सुधारवादी हुए। इनमें स्वामी दयानन्द जैसी उदात्तता नहीं आयी। फिर भी रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम देश की बहुत सेवा करते रहे हैं।

दादाभाई नौरोजी अंग्रेजी राज्य के भक्त न थे, उनका ध्यान अपने देश की दरिद्रता की ओर गया, उन्होंने उसके कारणों को ठीक समझा और उस पर प्रकाश डाला।

शुरू-शुरू में जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा अपनायी, उन्होंने अंग्रेजों को श्रेष्ठ समझकर तथा उनके सद्गुणों से प्रेरित होकर इसे सीखा। वे प्रायः समाज सुधार और शिक्षा प्रचार के पक्षपाती थे। उनकी दृष्टि में इस कार्य के लिए अंग्रेजी ज्ञान आवश्यक था। बंगाल में राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, उत्तर भारत में सर सैयद अहमद खां, महाराष्ट्र में गोपालहरि देशमुख, गुजरात में दादाभाई नौरोजी पहले अंग्रेजी शिक्षित सुधारकों में से थे। सैयद अहमद खां ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि गवर्नर जनरल की कौन्सिल में यदि एक हिन्दुस्तानी सदस्य होता, जिसके द्वारा सिपाही अपना

---

१. स्वामी दयानन्द की बतायी शिक्षा पद्धति पर ही मुंशीराम जी ने हरिद्वार के समीप, गंगा पार बिजनौर जिले में गुरुकुल की स्थापना की थी। वहाँ पर आधुनिक विज्ञान की उच्च शिक्षा के साथ-साथ प्राचीन शिक्षा को पूर्णतः आर्यभाषा के माध्यम से ही दिया जाता था। उस समय विज्ञान-साइंस की शिक्षा देनेवाली संस्थाएँ गिनी चुनी थीं।

कष्ट सरकार तक पहुँचा सकते, तो गदर न होने पाता। सन् १८७७ में लार्ड लिटन से सर सैयद अहमद खां ने अलीगढ़ मुस्लिम कालेज की नींव रखवायी थी।

यह समय देश में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार का था, अंग्रेजों का राज्य जम चुका था, अब इस राज्य को भविष्य के लिए दृढ़ बनाने की आवश्यकता थी। दृढ़ बनाने के लिए सहायक रूप में आदमी चाहिए। भारत जैसे विस्तृत देश के लिए बहुत बड़ी मात्रा में आदमी इंग्लैण्ड से आ नहीं सकते थे, फिर उन्हें बुलाने में खर्च बहुत पड़ता, इसलिए कामचलाऊ आदमी पैदा करने के लिए यहाँ पर शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। यह शिक्षा जिस प्रकार दूसरे क्षेत्रों में प्रारम्भ हुई, उसी प्रकार चिकित्साशास्त्र में भी प्रारम्भ की गयी।

चिकित्साशास्त्र का ज्ञान देने के लिए बंगाल में मेडिकल कॉलेज १८३५ ईसवी में खोला गया। इस नये खुले कालेज में भारतीय पण्डित मधुसूदन गुप्त ने १८३५ में मृत देह पर पहला नश्तर लगाया था। मधुसूदन गुप्त के इस साहसिक कार्य की प्रशंसा करने के लिए कलकत्ता के फोर्ट विलियम से तोप दागी गयी थी (निर्णयसागर प्रेस से १९३९ में प्रकाशित सुश्रुत का उपोद्घात, पृ. १५)। १८३६ में मधुसूदन गुप्त ने सुश्रुत को पहली बार छपवाया। ये दोनों घटनाएँ इसी समय हुईं; इसलिए इस आधुनिक काल का प्रारम्भ इस समय से माना गया है।

आयुर्वेद के अध्यापन के साथ आधुनिक विज्ञान का संसर्ग तथा आयुर्वेद-ग्रन्थों का प्रथम प्रकाशन इसी समय हुआ। इसलिए श्री दुर्गाशंकर केवलरामजी शास्त्री ने आधुनिक समय का प्रारम्भ इसी समय से माना है, जो युक्तिसंगत भी है। शिक्षा की पुरानी पद्धति को फिर से जाग्रत करने की, अपनी प्राचीन विद्या को नवीन खोज और शिक्षा के साथ सीखने की भावना सुधारक दयानन्द ने इसी समय में दी थी।

इस काल की आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा के साथ प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन में कितना दृष्टिकोण बदल जाता है, यह मेघदूत की मल्लिनाथ की टीका तथा प्रोफेसर काले की टीका को देखकर सरलता से समझा जा सकता है। यही बात चरकसंहिता की चक्रपाणि की टीका आयुर्वेददीपिका एवं श्री योगीन्द्रनाथ सेन की उपस्कार व्याख्या को देखने से स्पष्ट हो जाता है। प्राचीन व्याख्याएँ या टीकाएँ पूर्णतः शास्त्रीय होती थीं, इनमें विषय का वाग्जाल दर्शन तथा साहित्य तक सीमित रहता था। इसके विपरीत आधुनिक व्याख्या सरल तथा प्रकरण से सम्बद्ध होती है।

चरक-सुश्रुत के काल में भले ही आयुर्वेद की उन्नति हुई हो, परन्तु गुप्तकाल के पीछे इसमें एकदम रुकावट आ गयी। गुप्तकालीन वाग्भट के संग्रह और हृदय के

देखने से यह स्पष्ट हो जाता है। आयुर्वेद की पद्धति में पर्याप्त अन्तर हो गया था। चरक में वर्णित दर्शनविषय सुश्रुत के अन्दर केवल एक अध्याय में से छनकर संग्रह में पंच-महाभूतों के नाम तक ही रहा। संग्रह में वह भी दर्शन सम्बन्धी सांख्य या न्याय सम्बन्धी विचार नहीं आते; फिर भी वह अष्टांग आयुर्वेद का ग्रन्थ है (संक्षिप्तसंचयितविस्तृत-विप्रकीर्णः कृत्स्नोऽर्थराशिरिति साधु स एव दृष्टः—संग्रह. उत्तर. अ. ५०)। यह क्रम आगे भी चलता रहा, जिससे सरल संग्रहग्रन्थ बने। इन सरल ग्रन्थों में योगों के संग्रहग्रन्थ विशेष तैयार हुए। इनमें मनुष्यशरीर में होनेवाले नये नये रोग तथा उनका चिकित्सा सम्बन्धी नवीन ज्ञान-शोध कदाचित् ही कुछ नया होगा। इसके विप-रीत शरीर सम्बन्धी ज्ञान तथा कायचिकित्सा के ज्ञान को छोड़कर शेष अंगों में सतत ह्रास ही होता गया, जिससे धीरे-धीरे यह ज्ञान क्षीण हो गया। अन्त में शल्यचिकित्सा का क्षेत्र धोबी, नाई तक रह गया—

मालाकारश्चर्मकारः नापितो रजकस्तथा।
वृद्धा रण्डा विशेषेण कलौ पंच चिकित्सकाः॥

इतना होने पर भी प्राचीन संहिताओं का पठन पाठन, उनसे प्राप्त ज्ञान के आधार पर वैद्यक व्यवहार करना चालू रहा। प्राचीन ग्रन्थों से सद्यः फलप्रद योगों को जानने-वाले तथा इनके आधार से अपना व्यवसाय करनेवाले व्यक्ति मध्यकाल में बहुत हुए। मध्यकाल में संहिताग्रन्थ, विशेषतः योग—नुस्खों सम्बन्धी बहुत बने। वैद्य पुराने ग्रन्थों के तलस्पर्शी ज्ञान के अवगाहन के लिए उपेक्षित होने लगे। दार्शनिक विचार तथा आयुर्वेद में वर्णित शरीर सम्बन्धी ज्ञान एवं अन्य इसी प्रकार की बातों के प्रति उनमें निराशा और सन्देह जागने लगा; विशेष कर जबवे प्रत्यक्ष रूप में दूसरे ज्ञान को देखते थे; उसमें सत्यता का अनुभव करते थे। भले ही यह विचार हममें पाश्चात्य शिक्षा की उपज कहा जाय, परन्तु अपने चौदहवीं शती के ज्ञान का ही यह परिणाम है; जब कि उस समय के ग्रन्थों में कोई भी नया विचार या नयी शोध हमको नहीं मिली। ऋषि-प्रणीत नाम से इनको सीमाबद्ध कर दिया गया—इनमें मनुष्यकृत ज्ञान का स्थान कहाँ रहा। इस सम्बन्ध में मैकाले ने भारतीय चिकित्सा के सम्बन्ध में जो कहा था, वह भुलाया नहीं जा सकता—

"अब हम सच्चा इतिहास और दर्शन पढ़ा सकते हैं तो क्या सरकारी रुपये से ऐसे चिकित्सासिद्धान्त पढ़ायेंगे, जिन पर अंग्रेजों के पशु-चिकित्सकों तक को लज्जा आयेगी, अथवा वह ज्योतिष, जिस पर स्कूलों की अंग्रेज बालिकाएँ हँस पड़ेंगी, या ऐसा इतिहास,

जिसमें ३० फुट लम्बे राजाओं का वर्णन है और जिनके राज्य ३० हजार वर्ष तक चलते थे, और क्या ऐसा भूगोल पढ़ायेंगे जिसमें शीरे तथा मक्खन के समुद्रों का वर्णन है ?"

चिकित्सा के सम्बन्ध में मैकाले का कथन पूर्णतः ठीक नहीं, क्योंकि जलोदर या शोथ रोग में देशी वैद्य बहुत समय से नमकरहित आहार देते थे (मात्रावत्तामि अठरी तोयपानं च वर्जयेत्—चरक.चि. अ. १३।१०१; निःसृते लंघिते पेयामस्नेहलवणां पिबेत्—चरक. चि. अ. १३।१९१)। पाश्चात्य चिकित्सा में यह ज्ञान १८ वीं शती में आया।

जब पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान की क्रमशः उन्नति होती गयी और देशी चिकित्सा में बराबर अवनति हुई। अपने तीन सौ साल के मुसलमानों के सम्पर्क में भी हमने उनसे कुछ नहीं लिया; उनकी उपयोगी औषधियों को, ज्ञान को आत्मसात् करना दूर रहा। शिरावेध (फस्द खोलना), जलौका का उपयोग हकीम लोग बराबर करते रहे और आज भी कहीं-कहीं करते हैं, परन्तु वैद्य इस काम को भूल गये। अब शायद ही कोई वैद्य इस ज्ञान को क्रियात्मक रूप में जानता है, ये विषय पुस्तकों तक ही रह गये हैं। वैद्यों के सामने अर्थप्रधान व्यवसाय ही रहा, जिससे वैद्य का आदर्श अग्निपुत्र ने जो भूतदया कहा था, वह छूट गया। इसी से योगसंग्रह के ही ग्रन्थ विस्तार से बने।[1]

आयुर्वेद के ह्रास के कारण—सातवीं आठवीं शती के पीछे देश में विद्या की अवनति प्रारम्भ हुई। इस ह्रास के बहुत से कारण राजकीय भी थे—जैसे देश पर बाहर के आक्रामकों के आक्रमण होना, किसी भी प्रकार की राजकीय सहायता न मिलना; परन्तु मुख्य कारण इसके वैद्य स्वतः थे—जो आज भी हैं। मुसलमान शासकों ने अंग्रेजी चिकित्सकों से उपचार करवाया, इसके प्रमाण इतिहास में विद्यमान हैं। उनके अपने हकीम थे, जो कि उसी देश की चिकित्सा करते थे, परन्तु एक आध उदाहरण को छोड़कर कहीं भी वैद्य की प्रतिष्ठा या चिकित्सा का उल्लेख नहीं है। वैद्यों का जीवन आलसी हो गया था, उनमें शोध या ज्ञान-समृद्धि की भावना समाप्त हो गयी थी, रसचिकित्सा में वाजीकरण औषधियों का विशेष प्रयोग चल पड़ा था।

फिर, वैद्यक व्यवसाय प्रायः ब्राह्मणों के हाथ में रहा, उनको चीर-फाड़, स्पृश्यता-अस्पृश्यता आदि बातों का विशेष ध्यान रहा, जिससे इसके ज्ञान में कमी हुई।

---

१. आज भी जिन पुस्तकों में योग-नुस्खे अधिक होते हैं, वे सबसे अधिक बिकती हैं; श्री यादवजी त्रिकमजी की पुस्तकों में सिद्धयोगसंग्रह जितना बिका, इतनी दूसरी पुस्तक नहीं बिकी। रसतंत्रसार, सिद्धयोगसंग्रह की जितनी अधिक खपत हुई उतनी इस संख्या की दूसरी पुस्तकों की नहीं है।

यह अवनति धीमे-धीमे प्रारम्भ हुई; इसमें वैज्ञानिक बुद्धि और अच्छाई को ग्रहण करने की संकुचित वृत्ति, अपना अभिमानभाव, विद्या को समयानुसार लोकभाषा में न लाना, विशेष वर्ग को ही उसकी शिक्षा देना, परिश्रम न करना आदि कारणों से सत्रहवीं, अठारहवीं शती में विद्या पूर्णतः क्षीण हो गयी थी। चिकित्सा में मुख्य स्थान हकीमों ने और डाक्टरों ने ले लिया था। आयुर्वेद की प्रणाली उत्तर भारत में बंगाल (पूर्वी बंगाल) में सुरक्षित रही, दक्षिण में मलाबार-कोचीन में बनी रही। गुजरात में प्रायः समाप्त हो गयी थी—उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र में कुछ-कुछ बची थी।

यूरोपियन लोग जब शिल्प, विद्या और व्यवसाय में उन्नति कर रहे थे, तब भारतीय अपने पुराने रास्ते पर ही चल रहे थे। आयुर्वेद विषयक यह स्थिति भी अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच चुकी थी, शरीर शस्त्रकर्म आदि विषय चिरकाल से उपेक्षित चले आ रहे थे। चरक-सुश्रुत का अध्ययन भारत के अधिक भाग में समाप्त हो गया था। गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान में शार्ङ्गधर, माधवनिदान, बंगाल में चक्रदत्त, रसेन्द्रसारसंग्रह और माधवनिदान का प्रचार था। बंगाल में, विशेषतः पूर्वी बंगाल में चरक का अध्ययन कम अभी सुरक्षित था। वनस्पतियों की पहचान, बंगाल में उनका ज्ञान समाप्त हो गया था, पंसारियों के ऊपर ही वे इसके लिए निर्भर हो गये थे। रसशास्त्र भी संकुचित होकर रसेन्द्रसारसंग्रह तक आ गया था, जो कि क्रियात्मक रूप में चिकित्सा का अंग था। महारस, उपरस, धातु-उपधातुओं की संदिग्धता बढ़ गयी थी, रसशास्त्र की बहुत प्रक्रिया समाप्त हो गयी थी। नाना योगसंग्रहों में चुने नुस्खे या घर की परम्परा से चले आते योगों पर चिकित्सा चलती थी। वृद्ध स्त्रियाँ औषध करने लगी थीं, इनको घरेलू शिक्षा से जो ज्ञान था, वही इस चिकित्सा का आधार था। संस्कृत बिना पढ़े भी चिकित्सा हो सकती थी, हिन्दी में कुछ पुस्तकें अठारहवीं सदी में बन गयी थीं। जैन ग्रन्थ विशेषतः हिन्दी में या क्षेत्रीय भाषा में लिखे गये थे। इस समय के अधिक वैद्य इसी प्रकार की देशी भाषा में लिखी पुस्तकें पढ़े हुए थे, जिससे वैद्यक के सिद्धान्त वे भूल गये।

ब्रिटिश शासन से ज्ञान के क्षेत्र में जो धक्का लगा, विशेष कर विज्ञान और चिकित्सा विषय में, उससे कुछ विद्वानों की आँखें खुलीं। उससे भारतीय चिकित्सा में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। इस परिवर्तन में सबसे प्रथम ग्रन्थ-प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। १८३६ ईसवी में सुश्रुत का प्रकाशन हुआ था। इसके पीछे चरक संहिता तथा दूसरे आयुर्वेद ग्रन्थ छपने प्रारम्भ हुए। पहले ग्रन्थ कलकत्ता में बंगला लिपि में छपे, परन्तु पीछे से देवनागरी में छपने प्रारम्भ हुए। इसी समय बम्बई से भी आयुर्वेद के ग्रन्थ

प्रकाशित हुए। इनके बाद श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने संशोधन करके पाठान्तर के साथ आयुर्वेद ग्रन्थों का प्रकाशन बम्बई से प्रारम्भ किया। इस विषय में आयुर्वेद-जगत् श्री आचार्यजी का सदा ऋणी रहेगा।

इसके पीछे इन ग्रन्थों का क्षेत्रीय भाषा में अनुवाद प्रारम्भ हुआ। मराठी, बँगला, हिन्दी अनुवाद विशेष रूप में चले। इन अनुवादों से आयुर्वेद का प्रचार सरल हो गया। मूल संस्कृत की अपेक्षा क्षेत्रीय भाषा के भाषान्तर अधिक बिकते थे। ये भाषान्तर बहुत शुद्ध नहीं थे, परन्तु इनसे विषय का प्रचार बहुत हुआ। इनमें हिन्दी के भाषान्तर सबसे अधिक हैं, उसके पीछे बँगला, मराठी और अन्त में गुजराती के अनुवाद हैं।

इस समय का साहित्य[1]

अठारहवीं शती की बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, और बहुत सी पुस्तकों का नाम हस्तलिखित पुस्तकों के रूप में पुस्तकालयों के सूचीपत्रों में लिखा है। यहाँ पर उन्हीं पुस्तकों का उल्लेख किया है जिनके तिथिक्रम का निश्चय सरलता से हो सकता है। इनमें कुछ प्रतियों के समय-निर्धारण में उनका अन्तःसाक्ष्य ही प्रमाण है।

अठारहवीं शती में बनी पुस्तकें—**आंतकतिमिरभास्कर**—कर्त्ता बालाराम, रहनेवाले वाराणसी के। इसमें चाय का उल्लेख है। **आयुर्वेदप्रकाश**—कर्त्ता माधव (१७१३)। **भैषज्यरत्नावली**—कर्ता गोविन्ददास (कलकत्ता १८९३); इसमें योगों का संग्रह है। **राजवल्लभीय द्रव्यगुण**—नारायण कृत (१७६०)। **प्रयोगामृत**—कर्त्ता वैद्य चिन्तामणि।

अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शती में बहुत ग्रन्थ बने, इनमें बहुतों का क्षेत्रीय भाषा में अनुवाद हुआ और बहुत से प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए। कुछ मुख्य ग्रंथों का नाम जो मुझे ज्ञात हो सका, इस प्रकार है—

शब्दकोश के रूप में श्री उमेशचन्द्र गुप्त का बनाया **वैद्यकशब्दसिन्धु** है। इसमें आयुर्वेद से सम्बन्धित शब्दों का स्पष्टीकरण दिया है, इसमें बहुत से योगों का संग्रह भी है। **आयुर्वेदीय द्रव्याभिधान**—श्री कुञ्जविहारीलाल सेनगुप्त, कलकत्ता से प्रकाशित। श्री गोडबोले का लिखा **निघण्टुरत्नाकर**—बम्बई से प्रकाशित। श्री दत्तराम चौबे का लिखा **बृहन्निघण्टुरत्नाकर**—इन दोनों में अनन्नास, तम्बाकू एवं डाक्टरी मतानुसार मूत्रपरीक्षा आदि आधुनिक चिकित्सा विषय लिखे गये हैं। **चोपचीनी** के ऊपर **चोप-**

---

१. इंडियन मेडिसिन—मूल लेखक डाक्टर जौली, अनुवादक सी० जी० काशीकर से उद्धृत।

चीनीप्रकाश पुस्तक बनायी गयी। यह सिफलिस रोग की औषधि है। यह पुस्तक राजा रणजीतसिंह के समय लिखी गयी है।

इस समय चरक, सुश्रुत, अष्टांगहृदय, माधवनिदान, शार्ङ्गधरसंहिता के अनुवाद प्रकाशित हुए। अंग्रेजी में भी पुस्तकें लिखी गयीं, जिनमें उमेशचन्द्र दत्त की लिखी पुस्तक **मेटेरिया मेडिका आफ हिन्दूज**; सर भगवतसिंहजी का **ए शॉर्ट हिस्ट्री आफ आर्यन मेडिकल साइन्स**; अविनाशचन्द्र कविरत्न का चरक संहिता का अंग्रेजी अनुवाद, श्री कुञ्जीलाल का सुश्रुतसंहिता का अनुवाद मुख्य हैं।

अजीर्णमंजरी या **अमृतमंजरी**—लेखक काशीनाथ या काशीराज अथवा काशीराम, इसका लिखने का समय—१८११, प्रकाशित। **अंजननिदान**—हस्तलिखित प्रति १७९४ निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। इसका दूसरा संस्करण हरिनारायण शर्मा द्वारा तैयार किया खेलाड़ीलाल एण्ड संस ने बनारस से प्रकाशित किया। **अर्कप्रकाश**—आयुर्वेदीय अर्क तैयार करने की पुस्तक; कर्त्ता रावण; सम्भवतः १६वीं शती में लिखी गयी; कई स्थानों से प्रकाशित। **विचारशुद्धकर** या अर्शोघ्न शुद्धकर—कर्त्ता रंगनाथ ज्योतिर्विद; पूना के पास का रहनेवाला। **अश्वलक्षण शास्त्र**—आठ अध्यायों का ग्रन्थ है। **अश्ववैद्यक**—कर्त्ता नानाकर का पुत्र दीपांकर। **अश्वायुर्वेद या सिद्धसंग्रह**—कर्त्ता दृढ़बल का पुत्र गन, इसमें आठ स्थान हैं। **अर्कप्रकाश या आयुर्वेदप्रकाश**—कर्त्ता माधव उपाध्याय, श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा प्रकाशित (बम्बई १९१३)। **आयुर्वेदमहोदधि या सुषेणवैद्यक**—निघण्टु है; वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से १९१५ में प्रकाशित; इसका हिन्दी अनुवाद रविदत्त ने किया है। **आयुर्वेदसूत्र**—योगानन्दनाथ कृत, भावप्रकाश के पीछे १६वीं शती में लिखा हुआ; माईसोर यूनीवर्सिटी सीरीज मे १९२२ में प्रकाशित; दूसरा संस्करण वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। **गूढ़प्रकाशिका**—इसका दूसरा नाम उपाकरसार है; कर्त्ता दिनकर ज्योतिषी; लेखन समय १७४० शक। **कंकाली ग्रन्थ**—माल्वा के नशीरशाह खिलजी के सभापण्डित द्वारा १५००-१५१० में तैयार किया हुआ; इसकी भाषा संस्कृत और हिन्दी मिली है। **कल्पद्रुमसार संग्रह**—कर्त्ता जयराम; लिखने का समय १७४६ ईसवी। **कामरत्न**—लेखक श्रीनाथ, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित। **कालज्ञान**—लेखक शम्भुनाथ; वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से (१८८२ में) प्रकाशित। **काश्यप संहिता** या काश्यपीय **गरुड़ पंचाक्षारी कल्प**—अगद तंत्र विषयक ग्रन्थ है; इसको मद्रास से यतिराज स्वामी ने १९३३ में प्रकाशित किया था। **कूटमुद्गर**—माधव कृत और लेखक की अपनी व्याख्या सहित; वेंकटेश्वर

प्रेस से हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित। गन्धककल्प—तांत्रिक ग्रन्थ; रुद्रयामल का एक भाग; श्री यादवजी त्रिकमजी द्वारा १९११, १९१५ में दो भागों में प्रकाशित। गौरीकांचलिका—वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। चिकित्साकर्मकल्पवल्ली—वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। चिकित्सासागर—लेखक बटेश्वर, लिखने का समय १७८५। चिकित्सासार—लेखक गोपालदास। जीवानन्दनम्—आयुर्वेद सम्बन्धी उत्तम नाटक; लेखक आनन्दराय मखी—तंजौर के मरहठा राज्य का मन्त्री; प्रकाशित—निर्णयसागर काव्यमाला सीरीज नं० २७ (१९११ में); संस्कृत व्याख्या के साथ श्री दुरैस्वामी आयंगर थियोसोफिकल सोसायटी अड्यार से प्रकाशित; हिन्दी व्याख्या—अत्रिदेव विद्यालंकार (१९५५); जर्मन डाक्टर ज़िम्मर ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू मेडीसिन' में इसका उल्लेख किया है। धातुरत्नमाला—लेखक देवदत्त; लिखने का समय १७५० शक; पूना से मराठी अनुवाद के साथ प्रकाशित। धातुकल्पराज, नाडीतत्त्व, नाडीप्रकाश, वैद्यमनोरमा—इन चारों पुस्तकों को श्री यादवजी त्रिकमजी ने १९२१ में प्रकाशित किया। निदानप्रदीप—लेखक नागनाथ, लिखने का समय १७४१ विक्रमी संवत्। पथ्यापथ्य—धन्वन्तरिनिघण्टु के साथ आनन्दाश्रम सीरीज से १८९६ में प्रकाशित। पारदकल्प—रुद्रयामल का २८ वां अध्याय, श्री यादवजी त्रिकमजी द्वारा दो भागों में १९११, १९१५ में प्रकाशित। पारदकल्पद्रुम—लेखक अनन्त, १७९२ ईसवी में लिखित। प्रयोगचिन्तामणि—लेखक माधव, फार्मेसी सम्बन्धी। कुमारतंत्र—वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। बालतंत्र—लेखक कल्याण वर्मा, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। भावस्वभाव—लेखक माधवदेव, लिखित १७१३ ईसवी। मदनकामरत्न—एक हजार ईसवी के पीछे संकलित। मल्लप्रकाश—लेखक कायस्थ लोकनाथ; १६६८ ईसवी में लिखा गया; पी० के० गोडे द्वारा प्रकाशित। योगशतक—वररुचि द्वारा संकलित; व्याख्याकार रूपनयन; हस्तलिखित प्रति १८४९ संवत्; सिंहली व्याख्या के साथ कोलम्बो से १८७७ में प्रकाशित; हिन्दी टिप्पणी के साथ निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। योगसमुच्चय—व्यास गणपति के नाम पर प्रसिद्ध; जीवराम कालिदास ने गोंडल से प्रकाशित किया है। वैद्यविलास और चिकित्सामंजरी—इन दोनों का लेखक रघुनाथ पण्डित है; यह चम्पावती का (बम्बई के कोलाबा जिले के वर्तमान चौल गांव का) रहनेवाला था; ये १६९९ ईसवी में लिखे गये हैं। लोहपद्धति—लेखक सुरेश्वर; प्रकाशक श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई; लोहसर्वस्व—लेखक सुरेश्वर; प्रकाशक श्री यादवजी त्रिकमजी बम्बई। वीरमित्रोदय—लेखक मित्र मिश्र; लिखने

का समय १६०२ ई०; यह एक कोश है, जो केवल न्याय से ही सम्बन्धित नहीं, अपितु इसमें चिकित्सा तथा अन्य विषयों का भी उल्लेख है। यह आठ भागों में विभक्त है, जिनको प्रकाश कहते हैं। इसका प्रथम प्रकाश जीवानन्द विद्यासागर ने १८७५ में कलकत्ते से प्रकाशित किया था; शेष भाग चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से निकला था। **वैद्यकसार**—लेखक राम, सम्पादक श्री रघुवंश शर्मा; हिन्दी अनुवाद के के साथ १८९६ में बम्बई से प्रकाशित। **वैद्यकसारसंग्रह**—लेखक श्रीकान्त शम्भु; लिखने का समय १७९१ संवत्। **वैद्य कौस्तुभ**—लेखक मेवाराम, १९२८ में प्रकाशित। **वैद्यचिन्तामणि**—लेखक वल्लभेन्द्र; सम्पादक-पण्डित वैंकट कृष्णाराव, तैलुगु में प्रकाशित; १९२१ में छठा संस्करण निकला। **वैद्यमनोत्सव**—लेखक नयनसुख; लिखने का समय १७४९ संवत्; व्याख्याकार रामनाथ। **वैद्यमनोरमा**—लेखक कालिदास; प्रकाशक श्री यादवजी त्रिकमजी बम्बई; सुखदेव के द्वारा हिन्दी व्याख्या के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित। **वैद्यवल्लभ**—लेखक हस्तिरुचि; लेखन का समय १७२६ संवत्; प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई। **वैद्यविनोद**—जयपुर के राजा रामसिंह की आज्ञा से शंकरभट्ट ने १७६२ संवत् में लिखा था; वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से १९११ में और कृष्ण शास्त्री नवरे के मराठी अनुवाद के साथ १९२४ ई० में प्रकाशित। **वैद्यामृत**—लेखक मोरेश्वर भट्ट, लेखन समय १५४७ ईसवी; कृष्ण शास्त्री भाटवड़ेकर ने मराठी अनुवाद के साथ १८६२ में बम्बई से। ज्योतिस्वरूप ने हिन्दी व्याख्या के साथ १८६७ में बनारस से, रामनाथ ने हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित किया। **वैद्यावतंस**—लेखक लोलिम्बराज; गुजराती में १९०८ में अहमदाबाद से प्रकाशित। **शारीर-पद्मिनी**—लेखक भास्कर भट्ट; १६७९ ई० में लिखी गयी। **शिवकोश**—लेखक कर्पूरीय शिवदत्त; लेखन समय १६७७ ईसवी; पी० के० गोडमे सम्पादक **सिद्धसार-संहिता**—लेखक रविगुप्त; लेखन समय १३७४ ईसवी। **स्त्रीविलास**—लेखक देवेश्वरोपाध्याय; लेखन का समय १६वीं शती ईसवी।

इस समय दो प्रकार के ग्रन्थ बने, एक संहिता ग्रन्थ, जैसे आयुर्वेदविज्ञान, आयुर्वेद-संग्रह, भैषज्यरत्नावली आदि। इन ग्रन्थों में पाश्चात्य चिकित्सा के विषय भी लिये गये; उस विषय को संस्कृत में श्लोकबद्ध कर दिया गया—जैसे आयुर्वेदविज्ञान में प्लुरिसी को उरस्तोय के नाम से लिखा है। यह प्रवृत्ति बीसवीं सदी में रसविषयक ग्रन्थों में पायी गयी है। श्री सदानन्द घिल्डियाल ने रसतरंगिणी में स्वर्ण-लवण के नाम से गोल्ड क्लोराईड, एवं रजतनत्रित आदि आधुनिक योगों को संस्कृत में छन्दोबद्ध कर दिया है। दूसरे ग्रन्थ क्षेत्रीय भाषा में अनुवादित हुए हैं। इन ग्रन्थों में भी पाश्चात्य

चिकित्सा के विषय को सम्मिलित किया गया है; किसी में पृथक् रूप से और किसी में उसी में जोड़कर लिखा है। प्राचीन टीकाओं में जहाँ दूसरी संहिताओं के या दूसरे शास्त्रों के वचन उद्धृत किये गये थे, उनके स्थान पर पाश्चात्य चिकित्सा की सहायता से विषय के स्पष्टीकरण का यत्न किया गया। शुद्ध अनुवाद भी क्षेत्रीय भाषा में हुए हैं, जैसे बंगला में यशोदानन्द ने सुश्रुत-चरक संहिता का अनुवाद किया, मराठी में शंकरदाजी शास्त्रीपदे का; हिन्दी में वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि के अनुवाद। गुजराती में भी चरक का अनुवाद हुआ था; इसी प्रकार का एक अनुवाद तैलुगु का भी दो भागों में देखा था।

पाश्चात्य चिकित्सा की सहायता से प्राचीन ग्रन्थों के स्पष्टीकरण का प्रयास विशद रूप में श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर—एम० बी० बी० एस० ने अपनी सुश्रुत-संहिता में किया है। इसी प्रकार का प्रयास कुछ अंशों में मेरे सतीर्थ्य श्री जयदेव विद्यालंकार ने चरक संहिता में किया है; परन्तु साथ ही इसमें प्राचीन संहिताओं की सहायता पूर्णरूप से ली है।

एक और भी प्रकार के ग्रन्थ इस समय बने, जिनमें पाश्चात्य विषय को संस्कृत या क्षेत्रीय भाषा में लिखा गया है। इनमें संस्कृत का ग्रन्थ प्रत्यक्षशारीरम् कविराज गणनाथ सेन सरस्वती का मुख्य है। इसका भी हिन्दी अनुवाद अत्रिदेव विद्यालंकार ने और गुजराती अनुवाद श्री बालकृष्णजी अमरसी पाठक ने तैयार किया है। इस पुस्तक में शुद्ध पाश्चात्य चिकित्सा को सुन्दर संस्कृत में लिखा है। इसी प्रकार का दूसरा ग्रन्थ कविराजजी का सिद्धान्तनिदान है। श्री दामोदर शर्मा गौड़ ने अभिनव प्रसूतितंत्र नाम से अपूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में संकलित किया है, जो कि पाश्चात्य चिकित्सा के प्रसूतिविज्ञान पर आश्रित है। हिन्दी में अत्रिदेव विद्यालंकार का क्लिनिकलमेडिसिन तथा डा० मुकुन्दस्वरूप जी का स्वास्थ्यविज्ञान है।

प्राचीन ग्रन्थों की अर्वाचीन संस्कृत टीकाएँ—प्राचीन ग्रन्थों की संस्कृत टीकाएँ प्रायः बंगाल में तैयार हुई हैं। सबसे प्रथम गंगाधरजी ने चरकसंहिता पर जल्पकल्पतरु विशद टीका लिखी है। इस टीका में दार्शनिक विचार भरे हैं; आयुर्वेद का विषय स्पष्ट नहीं होता। बंगाल की यह मान्यता थी कि बिना दर्शन-ज्ञान के आयुर्वेद नहीं आ सकता (जब कि अष्टांगसंग्रह में तो दार्शनिक विषय नहीं के बराबर है और सुश्रुत संहिता में केवल एक अध्याय का सम्बन्ध दर्शन से है)। गंगाधरजी का पाण्डित्य प्रत्येक पृष्ठ पर झलकता है, परन्तु वह इतना कठिन है कि सामान्य शिष्य की बुद्धि उसमें नहीं घुस पाती।

चरकसंहिता पर दूसरी संस्कृत टीका श्री योगीन्द्रनाथ सेनजी की है। आपके पिता श्री द्वारकानाथ सेनजी गंगाधर कविराज के शिष्य थे। यह टीका अपूर्ण होने पर भी हृदयङ्गम और सरल है, इसमें न तो गंगाधरजी की 'जल्पकल्पतरु' के समान दर्शन विषय भरा है, और न चक्रपाणि की आयुर्वेददीपिका के समान विस्तार तथा प्रमाण बाहुल्य है। यह विद्यार्थियों के लिए अति उपयोगी एवं बोधगम्य है, इसी से श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने चरकसंहिता के सम्पादन में इस टीका का टिप्पणी में बहुत उपयोग किया है। दुःख है कि यह टीका अपूर्ण छपी है, श्री यादवजी की बहुत इच्छा थी कि शेष का भी प्रकाशन हो जाय। इनकी इस टीका का नाम चरकोपस्कार है— प्रकाशन समय १९२० ईसवी।

सुश्रुत की टीका संदीपन भाष्य के नाम से श्री हारायणचन्द्र चक्रवर्तीजी ने की है। श्री हारायणचन्द्रजी भी गंगाधरजी के शिष्य थे। यह टीका शारीर स्थान तक विस्तृत है; आगे टिप्पणी के रूप में बहुत संक्षिप्त हो गयी है। इस टीका में मूल पाठ निर्णय-सागर में प्रकाशित सुश्रुतसंहिता से बहुत स्थानों में भिन्न है। श्री यादवजी त्रिकम-जी आचार्य ने मूल सुश्रुत संहिता के सम्पादन में इसके पाठ को टिप्पणी में पर्याप्त मात्रा में उद्धृत किया है। टीका सरल, बोधगम्य है। विषय का स्पष्टीकरण सुगमता से होता है। यह टीका १८२७ शक संवत् में कलकत्ता में छपी थी।

योगसंग्रह ग्रन्थ

नवीं या दसवीं शती में जिस प्रकार से योगों के संग्रहग्रन्थ बनते थे, उसी प्रकार से अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध से संग्रह ग्रन्थ बनने लगे। ये ग्रन्थ मुख्यतः योगों के होते थे। इनमें जो मुख्य हैं, तथा जिनसे लेखक परिचित है, वे निम्न हैं—[1]

भैषज्यरत्नावली—बंगाल के कविराज श्री विनोदलाल सेन को अपने घर में महामहोपाध्याय गोविन्ददास की बनायी एक जीर्ण-शीर्ण योगसंग्रह की पुस्तिका मिली थी, इसमें अनेक ग्रन्थों में से योग उद्धृत किये गये थे, जो कि लेखक को अनुकूल लगे। विनोदलाल सेन ने इस पुस्तिका में अपने अनुभव के योग मिलाकर इसको बढ़ाकर भैषज्यरत्नावली नाम से प्रकाशित किया। बंगाल में इसकी अधिक प्रसिद्धि है। इसमें औपसर्गिक मेह, शीर्षाम्बु जैसे नये रोगों को पाश्चात्य चिकित्सा में से लेकर वर्णन किया गया है।

---

१. ग्रन्थों तथा लेखकों की जानकारी मेरे वैयक्तिक ज्ञान पर ही आश्रित है, इसलिए स्वाभाविक है कि कुछ ग्रन्थ एवं लेखक छूट गये हों।

भैषज्यरत्नावली का प्रचार उत्तर भारत में बहुत है, इसी से इसके हिन्दी अनुवाद कई हुए हैं। एक अनुवाद नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से छपा था, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से भी अनुवाद निकला है; ये दोनों अनुवाद शुद्ध अनुवाद मात्र हैं। सबसे अच्छा, सुव्यवस्थित, आधुनिक जानकारी के साथ मोतीलाल बनारसीदास लाहौरवालों ने (आजकल दिल्ली में) प्रकाशित किया था। इस अनुवाद को श्री जयदेव विद्यालंकार ने अपने गुरु श्री कविराज नरेन्द्रनाथ मिश्रजी की देखरेख में किया था, यह अनुवाद बहुत प्रचलित हुआ। इसका प्रचार वैद्यसमाज तथा विद्यार्थियों में बहुत रहा। इसकी देखादेखी इसके आधार पर पीछे से कुछ अनुवाद निकले, जिनमें से कुछ अनुवादों में वैद्यों में प्रसिद्ध दूसरी पुस्तकों के प्रकाशित योगों को छन्दोबद्ध करके अपने नाम से दे दिया है, वास्तव में ये योग दूसरे ग्रन्थों से संगृहीत हैं।

कविराज विनोदलाल सेन ने आयुर्वेदविज्ञान नाम का एक दूसरा ग्रन्थ सूत्र, शारीर, द्रव्य, निदान, चिकित्सा—इन पाँच स्थानों का लिखा था। इसमें आयुर्वेद का शारीर, निघण्टु, यंत्र-शस्त्रों का वर्णनात्मक एक भाग छपवाया है। इसमें नवीन रोगों का वर्णन है।

आयुर्वेदसंग्रह—बँगला का यह बृहत्काय ग्रन्थ है। इसके लेखक देवेन्द्रनाथ सेन गुप्त और उपेन्द्रनाथ सेन गुप्त हैं। इस ग्रन्थ में आयुर्वेद सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी प्रायः आ गयी है। कोई भी चिकित्सक चिकित्साकार्य इसकी सहायता से चला सकता है। इसमें आयुर्वेद के शारीर, निघण्टु, परीक्षा, रसशास्त्र, परिभाषा आदि विषयों का उल्लेख करके रोगों का निदान देकर उनकी चिकित्सा दी है। चिकित्सा में मुष्टियोग, टोटकाविज्ञान भी प्रारम्भ में दिये हैं, जो कि कभी-कभी आश्चर्यकारक देखे गये हैं। इसके आगे क्वाथ, वटी, अवलेह, घृत, तैल, रस चिकित्सा देकर प्रत्येक रोग के लिए पथ्य-अपथ्य की भी सूचना दी है। चिकित्सक के लिए जो भी ज्ञातव्य होती हैं, अथवा जिसकी चिकित्सा में आवश्यकता रहती है, वे सब बातें आदि से अन्त तक इसमें सुलभ हैं; एक प्रकार से वैद्य के लिए 'रेडी रेफ़ेन्स' पुस्तक है। दुःख है कि अभी तक इसका हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ।

निघण्टुरत्नाकर—१८६७ ईसवी में वैद्यवर्य विष्णु वासुदेव गोडबोले ने वैद्यवर्य गणेश रामचन्द्र शास्त्री दातार आदि दक्षिणी वैद्यों से तैयार करवाकर सेठ हंसराज करमसी रणमल्ल जैसे गुजराती सेठों की आर्थिक मदद से मराठी भाषान्तर के साथ प्रकाशित किया। निर्णयसागर प्रेस में छपने से छपाई और शुद्धता अच्छी है। यह ग्रन्थ आयुर्वेद के मूल ग्रन्थों से वचनों को उद्धृत करके बनाया गया है। ओषधि गुण-

शोध, परिभाषा, पंचकषाय, सुश्रुत-शारीर, अष्टविध परीक्षा, धातुशोधन, मारण आदि, पारद, महारस, उपरस, रत्न, अर्कप्रकाश, अजीर्णमंजरी, वैद्यकशास्त्रीय पारिभाषिक कोश, रोगविज्ञान और चिकित्सा इस प्रकार विभाग करके यह संग्रह सम्पूर्ण किया गया है।

बृहन्निघण्टुरत्नाकर—सबसे बड़ा संग्रह ग्रन्थ यह है, इसको दत्तराम चौबे ने भाषाटीका के साथ छः भागों में पूरा करके श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित कराया है। इसी के सातवें और आठवें भाग के रूप में लाला शालिग्राम ने शालिग्राम-निघण्टुभूषण नामक दो भाग बनाये हैं। सातवें, आठवें भाग में ओषधियों के नाम संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बँगला, तैलुगु, लैटिन, अंग्रेजी आदि भाषाओं में दिये हैं; ओषधियों के गुण-धर्म लिखे हैं।

रसाकारसार—यह ग्रन्थ श्री श्यामसुन्दराचार्य का बनाया हुआ है। आप काशी के रहनेवाले अग्रवाल वैश्य थे। आपने इस ग्रन्थ में जो लिखा है, वह अपना अनुभव किया लिखा है। इसमें पारद के बुभुक्षित करने का उल्लेख, स्वर्णग्रास देकर भार न बढ़ने सम्बन्धी पत्रव्यवहार भी प्रकाशित किया है। इसी में मल्लचन्द्रोदय, शिला-चन्द्रोदय, ताम्रचन्द्रोदय आदि नवीन योग दिये हैं, जिससे लेखक की नयी सूझ का पता चलता है।

अन्य संग्रह ग्रन्थ—कालेड़ा बोगला से रससार—सिद्धयोगसंग्रह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। यह हिन्दी में लिखा हुआ है, इसका गुजराती अनुवाद भी हो गया है। यह ग्रन्थ सामान्य वैद्य के लिए उत्तम है, इसमें औषधनिर्माण-प्रक्रिया प्रथम भाग में क्रियात्मक सूचनाओं के साथ दी है। शास्त्रीय योगों के साथ वैद्यों के अनुभूत योग भी इसमें एकत्र किये हैं।

श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य लिखित सिद्धयोगसंग्रह दूसरा ग्रन्थ है, इसमें कुछ शास्त्रीय योगों में परिवर्तन किया है। लेखक की यह ईमानदारी है कि उसने नीचे स्पष्ट परिवर्तन का निर्देश कर दिया है, यथा चन्द्रामृत रस के पाठ में बकरी के दूध के स्थान पर अडूसे के पत्तों के रस की भावना लिखी है, जो कि बम्बई जैसे विशाल शहर की दृष्टि से अनुचित नहीं। वहाँ पर अडूसे का रस सरल है, परन्तु बकरी का ताजा दूध प्राप्त करना कष्टसाध्य है। (देहात के रोगी को फलों का रस दुर्लभ है और शहर के रोगी को बकरी का दूध कष्टसाध्य है।)

श्री जीवराम कालिदासजी ने गोंडल से रसोद्धार तंत्र—उपचारपद्धति नाम से एक आवृत्ति गुजराती में प्रकाशित की थी। उसमें दिये गये योग सर्वथा नवीन थे।

उनका कहना है कि यह प्राचीन पुस्तक है, परन्तु योगों को देखने से ऐसा प्रतीत नहीं होता।

श्री कृष्णराम भट्टजी ने जयपुर से **सिद्धभैषज्यमणिमाला** ग्रन्थ सुन्दर योगसंग्रह प्रकाशित किया था। इसमें बहुत-सी विशेषताएँ हैं। इसकी भाषा सुन्दर-ललित है।[1] इसमें हिन्दी और संस्कृत मिश्रित आकर्षक पद्यावली है। योगों में शर्बत जैसी यूनानी चिकित्सा का मिश्रण है। नये योग भी हैं, 'अमीररस' नाम का योग जो सिफलिस में बरता जाता है, इसी की सूझ है। राजपूताने में इसका बहुत प्रचार है, इसी से इनके शिष्य और भारतप्रसिद्ध लक्ष्मीराम स्वामीजी ने इसको टिप्पणी सहित प्रकाशित किया था। प्राचीन ग्रन्थों में से, यूनानी ग्रन्थों में से तथा व्यवहार में से वस्तु का संग्रह करके लेखक ने स्वतंत्र रूप में इसे बनाया है।

इसी ग्रन्थ की शैली पर श्री हनुमानप्रसादजी शास्त्री ने **सिद्धभैषज्यमंजूषा** ग्रन्थ बनाया था। इसमें माघ और भारवि के समान चक्रबन्ध, मूसलबन्ध आदि वृत्त दिये हैं। इसमें भी सुन्दर, ललित, श्रवणमनोहर पद्यों की रचना की गयी है। नामसादृश्य की भाँति कविता में भी सामञ्जस्य है।

रसयोगसागर—यह बृहत्काय ग्रन्थ आयुर्वेद में वर्णित रसयोगों का संग्रह है। इसको श्री वैद्य हरिप्रपन्नजी ने संकलित किया है। इसमें प्रकाशित, अप्रकाशित, हस्तलिखित पुस्तकों से यथासम्भव सम्पूर्ण रसयोग अकारादि क्रम से संगृहीत हैं। नीचे उनका हिन्दी अनुवाद भी दिया है, विशेष योगों के लिए यथावश्यक टिप्पणी भी दी है। एक ही योग किन-किन ग्रन्थों में आया है, उसमें हुआ छोटा-मोटा परिवर्त्तन क्या है, उसका जो नाम परिवर्त्तन हुआ है; इत्यादि जानकारी इसमें दी गयी है।

उपोद्घात अंग्रेजी और संस्कृत में लिखा है, इसमें आयुर्वेद का इतिहास तथा वैदिक शारीर शब्दकोश आदि आवश्यक बातों का उल्लेख है। द्वितीय भाग के अन्त में परिशिष्ट में सिद्ध सम्प्रदाय एवं द्रवद्वैगुण्यपरिभाषा सम्बन्धी स्पष्टीकरण आदि बातों का उल्लेख पूर्ण पाण्डित्य के साथ किया है।

---

१. हं हो एषा स्फुरन्ती सघनघनघटालोलविद्युद् विलासैः
काली पीली झुकी छे झटपट निमडो चूरमूं भींज जासी।
नां केतां भांग पीधी हरकत पड़शे केम गांडा थया छो
भय्या जानो तुम्हारी तुम अब हम तो जैमवे को जबे हैं।

—मुक्तक १३५

हिन्दी में निघण्टु पर बहुत काम हुआ है—अजमेर से दो भागों में अनुभूतयोग-सागर नामक ग्रन्थ छपा था, जिसमें वनस्पतियों का उल्लेख यूनानी तथा आयुर्वेदिक पद्धतियों से मिलाकर हुआ है। इसके पीछे श्री चन्द्रराज भण्डारी का लिखा वनौषधि-चन्द्रोदय—बृहत्कोश है यह कई भागों में समाप्त हुआ है। श्री रूपलाल वैश्य का लिखा सचित्र बूटीदर्पण—काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ है, इसका प्रथम खण्ड ही प्रकाशित हो सका है। श्री प्रियव्रत शर्मा ने 'द्रव्यगुणविज्ञान' नामक पुस्तक दो भागों में लिखी है। इसमें प्राचीन और आधुनिक विचार मिलाकर लिखे हैं। आधुनिक विचार किस आधार पर लिखे हैं; यह इसमें स्पष्ट निर्देश नहीं है। श्री यादवजी त्रिकमजी की सचाई की प्रशंसा है; उन्होंने पुस्तक-लेखन में पूर्णतः सत्यता बरती है। पुस्तक का मुख्य आधार 'द्रव्यगुणविज्ञानम्'—श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य का ही प्रतीत होता है, यद्यपि ऐसा कहीं पुस्तक के अन्दर निर्देश लेखक ने नहीं किया। वैद्य हीरामणि मोतीराम ओगले का लिखा वनस्पतिगुणादर्श सचित्र—संक्षिप्त एवं उत्तम ग्रन्थ है। अन्तुभाई का वनस्पतिपरिचय संक्षिप्त है।

रसशास्त्र—इस विषय पर कुछ नये ग्रन्थ लिखे गये हैं। इनमें श्री श्याम-सुन्दराचार्यजी का रसायनसार प्रथम है। इसमें पारद को बुभुक्षित करने का दावा किया है। इस संबंध में धूतपापेश्वर-बम्बईवालों के साथ जो पत्र-व्यवहार हुआ, वह भी प्रकाशित है। इसमें मल्लचन्द्रोदय, तालचन्द्रोदय आदि नये योग तथा अन्य रसयोग भी दिये गये हैं। भीमसेनी कपूर तैयार करने की सुन्दर विधि इसमें मिलती है।

इसके पीछे श्री नरेन्द्रनाथजी मित्र के शिष्य श्री सदानन्द शर्मा चिल्डियाल की बनायी रसतरंगिणी है। यह ग्रन्थ अनुभव की प्रक्रियाओं तथा नवीन योगों के साथ उत्तम-ललित पद्यमय रचना में है। इसमें बहुत-सी विधियाँ एक-एक धातु के जारण-मारण की हैं। इसका विभागीकरण स्वतंत्र और वैज्ञानिक है। इसमें बहुत से नवीन योग भी दिये हैं, जो कि अनुभूत एवं उत्तम फलप्रद हैं। इस ग्रन्थ ने आयुर्वेद की पुरानी प्रथा को एक प्रकार से समाप्त कर दिया।

इसी तरह एक ग्रन्थ श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य का लिखा रसामृत है। यह ग्रन्थ सरल, संक्षिप्त और उपादेय है। इसमें प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में दी सूचनाएँ तथा इसका परिशिष्ट महत्त्व का है। इसमें विधियाँ थोड़ी दी हैं, जो दी हैं वे अनुकूल हैं, और व्यर्थ का प्रपंच नहीं है।

इसी प्रकार का हिन्दी में लिखा, परन्तु उपादेय, संक्षिप्त, प्रकृत लेखक का

अनुभूत ग्रन्थ भारतीय रसपद्धति है। इसके प्रारम्भ में रसशास्त्र सम्बन्धी बातों पर (यथा बीज क्या है, भस्मों की पानी पर तैरने से परीक्षा, घटकों से योग के गुणों का निर्णय आदि) युक्तिपूर्वक विवेचना की है। इसमें जो भी प्रक्रियाएँ दी हैं, वे सब सरल और स्पष्ट हैं।

इनके सिवाय बहुत से और भी छोटे बड़े रसग्रन्थ लिखे गये हैं; 'रसजलनिधि'—यह ग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थों में आये रसों का संग्रह है, परन्तु रसयोगसागर से बहुत छोटा है। इसके लेखक श्री भूदेव मुकर्जी हैं, यह पाँच भागों में समाप्त हुआ है। इसमें योगों का अंग्रेजी अनुवाद भी दिया है।

रसतंत्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह—यह ग्रन्थ कालेड़ा बोगला (अजमेर) से प्रकाशित हुआ है। इसमें धातुओं की भस्म, आसव-अरिष्ट आदि निर्माण की सूचना-के साथ योगों का भी संग्रह है। इसकी प्रक्रियाएँ भी सरल प्रतीत होती हैं, इसमें क्रियात्मक सूचनाएँ भी दी हैं।

शरीरविज्ञान—इस विषय पर आधुनिक दृष्टि से प्राचीन पद्धति को समयानुकूल बनाने के लिए कविराज गणनाथ सेनजी एम० ए०, एल० एम० एस० ने संस्कृत में प्रत्यक्षशारीरम् नाम से एक ग्रन्थ तीन भागों में लिखा था। इसका प्रथम भाग १९११ ईसवी में और तीसरा भाग १९५६ ईसवी में प्रकाशित हुआ है। इसके प्रथम दो भागों का हिन्दी अनुवाद अत्रिदेव विद्यालंकार ने किया है। गुजराती अनुवाद डाक्टर बाल-कृष्णजी अमरसी पाठक ने टिप्पणी देते हुए किया है। यह ग्रन्थ आयुर्वेद के विद्यार्थियों को शरीरशास्त्र का ज्ञान कराने के लिए बहुत उपादेय है।

हिन्दी भाषा में शरीरशास्त्र पर पर्याप्त ग्रन्थ निकले हैं। इनमें प्रारम्भ का ग्रन्थ डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा का हमारे शरीर की रचना है। इसके दो भाग हैं, इनमें प्रथम भाग का नवीन संस्करण उनके सुपुत्र श्री हरिश्चन्द्र वर्मा ने किया है, इसे बहुत परिष्कृत और संवर्द्धित बना दिया है। दूसरी पुस्तक डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा की लिखी मानव शरीर का रहस्य है; यह भी दो भागों में है, इसमें शरीरविज्ञान के साथ क्रियाविज्ञान भी मिला है। इन्हीं की लिखी एक पुस्तक मानव शरीररचना-विज्ञान है, जिसका एक भाग ही छपा है। यह पुस्तक ग्रे की एनाटमी के ढंग पर लिखी है। पुस्तक पूरी हो जाय तो उत्तम होगी—इसमें कोई सन्देह नहीं। शवच्छेद विषय पर अभिनव शवच्छेदविज्ञान श्री हरिस्वरूप कुलश्रेष्ठ का लिखा बहुत उत्तम है। यह पुस्तक पूर्णत: पाश्चात्य पुस्तक के अनुसार तैयार की गयी है।

शरीरक्रिया-विज्ञान—यह विषय आयुर्वेद में दोष-धातु-मल विज्ञान नाम से

पहचाना जाता है। परन्तु आधुनिक शरीरक्रियाविज्ञान को प्राचीन पद्धति से लिखने-वाले श्री रणजीतराय देसाई आयुर्वेदालंकार हैं। इन्होंने श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य की प्रेरणा से **शरीरक्रियाविज्ञान (आयुर्वेदीय क्रियाशरीर)** नाम का बहुत संगठित, सरल ग्रन्थ हिन्दी में लिखा है। इसका प्रचार देखकर इसके आधार पर ही बिक्री के लिए इसी नाम का दूसरा ग्रन्थ श्री प्रियव्रत शर्मा एम० ए० ने लिखा। इस ग्रन्थ का नाम **अभिनव शरीरक्रियाविज्ञान** रखा है। यह ग्रन्थ श्री देसाई के ग्रन्थ की तुलना में नहीं पहुँचता। उसमें जो मौलिकता, विषय का स्पष्टीकरण है, वह इसमें नहीं मिलता।

चिकित्सा विषयक ग्रन्थ—इस विषय में प्रथम प्रामाणिक कार्य डाक्टर भास्कर गोविन्द घाणेकर, एम० बी० बी० एस० ने किया। आपने स्वतंत्र रूप से **औपसर्गिक रोग, रक्त के रोग, मूत्र के रोग** आदि पुस्तकें लिखीं। ये पुस्तकें मुख्यत: अंग्रेजी पुस्तकों का निष्कर्ष लेकर लिखी गयी हैं। इनमें पारिभाषिक शब्द आपने नये बनाये हैं, जिससे भाषा में काठिन्य अनुभव होता है। काशी विश्वविद्यालय में आयुर्वेद विभाग में आप चिकित्सा के अध्यापक थे, वहाँ से १९५७ में निवृत्त हो गये हैं। उक्त पुस्तकें विद्यार्थियों के लिए बहुत लाभप्रद हुईं।

वहीं के अध्यापक डाक्टर शिवनाथजी खन्ना ने चिकित्सा को संक्षिप्त परन्तु उपादेय रूप से प्रस्तुत करके बहुत सरल और विद्यार्थियों तथा चिकित्सकों के लिए सुलभ कर दिया है। आपने **रोगीपरीक्षा, रोगपरिचय, रोगनिवारण** ये तीन पुस्तकें लिखी हैं। ये पुस्तकें पाश्चात्य चिकित्सा के आधार पर लिखी होने से बहुत उत्तम और उपयोगी हैं। रोगीपरीक्षा पुस्तक का अधिक प्रचार देखकर श्री प्रियव्रत शर्मा ने भी इस पुस्तक के आधार पर आयुर्वेद का विषय देकर नयी पुस्तक तैयार कर दी। यह आयुर्वेद की प्रथा है या प्रकाशकों का रुपया कमाने का लोभ है कि जो पुस्तक आयुर्वेद में चलती है, उसी के आधार पर इधर-उधर से कुछ बदलकर नयी पुस्तक तैयार करवा देते हैं।

श्री आशानन्द पंजरत्न ने भी **व्याधिविज्ञान** एवं **आधुनिक चिकित्साविज्ञान** नाम से चिकित्साविषयक पुस्तकें लिखी हैं। इन पुस्तकों में आयुर्वेद का भी उल्लेख है। भाषा सरल है, विषय को सार रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि आवश्यक बात छूटने नहीं पायी। व्याधिविज्ञान दो भागों में है, आधुनिक चिकित्साविज्ञान भी दो भागों में प्रकाशित हुआ है।

अत्रिदेव विद्यालंकार द्वारा प्रस्तुत **क्लिनिकल मेडिसिन** दो भागों में १८९० पृष्ठों में लिखा उत्तम ग्रन्थ है। इसमें पाश्चात्य चिकित्साप्रणाली में शौवल की पुस्तक

क्लिनिकल मेडिसिन, मजूमदार की बैड साइड मेडिसिन की नींव पर आर्ष वचनों द्वारा आयुर्वेद के विषय का प्रतिपादन किया है। पुस्तक लिखने में भारतीय संस्कृति का पूरा ध्यान रखा गया है। आयुर्वेद ग्रन्थों से ढूंढ़-ढूंढ़कर वचन उद्धृत किये हैं; जिससे दोनों चिकित्सा-सरणियों की समानता स्पष्ट दीखती है।

स्वास्थ्यविज्ञान--इस विषय पर बहुत अच्छी सुलभ पुस्तकें उत्तम शिक्षा के लिए हिन्दी में प्राप्य हैं। इनमें डाक्टर भास्कर गोविन्द घाणेकर का लिखा **स्वास्थ्यविज्ञान** बहुत विस्तृत है, इसमें पारिभाषिक शब्द नये होने से विद्यार्थियों को कुछ कठिनाई होती है। डाक्टर मुकुन्दस्वरूप वर्मा का लिखा **स्वास्थ्यविज्ञान** सरल और पारिभाषिक शब्द पुराने या अंग्रेजी के रहने से विद्यार्थियों और जनता में अधिक प्रचलित है। आपने स्कूलों में स्वास्थ्य की शिक्षा देने के लिए **स्वास्थ्यप्रदीपिका** एक दूसरी पुस्तक लिखी है, जो बहुत प्रचलित है। सामान्य जनता में स्वास्थ्य की जानकारी के लिए अत्रिदेव विद्यालंकार ने **स्वास्थ्य और सद्वृत्त** एवं **स्वास्थ्यविज्ञान** दो पुस्तकें लिखी हैं। ये दोनों पुस्तकें जनता में स्वास्थ्य का महत्त्व, उसकी रक्षा तथा दीर्घायु प्राप्त करने की शिक्षा देने के लिए लिखी गयी हैं।

शिशुपालन--बच्चों के पालन तथा कौमारभृत्य विषय पर डाक्टर मुकुन्दस्वरूप वर्मा का **शिशुपालन** (काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित) तथा अत्रिदेव विद्यालंकार का लिखा **शिशुपालन** (गंगा पुस्तकमाला लखनऊ से प्रकाशित) उत्तम हैं। प्रथम पुस्तक शुद्ध पश्चिमी चिकित्सा के अनुरूप है, दूसरी पुस्तक में पश्चिमी चिकित्सा के साथ-साथ आयुर्वेद के ग्रन्थों में आये वचनों का, इस सम्बन्ध के निर्देशों का समावेश किया गया है। श्री रमानाथ द्विवेदी ने **बालरोग** नाम से एक सुन्दर ग्रन्थ पाश्चात्य और आयुर्वेद चिकित्सा के आधार पर लिखा है।

शल्यतंत्र--इस विषय में डाक्टर मुकुन्दस्वरूप वर्मा ने **संक्षिप्त शल्यविज्ञान** पुस्तक पाश्चात्य पद्धति से लिखी थी, जो बहुत सरल और उपयोगी प्रमाणित हुई। उसी की प्रेरणा से अभी **शल्यप्रदीपिका** नाम की ९०० पृष्ठ की पुस्तक लिखी है। इसमें शल्य विषय बहुत ही सरलता से समझाया है। आयुर्वेदिक कालेजों में इस विषय का ज्ञान कराने के लिए यह उत्तम है। आपके ही शिष्य श्री पी० जे० देशपाण्डे ने **शल्यतंत्र में रोगीपरीक्षा** बहुत ही सरल भाषा में प्रस्तुत की है, जिससे विद्यार्थियों को बहुत सरलता हो गयी है।

पाश्चात्य शल्यतंत्र का आयुर्वेद के साथ तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्रिदेव विद्यालंकार का **शल्यतंत्र** बहुत उपयोगी है। इसमें संक्षिप्त शल्यविज्ञान

विषय को मूल में देते हुए टिप्पणी में आयुर्वेद के वचन उद्धृत किये हैं। प्रारम्भ में शल्यतंत्र की प्राचीन जानकारी आयुर्वेद ग्रन्थों एवं इतिहास के आधार पर दी है। यंत्र-शस्त्रों का परिचय विस्तार से दिया है । यंत्र-शस्त्रों का परिचय देने के लिए कविराज श्री सुरेन्द्रमोहनजी की लिखी पुस्तक **यंत्र-शस्त्रपरिचय** भी उपयोगी है। रमानाथ द्विवेदी लिखित **सौश्रुती** आयुर्वेद का शल्य सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्तम है।

प्रसूतितंत्र—इस विषय पर संस्कृत और हिन्दी में अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संस्कृत में श्री दामोदर शर्मा गौड़ का लिखा **अभिनव प्रसूतितंत्र** (अपूर्ण) है। इसकी भाषा बहुत परिमार्जित है, विषय को पाश्चात्य पुस्तकों से इस सुन्दरता से लिया है कि उसमें प्राचीनता आ गयी है। इसके पारिभाषिक शब्द भी नवीन और सुन्दर हैं।

हिन्दी में डाक्टर रामदयाल कपूर का लिखा **प्रसूतितंत्र**, अत्रिदेव विद्यालंकार की **धात्रीशिक्षा**, डाक्टर चमनलाल मेहता का लिखा **प्रसूतितंत्र**, श्री प्रसादीलाल झा की **प्रसूतिपरिचर्या** आदि बहुत-सी पुस्तकें प्रचलित हैं। इन पुस्तकों का अधिक प्रचार देखकर प्रकाशक ने श्री रमानाथ द्विवेदी से **प्रसूतितंत्र** लिखवाया है। यह पुस्तक अन्य पुस्तकों की अपेक्षा बृहत् है, इसमें प्रसूतिविद्या सम्बन्धी ज्ञातव्य बातें पाश्चात्य एवं प्राचीन आयुर्वेद ग्रन्थों के आधार पर दी हैं। पुस्तक सरल और उपयोगी है, इसमें यह विषय एक प्रकार से पूरा हो गया है। द्विवेदीजी ने **स्त्रीरोगविज्ञानम्** नाम से एक छोटी पुस्तिका लिखी है, जिसमें स्त्रियों सम्बन्धी रोगों का उल्लेख है। श्री शिवदयाल गुप्त ने **प्रसूतितंत्र** पर सरल पुस्तक लिखी है, जो संक्षिप्त, सस्ती तथा उपयोगी है।

शालाक्यतंत्र—इस विषय पर हिन्दी में नेत्ररोग पर कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें डाक्टर मुंजे की **नेत्रचिकित्सा**, डाक्टर श्री यादवजी हंसराज का **नेत्ररोगविज्ञान**, ठाकुर वि. धो. साठये का **नेत्ररोगविज्ञान शास्त्र** बहुत विस्तृत एवं प्रामाणिक हैं। इनके तथा अंग्रेजी पुस्तकों के आधार पर श्री शिवदयाल गुप्त ने सचित्र **नेत्ररोगविज्ञान** सरल पुस्तक लिखी है। इससे सामान्य रूप में नेत्ररोग सम्बन्धी जानकारी प्राप्त हो जाती है। दूसरे लेखकों ने भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु उनका यह विषय अभ्यस्त न होने से विषय स्पष्ट नहीं हुआ और उनमें बहुत-सी जानकारी सुनी हुई सी प्रतीत होती है, उसका वैज्ञानिक महत्त्व नहीं है।

श्री रमानाथ द्विवेदी ने **शालाक्य तंत्र (निमितंत्र)** नाम से कान, नाक, मुख, आँख, सिर के रोगों पर आयुर्वेद तथा पाश्चात्य विज्ञान के आधार पर पुस्तक लिखी

है। इसमें आयुर्वेद विषय की प्रधानता है, जिसे पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से सरल बनाया गया है। इसमें चिकित्सा तथा अन्य सूचनाएँ संक्षिप्त एवं उपयोगी हैं।

मेडिकल विधिशास्त्र—इस विषय पर अत्रिदेव विद्यालंकार की लिखी **न्यायवैद्यक और विषतंत्र** प्रथम और सबसे उपयोगी है। इसमें प्रत्येक वस्तु सरलता से, क्रम से संक्षेप में दी है। विषय के साथ कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों से इस सम्बन्ध के उद्धरण दिये हैं। प्राचीन काल में भी इस विषय का वही महत्त्व था, जो आज है। विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिए यह सबसे उत्तम एवं सरल पुस्तक है। विषतंत्र पर स्वतंत्र पुस्तिका श्री रमानाथ द्विवेदी ने 'अगदतंत्र' नाम से लिखी है, जो कि प्राचीन विषयों की जानकारी देती है।

आयुर्वेदिक कालेजों के लिए हिन्दी में पाश्चात्य चिकित्साशास्त्र का प्रायः पूरा साहित्य तैयार हो गया है। यदि इस साहित्य का आज ठीक प्रकार से उपयोग किया जाय तो भविष्य में इसकी उत्तरोत्तर उन्नति होती चलेगी। इस साहित्य में आयुर्वेद के ज्ञान का पूरा ध्यान लेखकों ने रखा है। आयुर्वेद विषय को पाश्चात्य विषय से मिलाकर प्रस्तुत करने का यत्न किया है। बिना पाश्चात्य ज्ञान के आयुर्वेद का पुराना पाठ्यक्रम उपयोगी होगा इसमें सन्देह है। जिन विषयों पर पुस्तकें नहीं लिखी गयीं या संक्षेप में लिखी गयी हैं, उन पर भी समयानुसार पुस्तकें प्राप्त हो जायँगी, ऐसी आशा है।

बीसवाँ अध्याय

इस युग के प्रतिष्ठित वैद्य

बंगाल की परम्परा

जिस प्रकार प्रत्येक देश में अपनी चिकित्साप्रणाली है, इसी तरह भारत के हर प्रान्त की अपनी चिकित्सापरम्परा है। यह परम्परा संवत् १८५६ से लेकर आज तक जिस प्रकार सुव्यवस्थित रूप में बंगाल में मिलती है, वैसी दूसरे प्रान्तों की परम्परा का मुझे ज्ञान नहीं। सम्भवतः अन्य प्रान्तों में हो, परन्तु आयुर्वेद के जितने ग्रन्थ इस परम्परा में बँगला में या संस्कृत में लिखे गये, उतने शायद ही किसी अन्य भाषा में लिखे गये होंगे। इस परम्परा में बने ग्रन्थों में एक क्रमबद्ध पद्धति है; चाहे छोटे-से-छोटा कोई भी ग्रन्थ (आयुर्वेदसोपान अथवा फलितचिकित्साभिधान आदि कोई भी) लें, उसमें भी वही परम्परा चिकित्सा की मिलेगी, जो कि बारह सौ पृष्ठ या इससे अधिक पृष्ठों के बड़े ग्रन्थ में (यथा—आयुर्वेदशिक्षा में—लेखक अमृतलाल गुप्त) है। यह परम्परा ही बताती है कि इस देश में आयुर्वेदशिक्षा की धारा बिना टूटे एक रेखा में अनवरत बहती आयी है।

इस परम्परा का प्रारम्भ जो मिलता है, वह कविराज गंगाधरजी से मिलता है, इनके शिष्यों की परम्परा से यह आयुर्वेदज्ञान अनेक शाखाओं में विभक्त होकर जयपुर, लाहौर, हरिद्वार, दिल्ली—उत्तर भारत में फैला।

कविराज गंगाधर—आपका जन्म बँगला संवत् १२०५ (१८५६ विक्रमी) में जैसोर जिले के भागुरा ग्राम में हुआ था। आपने नाना शास्त्रों का अध्ययन करके १८ वर्ष की उम्र में राजशाही जिले के वेलधरिया नामक स्थान के विख्यात कविराज रामकान्त सेनजी के पास आयुर्वेद सीखा था। इन्होंने यहाँ पर तीन साल अध्ययन करके २१ वर्ष की उम्र में कलकत्ता में चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया। परन्तु पीछे अपने पिता के आदेश से मुर्शिदाबाद में चिकित्सा प्रारम्भ की। उन दिनों मुर्शिदाबाद

बंगाल-बिहार-उड़ीसा की राजधानी था। यहाँ आने पर इनका यश चारों ओर फैला। इस समय इन्होंने कासिमबाज़ार की महारानी श्रीमती स्वर्णमयी की चिकित्सा की। इससे दरबार के पारिवारिक चिकित्सक हुए। इनकी प्रसिद्धि इतनी हो गयी कि डाक्टरों के असाध्य रोगी भी इनसे चिकित्सा कराते थे। मुर्शिदाबाद के नवाब की चिकित्सा इनको तब करनी पड़ी, जब कि डाक्टर ने उसे असाध्य कह दिया था। इस चिकित्सा से नवाब को आरोग्य लाभ हुआ।

गंगाधरजी की स्त्री का देहान्त युवावस्था में हो गया था, इसलिए अपने पुत्र धरणीधर का पालन-पोषण परिचारिका पर छोड़कर अपना समय आप अध्ययन-अध्यापन में लगाने लगे। श्री द्वारकानाथजी सेन का कहना है कि कई बार तो गुरुजी के पास अध्ययन करते हुए सारी रात बीत जाती थी। ये अपने समय के विद्वान् सुचिकित्सक और निपुण अध्यापक थे।

इनके शिष्यों की परम्परा बहुत लम्बी है, इन्होंने लगभग ७६ ग्रन्थ लिखे हैं। आयुर्वेद पर ११ ग्रन्थ, तंत्र ग्रन्थ २, व्याकरण ग्रन्थ ८, साहित्य ग्रन्थ १२, धर्मशास्त्र ७, उपनिषद् सम्बन्धी ८, दर्शन ग्रन्थ १४, ज्योतिष १ और अन्य १३ ग्रन्थ हैं। इनकी चरकसंहिता पर लिखी जल्पकल्पतरु व्याख्या की चर्चा हम कर चुके हैं।

इनकी शिष्य-परम्परा इस प्रकार है —
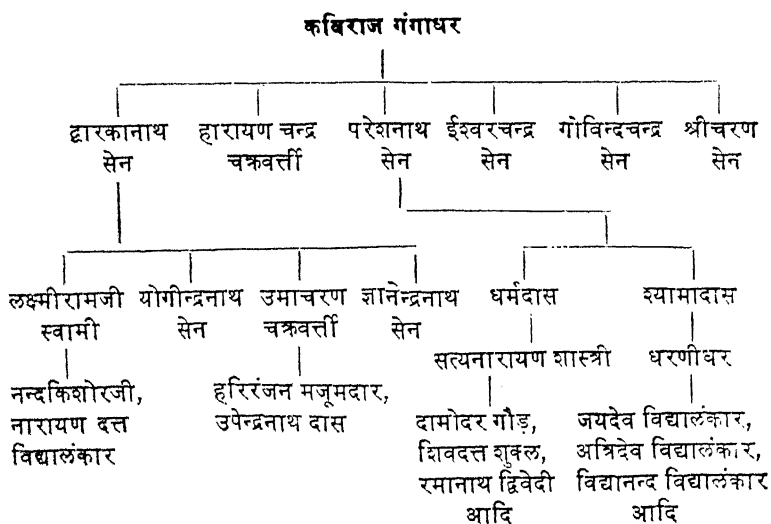
उनकी मृत्यु ८६ वर्ष की आयु में बंगला संवत् १२९२ (विक्रमी १९४२) में हुई थी। उनकी मृत्यु के पीछे उनके कई ग्रन्थों का मुद्रण हुआ, पर बहुत से अप्रकाशित रह गये। उनके आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

१. चरकसंहिता की जल्पकल्पतरु टीका; २. परिभाषा; ३. भैषज्य रामायण; ४. आग्नेयायुर्वेद व्याख्या; ५. नाड़ीपरीक्षा; ६. राजवल्लभीय द्रव्यगुणविवृति; ७. भास्करोदय; ८. मृत्युंजयसंहिता; ९. आरोग्यस्तोत्रम्; १०. प्रयोगचन्द्रोदय; ११. आयुर्वेदसंग्रह।

श्री द्वारकानाथ सेन—महामहोपाध्याय कविराज द्वारकानाथ सेन कविरत्न का जन्म १८४३ ईसवी में बंगाल के फरीदपुर जिले में 'खंडरपारा' में हुआ था। इनका वंश चिकित्सा के लिए प्रख्यात था। द्वारकानाथ के सात भाई और थे, ये सबसे छोटे थे। ये जन्म से लापरवाह-बेफिक्र प्रकृति के थे। परन्तु उम्र के साथ इनमें विद्याप्रेम भी बढ़ता गया। इन्होंने मुर्शिदाबाद के कविराज गंगाधरजी से आयुर्वेद, दर्शन, उपनिषदों का अध्ययन किया। द्वारकानाथ सेन उनके प्रिय शिष्यों में थे।

इन्होंने १८७५ में कलकत्ता को केन्द्र बनाकर चिकित्सा कार्य प्रारम्भ किया। कुछ ही वर्षों में इनका नाम केवल कलकत्ता में ही नहीं, अपितु बाहर भी प्रख्यात हो गया। इस प्रख्याति से दूर-दूर से विद्यार्थी इनके पास चिकित्सा के अध्ययन के लिए आने लगे। इनको ये हृदय से आयुर्वेद, दर्शन पढ़ाते थे। इन्होंने हथुवा के महाराज तथा उदयपुर (मेवाड़) के राणा की चिकित्सा भारत सरकार के निमन्त्रण पर की थी। इस सफलता पर इनको १९०६ में वैद्यों में महामहोपाध्याय की उपाधि सबसे प्रथम मिली थी।

श्री द्वारकानाथ को चिकित्सा व्यवसाय से अवकाश नहीं मिलता था, परन्तु कार्य में व्यग्र होने पर भी ये नियमपूर्वक भारतीय कांग्रेस संस्था के अधिवेशन में सम्मिलित होते रहे। ये सामाजिक कार्य, गरीबों की सहायता, बिना किसी प्रसिद्धि के करते थे; इनके दिये दान को इनका दूसरा हाथ भी नहीं जानता था।

इनकी मृत्यु १९०६ ईसवी में हुई। इनके बड़े पुत्र श्री योगीन्द्रनाथ सेन एम. ए. थे, जो स्वयं कलकत्ते के प्रसिद्ध वैद्य हुए हैं। दूसरे पुत्र कविराज जोगेन्द्रनाथ थे, जो कि आनरेरी प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट और जज बने। ये स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे; इन्होंने स्वदेशी आंदोलन में भाग लिया। तीसरे पुत्र का नाम कविराज सुधीन्द्र है; इनको स्वदेशी आन्दोलन में जेल जाना पड़ा।

कविराज द्वारकानाथ सेन के शिष्यों में जयपुर के स्वामी लक्ष्मीरामजी, निज पुत्र

योगीन्द्रनाथ सेन एम. ए. तथा श्री ज्ञानेन्द्रनाथ सेनजी कविरत्न मुख्य हैं। स्वामी लक्ष्मी-रामजी के शिष्यों में श्री नन्दकिशोरजी तथा राजपूताने के बहुत से वैद्य एवं नारायण-दत्त विद्यालंकार हैं। श्री ज्ञानेन्द्रनाथ सेन ने अपना ज्ञान पटना के गवर्नमेन्ट आयुर्वेद कालेज के छात्रों को दिया। उसके पीछे डी. ए. वी. कालेज---लाहौर एवं ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज हरिद्वार में प्रिन्सिपल बनकर सैकड़ों विद्यार्थियों को ज्ञानदीप से प्रकाशित करते रहे। हरिद्वार में ही उनकी मृत्यु हुई।

श्री हारायणचन्द्र चक्रवर्ती---इनका जन्म पवना जिले के बकलिया ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम कविराज आनन्दचन्द्र चक्रवर्त्ती था। पिता और पुत्र दोनों ही मुर्शिदाबाद के कविराज गंगाधर के शिष्य थे। इन्होंने शवच्छेद करके चिकित्सा ज्ञान प्राप्त किया, जिससे सुश्रुत सम्बन्धी कुछ शल्यकर्म भी करते थे। इनको अपनी चिकित्सा पर अगाध प्रेम अथाह विश्वाश था। इसी से असाध्य रोगियों की चिकित्सा करने में इनको आनन्द का अनुभव होता था, विशेषतः जो रोगी सब ओर से निराश होकर आते थे, उनको अपने पास से मुफ्त में औषधि देते थे और जरूरत पड़ने पर आर्थिक सहायता भी देते थे।

आँख की चिकित्सा में इनका विशेष नैपुण्य था, यह नैपुण्य औषध चिकित्सा के साथ शस्त्रकर्म में भी था, जिससे डाक्टरों के साथ इनकी प्रतिद्वन्द्विता चलती थी। इसके कारण इनको एक बार कष्ट में भी पड़ना पड़ा था, परन्तु मजिस्ट्रेट ने सचाई के कारण इनको इस आपत्ति से बचा लिया था। इनकी मृत्यु सन् १९३५ ईसवी में हुई।

इन्होंने सुश्रुत के ऊपर व्याख्या-टिप्पणी रूप में सन्दीपन भाष्य लिखा है। यह भाष्य और टिप्पणी सरल है, इससे पाठ की उलझन मिट गयी। अपने जीवन में इन्होंने धन और मान दोनों कमाये। राजशाही में इन्होंने एक आयुर्वेद विद्यालय भी खोला था। इनके पौत्र उपेन्द्रचन्द्र चक्रवर्त्ती इस काम को देखते हैं।

श्री योगीन्द्रनाथ सेन---इनका जन्म कलकत्ते में १८७१ ईसवी में हुआ था, इनके पिता का नाम महामहोपाध्याय श्री द्वारकानाथ सेन था। इन्होंने कलकत्ता विश्व-विद्यालय से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी और चिकित्सा का अध्ययन अपने पिता से ही किया था।

इन्होंने चरकसंहिता पर 'चरकोपस्कार' नामक सुन्दर व्याख्या लिखी है, दुःख है कि वह अपूर्ण रही। यह व्याख्या विद्यार्थियों के लिए अतिशय उपयोगी है। विद्याध्ययन की शिक्षा अनवरत देने के लिए अपने ही निवासस्थान पथरिया घाट---कलकत्ता में एक पाठशाला चलायी थी, जहाँ पर कि दूर-दूर से विद्यार्थी आयुर्वेद शिक्षा

के लिए आते थे। यहाँ पर शिक्षा तथा अन्य सुविधाएँ बिना किसी प्रकार की आर्थिक फीस लिये मुफ्त में दी जाती थी। गरीबों के लिए मुफ्त दवाखाना खुला हुआ था। इनकी मृत्यु १९१८ ईसवी की पहली जुलाई को हुई थी।

श्री धर्मदासजी—इनका जन्म बर्दवान जिले में नवद्वीप के पूर्ववर्त्ती चूपी ग्राम में १८६२ ईसवी में हुआ था। इनके पिता का नाम कविराज श्री काशीप्रसन्न था। १५ वर्ष की उम्र में ये आयुर्वेद पढ़ने के लिए अपने मामा श्री परेशनाथ कविराजजी के यहाँ वाराणसी में आ गये। श्री परेशनाथ कविराज श्री गंगाधर कविराज के शिष्य थे।

अध्ययन समाप्त करके आपने अपने घर बनारस में ही अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। फिर मालवीयजी के आग्रह से हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद का अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। इनके मुख्य शिष्यों में श्री सत्यनारायण शास्त्री एवं कविराज-चक्रवर्त्ती ताराचरण सर्वदर्शनतीर्थ हैं।

श्री श्यामादासजी—आपका जन्म बंगदेश के प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र नवद्वीप के समीप चूपी ग्राम में बंगला संवत् १२७१ में हुआ था। इनके पितामह श्री पद्मलोचन दास प्रसिद्ध चिकित्सक और विद्वान् थे। इनके दो पुत्र थे, एक अन्नदाप्रसाद दास और दूसरे राधिकाप्रसाद। अन्नदाप्रसाद दास कविराज श्यामादासजी के पिता थे।

श्री श्यामादासजी ने १५ वर्ष की अवस्था में पं० यदुनाथ उपाध्याय से संस्कृत साहित्य, व्याकरण, दर्शन आदि विषय पढ़े। आयुर्वेद पढ़ने के लिए काशी के प्रसिद्ध कविराज परेशनाथजी के पास चले आये।

काशी में आयुर्वेद की शिक्षा समाप्त कर ये अपने पिता के आग्रह से अपने गाँव चले गये, वहाँ पर पिता के साथ रहकर चिकित्सा-ज्ञान प्राप्त किया। व्यवसाय करने के लिए कलकत्ता चले आये। वहाँ पर श्री द्वारकानाथ सेन के समीप रहकर ज्ञान में विदग्धता प्राप्त करते हुए अपना स्वतन्त्र चिकित्सा-व्यवसाय प्रारम्भ किया।

इनका व्यवसाय यहाँ अच्छा चमका। व्यवसाय के साथ-साथ इनका अध्यापन कार्य विस्तृत हुआ, दूर-दूर से विद्यार्थी इनके पास आयुर्वेद सीखने के लिए आते थे। इनके शिष्यों की संख्या बहुत थी, शिष्यों में से बहुत से छात्र घर पर ही रहकर विद्या-ध्ययन करते थे, उनकी सब व्यवस्था इन्हीं के यहाँ से होती थी।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता भी बराबर दी जाती थी। यही शिक्षासंस्था पीछे श्यामादास वैद्यशास्त्रपीठ के रूप में परिणत हो गयी।

इनके प्रमुख शिष्यों में सबसे यशस्वी श्री कविराज धरणीधरजी हुए, जिन्होंने गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में कई वर्ष आयुर्वेद का अध्यापन किया और बहुत से

योग्य स्नातक शिष्य बनाये। पीछे वाचस्पतिजी के आग्रह से कलकत्ता आकर विद्या-पीठ का कार्य-भार सँभाला—उसमें आयुर्वेद शिक्षा देते रहे।

कविराजजी की मृत्यु १३४१ बँगला संवत् में हुई। आपके पीछे आपकी यशस्वी शिष्य-परम्परा आपके सुयोग्य पुत्र श्री विमलानन्द तर्कतीर्थ एवं वैद्यशास्त्रपीठ अतुल कीर्त्ति के रूप में विद्यमान है।

श्री गणनाथ सेनजी—आपका जन्म बंगाल में राढ़ प्रदेश के श्रीखण्ड नामक स्थान में हुआ। यह वैष्णवों का प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ पर रघुनन्दन गोस्वामी वैष्णव थे। इनके दौहित्र कुल में उत्पन्न गंगाधर नामक कविराज वाराणसी में चिकित्सा व्यवसाय करते थे। इनके दो पुत्र थे—एक यज्ञेश्वर कविराज और दूसरे कुंजविहारी थे। श्री कुंजविहारी ने सुश्रुत का अंग्रेजी अनुवाद किया था। आपने मेडिकल कालेज कलकत्ता में पाश्चात्य चिकित्सा का ज्ञान प्राप्त करके उपाधि ली थी। फिर सेना में चिकित्सक पद पर काम किया।

श्री कुंजविहारीजी की दो संतान थीं—ज्येष्ठ पुत्र का नाम केदारनाथ था, जो कि युवावस्था में ही संन्यासी हो गये थे। कनिष्ठ पुत्र का नाम विश्वनाथ था। यही कविराज विश्वनाथ श्री गणनाथ सेनजी के पिता थे।

कविराज विश्वनाथ सेन बनारस में रहकर अपना व्यवसाय एवं चिकित्सा का अध्यापन करते थे। गणनाथ सेनजी का जन्म काशी में १९३४ संवत् में हुआ। बचपन से ही इनमें विशेष प्रतिभा थी। श्री सत्यव्रत सामश्रमी से वेदों का अध्ययन किया, महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालंकार से दर्शन, संस्कृत आदि का अध्ययन करते हुए अंग्रेजी की मैट्रिक, इन्टर, बी० ए० परीक्षाएँ दीं। संवत् १९९४ में इनके पिता की मृत्यु हुई, जिसके कारण इनको कष्ट के दिन व्यतीत करने पड़े, इस पर भी इन्होंने धैर्य और अध्यवसाय से अपना अध्ययन जारी रखा।

१८९८ ईसवी में इन्होंने मेडिकल कालेज में प्रवेश किया और १९०३ में वहाँ से उपाधि प्राप्त की। इसके पीछे संस्कृत से एम० ए० की उपाधि प्राप्त की।

कविराजजी ने प्रत्यक्षशारीरम् और सिद्धान्तनिदानम् नामक दो ग्रन्थ लिखकर अपनी कीर्त्ति अक्षय बना ली। इनकी योग्यता का सम्मान समाज में, जनता में एवं सरकार में पूर्ण रूप से हुआ। आयुर्वेद के लिए अपने पिता के नाम पर आपने विश्वनाथ विद्यापीठ चलाया, अपने प्रयत्न से कलकत्ते में कल्पतरुप्रासाद नामक विशाल, भव्य आवास बनवाया। आप अपने पीछे योग्य पुत्र श्री सुशीलकुमार सेन को छोड़ गये थे, पर दुःख है कि वे भी इस समय जीवित नहीं रहे।

श्री विजयरत्न सेन—इनका जन्म बंगाल के विक्रमपुर नामक स्थान में २० नवम्बर १८५८ को वैद्यकुल में हुआ। इनके पिता का नाम कविराज श्री जगच्चन्द्र सेन था। जब इनकी उम्र १८ मास की थी, तभी इनको पितृवियोग सहना पड़ा। घर की परिस्थिति से बाध्य होकर ये कलकत्ते में अपने मामा कविराज गंगाप्रसाद सेनजी के पास चले आये। वहीं इन्होंने साहित्य, व्याकरण, दर्शन आदि के साथ-साथ आयुर्वेद की शिक्षा भी ली। आयुर्वेद के गुरु श्री गंगाप्रसाद सेन एवं कविराज काली-प्रसन्न सेन थे, जो उस समय के प्रसिद्ध कविराज थे।

विजयरत्न सेन प्रतिभाशाली थे। इन्होंने अपने चिकित्सा-व्यवसाय से पर्याप्त धन तथा यश कमाया। इनकी कीर्त्ति बहुत फैली, इसी से कश्मीर-जम्मू के महाराज ने इनको चिकित्सा के लिए बुलाया था। अन्य धनी-मानी लोग भी इनसे लाभ प्राप्त करते थे। इनकी मृत्यु ५२ वर्ष की आयु में १९११ ईसवी में हुई।

इन्होंने "वनौषधिदर्पण" नाम का सुन्दर निघण्टु लिखा। इनके पौत्र श्री ज्योतिष-चन्द्र सेन थे, जिन्होंने अष्टांगहृदय के उत्तर तंत्र पर शिवदास सेनजी की टीका का प्रकाशन करवाया। इनके शिष्यों में प्रधान शिष्य श्री यामिनीभूषण थे, जिन्होंने अष्टांग आयुर्वेद विद्यालय में इनकी प्रस्तरमूर्ति स्थापित की थी।

श्री यामिनीभूषण कविराज—आपका जन्म खुलना जिले के पायो ग्राम में १८७९ ईसवी में हुआ था, पिता का नाम कविराज पंचानन रे था। ये संस्कृत और आयुर्वेद शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। यामिनीभूषणजी ने संस्कृत में एम० ए० तथा मेडिकल कालेज में पाँच साल अध्ययन करके १९०५ में एम० बी० की उपाधि प्राप्त की। आयुर्वेद का ज्ञान अपने पिता से ही प्राप्त किया। पिता के मरने के पीछे आयुर्वेद की शिक्षा कविराज विजयरत्न सेनजी के पास पूरी की थी।

इन्होंने १९०६ में अपना स्वतन्त्र व्यवसाय कलकत्ता में प्रारंभ किया। इन्होंने १९१६ में अष्टांग आयुर्वेद कालेज और हास्पिटल के नाम से एक संस्था को जन्म दिया। इन्होंने इसके लिए अपना तन-मन-धन लगा दिया। इसका विस्तार १९२५ में हुआ, जब महात्मा गांधीजी के हाथों से शिलान्यास करवाकर पृथक् रूप में इसका अस्तित्व रखा गया। यहाँ सब प्रकार की सुविधा है और ३०० से अधिक विद्यार्थी शिक्षा लेते हैं।

श्री यामिनीभूषण राय ने विषयवार आयुर्वेद की शिक्षा का ज्ञान देने के लिए आयुर्वेदग्रन्थों से वचनों को संगृहीत करके पृथक्-पृथक् पुस्तकें प्रकाशित करवायी थीं। इनमें शालाक्य तंत्र, प्रसूति तंत्र, विषविज्ञान आदि बहुत-सी उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित

हुई हैं। इनकी मृत्यु ४७ वर्ष की उम्र में ही १९२५ ईसवी में हो गयी। इनका नाम अष्टांग आयुर्वेद कालेज के नाम के साथ जोड़ दिया गया।

बंगाल के दूसरे प्रसिद्ध कविराज **श्री उमाचरण चक्रवर्त्ती** थे, जिनका कार्यक्षेत्र बनारस रहा। आप यहाँ चिकित्सा व्यवसाय करते हुए अध्यापन भी करते थे। आपके प्रसिद्ध शिष्यों में **श्री हरिरंजन मजूमदार** हैं, जिन्होंने दिल्ली में आयुर्वेद का क्षेत्र बनाया।

श्री हरिरंजन मजूमदार—कविराज हरिरंजन मजूमदार का जन्म कश्मीर में सन् १८८५ में हुआ था, जहाँ महाराज रणजीतसिंह और महाराज प्रतापसिंहजी के राज्यकाल में उनके पिता कविरत्न षष्ठीचरण मजूमदार राज्य के गृहचिकित्सक थे। वास्तव में वैसे उनके पूर्वज चटगाँव (पूर्वी पाकिस्तान) के रहनेवाले थे। उनके वंश में चिकित्सा कार्य बहुत पीढ़ियों से होता आया है, इस परम्परा के वह १३वें उत्तराधिकारी हैं। वंग प्रान्त में साधारण शिक्षा समाप्त करने के बाद इन्होंने १९०८ में प्रेसीडेन्सी कालेज कलकत्ता से वनस्पति-विज्ञान लेकर एम० ए० की डिग्री प्राप्त की, तत्पश्चात् इन्होंने काशी के प्रसिद्ध कविराज उमाचरण भट्टाचार्य के चरणों में बैठकर आयुर्वेद का अध्ययन किया और कलकत्ता तथा कश्मीर में निजी प्रैक्टिस भी की।

सन् १९२० में जब स्वर्गवासी हकीम अजमल खाँ को कविराज हरिरंजनजी के बारे में मालूम हुआ तो उन्होंने दिल्ली के आ० और यू० तिब्बी कालेज का भार ग्रहण करने के लिए उनसे अनुरोध किया। आयुर्वेदिक विभाग के प्रधान के नाते इन्होंने वहाँ लगातार १७ वर्षों तक कार्य सुसम्पन्न किया। इस बीच में दिल्ली म्युनिसिपालिटी में आयुर्वेद को स्वीकृत कराने के लिए इन्होंने घोर प्रयत्न किया। अन्त में ३ वर्ष के अथक परिश्रम के बाद आप एक आयुर्वेदिक औषधालय खुलवाने में सफल हो गये और अनेक कठिनाइयों के बीच इन्होंने उसे चलाने का भार सँभाला। इस औषधालय की अप्रत्याशित सफलता के बल पर ये दूसरा औषधालय खुलवाने में सफल हुए। इस प्रकार ग्यारह वर्ष तक इन्होंने कार्य किया। आजकल ११ आयुर्वेदिक औषधालय म्युनिसिपालिटी की ओर से जनता की सेवा कर रहे हैं।

१९३७ में इन्होंने म्युनिसिपल औषधालय तथा आ० और यू० तिब्बी कालेज दोनों से अवकाश ग्रहण कर लिया और अपनी स्वतन्त्र प्रैक्टिस प्रारम्भ कर दी। तभी इन्होंने मजूमदार आयुर्वेदिक फार्मास्यूटिकल वर्क्स के नाम से एक फार्मेसी खोली।

आजकल आप काशी में रहते हैं और पूर्णतया अवकाशप्राप्त जीवन व्यतीत कर रहे हैं। कविराजजी के प्रथम पुत्र कविराज आशुतोष मजूमदार ने दिल्ली में हिन्दू

कालेज में पढ़ने के उपरान्त आयुर्वेदिक और यूनानी तिब्बी कालेज में आयुर्वेद का अध्ययन कर सन् १९३५ से अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था, आजकल वे अपनी निजी प्रैक्टिस नयी दिल्ली एवं दिल्ली में करते हैं। इसके अतिरिक्त वे आयुर्वेदिक और यूनानी तिब्बी कालेज के वाइस प्रिन्सिपल हैं।

उमाचरण चक्रवर्त्तीजी के दूसरे शिष्य उपेन्द्रनाथ दास हैं, जो दिल्ली में ही अपना चिकित्साव्यवसाय करते हुए आयुर्वेद का अध्यापन करते हैं। आपने त्रिदोष सम्बन्धी एक पुस्तक संस्कृत में लिखी है।

बंगाल की परम्परा में राखालदास कविराज भी सफल चिकित्सक हुए हैं। इसी प्रकार अन्य भी परम्परागत वैद्य हैं, परन्तु अब वह प्राचीन प्रतिभा, निष्ठा नहीं है। इस समय श्री विमलानन्द तर्कतीर्थ, श्री प्रभाकर चट्टोपाध्याय आदि कुछ कविराज हैं। बंगाल की परम्परा में एक विशेषता यह है कि अंग्रेजी की उच्च शिक्षा लेने के साथ इन्होंने आयुर्वेद को सीखा। श्री योगीन्द्रनाथ सेन एम० ए०, श्री हरिरंजन नाथ मजूमदार एम० ए०, श्री गणनाथ सेनजी एम० ए०, श्री यामिनीभूषण राय एम० ए० आदि इसके उदाहरण हैं। पाश्चात्य ज्ञान के कारण बुद्धि का विकास होने से इन्होंने जो निष्ठा आयुर्वेद के प्रति रखी वह सच्ची थी, इसलिए इन्होंने आयुर्वेद का विकास किया। श्री गणनाथ सेनजी के शिष्यों में डाक्टर आशानन्द पंजरत्न ने भी एम० बी० बी० एस० करके आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार से जिनको ज्ञान मिला, वे अधिक श्रद्धा के साथ उसका विकास कर सके।

इसके विपरीत जो केवल शास्त्राचार्य होते हैं, व्याकरण या संस्कृत का ज्ञान लेकर आयुर्वेद पढ़ते हैं, उनसे आयुर्वेद का प्रायः कोई हित नहीं होता; वे केवल लकीर पर चलनेवाले रह जाते हैं। जो पाश्चात्य ज्ञान के साथ आयुर्वेद पढ़ते हैं, वे उसमें विशाल दृष्टि रखकर बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होते हैं, इसलिए उनसे आयुर्वेद की सच्ची सेवा होगी। इसी से बंगाल के सूक्ष्मदर्शी कविराजों ने समय रहते इस बात को पहचाना, और अंग्रेजी तथा पाश्चात्य विज्ञान के साथ-साथ अपने दर्शन, संस्कृत साहित्य का ज्ञान करके आयुर्वेद को पढ़ा।[1] यही एक सीधा रास्ता था; जिससे आज भी बँगला में

---

१. गुरुकुल विश्वविद्यालय में आयुर्वेद का पाठ्यक्रम सन् १९१८ से लेकर १९३२ तक जो था, वह ऐसा ही था, वहाँ पर आयुर्वेद पढ़नेवाले को अंग्रेजी, साइन्स, व्याकरण, संस्कृत, दर्शन, उपनिषद्, इतिहास, गणित आदि सब आधुनिक ज्ञान इण्टर तक का तथा व्याकरण सम्पूर्ण सिद्धान्तकौमुदी, महाभाष्य, दर्शन में वैशेषिक, सांख्य, न्याय, योग, वेदान्त, वेद पढ़ते हुए पाश्चात्य चिकित्सा के साथ-साथ आयुर्वेद पढ़ना होता था।

आयुर्वेद की प्रामाणिक संहिताओं के अनुवाद के सिवाय चिकित्सा विषयक जितना साहित्य मिलता है, वह अन्य किसी भी भाषा में नहीं।

उत्तर प्रदेश के वैद्य

उत्तर प्रदेश या अन्य किसी प्रान्त में बंगाल जैसी परम्परा लम्बी चली हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। इसलिए अन्य प्रान्तों में जिन वैद्यों ने आयुर्वेद की उन्नति में भाग लिया, आयुर्वेद की सेवा की, उनमें से प्रसिद्ध विद्वानों का अपने ज्ञान के अनुसार ही यहाँ उल्लेख किया गया है।

अर्जुन मिश्र—अर्जुन मिश्र का जन्म काशी में संवत् १९१० में हुआ था। आपके पिता का नाम पण्डित भानुदत्त था, जो कि रहनेवाले पंजाब के होशियारपुर जिले के थे। इनका विद्यारम्भ प्रसिद्ध विद्वान् पं० बालकृष्णजी से हुआ, आपने आयुर्वेद संगरूर रियासत के वैद्य पं० दिलारामजी से सीखा था। चिकित्सा क्षेत्र काशी को बनाया। ये अपने कार्य में बहुत सफल हुए।

आयुर्वेद की शिक्षा के लिए १९१७ में आयुर्वेद विद्याप्रबोधिनी पाठशाला आपने खोली थी। इसको चलाने के लिए तन-मन-धन से सहायता की, जिसके परिणाम-स्वरूप आज भी अर्जुन विद्यालय के नाम पर यह कार्य कर रही है। आप मरते समय अपना सर्वस्व पाठशाला को दे गये। आपकी मृत्यु १९७९ संवत् में हुई थी। आप अपने पीछे शिष्यों की एक लम्बी परम्परा छोड़ गये।

श्यामसुन्दराचार्य—काशी के प्रसिद्ध विद्वान् श्यामसुन्दराचार्य का जन्म संवत् १९२८ में भरतपुर राज्य के सुप्रसिद्ध कामवन नामक स्थान में हुआ था। आप रामानुज सम्प्रदाय के वैश्य थे। आप अपनी युवावस्था में काशी आ गये थे। यहाँ आपने आयुर्वेद श्री अर्जुन मिश्रजी से पढ़ा था।

आपने रसशास्त्र के चन्द्रोदय और पारद पर अनुभव करने में बहुत समय लगाया। इसमें तन-मन-धन व्यय करके जो ज्ञान प्राप्त किया उसे जनता के समक्ष 'रसायनसार' के रूप में रखा। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भी रसायन शास्त्र की शिक्षा दी थी। आपकी मृत्यु १९१८ ईसवी में हुई थी।

हरिदास राय चौधरी—आपका मूल स्थान राजशाही (बंगाल) के अन्तर्गत बिजौड़ा है, आपके पिता का नाम कविराज जगच्चन्द्र था। हरिदासजी का जन्म काशी में १२८६ बंगला संवत् में हुआ। ग्यारह वर्ष में पितृवियोग सहना पड़ा। आपने प्रारम्भ में संस्कृत के साथ अंग्रेजी का अध्ययन किया। पीछे से मेडिकल स्कूल पटना

में प्रविष्ट हुए। परन्तु अपने पुत्र की चिकित्सा के कारण विवश होकर पढ़ाई छोड़ आये। इनके पुत्र को यकृत रोग था, जिसकी चिकित्सा में डाक्टरों से लाभ न होता देखकर कविराज गंगाधर के शिष्य ईश्वरचन्द्र की चिकित्सा आरम्भ करायी गयी, जिससे स्वास्थ्य लाभ हुआ। इससे इनके हृदय में आयुर्वेद के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई, ये ईश्वरचन्द्र से आयुर्वेद पढ़ने लगे। ईश्वरचन्द्रजी की मृत्यु के पीछे यही रोगियों की चिकित्सा करते थे। इनकी मृत्यु बँगला संवत् १३४० में हुई है।

श्री त्र्यम्बक शास्त्री—आपके पितामह पेशवाओं के साथ काशी आये थे। बिठूर में बाजीराव पेशवा दूसरे जब कैद कर लिये गये, तो कुछ पेशवा काशी आये थे। ये लोग पेशवाओं के राजवैद्य थे, इसलिए उनके साथ में काशी आये। आपके पिता अमृत शास्त्री अच्छे वैद्य थे। आप भी उनके योग्य पुत्र हुए। पेशवाओं के राजवैद्य होने से सम्भवतः आपको सरकार से कुछ पेन्शन भी मिलती थी। आप काशी के शिरोमणि चिकित्सक थे। आपको अपनी चिकित्सा पर पूरी आस्था और विश्वास रहता था। विद्वानों का आप आदर करते थे, मूर्खों के लिए क्रोधी थे। आपके सुयोग्य शिष्यों में **पण्डित हरिदत्तजी शास्त्री** हैं, जो इस समय बम्बई के आयुर्वेद कालेज के संचालक हैं। आपकी शिष्यपरम्परा लम्बी है।

श्री सत्यनारायण शास्त्री—काशी के अगस्तकुण्डा मुहल्ले में १९४६ संवत् में आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम बलभद्र पाण्डेय था, जो अपने पिता पं० शिवनन्दन शर्मा पाण्डेय के समान विद्वान् थे। आपमें बचपन से ही प्रतिभा का विकास था। इसी से बहुत जल्दी आपने संस्कृत व्याकरण, दर्शन विषय में पाण्डित्य प्राप्त कर लिया था। आयुर्वेद का अध्ययन श्री धर्मदासजी से किया था। उनके ये प्रिय शिष्य थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उनके पीछे आयुर्वेद के अध्यक्ष रहे। आपका नाड़ीज्ञान बहुत चमत्कारिक है। अपने चिकित्सा-नैपुण्य के कारण आप राष्ट्रपति के चिकित्सक नियुक्त हुए। आप 'पद्मभूषण' उपाधि से सम्मानित हैं। आपमें विद्वत्ता के साथ सरलता, उदारता, स्पष्टवादिता दीखती है। आपने बहुत से योग्य शिष्य उत्पन्न किये, जिनमें दामोदर शर्मा, प्रियव्रत शर्मा, शिवदत्त शुक्ल एवं रमानाथ द्विवेदी मुख्य हैं।

श्री जगन्नाथप्रसाद शुक्ल—आपके घर को वैद्यों का घराना कहा जाता था। आपका जन्म संवत् १९३६ में फतेहपुर के एकडला ग्राम में हुआ था; पिता का नाम पण्डित गयाप्रसाद शुक्ल था। पिता की मृत्यु इनकी छोटी उम्र में हो गयी थी। कुछ समय रहने के बाद आप मध्यप्रदेश में प्रयाग-समाचार के सम्पादक होकर प्रयाग में

आये। यह पत्र राजवैद्य पंडित जगन्नाथ शर्मा का था। इससे इनको आयुर्वेद के प्रति रुचि हुई। यहाँ से इन्हें बम्बई में वेङ्कटेश्वर-समाचार पत्र में जाना पड़ा, जहाँ पर ये वैद्य शंकरदासजी शास्त्री के सम्पर्क में आये और आयुर्वेद को अपनाया।

आपने अपना कार्यक्षेत्र प्रयाग को बनाया। संवत् १९६६ से आप यहीं पर रहकर हिन्दी की तथा आयुर्वेद की सेवा कर रहे हैं। आयुर्वेद के प्रचार के लिए आपने बहुत-सी पुस्तकें लिखीं, सुधानिधि पत्रिका भी निकाल रहे हैं, घाटा सहकर भी उसे चला रहे हैं। आयुर्वेद महासम्मेलन की नींव स्थापित करने में आपका बहुत बड़ा हाथ है। प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन में आयुर्वेद को स्थान दिलाने का यश आपको ही है। आयुर्वेद के रस-वीर्य आदि विषयों पर आपने दस से अधिक पुस्तकें लिखी हैं।

बिहार प्रान्त के वैद्य

श्री व्रजविहारी चतुर्वेदी—आपका जन्म मिथिला प्रान्त के अन्तर्गत हाजीपुर नामक छोटे शहर में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० मोहनलाल चतुर्वेदी था। प्रारम्भ में व्रजविहारीजी ने फारसी और अंग्रेजी पढ़ी थी। उपनयन के पीछे पटना जाकर संस्कृत, दर्शन आदि प्राच्य विषयों का अध्ययन किया। फिर काशी आकर पं० सीतारामजी शास्त्री से आयुर्वेद का सम्पूर्ण अध्ययन किया। चिकित्सा व्यवसाय अपने गाँव हाजीपुर में प्रारम्भ किया। हाजीपुर में १५ वर्ष तक कार्य किया, अच्छी प्रतिष्ठा और ख्याति प्राप्त की, महाराज दरभंगा की चिकित्सा करके यश उपार्जन किया।

मित्रों के अनुरोध पर आप १९१२ में पटना आ गये और वहाँ पर चिकित्सा व्यवसाय करने लगे। पटना में राजकीय संस्कृत एसोसियेशन में आयुर्वेद की परीक्षाओं को रखवाने का श्रेय आपको ही है। आपके अनुरोध पर ही सरकार ने पटना में आयुर्वेदिक कालेज खोला था। आपके पुत्र श्री हरिनारायणजी हैं, जो उसके प्रिन्सिपल हुए। शिष्यों में पं० हरिनन्दजी झा योग्य चिकित्सक हैं। आपने कुछ ग्रन्थ भी लिखे हैं, परन्तु वे देखने में नहीं आये। आपकी शिष्यपरम्परा बहुत है।

राजस्थान के वैद्य

राजस्थान में भी बंगाल की कुछ परम्परा मिलती है। उस प्रान्त की चिकित्सा में आयुर्वेद के साथ यूनानी चिकित्सा मिली रहती है। इस चिकित्सा में अपनी विशेषता है।

श्रीकृष्णराम भट्ट—आपके पिता का नाम जीवराम भट्ट (उपनाम कुन्दनजी) था, ये जयपुर महाराज द्वारा स्थापित आयुर्वेद पाठशाला के प्रधान अध्यापक थे।

इनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीकृष्ण भट्ट थे, इनका जन्म १९०५ विक्रमी संवत् में कृष्णजन्माष्टमी **के दिन** हुआ था। इनकी विमाता के पुत्र श्री हरिवल्लभ शर्मा थे।

बाल्यावस्था में इन्होंने अपने पिता से आयुर्वेद तथा जीवनाथ शास्त्री से साहित्य का **अध्ययन** किया था। पिता के मरने पर संस्कृत पाठशाला की गद्दी पर आप **बैठे**। आपने चिकित्सकचूड़ामणि श्री श्यामलाल वैद्य एवं लक्ष्मीराम स्वामी को **आयुर्वेद** पढ़ाया। काव्य और आयुर्वेद पढ़ाने में आपका विशेष पाटव था।

आपने आयुर्वेद की 'सिद्ध भैषज्यमणिमाला' पुस्तक लिखी जिसमें अपने अनुभूत बहुत **से योग दिये हैं**। इस ग्रन्थ को इनकी मृत्यु के पीछे श्री स्वामी लक्ष्मीरामजी ने अपनी **टिप्पणी के साथ** प्रकाशित किया।

आयुर्वेद की रसप्रक्रिया में इनकी विशेष निपुणता थी। सब रस इन्होंने अपने **हाथ से बनाये** थे। प्राचीन पुस्तकों के संग्रह करने का भी इन्हें शौक था। इनकी **मृत्यु** १९५४ विक्रमी संवत् में हुई।

श्री स्वामी लक्ष्मीरामजी—आपका जन्म १९३० विक्रमी संवत् में जयपुर के **सांगानेर कसबे के** एक छोटे गाँव के कुलीन ब्राह्मणपरिवार में हुआ था। आपका **अध्ययन** जयपुर की राजकीय संस्कृत पाठशाला में हुआ। वहीं पर आपने श्रीकृष्ण **भट्टजी से** आयुर्वेद सीखा। बाद में आप कलकत्ता चले गये। वहाँ पर आपने कवि-**राज द्वारकानाथ सेन** से आयुर्वेद का अध्ययन किया।

स्वामीजी ने ३६ वर्ष तक जयपुर राजकीय संस्कृत विद्यालय में आयुर्वेद का अध्या-**पन किया**; यह इनकी आयुर्वेद की ठोस सेवा है। आपके शिष्यों की संख्या बहुत है; **इनमें ठाकुरदत्तजी** मुलतानी, नारायणदत्त विद्यालंकार, मणिरामजी आयुर्वेदाचार्य, **नन्दकिशोरजी** शर्मा मुख्य हैं। आपके पास दूर-दूर से लोग चिकित्सा के लिए आते **थे। भगवान् ने आपको** यश के साथ प्रचुर धन भी दिया। इस धन का उपयोग आप **आयुर्वेद के** लिए ही ट्रस्ट बनाकर कर गये, जिससे आयुर्वेद के उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित **हो सकें**। स्वामीजी की मान्यता सरकार में भी थी।

जयपुर में श्री धन्वन्तरि औषधालय **की स्थापना** में स्वामीजी का ही हाथ था। **इस** में आतुरालय, भेषज निर्माण, प्रयोगशाला **आदि** विभाग बनवाये। स्वामीजी का **स्वभाव** सरल, त्यागी था। रोगियों के प्रति दयालु रहते थे।

पं० नन्दकिशोरजी शर्मा—आपके पिता राजवैद्य श्यामलालजी अपने समय के **प्रतिष्ठित**, योग्य चिकित्सक थे। नन्दकिशोरजी इनके ज्येष्ठ पुत्र थे। बचपन **में** संस्कृत, व्याकरण आदि विषय पढ़कर इन्होंने कुलागत वैद्यविद्या पढ़ना प्रारम्भ

किया। वहाँ पर श्रीकृष्ण भट्टजी के पुत्र गंगाधर शर्माजी से राजकीय आयुर्वेद पाठशाला में दो वर्ष आयुर्वेद का अध्ययन किया। पीछे स्वामी लक्ष्मीरामजी की सम्मति से आयुर्वेदाचार्य परीक्षा दी। चिकित्सा तथा औषध निर्माण का प्रत्यक्ष ज्ञान स्वामीजी के पास किया। बाद में राजकीय पाठशाला में अध्यापक नियुक्त हुए। स्वामीजी की निवृत्ति के पीछे प्रधानाध्यापक बनकर कार्य करते रहे। आप राजस्थान के आयुर्वेद विभाग के डाइरेक्टर भी रहे थे।

कविराज प्रतापसिंहजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य में १८९२ ईसवी में हुआ। आपके पिता का नाम पं० गुमानीरामजी था। संस्कृत का तथा अंग्रेजी का सामान्य ज्ञान आपने उदयपुर में प्राप्त किया। फिर आप आयुर्वेद पढ़ने के लिए मद्रास चले गये। वहाँ पर यशस्वी डी० गोपालाचार्लु महोदय से आयुर्वेद सीखा। फिर कुछ दिन कविराज गणनाथ सेनजी के पास भी रहे। १९१४ से चिकित्सा क्षेत्र में आये। कुछ वर्ष कालीकमलीवालों के यहाँ ऋषिकेश में और पीलीभीत में काम करके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आ गये। यहाँ आपने बहुत परिश्रम और लगन से काम किया। आप फार्मेसी के सुपरिन्टेन्डेन्ट तथा रसशास्त्र–भैषज्य कल्पना के अध्यापक रहे।

आप आयुर्वेद के प्रेमी तथा लगनवाले व्यक्ति हैं। आपने कुछ पुस्तकें भी लिखी हैं, जैसे जच्चा, खनिजविज्ञान आदि। इस समय आप भारत के स्वास्थ्य-विभाग में आयुर्वेद के परामर्शदाता के रूप में काम कर रहे हैं।

पंजाब के वैद्य

कविराज नरेन्द्रनाथजी मित्र—आपका जन्म लाहौर में १८७४ ईसवी में हुआ था। सन् १८८५ में आपने इन्टर परीक्षा पास करके लाहौर मेडिकल कालेज में प्रवेश किया। वहाँ पर आपका स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण पढ़ाई बीच में ही छोड़नी पड़ी। आप चिकित्सा के लिए इन्दौर गये और वहाँ श्री अमृतलाल गुप्त से चिकित्सा करवाकर स्वास्थ्य लाभ किया। इससे आपको आयुर्वेद के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई और वहीं आयुर्वेद सीखा। पीछे लाहौर आकर आयुर्वेद की चिकित्सा प्रारम्भ की। आप उत्तम चिकित्सक होने के साथ अच्छे अध्यापक तथा अच्छे लेखक भी थे। आपने औषध निर्माण में विशेष कुशलता प्राप्त की थी, बहुत से नये योग भी बनवाये थे। आपके शिष्य **सदानन्द शर्मा घिल्डियाल** ने रसतरंगिणी में इस ज्ञान को छन्दोबद्ध किया है। आपके शिष्य **जयदेव विद्यालंकार** ने चिकित्साकलिका की हिन्दी व्याख्या लिखी, जिसे आपने प्रकाशित किया था। आपकी ही देखरेख में **जयदेव विद्यालंकार**

ने भैषज्यरत्नावली का समयोचित हिन्दी अनुवाद किया; **विद्याधर विद्यालंकार ने** योगरत्नाकर और रसेन्द्रसारसंग्रह की हिन्दी व्याख्या लिखी।

पं० रामप्रसादजी—आपका जन्म पटियाला राज्य के टकसाल गाँव में १९३९ संवत् में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० द्वारकादासजी उपाध्याय था। आपने व्याकरण, दर्शन, आयुर्वेद का अध्ययन किया। आपने चरक, अष्टांगहृदय आदि ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद किया है। संस्कृत में आयुर्वेदसूत्र लिखा है, यह आयुर्वेदसूत्र मैसूर में छपे योगानन्दनाथ कृत से सर्वथा भिन्न है।

आप आयुर्वेद प्रचार में सदा यत्नशील हैं, पटियाला राजधानी में आयुर्वेदविद्यालय चला रहे हैं। राज्य के आयुर्वेदविभाग के आप उच्च अधिकारी हैं। सरकार ने १९२३ में आपको वैद्यरत्न की उपाधि दी थी।

आपके सुपुत्र योग्यवक्ता **श्री पं० शिवशर्माजी** हैं। आप पहले लाहौर में चिकित्सा कार्य करते थे एवं आयुर्वेद प्रचार में प्रयत्नशील थे। अब विभाजन के बाद आपने बंबई को कार्यक्षेत्र बनाया। आपने शुद्ध आयुर्वेद पाठचक्रम पर जोर दिया। आप अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद सम्मेलन के चार बार सभापति चुने गये।

मनोहरलालजी शर्मा—आपका जन्म १९३६ विक्रमी में हुआ था। आपने अल्पकाल में ही कोश, व्याकरण, काव्य, साहित्य पढ़कर बनवारीलाल आयुर्वेद विद्यालय में आयुर्वेद का अध्ययन किया। वहाँ शिक्षा समाप्त करके उसी पाठशाला में अध्यापक बने और पीछे प्रिन्सिपल नियुक्त हुए। आपके शिष्यों में पं० मणिरामजी शर्मा योग्य वैद्य हैं।

इसके सिवाय पंजाब में लाहौर के **ठाकुरदत्त मुलतानी** (अब दिल्ली में उनके सुपुत्र हैं) तथा रावलपिण्डी में **वैद्य मस्तरामजी** बहुत कुशल वैद्य थे। **वैद्य हरिदत्तजी शास्त्री** संस्कृत, आयुर्वेद के अच्छे विद्वान हैं, आपने जैज्जट की चरक-टीका का सम्पादन किया है, इस समय बम्बई प्रान्त के आयुर्वेद विभाग के संचालक हैं।

सिन्ध के वैद्य

वैद्य सुखरामदासजी टी. ओझा—आपका जन्म सिन्ध की पुरानी राजधानी ठट्ठा में १९२८ विक्रमी संवत् में हुआ था। आप पुष्करणा थे। आपके पिता का नाम तेजभानदास ओझा था। आपने चिकित्सा का अध्ययन अपने पितृव्य के पुत्र श्री पीताम्बरदासजी से किया। प्रतिभा अच्छी होने से जल्दी चमक गये। वहीं पर अपना स्वतंत्र धंधा प्रारम्भ किया। १९५९ में आपको अपने चाचा लालचन्दजी का औषधालय

सँभालने के लिए कराची जाना पड़ा और जब तक देश का विभाजन नहीं हुआ, आप वहीं पर आयुर्वेद का प्रचार, अध्यापन एवं चिकित्सा करते रहे। सिन्ध में आयुर्वेद को जो सरकारी सम्मान मिला, उसमें आपका बड़ा भारी हाथ था। देश के विभाजन के पीछे आप बम्बई चले आये और वहाँ पर अपना चिकित्साव्यवसाय करना प्रारम्भ किया। परन्तु दुःख है कि आप अधिक समय जीवित नहीं रहे।

मद्रास के वैद्य

पण्डित डी० गोपालाचार्लु—आपका जन्म १९०० विक्रमी संवत् में मछलीपट्टम में हुआ था, आपके पिता का नाम रामकृष्ण चार्लु था। आपके पिता कुशल वैद्य थे, इसलिए बचपन में अन्य विद्याओं के साथ प्रारम्भिक शिक्षा आपने पिता से ही प्राप्त की, पीछे आयुर्वेद की उच्च शिक्षा के लिए मैसूर की राजकीय आयुर्वेदिक शाला में चले गये। वहाँ शिक्षा समाप्त करके कलकत्ता, जयपुर, हरिद्वार, नासिक, लाहौर, काशी, कश्मीर आदि में आयुर्वेद ज्ञान को देखने-समझने के लिए भ्रमण किया। वहां से लौटकर बंगलोर की आयुर्वेद वैद्यशाला के प्रधान चिकित्सक रूप में कार्य किया।

वहाँ से मित्रों की प्रेरणा पर मद्रास में श्री कन्यका परमेश्वरी देवस्थान के अधिकारियों द्वारा स्थापित आयुर्वेदवैद्यशाला के प्रधान चिकित्सक बनकर आये। इनके पास दूर-दूर से विद्यार्थी शिक्षा लेने आते थे। इनके मुख्य शिष्यों में उत्तर प्रदेश के **श्री पं० धर्मदत्त सिद्धान्तालंकार**, राजस्थान के कविराज प्रतापसिंहजी तथा मद्रास के डाक्टर लक्ष्मीपति हैं।

इन्होंने अपनी प्रतिभा से प्लेग के लिए हेमाद्रिपानकम् तथा रसायन रूप में जीवामृत नामक दो औषधियाँ ढूढ़ीं। इनका प्रचार आज भी है। इन्होंने आयुर्वेद के प्रचार के लिए सतत प्रयत्न किया। स्थान स्थान पर वैद्यशालाएँ, पाठशालाएँ खुलवायीं। इन्होंने आन्ध्र भाषा (तेलुगु) में ग्रन्थ लिखे थे। इनकी मृत्यु १९२० ईसवी में हुई।

डाक्टर लक्ष्मीपति—आपका जन्म पश्चिम गोदावरी के निडाडवेला जिले के माधवराम ग्राम में १८८० ईसवी में हुआ था। आपकी शिक्षा राजमहेन्द्री कालेज और प्रेसीडेन्सी कालेज मद्रास में हुई थी। आपने आयुर्वेद-प्रेम के कारण पण्डित सी० एच० सीतारमैया के पास राजमहेन्द्री में आयुर्वेद शिक्षा लेनी प्रारम्भ की। सीतारमैया अपने समय के योग्य वैद्य थे। पीछे से मद्रास के मेडिकल कालेज में प्रविष्ट हुए। वहाँ से १९०९ में एम० बी० सी० एम० की उपाधि लेकर स्नातक बने। दस वर्ष एलोपैथिक चिकित्सा व्यवसाय किया। फिर मद्रास के आयुर्वेदिक कालेज में प्रविष्ट हुए, वहाँ

आयुर्वेद पढ़ने के साथ-साथ सर्जरी पढ़ाते थे। इस कालेज को डी० गोपालाचार्लु चला रहे थे। इन्होंने १९२० में आन्ध्र आयुर्वेदिक फार्मेसी स्थापित की। अबादी में आरोग्याश्रम बनाया, जहाँ पर प्राकृतिक चिकित्सा से पुराने रोगी स्वस्थ किये जाते हैं। इन्होंने आयुर्वेद शिक्षा, एक सौ उपयोगी औषधियाँ, दीर्घायु का रहस्य, व्यायाम-शास्त्र, मर्दन और स्नान आदि पुस्तकें अंग्रेजी और तेलुगु में प्रकाशित की हैं।

आप नियमित व्यायाम करते हैं, तैलमर्दन आदि आयुर्वेद-वर्णित पूर्ण स्वास्थ्य-विधान का पालन करते हैं। इसी से ७५ वर्ष की आयु में भी पूर्ण युवा लगते हैं।

कैप्टन जी० श्रीनिवास मूर्त्ति—आपका जन्म मैसूर के गोरूर ग्राम में १८८७ ईसवी में हुआ था। बी० ए० तक अध्ययन करने के बाद मद्रास मेडिकल कालेज में शिक्षा प्राप्त की। कुछ समय बाद मद्रास मेडिकल कालेज में बायोलॉजी तथा मेडिकल जूरिस प्रूडेन्स के अध्यापक हुए। १९१७ में इन्होंने विश्वयुद्ध में सेवाकार्य किया। १९२१ में यह सैनिक नौकरी से नागरिक सेवा में परिवर्त्तित किये गये। इस समय रोयापुरम के मेडिकल स्कूल में सर्जरी के अध्यापक तथा अस्पताल के सर्जन नियुक्त हुए।

मद्रास सरकार ने भारतीय चिकित्सा की जाँच के लिए सर मुहम्मद उस्मान की अध्यक्षता में जो कमेटी बनायी थी, उसके आप मंत्री चुने गये। इससे इनको आयुर्वेद समझने और सम्पूर्ण भारत में उसकी स्थिति जानने का अच्छा अवसर मिला। सरकार ने जब आयुर्वेदिक शिक्षा का एक स्कूल खोलना निश्चित किया, तब पाठ्यक्रम आदि बनाने का भार आपको सौंपा गया। यह कालेज १९२५ में खुला, तब आप ही इसके प्रथम प्रिन्सिपल नियुक्त हुए। मद्रास गवर्नमेन्ट ने १९३२ में सेन्ट्रल बोर्ड आफ मेडिसिन बनाया जिसके आप प्रेसीडेन्ट चुने गये थे। आयुर्वेद की बहुत-सी संस्थाओं से आप सम्बद्ध रहे। आपने इन्फैन्ट मौर्टेलिटी आदि पुस्तकें अंग्रेजी में लिखी हैं।

वैद्यरत्न पा० एस० वेरियर—आपका जन्म पन्नीमपल्ली वेरियम के चिकित्सक घराने में १८६९ ईसवी में हुआ था। आपने श्री कूटनचरी वासुदेवन मूसाद के पास पाँच साल तक आयुर्वेद की शिक्षा ली। दो साल अंग्रेजी पढ़ी और तीन साल तक दीवानबहादुर डाक्टर वी०वैरघेसी के पास एलोपैथिक शिक्षा प्राप्त की। दोनों विषयों का क्रियात्मक ज्ञान लेने के पीछे १९०२ में 'आर्यवैद्यशाला' नाम से अपना स्वतंत्र चिकित्सासंस्थान कोटाकल में चलाया। यहीं पर फार्मेसी बनायी और आर्यवैद्यसमाज बनाकर आयुर्वेद का प्रचार प्रारम्भ किया। प्रचार के लिए मलयालम में धन्वन्तरि-पत्रिका प्रकाशित की। छात्रों को आयुर्वेद की शिक्षा देने के लिए १९१७ में कालीकट में आर्यवैद्य पाठशाला प्रारम्भ की। १९२४ में कोटाकल में मुफ्त आर्य-वैद्यशाला

हास्पिटल खोला, पीछे से कालीकट की आर्य-वैद्य पाठशाला भी इसी स्थान पर लायी गयी, जिससे विद्यार्थियों को क्रियात्मक ज्ञान सम्पूर्ण विषयों का प्राप्त हो सके'

इन्होंने अष्टांगशारीरम् पुस्तक संस्कृत में लिखी है।

पण्डित एम० दुरैस्वामी आयंगर--मद्रास प्रान्त के उत्तरीय आरकाट जिले के ब्रह्मदेशम् गाँव में १८८८ ईसवी में आपका जन्म हुआ था। आयुर्वेद की पढ़ाई पाँच साल में समाप्त करके १९०७ में ये कलकत्ते गये। वहाँ कविराज द्वारकानाथ सेन से आयुर्वेद की क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण की।

इन्होंने अपना चिकित्साक्रम त्रिचनापल्ली में प्रारम्भ किया। वहाँ दो साल स्वतंत्र कार्य करने पर गोपालाचार्लुजी के आग्रह पर मद्रास आयुर्वेदिक कालेज और संलग्न चिकित्सालय में काम करने के लिए चले आये। डी० गोपालाचार्लुजी के निवृत्त होने पर आप १२ वर्ष तक चिकित्सालय के प्रधान वैद्य के पद पर काम करते रहे।

इन्होंने आयुर्वेद की बहुत-सी पुस्तकों का तामिल अनुवाद किया है, यथा--अष्टांगहृदय, माधवनिदान, रसरत्नसमुच्चय, शार्ङ्गधरसंहिता। इन्हें अपने ही व्यय से प्रकाशित किया। 'जीवानन्दनम्' नाटक की संस्कृत टीका बहुत ही सुन्दर रूप में आपने की। इसको अडयार पुस्तकालय ने छापा है।

गुजरात के वैद्य

श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य--आपका जन्म संवत् १९३८ विक्रमी में पोरबन्दर (काठियावाड़) में हुआ था। आपके पिता श्री त्रिकमजी पोरबन्दर के राणासाहब के राजवैद्य थे। विद्याध्ययन पोरबन्दर में हुआ, परन्तु १९४५ में बम्बई आकर भिन्न-भिन्न विद्वानों से इन्होंने व्याकरण, दर्शन, अरबी, फारसी सीखी। हकीम रामनारायणजी से यूनानी चिकित्सा सीखी; वैद्यक राजस्थान निवासी पं० गौरीशंकरजी से तथा महाराष्ट्र के वैद्य से सीखी। जब आप १८ वर्ष के थे, उस समय पिता के स्वर्गवासी होने पर गृहस्थी का सारा बोझ आप पर आ गया। आपने १८९९ में माधवनिदान की मधुकोश व्याख्या का संशोधन किया, जिसे १९०१ में निर्णयसागर प्रेस ने प्रथम बार प्रकाशित किया। इस समय आपकी अवस्था केवल उन्नीस वर्ष की थी। आयुर्वेद ग्रन्थों के प्रकाशन का यह प्रथम प्रयास था। यह सिलसिला आगे जीवन पर्यन्त चलता रहा, आपने आयुर्वेददीपिका सहित चरकसंहिता, मूल चरकसंहिता, डल्हण की निबन्धसंग्रह व्याख्या सहित सुश्रुतसंहिता और मूल सुश्रुतसंहिता संशोधित करके निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित करायीं। आपने स्वयं अपने व्यय से बहुत-से प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशित

किये। इनमें रसहृदय तंत्र, रसप्रकाशसुधाकर, गदनिग्रह, राजमार्त्तण्ड, नाड़ी-परीक्षा, वैद्यमनोरमा, धारापद्धति, आयुर्वेदप्रकाश, रसायनखण्ड, रसपद्धति, लौहसर्वस्व, रस-सार, रससंकेतकलिका, रसकामधेनु, क्षेमकुतूहल आदि हैं।

दूसरे प्रकाशकों को बहुत-से ग्रन्थ प्रकाशन के लिए दिये। श्री हरिप्रपन्नजी को रस-योगसागर तैयार करने में लगभग चालीस हस्तलिखित ग्रन्थ आपने अपने पास से दिये थे। आपने श्री कविराज गणनाथ सेनजी के प्रत्यक्षशारीरम् का गुजराती अनुवाद करवाकर जुगतराम भाई के सहयोग से प्रकाशित किया। डा० वामन गणेश देसाई की पुस्तकें औषधिसंग्रह और भारतीय रसशास्त्र मराठी में अपने ही व्यय से प्रकाशित कीं। वैद्यों को लिखने के लिए बराबर प्रोत्साहन देते थे। आयुर्वेद-पदार्थविज्ञान का विचार आने पर उसकी रूपरेखा बनाकर कई विद्वानों को दी, बहुतों ने इस विषय पर पुस्तकें लिखीं—इनको छपवाया भी आपने। इनकी उदारता का कुछ लोगों ने दुरुपयोग भी किया। जामनगर में आयुर्वेदिक कालेज, रिसर्च कार्य आदि सब प्रवृत्तियों में आपका ही हाथ रहा। आज आप होते तो वहाँ की दशा और ही होती। आप आयुर्वेद के नाम पर सब कुछ त्याग करने को तैयार थे। आपने विषयवार पुस्तकें लिखवायीं और स्वयं भी लिखीं। आपने रसशास्त्र पर रसामृत लिखा, अपनी चिकित्सा में अनुभूत योगों को सिद्धयोगसंग्रह नाम से प्रकाशित किया। अभी आप आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान पुस्तक लिख रहे थे जिसका कुछ भाग प्रकाशित हो चुका है।

आपका सही विश्वास था कि पाश्चात्य चिकित्सा एवं यूनानी चिकित्सा की अच्छी अच्छी वस्तुएँ लेनी चाहिए (आपने यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान नामक बृहत् ग्रन्थ हिन्दी में प्रकाशित कराया)। आपकी मृत्यु अभी तीन साल पूर्व जामनगर में हुई।

बम्बई जैसे शहर में आपने अपनी फीस सामान्य रखी थी। गरीबों को महँगी से महँगी औषधि मुफ्त देने में कभी संकोच नहीं किया। विद्वान् व्यक्ति से फीस एवं औषधि के दाम तक भी नहीं लेते थे। इनके उठ जाने से आयुर्वेद की अतिशय क्षति हुई है।

वैद्य हरिप्रपन्नजी—आपका जीवन बहुत सरल और सामान्य था। औषधियाँ सम्पूर्ण अपने सामने बनवाते थे। जंगल से औषधियाँ स्वतः लाते थे। आपने अपनी चिकित्सा से अतुल धन-सम्पदा अर्जित की थी, जिसे आयुर्वेद के उत्कर्ष के निमित्त अपने हाथों से दान भी कर गये।

रसयोगसागर नाम का बृहत् ग्रन्थ आपने तैयार किया, और अपने ही व्यय से छपवाया। इसका उपोद्घात, रसों पर दी हुई टिप्पणियाँ और द्वितीय भाग के अन्त में दिये स्वतंत्र विचार देखकर आपकी विद्वत्ता एवं परिश्रम का पता चलता है।

आपका भास्कर औषधालय आज भी चलता है, जहाँ पर गरीबों को मुफ्त में औषध दी जाती है। आयुर्वेद पाठशाला के लिए बम्बई में तीन मंजिल का मकान आप अपने रुपयों से लेकर दे गये, जिससे यह पाठशाला अव्याहत गति से निरन्तर चलती रहे।

श्री झण्डू भट्ट एवं जुगतराम---इनका घराना पुराने वैद्यों का है। इनके पिता का नाम बिट्ठलजी था, इनका जन्म १८५२ संवत् में हुआ। इनके पिता जामनगर के राजा के राजवैद्य थे। इन्होंने बहुत परिश्रम से आयुर्वेद सीखा।

रसौषध बनाने के लिए जामनगर में १९२१ के अन्दर एक रसशाला बनायी, जहाँ पर शास्त्रोक्त औषधियों का निर्माण होता था।

आपके सुपुत्र शंकरप्रसादजी भट्ट थे, और इनके सुपुत्र श्री जुगतराम भाई थे, जिन्होंने कि अपने पितामह झण्डू भट्टजी के नाम पर विशाल आयुर्वेदिक फार्मेसी बम्बई में बनायी।

बाबाभाई अचलजी---आप राजकोट (काठियावाड़) के रहनेवाले थे। आप एक सफल चिकित्सक होने के साथ-साथ संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थें। रसशास्त्र में आप बहुत निपुण कहे जाते हैं। आपके नेत्रों की ज्योति जाती रही थी। इस पर भी आप रोगनिदान, रोगी की पहचान सरलता से कर लेते थे।

जीवराम कालिदासजी---आपका जन्म औदीच्य ब्राह्मणकुल में विक्रमी संवत् १९३९ में जामनगर के मेवासा गाँव में हुआ था, बचपन में पिता का देहावसान होने पर गोंडल में अपने चाचा के यहाँ रहकर कष्ट से जीवन व्यतीत किया। बाद में आप गिरनार गये, वहाँ पर श्री अच्युतानन्द ब्रह्मचारी से आयुर्वेद, संस्कृत, मंत्र शास्त्र सीखा। आप वहाँ से १९६१ में उनसे हस्तलिखित कुछ ग्रन्थ लेकर चले आये और बम्बई आकर आयुर्वेद का अभ्यास करते हुए अपना स्वतंत्र व्यवसाय चलाया। इसी समय रसरत्नसमुच्चय का अनुवाद गुजराती में किया। बम्बई में शरीर स्वस्थ न रहने से आप अपने गाँव मेवासा आ गये। वहाँ पर ब्रह्मचारी अच्युतानन्दजी के अकस्मात् आने पर उनसे धन तथा अन्य वस्तुओं की मदद लेकर गोंडल में रसशाला की स्थापना की। रसशाला के साथ आपका लेखन-कार्य चलता रहा।

आपने अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये। आपके यहाँ हस्तलिखित पुस्तकों का अच्छा संग्रह कहा जाता है। आप गोंडल राज्य के राजवैद्य १९७२ में नियुक्त हुए। आपने रसोद्धार तंत्र (उपचार पद्धति) पुस्तक तथा आयुर्वेद-रहस्यार्कपत्रिका से गुजरात में आयुर्वेद का बहुत प्रचार किया। अब आप गृहस्थ आश्रम से संन्यास आश्रम में आ गये हैं। आपका नाम श्री चरणतीर्थ स्वामी है। आपमें आयुर्वेदशास्त्र के प्रति लगन है।

नारायणशंकर देवशंकर—आपका जन्म अहमदाबाद में हुआ था। आपने आयुर्वेद की शिक्षा जयपुर में राजवैद्य श्री श्रीकृष्णराम भट्टजी से ली थी। संवत् १९५१ में अहमदाबाद में स्वतंत्र चिकित्सा व्यवसाय प्रारम्भ किया और आयुर्वेद पाठशाला स्थापित की। आप बहुत से धमार्थ औषधालयों की देखरेख करते रहे।

बापालाल गड़बड़शाह—आप भरूच (भरुकच्छ) के रहनेवाले हैं। आपने वनस्पति ज्ञान कच्छ के श्री जयकृष्ण इन्द्रजी से प्राप्त किया। आपका वनस्पति ज्ञान अपूर्व है। आपको श्री स्वामी आत्मानन्दजी बहुत आग्रह से अपने स्थापित आयुर्वेद महाविद्यालय के प्रिन्सिपल पद के लिए ले आये। आपने आकर आयुर्वेद विद्यालय की पूर्ण उन्नति की। आज यह विद्यालय बम्बई के ही नहीं, अपितु भारत के विद्यालयों में अग्रणी है। औषधालय के साथ रसशाला, भैषज्य निर्माण, चिकित्सालय, आतुरालय, प्रसूति विभाग, पुस्तकालय आदि सब आपके परिश्रम का फल है।

आपने निघण्टु-आदर्श नामक बृहत् ग्रन्थ दो भागों में लिखा है। इसमें वनस्पतिशास्त्र के अनुसार औषधियों का विभागीकरण किया है। यह पुस्तक श्री कविराज विजयरत्न सेन के वनौषधिदर्पण के ढंग की है, परन्तु उससे अधिक महत्त्वपूर्ण और उपादेय है। इसके अतिरिक्त आपने रसशास्त्र, अभिनव कामशास्त्र, बालपरिचर्या, वृद्धत्रयी की वनस्पतियाँ, घरगत्थू वैद्यक, दिनचर्या, न्यायवैद्यक आदि ग्रन्थ लिखे हैं।

अन्य वैद्य—गुजरात में आयुर्वेद का प्रचार करने में **श्री जटाशंकर लीलाधर त्रिवेदी, श्री गोपालजी कुंवरजी ठक्कर** तथा **श्री नगीनदास शाह** ऊंझावालों ने बहुत प्रयत्न किया। श्री शाहजी ने भारतभैषज्यरत्नाकर बड़ा ग्रन्थ प्रकाशित किया। श्री गोपालजी ठक्कर पहले कराची में अपना व्यवसाय करते थे। वहाँ आरोग्यसिन्धु पत्र निकालते रहे, वहीं से आपने **न्यायवैद्यक और विषतंत्र** पुस्तक हिन्दी में प्रकाशित कीं। इसके सिवाय लगभग ३०-३५ पुस्तकें आपने छपवायीं—जिससे आयुर्वेद का प्रचार पर्याप्त हुआ। विभाजन के पीछे आपका कार्यक्षेत्र बम्बई हो गया। आपकी मृत्यु सन् १९५२ में हुई। आपके पीछे आपका पुत्र आयुष्मान् चन्द्रशेखर आपके पदचिह्नों पर चलता हुआ आयुर्वेद का काम कर रहा है। यहाँ आयुर्वेद और ज्योतिष पर कई अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

श्री जटाशंकर लीलाधरजी ने भी आयुर्वेद के प्रचार में बहुत काम किया। आपने वैद्यकल्पतरु पत्र निकालने के साथ घर-वैद्युं बहुत सुन्दर ग्रन्थ तैयार किया। इसमें देशी, अंग्रेजी, यूनानी सभी चिकित्साओं का उत्तम मिश्रण था। इसमें मूर की फैमिली मेडिसिन के ढंग पर सब आवश्यक जानकारी दी है। इसके सिवाय और भी बहुत-

सी पुस्तकें प्रकाशित कीं। इसी प्रकार सूरत के तिलक ताराचन्द्रजी ने भी दो पुस्तकें लिखी थीं, जिनका प्रचार गुजरात में बहुत हुआ।

श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री—आप जामनगर के प्रश्नोरा ब्राह्मण थे। आप वैद्यक व्यवसाय न करने पर भी आयुर्वेद, अर्धमागधी, संस्कृत, अंग्रेजी, गुजराती के अतिशय मनस्वी विद्वान् थे। आपने आयुर्वेदविज्ञान मासिक पत्र के द्वारा आयुर्वेद का बहुत प्रचार किया। इस पत्र में स्वतंत्र एवं संग्रह रूप में उत्तम लेखों का प्रकाशन हुआ। झण्डू फार्मेसी से सम्बद्ध होने के कारण तथा श्री जुगतराम भाई के वैयक्तिक स्नेह के कारण इस पत्र ने आयुर्वेद की जो सेवा की, उसका श्रेय श्री दुर्गाराम भाई को है। आपने आयुर्वेद का इतिहास गुजराती में लिखकर आयुर्वेद की सच्ची सेवा की है। अंग्रेजी या दूसरी किसी भी भाषा में इतना प्रामाणिक, सुसम्बद्ध तथा स्वतंत्र दृष्टि से दूसरा इतिहास मेरे देखने में नहीं आया।

महाराष्ट्र के वैद्य

श्री शंकर दाजी शास्त्री पदे—पदे की उपाधि खानदानी है, जो कि पेशवाओं के यहाँ वेदपाठ करने के कारण इनके कुटुम्ब में चलती है। आपके पिता पण्डित दाजी शास्त्री पदे ज्योतिष के प्रकाण्ड पण्डित थे। आपका जन्म बम्बई में संवत् १९२३ में हुआ। आयुर्वेद आपने श्री भानुवैद्य कुलकर्णी से सीखा।

वैद्यक सीखकर राजवैद्य नाम का मासिक पत्र निकाला। इसमें ८०० पुस्तकों की तालिका छापकर यह बताया कि कौन कौन-सी पुस्तकें छपी हैं, और कौन-सी नहीं छपीं। राजवैद्य को कुछ समय चलाकर 'आर्य भिषक्' मासिक पत्र १८८८ ईसवी में निकाला। इस पत्र को मृत्यु पर्यन्त चलाया। इस पत्र के साथ साथ वाग्भट, चरक, बृहत् निघण्टु, औषधिगुणदोष, निघण्टुशिरोमणि, वनौषधिगुणादर्श आदि बहुत-सी पुस्तकें संस्कृत मराठी में निकालीं। इन पुस्तकों के प्रकाशन में आपको सयाजीराव गायकवाड़, बड़ोदा नरेश से भी कुछ सहायता मिली। पीछे से गुजराती आर्यभिषक् भी निकाला, परन्तु जटाशंकर लीलाधर के वैद्यकल्पतरु गुजराती में निकालने पर इसे बन्द कर दिया; उन्हीं को प्रोत्साहित करते रहे। हिन्दी में 'सद्वैद्यकौस्तुभ' पत्र संवत् १९६० में निकाला। गुजराती में आपकी पुस्तकों को सस्तुं साहित्यवर्धक कार्यालय अहमदाबाद से प्रकाशित करता था, जिनकी बड़ी संख्या में माँग थी। मराठी में आपकी पुस्तकें बहुत प्रसारित हुईं।

आयुर्वेद प्रचार के लिए आपने बम्बई में पहली वैद्यसभा और प्रथम आयुर्वेद-

विद्यालय प्रभुरामजी की सहायता से चलाया। फिर नासिक, नागपुर में आयुर्वेद-विद्यालय खोले और योग्य व्यक्तियों की देख-रेख में उनको दे दिया।

भारतव्यापी प्रचार के लिए संगठित रूप में आपने संवत् १९६३ में विद्यापीठ और संवत् १९६४ में वैद्यसम्मेलन स्थापित किया। इसके लिए भारतव्यापी आन्दोलन चलाया। इसका प्रथम अधिवेशन नासिक में और दूसरा पनवेल (बम्बई) में हुआ। धीरे-धीरे विद्यापीठ का प्रचार इतना बढ़ा कि वैद्य इसकी परीक्षा में बैठना और उत्तीर्ण होना गौरवास्पद मानते थे।

विद्यापीठ को अधिक उपयोगी बनाने के लिए आपने उत्तर भारत को चुना, इसके लिए आप प्रयागराज संवत् १९६५ में आये। वहाँ के कार्यसंचालन के लिए श्री जगन्नाथ-प्रसाद शुक्लजी को नागपुर से प्रयाग बुलवाया। आपकी इच्छा थी कि तीसरा सम्मेलन बनारस में हो। प्रयाग में कार्य भी प्रारम्भ हो गया था। परन्तु आप बीमार पड़े और संवत् १९६६, चैत्र शुक्ला रामनौमी के दिन स्वर्गवासी हुए। आप निस्सन्तान थे। आपकी लिखी पुस्तक 'आर्यभिषक्' गुजराती-मराठी में बहुत ही प्रसिद्ध है।

गोवर्धन शर्माजी छांगाणी—आपका जन्म राजस्थान के अन्तर्गत जोधपुर के पोकरण गाँव में संवत् १९३३ में हुआ था। आपके पिता का नाम जीतमल्लजी था। आप पहले अमरावती (बरार) की पाठशाला में पं० हरिनारायणजी भिडे से संस्कृत और अंग्रेजी स्कूल में पढ़ते थे। आपने अमृतसर में ज्योतिष तथा हजारीराम जी सारस्वत से आयुर्वेद का अध्ययन किया। फिर खामगाँव (बरार) में आकर चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया। फिर आप नागपुर से निकलनेवाले मारवाड़ी पत्र के सम्पादक बने। सम्पादन के साथ-साथ चिकित्सा व्यवसाय भी करते रहे। दस वर्ष तक यह कार्य करके आप अपना चिकित्सा व्यवसाय स्वतंत्र रूप से करने लगे। आपने धन्वन्तरि आयुर्वेद-पाठशाला चलाकर विद्यादान प्रारम्भ किया और अन्य स्थानों पर भी पाठशालाएँ खुलवायीं।

आपने बसवराजीयम् संस्कृत में सम्पादित किया। हिन्दी में अष्टांगसंग्रह का अनुवाद (सूत्रस्थान तक ही) निकाला। दुःख है कि शेष भाग पूर्ण नहीं हुआ, क्योंकि अकाल में ही आपका निधन हो गया।

पण्डित कृष्ण शास्त्री कवड़े—आपका जन्म पिपरीपेंढार गाँव में १८८४ ई० में हुआ था। नवें वर्ष में आप विद्या पढ़ने के लिए पूना आये। आपने १९०६ में बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके पीछे दो साल तक अध्यापन कार्य किया।

पीछे बाबा साहब परांजपे के अनुरोध से आपने वैद्यरत्न गणेश शास्त्री जोशी, सदाशिव भावे से आयुर्वेद सीखा, इनसे चरक संहिता का अध्ययन किया।

आपने पूना में महाराष्ट्रीय आयुर्वेद विद्यालय स्थापित किया, और वहाँ आयुर्वेद का अध्यापन करते रहे। आप आयुर्वेद की रक्षा तथा प्रचार में सतत प्रयत्नशील रहे।

श्री गंगाधर शास्त्री गुणे––आप आयुर्वेद के सच्चे उपासक थे, आपने अहमदनगर में फार्मेसी और विद्यालय चलाये। आपने मराठी में औषधि-गुणधर्म शास्त्र नाम से एक पुस्तक कई भागों में लिखी है। इस पुस्तक में नवीन पद्धति से वैद्यक योगों के घटकों पर विचार करने का यत्न किया। इसकी सत्यता अभी सन्दिग्ध है।

श्री नारायण हरि जोशी––आप पूना के रहनेवाले ब्राह्मण हैं, आपको आयुर्वेद के प्रति सच्ची लगन है। बम्बई में शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम प्रचलित करने में आपने पं० शिवशर्माजी के साथ बहुत प्रयत्न किया। इस कार्य में आपको बहुत कष्ट भी उठाने पड़े, परन्तु आप अपने ध्येय में लगे रहे। इस समय आप शुद्ध आयुर्वेद पाठ्यक्रम समिति के मंत्री हैं और सायन में आयुर्वेद विद्यालय चला रहे हैं। आप शुद्ध आयुर्वेद दृष्टि से आयुर्वेद को देखते हैं और चाहते हैं कि लोग भी इसी रूप में इसका विचार करें।

श्री अ. ना. जोशी––आप वनस्पति शास्त्र और रसायन के एम० एस सी० हैं। आपको आयुर्वेद के प्रति सच्ची आस्था है, परन्तु आप उसको वैज्ञानिक रूप में देखना चाहते हैं। बम्बई में चलनेवाले रिसर्च विभाग के आप मंत्री हैं और इस दिशा में अच्छा कार्य कर रहे हैं। इसके लिए आपने भिन्न-भिन्न स्थानों से नमूने भी संग्रह किये हैं।

श्री वामनराव भाई––आप बुरहानपूर के रहनेवाले हैं, किन्तु बम्बई में रहकर अपना दवाखाना चलाते हैं, निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद सम्मेलन के मंत्री हैं। दवे कमेटी के पाठ्यक्रम के पक्ष में आप नहीं हैं, आप शुद्ध पाठ्यक्रम के पक्षपाती हैं।

पं० शिवशर्माजी––आप का जन्म पटियाला में हुआ है, आपके पिता श्री रामप्रसादजी वैद्य हैं, जो पटियाला महाराज के राजवैद्य हैं। पं० शिवशर्माजी को आयुर्वेद के प्रति सच्ची श्रद्धा है। आप आयुर्वेद को आधुनिक विज्ञान के साथ मिश्रित करके पढ़ाने के पक्षपाती नहीं। आज बम्बई में शुद्ध आयुर्वेद की जो शिक्षा चल रही है, उसका श्रेय आपको ही है, आप वहाँ के आयुर्वेदिक बोर्ड के सभापति हैं। आपके ही सहयोग से उत्तर प्रदेश में अब आयुर्वेद का पाठ्यक्रम भी विषयवार न रहकर ग्रन्थप्रधान, शुद्ध आयुर्वेद के रूप में चलने जा रहा है। उत्तर प्रदेश राज्य ने आयुर्वेद के पाठ्यक्रम के लिए जो कमेटी बनायी थी, उसमें आपने मुख्य भाग लिया है।

विभाजन से पूर्व आप लाहौर में चिकित्सा-कार्य करते थे। बाद में आपने बम्बई को अपना कार्यक्षेत्र चुना और यहीं अपने विचारों को सक्रिय बनाया।

इक्कीसवाँ अध्याय

डाक्टरों के द्वारा आयुर्वेद की सेवा

संस्कृत की एक कहावत है--"पण्डितोऽपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः" (पंचतंत्र)। पण्डित--पढ़ा-लिखा व्यक्ति यदि शत्रु हो जाय, तो अच्छा; मूर्ख व्यक्ति का मित्र बनना अच्छा नहीं। यही बात आयुर्वेद के लिए है। ज्ञान का अर्थ प्रकाश है, इसी से गीता में भगवान् ने कहा है--

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। ४।३८
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज् ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ ५।१६

ज्ञान से बढ़कर पवित्र वस्तु संसार में दूसरी नहीं है। ज्ञान से जिनकी आत्मा का अज्ञान नष्ट हो जाता है, उनके लिए सूर्य की भाँति सब वस्तुएँ स्पष्ट हो जाती हैं। इसलिए ज्ञान को किसी एक देश में, किसी भाषा में, किसी विशेष व्यक्ति या जाति तक सीमित नहीं किया गया। ऋषियों ने ज्ञान का द्वार सब देशों, सब जातियों, सब वर्णों के लिए एक समान खोला है। ज्ञान को पर और अपर नाम से उपनिषद् में तथा ज्ञान-विज्ञान नाम से गीता में, भूयसी विद्या और जानपदीय विद्या पाणिनि शास्त्र में कहा है। इसी को शुक्रनीति में विद्या और कला का नाम दिया है। विद्या में वाणी की अपेक्षा रहती है, कला में हाथ या इन्द्रिय का नैपुण्य रहता है। आयुर्वेद-चिकित्सा को भी शिल्प (शिप्प) एवं विद्या कहा गया है (जानपदीय विद्या का बौद्ध साहित्य में शिप्प--शिल्प नाम दिया है)। यह ज्ञान सब वर्णों के लिए एक समान था। जीवक, जिसकी जाति का कुछ भी पता नहीं, एक सफल चिकित्सक ६०० ई० पू० में हुआ था; आज भी जिसके ऊपर वैद्यसमाज गौरव करता है। इसने उस समय मस्तिष्क का चीर-फाड़ कर्म सफलता से किया था; यह बौद्ध साहित्य में स्पष्ट लिखा है। यह शस्त्रकर्म आज बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ है।

इसलिए विज्ञान या शिल्प विद्या में सब वर्णों ने बहुत काम किया। जबसे वैद्यक विद्या सीमित बनी तबसे इसकी आज तक निरन्तर अवनति हो रही है। वैद्यक,

पुरोहिताई, ज्योतिष ये सब धंधे एक साथ रहने से वंशक्रमागत हो गये। पण्डित का पुत्र पण्डित ही माना गया, वैद्य का बेटा वैद्य ही हुआ, ज्योतिषी की सन्तान ज्योतिषी। इस परम्परा से बिना पढ़े वैद्य बनने लगे---जब कि डाक्टरी में ऐसी बात नहीं है। इसका जो परिणाम है हम स्पष्ट ही देख रहे हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध आयुर्वेद कालेज के अध्यापकों ने विगत ३० वर्षों में आयुर्वेद या स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि विषयों सम्बन्धी जो साहित्य प्रस्तुत किया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि इस दिशा में अधिक प्रगति पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त विद्वानों ने ही की है। जब कि डाक्टर-प्राध्यापकों की पुस्तकों का औसत किसी भी प्रकार ९०० पृष्ठों से कम नहीं है, वैद्य-प्राध्यापकों का औसत २५० से अधिक नहीं निकलता। इसे अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रगतिशील विद्वानों से आयुर्वेद को हानि है या भय है; इसे मेरा दिल नहीं मानता। आयुर्वेद के ह्रास के कारण वैद्य स्वयं हैं, दूसरों को दोष देना व्यर्थ है।

वैद्यों के पास पैसा नहीं है; यह बात सत्य नहीं है। बहुत से वैद्य अच्छे सम्पन्न हैं, पर इनमें से गिने चुने तीन चार वैद्यों को छोड़कर कोई भी आयुर्वेद के लिए गाँठ का पैसा खर्च करने को तैयार नहीं, क्योंकि वह जानता है या समझता है कि इसमें लगाया रुपया व्यर्थ जायगा। वह अपने सुपुत्र को डाक्टरी पढ़ायेगा, परन्तु दूसरों के लड़कों को आयुर्वेद पढ़ने के लिए प्रेरित करेगा। रिसर्च के नाम पर पैसा सरकार से लेना चाहता है, परन्तु अपनी जेब को सुरक्षित रखता है।

यदि डाक्टर से अच्छा न हुआ कोई रोगी, भाग्यवश इनसे स्वस्थ हो जाता है, तो उसका प्रचार किया जाता है। शिक्षित पाश्चात्य चिकित्सकों में यह प्रवृत्ति बहुत कम मिलती है। डाक्टर अपने पुत्र को डाक्टर ही बनाना चाहता है, उसे अपने विज्ञान पर आस्था है, विश्वास है, श्रद्धा है। वैद्यों में यह बात नहीं। इसलिए डाक्टरों के लिए कहना कि इनसे वैद्यक का अहित है; यह मेरी समझ में सत्य नहीं। मैं तो समझता हूँ कि वे सच्चे अर्थों में आयुर्वेद को समझते हैं; जहाँ तक शरीर का और रोग का सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में जनपदीय विद्या या शिल्प अर्थात् विज्ञान को वे ठीक समझते हैं। आचार्य ने कहा है---

प्रत्यक्षतो हि यद् दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद् भवेत्।
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्धनम्॥ सुश्रुत. शा. ५।४८

यदि धन्वन्तरि का यह वचन सत्य है, तो पाश्चात्य चिकित्सा का ज्ञान भी सत्य है। इस ज्ञान को जाननेवाला कभी भी बुद्धिपूर्वक कही बात से इन्कार करेगा; इसे मैं

नहीं मान सकता। क्योंकि ज्ञान तो आदित्य के समान प्रकाशमान है। इसलिए ऐसे जितात्मा-विद्वानों को नमस्कार करना चाहिए, उनसे आयुर्वेद का अहित होगा यह मानना भूल है। यहाँ पर ऐसे ही आयुर्वेद की सेवा करनेवाले विद्वानों का परिचय दिया जा रहा है—

श्री पोपटराम प्रभुराम—आप गुजरात के निवासी और बम्बई में व्यवसाय करते थे। इनके पिता प्रभुराम वैद्य थे। वैद्यों में जैसी प्रवृत्ति होती है, उसी के अनुसार आपने अपने पुत्र पोपटराम को पाश्चात्य चिकित्सा की उच्च शिक्षा दिलवायी। पिता प्रभुराम आयुर्वेद की एक पाठशाला चलाते थे। पुत्र ने उसे बढ़ाकर यूनीवर्सिटी का रूप दिया और उससे उपाधि वितरण भी प्रारम्भ किया। इस यूनीवर्सिटी से प्राणाचार्य उपाधि प्राप्त बहुत से वैद्य आज भी हैं। आपके इस विश्वविद्यालय में आयुर्वेद के साथ पाश्चात्य चिकित्सा का भी ज्ञान मिलता था। आपका प्रसूतिशिक्षण एक समय बहुत सम्मानित था।

गुजराती में सुश्रुत संहिता आपने ही प्रकाशित करवायी थी, जो कि उस समय एक उत्तम अनुवाद माना जाता था।

डाक्टर वामन गणेश देसाई—आप एक उच्च शिक्षाप्राप्त डाक्टर थे। आप बम्बई में अपना चिकित्सा कर्म करते थे। आपने औषधिसंग्रह और भारतीय रसायन-शास्त्र; दो पुस्तकें लिखी थीं। इन पुस्तकों को श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने प्रकाशित किया है। 'औषधिसंग्रह' बहुत उत्तम निघण्टु है, इसमें आयुर्वेद के अन्दर काम आनेवाली प्रायः सब उद्भिज्ज वस्तुओं की नव्य मत से समीक्षा है। 'भारतीय रसायन शास्त्र' में आयुर्वेद के खनिज द्रव्यों की तथा इस सम्बन्ध की अन्य वस्तुओं की विवेचना है। प्रारम्भ में आपने एक उत्तम पूर्वपीठिका दी है। पारद का अन्तः-उपयोग इंग्लैंड में होता था, इसके लिए दी हुई आपकी जानकारी बहुत महत्त्व की है। इस पुस्तक की भूमिका **श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी** एम० एस-सी० ने लिखी है, जो बहुत उपयोगी है।

डाक्टर मुकुन्दस्वरूपजी वर्मा—आपका जन्म सन् १८९६ में सिकन्दराबाद (बुलन्दशहर, उत्तर प्रदेश) में हुआ है। आपके पिता का नाम श्री गोविन्दस्वरूप था, आप शिक्षित भटनागर कुल में उत्पन्न हुए थे। आपके प्रपिता बीकानेर में राज्य के वकील थे। आपकी शिक्षा बीकानेर-भरतपुर में हुई। आप सदा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। आपकी साहित्य में रुचि बचपन से थी। १९१७ में आप बी० एस-सी० करके लखनऊ मेडिकल कालेज में चले आये। उस समय लखनऊ मेडिकल कालेज की शिक्षा की दृष्टि

से बहुत प्रसिद्धि थी। यहाँ पर कर्नल मैगौक जैसे विद्वान् अध्यापन करते थे। आपने यह शिक्षा १९२२ में सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण की। इसके पीछे तुरन्त ही महामना मालवीयजी के निमंत्रण पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आ गये। यहाँ पर आपने ६० वर्ष की अवस्था (१९५७ ईसवी) तक बड़ी प्रतिष्ठा के साथ आयुर्वेद कालेज में काम किया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज की इस उन्नति या प्रतिष्ठा का जो श्रेय है, उसकी नींव में आपका श्रम और लगन है। बहुत से प्रलोभन आने पर भी आप यहीं स्थिर रहे, दूसरों की भाँति आर्थिक लाभ को प्रधानता न देकर आयुर्वेद शिक्षा को जो महत्त्व दिया, वह आपके लिए गौरव की बात है। ज्ञान का विकास होने से आप आयुर्वेद की बात को बिना समझे, अन्धविश्वास तथा केवल पोथी में, संस्कृत में लिखा है, इसलिए स्वीकार नहीं करते थे। इस सत्यता के कारण कुछ लोग आपको आयुर्वेद का अहितकारी, आयुर्वेद के प्रति द्वेष बुद्धिवाला कहते थे। परन्तु उस वर्ग के प्रति आपके द्वारा की हुई साहित्यसेवा एक बलवान् उत्तर है। आपने बड़ी-बड़ी दस पुस्तकें लिखी हैं, जो बहुत उपयोगी हैं। इनकी पृष्ठसंख्या कोई आठ हजार के ऊपर है। कार्य में इतना व्यस्त रहकर, इतने उत्तरदायित्व का बोझ ढोते हुए, इतना महत्त्वपूर्ण साहित्य निर्माण करना आश्चर्य और प्रशंसा की बात है। आप उत्तम अध्यापक, प्रबन्धक होने के साथ-साथ योग्य शल्यचिकित्सक भी थे। आपने बनारस में शल्यकर्म का अधिक विस्तार किया। इसके लिए शहर में अपना क्लिनिक खोला, जिससे नागरिक लाभ उठा सकें। आपने योग्य शिष्यों में श्री पी० जे० देशपांडे को तैयार किया, जो एक अच्छे शल्यवैद्य हैं।

आपके द्वारा प्रस्तुत साहित्य यह है—१—मानवशरीररहस्य, पृष्ठसंख्या ७०० (हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग से पुरस्कृत); २—स्वास्थ्यविज्ञान, पृष्ठसंख्या ९०० (यह पुस्तक अपने विषय की उत्तम मानी गयी, अतः हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से इस पर मंगलाप्रसाद पारितोषक प्रदान किया गया); ३—मानव शरीररचना विज्ञान, पृष्ठ ४०८, चित्र संख्या ३६० (यह पुस्तक शरीर-रचना विषय की प्रथम थी। दुःख है कि इसका पहला भाग ही प्रकाशित हुआ है); ४—संक्षिप्त शल्य-विज्ञान, पृष्ठसंख्या ४०० (इस पर नागरी प्रचारिणी सभा काशी से रेडिचे पदक तथा पुरस्कार मिला है); ५—स्वास्थ्यप्रदीपिका, पृष्ठसंख्या २५० (स्कूलों में मैट्रिक के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी); ६—स्वास्थ्यपरिचय, यह इण्टर मीडिएट के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है); ७—शारीरप्रदीपिका (इण्टर मीडिएट के विद्यार्थियों के लिए शरीर क्रियाविज्ञान (फिजिओलॉजी) के लिए महत्त्वपूर्ण); ८—

शिशुसंरक्षण (इण्टर मीडिएट की पाठ्य पुस्तक रूप में स्वीकृत); ९---शल्यप्रदीपिका, पृष्ठसंख्या ९००, चित्र ३५० (इसमें शल्य तंत्र का विषय क्रियात्मक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से सरलता के साथ वर्णित है, अपने विषय की पहली पुस्तक है)।

डाक्टर शिवनाथजी खन्ना---आपका जन्म काशी में १९०५ ईसवी में हुआ था। आपके पिता श्री माधवप्रसादजी खन्ना काशी आर्यसमाज तथा नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापकों में थे। इसी से उस समय के प्रसिद्ध साहित्यसेवी श्री राय कृष्णदास-जी के साथ आपकी अतिशय घनिष्ठता और स्नेह है।

श्री खन्ना शान्त तथा चुपचाप काम करनेवाले व्यक्ति हैं। आप गुण को लेने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं। आपका लिखा रोगनिवारण बृहत् ग्रन्थ इस बात का प्रमाण है, आपने इसमें आयुर्वेदचिकित्सा का बहुत ही उत्तम रीति से समावेश किया है।

आपने बिहार में दस वर्ष तक स्वास्थ्यविभाग में सेवाकार्य करके पर्याप्त अनुभव प्राप्त किया। इस समय आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उच्च पद पर कार्य कर रहे हैं। आपकी लिखी तीन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। ये तीनों पुस्तकें बहुत महत्त्वपूर्ण और उपयोगी हैं---

१---रोगीपरीक्षा, यह पुस्तक रोगी की जाँच के सम्बन्ध में लिखी गयी है। अपने विषय की यह पहली पुस्तक है। इसमें पारिभाषिक शब्द हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में दिये हैं। यही परिपाटी डाक्टर खन्नाजी ने अपनी शेष पुस्तकों में भी बरती है। २---रोगपरिचय, यह पुस्तक सरल तथा उत्तम रूप से विषय का प्रतिपादन करनेवाली है। ३---रोगनिवारण, यह पुस्तक चिकित्सा विषयक है, इसमें चिकित्सा के साथ साथ अंग्रेजी चिकित्सा के ढंग पर विकृति-विज्ञान भी दिया है। ये तीनों पुस्तकें उत्तर प्रदेश की आयुर्वेदिक अकादमी से पुरस्कृत हुई हैं। ४---रोगविनिश्चय पुस्तक प्रेस में छप रही है, जो रोग के निदान के सम्बन्ध में है।

इस प्रकार से डाक्टर मुकुन्दस्वरूप वर्मा ने शल्यतंत्र को अपनाया तो डाक्टर शिव-नाथ खन्ना ने कायचिकित्सा को अपनाकर आयुर्वेद को समृद्ध किया।

डाक्टर भास्कर गोविन्द घाणेकर---आप सतारा के रहनेवाले थे और चालीस दिन की पदल यात्रा करके काशी आये थे। आपके सिद्धान्त सच्चे और स्थिर थे, जिन पर स्वयं चलते थे, और चाहते थे कि उनके साथ व्यवहार करनेवाले भी उसी प्रकार से उनका पालन करें।

आपने आयुर्वेदिक कालेज में (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में) लम्बे समय तक कार्य किया है, अध्यापन कार्य करते समय कभी भी अवकाश नहीं लिया। विद्यार्थियों के प्रति आपका सहज प्रेम था, इसी से वे आपके सामने सम्पूर्ण चंचलता भूल जाते थे। आपने जो साहित्य निर्माण किया, वह अनुपम है। आपके कुछ सिद्धान्त थे, आपने उन्हीं के अनुसार अपनी पुस्तकों में शब्दावली दी है। नयी होने से यह अधिक प्रिय नहीं बनी, फिर भी आपने इस परम्परा को चलाया। आज भले ही हम इसके प्रति उदासीन रहें, परन्तु समय इस परिश्रम की सच्ची कीमत आंकेगा। आपका सबसे प्रथम साहित्यिक कार्य सुश्रुतसंहिता की हिन्दी व्याख्या है। यह ऐसी कृति थी, जिसने आपको आयुर्वेद जगत् में चमका दिया। अभी तक केवल कविराज गणनाथ सेनजी का प्रत्यक्षशारीरम् इस सम्बन्ध में था। कविराजजी ने कहा था कि "शारीरे सुश्रुतो नष्ट:", यह स्थिति प्राचीन शरीरविज्ञान की है। आपने इस पर अभ्यास करके आयुर्वेद का जोरदार समर्थन करने के लिए इसकी व्याख्या लिखी। आपने वक्तव्य तथा विशेष वचन देकर अनुवाद की एक नयी परम्परा चलायी।

बाद में आपने स्वतंत्र साहित्य तैयार करके उसका स्वतः प्रकाशन करना ही उत्तम समझा, जिसमें आप किसी के ऊपर आश्रित न रहें। इस मार्ग में आपने आयुर्वेद की अपूर्व सेवा की है। आपका प्रस्तुत साहित्य निम्न है—

१—औपसर्गिक रोग, यह पुस्तक दो भागों में है। इसमें आपने संक्रामक रोगों का विस्तृत उल्लेख पाश्चात्य पद्धति की चिकित्सा के आधार पर किया है। जहाँ पर आपको उचित प्रतीत हुआ आपने आयुर्वेद के वचन भी दिये हैं। २—रक्त के रोग, इसमें भी पद्धति वही बरती है, इसमें रक्त से सम्बन्धित रोगों की व्याख्या है। ३—मूत्र के रोग, इसमें भी वही लेखनपद्धति अपनायी है। ये तीनों पुस्तकें कायचिकित्सा के लिए प्रशंसनीय हैं। आयुर्वेदिक तिब्ब अकादमी (उत्तर प्रदेश) ने इनको पुरस्कृत किया है। ४—जीवाणुविज्ञान, इसमें जीवाणुओं का उल्लेख है, एक प्रकार से पैथोलोजी की उत्तम पुस्तक है। इस पुस्तक की विशेषता यह है कि इसमें पारिभाषिक शब्द भारतीय दिये हैं। ये शब्द नये बननेवाले शब्दकोशों से लिये गये हैं। ५—स्वास्थ्यविज्ञान, यह पुस्तक आयुर्वेदिक कालेजों में हाईजीन पढ़ाने के लिए उत्तम है। ६—स्वास्थ्य-शिक्षा पाठावली, छोटी परन्तु उपयोगी कृति है, यह जन-सामान्य की दृष्टि से लिखी गयी है, जिससे आयुर्वेदवर्णित स्वास्थ्य के नियमों का प्रचार हो सके। इसके सिवाय अंग्रेजी में भी दो पुस्तकें आपने लिखी हैं।

आपको काशीवास प्रिय था, आपको अपने नियम, सिद्धान्त, वचन का पूरा

विश्वास था, इसलिए जीवन में एक से एक बड़े आर्थिक लाभवाले पदों का प्रलोभन आने पर भी आप अपनी धुरी से जरा भी नहीं हिले। आपने अपना कार्यकाल एक ही रेखा पर चलकर पूरा किया। इसी से आप आज भी सम्मान के साथ याद किये जाते हैं। आपने अपने व्यय से हिन्दू विश्वविद्यालय में मारुतिमन्दिर की स्थापना की थी। आपको अपनी संस्कृति—हिन्दू धर्म पर पूरी आस्था थी और दृढ़ता से उसका पालन करते थे, चाहते थे कि दूसरे भी उसे अपनायें। इसके लिए आप किसी पर भी जबरदस्ती या आग्रह नहीं करते थे। इस प्रकार का तपस्वी जीवन एक लम्बे समय तक उक्त विश्वविद्यालय में आयुर्वेद का काम करते हुए व्यतीत कर आप सन् १९५७ म सेवा-कार्य से निवृत्त हुए।

डाक्टर आशानन्द पंचरत्न—आप पंजाब के डेरा गाजीखाँ के रहनेवाले हैं। आपने लाहौर के मेडिकल कालेज से पाश्चात्य शिक्षा का उच्च ज्ञान प्राप्त किया था। बाद में आपने लाहौर को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। आपको हिन्दी से विशेष प्रेम था। आपने अध्यापन कार्य आर्यसमाज की प्रसिद्ध संस्था डी० ए० वी० कालेज लाहौर के आयुर्वेदिक कालेज से प्रारम्भ किया। आप वहाँ वाइस प्रिंसिपल के रूप में कार्य करते थे। यह कार्य करते हुए आपने विद्यार्थियों की कठिनाइयों को समझा, इसी से हिन्दी में साहित्य तैयार करना प्रारम्भ किया। बाद में आपकी नियुक्ति पोद्दार आयुर्वेदकि कालेज बम्बई में हो गयी। यहाँ आप प्रिंसिपल तथा सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद पर कॉलेज और अस्पताल में कार्य करते थे। सेवा की अवधि पूरी होने पर आप निवृत्त हुए।

फिर कुछ समय हैदराबाद (दक्षिण) के और जामनगर के आयुर्वेदिक कॉलेजों में रहकर अब पीलीभीत के आयुर्वेदिक कॉलेज में प्रिन्सिपल रूप से कार्य कर रहे हैं।

आपकी लिखी व्याधिविज्ञान, आधुनिक चिकित्साविज्ञान तथा रोगी-परीक्षा ये पुस्तकें हैं। इनमें व्याधिविज्ञान तथा चिकित्साविज्ञान ये पुस्तकें दो-दो भागों में समाप्त हुई हैं। इनमें आपने पाश्चात्य चिकित्सा के साथ आयुर्वेद चिकित्सा का भी निर्देश किया है। पुस्तकों की भाषा सरल है, पारिभाषिक शब्दावली प्रायः परिचित है, विषय का विस्तार बहुत नहीं है, इसलिए विद्यार्थियों के लिए ये उपयोगी एवं सुलभ सिद्ध हुई हैं।

डाक्टर प्रसादीलाल—आपने विद्यापीठ की आयुर्वेदाचार्य परीक्षा दी थी। विद्यापीठ और आयुर्वेद महासम्मेलन से आपका बहुत निकट का सम्पर्क रहा है। आपने प्रसूति विषय पर एक पुस्तक हिन्दी में लिखी थी। आप अपना व्यवसाय करते हुए भी आयुर्वेद पाठशाला में डाक्टरी शिक्षा निःस्वार्थ भाव से देते थे।

सुव्यवस्थित रूप से आप काम कर सकते हैं। विषय की तह तक पहुँचना, उसे क्रम से सजाना, उसकी गवेषणा करना आदि बारीकियाँ आपकी अद्भुत हैं।

चित्र का दूसरा पहलू

पाश्चात्य चिकित्सा के विद्वान् डाक्टरों ने आयुर्वेद शिक्षा में पर्याप्त सहयोग दिया है; इसमें कोई भी सन्देह नहीं। यह सहयोग बहुत कुछ निःस्वार्थ भावना से ही हुआ है। उनकी यह हार्दिक इच्छा रही कि ये वैद्य भी पाश्चात्य विज्ञान को सीखकर लाभ उठायें। इसी भावना से श्री त्रिलोकीनाथ वर्मा ने हिन्दी में हमारे शरीर की रचना (१९१८ में) छापी, गुजराती में भी राजकोट से एक डाक्टर ने इस प्रकार की पुस्तक प्रकाशित की। बम्बई के प्रसिद्ध डाक्टर चमनलाल मेहता ने प्रसूति शास्त्र हिन्दी में प्रकाशित किया। श्री डाक्टर गुजराल ने मॉडर्न मेडिकल ट्रीटमेंट का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया।

परन्तु पीछे से इस कार्य में धनोपार्जन की बुद्धि भी आ गयी। इस वर्ग ने यह समझ लिया कि वैद्य लोग केवल संस्कृत के पण्डित हैं, इनको सामान्य बातों का भी ज्ञान नहीं, इसलिए हिंदी में जो भी हम लिख देंगे वह निश्चित चलेगा,और वह चला भी, बिका भी। ये विद्वान् डाक्टरी की उपाधि तो अंग्रेजी में लेते हैं, उसकी प्रैक्टिस करते हैं, परन्तु लिखने या गवेषणा के लिए उस क्षेत्र से भागकर आयुर्वेद में आते हैं। वे जानते हैं कि यह ऐसा समाज है कि इसमें जरा-सा चमत्कार दिखाने पर प्रतिष्ठा मिल जायगी। उनका समझना सत्य भी हुआ। आयुर्वेद क्षेत्र में डाक्टरों को जो सम्मान-प्रतिष्ठा मिली, उन्हें अपने क्षेत्र में वह मिलती; इसमें सन्देह है। वैद्य भी, जो अंग्रेजी में धारा-प्रवाह बोलता है, उसी की मान-प्रतिष्ठा करते हैं, उसे ही बार-बार सभापति बनाते हैं। सत्य भी है, वैद्यों के पास अपना कुछ है भी नहीं; उनका कोई अस्तित्व नहीं। केवल पुरानी पोथी, जाति का गर्व, वाद-विवाद, ईर्ष्या बस यही इनका ऐश्वर्य या मिलकियत है। इसलिए ऐसे समाज को उन्होंने धन-यश कमाने के लिए चुनकर अपने लिए कुछ बुरा नहीं किया। वैद्य भी तो डाक्टर का वेश धारण करते हैं कि वे डाक्टर समझे जायें। परन्तु इससे लाभ भी हुआ, वैद्यों की आँखें खुलीं, और उनमें लार्ड मैकाले की शिक्षा के अनुसार नवीन विषयों की जिज्ञासा जागी। इसी लिए ये अब आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के प्रति उदासीन नहीं रहना चाहते, जो समयानुसार उचित भी है। इसकी प्रेरणा डाक्टरों की सेवा से मिली, इसमें दो मत नहीं हैं।

बाईसवां अध्याय

आयुर्वेद के स्नातकों द्वारा प्रस्तुत साहित्य

डाक्टरों और वैद्यों को छोड़कर संस्थाओं से निकले स्नातकों ने भी प्रचुर मात्रा में आयुर्वेद साहित्य का निर्माण किया। इनके श्रम का मूल्यांकन भावी पीढ़ी के लिए उपयोगी होगा, इसलिए इनके कार्य का उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है।

सर्वश्री जयदेव विद्यालंकार, विद्याधर विद्यालंकार, अत्रिदेव विद्यालंकार, रमेश वेदी आयुर्वेदालंकार, सत्यपाल आयुर्वेदालंकार, राजेश्वरदत्त शास्त्री, प्रियव्रत शर्मा, दामोदर शर्मा, रामसुशील सिंह, महेन्द्रकुमार शास्त्री आदि का विवरण आगे "आयुर्वेद महाविद्यालय" शीर्षक प्रकरण में दिया गया है, कुछ अन्य लोगों की चर्चा यहाँ की जा रही है।

श्री रणजीतराय देसाई आयुर्वेदालंकार—आपने पहले **शरीरक्रियाविज्ञान** पुस्तक हिन्दी में लिखी, यह पुस्तक अपने विषय की नयी रचना थी। इसमें आपने पारिभाषिक शब्द बहुत ही सुन्दर बनाये, पाश्चात्य विषय को आयुर्वेद के सांचे में सुन्दरता से उतारा है। पाठक को लगता है मानो आयुर्वेद की पुस्तक पढ़ रहा है।

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान—इस विषय की अभी तक प्रकाशित पुस्तकों में सबसे अच्छी और सरल पुस्तक है। **हितोपदेश**—आयुर्वेद ग्रन्थों से सुन्दर और ललित वचन संगृहीत करके इसका संकलन किया है। इसका नाम सार्थक ही है। इसमें संस्कृत वचनों का हिन्दी अनुवाद भी दिया है। **निदानहस्तामलक चिकित्सा**—इस विषय के लेख पहले पत्रिका में (सचित्र आयुर्वेद में) प्रकाशित हुए हैं, इनको पुनः सम्पादित करके पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया है। इसमें आयुर्वेद के विषय एवं आयुर्वेद की दृष्टि का पूरा ध्यान रखा गया है। देसाईजी ने मल्लिनाथ के प्रसिद्ध वचन "नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षितमुच्यते"—का उद्धरण देते हुए इस पुस्तक में इसे निभाने का यत्न किया है।

श्री सत्यपाल आयुर्वेदालंकार—काश्यप संहिता का आपने हिन्दी अनुवाद किया है, इस अनुवाद में आयुर्वेद ग्रन्थों के प्रमाण देकर इसकी उपयोगिता बढ़ा दी है।

श्री विश्वनाथ द्विवेदी शास्त्राचार्य—आपकी लिखी पुस्तकों का परिचय यह है—१—**वैद्यसहचर** उत्तम पुस्तक है; वैद्यों को चिकित्सा क्षेत्र में उतरते समय योग्य सहारे का काम देगी। २—**प्रत्यक्ष औषधिनिर्माण** पुस्तक क्रियात्मक दृष्टि से लिखी है; विद्यार्थियों को इस कार्य में जो कठिनाइयाँ आती हैं, उनको सरल बनाने के लिए यह पुस्तिका उपयोगी है। ३—**नेत्ररोगविज्ञान**, इसमें बहुत से नुस्खे लोगों से सुने हुए दिये हैं। विषय का प्रत्यक्षीकरण सम्भवतः नहीं हुआ, इसलिए पहली दो पुस्तकों जैसी विशदता इसमें नहीं दीखती। इनके अतिरिक्त **त्रिदोषालोक, तैलसंग्रह** ये पुस्तकें भी लेखक की हैं। आयुर्वेद में जो तैल प्रायः बरते जाते हैं, उनकी निर्माण-विधि, तैल-साधन नियम आदि इसमें दिये हैं।

श्री शिवदत्तजी शुक्ल एम० ए०, ए० एम० एस०—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद कालेज में आपने एक लम्बे समय तक द्रव्यगुण विषय को पढ़ाया है। आयुर्वेद का यह दुर्भाग्य रहा कि वह आपके अनुपम ज्ञान को पुस्तकाकार पूर्णरूप में अभी तक नहीं देख सका। आपने एक इण्टरव्यू से अव्यवहित पूर्व **'द्रव्यगणमंजूषा'** नाम की पुस्तक के कुछ फार्म (सम्भवतः चार फार्म-६४ पृष्ठ) छपवाये थे। इसके पीछे इसका प्रकाशन अभी तक पूरा नहीं हुआ। आपने इसमें श्लोक स्वयं बनाये हैं।

श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए० एम० एस०—आपने कई पुस्तकें लिखी हैं। इनमें **कौमारभृत्य** कृति आधुनिक और प्राचीन चिकित्सा प्रणाली के अनुसार लिखी है। इस विषय की एक साथ जानकारी इसमें मिलती है। **राजकीय औषधियोगसंग्रह** और **राष्ट्रीय चिकित्सा-सिद्धयोगसंग्रह**—ये दोनों पुस्तकें योगों का संग्रह हैं। इनमें आयुर्वेद के प्रसिद्ध योगों के निर्माण की प्रक्रिया दी है। **अभिनव विकृतिविज्ञान**—यह पुस्तक लगभग १,००० पृष्ठों की है। हिन्दी में अपने विषय की पहली पुस्तक है। इसमें वर्तमान पैथोलोजी विषय को सरल बनाकर प्रस्तुत करने का यत्न किया है। स्थान स्थान पर आयुर्वेद के वचन भी दिये हैं।

श्री पी० जे० देशपांडे ए० एम० एस०—आपने **शल्यतंत्र में रोगीपरीक्षा** नामक पुस्तक बहुत योग्यता से लिखी है। अपने विषय की यह पहली पुस्तक है।

श्री लक्ष्मीशंकर विश्वनाथ गुरु ए० एम० एस०—आप नवयुवक हैं, आपने शरीर रचना पढ़ाते समय विद्यार्थियों की कठिनाई का अनुभव करके **गर्भस्थ शिशु की कहानी** नाम से 'एम्ब्रोलिजी' विषय को हिन्दी में लिखा है। लिखने में यद्यपि पाश्चात्य पद्धति को अपनाया है, परन्तु साथ-साथ आयुर्वेद के वचन भी दिये हैं।

श्री अम्बिकादत्त व्यास ए० एम० एस०—आपके द्वारा निम्न पुस्तकों का

अनुवाद हुआ है—सुश्रुत संहिता—सूत्र, निदान, शारीर स्थान; भैषज्यरत्नावली; रसेन्द्रसार संग्रह, रसरत्नसमुच्चय।

श्री शिवदयाल गुप्त ए० एम० एस०—आपने नेत्ररोगविज्ञान, मैटेरिया मेडिका, धात्रीविज्ञान आदि पुस्तकें पाश्चात्य चिकित्सा के आधार पर लिखी हैं।

श्री सुदर्शन ए० एम० एस०—आपने माधवनिदान का हिन्दी अनुवाद किया है, इसमें मुख्य रूप से विमर्श लिखकर आधुनिक चिकित्सा का भी उल्लेख किया है। अनुवाद सामयिक है। **श्री यदुनन्दन उपाध्यायजी** ने इसे परिष्कृत किया, ऐसा इसकी भूमिका से पता चला है। इसके परिष्कार में श्री शिवदत्त शुक्लजी आदि से आपको सहायता मिली, जिसके कारण यह उत्तम और सुव्यवस्थित बन सका।

श्री गंगासहाय पाण्डेय ए० एम० एस०—आपने सिद्धभैषज्यसंग्रह तथा भाव-प्रकाश निघण्टु का क्रमशः सम्पादन और परिष्कार किया है। स्वतंत्र पुस्तक आपकी अभी प्रकाशित नहीं हुई। इनमें कितना अंश आपका है और कितना मूल लेखक का या अनुवादक का है, यह पता नहीं चलता। फिर भी कुछ नवीनता सम्भव है।

श्री रमानाथ द्विवेदी एम० ए०, ए० एम० एस०—आपने एक नयी सरणी पुस्तक लेखन में चलायी, जो कि आधुनिक समय के अनुकूल और उपयोगी है। इस पद्धति से तैयार की हुई पुस्तकें विद्यार्थियों के लिए उत्तम ज्ञान देनेवाली हैं। इनका सबसे बड़ा लाभ समय की बचत है। एक ही व्यक्ति पाश्चात्य चिकित्सा और आयुर्वेद को एक ही पुस्तक की सहायता से पढ़ सकता है। जो लोग आयुर्वेद को चरक-सुश्रुत आदि संहिताओं के अन्दर ही जकड़ा मानते हैं, सम्भवतः उनको यह कार्य अनुकूल न लगे। परन्तु जो अत्रिपुत्र के 'तदेव युक्तं भैषज्यं यदा-रोग्याय कल्पते'—इस सिद्धान्त को मानते हैं, उनके लिए ये पुस्तकें प्रशंसनीय एवं महत्त्वपूर्ण हैं—

सौश्रुती—इसके नाम से ही इसका विषय स्पष्ट है, इसमें सुश्रुत संहिता का शल्य-तंत्र पृथक् रूप से हिन्दी में लिखा है। इस प्रकार से लिखने में विषय का सिलसिला सरल हो गया है। शल्य विषय जो भिन्न-भिन्न अध्यायों में एक निश्चित क्रम से नहीं वर्णित था, उसे क्रम से पूर्वापर सम्बन्ध के साथ कहानी के रूप में लिख दिया गया है (जिस प्रकार से नीति विद्या का पंचतंत्र में वर्णन किया है)। इससे भले ही विद्यार्थी संस्कृत के वचन स्मरण न कर सके. परन्तु उसके विषय से बहुत सरलतापूर्वक परिचित हो जाता है।

प्रसूतिविज्ञान—यह पुस्तक आपको बहुत प्रतिष्ठा देनेवाली है, इसमें पूर्व

प्रकाशित पुस्तकों से बहुत अधिक सामग्री है। शालाक्यतंत्र—इसमें आयुर्वेद में वर्णित शालाक्य शास्त्र के रोगों को आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा के साथ तुलना करके लिखा है। इसमें दोनों सरणियों की चिकित्सा लिखी है। विषय को सरल बनाने के लिए संक्षेप में परन्तु आवश्यकतानुसार वचन भी दिये हैं। स्त्रीरोगविज्ञान—इसमें आधुनिक विषय बहुत ही सरलता से समझाया है, आयुर्वेद के वचन भी साथ-साथ में दिये हैं। अगदतंत्र—यह छोटी-सी पुस्तिका है, इसमें प्राचीन विषयों का वर्णन किया है। बालचिकित्सा—इसमें बालकों के लालन-पालन तथा उनकी चिकित्सा का उल्लेख दोनों पद्धतियों से किया है। पेटेन्ट मेडिसिन—इसकी जरूरत आज बहुत थी। आयुर्वेद विद्यालय से निकले स्नातकों को व्यवहार में लाने की दृष्टि से विलायती कम्पनियों की बनायी औषधियों का परिचय कराने के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। इससे पता चल जाता है कि किस रोग में कौन-कौन-सी पेटेन्ट औषधियाँ बरती जाती हैं, उन्हें किस-किस कम्पनी ने किस किस नाम से बनाया है।

इन लेखकों के अतिरिक्त श्री रमेशचन्द्र ने कर्णचिकित्सा, इंजेक्शन चिकित्सा आदि पुस्तकें लिखी हैं। ठाकुर दलजीत सिंह ने यूनानी द्रव्यगुण तथा यूनानी चिकित्सा की कई पुस्तकें हिन्दी में लिखी हैं। श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य की भाँति जन-कल्याण के लिए उसको बरतना चाहिए; उसका अध्ययन करके आयुर्वेद में उसका समावेश करना आवश्यक और उपयोगी है। आज हम पाश्चात्य चिकित्सा की तरफ जितने झुके हैं, उसके साथ समन्वय करना चाहते हैं; उससे अधिक यह यूनानी चिकित्सा हमारे बहुत नजदीक की है। इसका द्रव्यगुण तो हमारे साथ मेल खाता है। इसका औषधज्ञान आयुर्वेद के निघण्टु की अपेक्षा परिष्कृत, विस्तृत और जाना हुआ है। दुःख है कि हम लोग इसे नहीं अपना सके। यही कारण है कि बारहवीं शती से लेकर आज तक यह ज्ञान पृथक् रहा। यदि मुसलमानों के राज्यकाल में इसे मिला लिया जाता तो आज आयुर्वेद का पर्याप्त विकास हो जाता; उसका दूसरा रूप ही होता। इस क्षेत्र में हकीम मंजारराय ने भी कार्य किया है, आपने भी यूनानी चिकित्सासागर और यूनानी तिब्ब की फार्माकोपिया पुस्तकें हिन्दी में लिखी हैं।

श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी एम० एस-सी० ने रसरत्नसमुच्चय के एक भाग का हिन्दी अनुवाद बहुत प्रामाणिकता तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया था। इसमें आपने अपने विज्ञान के ज्ञान का पूर्ण उपयोग किया; सारा रसशास्त्र आपने इसी दृष्टिकोण से देखा है। यद्यपि मेरी मान्यता है कि वर्तमान कैमिस्ट्री के साथ प्राचीन रसशास्त्र का कोई मेल नहीं, दोनों ही ज्ञानों का दृष्टिकोण भिन्न है,

उनकी प्रक्रिया में भेद है, दोनों का उद्देश्य भिन्न है। वर्तमान कैमिस्ट्री का उद्देश्य, चरम लक्ष्य क्या है, यह किसी को पता नहीं; परन्तु भारतीय रसशास्त्र का चरम लक्ष्य स्पष्ट है—शरीर को अजर-अमर बनाना। इसलिए दोनों को मिलाना उसी प्रकार है कि कवि का नाम धावक देखकर उसे धोबी या भगोड़ा समझना।

श्री ठाकुर बलवन्त सिंह एम० एस-सी०—आपने प्रारम्भिक उद्भिद् (वनस्पति) शास्त्र पुस्तक लिखी है। वनस्पति शास्त्र पर सबसे पहली पुस्तक सन् १९१४ में हिन्दी में गुरुकुल कांगड़ी के प्राध्यापक श्री महेशचरण सिंह ने लिखी थी। ठाकुर साहब ने इसे नये दृष्टिकोण से हिन्दी में लिखा है, इसमें आयुर्वेदिक वनस्पतियों के उदाहरण दिये हैं। इसके सिवाय बिहार की वनस्पतियों के सम्बन्ध में भी एक पुस्तक आपने लिखी है।

श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री आयुर्वेदाचार्य—आपने लघु द्रव्यगुणादर्श तथा आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास लिखा है। यह इतिहास श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री के आयुर्वेद-इतिहास (गुजराती) के आधार पर है, जो बहुत संक्षिप्त है। लघु द्रव्यगुणादर्श पुस्तक में द्रव्यगुण-रसशास्त्र को बहुत थोड़े से पृष्ठों में समाविष्ट कर दिया है, इससे विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। द्रव्यगुण पर विस्तृत पुस्तक भी लिखी है, जो अभी प्रकाशित नहीं है। आपका द्रव्यगुण विषय में बहुत रस है और उसके अच्छे ज्ञाता हैं।

श्री रामरक्ष पाठक—आपने दो तीन पुस्तकें लिखी हैं जो कि दूसरों की पुस्तकों के आधार पर हैं। पदार्थविज्ञान में आपकी हिन्दी दुरूह हो गयी है। मर्मविज्ञान भी एक अंग्रेजी पुस्तक का एक प्रकार से उल्था है।

डा० श्री रामलाल कपूर—आपने प्रसूतितंत्र सबसे प्रथम लिखा था, यह पुस्तक अंग्रेजी की मिड्वाइफरी का सुन्दर अनुवाद था। विद्यार्थियों में तथा अध्यापकों में इसका अच्छा प्रचार हुआ। इसके पीछे रोगीपरिचर्या पुस्तक लिखी। ये पुस्तकें शुद्ध पाश्चात्य चिकित्सा से सम्बन्धित हैं।

इस प्रकार हिन्दी में भी पाश्चात्य चिकित्सा सम्बन्धी, आयुर्वेद सम्बन्धी दोनों का समन्वयात्मक साहित्य पूर्ण रूप से मिलता है। अब हिन्दी में उच्च श्रेणी का साहित्य भी लिखा जा रहा है। यह साहित्य पाठ्यक्रम के लिए उपयोगी हो सकता है।

संस्कृत के मूल ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद बड़ी मात्रा में हो चुका है। इस कार्य का प्रारम्भ मथुरा पुरी के **श्री दत्तराम चौबे** तथा अन्य मनीषियों ने किया था। उनके ही प्रयत्न का फल है कि रसराजसुन्दर आदि ग्रन्थ हिन्दी में उपलब्ध हुए। जहाँ तक मेरा ज्ञान है, हिन्दी में आयुर्वेद साहित्य सब भाषाओं से अधिक है; इसके

पीछे बँगला, मराठी है। कुछ थोड़े से ही प्रकाशित चालू ग्रन्थ होंगे जो कि हिन्दी अनुवाद के बिना रह गये।

आयुर्वेद साहित्य को **श्री भूदेव मुकर्जी** ने तथा **गिरीन्द्रनाथ मुकर्जी** ने अपने ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखकर नयी प्रेरणा दी है। **डा० विष्णु महादेव भट्ट** ने मराठी में पाश्चात्य और आयुर्वेद मत को मिलाकर **रोगविज्ञान** पुस्तक उत्तम रूप से प्रस्तुत की है। **श्री ए० पी० ओगले** का चिकित्साप्रभाकर मराठी का उत्तम ग्रन्थ है। यह बहुत विस्तृत और पूर्ण जानकारी चिकित्सा के सम्बन्ध में करवाता था। संस्कृत में **श्री विश्वनाथ गोखले** का चिकित्साप्रदीप तथा **सी० जी० काशीकर** का लिखा **पदार्थविज्ञान** बहुत उत्तम एवं आयुर्वेद के प्रशंसनीय ग्रन्थ हैं।

गुजराती में सामान्य जनता के लिए पर्याप्त साहित्य तैयार है, इसमें सामयिक साहित्य **श्री गोपालजी कुंवरजी ठक्कर** मालिक सिन्ध आयुर्वेदिक फार्मेसी; **श्री जयशंकर लीलाधर** ने तैयार किया। **श्री बापालाल गड़बड़शाह** तथा **प्रभुदास**— प्रिन्सिपल शुद्ध आयुर्वेदिक कालेज, नड़ियाद ने उत्तम उपयोगी साहित्य गुजराती को दिया है। यह साहित्य हिन्दी के लिए भी उपयोगी है। इस समय **चन्द्रशेखर गोपालजी** ठक्कर सरल साहित्य लिख रहे हैं।

बँगला में **श्री अमृतलाल गुप्त** की आयुर्वेदशिक्षा, **श्री रामचन्द्र विद्याविनोद** का आयुर्वेदसोपान, **श्री राखालचन्द्र दत्त वैद्यशास्त्री** का फलितचिकित्साविधान आदि पुस्तकें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। बँगला में प्रायः सब आयुर्वेद साहित्य अनूदित हो चुका है। इस समय **श्री प्रभाकर चटर्जी एम० ए०** आयुर्वेद की सेवा कर रहे हैं।

जहाँ तक पाश्चात्य चिकित्सा के ज्ञान की आवश्यकता आयुर्वेद के लिए है, वहाँ तक का साहित्य क्षेत्रीय भाषाओं में अथवा हिन्दी में पूर्णतः उपलब्ध है। इससे आगे पाश्चात्य चिकित्सा का अध्ययन आयुर्वेद की दृष्टि से हानिप्रद रहेगा। इतने प्रस्तुत साहित्य का आज उपयोग होने लगे तो भविष्य में और भी परिष्कार इस दिशा में हो जायगा। बर्तन माँजने से अधिक चमकता है।

तेईसवाँ अध्याय

आयुर्वेद साहित्य के प्रकाशक

खेमराज श्रीकृष्णदास——आपके दो प्रेस बम्बई में हैं; एक श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस खेतवाड़ी-बम्बई में और दूसरा श्री लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर प्रेस कल्याण-वम्बई में। आपने सबसे प्रथम आयुर्वेद साहित्य का प्रकाशन प्रारम्भ किया। यह प्रकाशन संस्कृत मूल तथा संस्कृत और हिन्दी दोनों के साथ हुआ। आपके यहाँ से आयुर्वेद ग्रन्थ तीन सौ के लगभग प्रकाशित हुए हैं; कोई ऐसी पुस्तक सम्भवतः नहीं बची जो उपलब्ध होने पर आपने न प्रकाशित की हो। पुस्तकें बिकीं नहीं, यह प्रश्न दूसरा है। साहित्य की दृष्टि से आपने इनका प्रकाशन किया है। आपका प्रकाशन सर्वथा पुरानी पद्धति का है। उसमें अभी तक समयानुसार कोई भी परिवर्त्तन आपने नहीं किया, इसलिए इस समय यह प्रकाशन अधिक लोकप्रिय नहीं रहा। आपके लेखकों में श्री दत्तराम चौबे, पं० ज्वालाप्रसाद, श्री रामप्रसादजी मुख्य हैं।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज——यह बनारस की प्राचीन संस्था है, संस्कृत पुस्तकों का प्रकाशन इस संस्था का अपना ध्येय है। आज से तीस-चालीस वर्ष पूर्व निर्णयसागर प्रेस और यह सीरीज़ ही संस्कृत पुस्तकों का प्रकाशन करती थीं। काशी संस्कृत विद्या एवं विद्वानों का घर होने से विद्यार्थी और अध्यापकों को इसकी आवश्यकता रहती थी। संस्था ने संस्कृत साहित्य, विशेषतः धर्मशास्त्र, व्याकरण, कर्मकाण्ड का प्रकाशन प्रारम्भ किया। आयुर्वेद के प्रकाशन की ओर इसकी अभिरुचि सन् १९२७ के लगभग हुई। संस्था के मालिक धीरे-धीरे इस कार्य में अग्रसर हुए। आपने श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य से 'काक-चण्डीश्वर तंत्र' प्राचीन ग्रन्थ लेकर उसे प्रकाशित किया।

देश-विभाजन के पीछे सन् १९४७ से इस प्रगति ने बहुत वेग पकड़ा। इसके आस-पास ही आपने सुश्रुतसंहिता, चरकसंहिता को मूल रूप में प्रकाशित किया था। साथ ही हिन्दी में आयुर्वेद ग्रन्थों का क्रम प्रारम्भ कर दिया। इस समय यह स्थिति है कि सम्भवतः कोई भी प्रचलित ग्रन्थ ऐसा नहीं जिसका हिन्दी या संस्कृत भाषान्तर

आपके यहाँ से प्रकाशित न हुआ हो। काश्यपसंहिता जैसे बड़े ग्रन्थ का प्रकाशन आपने हिन्दी में किया है। संस्कृत साहित्य का भी संस्था ने बहुत कार्य किया। संस्था से प्रकाशित आयुर्वेद ग्रन्थों में मुख्य ये हैं—

अष्टांगहृदय, भैषज्यरत्नावली, सुश्रुतसंहिता (आंशिक), भावप्रकाश, रसेन्द्रसार-संग्रह, रसरत्नसमुच्चय, परिभाषाप्रदीप तथा नवीन शैली की कौमारभृत्य, प्रसूतितंत्र, शालाक्यतंत्र, स्त्रीरोगविज्ञान, अभिनव विकृतिविज्ञान, द्रव्यगुणविज्ञान आदि।

कृष्णगोपाल संस्था—कालेड़ा बोगला, अजमेर—यह संस्था सन् १९३५ के आसपास प्रारम्भ हुई है। इसको प्रारम्भ करनेवाले जामनगर राज्य के श्री कृष्णानन्दजी स्वामी हैं। उन्होंने परिश्रम से औषधालय खोला, फिर उसके साथ-साथ प्रकाशन का काम प्रारम्भ किया। प्रथम आपने रसतंत्रसार—सिद्धयोगसंग्रह प्रकाशित किया; इसकी बिक्री बहुत अच्छी हुई, जनता ने इसे उदारता से अपनाया। इससे प्रेरित होकर आपने इसका दूसरा भाग, चिकित्साप्रदीप, गाँवों के अमूल्य रत्न (वृक्ष) आदि पुस्तकें प्रकाशित की हैं। इस संस्था के प्रकाशनों की अपनी विशेषता है। इस विशेषता के कारण जनता में आपकी पुस्तकें बहुत प्रचलित हैं; पढ़े-लिखे सामान्य जानकारीवाले शिक्षक, चिकित्सक, विद्यार्थी, सब इनका उपयोग मुक्तहस्त से कर रहे हैं। आयुर्वेद की चिकित्सा में इनसे बहुत सहायता मिल रही है।

वैद्यनाथ भवन लिमिटेड—यह संस्था मुख्यतः औषध निर्माण का काम करती है, परन्तु साथ ही पुस्तकों के प्रकाशन में भी सहयोग देती है। यह प्रकाशन विस्तार रूप में सम्भवतः श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य की प्रेरणा से विकसित हुआ है। आपके यहाँ से श्री रणजीतराय देसाई आयुर्वेदालंकार की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। श्री डाक्टर बालकृष्ण अमरसी पाठक का मानसरोग भी आपके यहाँ से निकला है। श्री यादवजी का सिद्धयोगसंग्रह भी यहीं से निकला है। इस पुस्तक का बहुत प्रचार हुआ, क्योंकि इसमें नुस्खे हैं और वैद्य लोगों की रुचि नुस्खेवाली पुस्तकों में बहुत रहती है। संस्था ने देसाई तथा पाठक के जो प्रकाशन किये हैं, वे संस्था और आयुर्वेद के लिए गौरव की चीज हैं।

लाहौर की दो संस्थाएँ—सन् १९४७ के देश-विभाजन से पूर्व लाहौर में मेहरचन्द लक्ष्मणदास और मोतीलाल बनारसीदास ये दो संस्थाएँ आयुर्वेद के प्रकाशनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थीं। दोनों संस्थाओं के पास-पास होने से इनमें स्पर्द्धा रहती थी, इससे आयुर्वेद के प्रकाशन को लाभ हुआ। इनमें मेहरचन्द लक्ष्मणदास ने चक्रदत्त का हिन्दी अनुवाद सदानन्द शर्मा का किया हुआ प्रकाशित किया था। यह अनुवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी हुआ। संस्कृत की टीका से अधिक इसका प्रचार

हुआ। इसके साथ ही सुश्रुत संहिता का हिन्दी अनुवाद श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर-जी का आपने प्रकाशित किया। इस प्रकाशन से आपकी ख्याति में चार चाँद लग गये। इससे अनुप्राणित होकर आपने श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी का लिखा रसरत्नसमुच्चय का एक भाग प्रकाशित किया, जो कि अपने ढंग का प्रथम था। इसके पीछे प्राचीन पुस्तक 'बावर पाण्डुलिपि' का नावनीतक छापा।

विभाजन के पीछे इस संस्था ने आयुर्वेद का प्रकाशन एक प्रकार से समाप्त कर दिया, अब दूसरे प्रकाशन में हाथ लगाया है। इस समय सुश्रुत का हिन्दी अनुवाद (सूत्रस्थान-निदानात्मक) श्री घाणेकरजी का तथा माधवनिदान हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है। ये दोनों अनुवाद बाजार में मिलनेवाले इनके अनुवादों से सस्ते और अच्छे हैं।

मोतीलाल बनारसीदास—लाहौर की प्राचीनतम संस्था है। इस संस्था का प्रारम्भ लाला मोतीलालजी जैन जौहरी ने १९०३ में अपने मकान में किया था। दुकान पर आपके सुपुत्र श्री सुन्दरलालजी अपना कुछ समय प्रारम्भ में देते रहे। पीछे आपने नौकरी करना पसन्द न करके इस काम को बढ़ाया। आपका सम्पर्क यूरोप या अमेरिका के विद्वानों से हुआ और वहाँ का साहित्य आपके द्वारा यहाँ सुलभ हुआ।

वैदिक साहित्य के पीछे आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्रकाशन की रुचि आपको लाहौर के प्रसिद्ध वैद्य कविराज श्री नरेन्द्रनाथ मित्रजी से हुई। उनका औषधालय आपकी दुकान के पास ही था। श्री मित्रजी ने शिष्यों से अपनी देखरेख में आयुर्वेद की पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद, उनके नये संस्करण एवं प्राचीन पुस्तकों का पुनः सम्पादन, नयी पुस्तकें लिखवाना प्रारम्भ किया।

आपने रसेन्द्रसारसंग्रह का हिन्दी अनुवाद एवं अष्टांग-हृदय को सर्वांगसुन्दर टीका के साथ तथा मूलरूप में छापकर आयुर्वेद ग्रन्थों के प्रकाशन का श्रीगणेश किया। फिर श्री जयदेव विद्यालंकार का भैषज्यरत्नावली का अनुवाद छापा। रसहृदय-तंत्र, रसेन्द्रचिन्तामणि, चक्रदत्त की शिवदास सेन टीका भी प्रकाशित हुईं। चरक संहिता का हिन्दी अनुवाद विद्यार्थी एवं अध्यापक दोनों के लिए उपयोगी है।

श्री अत्रिदेव विद्यालंकार द्वारा लिखित शल्यतंत्र एवं सुश्रुत का हिन्दी अनुवाद आपने छापा। चरकसंहिता की चक्रपाणिदत्त टीका को जैज्जट की टीका के साथ श्री हरिदत्तजी शास्त्री से सम्पादित कराकर प्रकाशित किया। योगरत्नाकर हिन्दी अनुवाद सबसे पहले आपने प्रकाशित किया था।

विभाजन के पीछे बनारस आकर आपने चरक, सुश्रुत, भैषज्यरत्नावली आदि

पुस्तकों का प्रकाशन करने के साथ अत्रिदेव विद्यालंकार की क्लिनिकल मेडिसिन प्रकाशित की, भावप्रकाश का हिन्दी अनुवाद सस्ते मूल्य पर जनता को दिया। आपके प्रकाशन उपयोगी होने के साथ सस्ते होते हैं। इसी से विद्यार्थी वर्ग उनको पसन्द करता है। दिल्ली में भी आपने इस कार्य का विस्तार किया है।

संस्कृत के प्रकाशक

इनमें मुख्य प्रकाशक निर्णयसागर प्रेस-बम्बई, आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला-पूना एवं जीवानन्द विद्यासागर-कलकत्ता हैं। निर्णयसागर प्रेस का प्रकाशन अपनी विशेषता लिये होता है। इसमें प्रकाशित पुस्तकों का सम्पादन मुख्यतः श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने बहुत योग्यता से किया है। अष्टांगहृदय का सम्पादन श्री हरिशास्त्री पराड़कर (अकोला-बरार) ने बहुत योग्यता से किया है। आयुर्वेद में हिन्दी अनुवाद अत्रिदेव विद्यालंकार कृत अष्टांगसंग्रह का और उन्हीं द्वारा लिखित 'हमारे भोजन की समस्या' का भी प्रकाशन किया है, पर सामान्यतः यह संस्था संस्कृत के प्रकाशन ही करती है। माधवनिदान का शुद्ध संस्करण श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने १८ वर्ष की अवस्था में इस संस्था से प्रकाशित करवाया था। चरकसंहिता—चक्रपाणिदत्त की व्याख्या सहित एवं मूल; सुश्रुतसंहिता—डल्हण की टीका के साथ एवं मूल; अष्टांगहृदय—अरुणदत्त और हेमाद्रि की टीका के साथ एवं मूल; शार्ङ्गधरसंहिता—टीका एवं मूल; माधव निदान—मधुकोश आतंकदर्पण सहित तथा योगरत्नाकर मूल भी प्रकाशित हुए हैं।

आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला-पूना ने आयुर्वेद तथा अन्य विषयों की पुस्तकें मोटे टाइप में मूलरूप में प्रकाशित की हैं। इस संस्था से योगरत्नाकर, हस्त्यायुर्वेद—पालकाप्य मुनि का बनाया, अश्ववैद्यक, अष्टांगसंग्रह मूल आदि ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

जीवानन्द विद्यासागर—कलकत्ते की पुरानी संस्था है। इसमें आयुर्वेद, साहित्य, पुराण, धर्मग्रन्थ आदि सब विषयों की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। चरकसंहिता के चिकित्सा स्थान के अध्यायों में क्रमभेद जो आज मिल रहा है वह इसके प्रकाशित तथा निर्णयसागर से प्रकाशित भेद के कारण है। दुःख है कि आज तक इसका कुछ भी निर्णय नहीं हुआ। बंगाल में प्रसिद्ध प्रायः सब ग्रन्थों का देवनागरी लिपि-संस्करण संस्कृत का इसी संस्था से निकला है। रसेन्द्रसारसंग्रह, वंगसेन, भावप्रकाश, इनके मूल संस्करण इसी संस्था के प्रकाशन हैं।

आर्य वैद्यशाला—कोटाकल से भी आयुर्वेद की कुछ पुस्तकें संस्कृत में प्रकाशित हुई हैं, जिनमें चिकित्सा-कलिका, अष्टांगहृदय, अष्टांगहृदय का उत्तर तंत्र आदि मुख्य हैं।

चौबीसवाँ अध्याय

आयुर्वेद का पाठ्यक्रम

प्राचीन काल में आयुर्वेद के अध्ययन का कितना समय था, यह बात स्पष्ट नहीं। यह केवल आयुर्वेद के लिए ही नहीं, अपितु व्याकरण आदि दूसरे विषयों के सम्बन्ध में भी है। इसी से पंचतंत्र में कहा है कि व्याकरण पढ़ने के लिए ही बारह वर्ष चाहिए। इसके पीछे मनु आदि के बनाये धर्मशास्त्र, चाणक्य आदि के अर्थशास्त्र, वात्स्यायन के कामसूत्र आदि पढ़ने होते हैं। इतना पढ़ने के पीछे धर्म, अर्थ, काम के शास्त्रों का ज्ञान होता है। इसके पीछे इनका मनन होता है। कहा भी है—

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥

पंचतंत्र, कथामुख ९

शब्दशास्त्र अनन्त है, आयु संक्षिप्त है, बीच में बहुत से विघ्न हैं, इसलिए छूँछ को छोड़कर सार भाग लेना चाहिए; जिस प्रकार कि हंस पानी-मिले दूध में से दूध को ले लेते हैं, पानी को छोड़ देते हैं। इसी विचार से सम्भवतः आयुर्वेद का पाठ्यक्रम चार साल का था—

अन्तेवासी गुरोर्गृहं कृतकालं वर्षचतुष्टयमायुर्वेदशिल्पशिक्षार्थं त्वद्गृहे वसामीति।

याज्ञ०, मिताक्षरा टीका

अन्तेवासी बनकर गुरु के घर में चार साल पर्यन्त आयुर्वेद शिल्प की शिक्षा के लिए रहना होता था। नालन्दा और तक्षशिला विद्यापीठों के अध्ययनक्रम से स्पष्ट है कि वहाँ पर उच्च शिक्षा का ही प्रबन्ध था। प्रारम्भिक शिक्षा नहीं होती थी। इसी से नालन्दा में जो विद्यार्थी प्रवेश की इच्छा से आता था, उससे वहाँ का द्वारपण्डित कुछ कठिन प्रश्न करता था। उन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर देने पर ही उसे नालन्दा में प्रविष्ट किया जाता था। इस प्रकार से दस विद्यार्थियों में से दो-तीन को ही प्रवेश मिलता था। यह द्वारपण्डित उस विद्या का विद्वान् होता था जिस विद्या को पढ़ने के लिए विद्यार्थी आता था (हर्ष, पान्थरी)।

इस प्रकार का अध्ययन जीवक ने तक्षशिला में किया था, जहाँ पर उसने सात साल तक अध्ययन करने पर भी आयुर्वेद की समाप्ति नहीं पायी। आयुर्वेद को विद्या और कला दोनों में स्थान मिला है। शुक्रनीति में आयुर्वेद की दस कलाओं का उल्लेख है, यथा—१. मकरन्द, आसव बनाना, २. छिपे हुए शल्य को निकालना, ३. हीन और अधिक रस के संयोग से अन्न का पकाना, ४. वृक्ष आदि की कलम लगाना, ५. पत्थर-धातु आदि का गलाना और भस्म करना, ६. ईख से गुड़ आदि बनाना, ७. धातु और औषधियों का संयोग करना, ८. मिली हुई धातुओं को अलग करना, ९. धातु आदि के अपूर्व संयोग का ज्ञान और १०. क्षार निकालना (शुक्रनीतिसार—२६४, अध्याय ४)। बाण ने हर्षचरित में धातुविद् विहंगम का उल्लेख किया है। यह धातुज्ञान उपर्युक्त धातु सम्बन्धी ज्ञान ही है। यह धातुज्ञान कला थी। कला में हस्तनैपुण्य या इन्द्रिय-का प्रयोग (मुख्यतः कर्मेन्द्रिय का) होता है, विद्या में वाणी का प्रयोग होता है। गूँगा कलावन्त हो सकता है, परन्तु उसे विद्वान् नहीं सुना गया (हिन्दू राज्यशास्त्र—अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, पृष्ठ २६)। पीछे से इस कला को विद्या नाम दिया गया। सामान्यतः आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद ये कला या शिल्प माने जाते थे। इनकी शिक्षा के लिए विद्यार्थी नालन्दा और तक्षशिला में जाते थे। इन शिल्पों को सीखने के लिए प्रारम्भिक शिक्षा इनकी पहले हो चुकी होती थी। इस दृष्टि से मिताक्षरा में आयुर्वेद शिल्प के अध्ययन का समय चार साल माना है। इसके पीछे इस शिल्प की जिस कला में विशेष नैपुण्य प्राप्त करना होता था—वह पृथक् था।[1] आयुर्वेद के पाठ्यक्रम के लिए चार साल या पाँच साल पर्याप्त हैं, विशेषतः जब विद्यार्थी की प्रारम्भिक शिक्षा हो चुकी हो।

आयुर्वेद का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी की योग्यता—इस सम्बन्ध में गुरुकुल

---

१. जिस प्रकार से आज भी एम० बी० बी० एस० का सामान्य पाठ्यक्रम पाँच साल का है। इसको समाप्त करके विद्यार्थी किसी विशेष विषय में नैपुण्य प्राप्त करने के लिए अपना समय देते हैं, उसी प्रकार से आयुर्वेद का सामान्य ज्ञानकाल चार वर्ष का था, उसे समाप्त कर छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए नालन्दा जाते थे। वहाँ पर द्वारपण्डित उनकी उस विषय के प्रारम्भिक ज्ञान की परीक्षा लेकर आगे पढ़ने की अनुमति देता था। यही प्रथा आज भी चिकित्सा के विशेष विषय के नैपुण्य के लिए है। उसमें प्रवेश पाने के लिए प्रारम्भिक शिक्षा निश्चित वर्ष की समाप्त करनी आवश्यक है। यह समय प्राचीन काल में चार वर्ष का था।

काँगड़ी विश्वविद्यालय के शिक्षाक्रम में जो योग्यता १९२० तथा १९२६ ईसवी में थी, वह सबसे अच्छी है। इस योग्यता में विद्यार्थी को निम्न विषयों का ज्ञान करना आवश्यक था--

प्रारम्भिक योग्यता---१९२० ईसवी में (गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के विद्यार्थी की, आयुर्वेद अध्ययन के लिए)--

व्याकरण में---सम्पूर्ण सिद्धान्तकौमुदी, नवाह्निक महाभाष्य।

संस्कृत में---शिवराजविजय सम्पूर्ण, माघ (शिशुपालवध) दो सर्ग, किराता-र्जुनीय तीन सर्ग।

अंग्रेजी---इन्टर स्टैन्डर्ड---पंजाब विश्वविद्यालय।

गणित---के. पी. बसु का बीजगणित सम्पूर्ण, यादवचन्द्र चक्रवर्त्ती का अंक-गणित सम्पूर्ण, ज्यामिति---स्टीफन्स---पाँच भाग।

विज्ञान---भौतिकी, रसायन---पंजाब विश्वविद्यालय के इन्टर तक।

दर्शन---न्यायमुक्तावली, अनुमान प्रकरण तक, वैशेषिक दर्शन।

धर्मशिक्षा---ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, एतरेय, तैत्तिरीयोपनिषद्।

इतिहास---वैदिक काल से लेकर १९२० ईसवी तक का।

सामान्यतः ये विषय उस समय विद्यार्थी को पूरे करने होते थे। इसके पीछे उसे उच्च शिक्षा के समय वेद, शेष दर्शन (मीमांसा छोड़कर) प्राचीन और पाश्चात्य चिकित्सा पढ़नी होती थी। वेद में प्रथम दो वर्ष निरुक्त, दो सौ मंत्र ऋग्वेद के, तृतीय वर्ष में यजुर्वेद के २५० मंत्र और चतुर्थ वर्ष में अथर्ववेद के २५० मंत्र पढ़ाये जाते थे। सामान्य रूप से यह अध्ययन-क्रम था। इसमें चार वर्ष लगते थे।

१९२६ ईसवी में दर्शन हटाकर पाश्चात्य चिकित्सा विषय को बढ़ा दिया, जिसमें प्रथम वर्ष में वनस्पतिशास्त्र और प्राणिशास्त्र भी सम्मिलित कर दिया गया और अध्ययन का समय चार वर्ष से पाँच वर्ष कर दिया। परन्तु प्रवेशयोग्यता में अन्तर नहीं किया गया। परिणाम यह हुआ कि यहाँ के अध्ययनक्रम को उस समय सबसे उत्तम माना जाता था, क्योंकि इस योग्यता के छात्र किसी भी आयुर्वेदविद्यालय में प्रविष्ट नहीं होते थे। यही योग्यता या इसी के पास की योग्यता इस समय उचित है।

इसके लिए सामान्यतः इन्टर साइन्स की योग्यता वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र (मेडिकल ग्रूप) की तब तक ठीक है, जब तक कि आयुर्वेदिक ग्रूप का पृथक् प्रबन्ध नहीं होता। इस योग्यता के विद्यार्थी को प्रथम वर्ष में संस्कृत और दर्शन की योग्यता करा देनी चाहिए। इस प्रकार से इस पाठ्यक्रम को ऐसा बनाना चाहिए कि विद्यार्थी

की प्रारम्भिक नींव पक्की हो जाय; आगे उसके ऊपर व्यर्थ का बोझ न डालें, अपितु उसकी बुद्धि ही विकसित करें, जिससे वह स्वतः उसमें रास्ता बनाये। शिक्षक विद्यार्थी की बुद्धि को विकसित कर दें और उसे कर्म मार्ग का रास्ता दिखा दें। इतना ही इस शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।

यद्यपि प्राचीन काल में आयुर्वेद का अध्ययनकाल चार वर्ष का था, तथापि परिस्थिति के कारण इस समय इसे पाँच वर्ष का करना होगा। यदि पाश्चात्य चिकित्सा का ज्ञान नहीं कराना हो, तो चार वर्ष का काल पर्याप्त है। परन्तु इस समय पाश्चात्य चिकित्सा का ज्ञान आवश्यक है। निम्न पाठ्यक्रम में आयुर्वेद के अष्टांगों का पाठ्यक्रम पूर्णतः आ जाता है।

पाठ्यक्रम की रूप-रेखा—पढ़ाने का माध्यम हिन्दी या क्षेत्रीय भाषा हो।

वर्ष	विषय	प्रस्तावित पुस्तकें (इनमें परिवर्त्तन क्षेत्रीय भाषा के अनुसार सम्भव है)
प्रथम वर्ष	१. संस्कृत	१. जीवानन्दनम्—आनन्दराय मखी कृत
	२. दर्शन	२. न्यायमुक्तावली, आप्त प्रमाण तक सांख्यतत्त्वकौमुदी की कारिकाएँ
	३. शरीर रचना	३. प्रत्यक्षशारीरम्, हमारे शरीर की रचना
	४. शरीर क्रिया	४. शरीर क्रियाविज्ञान—रणजीतराय देसाई
	५. निघण्टु	५. द्रव्यगणसंग्रह—चक्रपाणि, शिवदास सेन टीका के साथ ४२ पृष्ठ तक
द्वितीय वर्ष	द्रव्य गुण—	मैटेरिया मेडिका—घोस की द्रव्यगुणविज्ञान—श्री यादवजी त्रिकमजी उत्तरार्ध
	भैषज्य कल्पना—परिभाषा	द्रव्यगुणविज्ञान, परिभाषा खण्ड—श्री यादवजी त्रिकमजी, भैषज्य कल्पना—अत्रिदेव विद्यालंकार

वर्ष	विषय	प्रस्तावित पुस्तकें (इनमें परिवर्त्तन क्षेत्रीय भाषा के अनुसार सम्भव है)
	रसशास्त्र—	रसेन्द्रसारसंग्रह का जारण मारण प्रकरण तक या रसामृत—श्री यादवजी त्रिकमजी
	शरीररचना—	प्रथम वर्ष की भाँति
	शरीरक्रिया—	,, ,,
	स्वस्थवृत्त—	स्वास्थ्यविज्ञान—श्री घाणेकरजी का या डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा का, अष्टांग-संग्रह का सूत्रस्थान—१—८ अध्याय
तृतीय वर्ष	प्रसूतितन्त्र—— स्त्री रोगविज्ञान बाल रोग और विकृति विज्ञान——	प्रसूतिविज्ञान—श्री रमानाथ द्विवेदी का या अन्य कोई, स्त्रीरोगविज्ञान, बाल-चिकित्सा—श्री रमानाथ द्विवेदी कृत कोई उपयोगी ग्रन्थ
	विधिशास्त्र—	न्यायवैद्यक और विषतंत्र——श्री अत्रिदेव विद्यालंकार का, हितोपदेश——रणजीत-राय देसाई का
	निदान—	माधवनिदान
	आयुर्वेद का इतिहास—	श्री अत्रिदेव विद्यालंकार का
चतुर्थ वर्ष	आयुर्वेद रसेन्द्रसार संग्रह——	अष्टांगसंग्रह—सूत्र, निदान, शारीर, कल्प शेष बचा भाग, चिकित्सा प्रकरण
	पाश्चात्य चिकित्सा— काय चिकित्सा	क्लिनिकल मेडिसिन—श्री अत्रिदेव विद्या-लंकार या अन्य, रोगनिवारण—— श्री शिवनाथ खन्ना
	शल्यतंत्र——	श्री जे. पी. देशपाण्डे की शल्यतंत्र में रोगीपरीक्षा, शल्यप्रदीपिका डा० मुकन्दस्वरूप वर्मा की
पंचम वर्ष	आयुर्वेद——	अष्टांगसंग्रह का अवशिष्ट भाग—— चिकित्सा, उत्तर तंत्र

वर्ष	विषय	प्रस्तावित पुस्तकें (इनमें परिवर्त्तन क्षेत्रीय भाषा के अनुसार सम्भव है)
	चक्रदत्त—	सम्पूर्ण
	पाश्चात्य चिकित्सा	
	मेडिसिन	रोगीपरीक्षा—श्री प्रियव्रत शर्मा, क्लिनिकल मेडिसिन—श्री अत्रिदेव विद्यालंकार
	शल्यतंत्र—	चतुर्थ वर्ष की भाँति
	शालाक्य—	शालाक्य तंत्र—श्री रमानाथ द्विवेदीकृत

मेरी दृष्टि में यह पाठ्यक्रम सामान्य डिग्री कोर्स के लिए आयुर्वेद की दृष्टि से पर्याप्त है। इसमें थोड़ा बहुत परिवर्त्तन सम्भव है। परन्तु व्यर्थ का बोझ विद्यार्थी के माथे पर लादना मैं पसन्द नहीं करता। चरक, सुश्रुत ऋषिप्रणीत हैं, उनके पढ़े बिना वैद्य नहीं बन सकते; यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है। वाग्भट ने कहा है—

अभिनिवेशवशादभियुज्यते सुभणितेऽपि न यो दृढमूढकः।

पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः॥ हृदय, उत्तर, ४०।८५

वस्तु के पक्षपात के वश हुआ जो पक्का मूर्ख अच्छे कहे हुए वाक्य में आदर नहीं करता, वह आदिकाल में ब्रह्मा से कहे प्रथम आयुर्वेद शास्त्र को बिना चिन्ता के सारी आयु खुशी से पढ़े। इसलिए समय के अनुसार पाठ्यक्रम रखना उचित है। अष्टांगसंग्रह के स्थान पर अष्टांगहृदय भी रखा जा सकता है। परन्तु इसे उपवैद्य के लिए रखना ही उचित है। अष्टांगसंग्रह में चरक-सुश्रुत का सम्पूर्ण निचोड़ आ जाता है। इसलिए चरकसंहिता को स्नातकोत्तर परीक्षा में रखना उचित है। अष्टांगसंग्रह के सम्बन्ध में कहा है—

आयुर्वेदोदधेः पारमपारस्य प्रयाति कः।

विश्वव्याध्योषधिज्ञानसारस्त्वेष समुच्चितः॥ संग्रह, उत्तर, ५।५०

आयुर्वेद-समुद्र के पार कौन जा सकता है? (कोई नहीं,) जगत् के रोग और औषधि के ज्ञान का साररूप यह अष्टांगसंग्रह है, इसे पढ़ना पर्याप्त है। इसलिए इसे मैंने चुना।

पाठ्यक्रम में यदि प्रारम्भिक नींव पड़ी रहे तब कोई कारण नहीं कि वैद्यक के प्रति विद्यार्थी का झुकाव न हो। विद्यार्थी की बुद्धि पर अंकुश या उसके लिए चारों

ओर जंगला खींचना कि वह दूसरे ज्ञान को न सीखे या उसका उपयोग न करे; यह अत्रिपुत्र के प्रति अन्याय है। उनका तो स्पष्ट कहना है---

"कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्।"

बुद्धिमान् का आचार्य---शिक्षा देनेवाला---सारा संसार है; मूर्ख का वह शत्रु है। इसलिए ज्ञान या बुद्धि को किसी देश, जाति, वर्ग तक सीमित नहीं रखना चाहिए।[1]

इस पाठ्यक्रम में शिक्षा का माध्यम हिन्दी या क्षेत्रीय भाषा रखना चाहिए। पारिभाषिक शब्द अंग्रेजी के तथा हिन्दी या क्षेत्रीय भाषा के दोनों सिखाने चाहिए। पाश्चात्य चिकित्सा की स्टैण्डर्ड पुस्तकें भी---जिनका प्रयोग आज मेडिकल कालेज में होता है, रखी जा सकती हैं। ऐसी अवस्था में अध्यापक एम. बी. बी. एस. न रखकर उच्च शिक्षा के रखने अच्छे हैं। यदि एम. बी. बी. एस. से पढ़ना है तो यही पुस्तकें ठीक हैं, जो पाठ्यक्रम में लिखी हैं। इन पुस्तकों के रखने से पृथक् दो अध्यापकों की समस्या समाप्त हो जाती है।

आयुर्वेद का प्रसूतितंत्र, शारीर पढ़ाने से कोई विशेष लाभ नहीं है। यह सत्य है कि वर्त्तमान चिकित्साप्रबन्ध में कुछ निश्चित क्षेत्र इस प्रकार के वैद्यों के लिए निषिद्ध हैं, यथा---स्वास्थ्य सम्बन्धी (पब्लिक हेल्थ डिपार्टमेन्ट); प्रसूति और स्त्रीरोग (मिड्-वाइफ़ी एण्ड गायनोकोलाजी); विकृतिविज्ञान (पैथोलाजी); आँख, नाक, कान (आई, नोज़, इयर); विधिशास्त्र (जूरीस प्रूडैन्स टॉक्सिकोलाजी); शल्यतंत्र (सर्जरी)।

---

१. आयुर्वेद के पक्ष में जो लोग यह वचन देते हैं कि जिस देश में जो व्यक्ति उत्पन्न हुआ, उसके लिए उसी देश की औषध उत्तम है; तो पूर्व में उत्पन्न मनुष्यों को काबुल की मेवा, पिश्ता, अखरोट, सेव अनुकूल नहीं होने चाहिए। यदि ये अनुकूल हैं, तो यूरोप की बनी औषधियों में क्या दोष है। भारत में बनी वे ही औषधियाँ निर्दोष क्यों होंगी। अष्टांगसंग्रह का पाठ इस प्रकार है---

उचितो यस्य यो देशस्तज्जं तस्यौषधं हितम्।
देशेऽन्यत्रापि वसतस्तत्तुल्यगुणजन्म च॥ संग्रह, सूत्र, २३।३५

जिस रोगी को जो देश अभ्यस्त हो, उस रोगी को अन्य स्थान में रहने पर भी उसी अभ्यस्त देश में उत्पन्न औषध हितकारी है। यदि वह औषध न मिले तो उस देश के समानतावाले देश में उत्पन्न औषध बरतनी चाहिए। यहाँ पर औषध शब्द वनस्पति के लिए है, न कि रसायन की विकृति समवेत औषधियों के सम्बन्ध में---इसे नहीं भूलना चाहिए।

इसलिए इन विषयों का गम्भीर ज्ञान अभी देना विशेष उपयोगी नहीं; एक प्रकार से समय का अपव्यय है। इस समय को आयुर्वेद की शिक्षा में बरतना उत्तम है। पीछे जब स्थिति बदले, पाठ्यक्रम भी बदला जा सकता है। इसलिए शरीररचना, विकृति-विज्ञान आदि का इतना ज्ञान देना आवश्यक है कि यदि विद्यार्थी आगे इन विषयों में ज्ञान प्राप्त करना चाहे, तो सुगमता से कर सके।

इसी प्रकार शास्त्र के नाम पर सुश्रुत का शारीर पढ़ाने से कोई लाभ नहीं। सुश्रुत की विधि से शवच्छेदन करने पर वस्तुस्थिति का ज्ञान होना असम्भव है, इसलिए उसके इस भाग को छोड़ने में बहुत बड़ी हानि आयुर्वेद की नहीं होगी। इसलिए समय, बुद्धि, शक्ति से इनका विचार करके पाठ्यक्रम बनाना होगा।

इस पाठ्यक्रम की सफलता शिक्षकवर्ग पर है, उत्तम एवं योग्य अध्यापक मिलने पर ही आयुर्वेद का कल्याण है। अत्रिपुत्र ने ठीक कहा है--

"जिस प्रकार से ऋतु में बरसा मेघ अच्छे क्षेत्र को धान्य से भर देता है, उसी प्रकार योग्य आचार्य अच्छे शिष्य को वैद्य-गुणों से भर देता है" (चरक. वि. अ. ८।४)। केवल संस्कृत या व्याकरण पढ़े शास्त्राचार्य योग्य छात्र उत्पन्न करेंगे--यह समझना मूर्खता है। बिना आधुनिक विज्ञान तथा अन्य सम्बद्ध विषयों को पढ़े आज आयुर्वेद पढ़ाना आयुर्वेद का अपमान और ऋषियों के प्रति कृतघ्नता मैं मानता हूँ। आयुर्वेद को चरक, सुश्रुत तक ही अब सीमित नहीं रखा जा सकता, उसे संस्कृत भाषा से घेरा नहीं जा सकता। ज्ञान के लिए जन-साधारण की भाषा का व्यवहार करना होगा--उसमें उसे उभारना होगा। नयी खोज या नयी गवेषणा को इसमें स्थान देना ही होगा; नहीं तो ११वीं शताब्दी के बाद जो स्थिति इसमें आयी और जिसके कारण इसमें उन्नति न होकर अवनति हुई और आज ये दिन आये; आगे इससे भी बुरे दिन आयेंगे। इसलिए समयानुकूल पाठ्यक्रम को अपनाकर आयुर्वेद का क्षेत्र विस्तृत बनाना चाहिए। उसी दृष्टि से पाठ्यक्रम की रूपरेखा दी गयी है, जो स्थिति के अनुसार परिवर्त्तनीय है, अन्तिम नहीं।

पचीसवाँ अध्याय

आयुर्वेद महाविद्यालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना पुण्या भागीरथी के तट पर १९०२ में हरिद्वार से परे बिजनौर जिले में हुई थी। गुरुकुल की स्थापना का उद्देश्य प्राचीन आश्रमप्रणाली की फिर से स्थापना करना था। यहाँ पर प्राचीन विषयों के साथ-साथ अर्वाचीन विषय भी पढ़ाये जाते थे। विज्ञान (साइन्स) का शिक्षण उस समय में बहुत ऊँची श्रेणी का यहाँ पर दिया जाता था। यहीं पर महाविद्यालय में नियत विषयों के अतिरिक्त आयुर्वेद का पाठ्यक्रम १९१४ के लगभग चला। यह शिक्षा उस समय **श्री कविराज निवारणचन्द्र भट्टाचार्य** देते थे। ये अपने विषय के योग्य विद्वान् थे। उस समय आयुर्वेद का अध्यापन तो विशेष ये नहीं करते थे, परन्तु चिकित्सा-कार्य सामान्य रूप में करते थे और औषध बनाते थे। परन्तु थोड़े समय पीछे ही ये दिल्ली में आयुर्वेदिक और तिब्बी कालेज खुलने पर वहाँ चले गये। दिल्ली में इन्होंने अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की।

इनके जाने से आयुर्वेद की पढ़ाई भी समाप्त हो गयी। इसके पीछे १९१८ के आसपास आयुर्वेद का अध्ययन महाविद्यालय में नियमित करवाने का विचार हुआ। यह पाठ्यक्रम ऐच्छिक विषय के रूप में उस समय रखा गया। फिर कलकत्ते से **श्री धरणीधरजी** के आने से आयुर्वेद की नियमित शिक्षा प्रारम्भ हुई। प्रथम दो वर्ष तक शुद्ध आयुर्वेद ही रहा। परन्तु १९२१ में आयुर्वेद के साथ-साथ पाश्चात्य विषय भी मिलाये गये। इसलिए अंग्रेजी और साहित्य ये विषय छोड़ दिये गये।

विद्यार्थियों की आयुर्वेद में बढ़ती हुई रुचि को देखकर १९२४ में इसको पृथक् कालेज का रूप दिया गया। पाठ्यक्रम चार साल के स्थान पर पाँच वर्ष का कर दिया गया और इसकी उपाधि भी पृथक् कर दी गयी। अब एक वैद्य को पर्याप्त न समझकर कलकत्ते से योग्य **कविराज श्री विनेशानन्दजी** को बुलाया गया। पाश्चात्य चिकित्सा के लिए दूसरे नये डाक्टर रखे गये। इस समय आयुर्वेद कालेज उन्नत रूप में आया। यह वह समय था जब कि अत्रिपुत्र के अनुसार योग्य आचार्य और योग्य शिष्यों

का सहयोग हो रहा था। इस समय पाश्चात्य विषयों का अध्ययन एम. बी. बी. एस. के पाठ्यक्रम के अनुसार हो रहा था और आयुर्वेद के प्रसिद्ध संहिता ग्रन्थों का अध्ययन चल रहा था। इसी से इस समय उत्तर प्रदेश सरकार के नियुक्त कमीशन ने, जिसमें जस्टिस गोकर्णनाथ मिश्र थे, इस समय की सब आयुर्वेद शिक्षा संस्थाओं में इसे श्रेष्ठ बताया था——

"The Ayurvedic College of Gurukul enjoys a good reputation of being a first rate college. Its well qualified staff, its reformed methods of teaching, its equipment, its collection of good books and its dynamic outlook are inestimable."

अन्य किसी भी स्थान में इस समय इस योग्यता के विद्यार्थी तथा पढ़ाने की इतनी सामग्री एवं साधन नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि इस समय के स्नातकों को जर्मनी में म्यूनिच, ईटली में रोम के विश्वविद्यालयों ने उच्च शिक्षा एम. डी. के लिए सीधा प्रविष्ट किया। बहुत से स्नातक वहाँ पर तीन साल का अध्ययन करके एम. डी. लेकर आये। इस समय के योग्य स्नातकों में रणजीत राय देसाई, धर्मानन्द केसरवानी, बलराम आयुर्वेदालंकार, रमेश वेदी विद्यालंकार, नारायण दत्त आयुर्वेदालंकार, सत्यपाल आयुर्वेदालंकार आदि हैं। श्री धर्मानन्द केसरवानी, बलराम, नारायण दत्त ने जर्मनी जाकर एम. डी. की उपाधि प्राप्त की है। इनकी योग्यता की छाप वहाँ ऐसी बैठी कि पिछले स्नातकों ने केवल दो वर्ष में एम. डी. उपाधि प्राप्त की। इस तरह आयुर्वेद की सच्ची प्रगति गुरुकुल के स्नातकों द्वारा हुई। प्राचीन संहिताओं का हिन्दी अनुवाद, नयी रचनाएँ, आयुर्वेद के साथ पाश्चात्य चिकित्सा का सामंजस्य स्थापित करना, पाश्चात्य पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद, नये पारिभाषिक शब्द बनाना यहीं से प्रारम्भ हुआ। आयुर्वेद में समयानुसार परिवर्त्तन का भी श्रीगणेश इसी संस्था से हुआ। विज्ञान के लिए उदार-विशाल दृष्टि यहीं से प्रारम्भ हुई। यहाँ पर शिक्षा का माध्यम हिन्दी था। इसलिए पारिभाषिक शब्दों में जिनका योग्य हिन्दी शब्द नहीं मिला, उसके लिए उन्हीं को देवनागरी लिपि में लिखकर काम लेना प्रारम्भ किया। इससे इतना लाभ हुआ कि अंग्रेजी पुस्तकें पढ़ने में कठिनाई नहीं हुई।[1]

---

१. यद्यपि इससे पूर्व डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा ने हमारे शरीर की रचना पुस्तक लिखी थी, जिसमें कुछ नये शब्द दिये हैं; तथापि अध्ययन के समय प्रसूति, चिकित्सा आदि के नये शब्द यहीं बने।

गुरुकुल के प्रसिद्ध स्नातक

धर्मदत्त सिद्धान्तालंकार—आप रहनेवाले पंजाब के हैं। आपने गुरुकुल से परीक्षा उत्तीर्ण करके आयुर्वेद का अध्ययन मद्रास में डी० गोपालाचार्लु के पास किया था, फिर गुरुकुल विश्वविद्यालय में प्रथम आयुर्वेद के अध्यापक के रूप में काम किया, पीछे से वहीं पर प्रिन्सिपल बने। वहाँ से निवृत्त होकर कनखल में स्वतन्त्र चिकित्सा व्यवसाय एवं फार्मेसी चलाते हैं। साथ ही गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय में अध्यापन भी करते हैं।

आपने द्रव्यगुण पर एक पुस्तक लिखी है, जो पाश्चात्य विज्ञान के साथ आयुर्वेद का उत्तम समन्वय है। यह पुस्तक अपने विषय की प्रथम पुस्तक थी। इसमें आयुर्वेदिक वनस्पतियों का परिचय, उनकी जानकारी बहुत सरलता से दी है। यह पुस्तक अनुभूत-योगमाला, बरालोकपुर—इटावा से प्रकाशित हुई थी।

इसके अतिरिक्त आपने अंग्रेजी में त्रिदोषसिद्धान्त नाम की पुस्तक लिखी है, जो बहुत गवेषणात्मक और महत्त्वपूर्ण है। इससे पूर्व आपने त्रिदोष पर 'त्रिदोष-विमर्श' पुस्तक संस्कृत में भी लिखी थी, इसे लाहौर से मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित किया था। इसमें त्रिदोष सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या करके संहिताओं में से त्रिदोष सम्बन्धी वचन एक स्थान पर संग्रह किये थे। यह पुस्तक बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है, दुःख है कि इस समय यह उपलब्ध नहीं।

विद्यानन्द विद्यालंकार—महाविद्यालय में आपने प्रथम रसायन (कैमिस्ट्री) का दो साल अभ्यास करके फिर दो साल आयुर्वेद का अध्ययन किया, कलकत्ते में जाकर आयुर्वेद सीखा। फिर पानीपत में और पीछे करनाल में चिकित्सा प्रारम्भ की। पानीपत में प्लेग फैलने पर १९२३ में आपने आयुर्वेद चिकित्सा करके नाम कमाया था। उसके पीछे करनाल में आकर स्थिर हुए।

जयदेव विद्यालंकार—आप गुरुकुल के सुयोग्य अनुवादक स्नातक हैं। आपने गुरुकुल में आयुर्वेद का पाश्चात्य चिकित्सा के साथ चार साल अध्ययन किया। आप बहुत कुशाग्रबुद्धि थे। स्नातक होने के पीछे लाहौर में कुछ वर्ष कविराज नरेन्द्रनाथ-जी मित्र के यहाँ कर्माभ्यास किया। इसी समय भैषज्यरत्नावली का हिन्दी अनुवाद किया। इस अनुवाद में औषधि मात्रा, उसके विषय में क्रियात्मक सूचनाएँ तथा विशेष निर्देश, पाठभेद आदि बातें दी हैं। यह अनुवाद अपने ढंग का प्रथम था, इसी से इनका नाम हुआ। विद्यापीठ से आपने आयुर्वेदाचार्य किया, आप प्रथम श्रेणी में प्रथम आये थे। भैषज्यरत्नावली के अनुभव से चरकसंहिता का अनुवाद किया। इस अनुवाद में

अष्टांगसंग्रह का पूरा उपयोग किया, जिससे इसके पाठ में तथा योगों के स्पष्टीकरण में बहुत सरलता हुई। इन दोनों अनुवादों को मोतीलाल बनारसीदास फर्म ने लाहौर से प्रकाशित किया था। इसके सिवाय 'चिकित्साकलिका' का भी अनुवाद किया है।

संशोधन कार्य—रसहृदयतंत्र, रसेन्द्रचूड़ामणि इन दो प्राचीन ग्रन्थों का संशोधन एवं टिप्पणी लेखन किया। चक्रदत्त की शिवदाससेन टीका का सम्पादन किया। सदानन्द शर्मा द्वारा अनूदित चक्रदत्त, रसतरंगिणी, अत्रिदेव विद्यालंकार द्वारा लिखे शल्यतंत्र के प्रकाशन में सहयोग दिया।

विद्याधर विद्यालंकार—आपने गुरुकुल से स्नातक बनने के बाद आयुर्वेद का अध्ययन लाहौर में कविराज नरेन्द्रनाथ मित्र के पास किया। वहाँ रहते हुए आपने योगरत्नाकर का हिन्दी अनुवाद किया, यह अनुवाद पहला था। इसके पीछे रसेन्द्रसार-संग्रह का अनुवाद किया। आपने सोलन में स्वतंत्र चिकित्सा व्यवसाय द्वारा यश उपार्जित किया। पीछे नौकरी के लिए हैदराबाद चले गये और अब वहीं काम कर रहे हैं।

अत्रिदेव विद्यालंकार—आप रहनेवाले सहारनपुर जिले के हैं। गुरुकुल में चार साल आयुर्वेद का पाश्चात्य चिकित्सा के साथ अध्ययन किया। स्नातक बनने के कुछ समय बाद 'जीवन विज्ञान' एक पुस्तक लिखी, जिसे धन्वन्तरि-कार्यालय ने प्रकाशित किया था। इसके पीछे आत्रेय वचनामृत (चरक संहिता में वैदिक विषय) और उपचार-पद्धति दो पुस्तकें लिखीं। इसी समय कराची जाना हुआ, वहाँ गोपालजी कुंवरजी ठक्कर—मालिक सिन्ध आयुर्वेदिक फार्मेसी के सम्पर्क में आये और विधिशास्त्र पर न्यायवैद्यक और विषतंत्र नाम से स्वतन्त्र पुस्तक लिखी। यह पुस्तक अपने विषय की प्रथम थी। इसके पीछे चक्रदत्त का हिन्दी अनुवाद किया। पीछे से प्रत्यक्षशारीरम् के दो भागों का अनुवाद कविराज गणनाथ सेनजी की देखरेख में किया। आपको श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य का स्नेह सदा मिला।

आपके लिखे ग्रन्थों की संख्या लगभग तीस है। इनमें सामान्यतः १५० पृष्ठों से लेकर १८०० पृष्ठों तक के ग्रन्थ हैं। इनके नाम ये हैं—जीवन विज्ञान, आत्रेय वचनामृत, उपचारपद्धति, न्यायवैद्यक और विषतन्त्र, शल्यतन्त्र, चरक संहिता का हिन्दी अनुवाद, प्रत्यक्षशारीरम् का हिन्दी अनुवाद, सुश्रुत संहिता का अनुवाद, अष्टांग-संग्रह और अष्टांगहृदय का अनुवाद, जीवानन्दनम् का हिन्दी अनुवाद।

चरक संहिता का अनुशीलन, संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद, क्लिनिकल मेडिसिन, धात्रीशिक्षा, शिशुपालन, स्वास्थ्यविज्ञान, भैषज्यकल्पना, आयुर्वेद का इतिहास, शल्यतंत्र, योगचिकित्सा, भारतीय रसपद्धति, घर का वैद्य, स्वास्थ्य और सद्वृत्त,

हमारे भोजन की समस्या, स्त्रियों का स्वास्थ्य और रोग, संस्कारविधि विमर्श, परिवार नियोजन, प्राचीन भारत में प्रसाधन और आयुर्वेद का बृहत् इतिहास। सम्पादित पुस्तकें रसेन्द्रसार-संग्रह और रसरत्नसमुच्चय हैं।

रणजीतराय आयुर्वेदालंकार—आप गुजरात के रहनेवाले हैं, आप गुरुकुल के योग्य स्नातकों में से हैं। आपने शरीरक्रियाविज्ञान पुस्तक बहुत ही गम्भीर अध्ययन-पूर्ण लिखी है। इसमें पारिभाषिक शब्द बहुत ही नये और उचित अर्थवाले हैं। यह सम्भवतः प्रथम श्रम था। इसके पीछे आपने आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान, हितोपदेश, हस्तामलक निदान चिकित्सा आदि पुस्तकें लिखी हैं, जो बहुत उपयोगी हैं।

धर्मानन्द आयुर्वेदालंकार—आप रहनेवाले चुनार, जिला मिर्जापुर उत्तर प्रदेश के हैं। आपके पिता कराची में कार्य करते थे। आपने गुरुकुल से स्नातक होने पर कुछ दिन कराची में चिकित्सा कार्य किया। फिर आप देहरादून आ गये और वहीं चिकित्सा व्यवसाय प्रारम्भ किया। बाद में डालमिया छात्रवृत्ति से आप इटली (रोम) गये। वहाँ पर आपने एम० डी० पदवी बहुत सम्मान के साथ प्राप्त की।

रोम से एम० डी० लेकर आप म्यूनिच (जर्मनी) में आये, वहाँ से आपने पी-एच० डी० प्राप्त किया और वहीं पर अध्यापन करते रहे। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में आप जर्मनी में ही रहे। वहाँ के एक नगर में आप सरकारी चिकित्सक के रूप में भी काम करते रहे। युद्ध समाप्त होने पर आप भारत वापस आये। इस समय जामनगर के आयुर्वेद विद्यालय में प्रिंसिपल हैं। आपने क्षयरोग की चिकित्सा के शल्यकर्म में विशेष निपुणता प्राप्त की थी। उत्तर प्रदेश में तो सम्भवतः आपने ही सबसे प्रथम भवाली सैनेटेरियम में वक्ष का शल्यकर्म सफलता से किया था। इस समय आप स्वतंत्र चिकित्साव्यवसाय इलाहाबाद में करते हैं।

गुरुकुल काँगड़ी के जो अन्य स्नातक बर्लिन, म्यूनिच गये और वहाँ से एम० डी० उपाधि प्राप्त की, उनमें श्री बलराम, श्री नारायणदत्त (स्वर्गीय) तथा श्री राजेश्वर त्यागी मुख्य हैं। भारतवर्ष में आयुर्वेदालंकार की उपाधि प्राप्त करके मेडिकल कालेज में एम० बी० बी० एस० की उपाधि प्राप्त करनेवाले स्नातक **इन्दुसेन आयुर्वेदालंकार** हैं। आपने कुछ पुस्तकें भी लिखी हैं।

रमेश वेदी आयुर्वेदालंकार—आपका जन्म कालाबाग (पाकिस्तान, उत्तर सीमा-प्रान्त) में हुआ था। आपकी शिक्षा गुरुकुल काँगड़ी में हुई थी। आपकी रुचि वन-स्पतियों में थी, इसी से वहाँ की वनस्पतियों की देखरेख का प्रबन्ध आपके पास रहा। आपने दस साल तक लाहौर में स्वतंत्र चिकित्साव्यवसाय किया और इसी समय **भारतीय**

द्रव्य-गुण ग्रन्थमाला का प्रणयन आरम्भ किया। इसमें अब तक १५ प्रामाणिक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। आपने १९५५ से वनस्पतियों के प्रामाणिक फोटो लेने प्रारम्भ किये, अभी तक लगभग १,००० (एक हजार) फोटो तैयार किये हैं। वनस्पति सम्बन्धी बहुत से लेख भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकले हैं। आपने उत्तराखण्ड और हिमालय के सैकड़ों हर्बिरियम स्पैसिमैन अन्तर्राष्ट्रीय मान्य विधि द्वारा बनाये हैं, जो गुरुकुल संग्रहालय तथा ग्रामोत्थान विद्यापीठ संगरिया के संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

आपने साँपों की आदत, उनके जीवन-क्रम, विष आदि का विशेष अध्ययन किया है। आपकी पुस्तकें—त्रिफला, शहद, लहसुन-प्याज, तुलसी, नीम, सोंठ, मरिच, पेठा, शहतूत, सर्पगन्धा, बरगद, देहाती इलाज, देहात की दवाइयाँ, तुवरक आदि हैं। आपकी कुछ पुस्तकों पर पुरस्कार मिला है। इस समय आप गुरुकुल काँगड़ी की आयुर्वेद-वाटिका के अध्यक्ष तथा आयुर्वेदिक कालेज में द्रव्यगुण के अध्यापक हैं।

सत्यपाल आयुर्वेदालंकार—आप अमृतसर के रहनेवाले हैं। आपने गुरुकुल की आयुर्वेद शिक्षा समाप्त करके कलकत्ते में आयुर्वेद का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त किया। आप गुरुकुल के अस्पताल में चिकित्सक रूप में कार्य करते हुए आयुर्वेदिक कालेज की जीवाणु-प्रयोगशाला के अध्यक्ष एवं इस विषय के अध्यापक भी हैं।

सत्यदेव विद्यालंकार—आप रहनेवाले पटियाले के हैं। गुरुकुल से निकलकर आप कलकत्ते में आयुर्वेद का अभ्यास करने गये। फिर आपने गुरुकुल फार्मेसी को कार्यक्षेत्र बनाया।

आपको औषध-निर्माण का अच्छा अभ्यास है, आपने आसव-अरिष्ट सम्बन्धी अपने अनुभव को लिपिबद्ध किया है। यह पुस्तक इस दृष्टि से प्रथम है। इससे पूर्व भी श्री हरिशरणानन्दजी ने आसव-अरिष्ट निर्माण सम्बन्धी पुस्तक लिखी थी। परन्तु इस पुस्तक में आसव में मद्य की राशि जानने तथा उसके निर्माण सम्बन्धी बहुत-सी आवश्यक सूचनाएँ दी हुई हैं।

इनके अतिरिक्त धर्मचन्द्र विद्यालंकार, आत्मानन्द विद्यालंकार आदि कई स्नातक हैं, जिनमें से कुछ ने गुरुकुल में आयुर्वेद पढ़ा और कुछ ने बाहर जाकर उसे विकसित किया।

डी० ए० वी० कालेज का आयुर्वेदिक कालेज (लाहौर)

आर्यसमाज ने शिक्षाप्रचार में विशेष क्रान्ति की थी। इसी क्रान्ति का परिणाम लाहौर का डी० ए० वी० कालेज था। इसी कालेज में पीछे जाकर आयुर्वेद की पढ़ाई शुरू की गयी। इसका श्रेय श्री सुरेन्द्रमोहनजी को है। आपने आयुर्वेद का अध्ययन

कलकत्ते के प्रसिद्ध कविराज गणनाथ सेनजी एम० ए० सरस्वती के पास रहकर किया। आपने इस कालेज को ऊँचे स्तर पर उन्नत किया, कालेज की अपनी आयुर्वेदिक फार्मेसी बनायी, जहाँ पर उच्च श्रेणी की औषधियाँ तैयार होती थीं।

पंजाब में आयुर्वेद का प्रचार इस संस्था के द्वारा बहुत अधिक हुआ। इस संस्था में दूर-दूर से विद्यार्थी पढ़ने आते थे, क्योंकि इसमें प्रवेश का आधार संस्कृत का प्रारम्भिक ज्ञान था। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि यहाँ पर सम्पूर्ण आयुर्वेद शिक्षा हिन्दी माध्यम से दी जाती थी। पाश्चात्य विषय भी हिन्दी माध्यम से ही सिखाये जाते थे। इस कारण ही डाक्टर आशानन्द पंजरत्न आदि ने अपनी पाश्चात्य विज्ञान की पुस्तकें सरल हिन्दी भाषा में लिखीं। इससे जहाँ विद्यार्थियों का उपकार हुआ, वहाँ पर हिन्दी की भी समृद्धि हुई। इस कालेज के कारण पंजाब में हिन्दी और आयुर्वेद दोनों का प्रचार हुआ।

देश-विभाजन के पीछे इसकी स्थिति बिगड़ी। इस समय यह कालेज जालन्धर में चल रहा है।

इस संस्था से बहुत से योग्य स्नातक निकले, जिन्होंने आयुर्वेद के क्षेत्र में अच्छी प्रगति की। इसके आचार्य श्री सुरेन्द्रमोहनजी ने कैयदेवनिघण्टु का सम्पादन किया है, जो बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ है। भावप्रकाश, धन्वन्तरिनिघण्टु की टक्कर का यह निघण्टु गिना जाता है। इसी के एक स्नातक ने बाबर पाण्डुलिपि में मिले 'नावनीतकम्' का सम्पादन बहुत योग्यता से किया, इसकी भूमिका बहुत विवेचनापूर्ण है।

कविराज महेन्द्रकुमार शास्त्री बी० ए० आयुर्वेदाचार्य इसी संस्था के स्नातक हैं, जिन्होंने पहले ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज में कार्य किया था और अब बम्बई के पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज में कार्य करते हैं। आपने द्रव्य-गुण पर विद्यार्थियों की दृष्टि से बहुत उपयोगी पुस्तक लिखी है। यह लघु द्रव्यगुणादर्श पुस्तक द्रव्यगुण का निचोड़ है। आपकी दूसरी पुस्तक 'आयुर्वेद का इतिहास' है। यह इतिहास श्री दुर्गाशंकर केवलरामजी शास्त्री के 'आयुर्वेद नुं इतिहास' (गुजराती) की छाया है। इनके अतिरिक्त आपने कुछ अन्य भी पुस्तकें लिखी हैं।

बोर्ड आफ इंडियन मेडिसिन (भारतीय चिकित्सा परिषद्)

उत्तर प्रदेश के आयुर्वेद विद्यालय

आयुर्वेद-शिक्षा में एक समान पाठ्यक्रम रखने तथा वैद्यों का एक संगठन बनाने के लिए उत्तर प्रदेश में एक बोर्ड (परिषद्) का निर्माण किया गया। इस बोर्ड का काम प्रदेश में चिकित्सा करनेवाले वैद्यों का नाम पञ्जिकाबद्ध करना एवं आयुर्वेदिक कालेजों

की परीक्षा तथा पाठ्यक्रम को नियमित करना था। इस बोर्ड में सबसे प्रथम ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज जुड़ा। उस समय तीन आयुर्वेद संस्थाएँ मुख्य थीं; एक गुरुकुल विश्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कालेज, दूसरा ऋषिकुल संस्था का और तीसरा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का। सरकार से नियुक्त कमीशन ने, जिसके प्रधान न्यायाधीश गोकर्णनाथ मिश्र थे, गुरुकुल को आर्थिक सरकारी सहायता देने का प्रस्ताव रखा। उस समय गुरुकुल का आयुर्वेदिक कालेज सबसे उन्नत था, वहाँ पर शवच्छेद का काम १९२३ से प्रारम्भ था। अन्य संस्थाओं में इसका प्रारम्भ पीछे हुआ।

गुरुकुल ने अपने सिद्धान्तों के कारण सरकारी सहायता नहीं स्वीकार की। इसमे यह सहायता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज को मिली। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कालेज स्वतंत्र होने से, बोर्ड के पास केवल ऋषिकुल का आयुर्वेदिक कालेज रहा। पीछे से इसमें पीलीभीत का ललितहरि आयुर्वेदिक कालेज भी मिल गया। इसके पीछे धीरे-धीरे दूसरी संस्थाएँ तथा नये कालेज इसके नियंत्रण में आ गये, जिससे गुरुकुल काँगड़ी का आयुर्वेदिक कालेज भी इसमें आ गया। इसमें सम्मिलित होने से गुरुकुल की शिक्षा का स्तर बहुत नीचे आ गया, क्योंकि इसमें प्रवेशार्थ ज्ञान उतना उन्नत नहीं था, जितना गुरुकुल काँगड़ी में था। अन्य संस्थाओं में केवल संस्कृत को प्रवेश की इकाई समझा जाता था, जिससे आयुर्वेद संकुचित होता गया। इसी से शास्त्राचार्य परीक्षा उत्तीर्ण अथवा व्याकरणाचार्य या साहित्याचार्य परीक्षा पास करके कालेजों में प्रविष्ट विद्यार्थियों का ज्ञान पुस्तक के शब्दों तक ही सीमित रहा, उनमें विषय की प्राञ्जलता, विशदता, स्पष्टीकरण नहीं मिलता; दुःख है कि यही परम्परा अब भी चलती है, जिससे आयुर्वेद समय के साथ नहीं चल रहा, उसमें विकास नहीं होता।

बोर्ड के शिक्षाक्रम में आधुनिक विषय रखे गये, धीरे-धीरे उनमें पर्याप्त वृद्धि हो गयी, अब वहाँ भी इण्टर साइंस विद्यार्थी के प्रवेश का नियम लागू हो गया।

बोर्ड में इस समय बहुत से अच्छे महाविद्यालय भी हैं, जहाँ पर शिक्षा के सब साधन एवं सामग्री हैं। परन्तु कुछ ऐसी भी संस्थाएँ हैं, जहाँ पर सामान का अभाव है। बोर्ड में इस समय ग्वालियर, इन्दौर के कालेज भी आते हैं, वहाँ पर भी उत्तर प्रदेश की शिक्षाव्यवस्था चलती है। इससे स्पष्ट है कि बोर्ड का काम बहुत विस्तृत हो गया है।

झाँसी का आयुर्वेदिक कालेज इस बोर्ड में विद्यार्थियों की संख्या की दृष्टि से बहुत महत्त्व का है, इस विद्यालय में विभाग बहुत से हैं, परन्तु उनमें वास्तविकता कितनी है, कितना उनसे आयुर्वेद का उपकार हुआ, ये सब बातें अभी भविष्य के गर्भ में हैं।

इसी प्रकार वाराणसी, देहरादून आदि के दूसरे कालेज हैं, जहाँ पर शिक्षा के न तो पूरे साधन हैं, और न आवश्यक अध्यापक हैं, परन्तु बोर्ड की परीक्षाएँ होती हैं। इस प्रकार से आयुर्वेद का स्तर नीचे आता है। फिर भी बोर्ड ने वैद्यों के संगठन में, इनके स्तर को ऊँचा उठाने में पर्याप्त प्रयत्न किया है। बोर्ड के बनने से वैद्यक धंधा बहुत कुछ नियन्त्रित हो गया, प्राचीन परिपाटी के वैद्य का पुत्र बिना पढ़े भी वैद्य बनता था; बहुत अंशों में यह बंद हो गया, अब कम से कम उसे वैद्यक पढ़नी पड़ती है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज के योग्य स्नातक

आयुर्वेद महाविद्यालय का इतिहास मुझे प्रयत्न करने पर भी नहीं मिला, इसका दुःख है। इसलिए केवल स्नातकों का परिचय दिया है।

श्री विश्वनाथ द्विवेदी—आप बलिया के रहनेवाले हैं, आपने शास्त्राचार्य की उपाधि प्राप्त की है, इसके पीछे ललित हरि आयुर्वेदिक कालेज-पीलीभीत में अध्यापक, प्रिन्सिपल पद पर कार्य किया। फिर लखनऊ राजकीय आयुर्वेदिक कालेज में उपाचार्य रूप में कार्य किया और इस समय जामनगर आयुर्वेदिक कालेज में हैं।

आपने कई पुस्तकें लिखी हैं, औषध निर्माण में आपकी बहुत रुचि है, आप अब सब औषधियों या योगों को आधुनिक दृष्टिकोण से देखना चाहते हैं। आपकी लिखी पुस्तकों में वैद्यसहचर, त्रिदोषालोक, तैलसंग्रह हैं। आपने भावप्रकाश निघंटु का भी हिन्दी अनुवाद किया है, नेत्ररोग पर भी एक पुस्तक लिखी है।

श्री राजेश्वरदत्तजी शास्त्री—आप गोंडा के रहनेवाले शाकद्वीपी ब्राह्मण हैं, आप इस विश्वविद्यालय के योग्य स्नातक हैं और विद्यालय में चरक संहिता का उत्तरार्द्ध चिकित्साप्रकरण—औषधियों के नामवाला पढ़ाते हैं। आपने दो पुस्तकें लिखी हैं, इन पुस्तकों के लिखने से आपकी मान्यता है कि सम्पूर्ण आयुर्वेद को आपने लिख दिया, क्योंकि आयुर्वेद के दो ही प्रयोजन हैं; व्याधि से पीड़ित व्यक्तियों को रोगमुक्त करना और स्वास्थ्य की रक्षा करना। आपने प्रथम उद्देश्य के लिए १३८ पृष्ठों की पुस्तक 'चिकित्सादर्श' लिखी है और दूसरे उद्देश्य के लिए स्थान स्थान से संस्कृत के वचन एकत्र कर हिन्दी अनुवाद के साथ एक पुस्तक स्वस्थवृत्त-समुच्चय लिखी है।

आपने भैषज्यरत्नावली का भी सम्पादन किया है, इसमें आपका कितना काम है, इसका कुछ भी पता नहीं; अन्त में चार या पाँच योग अपने नाम से दिये हैं।

श्री वामन कृष्ण पटवर्धन—आप बहुत योग्य चिकित्सक हैं, आप डाक्टर के नाम से विश्वविद्यालय में प्रसिद्ध हैं। आपकी चिकित्सा भी मुख्यतः डाक्टरी, पाश्चात्य होती है, उससे रोगियों को जल्दी रोगमुक्ति मिलती है; सम्भवतः इसी से आप उसे

पसन्द करते हैं। परन्तु आयुर्वेद को आप भूलते नहीं, जरूरत पड़ने पर उसका भी उपयोग करते हैं। आपने बालरोग पर विशेष अभ्यास किया है। आपका लिखा प्रसूतितंत्र अभी प्रकाशित हुआ है। चिकित्सा-व्यवसाय करते हुए इतना समय लेखन में निकाल लेना वास्तव में आपके लिए गौरव की बात है।

श्री शिवदत्त शुक्ल---आप सीतापुर के रहनेवाले हैं। आपने पहले झाँसी में आयुर्वेदिक कालेज का आचार्यत्व किया। उसके अनुभव से लाभ उठाकर आप बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज में द्रव्यगुण के अध्यापक बनकर आये। आपका परिचय हम गत प्रकरण में दे चुके हैं।

श्री दामोदर शर्मा गौड़ ए० एम० एस०---आप जयपुर के रहनेवाले ब्राह्मण हैं। संस्कृत पर आपका अधिकार है, आपका लिखा 'अभिनव प्रसूतितंत्र' इस बात का प्रमाण है। इस ग्रन्थ की रचना प्राचीन पुस्तकों तथा अर्वाचीन पाश्चात्य पुस्तकों के आधार पर की गयी है। इसमें पारिभाषिक शब्द बहुत सुन्दर बनाये हैं, एक प्रकार से प्रत्यक्ष-शारीरम् के ढंग की सुन्दर रचना है। आपकी दूसरी रचना 'आयुर्वेदादर्श-संग्रह' है, जो कि आयुर्वेद पुस्तकों से संगृहीत है, वचनों का अनुवाद हिन्दी में किया है। एक प्रकार से यह सुभाषित संग्रह है। आपने शवच्छेद पर भी एक पुस्तक लिखी थी, दुःख है कि देशविभाजन के कारण वह प्रकाशक के यहाँ नष्ट हो गयी।

श्री रमानाथ द्विवेदी---आपकी चर्चा पहले की जा चुकी है, आप की रचना अगदतंत्र, सौश्रुती, शालाक्यतंत्र, प्रसूतितंत्र, स्त्रीरोगविज्ञानम्, बालरोग और पेटेन्ट प्रिस्क्राईबर हैं। आप चिकित्सा विज्ञान में अधिक रुचि रखते हैं, चिकित्सा कर्म में सफल हैं, योग्य चिकित्सक हैं।

श्री प्रियव्रत शर्मा---आप बिहार के रहनेवाले हैं, संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं। आपने साहित्याचार्य और एम. ए. परीक्षा पटना विश्वविद्यालय से दी है। आपने बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं, आपकी पुस्तकों का आधार प्रायः पहली लिखी पुस्तकें रहीं। आपने उनको एक प्रकार से नये रूप में नये नाम से, नये प्रकाशक के यहाँ से प्रकाशित कराया है। इनमें अपने स्वतंत्र विचार भी दिये हैं। विषय को स्पष्ट करने का बहुत प्रयत्न किया है।

आप पहले बेगूसराय में वाइस प्रिन्सिपल थे, फिर हिन्दू विश्वविद्यालय में द्रव्य-गुण के उपाध्याय बनकर आये और फिर यहाँ से पटना आयुर्वेदिक कालेज के प्रिन्सिपल बनकर गये। आपकी मुख्य रचनाएँ ये हैं---अभिनव शरीर-क्रियाविज्ञान, रोगी-परीक्षाविधि, द्रव्यगुणविज्ञान, दोषकारणत्वमीमांसा।

श्री रामसुशील सिंह—चुनार, जिला मिर्जापुर के रहनेवाले हैं, आपको द्रव्यगुण विषय में अधिक रुचि है, आपके बड़े भाई श्री ठाकुर दलजीत सिंह यूनानी के अच्छे विद्वान् हैं, आपने बहुत-सा यूनानी साहित्य हिन्दी में प्रकाशित किया है। इसी प्रेरणा से श्री रामसुशील सिंहजी ने भी अंग्रेजी की मैटेरिया मेडिका तथा भावप्रकाश निघण्टु का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है।

के० एन० उडूप—आप इसी आयुर्वेदिक कालेज के स्नातक हैं, जिन्होंने अमेरिका में जाकर शल्यचिकित्सा का अभ्यास किया है। आप दक्ष शल्यचिकित्सक माने जाते हैं। आपकी अध्यक्षता में केन्द्रीय राज्य ने आयुर्वेद की स्थिति जानने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया था। इस समय आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आयुर्वेदिक कालेज के प्रिन्सिपल हैं। आपकी देखरेख में विद्यालय उन्नति करेगा यह आशा है।

श्री एम. एन. केशव पिल्लई—केरल में आयुर्वेद के डिप्टी डाइरेक्टर-आयुर्वेद हैं। इसी तरह श्री व्रजमोहन दीक्षित, श्री गंगासहाय पाण्डेय आदि बहुत से सफल चिकित्सक इस महाविद्यालय की देन हैं। इस विद्यालय से कई दूसरे भी योग्य स्नातक निकले हैं, जो अच्छे चिकित्सक होने के साथ लेखक भी हैं।

इस विद्यालय में आयुर्वेद का अध्यापन पाश्चात्य चिकित्सा के साथ होता है। आयुर्वेद के प्रधान अध्यापक शुद्ध संस्कृत पढ़कर आयुर्वेद पढ़े हुए हैं। भूगोल, इतिहास, साइन्स, गणित आदि विषयों का ज्ञान उनकी शिक्षा के समय आयुर्वेद के लिए जरूरी नहीं था। विद्यार्थी इन्टर साइन्स की योग्यता के आते हैं। इसलिए उनकी विकसित प्रतिभा तथा शंकाओं की तृप्ति का मेल इनके पाठ के साथ न होकर पाश्चात्य चिकित्सा के साथ होता है। इसलिए इनका झुकाव अधिक उधर रहता है जो अस्वाभाविक नहीं है। विद्यार्थी की जिज्ञासा को आज के समय में गुरुभक्ति या गुरु-वचन से पूरा नहीं किया जा सकता। इसलिए इस विद्यालय के विद्यार्थी प्रायः डाक्टरी चिकित्सा करते हैं; यह धारणा सामान्य रूप से लोगों की बनी है।

ललितहरि आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत

राजा ललितप्रसाद और राजा हरिप्रसाद दो भाई थे। इन्होंने आयुर्वेदिक कालेज की संस्थापना आज से (लगभग) पैंतीस वर्ष पूर्व की थी। उस समय यहाँ पर आयुर्वेद की शिक्षा साधारण पाठशाला के रूप में थी। पीछे से उत्तर प्रदेश का बोर्ड बन जाने पर और उसके अनुसार पाठ्यक्रम चलाने पर यह उससे सम्बद्ध हो गया। इस संस्था की अपनी फार्मेसी है।

यह संस्था बहुत अच्छे स्थान पर स्थित है; एक प्रकार से पीलीभीत अलमोड़ा

की तराई है, यहाँ पर वनस्पतियाँ पर्याप्त हैं। इसलिए विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबन्ध इस सम्बन्ध में अच्छा रहता है। पर्वतीय तथा आस-पास के विद्यार्थी इस संस्था से बराबर लाभ उठाते हैं। कालेज के प्रिन्सिपल डाक्टर आशानन्द पंजरत्न हैं।

ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज

इस कालेज की स्थापना आज से लगभग सैंतीस वर्ष पूर्व हुई थी, उस समय इस विद्यालय की बिल्डिंग सबसे सुन्दर और विशाल थी। इसके संस्थापकों में मुजफ्फर-नगर के राजा सुखवीरसिंहजी का मुख्य हाथ था। इससे पूर्व इस संस्था में आयुर्वेद की पढ़ाई पाठशाला के रूप में होती थी और विद्यापीठ की परीक्षाएँ उस समय दी जाती थीं।

कालेज का रूप बन जाने पर इसका सम्बन्ध बोर्ड से हो गया। इस समय बोर्ड से सम्बन्धित दो ही विद्यालय उत्तर प्रदेश में थे, जिनमें एक ऋषिकुल का और दूसरा पीलीभीत का था। इस कालेज की विशेष उन्नति स्वर्गीय कविराज ज्ञानेन्द्रनाथ सेन कविरत्न के समय हुई। आप यहाँ पर एक लम्बे समय तक रहे और यहीं से निवृत्त हुए।

कालेज की अपनी फार्मेसी है, अपनी प्रयोगशाला है और अपने स्वतंत्र अन्तः-बाह्य अस्पताल हैं। इस समय यहाँ पर बोर्ड के पाठ्यक्रमानुसार अध्यापन होता है।

अन्य पाठशालाएँ

इनमें ऋषिकेश में बाबा काली कमलीवाले की आयुर्वेदशाला बहुत पुरानी है, सम्भवतः सबसे प्राचीन है। यहाँ पर आयुर्वेद का प्रारम्भ सम्भवतः १९१६ ईसवी से हुआ। सबसे प्रथम डाक्टर संमतरामजी, जो कि पहले गुरुकुल काँगड़ी में चिकित्सक और वेद के अध्यापक थे, यहाँ पर चिकित्सक बनकर आये। उनके समय आयुर्वेद का अध्यापन प्रारम्भ हुआ। पीछे से धन्वन्तरिभवन बना और जयपुर के प्रसिद्ध वैद्य श्री स्वामी लक्ष्मीरामजी द्वारा इसका उद्घाटन विधिपूर्वक हुआ।

यहाँ पर आयुर्वेद विद्यापीठ की आचार्य परीक्षा तक पढ़ाई होती है, विद्यापीठ की पढ़ाई करानेवाली यह प्राचीन संस्था है। विशुद्ध आयुर्वेद का ज्ञान यहाँ कराया जाता है। इस समय इस विद्यालय के आचार्य श्री स्वामी दयानिधिजी हैं। विद्यालय का अपना बाह्य चिकित्सालय भी है।

सम्पूर्ण भारत की आयुर्वेदिक शिक्षासंस्थाएँ

यह संग्रह भिषग्भारती, वर्ष ५, मार्च १९५८ से उद्धृत है, इसमें यदि कुछ रह गया हो तो उसके लिए क्षमा चाहता हूँ। मैंने इस सम्बन्ध में प्रत्येक प्रान्त के स्वास्थ्य-

मंत्रियों को पत्रक भेजा था; उनसे अपने प्रान्त की इस सम्बन्ध की जानकारी चाही थी। मुझे दुःख है कि केरल से पत्र की पहुँच आयी और बंगाल से कालेजों के नाम और पते हीआये। शेष प्रान्तों के मंत्रियों से पत्र की पहुँच भी नहीं आयी।

आन्ध्र

गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, हैदराबाद।

आसाम

गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, गोहाटी।

बिहार

(१) शिवगंगा आयुर्वेदिक महाविद्यालय, मधुबनी-दरभंगा; (२) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, पटना; (३) अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय (मुंगेर); (४) धर्मसमाज संस्कृत कालेज, मुजफ्फरपुर; (५) एस. एन. राय आयुर्वेदिक कालेज, भागलपुर।

बम्बई

(१) आर. ए. पोद्दार मेडिकल कालेज (आयुर्वेदिक) वर्ली, बम्बई; (२) आयुर्वेद विद्यालय, पूना; (३) आर्यांग्ल वैद्य महाविद्यालय, सतारी सी. टी. (सतारा); (४) श्री ओ. एच. नाज़र आयुर्वेदिक महाविद्यालय, लाल दरवाज़ा, स्टेशनरोड—सूरत; (५) गुलाब कुंवर बा आयुर्वेदिक कालेज, जामनगर; (६) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, बड़ोदा; (७) आयुर्वेद महाविद्यालय, समन्वय रुग्णालय महाल, नागपुर; (८) आयुर्वेद महाविद्यालय, अहमदनगर; (९) जी. एस. एम. जो. आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, नडियाद (खेड़ा); (१०) आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, नादेड़ (औरंगाबाद); (११) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, शिव (बम्बई); (१२) पुनर्वसु शुद्ध आयुर्वेद महाविद्यालय, यूनीवर्सल हेल्थ इन्स्टीच्यूट—नीलम मैन्सन, लैमिंग्टन रोड, बम्बई ४; (१३) अष्टांग आयुर्वेद महाविद्यालय, ४७९।१, सदाशिव पेठ, पूना; (१४) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, शनिगली, रविवार पेठ—नासिक; (१५) विदर्भ आयुर्वेद विद्यालय, अमरावती; (१६) राधाकिशन तोशनीवाल आयुर्वेद महाविद्यालय, अकोला।

केरल

आयुर्वेदिक कालेज, त्रिवेन्द्रम।

मद्रास

(१) कालेज एण्ड हास्पीटल आफ़ इन्टिग्रेड मेडिसिन, मद्रास; (२) दि वैंकटरमन आयुर्वेदिक कालेज, माईलापुर, मद्रास।

मध्य प्रदेश

(१) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, रायपुर; (२) राजकुमार सिंह आयुर्वेदिक कालेज, इन्दौर; (३) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, ग्वालियर।

उड़ीसा

(१) गोपबन्धु आयुर्वेद विद्यापीठ, पुरी; (२) सदाशिव संस्कृत कालेज, पुरी; (३) विद्याभवन संस्कृत कालेज, बालनगीर।

पंजाब

(१) श्री दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज, जालन्धर; (२) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, पटियाला; (३) आयुर्वेदिक कालेज, अमृतसर; (४) महन्त आयुर्वेदिक कालेज, रोहतक; (५) प्रेमगिरि आयुर्वेदिक कालेज, भिवानी; (६) आयुर्वेदिक कालेज, पठानकोट।

राजस्थान

(१) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, जयपुर; (२) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, उदयपुर; (३) सनातनधर्म आयुर्वेदिक कालेज, बीकानेर; (५) परस्वमपुरी आयुर्वेदिक कालेज, सीकर; (६) बिरला संस्कृत आयुर्वेदिक कालेज, पिलानी।

उत्तर प्रदेश

(१) बुन्देलखण्ड आयुर्वेदिक कालेज, झाँसी; (२) काशी हिन्दू यूनीवर्सिटी आयुर्वेदिक कालेज, वाराणसी; (३) आयुर्वेदिक विद्यालय, देहरादून; (४) ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज, हरिद्वार; (५) गुरुकुल काँगड़ी आयुर्वेदिक कालेज, हरिद्वार; (६) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, लखनऊ; (७) अर्जुन आयुर्वेदिक विद्यालय, बनारस; (८) आयुर्वेद विद्यालय, बड़ागाँव (बनारस); (९) ललित हरि आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत; (१०) मेरठ आयुर्वेदिक कालेज, नौचन्दी (मेरठ); (११) आयुवदिक कालेज, अतारा (बांदा); (१२) अर्जुन दर्शनानन्द आयुर्वेदिक कालेज, वाराणसी; (१३) उत्तराखण्ड आयुर्वेदिक कालेज, गुप्त काशी (गढ़वाल); (१४) कान्यकुब्ज आयुर्वेदिक कालेज, लखनऊ; (१५) बाबा कालीकमली आयुर्वेद महाविद्यालय, ऋषिकेश (देहरादून); (१६) गुरुकुल आयुर्वेदिक कालेज, वृन्दावन; (१७) महिला आयुर्वेदिक कालेज, मेरठ; (१८) द्विवेदी आयुर्वेदिक कालेज, कानपुर।

पश्चिम बंगाल

(१) यामिनीभूषण अष्टांग आयुर्वेदिक कालेज, १७०, राजा देवेन्द्र स्ट्रीट, कलकत्ता; (२) श्यामादास वैद्यशास्त्रपीठ, २९४।३।१ अपर सर्क्युलर रोड, कल०;

(३) विश्वनाथ आयुर्वेद महाविद्यालय, ९४, ग्रे स्ट्रीट कल०; (४) आयुर्वेद प्रतिष्ठान,१२३, हरीश मुकर्जी रोड, कलकत्ता २६; (५) वैद्यक पाठशाला, पो० आ० कोंटाई, मिदनापुर; (६) नवद्वीप आयुर्वेदिक कालेज, नवद्वीप।

दिल्ली

(१) बनवारीलाल आयुर्वेदिक विद्यालय, दिल्ली; (२) दयानन्द आयुर्वेदिक कन्या महाविद्यालय, दिल्ली; (३) आयुर्वेदिक एण्ड तिब्बिया कालेज, दिल्ली।

मैसूर

(१) गवर्मेन्ट कालेज आफ़ इन्डियन मेडिसिन, मैसूर; (२) तारानाथ आयुर्वेद विद्यापीठ सोसायटी, बेलगाँव; (३) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, बीजापुर; (४) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, हुबली।

आयुर्वेदिक रिसर्च इन्स्टीच्यूट

(१) सैन्ट्रल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, जामनगर; (२) बोर्ड आफ रिसर्च इन आयुर्वेद, बम्बई; (३) बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी, आयुर्वेदिक कालेज रिसर्च सैक्शन, बनारस; (४) तिब्बिया कालेज (रिसर्च सैक्शन), अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी, अलीगढ़; (५) इन्डियन ड्रग रिसर्च एसोसियेशन, पूना; (६) फार्माकोग्नोसी डिपार्टमैन्ट, यूनीवर्सिटी आफ़ ट्रावनकोर, त्रिवेन्द्रम; (७) बड़ोदा यूनीवर्सिटी मेडिकल कालेज (आयुर्वेदिक रिसर्च सैक्शन), बड़ोदा; (८) गवर्मैन्ट आयुर्वेदिक कालेज (रिसर्च सैक्शन), त्रिवेन्द्रम; (९) झांसी आयुर्वेदिक कालेज (रिसर्च सैक्शन), झांसी; (१०) रिसर्च डिपार्टमैन्ट एटैच्ड टू दी आयुर्वेदिक कालेज, गोहाटी; (११) श्री जयराम राजेन्द्र इन्स्टीटयूशन्स आफ़ इण्डियन मेडिसिन, बंगलोर; (१२) आर० ए० पोद्दार मेडिकल कालेज, बम्बई; (१३) हाफकिन इन्स्टीच्यूट, बम्बई; (१४) सैन्ट्रल ड्रग रिसर्च इन्स्टीच्यूट, छतरमंजिल, लखनऊ; (१५) यूनीवर्सल हेल्थ इन्स्टीच्यूट, नीलम मैन्शन, लैमिंगटन रोड, बम्बई ४।

तिब्बिया कालेज

(१) तिब्बिया कालेज, मुस्लिम यूनीवर्सिटी, अलीगढ़; (२) यूनानी निज़ामिया तिब्बिया कालेज, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश); (३) आयुर्वेदिक एण्ड यूनानी तिब्बिया कालेज, करौलबाग, देहली; (४) गवर्मैन्ट तिब्बिया कालेज, पटना; (५) यूनानी मेडिकल कालेज, इलाहाबाद; (६) तकमील उल तिब्बी कालेज, लखनऊ; (७) भारत तिब्बिया कालेज, सहारनपुर (उत्तर प्रदेश)।

प्रसिद्ध आयुर्वेदिक फार्मेसियाँ

बम्बई प्रान्त

(१) गोंडल रसशाला, गोंडल (सौराष्ट्र); (२) श्री धूतपापेश्वर औषधि कारखाना लिमिटेड, पनवेल, कोलाबा (बम्बई); (३) ऊंझा आयुर्वेदिक फार्मेसी, ऊंझा (उत्तरगुजरात); (४) झण्डू फार्मेस्युटिकल कम्पनी लिमिटेड, वर्ली (बम्बई); (५) सिन्ध आयुर्वेदिक फार्मेसी, ३७५, कालबादेवी, बम्बई २; (६) गुजरात आयुर्वेदिक फार्मेसी, गान्धीरोड, अहमदाबाद; (७) दी आयुर्वेद औषधि भण्डार, पूना; (८) दी आयुर्वेद रसशाला, पूना; (९) दी आयुर्वेद सेवासंघ, नासिक; (१०) दी आयुर्वेद अर्कशाला-लिमिटेड, सतारा; (११) श्री आत्मानन्द सरस्वती सहकारी फार्मेसी. सूरत; (१२) आयुर्वेदिक फार्मेसी लिमिटेड, अहमदनगर।

मध्य प्रदेश

(१) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, रायपुर; (२) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, ग्वालियर; (३) वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, नागपुर; (४) राजकुमार सिंह आयुर्वेदिक कालेज–फार्मेसी, इन्दौर; (५) स्यालीराम आयुर्वेदिक फार्मेसी, इन्दौर।

पश्चिम बंगाल

(१) बंगाल कैमिकल एण्ड फार्मेस्युटिकल वर्क्स, कलकत्ता; (२) वैद्यनाथ आयुर्वेदभवन लिमिटेड, १ गुप्तालेन, कलकत्ता; (३) ढाका शक्ति औषधालय, ५२।५ वीडनस्ट्रीट, कलकत्ता; (४) ढाका आयुर्वेद फार्मेसी, प्रिन्स अनवरशा रोड, कलकत्ता ३३; (५) बिरला लेबोरेटरीज़, कलकत्ता; (६) साधना औषधालय, २०६ कार्नवालीस स्ट्रीट, कलकत्ता; (७) कल्पतरु आयुर्वेद फार्मेसी, २२३, चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता; (८) विश्वनाथ आयुर्वेद भवन, ७२, बडतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता; (९) सी० के० सेन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, ३४, चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता; (१०) ढाका औषधालय, ५६। सी. बेडोन स्ट्रीट, कलकत्ता; (११) मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी, ३९१ अपर चितपुर रोड, कलकत्ता; (१२) कलकत्ता कैमिकल्स, ३५, पांडिया रोड, कलकत्ता; (१३) डाबर (एस. के. बर्मन) लि. १४२, रासबिहारी एवेन्यू, कलकत्ता; (१४) आर्य औषधालय, ६१।१३ थियेटर रोड, कलकत्ता; (१५) धन्वन्तरि आयुर्वेद भवन, २४४ चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता; (१६) हावड़ा कुष्ठ कुटीर, २६ हरीसनरोड, कलकत्ता; (१७) देवेन्द्रनाथ आयुर्वेदिक फार्मेसी, बहूबाजार, कलकत्ता; (१८) अष्टांग आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, कलकत्ता।

बिहार

(१) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, पटना; (२) वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन।

उड़ीसा

गोपबन्धु आयुर्वेदिक विद्यापीठ कालेज फार्मेसी, पुरी (उड़ीसा)।

उत्तर प्रदेश

(१) वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि. इलाहाबाद; (२) गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार; (३) ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, हरिद्वार; (४) स्टेट फार्मेसी आफ़ आयुर्वेदिक एण्ड यूनानी मेडिसिन, उत्तरप्रदेश, लखनऊ; (५) बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी आयुर्वेदिक फार्मेसी, बनारस; (६) गवर्नमेन्ट ड्रग को-आपरेटिव ड्रग्स फैक्टरी, रानीखेत; (७) देशरक्षक औषधालय, कनखल (सहारनपुर); (८) बाबा काली कम्बली वाले की आयुर्वेदिक फार्मेसी, ऋषिकेश (देहरादून)।

मद्रास

(१) दी मद्रास स्टेट इन्डियन मेडिकल प्रैक्टिशनर कोआपरेटिव फार्मेसी एण्ड स्टोर लिमिटेड, मद्रास; (२) नाबी आर आयुर्वेदिक फार्मेसी।

आसाम

गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज—फार्मेसी, गोहाटी।

केरल

(१) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, त्रिवेन्द्रम; (२) श्री केरल वर्मा आयुर्वेद फार्मेसी, त्रिचूर; (३) आर्यवैद्यशाला, कोटाकल (केरल)।

आन्ध्र

(१) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, हैदराबाद (आन्ध्र)।

मैसूर

निखिल कर्णाटक सेन्ट्रल आयुर्वेदिक फार्मेसी लिमिटेड, मैसूर।

पंजाब

(१) पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर; (२) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, पटियाला; (३) पटियाला आयुर्वेदिक फार्मेसी, सरहिन्द; (४) प्रताप आयुर्वेदिक फार्मेसी, पंजाब; (५) भरद्वाज आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर; (६) श्रीकृष्ण आयुर्वेदिक फार्मेसी, नमक मण्डी, अमृतसर; (७) डी० ए० वी० फार्मेसी, जालन्धर।

दिल्ली

(१) मजूमदार आयुर्वेदिक फार्मेस्युटिकल वर्क्स, नयी दिल्ली; (२) पुष्करणा आयुर्वेदिक फार्मेसी, दिल्ली; (३) मुलतानी आयुर्वेदिक फार्मेस्युटिकल कम्पनी, नयी दिल्ली; (४) सुखदाता आयुर्वेदिक फार्मेसी, चाँदनी चौक, दिल्ली; (५) राजवैद्य शीतलप्रसाद, चाँदनी चौक, दिल्ली; (६) दिल्ली आयुवदिक वर्क्स, सीताराम बाजार, दिल्ली (७) हमदर्द दवाखाना, दिल्ली।

राजस्थान

(१) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, जयपुर; (२) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, जोधपुर; (३) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, भरतपुर; (४) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, उदयपुर; (५) रामकिशोर औषधालय, भरतपुर; (६) मोहता रसायन शाला, बीकानेर; (७) मोहता आयुर्वेद साधना, हिन्दी विश्वविद्यालय, उदयपुर; (८) आयुर्वेद सेवाश्रम, उदयपुर; (९) आयुर्वेद रिसर्च इन्स्टीच्यूट्, उदयपुर; (१०) धन्वन्तरि औषधालय, जयपुर; (११) राजस्थान आयुर्वेदिक औषधालय, अजमेर; (१२) कृष्ण गोपाल औषधालय, कालेड़ा बोगला, अजमेर।

विश्वविद्यालयों में आयुर्वेदिक फैकल्टियाँ

ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय, पूना विश्वविद्यालय, गुजरात विश्वविद्यालय, ट्रावनकोर-कोचीन विश्वविद्यालय में हैं।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय में यूनानी तिब्ब की फैकल्टी है; हैदराबाद विश्वविद्यालय में भी यूनानी तिब्बिया कालेज है।

आगरा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत भी गुरुकुल कांगड़ी आयुर्वेदिक कालेज को लेकर आयुर्वेदिक फैकल्टी बनाने का प्रस्ताव विचाराधीन है।

प्रान्तों में भारतीय चिकित्सा के संचालक

१. भारतीय चिकित्सा के संचालक (डाइरेक्टर), किला पौक, मद्रास–१०
२. आयुर्वेद के संचालक, पटियाला (पंजाब)
३. आयुर्वेद के संचालक, बम्बई
४. आयुर्वेद के संचालक, जयपुर (राजस्थान)
५. भारतीय चिकित्सा विभाग के विशेष अधिकारी, आन्ध्र (हैदराबाद)
६. ट्रावनकोर कोचीन भारतीय चिकित्सा के संचालक, त्रिवेन्द्रम
७. मध्यप्रदेश भारतीय चिकित्सा परिषद् के संचालक, ग्वालियर

२. जे० ए० एस० एम० पी० आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, स्टेशन रोड़, नड़ियाद
३. पुनर्वसु आयुर्वेद महाविद्यालय (१४३ बी), कैम्स कौर्नर के समीप, बम्बई २६
४. शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, शानीगली, रणवीर पेठ, नासिक
५. शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, आजुआ रोड़, बड़ोदा
६. शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, सायन स्टेशन के सामने, सायन, बम्बई २२

इस पाठ्यक्रम को बम्बई प्रान्त में प्रचलित किया गया है। मराठी, गुजराती, कन्नड़ और हिन्दी चार भाषाओं में परीक्षा होती है। डिप्लोमा पाठ्यक्रम चार वर्ष का है। मैट्रिक परीक्षा या संस्कृत की मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण छात्र प्रवेश कर सकते हैं।

पाठ्य विषय—शारीर, दोष धातु मल विज्ञान, वनस्पति परिचय, द्रव्यगुण, रसशास्त्र, स्वस्थ वृत्त, संस्कृत और पदार्थ विज्ञान, अष्टांगहृदय, निदानपंचक, रोग-विधान और कायचिकित्सा, शल्य शालाक्य तंत्र, प्रसूतितंत्र, विषतंत्र, औषध निर्माण विधान, विधिशास्त्र।

इस पाठ्यक्रम को चालू करने का श्रेय श्री पं० शिवशर्माजी आयुर्वेदाचार्य, श्री पं० हरिदत्तजी शास्त्री, श्री नारायण हरि जोशी एवं श्री वामनराव भाई को है। आप लोगों के निरन्तर परिश्रम से उस समय के प्रधान मंत्री माननीय श्री मुरारजी देसाईजी ने इसे परीक्षणात्मक रूप में प्रारम्भ किया। परन्तु पीछे श्री जोशीजी एवं पण्डितजी की लगन और निष्ठा से इसका प्रसार दिन पर दिन अधिक हुआ। आज इन विद्यालयों में पढ़नेवाले विद्यार्थी थोड़े खर्च में आयुर्वेद का उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

शुद्ध शब्द का अर्थ किसी भी वस्तु से अमिश्रित है। इसमें पाश्चात्य दृष्टिकोण से पृथक् रखकर आयुर्वेद का अध्ययन कराना ही लक्ष्य है।

श्री पं० शिवशर्माजी को इसके लिए बहुत परिश्रम एवं भिन्न-भिन्न विरोध सहने पड़े। आपमें इतनी क्षमता, निष्ठा थी कि आप अपनी लगन पर लगे रहे, आपको श्री हरिदत्तजी, श्री नारायण हरि जोशी, श्री वामनराव जैसे सच्चे सहयोगी भी मिल गये। प्राचीन पाठशालाओं के रूप एवं गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को सच्चे अर्थों में पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित करनेवाली भारत की यही शिक्षा प्रणाली थी, जिसको आप सज्जन नये रूप में जीवित कर रहे हैं।

इस पाठ्यक्रम में विद्यार्थी ग्रन्थ द्वारा आयुर्वेद को पढ़ता है, उसके सामने आचार्य जो व्याख्या करता है, वह प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर ही रहती है। इससे विद्यार्थी को अपने आयुर्वेद के प्रति श्रद्धा होती है। भले ही कुछ विचारकों को इसमें संकुचित वृत्ति का आभास मिले, परन्तु फिर भी इस वैज्ञानिक युग में, जिसमें नित्य प्रति शोध

हो रही है, उसमें इसका भी (कम से कम इस देश के लिए) महत्त्व है। इसको कुछ विद्वानों ने अपनी दृष्टि में पहचाना और वे इसमें जुटे हैं--सफलता और असफलता का निर्णय काल ही करेगा, परन्तु आयुर्वेद के प्रति इनकी निष्ठा महत्त्वपूर्ण-आदरणीय है।

उत्तरपीठिका

आयुर्वेद की शिक्षा का आज जितना प्रचार है, उसमें इसकी उपयोगिता का अंश उतना अधिक नहीं, जितना इसकी प्राचीनता का है। आयुर्वेद से रोगी अच्छे होते हैं; तो मिट्टी लगाने से, प्राकृतिक चिकित्सा एवं होम्योपैथिक से भी रोगी स्वस्थ होते हैं। इसलिए यह विशेष महत्त्वपूर्ण बात नहीं।

आयुर्वेद भारत भूमि में उत्पन्न हुआ है, पनपा है, यह ठीक है; परन्तु अत्रिपुत्र के अनुसार चिकित्सा या आयु का ज्ञान शाश्वत-अनादि है। इसलिए सब देशों में इसकी उत्पत्ति और विकास मिलता है। मनुष्य में मरण धर्म जिस प्रकार से समान है, उसी प्रकार उससे बचने की प्रवृत्ति भी समान है। इसके मार्ग भिन्न हो सकते हैं, किन्तु जैसा कि भिन्न-भिन्न मार्गों से बहनेवाला नदियों का पानी अन्त में समुद्र में ही पहुँचता है, उसी प्रकार से भिन्न-भिन्न चिकित्सापद्धतियों की अन्तिम स्थिति मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोग मुक्ति में ही है।

जिस प्रकार मनुष्यों में रुचि की भिन्नता रहती है, उसी प्रकार बुद्धि की भी भिन्नता रहती है। परन्तु इन सबका मार्ग भिन्न होने पर भी लक्ष्य एक ही रहता है और वह दीर्घायु है, जिसके लिए भरद्वाज इन्द्र के पास गया था (चरक. सू. अ. १।३)।

आयुर्वेद की विशेषता अन्य पद्धतियों से दो बातों में है; शारीरिक और मानसिक इन दोनों का विचार इस शास्त्र में है, यह विचार आत्मा और इन्द्रिय के ज्ञान (सूक्ष्म ज्ञान) के द्वारा पूरा होता है। इसी लिए शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इन चार के संयोग का नाम धारि, जीवन, चेतना है। आयुर्वेद में इन चारों का विचार है; शेष चिकित्सापद्धतियों में केवल शरीर या शरीर और मन का ही विचार है। सामान्य रूप से यह ज्ञान भूतसंघातवाद का है, जिसे बार्हस्पत्य, पौरन्दर या चार्वाक नाम से कहा जाता है। अत्रिपुत्र के कहे सद्वृत्त, मोक्ष तथा मोक्ष के उपाय, आत्मा, पुनर्जन्म आदि विषय अन्य चिकित्सापद्धतियों में नहीं मिलते। आयुर्वेद के पिछले ग्रन्थों में भी इनका उल्लेख नहीं रहा; सुश्रुत में चरक की अपेक्षा कम है; संग्रह में सुश्रुत की अपेक्षा अधिक है; काश्यप संहिता तथा अन्य ग्रन्थों में इसकी समाप्ति है। इसलिए स्पष्ट है कि अत्रिपुत्र ने जिस आयुर्वेद का उपदेश अग्निवेश को दिया था, उसके उपयुक्त

विषय पीछे (लगभग ८वीं शती ईसवी में) आयुर्वेद से अलग हो गये। अब आयुर्वेद का जो रूप बचा, वह प्रायः वही था जो कि आज दूसरी चिकित्सापद्धतियों का है।

रसचिकित्सा में तो, जो कि दसवीं शती ईसवी में प्रारम्भ हुई है, मन, आत्मा, इन्द्रिय का कुछ भी विचार नहीं; उसका तो स्पष्ट कहना है—

न रोगाणां न दोषाणां न दूष्याणाञ्च परीक्षणम्।
न देशस्य न कालस्य कार्यं रसचिकित्सिते॥
साध्येषु भेषजं सर्वमीरितं तत्ववेदिना।
असाध्येष्वपि दातव्यं रसोऽतः श्रेष्ठ उच्यते॥

रसचिकित्सा में न तो रोगों का, न दोषों का, न दूष्यों का, न देश और न काल का विचार करना चाहिए। विद्वानों ने यह तो कहा ही है कि साध्य रोगों में औषध देनी चाहिए, परन्तु रस औषध तो असाध्य रोगों में भी देनी चाहिए; इसी लिए रस-चिकित्सा अन्य से श्रेष्ठ है।

रसचिकित्सा का ही परिष्कृत रूप इंजैक्शन चिकित्सा है। रसचिकित्सा के सम्बन्ध में गोपाल कृष्ण ने कहा है—

अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रसंगतः।
क्षिप्रमारोग्यदायित्वादौषधिभ्योऽधिको रसः॥ रसेन्द्रसारसंग्रह

रस औषधि की मात्रा थोड़ी होती है, इसके खाने से क्वाथ आदि की भाँति अरुचि नहीं होती, जल्दी क्रिया होने के कारण आरोग्य सद्यः मिलता है, इसलिए औषधियों से रस श्रेष्ठ है। आजके इंजैक्शन तथा रासायनिक औषधियों (Chemotheropy) में भी ये लाभ हैं; इनका भी उपयोग आज चिकित्सा में रस औषध की भाँति होता है। यह उपयोग इतना अधिक है कि वैद्यगण—वर्त्तमान आयुर्वेदिक संस्थाओं से शिक्षित या अशिक्षित सब इसका उपयोग किसी न किसी रूप में करते हैं। यह चिकित्सा-पद्धति रसशास्त्र का आधुनिक परिष्कृत रूप ही है, ऐसी मेरी मान्यता है। इसमें भी दोष, दूष्य, बल, काल का सामान्य रूप से विचार नहीं होता।

इसलिए आयुर्वेद की अपनी विशेषता, जिसे अत्रिपुत्र ने अग्निवेश को सिखाया, वास्तविक रूप में कुछ ही समय तक रही। उसके पीछे इसका रूप सर्वथा भूतसंघात-वादी बनकर शरीर तक ही सीमित हो गया, जो आज भी है। यह रूप भी पहले जैसा नहीं रहा, इसमें नाड़ीज्ञान, मूत्र, मल-परीक्षा, अफीम, मस्तकी, चोपचीनी जैसी दूसरी औषधियां आदि विषय मिलते गये। वाग्भट ने इस सम्बन्ध में निर्देश भी किया है, इसलिए यह कहना कि आज जो आयुर्वेद के ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें प्राचीन

आयुर्वेद ही है; सही नहीं है। इसमें समयानुसार परिवर्त्तन हुआ; वैदिक देवताओं के साथ बौद्ध देवता भी आये, जातहारिणी आदि मान्यताएँ, षष्ठी की पूजा, बलि, ग्रहों की पूजा आदि बातें भी इसमें आ गयीं, इसलिए इसकी शुद्धता नहीं रही।

शुद्ध आयुर्वेद शब्द स्वयं अस्पष्ट है; आयुर्वेद के शुद्ध और अशुद्ध होने की कसौटी इसके ग्रन्थों पर स्वयं नहीं उतरती। इसी लिए वाग्भट ने कहा है कि हठ या दुराग्रह को छोड़कर मध्यस्थ वृत्ति से सत्य को ग्रहण करना चाहिए। यदि यूनानी में प्रसिद्ध वनपसा, रेशाखतमी, कासनी आयुर्वेद के अन्तर्गत आ सकते हैं, तो पैनसिलीन, क्युलीन, सैलीसिलेट आदि औषधियों ने क्या पाप किया, जिससे इनको आयुर्वेद न माना जाय। इसलिए शुद्ध और अशुद्ध विशेषण आयुर्वेद के साथ लगाना एक पक्ष का स्वार्थ है।

आज आयुर्वेद के ह्रास का मुख्य कारण इसका संस्कृत से घिरा होना और एक विशेष वर्ग के हाथ में इस संस्कृत के कारण अधिकार रहना है। यही वर्ग इसमें शुद्ध विशेषण लगाकर इसका विकास और भी संकुचित करता जाता है।

इसलिए युगानुरूप चिकित्सा का असली रूप समझकर मधुकरी वृत्ति से शरीर, इन्द्रिय, मन, आत्मा के लिए उपयोगी चिकित्सा को ग्रहण करना ही चाहिए। अत्रि-पुत्र ने ठीक ही कहा है—

तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते।
स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत्॥ चरक. सू. अ. १।१३४

जिससे आरोग्य मिले वही सही औषध है और जो रोगों से छुड़ाये वही श्रेष्ठ वैद्य है। इसमें आयुर्वेद का क्षेत्र, उसकी परिधि खुली रहती है, उसके चारों ओर कोई रेखा या दीवार नहीं खिंचती है। यह उदारता अत्रिपुत्र में ही सम्भव थी, काशिपति धन्वन्तरि में नहीं थी, जिसने जातिभेद से चिकित्साभेद करके इसको संकुचित किया (सुश्रुत. शा. अ. १०।५)। इसलिए संस्कृत की या अन्य भाषा की तथा जाति की कठोर दीवार तोड़कर सच्चे अर्थों में आयुर्वेद की शिक्षा या प्रचार करना चाहिए।

दो कमीशन

आयुर्वेद की उन्नति, उसके पाठ्यक्रम, उसका रूप आदि बातों का निर्णय करने के लिए भारत सरकार ने कई बार प्रयत्न किया। इनमें चोपड़ा कमेटी और दवे कमेटी ये दो कमेटियाँ मुख्य हैं। चोपड़ा कमेटी का निर्माण स्वतंत्रता के प्रारम्भ में हुआ था। इस कमेटी ने आयुर्वेद की औषधियों पर आधुनिक दृष्टि से खोज करने की सलाह दी थी। इसके अनुसार इस समय देश में कई स्थानों पर रिसर्च के नाम पर काम हो रहा

है, परन्तु इससे अभी तक कोई फल सामने नहीं आया और भविष्य में सामने आयेगा यह आशा रखना भी व्यर्थ है। क्योंकि संचालनसूत्र जिनके हाथ में है, उनका पिछला कोई भी कार्य ऐसा नहीं, जिसमें इस प्रकार की कोई आशा की जा सके। वैद्यों का तो बस एक ध्येय है, अपनी जेब को सुरक्षित रखकर दूसरे के धन पर रिसर्च की आवाज बुलन्द करना, और डाक्टरों या एम० एस-सी० वालों से यह स्पष्ट है कि इन्होंने अपने विषय में, जिसे उन्होंने नियमतः पढ़ा, जिसमें उपाधि ली, जिसके लिए नौकरी की; कोई देन नहीं दी, न कोई खोज की। इसलिए इस नये विषय में वे नयी वस्तु देंगे--यह आशा आकाशपुष्प की भाँति ही है। उन्होंने आयुर्वेद के लिए जो प्रेम दिखाया, वह तो उनकी उदारता है, क्योंकि वे जानते हैं कि यह मूर्ख जमात है, इसमें जरा भी चमत्कार दिखाने से, अंग्रेजी में बोलने-लिखने से, रसशास्त्र को वर्त्तमान रसायन दृष्टि से कहने पर (आयुर्वेद के रसशास्त्र का वर्त्तमान रसायन विद्या से कोई सम्बन्ध नहीं) वैद्यसमुदाय चकाचौंध में आ जायगा। इसलिए इनसे की हुई रिसर्च से आयुर्वेद की उन्नति होगी या चोपड़ा कमेटी का उद्देश्य सफल होगा; ऐसा मानना सत्य नहीं। यह तो सरकार ने वैद्यों का मुख बन्द करने के लिए कुछ रुपयों का दान किया है, जिससे वैद्यों की जीविका चल रही है।

दवे कमेटी की नियुक्ति कुछ वर्ष पूर्व हुई थी। इसका उद्देश्य सम्पूर्ण देश के लिए एक पाठ्यक्रम तैयार करना था। इसके लिए कमेटी ने सब स्थानों को देखकर एक सर्वसम्मत पाठ्यक्रम बनाया। यह पाठ्यक्रम उपयोग की दृष्टि से ठीक था। परन्तु वैद्यसमाज का दुर्भाग्य कि उसने इसमें भी रोड़े अटकाये, जिससे आज तक यह नहीं चल सका। इसमें विघ्न डालनेवाला वही वर्ग था, जो कि आयुर्वेद को एक वर्ग तक जकड़े रखना चाहता है, वह नहीं चाहता कि आयुर्वेद का सही रूप जनता के सामने आये।

इस पाठ्यक्रम में अर्वाचीन पाश्चात्य चिकित्सा की शिक्षा का भी पूर्ण प्रबन्ध था, जिससे आयुर्वेद का ज्ञान 'युगानुरूप' बनता था, जो समय की माँग के अनुसार ठीक भी था। इस पाश्चात्य चिकित्साज्ञान से आयुर्वेद ज्ञान या आयुर्वेद नष्ट हो जायगा; इसका भय केवल उन्हीं को है जो आयुर्वेद नहीं समझते; या उनको भय है जो इसे संस्कृत ज्ञान या व्याकरण की शिक्षा के आधार पर ही सीखते हैं। विशाल दृष्टि, उदार चित्तवाले व्यक्ति को पाश्चात्य चिकित्साज्ञान से कुछ भी भय नहीं होता, वह तो उसे हृदय से लगाता है, उस ज्ञान से आयुर्वेद को और भी माँजता है। समय की माँग के अनुसार यह आवश्यक भी है। अपने तीस वर्षों के आयुर्वेद क्षेत्र में किये कार्य से मैं निश्चित आधार पर कह सकता हूँ कि इसका विरोध संस्कृत पढ़े आयुर्वेद के अध्यापक

या वैद्य, विशेषत: एक निश्चित वर्ग ही कर रहा है, जो अपने पुत्रों को तो डाक्टरी, पाश्चात्य शिक्षा सिखाता है, दूसरों की संतान को आयुर्वेद की अधूरी शिक्षा देकर उनके द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। उसे इस बात का भय है कि इण्टर साइन्स के विद्यार्थियों के आगे हमारी दाल नहीं गलेगी, इसी से वह इस पाठ्यक्रम का विरोध कर रहा है।

इसलिए सरकार द्वारा नियुक्त दोनों कमेटियों से आयुर्वेद का कोई भी उद्देश्य या भला होता मैं नहीं देखता। इसका एक ही रास्ता है; यदि आयुर्वेद में कुछ सत्यता है, तो यूरोप-अमेरिका जाकर उस पर मोहर लगवा लेनी चाहिए, वहाँ से मोहर लगने पर किसी में सामर्थ्य नहीं कि इसका प्रतिवाद कर सके या इस विषय में मुँह भी खोल सके।[1] बुद्धिमानों की परीक्षा जिस प्रकार भागवत में है, उसी प्रकार से सच्चे ज्ञान की परीक्षा आज वहाँ है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का आदर इस देश में तब हुआ, जब उनको यूरोप से नोवेल पुरस्कार मिला। उससे पूर्व भी वे इसी देश में थे—तब उनको आदर नहीं मिला। इसलिए आयुर्वेद की उन्नति का सच्चा पथ यूरोप के विद्वानों की खरी परीक्षा ही है, जहाँ पर प्रत्यक्ष और ईमानदारी ही प्रमाण है; शास्त्रवचन का कोई महत्त्व उस चिकित्सा प्रणाली में नहीं रहता।

पूर्वकाल में भी इस प्रकार की परीक्षाएँ थीं। पाणिनि को भी अपने व्याकरण की परीक्षा पाटलिपुत्र में करवानी पड़ी थी। उस परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही उस व्याकरण का प्रचार हुआ—

श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—
अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिर्पिंगलाविह व्याडिः।
वररुचिपतंजली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥ राजशेखर

इसलिए आयुर्वेद को इस परीक्षा से डरने की जरूरत नहीं, क्योंकि आग में डालने पर इसका खरा रूप सामने आ जायगा (हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा। रघु. १।१०)। इसलिए आयुर्वेद के अस्तित्व को रखने के लिए, इसके सच्चे रूप को

---

१. खेल का सामान बनानेवाली यू बेराय कम्पनी एक समय अपना सामान इस देश में बनाकर लन्दन केवल मोहर लगने के लिए भेजती थी। वहाँ से मोहर लग जाने पर उसकी कीमत कई गुनी बढ़ जाती थी। यहाँ के अंग्रेज इस पर इंग्लैंड की मोहर देखकर इसे खरीदते थे; उनकी देखादेखी भारतीय भी लेते थे। यही बात आयुर्वेद के साथ है। यूरोप की मोहर से डाक्टर बरतेंगे, उसे देखकर अन्य भारतीय भी बरतेंगे।

युग के अनुसार समझने के लिए सबसे सरल, छोटा मार्ग यही है कि यूरोप में जाकर इसकी जाँच करवा ली जाय। इसके लिए अपनी गाँठ का पैसा खोलना होगा। सरकार मदद करे या उसके रास्ते से यह हो, यह आशा अनुचित है। यह कर्त्तव्य वैद्यों का अपना है; उनको इस विषय पर, इस विद्या पर गर्व है; वे समझते हैं कि यह इस युग में अधिक जन-कल्याण करनेवाली है, तो स्वयं जाकर इसकी परीक्षा करवा लें। उपयोगी होने पर ज्ञान स्वतः इसको चमका देगा।

आयुर्वेद के विषय में अत्रिपुत्र ने जो कहा है, वह वास्तव में ऐसा ही है--

इदमखिलमधीत्य सम्यगर्थान् विमृशति योऽविमनाः प्रयोगनित्यः।
स मनुजः सुखजीवितप्रदाता भवति धृतिस्मृतिबुद्धिधर्मवृद्धः॥
यस्य द्वादशसाहस्री हृदि तिष्ठति संहिता।
सोऽर्थज्ञः स विचारज्ञश्चिकित्साकुशलश्च सः॥
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

चरक. सि. अ. १२।५१-५२-५४.

यह आयुर्वेद जन-कल्याण करनेवाला है, इसको जाननेवाला मनुष्य अर्थ को जाननेवाला, विचारवान् और उत्तम चिकित्साज्ञ होता है। इस संहिता में जो है, वही अन्यत्र मिलता है, जो इसमें नहीं वह अन्यत्र भी नहीं। ऐसा कहनेवाले ऋषि अत्रिपुत्र के वचनों के चारों ओर सीमा या परिधि नहीं खींचनी चाहिए, विश्वास के साथ, परीक्षकों के सामने उपस्थित करने में अपना गौरव-मान समझना चाहिए; इससे सत्य की परीक्षा होगी। सत्य ही शुद्ध है, अग्नि में पड़ने पर अशुद्ध-मैल सब जल जाता है।

परिशिष्ट

उडूप कमेटी की रिपोर्ट

भारत सरकार ने आयुर्वेद की स्थिति जाँचने के लिए तथा उसकी उन्नति के लिए २९ जुलाई १९५९ में एक कमेटी डाक्टर के० एन० उडूप, सर्जिकल स्पैशियलिस्ट, हिमाचल प्रदेश, शिमला की अध्यक्षता में बनायी थी। इस कमेटी ने सम्पूर्ण भारत का परिभ्रमण करके आयुर्वेदिक संस्थाओं, फार्मेसियों और राज्यों में आयुर्वेद की स्थिति का निरीक्षण कर अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को दी थी।

इस रिपोर्ट में इससे पूर्व की कमेटियों का विवरण संक्षेप में दिया हुआ है, इससे स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद की उन्नति-विकास के लिए भारत सरकार ने अभी तक क्या किया। सबसे प्रथम भोर कमेटी (१९४५ ईसवी में) बैठायी गयी थी।

भोर कमेटी की सूचना—भोर कमेटी ने स्वीकार किया कि वह समय तथा परिस्थितियों के कारण आयुर्वेदिक सिस्टम के विषय में सही सूचनाएँ नहीं प्राप्त कर सकी। तब भी उसने कहा कि स्वास्थ्य और चिकित्सा की दृष्टि से आयुर्वेदिक चिकित्सा के प्रश्न का निर्णय राज्यों के ऊपर छोड़ देना चाहिए। उसकी ठोस एवं करणीय सूचना यही थी कि सब मेडिकल संस्थाओं में आयुर्वेद के इतिहास की एक चेयर स्थापित की जाय।

इसके पीछे सन् १९४६ में स्वास्थ्यमंत्रियों की एक बैठक हुई, जिसमें आयुर्वेद की शिक्षा और गवेषणा के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार हुआ।

चोपड़ा कमेटी—इस बैठक के अनुसार लेफ्टीनैण्ट कर्नल आर० एन० चोपड़ा की अध्यक्षता में १९४६ ईसवी में एक कमेटी बनायी गयी। इसने सारे प्रश्न को नये सिरे से विचार कर १९४८ में एक रिपोर्ट सरकार को दी, इसमें मुख्य सूचनाएँ निम्न थीं—

१. पश्चिम और आयुर्वेद चिकित्सा का समन्वय करना आवश्यक है।
२. दोनों में जो भाग कमजोर हो उसकी पूर्त्ति परस्पर विभागों से करनी चाहिए।
३. मिश्रित पाठ्यक्रम से अनावश्यक पाठ्यक्रम को निकाल देना चाहिए।
४. सम्पूर्ण भारत में एक ही पाठ्यक्रम चलाना चाहिए।
५. संस्कृत का सामान्य ज्ञान और अंग्रेजी का आवश्यक ज्ञान एवं साथ में केमिस्ट्री, फिजिक्स, वाईओलोजी (प्राणी शास्त्र) का भी ज्ञान आवश्यक है।

६. पाठ्यक्रम पाँच वर्ष का रखना चाहिए। पाठ्य पुस्तकों में एकरूपता रहनी चाहिए।
७. पाठ्यपुस्तकें तैयार कराने के लिए एक बोर्ड की नियुक्ति होनी चाहिए।
८. एक ही अध्यापक पश्चिमी एवं प्राचीन आयुर्वेद विषय को पढ़ाये।
९. मेडिकल कालेजों में आयुर्वेद का इतिहास-विषयक पीठ स्थापित हो।
१०. मिश्रित पाठ्यक्रम के लिए अध्यापक शिक्षित करने चाहिए।
११. अध्यापकों को उचित वेतन दिया जाय।
१२. केन्द्रीय सरकार आयुर्वेदिक शिक्षा और चिकित्सा पर अपना नियन्त्रण रखे।
१३. स्वास्थ्य विभाग के अधीन उपसंचालक आयुर्वेद का पद बनाना चाहिए।
१४. दो बोर्ड पृथक् बनाने चाहिए—
  १. इन्डियन मेडिकल कौंसिल, २. कौंसिल आफ़ इन्डियन मेडिसिन।
१५. निम्न स्तरवाली शिक्षण संस्थाएँ या तो समाप्त कर देनी चाहिए अथवा दूसरी संस्थाओं में सम्मिलित कर देनी चाहिए।
१६. सब शिक्षण संस्थाएँ रिसर्च का केन्द्र बनायें। रिसर्च केन्द्र में दोनों पद्धतियों के शिक्षित-विज्ञ व्यक्ति रखने चाहिए।
१७. भारतीय चिकित्सा में खोज की बहुत जरूरत है। आधुनिक और आयुर्वेद दोनों चिकित्सा पद्धतियों में एकरूपता लाने की बहुत आवश्यकता है।
१८. केन्द्रीय गवेषणा-केन्द्र स्थापित करना चाहिए।
१९. आयुर्वेदिक फार्मेकोपिया बनानी चाहिए।
२०. भारतीय चिकित्सा में औषधि निर्माण की शिक्षा का प्रबन्ध होना आवश्यक है।

चोपड़ा कमेटी की सूचनाओं पर भारत सरकार का निर्णय संक्षेप में यह है—

१. दोनों पद्धतियों का मिश्रण सम्भव नहीं, क्योंकि दोनों पद्धतियों में सैद्धान्तिक तथा मुख्य बातों में पर्याप्त भेद है।
२. केन्द्रीय और राज्य सरकारों को यह निश्चय करना चाहिए कि जातीय स्वास्थ्य के लिए आधुनिक चिकित्सा पद्धति की शिक्षा दी जाय या न दी जाय।
३. आयुर्वेदिक और यूनानी खोज के सम्बन्ध में केन्द्रीय बोर्ड बनाया जाय।
४. आधुनिक चिकित्सा की पूर्ण शिक्षा देकर आयुर्वेद या यूनानी चिकित्सा की शिक्षा विशेष रूप में दी जानी चाहिए।
५. आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सकों का पञ्जीकरण होना चाहिए।
६. आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा में शिक्षित व्यक्तियों को जनस्वास्थ्य के कार्य की शिक्षा देनी चाहिए।

पण्डित कमेटी—इसके पीछे डाक्टर सी० जी० पण्डित की अध्यक्षता में एक दूसरी कमेटी बनायी गयी। इसको चोपड़ा कमेटी द्वारा निर्दिष्ट सूचनाओं को क्रियात्मक रूप देने का कार्य सौंपा गया। पण्डित कमेटी ने निम्न बातों की सिफारिश की—

१. जामनगर में केन्द्रीय गवेषणा केन्द्र खोला जाय।
२. आधुनिक मेडिकल कालेजों में आयुर्वेद या यूनानी शिक्षा देना सम्भव नहीं।
३. आयुर्वेदिक कालेजों में आधुनिक चिकित्सा का ज्ञान देना उचित नहीं, क्योंकि इनका शिक्षास्तर बहुत निम्न श्रेणी का है। इसलिए यदि मिश्रित शिक्षा देनी है, तो इन विद्यालयों का शिक्षास्तर ऊँचा करना चाहिए।
४. आयुर्वेदिक विद्यालयों में प्रवेशस्तर ऊँचा उठाना चाहिए।
५. आयुर्वेद की शिक्षा के लिए सर्वत्र एक समान पाठ्यक्रम चालू करना चाहिए। पृथक् पृथक् डिग्री कोर्स या डिप्लोमा कोर्स नहीं चलाने चाहिए।

पण्डित कमेटी की सिफारिश पर १९५२ में जामनगर में गवेषणा केन्द्र खोला गया, काम भी प्रारम्भ हुआ, परन्तु अभी तक कोई भी निश्चित परिणाम सामने नहीं आया।

दबे कमेटी—केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद् (१९५४ ईसवी) के अनुसार श्री डी० टी० दबे की अध्यक्षता में १९५५ ईसवी में एक कमेटी बनायी गयी। इस कमेटी को शिक्षा का स्तर तथा भारतीय चिकित्सा की प्रैक्टिस करने के नियम बनाने का काम सौंपा गया। इस कमेटी की मुख्य सिफारिशें निम्न थीं—

१. संस्थाओं के नियमतः शिक्षित एवं परम्परागत शिक्षित व्यक्ति, जो पन्द्रह वर्ष से चिकित्सा कार्य कर रहे हैं, उनका पञ्जीकरण करना चाहिए।
२. प्रत्येक राज्य में एक बोर्ड होना चाहिए जो आयुर्वेद की शिक्षा तथा वैद्यों पर नियन्त्रण रखे।
३. पञ्जीकृत वैद्यों, हकीमों को आधुनिक चिकित्सा पद्धति के डाक्टरों के समान अधिकार मिलने चाहिए।

शिक्षा के सम्बन्ध में दबे कमेटी की निम्न सिफारशें थीं—

४. सम्पूर्ण भारत में एक ही जैसा पाठ्यक्रम चलाना चाहिए, यह पाठ्यक्रम ५½ वर्ष का होना चाहिए। इसमें तीन मास कम से कम देहाती क्षेत्र में काम करना पड़े
५. प्रवेश योग्यता इन्टरमीडिएट साइन्स (मेडिकल ग्रूप) की होनी चाहिए; जिसके साथ में संस्कृत का सामान्य ज्ञान होना आवश्यक है।
६. संस्थाओं के पाठ्यक्रम-शिक्षण पर नियंत्रण रखने के लिए इन्डियन मेडिकल कौंसिल के समान एक परिषद् होनी चाहिए।

७. विषयवार पुस्तकें लिखायी जायँ या संशोधित की जायँ।
८. पाठ्यक्रम को विश्वविद्यालयों और आयुर्वेद की फैकल्टी पृथक् बनाकर स्वीकृत करवाया जाय।
९. आयुर्वेद की फार्मेकोपिया और कोश (डिक्शनरी) बनाना चाहिए।
१०. सब शिक्षण संस्थाओं में रोगियों को रखने के लिए अन्तः-अस्पताल होना चाहिए, जिसमें एक विद्यार्थी के लिए पाँच रोगी रहें।
११. आयुर्वेद की उपाधि ग्रेज्युएटेड् आयुर्वेदिक मेडिसिन सर्जरी (G. A. M. S.) समान रूप से रखनी चाहिए।
१२. केन्द्र और राज्यों में आयुर्वेद का डाइरेक्टर (संचालक) पृथक् रूप से नियुक्त करना चाहिए।
१३. साधनसम्पन्न संस्थाओं में गवेषणा तथा स्नातकोत्तर शिक्षा के द्विवर्षीय पाठ्यक्रम की सुविधा देनी चाहिए।
१४. शिक्षासंस्थाओं में रिफ्रेशर पाठ्यक्रम का प्रबन्ध करना चाहिए।

मिश्रित पाठ्यक्रम के लिए दबे कमेटी ने एक पाठविधि भी बतलायी थी। दबे कमेटी की रिपोर्ट सब राज्यों को भेजी गयी और राज्यों से प्राप्त संमतियों पर बंगलोर में हुई केन्द्रीय स्वास्थ्यपरिषद् में विचार कियां गया। दुर्भाग्य से राज्यों ने इसका पूर्ण आदर नहीं किया, इसलिए यह प्रश्न राज्यों पर ही छोड़ दिया गया कि वे इसे स्वीकार करें या अस्वीकार करें।

निष्कर्ष —

१. चोपड़ा कमेटी और पण्डित कमेटी की सिफारिशों को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि प्रथम आयुर्वेद के सम्बन्ध में खोज प्रारम्भ की जाय। उसके आधार पर ही दोनों पद्धतियों को मिश्रित करने का विचार किया जाय तथा उसी के आधार पर यह निश्चय हो कि मेडिकल कालेजों में स्नातकोत्तर शिक्षा इसकी दी जाय या नहीं।

२. सरकार का ऐसा विचार दीखता है कि खोज के परिणामों को देखकर ही इसकी उपादेयता का अंकन होना चाहिए। परन्तु हमारी सम्मति में औषध या उसकी उपादेयता ही आयुर्वेद विज्ञान नहीं है, इसलिए हमारी सम्मति में पण्डित कमेटी ने आयुर्वेद शिक्षा का जो मार्ग बताया है (अर्थात्—आधुनिक चिकित्सा के छात्र को अथवा स्नातकोत्तर अभ्यास में आयुर्वेद की शिक्षा देना) वह आयु-

र्वेद की उन्नति के लिए उत्तम नहीं। चोपड़ा कमेटी की सिफारिशें अभी तक कार्य रूप में परिणत नहीं हुई, इसी से वर्त्तमान अकर्मण्यता बनी रही।

३. संक्षेप में मिश्रित आयुर्वेद पाठ्यक्रम के लिए की गयी चोपड़ा एवं दवे कमेटी की सब सिफारिशें रेत में पड़ी पानी की बूंद के समान व्यर्थ हुई। साथ ही दूसरे पक्षवालों के लिए पूर्ण असन्तोषजनक सिद्ध हुई। इसी से शुद्ध आयुर्वेद की चलबल प्रारम्भ हुई। इससे विद्यार्थियों के मन में एक प्रकार का प्रतिरोध जाग्रत हो गया, जिसका परिणाम स्ट्राइक, महाविद्यालयों का एक दीर्घ काल के लिए बन्द होना हुआ। शुद्ध आयुर्वेद की चलबल प्रायः करके पुराने विचार-वाले लोगों के हाथ में रही।

शुद्ध आयुर्वेद शब्द के विषय में पूरा स्पष्टीकरण न होने से कुछ सीमा तक लोगों को भ्रम एवं अस्पष्टता बनी रही। यद्यपि वे स्वयं यह स्वीकार करते थे कि विज्ञान एक समान है, उसमें बराबर उन्नति का स्थान है, उसे आयुर्वेद में सम्मिलित करना चाहिए। फिर भी वे यह मानते हैं कि आयुर्वेद सम्पूर्ण है और उसमें किसी प्रकार की वृद्धि या जोड़ की आवश्यकता नहीं। शुद्ध आयुर्वेद-का जो पाठ्यक्रम इन्होंने बनाया उसमें पुराने पाठ्यक्रम को ही थोड़ा परिवर्तित किया, साथ ही आधुनिक विज्ञान के विषय भी मिला दिये। शुद्ध आयुर्वेद-वाले सदा इस बात को स्वीकार करते हैं कि आयुर्वेद के आठ अंगों में से केवल $\frac{1}{8}$ अंग (अकेली कायचिकित्सा) ही बचा है; शेष सात अंगों का पुनः उद्धार होना चाहिए। इससे हम यह अनुभव करते हैं कि यह आवश्यक है कि आयुर्वेद का पुट देते हुए आधुनिक विज्ञान की सहायता से इनकी शिक्षा दी जाय।

४. केन्द्रीय सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के उत्तरार्द्ध में आर्थिक सहायता देकर खोज कार्य प्रारम्भ कराया। यह कार्य अब दूसरी योजना में भी जारी है।

५. केन्द्रीय सरकार इस बात की इच्छुक है कि किस प्रकार उसकी सहायता आयुर्वेद की उन्नति करने में सफल हो सकती है, इसके लिए उसने यह कमेटी बनायी। यह कमेटी केवल खोज के विषय में ही सूचना नहीं देगी अपितु आयुर्वेद के सम्बन्ध में चारों ओर से विचार करके सरकार को अपनी सलाह देगी।

उडूप कमेटी—भारत सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय ने डाक्टर के० एन० उडूप की अध्यक्षता में २९ जुलाई १९५८ में एक कमेटी बनायी। इसके लिए विचारणीय प्रश्न निम्न दिये गये, जिन पर इस कमेटी को विचार करके रिपोर्ट देनी थी—

१. आयुर्वेद को उन्नत करने तथा इसमें सहायता देने के लिए गवेषणा के कार्य में तथा

आयुर्वेदिक संस्थाओं का स्तर ऊँचा उठाने में केन्द्रीय तथा राज्यों की सहायता कहाँ तक सफल हुई।

२. आयुर्वेद की शिक्षा एवं खोज में इस सहायता से कहाँ तक मदद मिली।

३. आयुर्वेदिक औषध निर्माण (फार्मेस्युटिकल प्रोडक्ट्स) के स्टैण्डर्ड, मात्रा तथा उनके निर्माण के ढंग में कहाँ तक उन्नति हुई।

४. आयुर्वेदिक चिकित्सा-कर्म एवं मान्यता के विषय में वस्तुस्थिति की जाँच करना।

कमेटी ने एक प्रश्नावली प्रकाशित की, इसमें आयुर्वेद की शिक्षा, चिकित्सा, राज्यों में भारतीय चिकित्सा परिषद्, आयुर्वेदिक संस्थान (साहित्यिक गवेषणा सम्बन्धी), औषध निर्माण, आधुनिक मेडिकल कालेजों में फार्मेकोलोजी कार्य तथा दूसरी खोज आदि की जानकारी माँगी।

कमेटी के सदस्यों ने सम्पूर्ण भारत की आयुर्वेदिक संस्थाओं को जाकर देखा और स्थानिक अधिकारियों से विचार विमर्श करके वास्तविक स्थिति को समझने का यत्न किया। रिपोर्ट में प्रत्येक प्रान्त की आयुर्वेद की स्थिति का उल्लेख संक्षेप में तथा वहाँ की जो विशेषता उनको अच्छी लगी उसका उल्लेख किया है। साथ ही प्रत्येक प्रान्त के कालेजों में क्या क्या सुधार करना चाहिए, यह भी बताया है।

आयुर्वेद की शिक्षा के विषय में कमेटी का निश्चय इस प्रकार है--

आयुर्वेद की उन्नति के लिए प्राचीन और नयी पद्धतियों का मिश्रण आवश्यक है। आयुर्वेद को स्पष्ट करने के लिए आधुनिक चिकित्साविज्ञान से जितना भाग लेना आवश्यक हो, वह लेना चाहिए। परन्तु मुख्यता आयुर्वेद की ही रहनी चाहिए। इससे चिकित्सक रोगी के साथ वर्त्तमान काल में अधिक योग्यता से वरत सकेंगे।

स्नातकोत्तर शिक्षण में--आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त, आयुर्वेद का इतिहास, शारीर विज्ञान, काय चिकित्सा (निदान और पंच कर्म के साथ), द्रव्यगुण विज्ञान, रसशास्त्र और भैषज्य कल्पना रखने चाहिए।

स्नातकोत्तर शिक्षण के लिए बनारस, पूना और त्रिवेन्द्रम तीन और केन्द्र प्रारम्भ करने चाहिए, अकेला जामनगर सम्पूर्ण भारत की आवश्यकता पूरी नहीं कर सकता। इन केन्द्रों में स्नातकोत्तर शिक्षण एक वर्ष का रखना चाहिए।

कमेटी ने ट्युटोरियल सिस्टम का सुझाव दिया, जिसमें कि विद्यार्थी शिक्षक के साथ विषय की विवेचना कर सकें।

अध्यापकों का स्तर निश्चित करने के लिए केन्द्रीय भारतीय परिषद् की स्थापना का

सुझाव दिया गया, आयुर्वेद के अध्यापकों का वेतनक्रम मेडिकल कालेज के अध्यापकों की भाँति होना चाहिए।

शिक्षण विषय में समिति की सूचना है कि दो प्रकार के पाठ्यक्रम चलने चाहिए; एक मिश्रित और दूसरा शुद्ध आयुर्वेद का। जो विद्यार्थी मिश्रित पाठ्यक्रम में उत्तीर्ण हों उनको स्नातक की उपाधि देनी चाहिए और जो शुद्ध आयुर्वेद के पाठ्यक्रम में उत्तीर्ण हों उनको आयुर्वेदाचार्य या प्रवीण की उपाधि देनी चाहिए। सब अवस्थाओं में उपाधि एवं टाइटिल सब स्थानों में एक समान रहने चाहिए।

पाठ्यक्रम, उपाधि, टाइटिल आदि का निर्णय केन्द्रीय भारतीय परिषद् के ऊपर छोड़ देना चाहिए। मिश्रित पाठ्यक्रम में प्रवेशयोग्यता माध्यमिक (इण्टरमीडिएट) होनी चाहिए। इसमें कैमिस्ट्री, फिजिक्स, बाईओलोजी और संस्कृत का ज्ञान आवश्यक हो जो कि माध्यमिक स्तर का हो। शिक्षाक्रम साढ़े चार या पाँच वर्ष का रहे।

शुद्ध आयुर्वेद में प्रवेशयोग्यता दसवीं उत्तीर्ण (मैट्रिक्युलेशन) की होनी चाहिए; इसमें विद्यार्थी को संस्कृत लेना आवश्यक है; या इसके बराबर हो। शिक्षाक्रम चार वर्ष या पाँच वर्ष का होना चाहिए। इसमें शरीरक्रिया, शरीररचना आदि दूसरे आधुनिक विषयों का भी ज्ञान कुछ मात्रा में कराना चाहिए। क्रियात्मक शिक्षा के लिए सम्पूर्ण साज-सज्जा से युक्त अस्तपाल इन शिक्षण संस्थाओं से सम्बद्ध रहना चाहिए। इसी प्रकार वनस्पतिवाटिका, वनस्पति आदि का म्यूजियम भी बनाना चाहिए।

पुस्तकों के विषय में कमेटी का सुझाव है कि विषयवार पुस्तकें तुरन्त तैयार करवानी चाहिए---जिनमें आयुर्वेद का विषय प्राचीन संहिताओं से उसी रूप में उद्धृत रहे। आयुर्वेद की प्रत्येक शिक्षण संस्था के साथ उन्नत पुस्तकालय रहना चाहिए। इसमें आयुर्वेद की, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की पुस्तकें, पत्रिकाएँ रहनी चाहिए।

विद्यार्थी को क्रियात्मक ज्ञान की शिक्षा भली प्रकार मिल सके इसके लिए उचित भवन, उत्तम वाटिका, म्यूजियम, फार्मेसी, रुग्णशय्या का प्रबन्ध उचित अंशों में होना चाहिए।

स्नातकोत्तर शिक्षण शुद्ध आयुर्वेद, मिश्रित स्नातकों तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के साथ जिन्होंने आयुर्वेद सीखा है; सबके लिए खुला होना चाहिए।

शुद्ध आयुर्वेद के स्नातक रसशास्त्र, द्रव्यगुण, बालरोग, स्त्रीरोग आदि में शिक्षा ले सकते हैं। मिश्रित एवं आधुनिक चिकित्सा के स्नातक आयुर्वेद के सब विषयों में; विशेषतः शल्य, शालाक्य, प्रसूति आदि विषयों में स्नातकोत्तर शिक्षण प्राप्त कर सकते हैं।

खोज सम्बन्धी सूचनाएँ निम्न हैं--

१. जामनगर के सेन्ट्रल रिसर्च इन्स्टीच्यूट में आयुर्वेद और आधुनिक (मौडर्न) दोनों चिकित्सकों में एकरागिता का अभाव है, इससे दोनों की जानकारी का एक बड़ा संग्रह इकट्ठा हो गया है। दोनों में कोई भी निर्णय नहीं हो सका। आधुनिक टीम जो कर रही है, उसको आयुर्वेदवाले नहीं जानते और आयुर्वेदवाले जो कर रहे हैं, उसको आधुनिक टीमवाले नहीं जानते। अर्थात् प्रारम्भ से ही यह पद्धति सर्वत्र चल रही है, जो अवांछनीय है। दैनिक रोगियों पर दोनों को ही साथ में बैठकर विचार करना चाहिए। साथ ही जीर्ण रोगों पर भी इनको ध्यान देना चाहिए।

२. जामनगर रिसर्च संस्था को साहित्यिक, फार्मेसी सम्बन्धी आदि रिसर्च सुनिश्चित योजना बनाकर प्रारम्भ करनी चाहिए।

३. जामनगर में इस समय रिसर्च इन्स्टीच्यूट, स्नातकोत्तर शिक्षण और गुलाब कुंवर बा आयुर्वेद सोसाइटी संचालित आयुर्वेद विद्यालय--ये तीन संस्थाएँ चल रही हैं, इनको एक ही मकान में एकत्र करके एक इकाई बना देनी चाहिए।

४. रिसर्च के लिए केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् नामक संस्था शीघ्र प्रारम्भ करनी चाहिए, जिससे रिसर्च में वेग और एक समानता आ सके।

५. जामनगर जैसे दूसरे तीन प्रतिष्ठान केन्द्रीय सरकार को स्थापित करने चाहिए, इनको शिक्षा सम्बन्धी सूचना में लिखे अनुसार स्नातकोत्तर शिक्षण संस्थाओं से सम्बद्ध कर देना चाहिए।

६. बम्बई प्रान्त के रिसर्च बोर्ड ने विविध प्रकार की रिसर्च योजनाएँ हाथ में ली हैं, उसी पद्धति पर अपने यहाँ सब राज्यों को रिसर्च बोर्ड स्थापित करने चाहिए।

७. प्रारम्भ में आयुर्वेद रिसर्च का काम निम्न सात विभागों में करना चाहिए--

१. क्लीनिकल--(प्रत्यक्ष रोग चिकित्सा)
२. साहित्यिक
३. रासायनिक
४. वनस्पतिशास्त्र विषयक
५. फार्मेकोलोजिकल
६. आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त
७. फार्मेकोगनोसिकल

८. इनमें क्लिनिकल रिसर्च सबसे प्रथम प्रारम्भ करनी चाहिए, भिन्न-भिन्न केन्द्रों में जो काम चल रहा है, वहाँ पर वैद्य और डाक्टर दोनों को मिलकर रिसर्च कार्य करना चाहिए।

९. केन्द्रीय आयुर्वेदिक रिसर्च परिषद् को वैद्य और आधुनिक वैज्ञानिकों की मिलित कमेटी स्थापित करनी चाहिए—जो क्लिनिकल रिसर्च की एक समान भूमिका तैयार करे।

१०. साहित्यिक संशोधन प्रारम्भ करना चाहिए। इसके लिए प्राचीन पुस्तकों का संग्रह करना चाहिए। इनमें जो छापने योग्य हैं, उनको छपाना चाहिए। पुरानी पुस्तकों का अनुवाद करवाना, योग्य पाठ्य पुस्तकें तैयार करवाना, रेफरेन्स लाइब्रेरी बनाना चाहिए।

११. प्रत्यक्ष रोगियों पर जिन औषधियों का संतोषजनक लाभ मिला हो, उनकी आधुनिक विज्ञान की सहायता से रिसर्च करवानी चाहिए, रिसर्च का यह कार्य अति विश्वासी वैज्ञानिकों को सौंपना चाहिए।

१२. औषधोपयोगी वनस्पति की गवेषणा के लिए केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् को जंगलात विभाग की सहायता लेनी चाहिए, किस प्रान्त में क्या वनस्पति होती है, उसका पूरा विवरण रखना चाहिए।

१३. फार्मेकोगनोसिकल रिसर्च को दस वर्ष के अन्दर समाप्त कर देना चाहिए। इस विषय में जो वैद्य निष्णात हों, उनको यह कार्य सुपुर्द करना चाहिए। रिसर्च का काम करनेवालों में एकरूपता रहनी चाहिए।

१४. आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों में खोज, पंच महाभूत, त्रिदोषवाद, मन, बुद्धि, आत्मा आदि विषयों पर निष्णातों को प्रकाश डालना चाहिए।

१५. केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् को निम्न विषयों पर खोज प्रारम्भ करानी चाहिए—

१. आयुर्वेदिक आहारशास्त्र	२. पंचकर्म
३. बालचिकित्सा	४. मानस रोग की चिकित्सा
५. आँख के रोगों की चिकित्सा	६. मर्म चिकित्सा (Orthopaedics)
७. विष चिकित्सा	८. दन्त विद्या
९. योग विद्या (इसे भी अपने में आत्मसात् करना चाहिए), स्वस्थवृत्त	१०. तैलाभ्यंग चिकित्सा

१६. केन्द्र और प्रान्तों में तथा वैयक्तिक रूप में जो खोज चल रही है, वह सन्तोषजनक नहीं है; पद्धतिपूर्वक नहीं है। बहुत स्थानों पर तो पूरे साधन भी नहीं हैं। अब समय आ गया है कि योजना बनाकर केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् को यह काम हाथ में लेना चाहिए।

फार्मेसी

१. बोटेनिकल सर्वे आफ इण्डिया और जंगल विभाग के साथ पूर्ण सहयोग करके जंगलों का पर्यवेक्षण कराना चाहिए। आयुर्वेदिक औषधियाँ कहाँ कहाँ अधिक मात्रा में मिल सकती हैं, इसकी सच्ची जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

२. औषधोपयोगी वृक्षों आदि के लिए जंगल का कुछ भाग सुरक्षित रखना चाहिए।

३. केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् को विविध संस्थाओं और कार्यकर्त्ताओं के साथ सहयोग रखकर वनस्पति परिचय और औषधविज्ञान (फार्मेकोगनोसी) का काम हाथ में लेना चाहिए और समय समय पर इस सम्बन्ध की छोटी छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित करनी चाहिए।

४. इस कार्य के लिए जिन्होंने इस विषय पर काम किया हो तथा मौडर्न वनस्पति शास्त्रियों को मिलकर काम करना चाहिए।

५. ड्रग फार्म बनाने चाहिए, ये ड्रग फार्म वैद्यों एवं फार्मेसियों की जरूरत को पूरा करें। केन्द्रीय सरकार को ड्रग फार्म के लिए आर्थिक सहायता देनी चाहिए।

६. कच्चे द्रव्य, खनिज द्रव्य और दूसरे सन्दिग्ध द्रव्य जो आयुर्वेदिक औषध बनाने मे काम आते हैं, उनका चौकस स्टैन्डराईजेशन (मानकीकरण) होना चाहिए।

७. आयुर्वेदिक औषधियों का स्टैन्डराईजेशन (मानकीकरण) एक जरूरी कार्य है, इसके लिए स्टैन्डर्ड फार्मेकोपिया बनाने का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए। प्रत्येक औषध का पाठ निश्चित करना चाहिए।

८. पुस्तकों के पाठ के अनुसार चौकस माप, वजन आदि एक समान बरतने चाहिए। भारत में जो भिन्न भिन्न तौल-माप चल रहे हैं, उनमें एकरूपता रखना आवश्यक है।

९. औषध निर्माण में एक ही प्रकार की पद्धति अपनानी चाहिए। औषधियों में सोना, मोती, रत्न, केसर, कस्तूरी आदि उत्तम श्रेणी के व्यवहार में लाने चाहिए।

१०. कश्मीर में बारामूला के अन्दर कश्मीर सरकार ने औषधि संग्रह के कुछ भण्डार बनाये हैं, जंगल विभाग की सहायता से ऐसे भण्डार प्रत्येक प्रान्त में बनाने चाहिए, जहाँ से फार्मेसियाँ, वैद्य अपनी जरूरत के अनुसार सामान ले सकें।

११. सैंट्रल लेबोरेटरी---कलकत्ता के अनुरूप एक सैन्ट्रल लेबोरेटरी (केन्द्रीय प्रयोग-शाला) स्थापित करनी चाहिए, जिसमें आयुर्वेदिक औषधियों का परीक्षण किया जा सके। ऐसी केन्द्रीय प्रयोगशाला बम्बई में स्थापित करनी चाहिए।

१२. इस केन्द्रीय प्रयोगशाला के अतिरिक्त प्रत्येक औषध निर्माण उद्योग एवं स्वतंत्र फार्मेसियों के लिए भी सुसज्जित प्रयोगशाला होनी चाहिए। जिसमें औषध निर्माण में काम आनेवाली कच्ची औषधियों, खनिज आदि की परीक्षा की जा सके।

१३. आयुर्वेदिक औषधियों का मानकीकरण ठीक प्रकार से करने के लिए यंत्रों की सहायता लेनी चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि आयुर्वेदिक औषधियों पर इनका कोई प्रतिकूल प्रभाव न हो।

१४. अडयार (मद्रास) में एक सहकारी फार्मेसी है, उसी के आधार पर प्रत्येक प्रान्त में कोआपरेटिव फार्मेसी होनी चाहिए। इससे प्रजा और वैद्यों को उत्तम औषध मिल सकेगी।

१५. प्रत्येक बड़ी और छोटी फार्मेसियों को एक विशेष टैकनिकल स्टाफ रखना जरूरी है। इसमें आयुर्वेद के निष्णात वैद्य, आयुर्वेदिक फार्मेसिस्ट, मौडर्न वनस्पति-शास्त्री, रसायनशास्त्री, मेकेनिकल आदि रहने चाहिए।

१६. आयुर्वेदिक फार्मेसिस्ट तैयार करने का काम सरकार को तुरन्त प्रारम्भ कर देना चाहिए।

१७. ऊपर हमने मानकीकरण (स्टैन्डराईजेशन) की चर्चा की है, इसके लिए १९४० के ड्रग एक्ट के अनुसार एक नियम बनाना आवश्यक है।

१८. केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि जितनी भी जल्दी हो आयुर्वेदिक ड्रग्स एडवाईजर और एक आयुर्वेदिक ड्रग्ज एडवाईज़री कमेटी और एक कौन्सिल (परिषद्) की स्थापना की जाय।

चिकित्सा कर्म का स्तर

१. केन्द्रीय सरकार को एक आयुर्वेद सलाहकार की नियुक्ति करनी चाहिए। आयुर्वेद की उन्नति के लिए सब प्रकार की आवश्यक सलाह मिल सके इसलिए दूसरे आयुर्वेद निष्णात भी नियुक्त करने चाहिए।

२. मौडर्न मेडिकल सिस्टम और आयुर्वेदिक पद्धति दोनों का लाभ ग्रामीण जनता को एक समान मिल सके, इसका प्रबन्ध सरकार को करना चाहिए।

३. आयुर्वेदिक पद्धति को सरकार स्वीकार करती है; इसकी स्पष्ट सूचना होनी चाहिए और इसको उत्तेजन देना चाहिए।
४. कम्युनिटी डेवलपमैन्ट प्रोग्राम के तत्त्वावधान में जहाँ पर प्राइमरी हेल्थ सैंटर चल रहे हैं, वहाँ पर आयुर्वेद के मिश्रित पाठ्यक्रम के स्नातकों की नियुक्ति होनी चाहिए। इस कार्य में डाक्टरों की अपेक्षा ये अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे।
५. सरकार का प्रथम और सबसे आवश्यक कर्त्तव्य यह है कि वह आयुर्वेद का स्वतंत्र संचालक (डाइरेक्टर) नियुक्त करे, जो आयुर्वेद का चुस्त पक्षपाती हो।
६. मजदूरों और मिलों में काम करनेवालों के लिए चिकित्सा की जो सहूलियतें दी जाती हैं, उनमें आयुर्वेदिक दवाओं के उपयोग की स्वतंत्रता रहनी चाहिए।
७. सरकारी या अर्धसरकारी नौकरी में जो वैद्य काम करते हों उनका वेतन डाक्टरों के बराबर होना चाहिए। आयुर्वेदिक उपाधिवाले वैद्य का वेतनक्रम एक डाक्टर जितना होना चाहिए--अर्थात् २००-५०० होना चाहिए। डिप्लोमा धारण करनेवाले व्यक्ति का वेतनक्रम १५०-३०० ; एल० सी० पी० एस० जितना होना चाहिए। आयुर्वेद के स्नातक जब भी महाविद्यालय में प्रिन्सिपल, लैक्चरर, प्रोफेसर आदि नियत किये जायँ, उस समय भी उनका वेतन-क्रम वर्त्तमान डाक्टरों के स्तर पर रखना चाहिए।
८. प्रत्येक राज्य, स्टेट, जिला और तहसील के स्तर पर जितने सम्भव हों, उतने आयुर्वेदिक अस्पताल और डिस्पेन्सरियाँ खोलनी चाहिए। जहाँ पर यह सम्भव न हो वहाँ मौडर्न अस्पतालों में आयुर्वेदिक चिकित्सा के लिए एक विभाग पृथक् निकाल देना चाहिए। वहाँ के डाक्टरों को चाहिए कि वहाँ पर काम करनेवाले वैद्य के साथ पूर्ण सहयोग करें।
९. प्रजा को आयुर्वेदिक चिकित्सा की सहायता मिले, आयुर्वेदिक चिकित्सा अधिक प्रसिद्ध हो, इसके लिए दानियों को अधिक मात्रा में दान देकर आयुर्वेदिक अस्पताल खुलवाने चाहिए।
१०. वैद्यों का ज्ञान अद्यतनीय रहे इसके लिए सरकार को अल्पकालीन रिफ्रेशर पाठ्यक्रम अपनी देखरेख में प्रारम्भ करना चाहिए।
११. अपने शिक्षण समय में जिन वैद्यों ने अपने कालेज में शालाक्य, सौतिक, प्रसूति आदि का उचित अभ्यास किया हो, उनको इस प्रकार के आपरेशन करने की सब प्रकार की सुविधा दी जानी चाहिए। मैडिगो लीगल (कानूनी वैद्यक) के लिए भी इनको आज्ञा मिलनी चाहिए।

१२. वैद्यों को सब प्रकार के मेडिकल सार्टिफिकेट देने की अनुज्ञा मिलनी चाहिए। इस विषय में वैद्यों और डाक्टरों को एक समान अधिकार होना चाहिए।

१३. पारद, वंशलोचन आदि आवश्यक आयुर्वेदिक औषधियों पर इस समय बहुत अधिक चुंगी ली जाती है, उसको बन्द करना चाहिए। इसी प्रकार मेडिसिनल एण्ड टौयलेट-प्रेपरसन्स–कानून के अनुसार आसव-अरिष्ट पर जो मद्यचुंगी ली जाती है उसको भी बन्द करना चाहिए।

१४. आज सम्पूर्ण देश में आयुर्वेद के लिए बोर्ड हैं, केवल मैसूर, उड़ीसा और जम्मू-कश्मीर में बोर्ड नहीं, वहाँ पर भी बोर्ड बनने चाहिए।

१५. बोर्ड आफ इन्डियन के पास केवल वैद्यों की देखरेख का कार्य रहना चाहिए। शिक्षण की सब व्यवस्था यूनीवर्सिटी के अधीन होनी चाहिए। यूनीवर्सिटी उचित समझे तो बोर्ड की सलाह ले।

१६. केन्द्रीय आयुर्वेदिक परिषद् को सम्पूर्ण देश के वैद्यों और आयुवदिक संस्थाओं की एक सम्पूर्ण पत्रिका बोर्ड ऑफ आयुर्वेद के साथ मिलकर प्रकाशित करनी चाहिए। नवीन स्नातकों का नाम इसमें तुरन्त सम्मिलित करना चाहिए। इस प्रकार से एक प्रान्त की संस्था में से उत्तीर्ण छात्र का नाम स्वतः ही दूसरे प्रान्त में रजिस्टर्ड हो जायगा।

१७. प्रत्येक प्रान्त में आयुर्वेद के प्रैक्टीशनरों का रजिस्ट्रेशन तुरन्त प्रारम्भ करना चाहिए। इस रजिस्ट्रेशन में जो वैद्य ४॥ से ५ वर्ष का अभ्यासक्रम लेकर उत्तीर्ण हुए हों उनके लिए (इन्स्टीटयुशनली क्वालिफाईड) और वंशपरम्परागत वैद्यों के लिए (ट्रैडीशनल) तथा दूसरों के लिए पृथक्-पृथक् विभाग रखने चाहिए। संस्थाओं में से उत्तीर्ण विद्यार्थियों के लिए भी मिश्रित और शुद्ध विभाग करना चाहिए।

१८. आयुर्वेदिक स्टेट बोर्ड को प्रति वर्ष नियमित रूप से रजिस्टर्ड वैद्यों की सूची प्रकाशित करनी चाहिए। जो वैद्य अनैतिक अपराध के लिए दण्डित हो या अपराधी करार दिया गया हो, उसका नाम चेतावनी देने के पीछे, कानून से जो अधिकार प्राप्त हो उसके अनुसार रजिस्टर में से निकाल देना चाहिए।

१९. आज की अवस्था से यदि आ[illegible]द की स्थिति सुधारनी हो तो आठ अंगों में से पाँच अंगों का नियमपूर्वक अभ्यास और प्रैक्टिस होनी चाहिए, इसके लिए स्नातकोत्तर अभ्यासक्रम प्रारम्भ करना चाहिए।

२०. जिनके पास सिद्ध नुस्खे हों, उनकी वैज्ञानिक जाँच अवश्य करानी चाहिए, यदि ये सच्चे प्रमाणित हों, तो ये आयुर्वेद और प्रजा दोनों के लिए लाभदायी होंगे।

२१. आयुर्वेद में वैद्य के जो गुण बताये हैं, उनकी अभिवृद्धि के लिए वैद्यों को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। आयुर्वेद की प्रतिष्ठा बढ़े, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

२२. भारतवर्ष के समस्त वैद्यों का प्रतिनिधित्व करनेवाली निखिल भारतीय आयुर्वेदिक महासम्मेलन जैसी एक संस्था चाहिए, जो वैद्यों के अधिकार और कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहे और वैद्यों का स्टेटस उन्नत हो ऐसा व्यवहार रखे। इस प्रकार की संस्था को आयुर्वेद की सम्पूर्ण पुस्तकों का एक सरल पुस्तकालय प्रारम्भ करना चाहिए और आयुर्वेद के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए एक मुख्य पत्र (मासिक या त्रैमासिक) प्रारम्भ करना चाहिए।

उपसंहार

हमने अपना काम पूरा कर दिया, विचारणीय प्रश्नों से सम्भवतः हम अधिक कह गये, शायद किसी को यह अच्छा न लगे। परन्तु हमारा उद्देश्य समग्र दृष्टि से समग्र प्रश्न पर विचार करना तथा उसका रास्ता ढूँढने का था। यदि हम ऐसा न करते तो केवल जानकारी ही दे सकते थे।

आज तक सरकार से नियुक्त कमेटियों पर अभी तक सरकार ने ध्यान किस लिए नहीं दिया, इसका भी कारण ढूंढना था। हमको ऐसा लगता है कि सरकार ने आयुर्वेद का प्रश्न सम्पूर्ण रूप में सोचा ही नहीं; केवल जो सूचनाएँ दी गयी थीं, उन पर ही विचार किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि आयुर्वेद का प्रश्न ज्यों-का-त्यों रहा। परन्तु अब हम आशा करते हैं कि एकत्रित की हुई सब सूचनाओं पर यथासम्भव विचार होगा। केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार, भारतीय चिकित्सा परिषद् और सम्पूर्ण वैद्यों को प्रामाणिक रूप से इसमें प्रयत्न करना चाहिए, जिससे आयुर्वेद को जो स्थान, गौरव मिलना चाहिए वह उसको प्राप्त हो सके, आयुर्वेद विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित हो। इसके साथ साथ रोगपीड़ित जनता के लिए आयुर्वेद का उत्थान बहुत जरूरी है। इस हेतु से हमने अपने विचार बहुत ही स्पष्ट रूप से व्यक्त किये हैं। इन सब विचारों का सब आदर करें यह हमारी इच्छा है। स्वतन्त्र भारत प्राचीन भारत की समस्त संस्कृति को फिर से जाग्रत करना चाहता है, तब इसी संस्कृति के मुख्य अंग आयुर्वेद को किस प्रकार से भुलाया जा सकता है। ज्ञान के क्षेत्र में आदान और प्रदान की क्रियाएँ सतत चलती रहती हैं। इसलिए आयुर्वेद को भी दूसरों से जो लेना

आवश्यक हो उसे लेकर एक समन्वित (इन्टैगेरेटिड–मिश्रित) आयुर्वेद पद्धति चालू करनी चाहिए यह हमारी इच्छा है।

आयुर्वेद पद्धति के लिए जो कुछ हमने यहाँ कहा है, उसी को यूनानी और सिद्ध, समस्त पद्धतियों के लिए समझना चाहिए।

हस्ताक्षर—के० एन० उडूप (सभापति)
के० परमेश्वरन् पिल्लई (सदस्य)
आर० नरसिंहम् (सदस्य और मंत्री)

डाक्टर सम्पूर्णानन्द कमेटी

उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री डाक्टर श्री सम्पूर्णानन्दजी ने उत्तर प्रदेश के आयुर्वेदिक कालेजों में बढ़ते हुए असन्तोष को देखकर एक कमेटी नियुक्त की थी। इसकी मीटिंग नैनीताल में हुई थी। इस कमेटी में श्री पण्डित शिवशर्माजी, श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णीजी, उपसंचालक चिकित्सा एवं स्वास्थ्य (आयुर्वेद) आदि सभ्य थे। इस कमेटी में कोई भी डाक्टर नहीं रखा गया था; यही इसकी विशेषता थी।

उपर्युक्त दोनों सज्जन काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में कुलपति श्री सर सी० पी० रामस्वामी की अध्यक्षता में आयुर्वेद के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में बनी कमेटी के भी सदस्य थे। इस कमेटी में डाक्टर भी सम्मिलित थे। इस कमेटी ने जो पाठ्यक्रम तैयार किया, उसमें सदस्यों का मतैक्य नहीं था। इसमें डाक्टर तथा कुछ सज्जन विश्वविद्यालय में चलनेवाले मिश्रित पाठ्यक्रम को पसन्द करते थे, और कुछ सदस्य कथित शुद्ध पाठ्यक्रम को अधिक उत्तम मानते थे।

डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी की देखरेख में जो कमेटी बनायी गयी उसने कुछ सिद्धान्त निश्चय कर दिये थे। इसके अनुसार आयुर्वेद की प्रधानता पाठ्यक्रम में रहनी चाहिए। दूसरे विषय आयुर्वेद के पूर्तिरूप में पढ़ाने के लिए थे। परन्तु पाठ्यक्रम बनाने में इस निश्चय की पूरी उपेक्षा की गयी। पाठ्यक्रम बनाने की कठिनाई से बचने के लिए बनारस हिन्दूविश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम को ही थोड़ा-बहुत कहीं बदलकर रख दिया गया। पुस्तकें भी प्रायः वही रखीं जो कि उसमें निर्दिष्ट थीं। पुस्तकों का निर्देश करने में उदारता नहीं बरती गयी, जब कि उससे अच्छी, सम्पूर्ण दूसरी पुस्तकें प्राप्य थीं।

प्रवेशयोग्यता संस्कृत के साथ इन्टरमीडिएट अथवा अंग्रेजी के साथ मध्यमा उत्तीर्ण या उसके समकक्ष स्वीकार की गयी। इसमें साइन्स की शिक्षा का कोई भी बन्धन

नहीं था। साइन्स की शिक्षा विद्यार्थी को पाठ्यक्रम में देने की सुविधा रखी गयी। परन्तु इस पाठ्यक्रम का विशेष स्वागत नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण पाठ्यक्रम तैयार करनेवालों की अनुभवहीनता ही है।

डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी का उद्देश्य पवित्र और मान्य था; आयुर्वेद का प्राचीन रूप में उद्धार होना चाहिए, उसकी सर्वांगीण शिक्षा मिलनी चाहिए। परन्तु उसके साधन उसके अध्यापक, विद्यार्थियों की रुचि इन सबने उसको सफल बनाने में बाधा उपस्थित की। उदाहरण के लिए रसशास्त्र के प्रश्न पर विद्यार्थी कदम-कदम पर आधुनिक विज्ञान के अपने ज्ञान पर प्रश्न करता है; जिसका उत्तर सामान्यतः अध्यापक के पास नहीं होता। इसी प्रकार शारीर एवं शारीरक्रिया विज्ञान की शिक्षा में विद्यार्थी जब वस्तु को प्रत्यक्ष नहीं देख पाता, अध्यापक से शंका का समाधान ठीक प्रकार से नहीं पाता, तो उसमें असन्तोष की लहर उठती है। इन सब कारणों से इस पाठ्यक्रम का स्वागत नहीं हुआ, विद्यालयों में प्रवेशसंख्या बहुत ही कम हो गयी। इसमें मुख्य उत्तरदातृत्व पाठ्यक्रम बनानेवालों का है; नीति निर्धारण का प्रश्न जहाँ तक है, वह आयुर्वेद की उन्नति एवं गौरव के प्रति आदरणीय है, इसमें सन्देह नहीं।